जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण विरचित

# जीतकल्प सभाष्य

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

प्रधान सम्पादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक/अनुवादक
समणी कुसुमप्रज्ञा

आगमों के व्याख्या-साहित्य की श्रृंखला में अनेक भाष्य लिखे गए। उनमें व्यवहार, बृहत्कल्प और निशीथ के भाष्य विशालकाय हैं। उनकी तुलना में जीतकल्पभाष्य लघुकाय है किन्तु प्रायश्चित्त परंपरा की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। समणी कुसुमप्रज्ञा ने इसका अनुवाद कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आचार्य तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में अनेक आगमों का संपादन हुआ, उन पर भाष्य लिखे गए किन्तु निर्युक्ति और भाष्य पर काम करना अवशेष था। समणी कुसुमप्रज्ञा ने अनेक निर्युक्तियों और भाष्यों का संपादन कर उस दिशा में एक श्लाघनीय कार्य किया है। उनमें काम करने की लगन है और एक आंतरिक प्रवृत्ति है। उनकी यह आंतरिक प्रवृत्ति आगे बढ़ती रहे। निर्युक्ति और भाष्य की श्रृंखला में उनका कार्य अनवरत चलता रहे।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण विरचित

# जीतकल्प सभाष्य

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक/अनुवादक
समणी कुसुमप्रज्ञा

**प्रकाशक :**
जैन विश्व भारती,
लाडनूं ३४१३०६ (राजस्थान)

ⓒ जैन विश्व भारती, लाडनूं

**I S B N O-81-7195-143-O**

**सौजन्य :- बीकानेर निवासी "अणुव्रतसेवी" स्व. जतनलाल एवं माता स्व. लक्ष्मीदेवी बैंगानी की स्मृति में पुत्र ज्योतिकुमार एवं चंदादेवी बैंगानी के आर्थिक सौजन्य से पौत्रियां—सीमा-विक्रम सुराना, सुधा-अभिषेक सुराना, हेमा-कैलाश संचेती, प्रेम-नरेश सेखानी द्वारा सप्रेम भेंट।**

**प्रथम संस्करण : २०१०**

**पृष्ठ :-** ९००

**मूल्य :- ५०० रुपये**

**मुद्रक :- श्री वर्द्धमान प्रेस, दिल्ली**
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

# समर्पण

पुट्ठो वि पण्णापुरिसो सुदक्खो,
आणापहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसका प्रज्ञापुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगमप्रधान था।
सत्ययोग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं।
सज्झाय-सज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसने आगम दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में, मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से॥

# अंतस्तोष

अंतस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथों से उप्त और सिंचित द्रुमनिकुंज को पल्लवित-पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन आगमों का शोधपूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्मपरिवार इस कार्य में संलग्न हो गया अत: मेरे इस अंतस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूं, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं।

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूं और कामना करता हूं कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

गणाधिपति तुलसी
आचार्य महाप्रज्ञ

# मंगल संदेश

आगमों के व्याख्या-साहित्य की श्रृंखला में अनेक भाष्य लिखे गए। उनमें व्यवहार, बृहत्कल्प और निशीथ के भाष्य विशालकाय हैं। उनकी तुलना में जीतकल्पसभाष्य लघुकाय है किन्तु प्रायश्चित्त परंपरा की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। समणी कुसुमप्रज्ञा ने इसका अनुवाद कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आचार्य तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में अनेक आगमों का संपादन हुआ, उन पर भाष्य लिखे गए किन्तु निर्युक्ति और भाष्य पर काम करना अवशेष था। **समणी कुसुमप्रज्ञा** ने अनेक निर्युक्तियों और भाष्यों का संपादन कर उस दिशा में एक श्लाघनीय कार्य किया है। उनमें काम करने की लगन है और एक आंतरिक प्रवृत्ति है। उनकी यह आंतरिक प्रवृत्ति आगे बढ़ती रहे। निर्युक्ति और भाष्य की श्रृंखला में उनका कार्य अनवरत चलता रहे।

**२४ दिसम्बर २००९**
**श्रीडूंगरगढ़**

**आचार्य महाप्रज्ञ**

# प्रकाशकीय

भारतीय वाङ्मय में आगम-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें अध्यात्म के साथ-साथ समाज, धर्म, दर्शन, आयुर्वेद, भूगोल और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं। सन् १९५५ में आचार्य तुलसी ने मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) आदि संतों के साथ इस महायज्ञ को प्रारम्भ किया। इसके फलस्वरूप अनेक आगम ग्रंथ तुलनात्मक संदर्भ के साथ प्रकाश में आ गए।

हस्तप्रतियों से सम्पादन-कार्य सरल नहीं है, यह उन्हें सुविदित है, जिन्होंने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया है। एक-दो हजार वर्ष पुराने ग्रंथों को सम्पादित करना तो और भी जटिल है, जिनकी भाषा और भावधारा आज के युग से मेल नहीं खाती है लेकिन ज्ञान-धरोहर को संरक्षित एवं संवर्धित करने के लिए हस्तप्रतियों के सम्पादन रूप गुरुतर कार्य को सम्पादित करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का प्रेरणा-पाथेय प्राप्त कर समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं।

गत ३० वर्षों से आगम-व्याख्या-साहित्य के सम्पादन-कार्य में संलग्न समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने समाज को अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्य-रत्न प्रदान किए हैं और इस कार्य में जैन विश्व भारती हमेशा उनकी सहयोगी रही है। उनके द्वारा सम्पादित ग्रंथ **''जीतकल्प सभाष्य''** को प्रकाशित करने का सुअवसर भी जैन विश्व भारती को प्राप्त हो रहा है, इसके लिए यह संस्था गौरव का अनुभव करती है।

जीतकल्प सूत्र साध्वाचार पर आधारित जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित १०३ गाथाओं में निबद्ध एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के अन्तर्गत जीतव्यवहार से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसी ग्रंथ पर स्वयं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा स्वोपज्ञ भाष्य लिखा गया जो जीतकल्प भाष्य के नाम से प्राप्त होता है। यह भाष्य २६०८ गाथाओं में निबद्ध है।

इस विशाल ग्रंथ के सम्पादन रूप गुरुतर कार्य को समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने वैदुष्यपूर्ण ढंग से सम्पन्न किया है। यह कठिन कार्य उनके दृढ़ अध्यवसाय, सघन एकाग्रता और प्रस्फुरित ऊर्जा से ही संभव हुआ है। लगभग ९०० पृष्ठों में सम्पादित इस ग्रंथ में १८ परिशिष्ट एवं विस्तृत भूमिका है, जिनमें विभिन्न प्रकार की आवश्यक जानकारी शोध-अध्येताओं को उपलब्ध हो सकेगी। इस श्रमसाध्य कार्य को पूर्ण करने में उन्होंने अहर्निश श्रम किया है। मैं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं, जिन्होंने आगमों के शोधपरक ग्रंथों के प्रकाशन का गौरव जैन विश्व भारती को प्रदान किया। मैं समणी कुसुमप्रज्ञाजी के प्रति शुभकामना करता हूं कि भविष्य में भी जिनशासन की प्रभावना हेतु उनकी श्रुतयात्रा अनवरत चलती रहे और जैन विश्व भारती जन-जन तक आर्षवाणी को पहुंचाती रहे। संस्था परिवार को आशा है कि पूर्व प्रकाशनों की तरह यह प्रकाशन भी विद्वानों की दृष्टि में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

**दिनांक**
**१६-३-२०१०**

**अध्यक्ष**
**सुरेन्द्र चोरड़िया**
**जैन विश्व भारती, लाडनूं**

# ग्रन्थानुक्रम


| | |
|---|---|
| **समर्पण** | ३ |
| **अंतस्तोष** | ४ |
| **मंगल संदेश** | ५ |
| **प्रकाशकीय** | ६ |
| **संकेत-सूची** | ११ |
| **व्यवहार और प्रायश्चित्त : एक विमर्श** | १३ |
| **छेदसूत्रों का महत्त्व एवं उनकी संख्या।** | १३ |
| **भाष्य एवं भाष्यकार।** | १५ |
| **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण : कर्तृत्व एवं समय।** | २१ |
| • रचनाएं | २४ |
| * विशेषावश्यक भाष्य एवं स्वोपज्ञ टीका। | २४ |
| * बृहत्संग्रहणी | २४ |
| * बृहत्क्षेत्रसमास | २४ |
| * विशेषणवती | २४ |
| * अनुयोगद्वारचूर्णि | २५ |
| **जीतकल्पसूत्र एवं उसका भाष्य।** | २५ |
| **ग्रंथ वैशिष्ट्य** | २८ |
| • भाषा शैली का वैशिष्ट्य। | २९ |
| • कथाओं का प्रयोग। | ३१ |
| **जीतकल्प चूर्णि एवं व्याख्या ग्रंथ।** | ३२ |
| **जीतकल्प भाष्य पर पूर्ववर्ती ग्रंथों का प्रभाव।** | ३२ |
| **परवर्ती अन्य ग्रंथों पर प्रभाव।** | ३३ |
| **व्यवहार** | ३३ |
| • व्यवहार के भेद। | ३५ |
| • व्यवहार पंचक का प्रयोग। | ३६ |
| • आगम व्यवहार। | ३७ |
| • श्रुत व्यवहार। | ४० |
| • आज्ञा व्यवहार। | ४१ |
| • धारणा व्यवहार। | ४१ |
| • जीत व्यवहार। | ४३ |
| * जीतव्यवहार के भेद। | ४५ |
| * जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त में भिन्नता। | ४६ |
| • अन्य परम्पराओं में व्यवहार। | ४७ |
| **व्यवहारी की अर्हता।** | ४८ |
| **प्रायश्चित्त** | ५१ |
| • प्रायश्चित्त क्यों? | ५३ |
| • प्रायश्चित्त के स्थान। | ५५ |
| • प्रायश्चित्त-प्राप्ति के प्रकार। | ५६ |
| • प्रायश्चित्त की स्थिति कब तक? | ५७ |
| • प्रायश्चित्त के भेद। | ५८ |
| • अपराध के आधार पर प्रायश्चित्त के भेद। | ६० |
| • प्रायश्चित्त-प्रस्तार। | ६० |
| • प्रायश्चित्त वाहक। | ६१ |
| • प्रायश्चित्त के लाभ। | ६१ |
| • स्थविरकल्पी और जिनकल्पी के प्रायश्चित्त में अन्तर। | ६२ |
| • प्रायश्चित्तों के प्रतीकाक्षर। | ६२ |
| • निर्ग्रन्थ और संयत में प्रायश्चित्त। | ६३ |
| • प्रायश्चित्त-दान में सापेक्षता एवं तरतमता। | ६४ |
| **प्रतिसेवना** | ६७ |
| • प्रतिसेवना के भेद। | ६७ |
| • दर्प प्रतिसेवना। | ६८ |
| • कल्प प्रतिसेवना। | ६९ |
| • दर्पिका और कल्पिका प्रतिसेवना में भेद। | ७१ |
| • मिश्र प्रतिसेवना। | ७२ |
| • प्रतिसेवना और कर्मबन्ध। | ७३ |

• गूढ़-पदों में प्रतिसेवना का कथन। ७३
**आलोचना का स्वरूप एवं उसका महत्त्व।** ७४
* आलोचना के प्रकार। ७६
* ओघ विहार आलोचना। ७७
* विभाग विहार आलोचना। ७७
* विहार आलोचना का क्रम। ७८
* उपसम्पद्यमान शिष्य की परीक्षा एवं आलोचना। ७९
• उपसम्पद्यमान की आलोचना। ८२
• अपराध आलोचना किसके पास? ८३
• अपराध आलोचना की विधि। ८४
• आलोचना करने का क्रम। ८५
• आलोचना के समय द्रव्य, क्षेत्र आदि का महत्त्व। ८७
• आलोचना के समय निषद्या एवं कृतिकर्म-विधि। ८९
• साध्वियों की आलोचना किसके पास? ९१
• आलोचना के समय परिषद्। ९१
• आलोचना काल में सहवर्ती साधु और साध्वी की अर्हता। ९२
• आलोचना और माया। ९३
• आलोचना-विधि के दोष। ९७
• आलोचनार्ह की योग्यता। ९९
• आलोचक की योग्यता। १०२
• आगमव्यवहारी की स्मारणा विधि। १०३
• आलोचना परसाक्षी से ही क्यों? १०३
• आलोचना और आराधना। १०४
• आलोचना के लाभ। १०७
• आलोचना के अपराध-स्थान। १०८
**प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त** ११०
• प्रतिक्रमण के एकार्थक। १११
• प्रतिक्रमण के निक्षेप। ११२
• प्रतिक्रमण के प्रकार। ११४
• प्रतिक्रमण किसका ? ११६
• प्रतिक्रमण, सामायिक और प्रत्याख्यान में अंतर। ११७
• प्रतिक्रमण और आलोचना। ११७
• प्रतिक्रमण और कल्प। ११७
• प्रतिक्रमण के अपराध-स्थान। ११८
• प्रतिक्रमण के लाभ। १२०
**तदुभय प्रायश्चित्त** १२१
• तदुभय प्रायश्चित्त के स्थान। १२१
**विवेक प्रायश्चित्त** १२२
• विवेक प्रायश्चित्त के स्थान। १२२
• विवेक में औचित्य। १२३
• विशोधिकोटि और अविशोधि कोटि का विवेक। १२४
**व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त** १२५
• कायोत्सर्ग के प्रकार। १२७
* अभिभव कायोत्सर्ग का काल। १२७
• कायोत्सर्ग कर्ता की अर्हता। १२९
• कायोत्सर्ग की विधि। १३०
• कायोत्सर्ग के अपवाद। १३०
• कायोत्सर्ग के दोष। १३१
• उच्छ्वास का कालप्रमाण। १३२
• प्रतिक्रमण में उच्छ्वास और लोगस्स का प्रमाण। १३३
• कायोत्सर्ग के स्थान एवं श्वासोच्छ्वास का प्रमाण। १३४
• कायोत्सर्ग करने का स्थान। १३५

- कायोत्सर्ग का प्रयोजन। १३६
- व्युत्सर्ग तप और व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त में अंतर। १३८
- कायोत्सर्ग के लाभ। १३८

**तप प्रायश्चित्त** १३९

- तप प्रायश्चित्त के प्रकार। १४०
- परिहार तप और शुद्ध तप में अन्तर। १४०
- छेद में भी तप प्रायश्चित्त। १४१
- प्रायश्चित्त के संकेत और तप प्रायश्चित्त। १४२
- नवविध व्यवहार में तप प्रायश्चित्त। १४२
- जीतव्यवहार के आधार पर तप प्रायश्चित्त १४३
  - * चतुर्गुरु—उपवास प्रायश्चित्त के स्थान। १४३
  - * चतुर्लघु—आयम्बिल के स्थान। १४४
  - * गुरुमास—एकासन के स्थान। १४४
  - * लघुमास—पुरिमार्ध के स्थान। १४४
  - * पणग—निर्विगय के स्थान। १४५
  - * बेला—(दो उपवास) के स्थान। १४५
  - * तेला—(तीन उपवास) के स्थान। १४५

**परिहार तप** १४६

- परिहार तप की योग्यता। १४६
- परिहार तप वहन का समय। १४७
- परिहार तप प्रायश्चित्त स्वीकार करने की विधि। १४७
- पारिहारिक को आचार्य द्वारा आश्वासन। १४८
- आलाप आदि दश पदों का परिहार। १४८
- कल्पस्थित और अनुपारिहारिक का सम्बन्ध। १५०
- ग्लानत्व की स्थिति में परिकर्म। १५१
- पारिहारिक की आहार एवं भिक्षा सम्बन्धी मर्यादा। १५२
- पारिहारिक के प्रति आचार्य की सेवा। १५३
- परिहारी और अपरिहारी की पात्र सम्बन्धी मर्यादा। १५३
- परिहार तप प्रायश्चित्त के विकल्प। १५४
- पारिहारिक की संघ-सेवा। १५४
- परिहार तप का झोष—क्षपण। १५५
- वादी पारिहारिक के प्रायश्चित्त में कमी। १५६
- पारिहारिक का मार्ग में अवस्थान। १५६
- परिहार तप प्रायश्चित्त के स्थान। १५६
- तप प्रायश्चित्त तथा अनवस्थाप्य और पाराञ्चित तप में अन्तर। १५७
- तप प्रायश्चित्त-दान में तरतमता। १५७

**छेद प्रायश्चित्त** १६१

- छेद प्रायश्चित्त के प्रकार। १६३
- छेद प्रायश्चित्त के अपराध-स्थान। १६३
- आज्ञाव्यवहार में छेद प्रायश्चित्त का गूढ़ार्थ। १६४

**मूल प्रायश्चित्त** १६४

- मूल प्रायश्चित्त के स्थान। १६५

**अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त** १६६

- अनवस्थाप्य के प्रकार। १६६
- आशातना अनवस्थाप्य। १६६
- प्रतिसेवना अनवस्थाप्य। १६७
  - * साधर्मिक स्तैन्य। १६७
  - * उपधि स्तैन्य। १६७
  - * आहार स्तैन्य। १६८
  - * सचित्त शैक्ष आदि का स्तैन्य। १६८
  - * अन्यधार्मिक स्तैन्य। १६९
  - * लिंग प्रविष्ट आहार स्तैन्य। १६९
  - * लिंग प्रविष्ट उपधि स्तैन्य। १७०
  - * लिंग प्रविष्ट सचित्त स्तैन्य। १७०
  - * गृहस्थ स्तैन्य। १७०

* स्तैन्य ग्रहण के अपवाद। १७१
* शैक्ष अपहरण में अपवाद। १७१
* हस्तताल। १७२
* हस्तालम्ब। १७३
* हस्तादान। १७३
• अनवस्थाप्य का कालमान। १७४
• अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त वाहक की देखभाल। १७४
• तप निर्वहन के बाद गृहीभूत और उपस्थापना। १७४
• अनवस्थाप्य और पाराञ्चित में अंतर। १७६
**पाराञ्चित प्रायश्चित्त** १७६
• पाराञ्चित के प्रकार। १७७
• आशातना पाराञ्चिक। १७७
• प्रतिसेवना पाराञ्चिक। १७८
* दुष्ट पाराञ्चिक। १७८
* कषाय दुष्ट पाराञ्चिक। १७९
* विषय दुष्ट पाराञ्चिक। १७९
* प्रमत्त पाराञ्चिक। १८०
* अन्योन्य प्रतिसेवना पाराञ्चिक। १८१
• आचार्य द्वारा पाराञ्चित तप का निर्वहन। १८२
• पाराञ्चित तप-वहनकर्ता की देखभाल। १८२
• पाराञ्चित तप वहनकर्ता द्वारा संघीय-सेवा। १८३
• पाराञ्चित प्रायश्चित्त की समयावधि में अल्पीकरण। १८४
• पाराञ्चित प्रायश्चित्त के स्थान। १८५
• अंतिम दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद। १८६
• पाठ-संपादन की प्रक्रिया। १८७
• हस्तप्रति-परिचय। १८७
• ग्रंथ का अनुवाद। १८८
• आगम कार्य में नियोजन का इतिहास। १८९
• कृतज्ञता-ज्ञापन। १९१
• मूल पाठ : विषय सूची १
• जीतकल्प सभाष्य १३
• अनुवाद २६५
**• परिशिष्ट** ५२९
• पदानुक्रम ५३१
• कथाएं ५७१
• तुलनात्मक संदर्भ ६२१
• परिभाषाएं ६४४
• एकार्थक ६५२
• निरुक्त ६५४
• उपमा और दृष्टान्त ६५७
• सूक्त-सुभाषित ६५९
• दो शब्दों का अर्थभेद ६६२
• आयुर्वेद और चिकित्सा ६६३
• देशी शब्द ६६६
• विशेषनामानुक्रम ६७२
• विषयानुक्रम ६८१
• पाद-टिप्पण विषयानुक्रम ६८४
• वर्गीकृत विशेषनामानुक्रम ६८९
• जीतकल्प सूत्र से सम्बन्धित भाष्यगाथाओं का क्रम ६९५
• प्रयुक्त ग्रंथ-सूची ६९६

# संकेत-सूची

अंगु — अंगुत्तरनिकाय।
अनध — अनगारधर्मामृत।
अनुद्वा — अनुयोगद्वार।
अनुद्वाचू — अनुयोगद्वार चूर्णि।
अभिधान — अभिधान चिंतामणि नाममाला।
अमर — अमरकोश।
आ — आचारांग।
आप्टे — संस्कृत हिन्दी शब्द कोश।
आव — आवश्यक सूत्र।
आवचू — आवश्यक चूर्णि।
आवनि — आवश्यक निर्युक्ति।
आवहाटी — आवश्यक हारिभद्रीया टीका।
ओनि — ओघनिर्युक्ति।
ओभा — ओघनिर्युक्ति भाष्य।
उ — उत्तराध्ययन।
उनि — उत्तराध्ययन निर्युक्ति।
उपा — उपासकदशा।
उशांटी — उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका।
कपा — कषाय पाहुड।
कसू — कल्पसूत्र (बृहत्कल्प)।
काअ — कार्तिकेय अनुप्रेक्षा।
काअटी — कार्तिकेय अनुप्रेक्षा टीका।
कौ — कौटिलीय अर्थशास्त्र।
गण — गणधरवाद।
गोक — गोम्मटसार कर्मकाण्ड।
गोजी — गोम्मटसार जीवकाण्ड।
गौतम — गौतमधर्मसूत्र।
जी — जीतकल्पसूत्र।
जीचू — जीतकल्प चूर्णि।
जीचूवि — जीतकल्पचूर्णि विषमपद व्याख्या।
जीभा — जीतकल्प भाष्य।
जीसू — जीतकल्प सूत्र।
जैन बौद्ध — जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन।
ज्ञा — ज्ञाताधर्मकथा।
त — तत्त्वार्थसूत्र।
तभाटी — तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी टीका।
तवा — तत्त्वार्थ राजवार्तिक।
तश्रुतटी — तत्त्वार्थ श्रुतसागरीया टीका।
तस्वोभा — तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य।
तु — तुलना।
दशअचू — दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि।
दशचू — दशवैकालिक चूलिका।
दशनि — दशवैकालिक निर्युक्ति।
दशुचू — दशाश्रुतस्कंध चूर्णि।
देशी — देशी नाममाला।
द्र — द्रष्टव्य।
नंदीहाटी — नंदी हारिभद्रीया टीका।
नि[1] — निशीथ भाष्य।
निर — निरयावलिका।
निचू — निशीथ चूर्णि।
निपीचू — निशीथ पीठिका भूमिका।

---

१. गाथाओं के पाठ-संपादन में निशीथभाष्य के लिए निभा के स्थान पर 'नि' संकेत का प्रयोग किया है। इसी प्रकार बृभा के स्थान पर 'बृ', पंकभा के स्थान पर 'पंक' तथा व्यभा के स्थान पर 'व्य' संकेत का प्रयोग किया है।

निभा — निशीथभाष्य।
निभा चू — निशीथभाष्य चूर्णि।
निसा — नियमसार।
निसू — निशीथसूत्र।
पंकभा — पंचकल्पभाष्य।
पंचा — पंचाशक प्रकरण।
पंव — पंचवस्तु।
पारा — पाराशर स्मृति।
पिनि — पिण्डनिर्युक्ति।
पिनिमटी — पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरि टीका।
पिभा — पिण्डनिर्युक्ति भाष्य।
प्रकी — पइण्णयसुत्ताइं।
प्रज्ञा — प्रज्ञापना।
प्रसा — प्रवचनसारोद्धार।
प्रसाटी — प्रवचनसारोद्धार टीका।
बृचू — बृहत्कल्प चूर्णि।
बृभा — बृहत्कल्पभाष्य।
बृभाटी — बृहत्कल्पभाष्य टीका।
बृभापीटी — बृहत्कल्पभाष्य पीठिका टीका।
बृसू — बृहत्कल्पसूत्र।
भ — भगवती।
भआ — भगवती आराधना।
भआविटी — भगवती आराधना विजयोदया टीका।
भटी — भगवती टीका।
भापा — भावपाहुड़।
मनु — मनुस्मृति।
मनुमिटी — मनुस्मृति मिताक्षरा टीका।
भवि — मरणविभक्ति प्रकीर्णक।
मूला — मूलाचार।
मूलाटी — मूलाचार टीका।
याज्ञ — याज्ञावल्क्य स्मृति।
राजटी — राजप्रश्नीय टीका।
वशि — वशिष्ठ स्मृति।
विपु — विष्णु पुराण।
विशे — विशेषणवती।
व्यभा — व्यवहारभाष्य।
व्यभापीटी — व्यवहारभाष्य पीठिका टीका।
व्यभामटी — व्यवहारभाष्य मलयगिरि टीका।
व्यसू — व्यवहार सूत्र।
शुक्र — शुक्रनीति।
षट्ध — षट्खण्डागम धवला।
सं. हिं. कोश — संस्कृत हिन्दी शब्द कोश (आप्टे)।
सम — समवाओ।
समय — समयसार।
ससि — सर्वार्थसिद्धि।
सू — सूत्रकृतांग।
सूटी — सूत्रकृतांग टीका।
स्था — स्थानांग।
स्थाटी — स्थानांग टीका।

# व्यवहार और प्रायश्चित्त : एक विमर्श

## छेदसूत्रों का महत्त्व एवं उनकी संख्या

जैन आगम ग्रंथों में छेदसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये ग्रंथ साधु-जीवन का संविधान प्रस्तुत करने के साथ-साथ स्खलना होने पर दंड अथवा न्याय का विधान भी प्रस्तुत करते हैं। अर्थ की दृष्टि से पूर्वगत को छोड़कर अन्य आगमों की अपेक्षा छेदसूत्र अधिक शक्तिशाली हैं।[1] निशीथ भाष्य में इनको उत्तम श्रुत कहा गया है। इसका कारण बताते हुए

चूर्णिकार कहते हैं कि छेदसूत्रों में प्रायश्चित्त-विधि वर्णित है। इससे चारित्र की शुद्धि होती है इसलिए ये उत्तम श्रुत हैं।[2] आचार्यों ने इनके व्याख्या ग्रंथों की महत्ता भी स्थापित की है। भाष्यकार कहते हैं कि जो बृहत्कल्प और व्यवहार की निर्युक्ति को अर्थतः जानता है, वह श्रुतव्यवहारी होता है।[3]

जीतकल्पचूर्णि में छेदसूत्रों के रूप में निम्न नाम मिलते हैं—कल्प, व्यवहार, कल्पिकाकल्पिक, क्षुल्लकल्पश्रुत, महाकल्पश्रुत और निशीथ।[4] आवश्यक निर्युक्ति में महाकल्पश्रुत का उल्लेख मिलता है।[5] संभव है कि तब तक इस ग्रंथ का अस्तित्व था। कल्प, व्यवहार और निशीथ आज उपलब्ध हैं।

छेदसूत्रों की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद है। विंटरनित्स के अनुसार छेदसूत्रों के प्रणयन का क्रम इस प्रकार है—कल्प, व्यवहार, निशीथ, पिंडनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और महानिशीथ।[6] विंटरनित्स ने छेदसूत्रों में जीतकल्प का समावेश नहीं किया। अन्य जैन परम्पराओं में भी छेदसूत्रों की संख्या के बारे में मतभेद है। तेरापंथ में छेदसूत्र के रूप में चार ग्रंथ मान्य हैं—दशाश्रुत, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ। समयसुंदरगणि ने छेद सूत्रों की संख्या छह स्वीकार की है—१. दशाश्रुतस्कंध २. व्यवहार ३. बृहत्कल्प ४. निशीथ ५. महानिशीथ ६. जीतकल्प।[7] पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इनमें जीतकल्प के स्थान पर पंचकल्प को छेदसूत्रों के अन्तर्गत माना है।[8] हीरालाल कापड़िया के अनुसार पंचकल्पसूत्र के लोप होने के

---

१. व्यभा १८२९;
जम्हा उ होति सोधी, छेदसुयत्थेण खलितचरणस्स।
तम्हा छेदसुयत्थो, बलवं मोत्तूण पुव्वगतं॥

२. निभा ६१८४ चू पृ. २५३; छेदसुयं कम्हा उत्तमसुतं? भण्णति जम्हा एत्थ सपायच्छित्तो विधी भण्णति—जम्हा य तेण च्चरणविसुद्धी करेति, तम्हा तं उत्तमसुतं।।

३. जीभा ५६१-६४, व्यभा ४४३२-३५।

४. जीचू पृ. १; कप्प-ववहार-कप्पियाकप्पिय-चुल्लकप्प-महाकप्पसुय-निसीहाइएसु छेदसुत्तेसु।

५. (क) आवनि ४८१; जं च महाकप्पसुतं, जाणि य सेसाणि छेदसुत्ताणि।
(ख) निशीथ भाष्य के अनुसार महाकल्पश्रुत के ज्ञानार्थ शिष्य अन्य गण की उपसम्पदा लेते थे। किसी गण की यह मर्यादा होती थी कि जो यावज्जीवन उस आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करेगा, उसे महाकल्पश्रुत की वाचना दी जाएगी। वहां उपसंपद्यमान शिष्य आचार्य को कह सकता है कि वाचना दें या न दें, यह उनकी इच्छा है लेकिन यह जिनाज्ञा नहीं है कि यावज्जीवन शिष्यत्व स्वीकार करने वाले को ही श्रुत दिया जाए। (निभा ५५७२)

६. A History of the Canonical Literature of Jains, P. 446।

७. सामाचारी शतक (आगमाधिकार)।

८. जैन धर्म पृ. २५९।

पश्चात् जीतकल्प को छेदसूत्रों के अन्तर्गत माना जाने लगा।[1] वर्तमान में पंचकल्प अनुपलब्ध है। जैन ग्रंथावली के अनुसार सतरहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक इसका अस्तित्व था। किन्तु निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसका लोप कब हुआ? पंचकल्प भाष्य की विषयवस्तु देखकर ऐसा लगता है कि किसी समय में पंचकल्प की गणना छेदसूत्रों में रही होगी।

सामाचारी शतक में वर्णित प्रथम पांच छेदसूत्रों का नंदी में उल्लेख मिलता है। जीतकल्पसूत्र का नंदी में उल्लेख नहीं मिलता लेकिन महत्त्वपूर्ण होने के कारण तथा प्रायश्चित्त का विधान करने के कारण बाद के कुछ आचार्यों ने इसका समावेश छेदसूत्र में कर दिया। नंदी में छेदसूत्र जैसा कोई वर्गीकरण नहीं मिलता। वहां व्यवहार, बृहत्कल्प आदि को कालिक श्रुत के अन्तर्गत रखा है।[2] दिगम्बर ग्रंथ गोम्मटसार[3] तथा धवला[4] में इनका समावेश अंगबाह्य में है। धवला और कषाय पाहुड़ में वर्णित कल्प, व्यवहार और निशीथ के अर्थाधिकार वर्तमान में उपलब्ध कल्प, व्यवहार और निशीथ से बहुत साम्य रखते हैं[5] अतः संभव है आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ़ ये ग्रंथ दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य थे।

दिगम्बर साहित्य में जीतकल्प, पंचकल्प और महानिशीथ का उल्लेख नहीं मिलता। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन ग्रंथों को विशेष महत्त्व देने हेतु इनका छेदसूत्र नामक एक नया वर्गीकरण बाद में कर दिया गया। 'छेदसूत्र' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है।[6] वहां छेदसूत्रों के लिए 'पदविभाग सामाचारी' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् विशेषावश्यक, निशीथभाष्य[7] आदि साहित्य में प्रचुर रूप से इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इन प्रायश्चित्तसूत्रों का नामकरण छेदसूत्र क्यों पड़ा, इस संदर्भ में विस्तार हेतु देखें जैन विश्व भारती से प्रकाशित व्यवहारभाष्य के अन्तर्गत व्यवहारभाष्य: एक अनुशीलन भूमिका पृ. ३४, ३५।

छेदसूत्रों का निर्यूहण क्यों किया गया, इस विषय में भाष्य-साहित्य में विस्तृत चर्चा मिलती है। भाष्यकार के अनुसार नवां पूर्व सागर की भांति विशाल है। उसकी सतत स्मृति के लिए बार-बार परावर्तन की अपेक्षा रहती है, अन्यथा वह विस्मृत हो जाता है।[8] जब आचार्य भद्रबाहु ने धृति, संहनन, वीर्य, शारीरिक बल, सत्त्व, श्रद्धा, उत्साह एवं पराक्रम की क्षीणता देखी, तब चारित्र की विशुद्धि एवं रक्षा के लिए दशाश्रुतस्कंध, कल्प एवं व्यवहार का निर्यूहण किया।[9] इसका दूसरा हेतु बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि

---

१. A History of the Canonical Literature of Jains, P. 37।
२. नंदी ७८।
३. गोजी ३६७, ३६८।
४. षट्ध पु. १/१, २ पृ. ९७।
५. (क) षट्ध पु. १/१, २ पृ. ९८, ९९ ; कप्प-ववहारो साहूणं जोग्गमाचरणं अकप्पसेवणाए पायच्छित्तं च वण्णेइ। (ख) कपा पृ. १२०।
६. आवनि ४८१।
७. विभा २२९५, निभा ६१८४।
८. व्यभा १७३८।
९. पंकभा ३७-३९।

चरणकरणानुयोग के व्यवच्छेद होने से चारित्र का अभाव हो जाएगा अतः चरणकरणानुयोग की अव्यवच्छित्ति एवं चारित्र की रक्षा के लिए भद्रबाहु ने इन ग्रंथों का निर्यूहण किया।[1] चूर्णिकार स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि आचार्य भद्रबाहु ने आयुबल, धारणाबल आदि की क्षीणता देखकर दशा, कल्प एवं व्यवहार का निर्यूहण किया किन्तु आहार, उपधि, कीर्ति या प्रशंसा आदि के लिए नहीं।[2]

निर्यूहण के प्रसंग को दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे सुगंधित फूलों से युक्त कल्पवृक्ष पर चढ़कर फूल इकट्ठे करने में कुछ व्यक्ति असमर्थ होते हैं। उन व्यक्तियों पर अनुकम्पा करके कोई शक्तिशाली व्यक्ति उस पर चढ़ता है और फूलों को चुनकर अक्षम लोगों को दे देता है। उसी प्रकार चतुर्दशपूर्व रूप कल्पवृक्ष पर भद्रबाहु ने आरोहण किया और अनुकंपावश छेद ग्रंथों का संग्रथन किया।[3] इस प्रसंग में भाष्यकार ने केशवभेरी एवं वैद्य के दृष्टान्त का भी उल्लेख किया है।[4]

**भाष्य एवं भाष्यकार**

मूलग्रंथ के हार्द को समझने के लिए उस पर व्याख्या ग्रंथ लिखने का क्रम प्राचीनकाल से चला आ रहा है। जैन आगमों पर अनेक प्रकार के व्याख्या ग्रंथ लिखे गए—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, दीपिका, अवचूरि आदि। उसके बाद प्रादेशिक भाषाओं—राजस्थानी, गुजराती आदि में भी टब्बा, वार्तिक आदि व्याख्याएं लिखी गईं। दिगम्बर परम्परा में निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि लिखने की विशेष परम्परा नहीं रही, केवल कषाय पाहुड़ पर चूर्णि मिलती है।

अनुयोग (व्याख्या) के पांच पर्याय मिलते हैं—१. अनुयोग २. नियोग ३. भाषा ४. विभाषा और ५. वार्तिक।[5] इनमें वार्तिक को भाष्य का वाचक माना जा सकता है। आगम व्याख्या-साहित्य में भाष्य का दूसरा स्थान है। निर्युक्ति-साहित्य की भांति भाष्य भी प्राकृत भाषा में निबद्ध पद्यबद्ध रचना है। निर्युक्ति में संक्षिप्त शैली में केवल पारिभाषिक शब्दों की निक्षेपपरक व्याख्या है। अनेक स्थलों पर तो उसके गूढ़ अर्थ को बिना व्याख्या-साहित्य के समझना कठिन होता है अतः उसकी व्याख्या के लिए भाष्य-साहित्य की आवश्यकता पड़ी। ये विस्तृत शैली में लिखे गए व्याख्या ग्रंथ हैं, इनमें तत्सम्बद्ध आगम एवं उसकी निर्युक्ति पर व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

निर्युक्तियों की भांति भाष्य भी दश ग्रंथों पर लिखे गए हैं—१. आवश्यक २. दशवैकालिक ३. उत्तराध्ययन ४. बृहत्कल्प ५. पंचकल्प ६. व्यवहार ७. निशीथ ८. जीतकल्प ९. ओघनिर्युक्ति १०. पिंडनिर्युक्ति।

---

१. पंकभा ४२;
   मा य हु वोच्छिज्जिहिती, चरणऽणुओगो त्ति तेण णिज्जूढं।
   वोच्छिण्णे बहुतम्मी, चरणाभावो भवेज्जाहि।।
२. दशचू पृ. ३।
३. पंकभा ४३-४६।
४. पंकभा ४७, ४८।
५. आवनि ११६।

इनमें आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्यों का उल्लेख मिलता है—१. मूलभाष्य २. भाष्य ३. विशेषावश्यक भाष्य।[1] मूलभाष्य एवं भाष्य की अनेक गाथाएं विशेषावश्यक भाष्य में मिलती हैं। इसी प्रकार बृहत्कल्प पर भी दो भाष्य लिखे गए—लघुभाष्य एवं बृहद्भाष्य। वर्तमान में छह खंडों में प्रकाशित बृहत्कल्पभाष्य लघुभाष्य है। बृहद्भाष्य अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई विद्या मंदिर में रूपेन्द्र पगारिया बृहत्कल्प बृहद्भाष्य के सम्पादन का कार्य कर रहे हैं। मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार व्यवहार और निशीथ पर भी बृहद्भाष्य लिखे गए थे लेकिन आज वे अनुपलब्ध हैं।

यह अनुसंधान का विषय है कि तीन छेदसूत्रों पर बृहद्भाष्य लिखे गए फिर दशाश्रुतस्कन्ध पर क्यों नहीं लिखा गया, जबकि निर्युक्तियां चारों छेदसूत्रों पर मिलती हैं। संभव है इस पर भी भाष्य लिखा गया हो लेकिन आज वह उपलब्ध नहीं है। दश भाष्यों में बृहत्कल्प, निशीथ और व्यवहार के ऊपर बृहत्काय भाष्य मिलते हैं। जीतकल्प, पंचकल्प और आवश्यक (विशेषावश्यक भाष्य) पर मध्यम, ओघनिर्युक्ति पर अल्प तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और पिंडनिर्युक्ति पर अत्यल्प परिमाण में भाष्य लिखे गए हैं। इन भाष्यों की गाथा-संख्या इस प्रकार है—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. बृहत्कल्पभाष्य | ६४९० | ५. पंचकल्पभाष्य | २६६६ |
| २. निशीथ भाष्य | ६७०३ | ६. जीतकल्प भाष्य | २६०८[2] |
| ३. व्यवहार भाष्य | ४६९४ | ७. ओघनिर्युक्तिभाष्य | ३२२ |
| ४. विशेषावश्यक भाष्य | ३६०३ | ८. दशवैकालिक भाष्य | ८२[3] |
| • मूल भाष्य | २५३ | ९. उत्तराध्ययन भाष्य | ३४[4] |
| | | १०. पिंडनिर्युक्तिभाष्य | ३७[5] |

उपर्युक्त दश भाष्यों में निशीथ और जीतकल्प पर लिखे गए भाष्य मौलिक रचना के साथ संकलनप्रधान अधिक हैं क्योंकि इनमें अन्य भाष्यों एवं निर्युक्तियों की अनेक गाथाएं संकलित हैं। जीतकल्प भाष्य में तो जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण स्पष्ट कहते हैं कि कल्प, व्यवहार और निशीथ उदधि के

१. विशेषावश्यक भाष्य पूरे आवश्यक सूत्र पर न होकर केवल सामायिक आवश्यक की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

२. प्रकाशित जीतकल्प भाष्य में २६०६ गाथाएं हैं लेकिन सभी हस्तप्रतियों में २६०८ गाथाएं मिलती हैं।

३. प्रकाशित दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका में भाष्य की ८३ गाथाएं हैं लेकिन जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित निर्युक्ति पंचक में भाष्य और निर्युक्ति की गाथाओं का समालोचनात्मक पृथक्करण हुआ है। वहां दशवैकालिक भाष्य की ८२ गाथाएं सिद्ध की हैं। इसके अतिरिक्त वहां और भी कुछ गाथाओं के भाष्यगत होने के तर्क प्रस्तुत किए हैं।

४. निर्युक्ति पंचक में इसके अतिरिक्त कुछ और गाथाओं को भी सतर्क और सटिप्पण भाष्यगाथा सिद्ध किया गया है।

५. मलयगिरि की टीका सहित प्रकाशित पिण्डनिर्युक्ति में १५ क्रमांक के बाद २५ का क्रमांक है अतः भाष्य गाथाएं ४७ न होकर ३७ ही हैं। जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित पिण्डनिर्युक्ति में अनेक निर्युक्तिगाथाओं के भाष्यगाथा होने के तर्क प्रस्तुत किए हैं।

समान विशाल हैं। उन श्रुतरत्नों का बिन्दुरूप अथवा नवनीत रूप सार यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि के समक्ष तीनों छेदसूत्रों के भाष्य थे। उदधि सदृश विशेषण मूल सूत्रों के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे आकार में इतने बड़े नहीं हैं।

लगभग भाष्य मूलसूत्र एवं उनकी निर्युक्तियों पर लिखे गए लेकिन जीतकल्प भाष्य केवल मूलसूत्र पर है, उस पर निर्युक्ति नहीं लिखी गई। कुछ भाष्य केवल निर्युक्ति पर भी हैं, जैसे—पिंडनिर्युक्तिभाष्य और ओघनिर्युक्तिभाष्य। डॉ. मोहनलाल मेहता ने ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्यों का उल्लेख किया है, जिनमें एक की संख्या ३२२ है, जो द्रोणाचार्य की टीका समेत निर्युक्ति के साथ प्रकाशित है। दूसरे भाष्य की संख्या २५१७ है लेकिन वर्तमान में यह भाष्य अप्रकाशित है।

छेदसूत्रों पर लिखे जाने वाले भाष्यों में निर्युक्ति और भाष्य मिलकर एक ग्रंथ रूप हो गए हैं। यद्यपि चूर्णिकार ने कहीं-कहीं निर्युक्ति गाथा का संकेत किया है लेकिन सभी गाथाओं के बारे में निर्देश नहीं है। टीकाकार ने भी 'सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रंथो जात:' का संकेत करके इनको एक ग्रंथ रूप मान लिया है। जैन विश्व भारती से प्रकाशित व्यवहारभाष्य में निर्युक्ति और भाष्य को पृथक् करने का प्रयास किया गया है। प्रकाश्यमान निशीथ भाष्य में भी निर्युक्ति और भाष्य को पृथक् करने का प्रयास किया जाएगा लेकिन इस दिशा में और भी अन्वेषण की संभावनाएं हैं।

भाष्यकार के रूप में दो नाम प्रसिद्ध हैं—जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तथा संघदासगणि। आचार्य जिनभद्र ने दो महत्त्वपूर्ण भाष्यों की रचना की—विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प भाष्य। मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार भाष्यकार चार होने चाहिए—१. जिनभद्रगणि २. संघदासगणि ३. व्यवहारभाष्य के कर्ता ४. बृहत्कल्प बृहद्भाष्य के कर्ता। अंतिम दो भाष्यकारों के नामों के बारे में उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है।

भाष्य के कर्तृत्व के बारे में मुनि पुण्यविजयजी, पंडित दलसुखभाई मालवणिया आदि शीर्षस्थ विद्वानों के द्वारा गहरा विमर्श किया गया है लेकिन फिर भी विशेषावश्यक और जीतकल्पभाष्य के अतिरिक्त शेष भाष्यों के रचनाकार और उनके समय के बारे में मतैक्य नहीं मिलता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि प्राचीन काल में लेखक बिना किसी नामोल्लेख के कृतियां लिख देते थे। कालान्तर में यह निर्णय करना कठिन हो जाता था कि वास्तव में मूल लेखक कौन थे? कहीं-कहीं एक ही नाम के दो या तीन आचार्य या लेखक होने से भी सही निर्णय करना कठिन हो जाता था। बृहत्कल्प भाष्य की पीठिका में भी मलयगिरि ने भाष्यकार का नामोल्लेख न करके केवल 'सुखग्रहणधारणाय

१. जीभा २६०७।

भाष्यकारो भाष्यं कृतवान्' इतना सा उल्लेख मात्र किया है।[1]

निशीथ भाष्य की चूर्णि एवं बृहत्कल्प भाष्य की टीका के अनेक उद्धरणों को देखकर पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने निशीथ पीठिका की भूमिका में अनेक हेतुओं से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ भाष्य के कर्ता आचार्य सिद्धसेन होने चाहिए।[2] यदि मालवणियाजी के इस तर्क को स्वीकार किया जाए तो एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि चूर्णिकार ने ग्रंथ के प्रारंभ में एवं प्रशस्ति श्लोकों में कहीं भी आचार्य सिद्धसेन का उल्लेख क्यों नहीं किया? यदि आचार्य सिद्धसेन को भाष्यकार के रूप में स्वीकृत किया भी जाए तो एक प्रश्न पुनः उठता है कि ये सिद्धसेन कौन-से आचार्य थे? क्योंकि इतिहास में सिद्धसेन के रूप में अनेक आचार्यों के नाम प्रसिद्ध हैं। प्रथम सन्मतितर्कप्रकरण के कर्ता आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तथा दूसरे तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्यानुसारिणी टीका लिखने वाले सिद्धसेन क्षमाश्रमण। इसके अतिरिक्त जीतकल्प पर चूर्णि लिखने वाले सिद्धसेनगणि। निशीथ चूर्णि में भी आचार्य सिद्धसेन का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने योनि-प्राभृत ग्रंथ से अश्व का निर्माण किया था।[3] इनका सम्बन्ध सिद्धसेन क्षमाश्रमण या फिर अन्य सिद्धसेन नामक आचार्य से होना चाहिए। सिद्धसेन दिवाकर भाष्यकार नहीं थे, यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि चूर्णिकार और टीकाकार ने सिद्धसेन नाम के साथ क्षमाश्रमण विशेषण का प्रयोग किया है, न कि दिवाकर का। वैसे भी कालक्रम के निर्धारण में सिद्धसेन दिवाकर सिद्धसेन क्षमाश्रमण से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। पंडित दलसुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि जीतकल्प चूर्णि के कर्ता आचार्य सिद्धसेन ही भाष्यकर्ता सिद्धसेन क्षमाश्रमण हैं लेकिन अभी इस विषय में और अधिक खोज की आवश्यकता है।

यद्यपि निशीथ चूर्णिकार ने अनेक स्थलों पर 'अस्य सिद्धसेनाचार्यो व्याख्यां करोति' का उल्लेख किया है। उस तर्क के आधार पर उनको सम्पूर्ण ग्रंथ का कर्ता नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त चूर्णिकार ने ग्रंथ के प्रारम्भ एवं अंतिम प्रशस्ति में कहीं भी आचार्य सिद्धसेन का उल्लेख नहीं किया है।

मुनि पुण्यविजयजी बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ—इन तीनों भाष्यों के कर्ता संघदासगणि को मानते हैं। बृहत्कल्प लघुभाष्य के छठे भाग की भूमिका में वे लिखते हैं कि यद्यपि मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है फिर भी ऐसा लगता है कि कल्प (बृहत्कल्प) लघुभाष्य, व्यवहार और निशीथ लघुभाष्य के प्रणेता श्री संघदासगणि हैं। उनके अभिमत से संघदासगणि नाम के दो आचार्य हुए। प्रथम संघदासगणि जो 'वाचक पद' से विभूषित थे, उन्होंने वासुदेवहिण्डी के प्रथम खण्ड की रचना की। द्वितीय संघदासगणि

---

१. बृभापीटी पृ. २।
२. निपीभू पृ. ४०-४६।
३. निभा. २ चू पृ. २८१; जोणिपाहुडातिणा जहा सिद्धसेणायरिएण अस्साए कता।

उनके बाद हुए, जिन्होंने बृहत्कल्प लघुभाष्य की रचना की, वे क्षमाश्रमण पद से अलंकृत थे। आचार्य संघदासगणि बृहत्कल्प भाष्य के कर्ता हैं, इसकी पुष्टि में सबसे बड़ा प्रमाण आचार्य क्षेमकीर्ति का निम्न उद्धरण है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है—

कल्पेऽनल्पमहर्घं प्रतिपदमर्पयति योऽर्थनिकुरम्बम्।
श्रीसंघदासगणये चिन्तामणये नमस्तस्मै॥

"अस्य च स्वल्पग्रन्थमहार्थतया दुःखबोधतया च सकलत्रिलोकीसुभगङ्करणक्षमाश्रमणनामधेयाभिधेयैः श्रीसंघदासगणिपूज्यैः प्रतिपदप्रकटितसर्वज्ञाज्ञाविराधनासमुद्भूतप्रभूतप्रत्यपायजालं निपुणचरणकरणपरिपालनोपायगोचरविचारवाचालं सर्वथा दूषणकरणेनाप्यदूष्यं भाष्यं विरचयाञ्चक्रे।" क्षेमकीर्ति के इस उल्लेख के अतिरिक्त कहीं भी व्याख्याकारों ने भाष्यकार के रूप में संघदासगणि का उल्लेख नहीं किया है इसलिए उनके कर्तृत्व के बारे में प्रश्नचिह्न तो खड़ा ही रहता है। बृहत्कल्प भाष्य की प्रथम गाथा में 'कप्पव्ववहाराणं वक्खाणविहिं पवक्खामि' का उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि बृहत्कल्प और व्यवहार भाष्य के रचयिता एक ही हैं।

बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ—इन तीन छेदसूत्रों के पौर्वापर्य पर भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। दलसुखभाई मालवणिया के अभिमत से सर्वप्रथम बृहत्कल्प भाष्य उसके बाद निशीथ भाष्य तथा तत्पश्चात् व्यवहार भाष्य की रचना हुई लेकिन हमारे अभिमत से बृहत्कल्प भाष्य के बाद व्यवहार भाष्य की रचना हुई। बृहत्कल्प भाष्य के बाद व्यवहार भाष्य की रचना हुई, इसका प्रबल हेतु यह है कि व्यवहार भाष्य में अनेक स्थलों पर 'जह कप्पे', 'वण्णिया कप्पे', 'पुव्वुत्तो' आदि का उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख बृहत्कल्पभाष्य की ओर संकेत करता है। पंचकल्पभाष्य के रचनाकार के रूप में संघदासगणि का नाम प्रसिद्ध है लेकिन इसे भी ऐतिहासिक प्रमाणों से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। केवल आचार्य क्षेमकीर्ति के उल्लेख 'कप्प' शब्द से संघदासगणि को बृहत्कल्प और पंचकल्प भाष्य के कर्ता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

ऐसा संभव लगता है कि निशीथ भाष्य संकलित रचना है, जिसकी संकलना किसी एक आचार्य ने नहीं की। यदि बृहत्कल्प लघुभाष्य, व्यवहार भाष्य, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति की गाथाएं इसमें से निकाल दी जाएं तो मूलग्रंथ का १५ प्रतिशत अंश भी बाकी नहीं रहेगा। भाष्य के रूप में संकलनकर्ता ने कहीं-कहीं निशीथ-निर्युक्ति को स्पष्ट करने के लिए अथवा एक सूत्र से दूसरे सूत्र में सम्बन्ध स्थापित करने हेतु कुछ गाथाओं की रचना की है।

भाष्यकार संघदासगणि का समय भी विवादास्पद है। अभी तक इस दिशा में विद्वानों ने विशेष

ऊहापोह नहीं किया है। संघदासगणि आचार्य जिनभद्र से पूर्ववर्ती हैं—इस मत की पुष्टि में अनेक हेतु प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

जिनभद्रगणि के विशेषणवती ग्रंथ में निम्न गाथा मिलती है–

**सीहो चेव सुदाढो, जं रायगिहम्मि कविलबडुओ त्ति।**
**सीसइ ववहारे गोयमोवसमिओ स णिक्खंतो॥**[1]

व्यवहार भाष्य में इसकी संवादी गाथा इस प्रकार मिलती है—

**सीहो तिविट्ठु निहतो, भमिउं रायगिह कविलबडुग त्ति।**
**जिणवीरकहणमणुवसम गोतमोवसम दिक्खा य॥**[2]

विशेषणवती में प्रयुक्त 'ववहारे' शब्द निश्चित रूप से व्यवहारभाष्य के लिए हुआ है क्योंकि मूलसूत्र में इस कथा का कोई उल्लेख नहीं है।

विशेषावश्यकभाष्य की रचना व्यवहारभाष्य के पश्चात् हुई, इसका एक प्रबल हेतु यह है कि बृहत्कल्पभाष्य एवं व्यवहारभाष्य कर्ता के समक्ष यदि विशेषावश्यकभाष्य होता तो वे अवश्य विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं को अपने ग्रंथ में सम्मिलित करते क्योंकि यह ज्ञान का एक आकर ग्रंथ है, जिसमें अनेक विषयों का सांगोपांग वर्णन प्राप्त है। व्यवहारभाष्य की '**मणपरमोधिपुलाए**' गाथा विशेषावश्यक भाष्य में मिलती है। वह व्यवहारभाष्य (४५२७) की गाथा है और विशेषावश्यकभाष्य (२५९३) के कर्ता ने इसे उद्धृत की है, ऐसा प्रसंग से स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः व्यवहारभाष्य विशेषावश्यकभाष्य से पूर्व की रचना है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं लगती।

व्यवहारभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि से पूर्व हुए, इसका एक प्रबल हेतु यह है कि जीतकल्प चूर्णि में स्पष्ट उल्लेख है कि कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि में प्रायश्चित का इतने विस्तार से निरूपण है कि पढ़ने वाले का मति-विपर्यास हो जाता है। शिष्यों की प्रार्थना पर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने संक्षेप में प्रायश्चित्तों का वर्णन करने हेतु जीतकल्प की रचना की।[3] यहां कल्प और व्यवहार शब्द से मूलसूत्र से तात्पर्य न होकर उसके भाष्य की ओर संकेत होना चाहिए क्योंकि मूल ग्रंथ परिमाण में इतने बृहद् नहीं हैं और उनका निर्यूहण मूलतः आचार्य भद्रबाहु ने किया है। दूसरी बात व्यवहारभाष्य की प्रायश्चित्त संबंधी अनेक गाथाएं जीतकल्प में अक्षरशः उद्धृत हैं, जैसे—

| जीतकल्प | व्यभा | जीतकल्प | व्यभा |
|---|---|---|---|
| १८ | ११० | २२ | ११४ |
| १९ | १११ | ३१, ३२ | तु. १०, ११ |

१. विशे ३४।
२. व्यभा २६३८।
३. जीचू पृ. १, २।

निशीथभाष्य जिनभद्रगणि से पूर्व संकलित हो चुका था, इसका एक प्रमाण यह है कि इसमें प्रमाद-प्रतिसेवना के संदर्भ में निद्रा का विस्तृत वर्णन मिलता है। स्त्यानर्द्धि निद्रा के उदाहरण के रूप में '**पोग्गल-मोयग-दंते**'[1] गाथा मिलती है। यह गाथा विशेषावश्यकभाष्य[2] में भी है। लेकिन वहां स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि व्यञ्जनावग्रह के प्रसंग में विशेषावश्यक भाष्यकार ने यह गाथा निशीथभाष्य से उद्धृत की है। विशेषावश्यकभाष्य में यह गाथा प्रक्षिप्त-सी लगती है।

शेष ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन पर लिखे जाने वाले भाष्य के कर्ता कौन हैं? इसका कहीं कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। दशवैकालिक भाष्य के कर्ता तो स्वयं हरिभद्र होने चाहिए, इसको स्वयं हरिभद्र के कुछ प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है।

निष्कर्षत: आचार्य क्षेमकीर्ति के स्पष्ट उल्लेख के आधार पर आचार्य संघदासगणि बृहत्कल्प, व्यवहार और पंचकल्पभाष्य के कर्ता के रूप में सिद्ध होते हैं। निशीथभाष्य किसके द्वारा संकलित किया गया, यह अभी चिन्तन का विषय है। भाष्यकार संघदासगणि का समय पांचवीं-छठी शताब्दी होना चाहिए तथा आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का समय छठी-सातवीं शताब्दी सिद्ध होता है। भाष्य ग्रंथों का रचनाकाल चौथी से सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध तक ही होना चाहिए। यदि भाष्य का रचनाकाल इससे आगे माना जाए तो आगे के व्याख्या ग्रंथों के काल-निर्धारण में अनेक विसंगतियां उत्पन्न होती हैं। प्राचीन काल में आज की भांति मुद्रण की व्यवस्था नहीं थी अत: हस्तलिखित किसी भी ग्रंथ को प्रसिद्ध होने में कम से कम एक शताब्दी का समय तो लग ही जाता था।

**जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण : कर्तृत्व एवं समय**

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आगमिक परम्परा के महान् समर्थक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने तर्क और हेतु को भी आगम के आधार पर सिद्ध किया। विशेषणवती ग्रंथ में वे इसी तथ्य को प्रस्तुति देते हुए कहते हैं—

**मोत्तूण हेउवायं, आगममेत्तावलंबिणो होउं।**
**सम्ममणुचिंतणिज्जं, किं जुत्तमजुत्तमेयं ति[3]।।**

केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के संदर्भ में भी वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन एकान्तरित अर्थात् क्रमबद्ध होते हैं, आगम द्वारा सिद्ध इस बात में मेरी अभिनिवेश बुद्धि नहीं है फिर भी जिनेश्वर भगवान् के मत को अन्यथा रूप में प्रतिपादित करने में मैं समर्थ नहीं हूं—

---

१. निभा १३५।
२. विभा २३५।
३. विशे २४८।

**न वि अभिणिवेसबुद्धी, अम्हं एगंतरोवयोगम्मि।**
**तह वि भणिमो न तीरइ, जं जिणमयमन्नहा काउं।।**[1]

जीतकल्पसूत्र और उसके भाष्य के कर्तृत्व के बारे में विद्वानों में मतभेद है क्योंकि सम्पूर्ण ग्रंथ में ग्रंथकार ने कहीं भी अपना अथवा अपनी गुरु-परम्परा के नाम का उल्लेख नहीं किया है। नंदीसूत्र की पट्टावलि तथा अन्य तपागच्छ और अंचलगच्छ आदि की पट्टावलियों में भी जिनभद्रगणि का कहीं नामोल्लेख नहीं है। खरतरगच्छीय पट्टावलियों में उल्लेख मिलता है पर उनमें अंतर्विरोध है, किसी में उल्लेख है कि वे महावीर के पैंतीसवें पट्ट पर विराजे, दूसरे में अड़तीसवें पट्टधर का उल्लेख है, कहीं-कहीं सत्तावीसवें पट्टधर का भी उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों का मंतव्य है कि ये आचार्य हरिभद्र के पट्ट पर सुशोभित हुए लेकिन ये आचार्य हरिभद्र से पूर्व हो गए थे क्योंकि आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीका में इनका उल्लेख किया है।

मुनि जिनविजयजी ने जीतकल्पचूर्णि की भूमिका में तथा पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने गणधरवाद[2] में विस्तार से उनके समय और कर्तृत्व पर प्रकाश डाला है। एक तर्क उपस्थित होता है कि आचार्य सिद्धसेन का सन्मतितर्क प्रकरण जितना प्रसिद्ध हुआ, महत्त्वपूर्ण और मौलिक ग्रंथ के प्रणेता होते हुए भी आचार्य जिनभद्र एवं उनका साहित्य पन्द्रहवीं शताब्दी तक किसी भी पट्टावलि में प्रकाश में क्यों नहीं आया? संभव लगता है कि उनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को देखकर बाद के आचार्यों ने उन्हें प्रतिष्ठित करके युगप्रधान आचार्यों की शृंखला में जोड़ने का प्रयत्न किया। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भाष्य सुधाम्भोधि, भाष्य पीयूषपाथोधि, भगवान् भाष्यकार, दुःषमान्धकार-निमग्न-जिनवचन-प्रदीप प्रतिभ आदि का सम्बोधन देकर उच्च कोटिक भाष्यकार के रूप में उनका स्मरण किया है।

अंकोट्टक ग्राम से प्राप्त दो प्रतिमाओं पर लिखे गए अभिलेख से यह सिद्ध होता है कि जिनभद्रगणि निवृत्ति कुल के वाचनाचार्य थे। इनके माता-पिता तथा परिवार आदि के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है। जीतकल्पभाष्य की चूर्णि में आचार्य सिद्धसेनगणि ने छह गाथाओं में जिनभद्रगणि की प्रशस्ति की है। प्रशस्ति के अनुसार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, अनुयोगधर, युगप्रधान, ज्ञानियों में प्रमुख, श्रुतज्ञान में दक्ष तथा दर्शन और ज्ञान के उपयोग में लीन रहने वाले थे। ज्ञान मकरंद के पिपासु अनेक मुनि उनके मुख से निःसृत ज्ञानामृत का पान करने के लिए समुत्सुक रहते थे। स्वसमय-परसमय के ज्ञान से उनका यश दशों दिशाओं में व्याप्त हो गया था। उनका छंद और शब्दशास्त्र का ज्ञान भी उच्च कोटि का था। उन्होंने छेदसूत्रों के आधार

---

१. विशे २४७, विभा ३१३३।
२. गण प्रस्तावना पृ. २७-४७।

पर जीत व्यवहार से सम्बन्धित जीतकल्प सूत्र की रचना की। वे संयमी तथा क्षमाश्रमणों में अग्रणी थे।[1] मुनि श्रीचन्द्रसूरि ने उनको जिनमुद्रा के समान माना है।

जीतकल्पभाष्य से पूर्व जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य की रचना कर दी थी। इसका एक संवादी प्रमाण यह है कि प्रकाशित हाटी में इस गाथा का क्रमांक ३० है। तिसमयाऽऽहारादीणं...(जीभा ६०) में ग्रंथकार ने 'जह हेट्ठावस्सए भणियं' का उल्लेख किया है। पौर्वापर्य का संकेत देने हेतु ग्रंथकार स्वयं 'हेट्ठा' और 'उवरिं' शब्द का प्रयोग करते हैं। यदि इसके रचयिता कोई अन्य आचार्य होते तो वे 'हेट्ठा' शब्द का प्रयोग नहीं करके 'जह आवस्सए' का ही उल्लेख करते। इससे स्पष्ट है कि वे अपने द्वारा ग्रथित विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं के बारे में संकेत दे रहे हैं। आवश्यक निर्युक्ति गा. २८[2] की व्याख्या में विशेषावश्यक[3] में आठ गाथाएं हैं। इससे यह फलित हो रहा है कि उन्होंने जीतकल्प भाष्य से पूर्व विशेषावश्यक भाष्य की रचना कर दी थी।

जैसलमेर में मिलने वाली विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति की अंतिम दो गाथाओं के आधार पर मुनिश्री जिनविजयजी का मंतव्य है कि विशेषावश्यक भाष्य शक सं. ५३१ (वि. ६६६) में लिखा गया अत: उनका वही समय होना चाहिए। पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने उक्त तथ्य का विरोध करते हुए कहा है कि इन दोनों गाथाओं में कहीं भी जिनभद्रगणि एवं विशेषावश्यक भाष्य के नाम का उल्लेख नहीं है। संभव है यह प्रति लेखन के समय का संकेत है क्योंकि ये दोनों गाथाएं अन्य किसी प्रतियों में नहीं मिलती हैं और न ही टीकाकारों ने इन गाथाओं की व्याख्या की है।

पंडित दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्रगणि की अंतिम कृति है तथा उसकी टीका भी स्वर्गवास के कारण अपूर्ण रही[4] लेकिन यह बात तर्क संगत प्रतीत नहीं होती क्योंकि जीतकल्पभाष्य में उन्होंने अवधिज्ञान के प्रसंग में 'जह हेट्ठावस्सए भणियं' का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि वे भाष्य पहले लिख चुके थे। विशेषावश्यक भाष्य की टीका उनकी अंतिम कृति कही जा सकती है। वह जीतकल्पभाष्य के बाद लिखी गई रचना है। इस संदर्भ में ऐसा संभव लगता है कि भाष्य की क्लिष्टता को देखकर जीवन के सान्ध्य काल में उनके शिष्य-समुदाय ने उन्हें टीका लिखने के लिए प्रेरित किया होगा लेकिन वे उसे पूर्ण नहीं कर सके, बीच में ही दिवंगत हो गए।

निष्कर्ष रूप में जिनभद्रगणि सातवीं शताब्दी के आचार्य सिद्ध होते हैं। इस संदर्भ में पंडित

---

१. जीचू पृ. १।
२. यह संख्या जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित आवश्यक निर्युक्ति खण्ड १ की है।
३. विभा ५८९-९६।
४. गण प्रस्तावना पृ. ३३, ३४।

दलसुखभाई का मंतव्य प्रस्तुत करना समीचीन होगा—"ऐसी जनश्रुति है कि आचार्य जिनभद्र की पूर्ण आयु १०४ वर्ष की थी। उसके अनुसार उनका समय वि. ५४५ से ६५० तक माना जा सकता है, जब तक इसके विरुद्ध प्रमाण न मिले, तब तक हम आचार्य जिनभद्र के इस समय को प्रामाणिक मान सकते हैं। उनके ग्रंथों में उपलब्ध उल्लेखों में भी वि. सं. ६५० के बाद के किसी आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता है। जिनदास की चूर्णि एवं नंदीचूर्णि में इनका उल्लेख भी इसी मत की पुष्टि करता है।[1]

**रचनाएं**

जिनभद्रगणि जैसे महान् श्रुतधर आचार्य की सारी कृतियों का इतिहास सुरक्षित नहीं रहा है लेकिन उनका निम्न कृतियों का कर्तृत्व प्रसिद्ध है—

१. **विशेषावश्यक भाष्य एवं स्वोपज्ञ टीका**—जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आवश्यक के सामायिक सूत्र पर विशेषावश्यक भाष्य तथा उस पर स्वोपज्ञ टीका लिखी। सामायिक आवश्यक एवं उसकी निर्युक्ति पर लिखे विशेषावश्यक भाष्य में अनेक मौलिक तथ्यों का निरूपण है। भाष्यकार ने पांच ज्ञानों की खुलकर चर्चा की है। यह ग्रंथ अनेक विषयों का प्रतिनिधि ग्रंथ है। इस ग्रंथ को पढ़कर लगता है कि जिनभद्रगणि के समय से ही जैन आचार्यों का दर्शन और तर्क के युग में प्रवेश हो गया था। भाष्य में नय, निक्षेप, प्रमाण, ज्ञान, कर्म, आत्मा, पुनर्जन्म आदि का विस्तृत वर्णन है। जिनभद्रगणि का मंतव्य है कि इस भाष्य के श्रवण, अध्ययन और मनन से बुद्धि परिमार्जित हो जाती है। छठे गणधर व्यक्त तक ही टीका की रचना कर पाए, इसके बाद वे स्वर्गस्थ हो गए। कोट्याचार्य ने अवशिष्ट टीका को १३७०० श्लोक प्रमाण में पूरा किया।

२. **बृहत्संग्रहणी**—जैन तत्त्वज्ञान एवं जैन भूगोल पर यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। अन्य संग्रहणी ग्रंथों की अपेक्षा इसमें पद्य परिमाण अधिक हैं अत: इसकी प्रसिद्धि बृहत्संग्रहणी नाम से हो गई। इस पर आचार्य मलयगिरि की महत्त्वपूर्ण टीका भी प्राप्त है। उन्होंने 'जिनवचनैकनिषण्णं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणं' कहकर उनकी प्रशस्ति की है। इसमें ३४९ गाथाएं हैं।

३. **बृहत्क्षेत्रसमास**—पांच प्रकरण एवं ६५६ गाथाओं का यह ग्रंथ जैन भूगोल पर महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत करने वाला है। इसमें गणितानुयोग की भी चर्चा है। इस पर भी आचार्य मलयगिरि ने महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। इस ग्रंथ पर अन्य आचार्यों ने भी टीकाएं लिखी हैं। जिनभद्रगणि ने इसका नाम समयक्षेत्रसमास अथवा क्षेत्रसमास प्रकरण रखा था लेकिन अन्य क्षेत्र समास कृतियों से बड़ा होने के कारण इसका नाम बृहत्क्षेत्रसमास प्रसिद्ध हो गया।

४. **विशेषणवती**—यह ग्रंथ ३१७ गाथाओं में निबद्ध है। इस पर संक्षिप्त टीका प्राप्त होती है। इस ग्रंथ में

---

१. गण प्रस्तावना पृ. ३४।

बहुश्रुत आचार्य ने लगभग १०० गाथाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन के युगपत् होने का विरोध करके उनके क्रमवाद को सिद्ध किया है। आचार्य ने आगम और हेतुवाद में आगम की सर्वोपरि महत्ता प्रतिष्ठित की है तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन को युगपद् मानने वाले सिद्धसेन दिवाकर की मान्यता का आगमिक युक्तियों से खण्डन किया है।

**५. अनुयोगद्वारचूर्णि**—अनुयोगद्वार में वर्णित अंगुल पद के आधार पर इस चूर्णि की रचना की थी लेकिन वर्तमान में इसके अंश जिनदासकृत अनुयोगद्वारचूर्णि एवं आचार्य हरिभद्र की अनुयोगद्वारटीका में उद्धृत हैं।

इसके अतिरिक्त आवश्यक की हारिभद्रीय टीका में प्रकाशित ध्यान शतक को भी कुछ विद्वान् जिनभद्रगणि की रचना मानते हैं लेकिन इस संदर्भ में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

## जीतकल्पसूत्र एवं उसका भाष्य

जीतकल्प साध्वाचार से सम्बन्धित संक्षिप्त एवं महत्त्वपूर्ण कृति है। १०३ गाथाओं में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने जीतव्यवहार से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का संक्षेप में वर्णन किया है। आचार्य ग्रंथ के प्रारम्भ में यह निर्देश करते हैं कि मोक्ष का कारण चारित्र है और चारित्र-शुद्धि का प्रायश्चित्त के साथ विशेष सम्बन्ध है। जीतकल्प में ग्रंथकार ने दस प्रायश्चित्त एवं उसके अपराध-स्थानों का संक्षिप्त वर्णन किया है। ग्रंथकार ने इस ग्रंथ में अल्प शब्दों में महान् अर्थ को भरने का प्रयत्न किया है। भगवती आराधना की टीका में उल्लेख मिलता है कि जीतकल्प, कल्पसूत्र आदि ग्रंथ निरतिचार रत्नत्रय को प्रकट करने वाले हैं।[1]

जीतकल्प भाष्य में २६०८[2] गाथाएं हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ग्रंथ के अंत में प्रकारान्तर से इसको संग्रह ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया है। मंगलाचरण के पश्चात् ग्रंथकार ने 'प्रवचन' शब्द का निरुक्त एवं उसकी व्याख्या से ग्रंथ का प्रारम्भ किया है। यद्यपि ग्रंथकार का मूल उद्देश्य जीतव्यवहार के आधार पर दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों का वर्णन करना था लेकिन उसकी व्याख्या से पूर्व अग्रिम चार व्यवहारों की व्याख्या करनी भी आवश्यक थी अत: प्रारम्भ में पांचों व्यवहारों का विस्तृत वर्णन है। आगम व्यवहार के अन्तर्गत उन्होंने इंद्रिय प्रत्यक्ष और नोइंद्रिय प्रत्यक्ष के संदर्भ में अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान—इन तीनों की विस्तृत व्याख्या की है। ज्ञान के प्रसंग में आभिनिबोधिक और श्रुतज्ञान का उल्लेख नहीं किया क्योंकि ग्रंथकार का मूल लक्ष्य आगम व्यवहार की व्याख्या करना था, न कि ज्ञान का वर्णन करना।

ग्रंथकार ने आलोचना का महत्त्व एवं उसकी विधि का वर्णन करते हुए दोष सेवन के कारणों का

---

१. भआ ४११ विटी पृ. ३१४।

२. मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित जीतकल्प भाष्य में २६०६ गाथाएं है। प्रतियों में गा. १६८१ के बाद दो गाथाएं और हैं जो मूल सूत्र की व्याख्या करने वाली गाथाएं हैं अत: जीतकल्पभाष्य की २६०८ गाथाएं होनी चाहिए।

उल्लेख किया है। तत्पश्चात् आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त देने वाले साधु की अर्हताओं का वर्णन किया है। ग्रंथकार को प्रायश्चित्त देने के योग्य व्यवहारी की विशेषताओं का वर्णन करना था अतः प्रसंगवश गणिसम्पदा के चार-चार भेद तथा विनय-प्रतिपत्ति के चार भेदों का विस्तृत वर्णन किया है। इन ३६ स्थानों में प्रतिष्ठित एवं परिनिष्ठित आचार्य ही प्रायश्चित्त देने के योग्य हो सकता है। इसी प्रसंग में भाष्यकार ने दर्प प्रतिसेवना के दश भेद तथा कल्प प्रतिसेवना के चौबीस भेदों की विस्तृत चर्चा की है क्योंकि इन प्रतिसेवनाओं के आधार पर ही आचार्य प्रायश्चित्त का निर्धारण करते हैं। दर्प प्रतिसेवना में प्रायश्चित्त अधिक आता है। कल्प प्रतिसेवना ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के निमित्त से होती है अतः प्रतिसेवना करता हुआ भी मुनि शुद्ध होता है।

बहुश्रुत आचार्य ने इस बात की विस्तार से चर्चा की है कि वर्तमान में प्रत्यक्षज्ञानी चतुर्दश पूर्वधर एवं अंतिम दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद होने पर भी प्रायश्चित्त देकर शोधि करने वाले आचार्यों का सद्भाव है। कल्प और व्यवहार को अर्थतः जानने वाला तथा उसकी निर्युक्तियों का ज्ञाता प्रायश्चित्त देने के योग्य होता है। आचार्य ने प्रारम्भिक आठ प्रायश्चित्तों का विच्छेद मानने वालों को प्रायश्चित्त का भागी बताया है। इसी संदर्भ में आचार्य ने सापेक्ष और निरपेक्ष प्रायश्चित्त-दान को ऋण दाता और ऋणधारण करने वाले व्यक्ति की उपमा द्वारा विस्तार से समझाया है।

भाष्यकार ने भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन—इन तीनों अनशनों का २३ द्वारों से विस्तृत वर्णन किया है। यह सारा प्रसंग जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने व्यवहारभाष्य से लिया है, ऐसा संभव लगता है। यद्यपि आगम व्यवहार के अन्तर्गत तीनों अनशनों की विस्तृत व्याख्या अप्रासंगिक सी लगती है, चूंकि उनको वर्तमान में निर्यापकों के अस्तित्व की सिद्धि करनी थी इसलिए उन्होंने प्रसंगवश तीनों अनशनों का भी विस्तृत वर्णन कर दिया है। प्रायोपगमन अनशन में चाणक्य, चिलातपुत्र, कालासवैश्य एवं अवंतीसुकुमाल आदि की दृढ़ता का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत व्यवहार की विस्तृत व्याख्या की गई है। चूंकि भाष्यकार का मूल लक्ष्य जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त का वर्णन करना था अतः उन्होंने जीतकल्प की विस्तृत व्याख्या की है। जीतव्यवहार के सम्बन्ध में भाष्यकार का स्पष्ट मंतव्य है कि जिस जीत से चारित्र की शुद्धि हो, उसी का व्यवहार करना चाहिए, जिससे चारित्र की शुद्धि न हो, उसका व्यवहार नहीं करना चाहिए। कोई जीतव्यवहार ऐसा भी हो सकता है, जिसका किसी एक ही संवेगपरायण, संयमी आचार्य ने अनुसरण किया हो, वैसा जीतव्यवहार भी अनुवर्तन करने योग्य है।

प्रायश्चित्त की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार ने दस प्रायश्चित्तों की सटीक परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। आलोचना के भेदों और उसके अपराध-स्थान का वर्णन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि निरतिचार

रूप से सामाचारी का पालन करने वाले की आलोचना करने मात्र से विशोधि हो जाती है।

प्रतिक्रमण के अपराध स्थान हैं—समिति-गुप्ति आदि में विराधना। ग्रंथकार ने लगभग ७६ गाथाओं (७८४-८६०) में समिति-गुप्ति की व्याख्या एवं उससे सम्बन्धित कथानकों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार आशातना, विनयभंग, सामाचारी तथा लघुस्वक मृषावाद आदि की भी रोचक व्याख्या प्रस्तुत की है। लघुस्वक मृषावाद के १४ उदाहरण प्रायः सभी भाष्य ग्रंथों में मिलते हैं। संभव है ग्रंथकार ने वहीं से इनको उद्धृत किया है। ये उदाहरण दैनिक व्यवहार में बोली जाने वाली मृषा एवं मानव मनोविज्ञान को सूक्ष्मता से प्रकट करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त अविधिपूर्वक खांसी, जम्भाई, अधोवात, ऊर्ध्ववात, असंक्लिष्ट कर्म, हास्य, विकथा आदि अपराध-स्थानों में भी प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के प्रयोग का संकेत किया है। संभ्रम, भय, सहसा, अनाभोग, अज्ञान, अनात्मवशता, दुश्चिन्तन, दुर्भाषण और दुश्चेष्टा—इन अपराध- स्थानों में तदुभय प्रायश्चित्त से विशोधि होती है। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र से सम्बन्धित अपराध- पदों में उपयुक्त साधु के भी तदुभय प्रायश्चित्त होता है। सुविहित श्रमण के यतनापूर्वक प्रयत्न करने पर भी कर्मोदय के कारण विराधना हो जाती है, उसके लिए तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

उपयोगपूर्वक आहार, उपधि आदि लाने पर भी बाद में ज्ञात हो कि वह आहार अशुद्ध था तो उसका विधिपूर्वक परिष्ठापन करना विवेक प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार कालातीत, अध्वातीत या सूर्योदय से पूर्व गृहीत आहार को विधिपूर्वक विवेक—परिष्ठापित करता हुआ श्रमण शुद्ध होता है। उसे फिर अन्य प्रायश्चित्त ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

पांचवा प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग है। उसके अपराध-स्थान हैं—निष्कारण गमन-आगमन, विहार, श्रुत का उद्देशन, समुद्देशन, सावद्य स्वप्न, नदी-संतार, नौका-संतार, प्रतिक्रमण से सम्बन्धित कायोत्सर्ग आदि। इन सबमें कितने-कितने श्वासोच्छ्वास का व्युत्सर्ग होता है, इसका भी भाष्यकार ने उल्लेख कर दिया है। तप प्रायश्चित्त के अन्तर्गत आगाढ़योग, अनागाढ़योग तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि के अतिचारों का विस्तार से वर्णन हुआ है। चारित्र आचार के अन्तर्गत उद्गम, उत्पादन, एषणा और परिभोगैषणा के दोषों का तथा उसमें प्राप्त उपवास, आयम्बिल आदि प्रायश्चित्तों का भी सूक्ष्म विवेचन हुआ है। यह सारा विस्तार आचार्य ने पिण्डनिर्युक्ति के आधार पर किया है, ऐसा संभव लगता है।

तप प्रायश्चित्त के अन्तर्गत जीतकल्प सूत्र की गाथाओं का भी भाष्यकार ने विस्तार किया है, जैसे—धावन, डेवन, क्रीड़ा, कुहावना, गीत, सेण्टिका, पशु-पक्षियों की आवाज आदि करने पर तथा दिवाशयन, लहसुनग्रहण, पुस्तक-पंचक, तृण-पंचक, दूष्यपंचक, स्थापनाकुल आदि से सम्बन्धित दोषों में कौनसा तप प्रायश्चित्त मिलता है, इसका जीतव्यवहार के आधार पर वर्णन किया गया है। तप प्रायश्चित्त के

अन्तर्गत और भी अनेक प्रमादों के वर्णन है, जैसे—उपधि गिरने पर, प्रतिलेखना विस्मृत होने पर तथा आचार्य को निवेदन न करने पर क्रमशः निर्विगय, पुरिमार्ध और एकासन प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार गुरु की आज्ञा के बिना स्थापना कुल में प्रवेश और निर्गमन करने पर तथा शक्ति होते हुए भी वीर्य का गोपन करने पर एकासन तप की प्राप्ति होती है।

तप प्रायश्चित्त के प्रसंग में ग्रंथकार ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पुरुष के आधार पर किस प्रकार सापेक्ष प्रायश्चित्त देना चाहिए, इसका विस्तार से वर्णन किया है। जहां आहार आदि सुलभ हों, वहां अधिक प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है तथा जहां सामान्य धान्य भी दुर्लभ हो, वहां कम प्रायश्चित्त भी दिया जाता है। पुरुष के आधार पर भिक्षु गीतार्थ है अथवा अगीतार्थ, सहनशील है अथवा असहनशील, शठ है अथवा अशठ, परिणामी है अथवा अपरिणामी, धृतिसंहनन से युक्त है अथवा धृतिसंहनन से रहित तथा आत्मतर, परतर, उभयतर, नोभयतर, अन्यतर आदि पुरुषों का भी वर्णन मिलता है। धृति-संहनन से युक्त को अधिक तथा इससे हीन को कम प्रायश्चित्त दिया जाता है।

भाष्यकार ने छह कल्पस्थिति, आचेलक्य आदि दस प्रकार के कल्पों का भी विस्तार से वर्णन किया है। तप प्रायश्चित्त के अन्तर्गत ग्रंथकार ने भंगों के माध्यम से जीतयंत्र का विस्तृत वर्णन किया है। सम्पूर्ण तप प्रायश्चित्त लगभग १२८१ गाथाओं में सम्पन्न हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधा ग्रंथ तप प्रायश्चित्त से सम्बन्धित है।

तप प्रायश्चित्त के पश्चात् छेद और मूल प्रायश्चित्त के अपराध-स्थानों का वर्णन है। अनवस्थाप्य के दो प्रकार हैं—आशातना और प्रतिसेवना। भाष्यकार ने आशातना के छह स्थानों का सुंदर वर्णन किया है तथा प्रतिसेवना अनवस्थाप्य के साधर्मिक स्तैन्य, अन्यधार्मिक स्तैन्य आदि का विशद विवेचन हुआ है। यह सारा वर्णन उस समय की साधु संस्कृति का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। पाराञ्चित प्रायश्चित्त-प्राप्ति के कारण बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अनवस्थाप्य की भांति तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत और आचार्य आदि की आशातना करने वाला पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त करता है, साथ ही दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्य प्रतिसेवना (गुदा सेवन) करने वाला पाराञ्चित प्रायश्चित्त का भागी होता है। ग्रंथ के अंत में भाष्यकार ने इस ग्रंथ के अध्ययन हेतु पात्र और अपात्र की चर्चा प्रस्तुत की है। सम्पूर्ण ग्रंथ अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को अपने भीतर समेटे हुए है।

## ग्रंथ वैशिष्ट्य

प्रायः भाष्य मूल सूत्र और उसकी निर्युक्ति पर व्याख्या रूप में लिखे गए हैं। जीतकल्प सूत्र पर कोई निर्युक्ति नहीं लिखी गई इसलिए जीतकल्प भाष्य ही एक मात्र ऐसा ग्रंथ है, जो केवल उसके सूत्र की

व्याख्या रूप में लिखा गया है। स्वोपज्ञ भाष्य भी एक मात्र यही प्राप्त होता है।

यद्यपि जिनभद्रगणि ने मूलसूत्र के प्राय: प्रत्येक शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है लेकिन यह केवल व्याख्याग्रंथ ही नहीं है, प्रासंगिक रूप से अनेक विषयों का वर्णन होने के कारण स्वतंत्र ग्रंथ जैसा हो गया है। उदाहरणार्थ प्रथम मंगलाचरण गाथा की व्याख्या ७०५ भाष्य गाथाओं में हुई है, जिसमें ज्ञान पंचक, पांच व्यवहार, अनशन, आचार्य की सम्पदा आदि का विस्तृत वर्णन है। इसी प्रकार ३५ वीं गाथा की व्याख्या ५९३ भाष्यगाथाओं में है। इनमें पिण्डैषणा से सम्बन्धित दोष एवं उनके प्रायश्चित्तों का वर्णन है।

जिनभद्रगणि प्रकाण्ड दार्शनिक थे अत: उन्होंने कहीं-कहीं अन्य दार्शनिक मतान्तरों का उल्लेख भी इस ग्रंथ में किया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के संदर्भ में उन्होंने वैशेषिक मत का उल्लेख करते हुए तर्क और हेतुओं से उसका खण्डन किया है।[1] यह वर्णन उनके बाहुश्रुत्य को प्रकट करने वाला है।

जीतकल्पसूत्र एवं उसका भाष्य एक आचार प्रधान ग्रंथ है अत: उन्होंने आचार के क्षेत्र में अन्य आचार्यों के मतभेदों का उल्लेख करके भी इस ग्रंथ को समृद्ध बनाया है, जैसे—प्रायश्चित्त के संदर्भ में उन्होंने संकेत किया है कि कुछ आचार्य वर्तमान में सभी प्रायश्चित्तों का लोप मानते हैं[2] लेकिन आज भी आठ प्रायश्चित्त विद्यमान हैं, इसकी उन्होंने अनेक हेतुओं एवं दृष्टान्तों से सिद्धि की है। इसी प्रकार अनवस्थाप्य तप के बाद उपस्थापना करने के सम्बन्ध में भी तीन परम्पराओं का अलग-अलग उल्लेख किया है।[3]

इस ग्रंथ को पढ़ने से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि विशेषावश्यक भाष्य, विशेषणवती और बृहत्संग्रहणी जैसे गंभीर, दार्शनिक और समास-बहुल शैली में लिखे गए ग्रंथों को लिखने वाले आचार्य ने इतनी सरल और पुनरुक्त शैली में इस ग्रंथ की रचना कैसे की? इसका समाधान यही हो सकता है कि विशेषावश्यक भाष्य में उनको गंभीर दार्शनिक चर्चा करनी थी अत: उन्होंने उसी शैली को अपनाया लेकिन जीतकल्प और उसका भाष्य एक आचार परक ग्रंथ है अत: आचारपरक ग्रंथ को सरल, सुबोध और सहज भाषा में लिखना आवश्यक था, तभी वह सभी शिष्यों के हृदयंगम हो सकता था। जीतकल्प भाष्य में कहीं-कहीं पुनरुक्ति देखने को मिलती है, इसका कारण यह है कि उन्होंने मूल जीतकल्प की व्याख्या में भाष्य लिखा है अत: गाथा को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने उसी विषय की पुनरावृत्ति की है। कहीं-कहीं पुनरावृत्ति सहज है लेकिन कहीं-कहीं अधिक विस्तार भी प्रतीत होता है।

**भाषा शैली का वैशिष्ट्य**

जीतकल्पभाष्य प्राकृत महाराष्ट्री भाषा में रचित पद्यमयी व्याख्या है। जिनभद्रगणि संस्कृत और

१. जीभा १४-१८।
२. जीभा २५६।
३. जीभा २०२८-३४।

प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनका वैदुष्य उनकी कृतियों में स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। यद्यपि यह ग्रंथ सरल, सुबोध प्राकृत भाषा में लिखा गया है फिर भी संस्कृत भाषा का प्रभाव यत्र तत्र दृष्टिगोचर होता है। प्राकृत भाषा में संस्कृत विभक्ति एवं संधि के रूपों का प्रयोग भी कहीं-कहीं किया है, जैसे—

- भावतया (गा. ८५)
- मायया (गा. १४६)
- सोहय (गा. १४५)
- जद्दवी (गा. १३०)

जिनभद्रगणि को व्याकरण का भी अच्छा ज्ञान था। प्रसंगवश उन्होंने अनेक शब्दों की मूल धातु का उल्लेख किया है, जैसे—असु वावण धाऊओ (गा. १२), अस भोयणम्मि (गा. १३), तपु लज्जाए धातू (गा. १७३), खिव पेरणे (गा. २२७), धी धरणे (गा. ६५७), जीव त्ति पाणधरणे (गा. ७०४), अंचु गती पूजणयो (गा. ७२९), जुजि जोगे (गा. ७३२), गुपु रक्खणम्मि (गा. ७८४), दु त्ति दुगुंछा धातू (गा. ९४५), पिंडि संघाते धातू (गा. ९५५), आस उवेसण धातू (गा. ९८१), अरह पूयाए धातू (गा. ९८२), जम उवरम (गा. ११०७), वणि जायणम्मि धातू (गा. १३६२)।

ग्रंथकार ने संस्कृत संधि के साथ प्राकृत संधि का भी प्रयोग किया है। छंद की दृष्टि से जहां उन्हें मात्रा कम करनी थी, वहां दो या तीन शब्दों की संधि भी कर दी है। उदाहरणार्थ—दव्वस्सिणमो (गा. २०८८) होतुवमा (गा. २०००), चत्तारेते (गा. २०३४), तेहुवधी (गा. २३१९)।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को कोश का भी अच्छा ज्ञान था। एक ही शब्द के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दों का सटीक प्रयोग किया है, जैसे— रात्रि के लिए कालिया (गा. ३५९), सव्वरी (गा. ३६२), निसि (गा. २५२९), राति (गा. ३६०) इसी प्रकार राजा के लिए पत्थिव (गा. २५६९), णरीसर (गा. २५७२), राया (गा. २५७६), णराहिव (गा.), नरिंद (गा.)

जिनभद्रगणि कुशल परिभाषाकार थे। दश प्रायश्चित्त के स्वरूप को प्रकट करने में उन्होंने सटीक परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं।[1] परिभाषाओं के लिए देखें **परि. सं. ४**।

महत्त्वपूर्ण शब्दों के एकार्थक लिखना भाष्यकार का भाषागत वैशिष्ट्य है। प्रसंगवश महत्त्वपूर्ण शब्दों के एकार्थकों का प्रयोग भी भाष्यकार ने किया है, देखें **परि. सं. ५**।

एक ही शब्द कितने अर्थों में प्रयुक्त होता है, उसका भी भाष्यकार ने कहीं-कहीं संकेत कर दिया है, जैसे—कल्पशब्द छह अर्थ में प्रयुक्त होता है[2]—१. सामर्थ्य २. वर्णन ३. छेदन ४. करण ५. औपम्य और ६. अधिवास।

---

१. देखें जीभा ७१८-२९।

२. जीभा २५९२ ; सामत्थे वण्णणाए य, छेदणे करणे तहा। ओवम्मे अहिवासे य, कप्पसद्दो तु वण्णितो॥

एक ही उपसर्ग अनेक अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त उपसर्ग किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसका भी भाष्यकार ने कहीं-कहीं निर्देश कर दिया है, जैसे—

- वि—विण्णाणाभावम्मि (गा. २२७)
- सं—सं एगीभावम्मी (गा. ६५७)
- आ—आ मज्जाया (गा. ७१८)
- णि—णिसद्दो तहाऽहिगत्थम्मि (गा. ८०९)

भाष्यकार ने मूलसूत्र के प्रायः सभी शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। यहां तक कि 'पुण' आदि अवयवों का भी अर्थ स्पष्ट किया है।

- पादू पगासणम्मी (गा. १२३८)
- पुणसद्दो तु विसेसणे (गा. २५९७)

भाष्यकार ने अनेक शब्दों के निरुक्त भी प्रयुक्त किए हैं, देखें **परि. सं. ६**।

उपमा, लौकिक दृष्टान्त, उदाहरण और न्याय के प्रयोग से भाषा में विचित्रता और सरसता पैदा हो गई है। भाष्यकार ने अनेक जटिल सैद्धान्तिक विषयों को भी नयी उपमाओं और दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया है, देखें **परि. सं. ७**।

ग्रंथ में अनेक महत्त्वपूर्ण सूक्त और सुभाषितों का प्रयोग भी हुआ है, देखें **परि. सं. ८**।

कहीं-कहीं दो शब्दों के अर्थभेद को भी स्पष्ट किया है, देखें **परि. सं. ९**।

प्रसंगवश भाष्यकार ने स्वास्थ्य और चिकित्सा के तथ्यों को भी प्रस्तुत किया है, जो आयुर्वेद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, देखें **परि. सं. १०**।

भाष्यकार ने अनेक देशी शब्दों का प्रयोग भी किया है, देखें **परि. सं. ११**।

भाष्यकार ने प्रायः व्यास—विस्तृत शैली को अपनाया है। अनेक स्थलों पर उन्होंने द्वारगाथा में संक्षेप में विषयों का संकेत देकर फिर एक-एक द्वार की व्याख्या की है।

जहां भाष्यकार ने बृहत्कल्पभाष्य आदि की गाथाओं को अपने ग्रंथ का अंग बनाया है, वहां उन्होंने निर्युक्ति और भाष्य सहित पूरे प्रकरण को उद्धृत कर दिया है। इससे कहीं-कहीं पुनरुक्ति भी प्रतीत हो सकती है क्योंकि प्रकाशित बृहत्कल्पभाष्य में निर्युक्ति और भाष्य दोनों एक ग्रंथ हो गए हैं, जैसे—राजपिण्ड की व्याख्या करने वाली गाथाएं (जीभा १९९८-२०१४), जो बृहत्कल्पभाष्य (६३८१-९७) से ली गई हैं।

**कथाओं का प्रयोग**

किसी भी कथ्य को स्पष्ट करने के लिए कथाओं का प्रयोग प्राचीन शैली रही है। इसके द्वारा सरल और सरस शैली में अभिधेय को प्रकट किया जा सकता है। भाष्यकार का शैलीगत वैशिष्ट्य रहा है कि उन्होंने विषय के स्पष्टीकरण हेतु कथाओं का सहारा लिया है। पिण्ड के दोषों से सम्बन्धित प्रायः

कथाओं का विस्तार पिण्डनिर्युक्ति की मलयगिरीया टीका एवं निशीथ भाष्य से किया गया है। समिति और गुप्ति से सम्बन्धित प्रायः कथानकों का विस्तार भाष्यकार ने स्वयं किया है। नंदिषेण की कथा लगभग बीस[1] गाथाओं में है। भाष्यकार ने कथाओं के माध्यम से सैद्धान्तिक विषयों की भी सुन्दर प्रस्तुति दी है। कथाओं के विस्तार हेतु देखें **परि. सं. २**।

**जीतकल्प चूर्णि एवं व्याख्या ग्रंथ**

जीतकल्पसूत्र पर आचार्य सिद्धसेन ने चूर्णि लिखी है। संक्षिप्त होते हुए भी चूर्णि में गाथा की अच्छी व्याख्या है। चूर्णि में भाष्य गाथाओं का उल्लेख नहीं है, इससे यह संभावना की जा सकती है कि भाष्य से पूर्व ही चूर्णि लिखी जा चुकी थी। चूर्णिकार आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के बाद के हैं। सिद्धसेन दिवाकर जिनभद्रगणि से भी पूर्ववर्ती हैं। पंडित दलसुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि बृहत्क्षेत्रसमास के टीकाकार और चूर्णिकार एक ही सिद्धसेन होने चाहिए अतः ये उपकेश गच्छ के देवगुप्त सूरि के शिष्य तथा यशोदेवसूरि के गुरु भाई थे।

आचार्य सिद्धसेन की चूर्णि के निम्न उद्धरण 'बितियचुन्निकाराभिप्पाएण' 'बिइयचुण्णिकारमएण पोत्थय'[2] से यह ज्ञात होता है कि इस पर एक च०र्णि और लिखी गई लेकिन वर्तमान में वह उपलब्ध नहीं है। यदि दूसरे चूर्णिकार जिनदास की कृतियों के लिए यह निर्देश किया हो तो वह अन्वेषण का विषय है।

वि. सं. १२२७ में श्रीचंदसूरि ने जीतकल्प सूत्र पर 'विषमपद व्याख्या' नामक व्याख्या लिखी। संस्कृत भाषा में लिखी यह व्याख्या अनेक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों को हृदयंगम करने में सहायक है। जीतकल्प पर १७०० श्लोक प्रमाण एक टीका तिलकाचार्य ने लिखी थी, जो वि. सं. १२७५ में पूर्ण हुई। ये तिलकाचार्य शिवप्रभसूरि के शिष्य थे। जिनरत्नकोश के अनुसार इस पर एक अवचूरि भी लिखी गई, जिसका कर्तृत्व अभी अज्ञात है।

**जीतकल्प भाष्य पर पूर्ववर्ती ग्रंथों का प्रभाव**

पांच व्यवहार, आचार्य की गणिसंपदाएं, संलेखना, भक्तपरिज्ञा आदि तीनों पंडित मरण आदि विषयों का वर्णन भाष्यकार ने व्यवहारभाष्य से लिया है क्योंकि प्रायः गाथाएं कुछ शब्दभेद के साथ अक्षरशः मिलती हैं।

साधु की भिक्षाचर्या एवं उसके दोषों का वर्णन आचारचूला, स्थानांग, भगवती और दशवैकालिक आदि ग्रंथों में मिलता है। पिण्डनिर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने व्यवस्थित रूप से भिक्षाचर्या के दोषों का वर्णन किया है। निशीथ सूत्र एवं उसके भाष्य में भिक्षाचर्या से सम्बन्धित विशद सामग्री है। भाष्यकार ने

१. जीभा ८२६-४६।
२. जीचू पृ. १९।

पिण्डनिर्युक्ति और निशीथ भाष्य से प्रभावित होकर उसके आधार पर यह सारा वर्णन किया है। कुछ दोषों के प्रायश्चित्तों का वर्णन निशीथ और बृहत्कल्प भाष्य में विकीर्ण रूप से मिलता है लेकिन भाष्यकार ने सुसम्बद्ध तरीके से भिक्षाचर्या के दोष एवं उनके भेद-प्रभेदों के प्रायश्चित्त निर्दिष्ट कर दिए हैं। उन्होंने दोषों के क्रम से प्रायश्चित्त का निरूपण नहीं करके तप प्रायश्चित्त के आधार पर दोष और उनके प्रायश्चित्तों का निर्देश किया है, जैसे उपवास प्रायश्चित्त से सम्बन्धित जितने दोष हैं, उनका एक ही स्थान पर समाहार कर दिया है। छह कल्पस्थिति, दशकल्प तथा अंतिम दो प्रायश्चित्त—अनवस्थाप्य और पारांचित आदि विषयों से सम्बन्धित गाथाएं बृहत्कल्पभाष्य और निशीथभाष्य तथा कुछ विषय व्यवहारभाष्य से भी समुद्धृत हैं, यह कहा जा सकता है।

**परवर्ती अन्य ग्रंथों पर प्रभाव**

प्राचीन साहित्य की एक विशेषता रही है कि लेखक किसी भी ग्रंथ के किसी अंश को बिना किसी नामोल्लेख के अपने ग्रंथ का अंग बना लेते थे। यह उस समय साहित्यिक चोरी नहीं मानी जाती थी। अनेक ग्रंथों के समान अंशों को देखकर आज यह निर्णय करना कठिन होता है कि कौन किससे प्रभावित है? जीतकल्प एवं उसके भाष्य से परवर्ती अनेक ग्रंथ प्रभावित हुए हैं।

दिगम्बर ग्रंथ छेदपिण्ड और छेदसूत्र आदि ग्रंथ निशीथ, व्यवहार एवं जीतकल्प आदि ग्रंथों से प्रभावित होकर लिखे गए हैं। छेदपिण्ड में स्पष्ट उल्लेख है कि ये दशविध प्रायश्चित्त जो कल्प और व्यवहार में वर्णित हैं तथा जीतकल्प में जो पुरुषभेद के आधार पर प्रायश्चित्त देने का विधान है, उसी आधार पर यह वर्णन किया गया है।[१] सोमप्रभसूरि ने यतिजीतकल्प तथा आचार्य मेरुतुंग ने जीतकल्पसार ग्रंथ जीतकल्प के आधार पर लिखा है, ऐसा विद्वानों का मंतव्य है।

इस भूमिका में मारणान्तिक संलेखना, अनशन, आचार्य की गणि-सम्पदा, समिति-गुप्ति, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, छह कल्प स्थिति में जिनकल्प, स्थविरकल्प, निर्विशमानक, निर्विष्टकायिक (परिहार विशुद्धि तप) आदि विषयों के बारे में विस्तार से लिखना था लेकिन ग्रंथ का आकार बृहद् होने से इन विषयों पर प्रकाश नहीं डाला जा सका। फिर भी पांच व्यवहार, प्रतिसेवना और दश प्रायश्चित्त के बारे में विस्तार से लिखा जा रहा है।

**व्यवहार**

व्यवहार शब्द अनेक अर्थों में प्रचलित है।[२] शुक्रनीतिसार में व्यवहार शब्द विवाद (मुकदमा

१. छेदपिण्ड २८८ ;
एवं दसविधपायच्छित्तं, भणियं तु कप्प-ववहारे।
जीदम्मि पुरिसभेदं, णाउं दायव्वमिदि भणियं।।

२. बृहद्हिंदीकोश पृ. १०९८, शब्दकल्पद्रुम भाग ४ पृ. ५३४-४३।

करना) के अर्थ में निर्दिष्ट है।[1] अमर कोश[2] एवं अभिधानचिन्तामणि कोश[3] में व्यवहार शब्द विवाद अर्थ में प्रयुक्त है। आप्टे ने व्यवहार शब्द का अर्थ Administration of Justice किया है। लौकिक दृष्टि में व्यवहार शब्द आचरण के अर्थ में अधिक प्रयुक्त होता है। व्यवहार शब्द व्यापार के लिए भी प्रयुक्त होता है। प्राचीन काल में आयात-निर्यात संबंधी व्यापक व्यापार के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग होता था[4] तथा स्थानीय क्रय-विक्रय के लिए पण शब्द प्रयोग होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में व्यवहार शब्द न्याय के अर्थ में प्रयुक्त है। याज्ञवल्क्य स्मृति के दूसरे अध्याय का नाम ही व्यवहार है, जिसमें दण्डसंहिता का वर्णन है। उसके अनुसार स्मृति और आचार के प्रतिकूल मार्ग से दूसरे के द्वारा पीड़ित होने पर राजा को निवेदन करना व्यवहार है।[5] आवश्यक हारिभद्रीय टीका में भी व्यवहार शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।[6] विशेषावश्यक भाष्य में नय के प्रसंग में व्यवहार शब्द के निम्न अर्थों का उल्लेख है—१. प्रवृत्ति २. प्रवृत्तिकर्ता ३. जिससे सामान्य का निराकरण किया जाए ४. सामान्य लोगों द्वारा आचरित ५. सब द्रव्यों के अर्थ का विनिश्चय।[7] आचार्य मलयगिरि ने व्यवहार के तीन एकार्थकों का उल्लेख किया है, जिससे व्यवहार शब्द का अर्थ आचार फलित होता है।[8]

व्यवहार शब्द भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दशवैकालिक निर्युक्ति[9] में आक्षेपणी कथा के चार भेदों में दूसरी कथा का नाम व्यवहार आक्षेपणी है।[10] सत्य के दस भेदों में एक नाम व्यवहार सत्य है।[11] राशि के दो प्रकारों में एक नाम व्यवहार राशि है। गणित के दस भेदों में एक भेद व्यवहार है, जिसे पाटी गणित भी कहते हैं।[12] समयसार में नय की प्ररूपणा में व्यवहार शब्द का अर्थ अभूतार्थ—अयथार्थ किया है।[13]

कात्यायन ने व्यवहार शब्द के तीन घटकों का निरुक्तपरक अर्थ इस प्रकार किया है—वि+अव+हार अर्थात् जो नाना प्रकार से संदेहों का हरण करता है, वह व्यवहार है।[14] प्राकृत में ववह+हार—इन दो शब्दों से व्यवहार शब्द की निष्पत्ति मानी गयी है। व्याख्याकारों ने अनेक रूपों में व्यवहार शब्द को व्याख्यायित किया है—

---

१. शुक्र ४/५/६४।
२. अमर १/६/९।
३. अभिधान २/१७६।
४. सू १/३/२५ ; हिरण्णं ववहाराइ, तं पि दाहामु ते वयं।
५. याज्ञ २/५।
६. आवहाटी १ पृ. ८६।
७. विभा २२१२, महेटी पृ. ४५३।
८. व्यभा १५३ मटी. प. ५१; कल्पो व्यवहार आचार इत्यनर्थान्तरम्।
९. दशनि १६७।
१०. अभयदेवसूरि के अनुसार जिसमें व्यवहार प्रायश्चित्त का निरूपण हो, वह व्यवहार आक्षेपणी है। (देखे स्था ४/२४७ टी प. २००), यहां कुछ आचार्यों ने व्यवहार शब्द को ग्रंथ विशेष का द्योतक भी माना है। (देखें स्था ४/२४७ टी. प. २००)
११. स्था १०/८९।
१२. स्था १०/१००।
१३. समयसार १३।
१४. कात्या स्मृति; वि नानार्थेऽव संदेहे, हरणं हार उच्यते।
नानासंदेहहरणाद्, व्यवहार इति स्थितिः।।

• दो व्यक्तियों में विवाद होने पर जो वस्तु जिसकी नहीं है, उससे वह वस्तु लेकर जिसकी वह वस्तु है, उसे देना, यह जो वपन-हरणात्मक व्यापार है, वह व्यवहार कहलाता है।[1] मनुस्मृति की मिताक्षरा टीका में भी व्यवहार शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।[2]

• **'विविहं वा विहिणा वा, ववणं हरणं च ववहारो'**[3] अर्थात् विविध प्रकार से विधिपूर्वक अतिचारहरण हेतु तप, अनुष्ठान आदि का वपन/दान करना व्यवहार है।[4]

• **'जेण य ववहरति मुणी, जं पि य ववहरति सो वि ववहारो'**[5] अर्थात् जिसके द्वारा मुनि आगम आदि व्यवहार का प्रयोग करता है, वह व्यवहार है अथवा जिस व्यवहर्त्तव्य का मुनि प्रयोग करता है, वह भी व्यवहार है।

• **'विविधो वा अवहारः व्यवहारः'** अर्थात् विविध प्रकार से अपहार करना व्यवहार है।[6]

भाष्य में व्यवहार के चार एकार्थक प्राप्त हैं—१. व्यवहार २. आलोचना ३. शोधि[7] ४. प्रायश्चित। यद्यपि इनको एकार्थक नहीं माना जा सकता किन्तु व्यवहार विशोधि का कारण है और ये चारों शब्द विशोधि की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक हैं अतः प्रस्तुत ग्रंथ में व्यवहार शब्द आलोचना, शोधि एवं प्रायश्चित्त—इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त है।

भाष्यकार ने भाव व्यवहार के नौ एकार्थकों का उल्लेख किया है—१. सूत्र २. अर्थ ३. जीत ४. कल्प ५. मार्ग ६. न्याय ७. ईप्सितव्य ८. आचरित ९. व्यवहार।[8] भाष्यकार ने स्वयं यहां एक प्रश्न उपस्थित किया है कि ये एकार्थक जीतव्यवहार के सूचक हैं फिर इसके लिए भाव व्यवहार के एकार्थकों का उल्लेख क्यों किया ? प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र शब्द से आगम और श्रुत व्यवहार गृहीत हैं। अर्थ शब्द से आज्ञा और धारणा व्यवहार का ग्रहण है।[9] तथा शेष शब्द जीतव्यवहार के द्योतक हैं।

### व्यवहार के भेद

निर्ग्रन्थों एवं संयतों के लिए दो प्रकार के व्यवहारों का उल्लेख है—आभवद् व्यवहार और

---

१. व्यभा ५, टी पृ. ५; यस्य यन्नाभवति, तस्मात् तद् हृत्वा आदाय, यस्याभवति तस्मै द्वितीयाय वपति— प्रयच्छति .....इति व्यवहारः।

२. मनु मिटी ;
परस्परं मनुष्याणां, स्वार्थविप्रतिपत्तिषु।
वाक्यान्न्यायाद्यवस्थानं, व्यवहार उदाहृतः।।

३. व्यभा ३।

४. उशांटी प ६४; व्यवहारः प्रमादात् स्खलितादौ प्रायश्चित्त-दानरूपमाचरणम्।

५. व्यभा ३८८८।

६. बृचू अप्रकाशित।

७. व्यभा १०६४।

८. व्यभा ७।

९. व्यभापी. टी. प. ७; द्वावप्यर्थात्मकत्वादर्थग्रहणेन सूचितौ।

प्रायश्चित्त व्यवहार। सचित्तादि वस्तु को लेकर जो व्यवहार होता है, वह आभवद् व्यवहार है तथा प्रतिसेवना का आचरण करने पर अपराधी के प्रति जो व्यवहार किया जाता है, वह प्रायश्चित्त व्यवहार कहलाता है।

आभवद व्यवहार के पांच प्रकार हैं—१. क्षेत्र, २. श्रुत, ३. सुख-दुःख, ४. मार्ग, ५. विनय। पंचकल्पभाष्य में आभवद् व्यवहार के भेद इस प्रकार मिलते हैं—१. सचित्त २. अचित्त ३. मिश्र ४. क्षेत्र-निष्पन्न ५. काल-निष्पन्न।[1] प्रायश्चित्त व्यवहार के आज्ञा, श्रुत आदि पांच भेद हैं।

ग्रंथकार ने आगम आदि पांचों व्यवहारों को द्वादशांग का नवनीत कहा है, जिसका निर्यूहण चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु ने द्वादशांगी से किया।[2] भाष्यकार ने व्यवहार का महत्त्व यहां तक बता दिया कि जिसके मुख में एक लाख जिह्वा हों, वह भी व्यवहार[3] के बारे में सम्पूर्ण जानकारी प्रस्तुत नहीं कर सकता।[4]

व्यवहार का मूल अर्थ है—करण अर्थात् न्याय के साधन।[5] वे पांच हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। पांच व्यवहारों का उल्लेख स्थानांग एवं भगवती सूत्र में भी मिलता है।[6] प्रसंग देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहार सूत्र से ही यह पाठ स्थानांग एवं भगवती सूत्र में संक्रान्त हुआ है।

**व्यवहार पंचक का प्रयोग**

व्यवहार पंचक के प्रयोग के विषय में आगम में स्पष्ट उल्लेख है कि जहां आगम व्यवहार हो, वहां आगम से व्यवहार की प्रस्थापना करे, जहां आगम न हो वहां श्रुत से, जहां श्रुत न हो वहां आज्ञा से, जहां आज्ञा न हो वहां धारणा से तथा जहां धारणा न हो, वहां जीत से व्यवहार की प्रस्थापना करे। अर्थात् जिस समय जिस व्यवहार की प्रधानता हो, उस समय उस व्यवहार का प्रयोग राग-द्वेष से मुक्त होकर तटस्थ भाव से करना चाहिए।[7] भाष्य में स्पष्ट उल्लेख है कि अनुक्रम से व्यवहार पंचक का प्रयोग विहित है। पश्चानुपूर्वी क्रम से या विपरीत क्रम से व्यवहार का प्रयोग करने वाला चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का भागी होता है।[8] आचार्य मलयगिरि ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि जिस समय 'पंचविहे ववहारे पण्णत्ते'....सूत्र की रचना की, उस समय आगम व्यवहार था, फिर उन्होंने श्रुत, आज्ञा आदि व्यवहारों की प्ररूपणा क्यों की? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र का विषय अनागत काल भी होता है। आगमव्यवहारी

---

१. पंकभा २३९३।

२. जीभा ५६०, व्यभा ४४३१।

३. यहां यह उल्लेख देना आवश्यक है कि भाष्यगत 'व्यवहार' शब्द का अर्थ टीकाकार मलयगिरि ने व्यवहारसूत्र किया है लेकिन यहां व्यवहार शब्द पांच व्यवहार का वाचक होना चाहिए। (जीभा ६९६, व्यभा ४५५१)

४. व्यभा ४५५१ ;
को वित्थरेण वोत्तूण, समत्थो निरवसेसिते अत्थे।
ववहारो जस्स मुहे, हवेज्ज जिब्भासतसहस्सं।।

५. व्यभा २ ; ववहारो होति करणभूतो उ।

६. स्था ५/१२४, भ. ८/३०१।

७. व्यसू १०/६।

८. व्यभा ३८८३।

जानते हैं कि भविष्य में ऐसा समय भी आएगा, जब आगम का विच्छेद हो जाएगा। जिस काल में जो व्यवहार विच्छिन्न हो, उस समय अव्यवच्छिन्न व्यवहार का यथाक्रम से प्रयोग किया जाता है।[1]

इसी प्रकार क्षेत्र और काल के अनुसार जहां जो व्यवहार संभव हो, उसी का प्रयोग करना चाहिए अथवा जिस क्षेत्र में युगप्रधान आचार्यों द्वारा जो व्यवस्था दी गई हो, उसी का व्यवहार करना चाहिए।[2] संघ में व्यवहार के प्रयोग में और भी अनेक बातों का ध्यान रखा जाता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वैयावृत्त्य—इन पांच प्रकार की उपसंपदाओं तथा क्षेत्र, काल और प्रव्रज्या का अवबोध कर संघ में व्यवहार करना चाहिए।[3]

जैन आचार्यों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार नियम एवं प्रायश्चित्तों का विधान किया। इसीलिए नियम एवं प्रायश्चित्त-दान में कहीं रूढ़ता का वहन नहीं हुआ। मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर ही उन्होंने पांच व्यवहारों की प्रस्थापना की, ऐसा कहा जा सकता है।

**आगम व्यवहार**

जिसके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं, वह आगम है।[4] ज्ञान पर आधारित होने के कारण प्रथम व्यवहार का नाम आगम व्यवहार है। ज्ञान और आगम दोनों एकार्थक हैं।[5] कारण में कार्य का उपचार करने से जो ज्ञान के साधन हैं, वे भी आगम कहलाते हैं। आगम व्यवहार के भेद-प्रभेदों को निम्न चार्ट से प्रदर्शित किया जा सकता है—

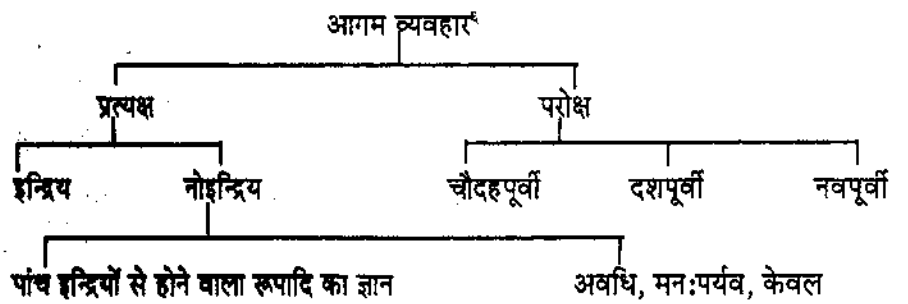


१. व्यभा ३८८५।

२. (क) भटी प. ३८५ ; यदा यस्मिन् अवसरे यत्र प्रयोजने वा क्षेत्रे वा यो य उचितस्तं तदा काले तस्मिन् प्रयोजनादौ। (ख) व्यभा ३३८५ मटी प. १० ; तत्रापि व्यवहार: क्षेत्रं कालं च प्राप्य यो यथा संभवति, तेन तथा व्यवहरणीयम्। यत्र क्षेत्रे युगप्रधानैराचार्यै: या व्यवस्था व्यवस्थापिता तथा अनिश्रोपश्रितं व्यवहर्त्तव्यम्।

३. व्यभा १६९२।

४. भटी. प. ३८४ ; आगम्यन्ते —परिच्छिद्यन्ते अतीन्द्रिया अर्था अनेनेत्यागम उच्यते।

५. व्यभा ४०३६; नातं आगमियं ति य एगट्ठं।

६. जीभा ९, १०, २३।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अक्ष का अर्थ आत्मा किया है अर्थात् जो ज्ञान सीधा आत्मा से होता है, वह प्रत्यक्ष है। अक्ष का अर्थ इन्द्रिय भी होता है, जो ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त इन्द्रिय आदि से होता है, वह परोक्ष है।[1]

प्रश्न उपस्थित होता है कि आगम व्यवहार में इन्द्रिय प्रत्यक्ष का ग्रहण क्यों किया गया? इसका समाधान जीतकल्पभाष्य में प्राप्त होता है। भाष्यकार जिनभद्रगणि लिखते हैं कि प्रत्यक्ष आगमव्यवहारी (चतुर्दशपूर्वी आदि) भी श्रोत्रेन्द्रिय से दूसरे की प्रतिसेवना सुनकर, चक्षु से दूसरे को अनाचार का सेवन करते देखकर, घ्राण द्वारा धूप आदि की गन्ध से चींटी आदि की विराधना जानकर, कंदादि को खाते देखकर, अंधकार में स्पर्श से अभ्यंग आदि को जानकर इन्द्रिय प्रत्यक्ष से व्यवहार का प्रयोग करते हैं अत: आगम व्यवहार के अन्तर्गत इंद्रिय प्रत्यक्ष का ग्रहण किया गया है।[2] नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का विस्तृत वर्णन जीतकल्पभाष्य में मिलता है।[3]

आगम व्यवहार का प्रयोग करने वाला अठारह वर्जनीय स्थानों का ज्ञाता[4], छत्तीस गुणों में कुशल[5], आचारवान् आदि गुणों से युक्त[6], आलोचना आदि दश प्रायश्चित्तों का ज्ञाता[7], आलोचना के दश दोषों का ज्ञायक[8], षट्स्थानपतित स्थानों को साक्षात् रूप से जानने वाला तथा राग-द्वेष रहित होता है। जैसे सूर्य के प्रकाश के समक्ष दीपक का प्रकाश नगण्य है, उसके समक्ष कोई दीपक के प्रकाश का प्रयोग नहीं करता, वैसे ही आगम व्यवहारी आगम व्यवहार का ही प्रयोग करते हैं, श्रुत आदि व्यवहार का नहीं।[9] आगमव्यवहारी अतिशयज्ञानी होते हैं अत: वे प्रतिसेवी व्यक्ति के संक्लिष्ट, विशुद्ध एवं अवस्थित परिणामों को साक्षात् जान लेते हैं इसलिए वे उतना ही प्रायश्चित्त देते हैं, जितने से आलोचक की विशुद्धि हो सके।[10]

आगम व्यवहारी छ: हैं—केवलज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी एवं नौ पूर्वी। केवलज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी एवं अवधिज्ञानी आगमत: प्रत्यक्ष व्यवहारी हैं। चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी,

---

१. जीभा ११ ;
जीवो अक्खो तं पति, जं वट्टति तं तु होति पच्चक्खं।
परतो पुण अक्खस्सा, वट्टंतं होति पारोक्खं।।

२. जीभा २०-२२।

३. जीभा २३-१०८।

४. व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प-समाचरण, गृहिभाजन का प्रयोग, पर्यंक, भिक्षा के समय गृहस्थ के घर में बैठना, स्नान, विभूषा—ये अठारह वर्जनीय स्थान हैं। (देखें व्यभा ४०७४)

५. आचार्य की आचार, श्रुत आदि आठ सम्पदाओं के चार-चार गुण होते हैं। उनके ३२ प्रकार हैं तथा आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणाविनय, दोषनिर्घातनविनय आदि चार विनय-प्रतिपत्तियां होती हैं। ये आचार्य के छत्तीस गुण कहलाते हैं। (देखें जीभा १६०-२४१)

६. स्था १०/७२, व्यभा ५२०।

७. स्था १०/७३, व्यभा ४१८०।

८. स्था १०/७०, व्यभा ५२३।

९. व्यभा ३८८४।

१०. जीचू पृ. ४; आगमववहारी अइसइणो संकिलिस्समाणं विसुज्झमाणं अवट्ठियपरिणामं वा पच्चक्खमुवलभन्ति, तावइयं च से दिन्ति जावइएण विसुज्झइ।

नवपूर्वी एवं गंधहस्ती आचार्य आगमतः परोक्ष व्यवहार का प्रयोग करते हैं।[1] जो आगमव्यवहारी गुणप्रत्ययिक अवधिज्ञानी होते हैं, वे अवधिज्ञान से तथा जो ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी होते हैं, वे मनःपर्यवज्ञान से व्यवहार की शोधि करते हैं।[2] केवलज्ञानी केवलज्ञान से व्यवहार करते हैं।[3]

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि चतुर्दशपूर्वी आदि श्रुत से व्यवहार करते हैं तो फिर उन्हें आगमव्यवहारी क्यों कहा गया? रूपक के माध्यम से इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि चतुर्दशपूर्वी आदि प्रत्यक्ष आगम के सदृश हैं इसलिए इन्हें आगम व्यवहार के अन्तर्गत गिना है। जैसे चन्द्र के समान मुख वाली कन्या को चन्द्रमुखी कहा जाता है, वैसे ही आगम सदृश होने के कारण पूर्वों के ज्ञाता भी आगम व्यवहार के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।[4] इसका दूसरा हेतु यह है कि पूर्वों का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों का विशिष्ट अवबोधक होता है, अतिशायी ज्ञान होने के कारण इसे आगम व्यवहार के अन्तर्गत लिया गया है[5], जैसे केवली सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पदार्थों को जानते हैं, वैसे श्रुतज्ञानी भी इनको श्रुत के बल से जान लेते हैं अतः चतुर्दशपूर्वी आदि को आगम व्यवहारी के अन्तर्गत रखा है।[6]

जिस प्रकार प्रत्यक्ष आगमव्यवहारी प्रतिसेवना करने पर राग-द्वेष विषयक हानि-वृद्धि के आधार पर कम या ज्यादा प्रायश्चित्त देते हैं। उपवास जितने प्रायश्चित्त की प्रतिसेवना करने पर पांच दिन का प्रायश्चित्त दे सकते हैं तथा पांच दिन जितनी प्रतिसेवना करने वाले को उपवास का प्रायश्चित्त दे सकते हैं, वैसे ही चतुर्दशपूर्वी आदि भी आलोचक की राग-द्वेष की वृद्धि एवं हानि के आधार पर प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं।[7]

एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि प्रत्यक्ष आगमव्यवहारी तो प्रतिसेवक के भावों को साक्षात् जानते हैं लेकिन चतुर्दशपूर्वी आदि परोक्ष आगम व्यवहारी दूसरों के भावों को कैसे जानकर व्यवहार करते हैं? इस प्रश्न के समाधान में भाष्यकार ने नालीधमक का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैसे नालिका से पानी गिरने पर समय की अवगति होती है। नालिका द्वारा समय जानकर धमक शंख बजाकर दूसरों को भी समय की सूचना देता रहता है, वैसे ही परोक्षागम व्यवहारी भी दूसरों की शोधि और आलोचना को सुनकर आलोचक के यथावस्थित भावों को जान लेते हैं।[8] वे आलोचक को पश्चात्ताप की उत्कटता, अनुत्कटता के आधार पर प्रायश्चित्त देते हैं, जैसे परोक्ष आगम व्यवहारी श्रुतबल से जीव, अजीव आदि की पर्यायों को

---

१. जीभा ११२, व्यभा ४०३७।
२. व्यभा ४०३२, ४०३३।
३. जीभा १०८, व्यभा ४०३४।
४. जीभा ११०, व्यभा ४०३५, मटी प. ३१।
५. मटी प. ३८४ ; श्रुतं शेषमाचारप्रकल्पादिनवादिपूर्वाणां च श्रुतत्वेऽप्यतीन्द्रियार्थेषु विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सातिशयत्वादागमव्यपदेशः केवलवदिति।
६. जीभा ११४, व्यभा ४०३९।
७. व्यभा ४०४०, ४०४१।
८. जीभा १२१, १२२, व्यभा ४०४६, ४०४७।

सब नयों से जानते हैं, वैसे ही दूसरों के भावों को भी श्रुतबल से जानकर उसकी शोधि के लिए प्रायश्चित्त देते हैं।[१] भाष्यकार ने इस बात को एक रूपक से स्पष्ट किया है। जैसे चक्रवर्ती का प्रासाद वर्धकि रत्न द्वारा निर्मित होता है, उसे देखकर सामान्य राजा भी अपने वर्धकियों से प्रासाद का निर्माण करवाते हैं। उनके प्रासाद की शोभा उतनी नहीं होती फिर भी वे प्रासाद कहलाते हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आगमव्यवहारी की भांति परोक्षज्ञानी भी व्यवहार करते हैं।[२]

**श्रुत व्यवहार**

श्रुत व्यवहार में श्रुत का अनुवर्तन होता है।[३] जो आचार्य या मुनि कल्प और व्यवहार के सूत्रों को बहुत पढ़ चुका है और उसके अर्थ को सूक्ष्मता से जानता है तथा दोनों ग्रंथों की निर्युक्ति को अर्थतः जानता है, वह श्रुतव्यवहारी कहलाता है।[४] टीकाकार के अनुसार कुल, गण आदि में करणीय-अकरणीय का प्रसंग उपस्थित होने पर पूर्वों से कल्प और व्यवहार का निर्यूहण किया गया। इन दोनों सूत्रों का निमज्जन करके, व्यवहार-विधि के सूत्र का स्पष्ट उच्चारण कर, उनके अर्थ का अवगाहन कर जो प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है, वह श्रुतव्यवहार है।[५]

जीतकल्प चूर्णि के अनुसार पूर्वधर[६](१ से ८ पूर्व), ११ अंग के धारक, कल्प, व्यवहार तथा अवशिष्ट श्रुत के अर्थधारक मुनि श्रुतव्यवहार का प्रयोग करते हैं।[७] जिस प्रकार कुशल चिकित्सक रोग के अनुसार औषध देता है, अधिक या कम नहीं, वैसे ही आगमव्यवहार एवं श्रुतव्यवहार का प्रयोग करने वाले जितने प्रायश्चित्त से व्यक्ति की शुद्धि होती है, उतना ही प्रायश्चित्त देते हैं।[८]

**आज्ञा व्यवहार**

भक्त-प्रत्याख्यान में संलग्न, विशोधि एवं शल्योद्धरण का इच्छुक आचार्य या मुनि दूरस्थित छत्तीस गुण सम्पन्न आचार्य से आलोचना करना चाहता है। ऐसी अवस्था में आज्ञा व्यवहार की प्रयोजनीयता होती है। आज्ञा व्यवहार को व्याख्यायित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि विशोधि का इच्छुक आचार्य या मुनि जब शोधिकारक आचार्य के समीप जाने में असमर्थ हो तथा शोधिकारक आचार्य भी जब शोधिकर्त्ता

---

१. जीभा १२३, व्यभा ४०४८।
२. जीभा २६९-७३।
३. जीचू पृ. ४; आणाववहारो वि सुयववहाराणुसरिसो।
४. जीभा ५६१-६४, व्यभा ४४३२-३५।
५. व्यभा ४४३६ मटी. प. ८१; कुलादिकार्येषु व्यवहारे उपस्थिते यद् भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पव्यवहारात्मकं सूत्रं निर्यूढं तदेवानुमज्जननिपुणतरार्थे परिभावनेन तन्मध्ये प्रविशन् व्यवहारविधिं यथोक्तं सूत्रमुच्चार्य तस्यार्थे निर्दिशन् यः प्रयुंक्ते स श्रुतव्यवहारी धीरपुरुषैः प्रज्ञप्तः।
६. नवपूर्वी तक आगमव्यवहारी होते हैं।
७. जीचू पृ. २ ; सुयववहारो पुण अवसेसपुव्वी एक्कारसंगिणो आकप्पववहारा अवसेससुए य अहिगयसुत्तत्था सुयववहारिणो त्ति।
८. व्यभा ३२६।

के पास जाने में असमर्थ हो, उस स्थिति में शोधि का इच्छुक आचार्य अपने शिष्य को दूरस्थित शोधिकारक आचार्य के पास भेजकर शोधि की प्रार्थना करता है। तब आचार्य परीक्षा[1] करके अपने आज्ञापरिणामक, धारणाकुशल तथा सूत्रार्थ के ज्ञाता शिष्य को उनके पास भेजते हैं।[2]

आचार्य द्वारा प्रेषित वह धारणा कुशल शिष्य आलोचक के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र सम्बन्धी अतिचारों को सम्यक् प्रकार से सुनता है तथा दर्प विषयक और कल्प विषयक प्रतिसेवना को अच्छी तरह धारण करता है[3] तथा आलोचक की अर्हता, संयत या गृहस्थ पर्याय का कालमान, शारीरिक एवं मानसिक बल तथा क्षेत्र विषयक बातें आलोचक आचार्य से ज्ञात कर स्वयं उसका परीक्षण कर अपने देश में लौट आता है। वह अपने गुरु के पास जाकर उसी क्रम में सब बातें गुरु को निवेदित करता है, जिस क्रम से उसने तथ्यों का अवधारण किया था। तब व्यवहार-विधिज्ञ आलोचनाचार्य कल्प और व्यवहार दोनों छेदसूत्रों के आलोक में पौर्वापर्य का आलोचन कर सूत्रगत नियमों के तात्पर्य की सही अवगति करते हैं। पुनः उसी शिष्य को आदेश देते हैं—'तुम जाओ और उस विशोधिकर्ता मुनि या आचार्य को यह प्रायश्चित्त निवेदित करके आ जाओ। इस प्रकार आचार्य के वचनानुसार प्रायश्चित्त देना आज्ञा व्यवहार है।[4]

आज्ञा व्यवहार की एक दूसरी व्याख्या भी मिलती है—दो गीतार्थ आचार्य गमन करने में असमर्थ हैं। दोनों दूर प्रदेशों में स्थित हैं। कारणवश वे एक दूसरे के पास जाने में असमर्थ हैं, ऐसी स्थिति में यदि उन्हें प्रायश्चित्त विषयक परामर्श लेना हो तो गीतार्थ शिष्य न होने पर अगीतार्थ शिष्य को जो धारणा में कुशल है, उसे गूढ़ पदों में अपने अतिचारों को निगूहित कर दूर देश स्थित आचार्य के पास भेजते हैं। आगंतुक शिष्य के निवेदन पर आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन, धृति, शारीरिक बल आदि का विचार करके स्वयं वहां आ जाते हैं अन्यथा गीतार्थ शिष्य के न मिलने पर रहस्ययुक्त पदों को धारण करने वाले शिष्य के साथ गूढ़ पदों में अतिचार विशुद्धि रूप प्रायश्चित्त बताते हैं, यह आज्ञा व्यवहार है।[5] गूढ़ पदों में निहित प्रश्न एवं उत्तर को भाष्यकार ने विस्तार से प्रस्तुत किया है।[6]

**धारणा व्यवहार**

व्यवहार का चौथा प्रकार है—धारणा। मतिज्ञान का चौथा भेद भी धारणा है। संभवतः उसी आधार पर व्यवहार का एक भेद धारणा रखा गया है। धारणा व्यवहार भी श्रुत व्यवहार के सदृश है। चूर्णिकार के

---

१. परिणामक अपरिणामक और अतिपरिणामक शिष्य के दृष्टान्त हेतु देखें जीभा ५७१-८०, परि. २, कथा सं. ५४।

२. जीभा ५६६-७०।

३. जो अकारण की जाती है, वह दर्प प्रतिसेवना है। उसके दस प्रकार हैं। कारण उपस्थित होने पर जो प्रतिसेवना की जाती है, वह कल्प प्रतिसेवना है, उसके २४ प्रकार हैं, देखें भूमिका में दर्प एवं कल्प प्रतिसेवना पृ. ६८-७१।

४. जीभा ६३६-३८, ६५३।

५. व्यभा ९ मटी. प. ६, जीचू पृ. २।

६. जीभा ६१८-५२।

अनुसार श्रुत व्यवहार और धारणा व्यवहार में इतना ही अंतर है कि श्रुत व्यवहार के एक अंश का प्रयोग करना धारणा व्यवहार है।[1] भाष्यकार ने धारणा के चार एकार्थकों का उल्लेख किया है। ये सभी धारणा की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक हैं—

१. उद्धारणा—छेदसूत्रों में उद्धृत अर्थपदों को विपुलता से धारण करना।

२. विधारणा—छेदसूत्रों में उद्धृत विशिष्ट अर्थपदों को विविध रूप से स्मृति में धारण करना।

३. संधारणा—धारण किए हुए अर्थपदों को आत्मसात् करना।

४. संप्रधारणा—सम्यक् रूप से अर्थपदों को धारण कर प्रायश्चित्त का विधान करना।[2]

ग्रंथकार ने धारणा व्यवहार को विविध रूपों में परिभाषित किया है। ये परिभाषाएं धारणा व्यवहार के बारे में प्रचलित उस समय की विविध अवधारणाओं एवं अवस्थाओं को प्रकट करने वाली हैं—

किसी गीतार्थ संविग्न आचार्य ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष और प्रतिसेवना के आधार पर दिये जाने वाले प्रायश्चित्त को देखा अथवा किसी को आलोचना-शुद्धि करते देखा, उसको उसी प्रकार धारण करके वैसी परिस्थिति में वैसा ही प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है।[3]

जो शिष्य सेवा कार्य में नियुक्त है, देशाटन करने वाला है, दुर्मेधा या अल्पमेधा के कारण छेदसूत्रों के सम्पूर्ण अर्थपदों को धारण करने में समर्थ नहीं है, आचार्य उस पर अनुग्रह करके कुछ उद्धृत अर्थपद सिखाते हैं, छेदसूत्र के अर्थ का अंशतः धारक वह मुनि जो प्रायश्चित्त देता है, वह धारणा व्यवहार है।[4] आचार्य मलयगिरि ने वैयावृत्त्यकर, गच्छ पर उपग्रह करने वाला, स्पर्धकस्वामी (संघाटक नायक), देश-दर्शन में आचार्य का सहयोगी तथा संविग्न—इन विशेषताओं का उल्लेख किया है।[5] धारणा व्यवहार का प्रयोग कैसे मुनि पर किया जाता है, इसकी निम्न कसौटियां बताई गयी हैं[6]—

प्रवचनयशस्वी—जो प्रवचन एवं श्रमण संघ का यश चाहता है।

अनुग्रहविशारद—जो दीयमान प्रायश्चित्त या व्यवहार को अनुग्रह मानता है।

तपस्वी—जो विविध तप में संलग्न है।

सुश्रुतबहुश्रुत—जिसको आचारांग श्रुत विस्मृत नहीं होता अथवा जो बहुश्रुत होने पर भी श्रुत के उपदेश के अनुसार चलता है।

विशिष्टवाक्सिद्धियुक्त—विनय एवं औचित्य से युक्त वाक्शुद्धि वाला।

---

१. जीचू पृ. ४ ; सुयववहारेगदेसो धारणाववहारो।
२. जीभा ६५५-५८।
३. जीभा ६६८-७०, व्यभा ४५१५-१७।
४. जीभा ६७२, ६७३, व्यभा ४५१८, ४५१९।
५. व्यभा ९ मटी प. ०००००७।
६. व्यभा ४५०८-१०।

उपर्युक्त गुणों से युक्त साधु की प्रमादवश मूलगुण अथवा उत्तरगुण विषयक स्खलना होने पर प्रथम तीन व्यवहारों के अभाव में कल्प, निशीथ तथा व्यवहार—तीनों के कुछ अर्थपदों की अवधारणा कर यथायोग्य प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है।[1]

धारणा व्यवहार का प्रयोक्ता मुनि भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से छेदसूत्रों के अर्थ का सम्यग् पर्यालोचन करने वाला, धीर, दान्त, क्रोधादि से रहित, आलीन—ज्ञान आदि में लीन, प्रलीन एवं यतनायुक्त होता है। ऐसी विशेषताओं से युक्त मुनि द्वारा कथित तथ्यों के आधार पर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह धारणा व्यवहार है।[2]

**जीत व्यवहार**

यह पांचवां व्यवहार है। इसका महत्त्व सार्वकालिक है।[3] जीतव्यवहार प्रायश्चित्त का प्रवर्तन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष, प्रतिसेवना, शरीर-संहनन, धृतिबल आदि के आधार पर किया गया।[4] व्यवहार भाष्यकार ने इसके तीन एकार्थकों का उल्लेख किया है—१. बहुजनआचीर्ण, २. जीत, ३. उचित।[5] चूर्णिकार सिद्धसेनगणि के अनुसार भी इसके तीन एकार्थक हैं—जीत, करणीय एवं आचरणीय।[6] नंदी टीका में इसके पांच एकार्थक प्राप्त हैं—जीत, मर्यादा, व्यवस्था, स्थिति एवं कल्प।[7]

चूर्णिकार के अनुसार ब्राह्मण परम्परा में भी जीवघात होने पर प्रायश्चित्त का विधान है किन्तु उनकी परम्परा में एकेन्द्रिय आदि प्राणी के संघट्टन, परितापन या अपद्रावण आदि होने पर प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। निर्ग्रन्थ शासन में जीतव्यवहार विशोधि में विशेष रूप से निमित्तभूत बनता है। जिस प्रकार पलाश, क्षार एवं पानी आदि के द्वारा वस्त्र के मल को दूर किया जाता है, वैसे ही कर्ममल से मलिन जीव की अतिचार-विशुद्धि में जीतव्यवहार द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त का विशेष महत्त्व है।[8] प्रायश्चित्त-दान का यह भेद अन्यत्र किसी भी धर्म-परम्परा में उल्लिखित नहीं है।

---

१. जीभा ६६०-६३।

२. जीभा ६६४-६७, व्यभा ४५१२-१४।

३. (क) दशाटी प. ६३; त्रिकालविषयत्वात् जीतव्यवहारस्य। (ख) जीचू पृ. ४; जीवेइ वा तिविहे वि काले तेण जीयं।

४. जीचू पृ. ४; सो पुण दव्वखेत्तकालभावपुरिसपडिसेवणाणुवत्तिं सरीरसंघयणधीबलपरिहाणिं वावेक्खिऊण तहा पायच्छित्तदाणं जीयं।

५. व्यभा ९; बहुजणमाइण्णं पुण, जीतं उचियं ति एगट्ठं।

६. जीचू पृ. ४; जीयं ति वा करणिज्जं ति वा आयरणिज्जं ति वा एगट्ठं।

७. नंदीहाटी. पृ. ११; जीतं मर्यादा व्यवस्था स्थितिः कल्प इति पर्यायाः।

८. जीचू पृ. २ अन्ने वि मरुयादीया पायच्छित्तं देंति थूलबुद्धिणो जीवघायम्मि कत्थइ सामन्नेण ण पुण संघट्टण-परितावणोद्दवण-भेएण-सव्वेसिमेगिंदियाईणं तस्स पज्जवसाणाणं दाउं जाणन्ति। उवएसो वा तेसिं समए एरिसो नत्थि। इह पुण सासणे सव्वमत्थि त्ति काउं विसेसेण सोहणं भण्णइ। जहा य पलास-खारोदगाइ वत्थमलस्स सोहणं तहा कम्ममलमइलियस्स जीवस्स जीय-ववहारनिद्दिट्ठं पायच्छित्तं। ....न अण्णत्थ एरिसं ति जं भणियं होइ।

पांच व्यवहारों में जीतकल्प सबसे अधिक प्रचलित रहा अतः भिन्न-भिन्न आचार्यों ने जीतकल्प की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं की हैं। उन परिभाषाओं में कहीं-कहीं शाब्दिक अंतर है, उन सब परिभाषाओं को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

• जो व्यवहार एक बार, दो बार या अनेक बार किसी आचार्य द्वारा प्रवर्त्तित होता है तथा महान् आचार्य जिसका अनुवर्तन करते हैं, वह जीतव्यवहार है।[1]

• जो प्रायश्चित्त जिस आचार्य के गण की परम्परा से अविरुद्ध है, जो पूर्व आचार्य की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, वह जीतव्यवहार है।[2]

• अमुक आचार्य ने, अमुक कारण उत्पन्न होने पर, अमुक पुरुष को अमुक प्रकार से प्रायश्चित्त दिया, अन्य आचार्य द्वारा वैसी ही स्थिति में वैसा ही प्रयोग करना जीतव्यवहार है।[3] इसी बात को जीतकल्प चूर्णि में इस भाषा में कहा है कि गच्छ में किसी कारण से जो सूत्रातिरिक्त प्रायश्चित्त का प्रवर्तन हुआ, बहुतों के द्वारा अनेक बार उसका अनुवर्तन हुआ, यह जीतव्यवहार है।[4]

• प्रयोजन उपस्थित होने पर प्रमाणस्थ पुरुष द्वारा अशठभाव से जो निरवद्य आचरण किया जाता है, गीतार्थ के द्वारा उसका निवारण नहीं किया जाता अपितु उसके द्वारा जो अनुमत—सम्मत और आचीर्ण होता है, वह जीतकल्प है।[5]

• पूर्वाचार्यों ने जिन अपराधों की शोधि अत्यधिक तपस्या के आधार पर की, उन्हीं अपराधों की विशोधि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर चिन्तन करके तथा संहनन आदि की हानि को लक्ष्य में रखकर गीतार्थ मुनियों द्वारा प्रवर्त्तित समुचित तप रूप प्रायश्चित्त जीतव्यवहार है।[6]

जो आचार्य आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा आदि से रहित है, वह परम्परा से प्राप्त जीत व्यवहार का प्रयोग करता है।[7] जीत व्यवहार के मूल में आगम आदि कोई व्यवहार नहीं, अपितु समय की सूझ एवं

---

१. जीभा ६७५, व्यभा ४५२१।

२. व्यभा १२;
जं जस्स व पच्छित्तं, आयरियपरंपराए अविरुद्धं।
जोगा य बहुविकप्पा, एसो खलु जीयकप्पो उ।।

३. जीभा ६७९, व्यभा ४५३४।

४. जीचू पृ. ४; जो वा जम्मि गच्छे केणइ कारणेण सुयाइरित्तो पायच्छित्त-विसेसो पवत्तिओ अन्नेहिं य बहूहिं अणुवत्तिओ, न य पडिसिद्धो।

५. बृभा ४४९९;
असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ कारणे असावज्जं।
ण णिवारियमण्णेहिं, बहुमणुमयमेतमाइण्णं।।

६. जीचूवि. पृ. ३८; जीतव्यवहारस्तु येष्वपराधेषु पूर्वमहर्षयो बहुना तपःप्रकारेण शुद्धिं कृतवन्तस्तेष्वपराधेषु साम्प्रतं द्रव्यक्षेत्रकालभावान् विचिन्त्य संहननादीनां च हानिमासाद्य समुचितेन केनचित्तपःप्रकारेण यां गीतार्थाः शुद्धिं निर्दिशन्ति तत् समयपरिभाषया जीतमित्युच्यते।

७. जीभा ६७८, व्यभा ४५३३।

परम्परा होती है। यह प्रियधर्मा और पापभीरु व्यक्ति के द्वारा आचीर्ण होता है।[1]

भाष्यकार के समय में जीतकल्प के प्रवर्त्तन विषयक दो परम्पराएं प्रचलित थीं। एक परम्परा के अनुसार आचार्य जंबू के सिद्ध होने पर अंतिम तीन चारित्रों का विच्छेद हो गया, उस समय जीत व्यवहार का प्रवर्तन हुआ। दूसरे मत के अनुसार चतुर्दशपूर्वी के व्यवच्छिन्न होने पर प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान, अन्तर्मुहूर्त्त में चौदह पूर्वों का परावर्तन तथा आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा आदि चारों व्यवहारों का विच्छेद हो गया। उस समय जीत व्यवहार का प्रवर्त्तन ही शेष रहा। इन मान्यताओं का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो चतुर्दशपूर्वधर के विच्छेद होने पर व्यवहार चतुष्क के विच्छेद की घोषणा करते हैं, वे मिथ्यावादी होने के कारण प्रायश्चित्त के भागी हैं।[2] चतुर्दशपूर्वी के विच्छेद होने पर मनःपर्यवज्ञान, परमावधि, पुलाकलब्धि, आहारकलब्धि, क्षपक श्रेणी, उपशम श्रेणी, जिनकल्प, संयमत्रिक (अंतिम तीन संयम), केवली, सिद्धि—ये बारह अवस्थाएं विच्छिन्न हुईं किन्तु व्यवहार चतुष्क का लोप नहीं हुआ।[3] चतुर्दशपूर्वी के विच्छेद होने पर प्रथम संहनन, प्रथम संस्थान तथा अन्तर्मुहूर्त्त में चौदह पूर्वों का उपयोग—इन तीन वस्तुओं का विच्छेद हो गया।[4] तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी के कर्ता सिद्धसेनगणि के अनुसार वर्तमान में अधिकांश विशोधि जीतव्यवहार के आधार पर होती है।[5]

**जीतव्यवहार के भेद**

प्रायश्चित्त के आधार पर जीत व्यवहार के दो भेद हैं—सावद्य और निरवद्य। व्यवहार का संबंध सावद्य जीत से नहीं अपितु निरवद्य जीत से है।[6] अपराध की विशुद्धि के लिए शरीर पर राख का लेप करना, कारागृह में बंदी करना, हड्डियों की माला पहनाना, गधे पर बिठाकर सारे नगर में घुमाना, उदर से रेंगने का दण्ड देना—ये सब सावद्य जीत हैं। आलोचना आदि दस प्रकार का प्रायश्चित्त देना निरवद्य जीत है। कभी-कभी लोकोत्तर क्षेत्र में अनवस्था प्रसंग (दोषों की पुनरावृत्ति) के निवारण हेतु सावद्य जीत का प्रयोग भी किया जाता था। सावद्य जीत का प्रयोग उस व्यक्ति पर किया जाता था, जो बार-बार दोषसेवी, सर्वथा निर्दयी तथा प्रवचन से निरपेक्ष होता था। जो संविग्न, प्रियधर्मी, अप्रमत्त, पापभीरु होता था, उसके द्वारा यदि प्रमादवश स्खलना हो जाती तो उसके प्रति निरवद्य जीत व्यवहार का प्रयोग विहित था।[7]

प्रकारान्तर से भी जीतव्यवहार के दो भेद किए गए हैं—१. शोधिकरजीत २. अशोधिकरजीत। जो

---

१. जीभा ६८१।
२. व्यभा ४५२३-२५।
३. व्यभा ४५२६, ४५२७।
४. व्यभा ४५२८।
५. त ९/२२ भाटी पृ. २५२ ; सम्प्रति पंचमव्यवहारप्रमाणेण यतयो भूयसा विशुद्धिमाचरंति।
६. जीभा ६८७।
७. जीभा ६८९-९१, व्यभा ४५४४-४६।

व्यवहार संवेगपरायण एवं दान्त आचार्य द्वारा आचीर्ण होता है, वह शोधिकर जीत है, फिर चाहे वह एक ही व्यक्ति द्वारा आचीर्ण क्यों न हो। जो पार्श्वस्थ और प्रमत्त संयत द्वारा आचीर्ण व्यवहार होता है, वह अशोधिकर जीत है, फिर चाहे वह अनेक व्यक्तियों द्वारा भी आचीर्ण क्यों न हो।[1]

**जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त में भिन्नता**

गच्छभेद से सामान्य जीत व्यवहार भी भिन्न-भिन्न होता था। इसे समझाने के लिए व्यवहार-भाष्यकार ने कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

कुछ आचार्यों के गण में नवकारसी या पोरसी न करने पर आचाम्ल का प्रायश्चित्त विहित था। आवश्यकगत एक कायोत्सर्ग न करने पर दो प्रहर, दो कायोत्सर्ग न करने पर एकासन आदि का विधान था।[2] कुछ गण में आवश्यकगत एक कायोत्सर्ग न करने पर निर्विगय, दो कायोत्सर्ग न करने पर दो प्रहर, तीन कायोत्सर्ग न करने पर आयम्बिल तथा पूरा आवश्यक न करने पर उपवास का प्रायश्चित्त विहित था।[3] जीतकल्पभाष्य के अनुसार आवश्यकगत एक कायोत्सर्ग न करने पर पुरिमार्ध, दो कायोत्सर्ग न करने पर एकासन, तीन कायोत्सर्ग न करने पर आयम्बिल तथा सम्पूर्ण आवश्यक न करने पर उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[4] इस प्रकार उपधान तप विषयक भिन्न-भिन्न गच्छों की भिन्न-भिन्न मान्यताएं थीं। वे सभी अपनी-अपनी आचार्य-परम्परा से प्राप्त होने के कारण अविरुद्ध थीं।

नागिलकुलवर्ती साधुओं के आचारांग से अनुत्तरौपपातिक तक की आगम-वाचना में उपधानतप के रूप में आचाम्ल नहीं, केवल निर्विगय तप का विधान था। आचार्य की आज्ञा से विधिपूर्वक कायोत्सर्ग कर उन आगमों को पढ़ते हुए भी विगय का उपयोग किया जा सकता था। कुछ परम्पराओं में कल्प, व्यवहार, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति को आगाढ़योग के अन्तर्गत तथा कुछ परम्पराओं में अनागाढ़योग के अन्तर्गत माना जाता था।[5] इसी प्रकार एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय के घट्टन, परितापन, अपद्रावण आदि के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त निर्धारित थे।[6]

पृथ्वी, पानी आदि एकेन्द्रिय जीवों के संघट्टन होने पर निर्विकृतिक, अनागाढ़ परितापन देने पर पुरिमार्ध, आगाढ़ परिताप देने पर एकासन तथा प्राणव्यपरोपण होने पर आचाम्ल का प्रायश्चित्त विहित था।[7] विकलेन्द्रिय जीव एवं अनंतकाय जीवों का घट्टन होने पर पुरिमार्ध, अनागाढ़ परिताप देने पर एकासन,

---

१. व्यभा ४५४७-४९, जीभा ६९२-९४।
२. व्यभा १२ टी प. ८।
३. व्यभा ११ टी प. ८।
४. जीभा १७५९, १७६०।
५. व्यभा १२ टी प. ८।
६. व्यभा ४५३८-४१, जीभा ६८३-८६।
७. जीभा ६८३।

आगाढ़ परिताप देने पर आचाम्ल तथा प्राणव्यपरोपण होने पर उपवास का प्रायश्चित्त विहित था।[1] पंचेन्द्रिय का घट्टन होने पर एकासन, अनागाढ़ परितापन देने पर आचाम्ल, आगाढ़ परितापन देने पर उपवास तथा प्राणव्यपरोपण होने पर पंचकल्याणक[2] का प्रायश्चित्त विहित था।[3]

गच्छभेद से जिस प्रकार जीत व्यवहार के प्रायश्चित्त में भिन्नता होती है, वैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष, प्रतिसेवना आदि के आधार पर भी जीत व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त-दान में तरतमता रहती है।[4] उदाहरणार्थ ग्लान को प्रायश्चित्त देने के निम्न विकल्प हैं—

- रोगी को अल्प प्रायश्चित्त या अशक्तता होने पर प्रायश्चित्त न दिया जाए।
- जितनी वह तपस्या कर सके, उतना ही प्रायश्चित्त दिया जाए।
- अथवा जब वह नीरोग या हृष्ट हो जाए, तब उससे प्रायश्चित्त स्वरूप तप कराया जाए।[5]

**अन्य परम्पराओं में व्यवहार**

बौद्ध परम्परा में व्यवहार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु दीघनिकाय के 'महापरिनिब्बान सुत्त' में चार महापदेशों का उल्लेख मिलता है—

१. बुद्ध द्वारा प्रवर्तित।

२. संघ द्वारा प्रवर्तित।

३. महान् भिक्षुओं द्वारा प्रवर्तित।

४. किसी विहार के महान् आचार्य द्वारा प्रवर्तित।

इन चारों महापदेशों में सूत्र और विनय से संगत, संघवचन और भिक्षुवचन को ही ग्राह्य बताया गया है और उससे भिन्न को अग्राह्य।[6] जैन दर्शन में जो स्थान आगम और श्रुत व्यवहार का है, बौद्ध दर्शन में वही स्थान सूत्र और विनय से संगत संघवचन और भिक्षुवचन का है।

ब्राह्मण परम्परा में भी पांच व्यवहार के संवादी निम्न तत्त्व मिलते हैं—

१. संपूर्ण वैदिकशास्त्र के आधार पर।

२. ऋषियों द्वारा प्रणीत स्मृति ग्रंथों के आधार पर।

३. श्रुति और स्मृति के धारक व्यक्तियों द्वारा।

---

१. जीभा ६८४।

२. यहां पंचकल्याणक का तात्पर्य निर्विगय, पुरिमार्द्ध, एकासन, आयम्बिल, उपवास— तपस्या के इन पांच भेदों से है।

३. जीभा ६८५, व्यभा ४५४०।

४. जी ६४।

५. इसके विस्तार हेतु देखें 'तप प्रायश्चित्त में तरतमता' भूमिका पृ. १४५-४९।

६. अंगु. ८/१८/१० महापदेससुत्त पृ. १७८-८१।

४. सदाचार—अन्यान्य स्थितियों, क्षेत्रों, व्यक्तियों में प्रचलित वे धारणाएं, जो श्रुतियों और स्मृतियों के विपरीत न हों।

५. स्वसमाधान—आत्मा की आवाज।[1]

## व्यवहारी की अर्हता

व्यवहारी शब्द हिन्दी शब्दकोशों में मुकदमा लड़ने वाला तथा वादी आदि अर्थों में प्रयुक्त है। सूत्रकृतांग में 'व्यवहारी' शब्द का प्रयोग व्यापारी के लिए हुआ है।[2] कौटिल्य ने व्यवहारी शब्द न्यायकर्ता के लिए प्रयुक्त किया है। शब्दकल्पद्रुम में सोलह वर्ष के बाद व्यक्ति व्यवहारज्ञ बनता है, ऐसा उल्लेख मिलता है।[3]

व्यवहारी की अर्हताएं भाष्यसाहित्य में विकीर्ण रूप से मिलती हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी व्यवहारी (न्यायकर्ता) की कसौटियां वर्णित हैं।[4] मनुस्मृति के अनुसार वेदविद ब्राह्मण प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है क्योंकि ज्ञानी का वचन पवित्र होता है।[5] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार जो श्रुति आदि के अध्ययन से युक्त, सत्यवादी, धर्मज्ञ और शत्रु तथा मित्र में समदृष्टि वाला है, वह व्यवहार—न्याय के योग्य होता है।[6] नारद स्मृति भी इसी की संवादी है।[7]

जो आगम आदि व्यवहार को सम्यक् रूप से जानकर प्रायश्चित्तदान में उसका सम्यक् प्रयोग करता है, वह व्यवहारी है।[8] भाष्यकार के अनुसार व्यवहार करने का अधिकार उसे प्राप्त होता है, जो मुनि युगप्रधान आचार्य के पास तीन परिपाटियों से व्यवहार आदि छेद ग्रंथों का सम्पूर्ण रूप से सम्यक् अवबोध प्राप्त कर लेता है। वे तीन परिपाटियां इस प्रकार हैं—

१. सूत्रार्थ का परिच्छेद पूर्वक उच्चारण।

२. पदविभाग पूर्वक पारायण।

३. निरवशेष पारायण।[9]

जब शिष्य तीनों परिपाटियों से सम्पूर्ण सूत्रार्थ का पारगामी हो जाता है, तब वह व्यवहार करने के

---

१. Aspects of Jain Monasticism p. 3।
२. सू १/३/७८ समुद्दं व ववहारिणो।
३. शब्दकल्पद्रुम भाग ४ पृ. ५४३।
४. कौ अधि ३ पृ. ३४२ ;
एवं कार्याणि धर्मस्थाः, कुर्युरच्छलदर्शिनः।
समाः सर्वेषु भावेषु, विश्वास्या लोकसम्प्रियाः।।
५. मनु ११/८५।
६. याज्ञ २/२ ;
श्रुताध्ययनसम्पन्ना, धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या, रिपौ मित्रे च ये समाः।।
७. नारद स्मृति १/४४।
८. व्यभा ५२० टी. प. १८।
९. व्यभा १७०९।

योग्य होता है। इसकी परीक्षा करने के लिए आचार्य उस ग्राहक-शिष्य को विषम स्थानों के विषय में पूछते हैं, जब वह उन विषयों के हार्द को सम्यक् रूप से व्यक्त करने में सक्षम हो जाता है, तब उसे व्यवहार करने के योग्य मान लिया जाता है।[1] यदि व्यवहारी परिवार, ऋद्धि, धर्मकथा, वादलब्धि, तपस्या, निमित्त, विद्या और अधिक संयम-पर्याय—इन आठ विषयों में गौरव करके अपना प्रभुत्व स्थापित करता है तो वह व्यवहार करने के योग्य नहीं होता।[2] अगीतार्थ मुनि गौरव से व्यवहार करता हुआ संसार में सारभूत चतुरंग—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम को खोकर भव-सागर में भटक जाता है।[3]

भाष्यकार ने व्यवहारी की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है—

प्रियधर्मा—कर्तव्यपरायण।

दृढ़धर्मा—अपने निश्चय में अटल।

संविग्न—संसारभीरु, वैरागी।

वद्यभीरु—पापभीरु।

सूत्रार्थविदु—सूत्र और अर्थ का सम्यक् ज्ञाता।

अनिश्रितव्यवहारी—राग-द्वेष मुक्त होकर प्रायश्चित्त देने वाला।[4]

भाष्यकार का अभिमत है कि बहुश्रुत होते हुए भी जो मुनि न्याय नहीं करता, उसका व्यवहार *प्रमाण नहीं हो सकता। न्याय से व्यवहार करना व्यवहारी की योग्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है।*[5] यदि आचार्य अप्रायश्चित्ती को प्रायश्चित्त अथवा अल्प प्रायश्चित्त प्राप्त कर्ता को अतिमात्रा में प्रायश्चित्त देता है तो धर्म की तीव्र आशातना होती है तथा मोक्षमार्ग की विराधना होती है।[6]

बत्तीस योगसंग्रह के इकतीसवें योगसंग्रह में इस बात का उल्लेख है कि जो जितने प्रायश्चित्त से शुद्ध होगा, उतना ही प्रायश्चित्त देने से प्रायश्चित्तदाता के योग संग्रहीत होते हैं। वहां धनगुप्त आचार्य का उदाहरण है, जो सम्यक् रूप से व्यवहार करते थे। वे छद्मस्थ व्यक्ति के अपराध भी इंगित-आकार आदि से जानकर, प्रायश्चित्त देकर उसके अपराधों की शुद्धि करते थे। उनके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त साधु सुखपूर्वक निर्वहन कर लेते थे। इस प्रकार उपयुक्त होकर प्रायश्चित्त देने से उनको विपुल निर्जरा होती थी।[7]

भगवती आराधना में पांच प्रकार के व्यवहारों को विस्तार से जानने वाले, अन्य आचार्यों को प्रायश्चित्त देते देखने वाले तथा स्वयं भी प्रायश्चित्त का प्रयोग करने वाले आचार्य को व्यवहारवान् अथवा

१. व्यभा १७१०।
२. व्यभा १७१९।
३. व्यभा १७२३, १७२४।
४. व्यभा १५ मटी प. ९।
५. व्यभा १७०४।
६. पंकभा १३५६।
७. आवनि ९०५, हाटी प. १५६।

प्रायश्चित्तदाता आचार्य कहा गया है। उसकी योग्यता है—जिनप्रणीत आगम में कुशल, धृतिसम्पन्न तथा राग-द्वेष से रहित होना।[1]

व्यवहारी दो प्रकार के होते हैं—प्रशंसनीय और अप्रशंसनीय। जो यथार्थ व्यवहारी होते हैं, वे प्रशंसनीय तथा जो यथार्थ व्यवहार नहीं करते, वे अप्रशंसनीय व्यवहारी होते हैं। इस प्रसंग में भाष्यकार ने तगरा नगरी के एक आचार्य के सोलह शिष्यों का उल्लेख किया है, जिनमें आठ शिष्य व्यवहारी तथा आठ अव्यवहारी थे।

भाष्यकार ने आचार्य के आठ अव्यवहारी शिष्यों का नामोल्लेख न करते हुए केवल उनके दोषों को प्रतीक एवं रूपक के माध्यम से समझाया है। लेकिन व्यवहारी शिष्यों के नामों का उल्लेख किया है। उनकी विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया। प्रश्न होता है कि अव्यवहारी शिष्यों के नामों का उल्लेख क्यों नहीं किया? इस प्रश्न के समाधान में ऐसी संभावना की जा सकती है कि अव्यवहारी शिष्य आठ से अधिक हो सकते हैं इसलिए उनको प्रतीक के माध्यम से समझाया है। दूसरी बात है कि गलती के रूप में किसी के नाम का उल्लेख करना अव्यवहारिक प्रतीत होता है इसलिए भी संभवतः भाष्यकार ने शिष्यों के नामों का उल्लेख नहीं किया हो।

अव्यवहारी शिष्यों के आठ दोष इस प्रकार हैं[2]—

१. कांकटुक—जैसे कोरडू धान्य अग्नि पर पकाने पर भी नहीं पकता, वैसे ही जिसका व्यवहार दुश्छेद्य होता है, सिद्ध नहीं होता।

२. कुणप—जैसे शव का मांस धोने पर भी पवित्र नहीं होता, वैसे ही जिसका व्यवहार निर्मल नहीं होता।

३. पक्व—पक्व फल की भांति जिस व्यक्ति का व्यवहार स्थिर नहीं रहता, गिर जाता है। जैसे चाणक्य के संन्यास लेने पर चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी स्थिर नहीं रही, गिर गई। पक्व का दूसरा अर्थ करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि वह इस प्रकार संभाषण करता है, जिससे दूसरे सद्वादी भी मौन हो जाते हैं। पंचकल्पचूर्णि में पक्व का अर्थ इस प्रकार किया है—भैंस पानी पीने के लिए तालाब में उतरती है, वह सारे पानी को गुदला देती है। उसी प्रकार पक्व भी व्यवहार को मलिन बना देता है।[3]

४. उत्तर—छलपूर्वक उत्तर देने वाला। वह प्रतिसेवी के साथ दुर्व्यवहार करता है और गीतार्थ मुनि द्वारा उपालम्भ देने पर उन्हें छलपूर्वक उत्तर देता है। जैसे एक व्यक्ति ने दूसरे पर लात से प्रहार किया, पूछने पर वह कहता है कि मैंने पैरों से प्रहार नहीं किया, जूते पहने पैर ने प्रहार किया था।

---

१. भआ ४५०-५३।
२. व्यभा १६९४-१७०२।
३. पंकचू (अप्रकाशित); पक्को जहा महिसो पाणीए ओइण्णो, एवं सो वि महिसो विव आडुयालं करेइ।

५. चार्वाक—जो निष्फल प्रयत्न करता है और बार-बार उसी का चर्वण करता है, उसका व्यवहार चार्वाक तुल्य होता है।

६. बधिर—बधिर की भांति कहता रहता है कि मैंने प्रतिसेवना सुनी ही नहीं।

७. गुंठ—माया से व्यवहार की समाप्ति करने वाला।

८. अम्ल—तीखे वचन बोलकर व्यवहार करने वाला। पंचकल्पचूर्णि[1] में इसका अर्थ अंधा व्यवहार किया है लेकिन यहां 'अंब व्यवहार' पाठ होना चाहिए, जिसका अर्थ है खट्टा—दिल फट जाए ऐसा व्यवहार करने वाला।

इन आठ प्रकार के दोषों से युक्त आठ अव्यवहारी शिष्य थे। तगरा नगरी के आचार्य के जो आठ व्यवहारी शिष्य थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. पुष्यमित्र २. वीर ३. शिवकोष्ठक ४. आर्यास ५. अर्हन्नक ६. धर्मान्वग ६. स्कंदिल ७. गोपेन्द्रदत्त। ये अपने युग में प्रधान व्यवहारच्छेदक अर्थात् प्रायश्चित्तदाता माने जाते थे। अन्यान्य राज्यों में भी उनके व्यवहार की छाप थी। कोई उनके व्यवहार को चुनौती नहीं दे सकता था।[2]

**प्रायश्चित्त**

जैन परम्परा में निर्जरा के बारह भेदों में प्रायश्चित्त अंतरंग तप के अन्तर्गत है।[3] प्रायश्चित्त शब्द के प्राकृत में दो रूप बनते हैं—पायच्छित्त और पच्छित्त। भाष्यकार ने इन दोनों प्राकृत रूपों की निरुक्तपरक व्याख्या की है। जो पूर्वकृत पाप को नष्ट करता है, वह पायच्छित्त—प्रायश्चित्त है अथवा जो प्रायः चित का विशोधन करता है, वह पच्छित्त—प्रायश्चित्त है।[4] आवश्यकचूर्णि के अनुसार असत्य आचरण को स्मरण करके पश्चात्ताप करना प्रायश्चित्त है।[5] आचार्य कुंदकुंद ने निश्चय नय के आधार पर प्रायश्चित्त को परिभाषित किया है। उनके अनुसार व्रत, समिति, शील और इंद्रिय-संयम का जो परिणाम है, वह प्रायश्चित्त है। क्रोध आदि भावों को क्षय करने की भावना तथा निज गुणों का चिन्तन करना निश्चय प्रायश्चित्त है, यह निरन्तर करणीय है।[6] हेमाद्रि कोश के अनुसार तप के निश्चय से युक्त होना प्रायश्चित्त है।[7] यह परिभाषा जैन आचार में प्रयुक्त प्रायश्चित्त की संवादी है। अनगारधर्मामृत की परिभाषा प्रायश्चित्त

---

१. पंकचू (अप्रकाशित); अंबिलसमाणो नाम अंधं ववहारं करेइ।

२. व्यभा १७०५-०७।

३. स्था ६/६६, मूला ३६१; पायच्छित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।

४. जीभा ५।

५. आवचू २ पृ. २५१; चिती संज्ञाने प्रायशः वितथमाचरित-मर्थमनुस्मरतीति वा प्रायश्चित्तम्।

६. निसा ११३, ११४;
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो।।
कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो।।

७. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश आप्टे पृ. ६६६;
प्रायो नाम तपः प्रोक्तं, चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयोगात्, प्रायश्चित्तमितीर्यते।।

के प्रयोजन को भी प्रकट कर रही है। उसके अनुसार आवश्यक योग न करने पर तथा वर्जनीय का त्याग न करने पर जो अतिचार दोष लगता है, उसकी शुद्धि जिससे होती है, वह प्रायश्चित्त है।[1] तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी के अनुसार प्राय: का अर्थ अपराध और चित्त का अर्थ शोधन करने से प्रायश्चित्त का अर्थ होगा अपराध का शोधन।[2] प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त का निम्न निरुक्त भी मिलता है—प्र+अय और चिति—इन तीन शब्दों के योग से प्रायश्चित्त की निष्पत्ति होती है—प्र अर्थात् विनष्ट, अय अर्थात् शुभ-विधि तथा चिति अर्थात् संचय—जो शुभ विधि नष्ट हो गई है, उसे पुन: प्राप्त करना प्रायश्चित्त है।[3] इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ राजवार्तिक[4], सर्वार्थसिद्धि[5], नियमसार[6], भगवती आराधना की टीका[7] आदि अनेक ग्रंथों में प्रायश्चित्त के निरुक्त एवं परिभाषाएं मिलती हैं।

जीतकल्पभाष्य में व्यवहार, आरोपणा, शोधि और प्रायश्चित्त को एकार्थक माना है।[8] छेदपिण्ड में छेद, मलहरण, पापनाशन, शोधि, पुण्य, पवित्र और पावन—इन शब्दों को एकार्थक माना है।[9] मूलाचार में पुराणकर्मक्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धोवण, पुंछण, उत्क्षेपण और छेदन—इनको प्रायश्चित्त का एकार्थक माना है।[10]

जो साधु अपनी ज्ञान स्वरूप आत्मा का बार-बार चिन्तन करता है, विकथा आदि प्रमादों से विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट प्रायश्चित्त होता है।[11] कार्तिकेय अनुप्रेक्षा के अनुसार केवल मुख से कहने मात्र से प्रायश्चित्त नहीं होता, गुरु के द्वारा जो भी प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ है, उसे पूर्ण श्रद्धा से पालन तथा मुझे कम या ज्यादा प्रायश्चित्त मिला है, इस प्रकार की शंका न करके पुन: उस दोष की पुनरावृत्ति नहीं करने वाले का प्रायश्चित्त सार्थक होता है।[12] साधु को प्राप्त प्रायश्चित्त का वहन चारित्र की विशुद्धि के लिए करना चाहिए,

---

१. अनध ७/३४ ; यत्कृत्याकरणे कर्ज्याऽवर्जने च रजोऽर्जितम्।
सोऽतिचारोऽत्र तच्छुद्धि: प्रायश्चित्तं.....।

२. त ९/२२ भाटी पृ. २५४ ; प्राय: शब्देन वाऽपराधोऽभिधीयते। तेनालोचनादिना सूत्रविहितेन सोऽपराधो विशुद्ध्यति .....अस्माच्च हेतो: प्रायश्चित्तम्।

३. प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन पृ. ६७।

४. तवा ९/२२ पृ. ६२०; तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषवर्जितमालोचनम्।

५. ससि ९/२० पृ. ३३६; प्रमाददोषपरिहार: प्रायश्चित्तम्।

६. निसा ११३ विटी पृ. २२९ ; प्राय: प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्।

७. भआ ५३१ विटी पृ. ३९०;
प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म, प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।

८. जीभा १८४४।

९. छेदपिण्ड ३ ;
पायच्छित्तं छेदो, मलहरणं पावणासणं सोही।
पुण्ण पवित्तं पावणमिदि पायच्छित्तणामाइं।।

१०. मूला ३६३;
पोराणकम्मखवणं, खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंच्छणमुछिवण छिदणं ति पायच्छित्तस्स णामाइं।।

११. काअ ४५५;
जो चिंतइ अप्पाणं, णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकहा-विरत्त-चित्तो, पायच्छित्तं वरं तस्स।।

१२. काअ ४५३, ४५४।

न कि उसे राजदण्ड की भांति भारभूत मानना चाहिए।

मनुस्मृति के अनुसार अनजान में किए गए पापों का शमन वेदों के अध्ययन और चिन्तन-मनन से हो सकता है लेकिन जानबूझकर राग-द्वेष से किए गए पापों के शमन का एक मात्र उपाय प्रायश्चित्त है।[1] याज्ञवल्क्य ऋषि मानते हैं कि जानबूझकर किए गए पापों का नाश नहीं होता लेकिन प्रायश्चित्त कर लेने से पाप करने वाला अन्य लोगों के साथ रहने योग्य हो जाता है।[2]

दिगम्बर परम्परा में छेदपिण्ड, छेदशास्त्र, प्रायश्चित्त-संग्रह, यतिजीतकल्प, जीतकल्पसार तथा आचार दिनकर आदि ग्रंथ प्रायश्चित्त से सम्बन्धित हैं। बौद्ध परम्परा में विनयपिटक के पातिमोक्ख में प्रायश्चित्त का वर्णन मिलता है। वैदिक परम्परा में स्मृतिसाहित्य एवं श्रोत्रसूत्रों में प्रायश्चित्त का प्रचुर वर्णन मिलता है। गौतमधर्मसूत्र तथा वशिष्ठधर्मसूत्र के अनेक अध्याय प्रायश्चित्त से सम्बद्ध हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के दूसरे अध्याय का नाम ही प्रायश्चित्त है। इसके अतिरिक्त प्रायश्चित्तसार, प्रायश्चित्तविवेक आदि ग्रंथ भी प्रायश्चित्त से सम्बन्धित हैं। जैन आचार्यों ने जहां साधु के अपराध से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का विधान किया है, वहां वैदिक परम्परा में गृहस्थ एवं राजधर्म से सम्बद्ध प्रायश्चित्तों का अधिक वर्णन है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने नीतिशास्त्र में दण्ड सिद्धान्त के बारे में गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है, जो छेदसूत्रों में वर्णित प्रायश्चित्त-विधि से तुलनीय है।

**प्रायश्चित्त क्यों?**

प्रतिषिद्ध का आचरण करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।[3] गुरु के द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त का पालन अपराध की परम्परा को समाप्त करने के लिए आवश्यक है।[4] प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि साधना के पथ पर आगे बढ़ने वाले आत्मानुशासी साधु के लिए प्रायश्चित्त का विधान क्यों? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रायश्चित्त के अभाव में चारित्र नहीं होता, चारित्र के अभाव में तीर्थ की स्थिति नहीं रहती, निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती तथा निर्वाण के अभाव में दीक्षा निरर्थक हो जाती है अतः चारित्र से भी अधिक महत्त्व प्रायश्चित्त का है।[5] पाप करने के पश्चात् उसका अनुताप और प्रायश्चित्त कर लेने पर पाप वैसे ही छूटता जाता है, जैसे सांप से केंचुली। पाराशरस्मृति के अनुसार पाप लगने पर जब तक प्रायश्चित्त न हो, तब तक भोजन नहीं करना चाहिए।[6]

---

१. मनु ११/४६;
अकामतः कृतं पापं, वेदाभ्यासेन शुद्धयति।
कामतस्तु कृतं मोहात्, प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः।।

२. याज्ञ ३/२२६;
प्रायश्चित्तैरपैत्येनो, यदज्ञानकृतं भवेत्।
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते।।

३. व्यभा ५२; पडिसेवियम्मि दिज्जति, पच्छित्तं इहरहा उ पडिसेहे।

४. पंव ४६५।

५. जीभा ३१५, ३१६।

६. पारा ८/४।

प्रायश्चित्त के द्वारा अपरिणामक और अतिपरिणामक मुनियों के मन में यह विश्वास पैदा किया जाता है कि प्रायश्चित्त के द्वारा संघ में विशुद्धि कराई जाती है तथा शेष मुनियों के मन में प्रतिसेवना के प्रति भय पैदा किया जाता है।[1] प्रायश्चित्त प्रमादबहुल जीवों के चारित्र की रक्षा के लिए अंकुश के समान है।[2] तत्त्वार्थवार्तिक में प्रायश्चित्त करने के अनेक प्रयोजनों का निर्देश किया गया है—

१. प्रमाद जनित दोषों का निराकरण।
२. मानसिक भावों की प्रसन्नता।
३. शल्य रहित होना।
४. अनवस्था दोष का निवारण।
५. मर्यादा का पालन।
६. संयम की दृढ़ता।
७. आराधना।[3]

प्रकारान्तर से शब्दभेद के साथ अनगारधर्मामृत में प्रायश्चित्त के प्रयोजन निम्न बिन्दुओं में निर्दिष्ट हैं—

- प्रमाद दोष का विच्छेद।
- मर्यादाहीनता का परिहार।
- भावों की निर्मलता।
- शल्यरहित होना।
- अपराध करने की परम्परा को रोकना।
- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना।
- संयम में दृढ़ता।[4]

प्रायश्चित्त भाव-चिकित्सा का सशक्त माध्यम है। भाष्यकार के अनुसार प्रायश्चित्त औषध के समान है, जो राग जनित रोगों का उपशमन करता है।[5] यदि छोटे-छोटे अपराधों का प्रायश्चित्त नहीं किया जाता है तो वे बड़े अपराधों के कारण बन जाते हैं। इस संदर्भ में भाष्यकार ने चार उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

**१. संकरतृण**—एक किसान नाली से खेत में पानी दे रहा था। उसमें संकरतृण तिरछा अटक गया। उसको नहीं निकालने से उसके सहारे अन्यान्य तृण भी वहां अटक गए। इससे सारणि से आने वाला पानी रुक गया और खेत सूख गया।

**२. शकट**—शकट पर छोटे-छोटे पत्थर डाले गए। उन पत्थरों को हटाया नहीं गया। एक दिन उस पर बड़ा पत्थर रखा गया, इससे शकट टूट गया।

---

१. बृभा ६०३८;
तेसिं पच्चयहेउं, जे पेसविया सुयं व तं जेहिं।
भयहेउ संसगाण य, इमा उ आरोवणारयणा।।

२. निभा ६६७७ ;
पच्छित्तेण विसोही, पमायबहुलस्स होइ जीवस्स।
तेण तदंकुसभूतं, चरित्तिणो चरणरक्खट्ठा।।

३. तवा ९/२२ पृ. ६२० ; प्रमाददोषव्युदासः भावप्रसादो नैःशल्यम् अनवस्थावृत्तिः मर्यादाऽत्यागः संयमदार्ढ्य-माराधनामित्येवमादीनां सिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते।

४. अनध ७/३५, ३६, पृ. ५११।

५. निभा ६५०७।

३. **सर्षप**—एरण्ड मण्डप पर सरसों के दाने डाले गए। उनको नहीं हटाने से भार से आक्रान्त होकर वह मण्डप भग्न हो गया।

४. **वस्त्र**—साफ वस्त्र पर कर्दम बिंदु लगने पर उसे धोया नहीं गया। निरन्तर कर्दम बिंदु लगते रहने से एक दिन वह वस्त्र अत्यन्त मलिन होने से त्याज्य हो गया।

इन सब उदाहरणों की भांति जो दोष को अल्प समझकर प्रायश्चित्त नहीं लेता, उसका पूरा चारित्र नष्ट हो जाता है।[1] स्मृतिकार के अनुसार जो व्यक्ति पापकर्म में लिप्त रहकर प्रायश्चित्त नहीं करते, वे अत्यन्त भयंकर और कष्टमय नरकों में जाते हैं।[2] वशिष्ठ स्मृति के अनुसार प्रायश्चित्त करने वालों का इहलोक और परलोक—दोनों सुखद हो जाते हैं।[3] भविष्यत् पुराण आदि ग्रंथों में भी प्रायश्चित्त की महत्ता पर बहुत कुछ लिखा गया है।

यदि आचार्य दोष सेवन करने पर प्रायश्चित्त न दें तो संघ में अनवस्था दोष का प्रसंग आ जाता है। इस प्रसंग में भाष्यकार ने तिलहारक का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। एक बालक अपने गीले शरीर से तिल के ढ़ेर में घुस गया। उसके पूरे शरीर में तिल चिपक गए। मां ने उसे कुछ नहीं कहा। धीरे-धीरे वह चोरी करने में दक्ष हो गया। एक बार वह पकड़ा गया। राजपुरुषों ने उसकी मां के भी स्तन काट लिए क्योंकि वह मां के निवारित न करने पर चोर बना था। दूसरा बालक भी अपने शरीर के साथ तिल लेकर आया। उसकी मां ने उसे डांटा और तिल वापस ढ़ेर में डाल दिए। बालक चोरी की आदत से बच गया और मां को भी स्तन-छेद का कष्ट सहन नहीं करना पड़ा। इसी प्रकार आचार्य यदि प्रायश्चित्त दे देते हैं तो दोष का निवारण हो जाता है तथा अन्य शिष्य भी सावधान हो जाते हैं, अन्यथा दोषों की परम्परा चलती रहती है।[4]

जैन परम्परा के अनुसार अपराध चाहें जानबूझकर किया जाए या अज्ञानवश, उसका गुरु के समक्ष प्रायश्चित्त करना आवश्यक है लेकिन स्मृति-साहित्य में इस संदर्भ में दो परम्पराएं मिलती हैं। एक परम्परा के अनुसार ज्ञात या अज्ञात अवस्था में किए गए पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिए। दूसरी परम्परा के अनुसार केवल अजानकारी में हुए पापों का ही प्रायश्चित्त संभव है, जानबूझकर किए गए पाप का प्रायश्चित्त संभव नहीं है।

**प्रायश्चित्त के स्थान**

जितने स्खलना के स्थान हैं, उतने ही प्रायश्चित्त के स्थान हो सकते हैं। भाष्यकार के अनुसार बीस असमाधिस्थान, इक्कीस शबल दोष, बावीस परीषह और तीस मोहनीयस्थान—इन सब असंयम-स्थानों

---

१. व्यभा ५५५ मटी प. ३२, निभा ६६०१ चू पृ. ३७४।
२. याज्ञ ३/२२१।
३. वशि १/१-२।
४. जीभा ३०८, ३०९, व्यभा ४२०९, ४२१०।

का प्रयोग करने से प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। असंयम-स्थानों की राशि को उपमित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पल्योपम और सागरोपम में जितने बालाग्र होते हैं, उससे भी असंख्येय गुणा अधिक असंयम-स्थान हैं। प्रायश्चित्त-स्थान भी उतने ही हैं। कुछ आचार्यों की मान्यता के अनुसार उन बालाग्रों के परमाणु जितने खण्ड कर दिए जाएं, उतने असंयम-स्थान हैं।[1]

अप्रमत्त मुनि भी परीषहों को सहन न कर पाने से तथा इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष से अतिक्रमण करने पर प्रायश्चित्त के भागी हो जाते हैं। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार असंख्येय लोकाकाश प्रदेश परिमाण जीव के परिणाम होते हैं। जितने परिणाम होते हैं, उतने ही अपराधस्थान होते हैं। जितने अपराध स्थान हैं, उतने ही प्रायश्चित्त-स्थान होने चाहिए लेकिन ऐसा संभव नहीं होता।[2] व्यवहार नय की दृष्टि से दोषों की लघुता और गुरुता के आधार पर इन सबका समावेश आलोचना आदि दश प्रायश्चित्त-स्थानों में हो जाता है।

मनुस्मृति[3] और याज्ञवल्क्य[4] स्मृति के अनुसार शास्त्रोक्त कर्म न करने पर, शास्त्र-निषिद्ध हिंसा आदि निंदित कर्म करने पर तथा इंद्रियों में अत्यन्त आसक्त होने पर व्यक्ति प्रायश्चित्त का भागी बनता है।

गौतमधर्मसूत्र में प्रायश्चित्त करने के निम्न निमित्त बताए गए हैं—अयोग्य व्यक्तियों के लिए यज्ञ करने पर, लहसुन आदि अभक्ष्य पदार्थ खाने पर, असत्य या अश्लील भाषण करने पर, विहित सन्ध्योपासन आदि कर्म न करने पर तथा हिंसा आदि निषिद्ध कर्म करने पर।[5] इन स्थानों में भी कुछ ब्रह्मवादी मानते हैं कि प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि पृथ्वी के अंदर बोया बीज फलित होता है तथा भूमि में रखी गई निधि समाप्त नहीं होती, वैसे ही पापकर्म कम नहीं होते लेकिन कुछ मानते हैं कि प्रायश्चित्त करना चाहिए।[6]

**प्रायश्चित्त-प्राप्ति के प्रकार**

पंचकल्पभाष्य में प्रायश्चित्त-प्राप्ति के आधार पर उसके दो भेद किए हैं—औधिक और नैश्चयिक। स्वस्थान से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह औधिक प्रायश्चित्त है, जैसे—मारक प्रहार करने पर

---

१. व्यभा ४०१ मटी प. ७९;
असमाहीठाणा खलु, सबला य परीसहा य मोहम्मि।
पलितोवम-सागरोवम, परमाणु ततो असंखेज्जा।।

२. तवा ९/२२ पृ. ६२२।

३. मनु ११/४४ ;
अकुर्वन्विहितं कर्म, निंदितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु, प्रायश्चित्तीयते नरः।।

४. याज्ञ ३/२१९;
विहितस्याननुष्ठानान्निंदितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां, नरः पतनमृच्छति।।

५. गौतम ९/१/२ पृ. १९८।

६. गौतम ९/१/३-६ पृ. १९९, २००; तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसान्ते न कुर्यादित्याहुः। न हि कर्म क्षीयते। कुर्यादित्यपरम्।।

अनवस्थाप्य आदि। अर्थ से विमर्श करके जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह नैश्चयिक प्रायश्चित्त है। यह विमर्श छह पदों से किया जाता है—१. किसको? २. कैसे? ३. कहां? ४. कब? ५. किसमें ६. कितने काल तक। इन पदों में अर्थ से विमर्श करके प्रायश्चित्त दिया जाता है—

- प्रथम पद में गीतार्थ अथवा अगीतार्थ किसने प्रतिसेवना की है, यह विमर्श होता है।
- दूसरे पद में यतना से प्रतिसेवना की अथवा अयतना से, यह चिन्तन होता है।
- तृतीय पद में मार्ग में प्रतिसेवना की या नगर में? यह विमर्श होता है।
- चौथे पद में प्रतिसेवना सुभिक्ष में हुई या दुर्भिक्ष में अथवा रात में हुई या दिन में, यह विमर्श होता है।
- पांचवें पद में प्रतिसेवना सकारण हुई या निष्कारण अथवा किस प्रकार के पुरुष से हुई, आचार्य से अथवा सामान्य साधु से? यह विमर्श होता है।
- छठे 'केच्चिर' पद में कितनी बार प्रतिसेवना हुई तथा कितने समय तक अतिचार सेवन किया, इसका विमर्श होता है।

इन छह पदों से चिन्तन करके प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह शुद्ध होता है। परिस्थिति समझे बिना राग-द्वेष पूर्वक दिया जाने वाला प्रायश्चित्त अशुद्ध होता है।[1]

**प्रायश्चित्त की स्थिति कब तक?**

कुछ आचार्यों का अभिमत है कि आगमव्यवहारी का विच्छेद होने से प्रायश्चित्तदाता का अभाव हो गया अत: प्रायश्चित्त न रहने से शुद्ध चारित्र भी विद्यमान नहीं है। वर्तमान में संघ ज्ञान और दर्शनमय रह गया है। चारित्र के निर्यापकों का विच्छेद हो गया है। इस प्रश्न का समाधान भाष्य में अनेक हेतुओं से दिया गया है।[2] भाष्यकार के अनुसार सब प्रायश्चित्तों का विधान प्रत्याख्यान प्रवाद नामक नौवें पूर्व में है। वहीं से निशीथ, कल्प और व्यवहार का निर्यूहण हुआ है[3] अत: वर्तमान में चारित्र के प्रवर्तक, प्रायश्चित्त के प्रज्ञापक तथा प्रायश्चित्त-वाहक सभी विद्यमान हैं।[4] जब तक षट्काय संयम है, तब तक सामायिक और छेदोपस्थापनीय—ये दो चारित्र रहेंगे। चारित्र की विद्यमानता में प्रायश्चित्त का अस्तित्व अनिवार्य है।[5]

भाष्यकार के अनुसार चतुर्दशपूर्वी और प्रथम संहनन का विच्छेद होने के बाद तीर्थ में अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—इन अंतिम दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद हो गया।[6] प्रथम आठ प्रायश्चित्त तीर्थ की अवस्थिति तक रहेंगे, अंतिम दु:प्रसभ आचार्य के कालगत होने पर तीर्थ और चारित्र का भी विच्छेद हो

---

१. पंकभा १८५०-५४।
२. जीभा २६८-८०, ३११-१९, व्यभा १५२८-३९।
३. जीभा २६५।
४. जीभा २६५-६८, व्यभा ४१७४, ४१७५।
५. जीभा ३१७।
६. जीभा २७७।

जायेगा।[१] जो छेदसूत्र के अर्थधर आचार्य होते हैं, वे आज्ञा और धारणा से व्यवहार करते हैं। आज भी छेद सूत्रों के सूत्र एवं अर्थ को धारण करने वाले मुनि हैं अत: व्यवहार चतुष्क का व्यवच्छेद चतुर्दशपूर्वी के साथ मानना युक्तिसंगत नहीं है। जब तक तीर्थ का अस्तित्व रहेगा, तब तक इन चारों का अस्तित्व रहेगा।

**प्रायश्चित्त के भेद**

सामान्य रूप से जैन परम्परा में दश प्रायश्चित्त प्रसिद्ध हैं लेकिन विवक्षा भेद से अलग-अलग भेद भी मिलते हैं—एक[२] दो[३] तीन[४] चार[५] छह[६] सात[७] आठ[८] नौ[९] और दस।[१०] सामान्यतया प्रायश्चित्त के दश भेद इस प्रकार हैं —१. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. तदुभय ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थाप्य १०. पाराञ्चित। तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी में दश और बीस प्रकार के प्रायश्चित्त आर्ष आगम में उल्लिखित हैं, ऐसा निर्देश है।[११] बीस प्रकार के प्रायश्चित्त कौन से थे, वह परम्परा आज प्राप्त नहीं है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में प्रायश्चित्त के नौ भेद स्वीकृत किए हैं। वहां मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—इन तीन प्रायश्चित्तों के स्थान पर परिहार, उपस्थापना—इन दो प्रायश्चित्तों का उल्लेख

---

१. जीभा २६७, व्यभा ४१७४।

२. पंचकल्पभाष्य में असंयम को एकविध प्रायश्चित्त माना है। (पंकभा १४३)

३. राग और द्वेष (पंकभा १४३)।

४. ठाणं सूत्र में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। (स्था ३/४४४-४७) अत: प्रायश्चित्त के तीन भेद किए हैं—ज्ञान प्रायश्चित्त, दर्शन प्रायश्चित्त, चारित्र प्रायश्चित्त। (स्था ३/४७०, पंकभा १३७) पंचकल्पभाष्य में आहार, उपधि और शय्या को त्रिविध प्रायश्चित्त के रूप में स्वीकार किया है। (पंकभा १३८) प्रकारान्तर से प्रायश्चित्त के तीन भेदों में आलोचना, प्रतिक्रमण और तदुभय का उल्लेख भी मिलता है। (स्था ३/४४८, पंकभा १३९) प्रायश्चित्त के त्रिविध भेद में भाष्यकार ने सचित्त, अचित्त और मिश्र—इन तीनों को भी स्वीकार किया है। (पंकभा १३९)

५. चौथे स्थान में प्रायश्चित्त के चार प्रकार हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के द्वारा चित्त की शुद्धि और पाप का नाश होता है इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके इन तीनों को प्रायश्चित्त माना है तथा चौथा प्रायश्चित्त है—व्यक्तकृत्य। इसका तात्पर्य है कि गीतार्थ मुनि जागरूकतापूर्वक जो कार्य करता है, वह पापविशुद्धिकारक होता है इसलिए वह प्रायश्चित्त है। (स्था ४/१३२) पंचकल्पभाष्य में चार भेदों में प्रायश्चित्त के चार विकल्प प्रस्तुत हैं—
   १. ज्ञानवान्त, दर्शनवान्त, चारित्रवान्त और त्यक्तकृत्य।
   २. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।
   ३. अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार।
   ४. क्रोध, मान, माया, लोभ। (पंकभा १३६, १३७)

६. प्रायश्चित्त के छह भेदों में आलोचना से तप पर्यन्त का समाहार किया गया है। (स्था ६/१९, पंकभा १४१)

७. प्रायश्चित्त के सात भेदों में आलोचना से छेद पर्यन्त सात भेद स्वीकृत किए गए हैं। (पंकभा १४१)

८. आलोचना से मूल तक आठ प्रायश्चित्त स्वीकृत किए हैं। (स्था ८/२०, ) छेद के देशछेद और सर्वछेद—ये दो भेद करने से अष्टविध प्रायश्चित्त होते हैं। मूल आदि का सर्वछेद में समाहार हो जाता है। (पंकभा १४१)

९. आलोचना से अनवस्थाप्य तक नौ प्रायश्चित्त स्वीकृत किए हैं। (स्था ९/४२) पंचकल्पभाष्य में सर्वछेद के दो भेद—संयम की उपस्थापना और मूल करने पर प्रायश्चित्त के नौ भेद होते हैं। (पंकभा १४२)

१०. इसी में कुछ समय के लिए क्षेत्र से बाहर करना—यह जोड़ने पर प्रायश्चित्त के दश भेद होते हैं। (पंकभा १४२)।

११. त ९/२२ भाटी २ पृ. २५३ ; आर्षे तु दशधा विंशतिधा वाभिहितं प्रायश्चित्तम्।

है।[1] इनमें मूल के स्थान पर उपस्थापना तथा अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—इन दोनों का परिहार में समावेश हो सकता है क्योंकि दोनों प्रायश्चित्तों में परिहार तप किया जाता है। धवलाकार ने भी इन दोनों का समावेश परिहार में किया है।[2]

मूलाचार में अनवस्थाप्य के स्थान पर परिहार तथा पाराञ्चित के स्थान पर श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त का उल्लेख है। धवला में भी श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त का उल्लेख है किन्तु प्रायश्चित्त के रूप में इसकी स्वीकृति गहन विमर्श की अपेक्षा रखता है।

अपराध देश या सर्व जैसा होता है, उसी के आधार पर प्रतिसेवक को प्रायश्चित्त मिलता है। पणग से लेकर छेद प्रायश्चित्त तक देशभंग तथा मूल से ऊपर पाराञ्चित तक के प्रायश्चित्त सर्वभंग के अन्तर्गत आते हैं।[3]

ग्रंथकार ने प्रायश्चित्त के सभी भेदों के आगे अर्ह शब्द का प्रयोग किया है। प्रायश्चित्तार्ह शब्द प्रायश्चित्त दाता, प्रतिसेवक और प्रायश्चित्त—इन तीनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। जो जिस प्रायश्चित्त के योग्य हो, उसे द्रव्य, क्षेत्र आदि के आधार पर प्रायश्चित्त देने वाला प्रायश्चित्तार्ह अथवा जो प्रायश्चित्त के योग्य हो, (प्रतिसेवक) वह भी प्रायश्चित्तार्ह अथवा किस अपराध के लिए कौन सा प्रायश्चित्त उपयुक्त है, वह भी प्रायश्चित्तार्ह शब्द का वाचक है।

बौद्ध परम्परा में आठ प्रकार के प्रायश्चित्तों का उल्लेख मिलता है—१. पाराजिक २. संघादिशेष ३. नैसर्गिक ४. पाचित्तिय ५. अनियत ६. प्रतिदेशनीय ७. सेखिय ८. अधिकरण समय।[4] इन सब प्रायश्चित्तों का विनयपिटक में विस्तार से वर्णन मिलता है। मनुस्मृति में पापमुक्ति के पांच स्थान निर्दिष्ट हैं—१. पाप को प्रकट करना, २. पश्चात्ताप, ३. तपश्चरण, ४. वेदाध्ययन, ५. दान।[5] उन्होंने जप को भी पाप-प्रक्षालन का हेतु माना है।[6] गौतमधर्मसूत्र तथा वशिष्ठधर्मसूत्र में जप, तप, यज्ञ, उपवास एवं दान को पाप-मुक्ति का उपाय बताया है।[7] अंगिराऋषि के अनुसार पाप का अनुताप और प्राणायाम—ये दो पापमुक्ति के साधन हैं।[8]

---

१. त ९/२२।

२. षट्ध पु. १३, ५/४/२६ पृ. ६२ ; परिहारो दुविहो अणवट्ठओ पारंचिओ चेदि।

३. पंकभा १३२, १३३;
पडिसेवगस्स होती, देसब्भंगो य सव्वभंगो य।
अवराहे केरिसए, देसे सव्वे वि सो होति।।
पणगादी जा छेदो, एसो खलु होति देसभंगो तु।
मूलादिउवरिमेसुं, णायव्वो सव्वभंगो तु।।

४. जैन बौद्ध भा. २ पृ. ३८२।

५. मनु ११/२२७;
ख्यापनेनानुतापेन, तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्, तथा दानेन चापदि।।

६. मनु ११/२५१-५३।

७. गौतम ९/१/११ पृ. २०१; तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम्।

८. प्रायश्चित्त विवेक पर उद्धृत अंगिरा व्याख्या पृ. ३०।

**अपराध के आधार पर प्रायश्चित्त के भेद**

अपराध के आधार पर व्यवहारभाष्य में प्रायश्चित्त के चार भेद मिलते हैं—

**१. प्रतिसेवना**—निषिद्ध आचार का समाचरण। व्यवहारभाष्य में प्रतिसेवना को ही प्रायश्चित्त कहा गया है। इसका हेतु बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि प्रतिसेवना होने पर ही प्रायश्चित्त दिया जाता है, अन्यथा प्रायश्चित्त का निषेध है।[1]

**२. संयोजना**—शय्यातर, राजपिण्ड आदि भिन्न अतिचार जन्य प्रायश्चित्तों की संकलना।

**३. आरोपणा**—एक दोष से प्राप्त प्रायश्चित्त में दूसरे दोष के प्रायश्चित्त का आरोपण करना।

**४. प्रतिकुञ्चना**—माया से बड़े दोष को भी छोटे दोष के रूप में बताना।[2]

जीतकल्पभाष्य में केवल प्रतिसेवना का वर्णन है अतः आगे भूमिका में केवल प्रतिसेवना का वर्णन किया जाएगा। संयोजना आदि का विस्तार व्यवहारभाष्य में द्रष्टव्य है।

**प्रायश्चित्त-प्रस्तार**

प्रस्तार का अर्थ है—रचना या स्थापना। यदि कोई साधु अप्रमत्त और निर्दोष साधु के ऊपर दोषारोपण करता है तो वह पाप से भारी होकर स्वयं उस प्रायश्चित्त का भागी होता है। भाष्यकार ने चार प्रकार के प्रस्तारों का उल्लेख किया है—१. ज्योतिष प्रस्तार २. छंद प्रस्तार ३. गणित प्रस्तार और ४. प्रायश्चित्त प्रस्तार।[3] प्रायश्चित्त प्रस्तार के छह भेद किए हैं—१. प्राणवधवाक् २. मृषावादवाक् ३. अदत्तादानवाक् ४. अविरतिकावाक् (अब्रह्मचर्यवाद) ५. अपुरुष—नपुंसकवाक् ६. दासवाक्।[4] यहां प्रायश्चित्त-प्रस्तार का तात्पर्य यही होना चाहिए कि यदि साधु वाणी के द्वारा अभ्याख्यान लगाकर बार-बार उसका समर्थक करता है, गृहस्थों से पूछने की बात कहता है तो उसके प्रायश्चित्त का विस्तार होता चला जाता है। भाष्यकार ने इन सबको अनेक दृष्टान्तों से समझाया है। यहां नपुंसकवाक् का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

अवमरात्निक के सामाचारी आदि विषय में स्खलित होने पर रत्नाधिक मुनि के द्वारा बार-बार प्रेरित किए जाने पर अवमरात्निक मन में सोचता है कि मैं भी इसके साथ ऐसा व्यवहार करूंगा, जिससे यह अवम हो जाए अथवा प्रायश्चित्त का भागी हो जाए। अप्रमत्तता के कारण प्रयत्न करने पर भी वह रात्निक का कोई छिद्र नहीं देख पाता। वह मन में सोचता है कि मैं इसे नपुंसक सिद्ध करूंगा। यह सोचकर वह

---

१. व्यभा ५२; पडिसेवणच्चिय पच्छित्तं.....।
२. व्यभा ३६; पडिसेवणा य संजोयणा य आरोवणा य बोधव्वा।
पलिउंचणा चउत्थी, पायच्छित्तं चउद्धा उ॥
३. बृभा ६१३०; सो जोतिस छंद गणित पच्छित्ते।
४. बृभा ६१३३।

आचार्य के पास जाता है तो लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। गुरु के पास जाकर दोषारोपण लगाता है तो गुरुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। उसकी बात सुनकर आचार्य उस रत्नाधिक मुनि को बुलाकर इस संदर्भ में उससे पूछते हैं और आलोचना करने को कहते हैं, उस समय वह कहता है कि मुझ पर झूठा आरोप है तो उस अवमरात्निक को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, यदि अवमरात्निक कहता है कि मुझे इसके ज्ञातिजनों ने कहा है, ऐसा कहने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त। गृहस्थों से पूछने का कहने पर यदि साधु गृहस्थों से पूछते हैं तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त, यदि गृहस्थ निषेध करते हैं कि यह नपुंसक नहीं है तो उस अवम को षड्गुरु प्रायश्चित्त, अन्य साधुओं द्वारा नपुंसक का प्रतिषेध करने पर छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इतना होने पर भी वह अपनी बात का समर्थन करते हुए यह कहता है कि ये गृहस्थ असत्य बोलते हैं तो उस अवमरात्निक को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। 'तुम दोनों—साधु और गृहस्थ आपस में मिले हुए हो', ऐसा कहने पर उस अवमरात्निक साधु को अनवस्थाप्य तथा 'तुम सब प्रवचन के बाहर हो', ऐसा कहने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। यहां एक छोटी सी घटना में केवल वाणी के असत् प्रयोग करने से प्रायश्चित्त का विस्तार होता गया अत: भाष्यकार ने इसे प्रायश्चित्त-प्रस्तार के रूप में व्याख्यायित किया है। इसी प्रकार प्राणातिपातवाक् आदि के दृष्टान्त भी ज्ञातव्य हैं।

इस घटना प्रसंग में यदि अवमरात्निक एक बार दोषारोपण लगाकर फिर उसका समर्थन नहीं करता है तो उसकी प्रायश्चित्त-वृद्धि नहीं होती। रत्नाधिक भी यदि रुष्ट नहीं होता है तो उसको प्रायश्चित्त की प्राप्ति नहीं होती। यदि अवमरात्निक आग्रहवश बार-बार अपनी बात का समर्थन करता है और रत्नाधिक बार-बार रुष्ट होता है तो प्रायश्चित्त में वृद्धि होती जाती है।[1]

**प्रायश्चित्त वाहक**

प्रायश्चित्त वहन के आधार पर प्रायश्चित्त वाहक के दो भेद हैं—निर्गत और वर्तमान। जो छेद आदि अंतिम चार प्रायश्चित्तों का वहन करते हैं, वे निर्गत तथा तप पर्यन्त प्रथम छह प्रायश्चित्तों में स्थित हैं, वे वर्तमान कहलाते हैं। इनके दो भेद मिलते हैं—संचयित और असंचयित।[2] छह मास तक का प्रायश्चित्त वहन करने वाले संचयित तथा इससे अधिक प्रायश्चित्त को वहन करने वाले असंचयित कहलाते हैं।[3]

**प्रायश्चित्त के लाभ**

रात्रि का सघन अंधकार सूर्य की एक किरण से समाप्त हो जाता है, वैसे ही प्रायश्चित्त से आत्मा

---

१. इस सारे प्रसंग के विस्तार हेतु देखें बृभा ६१२९-६२, टी पृ. १६२०-२७

२. व्यभा ४७२।

३. इनके भेद-प्रभेद एवं विस्तार हेतु देखें व्यभा ४७२-७८ मटी प. १-३।

का सघन अंधकार क्षणभर में विलीन हो जाता है। प्रायश्चित्त बंधन नहीं अपितु पाप-मुक्ति का सशक्त उपाय है। उत्तराध्ययन सूत्र में प्रायश्चित्त के लाभों का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि इससे जीव पाप कर्मों की विशोधि करता है। वह जीव अतिचार जन्य मलिनता से रहित हो जाता है। सम्यक् प्रायश्चित्त करने से जीव मार्ग—सम्यक्त्व तथा उसके फल—सम्यग्ज्ञान को विशुद्ध कर लेता है तथा आचार—चारित्र और उसके फल—मोक्ष की आराधना करता है।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार प्रायश्चित्त करने से व्यक्ति निर्मल अंत:करण वाला तथा मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त कर लेता है।[2]

महानिशीथ के अनुसार जैसे उपचार के अभाव में सर्प खाए व्यक्ति के न चाहने पर भी उसका विष आगे से आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही जब तक व्यक्ति प्रायश्चित्त नहीं करता, उसका पाप बढ़ता जाता है। ग्रीष्मऋतु में सुस्वादु शीतल जल भीतर की गर्मी को उपशांत कर देता है, वैसे ही प्रायश्चित्त आत्मप्रदेशों की उत्तप्तता को शान्त कर देता है। बड़े से बड़ा पाप करके भी प्रायश्चित्त कर लेने वाला व्यक्ति अपने परलोक को सुधार लेता है।

**स्थविरकल्पी और जिनकल्पी के प्रायश्चित्त में अंतर**

स्थविरकल्पी की अपेक्षा जिनकल्पी की साधना अधिक ऊंची होती है। जिनकल्पी के लिए अपवाद-सेवन का कोई विकल्प नहीं होता। स्थविरकल्पी को दश प्रायश्चित्त तथा जिनकल्पी को प्रारम्भ के आठ प्रायश्चित्तों की प्राप्ति होती है।[3] दोष-सेवन के चार स्तरों—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार में स्थविरकल्पी को प्रारम्भिक तीन के लिए तप प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता, केवल मिथ्यादुष्कृत करने मात्र से उसके पाप की शुद्धि हो जाती है। जैसे कोई स्थविरकल्पी मुनि आधाकर्म आहार का निमंत्रण प्राप्त करके प्रस्थान कर देता है तथा उस आहार को ग्रहण कर लेता है तो वह उसको परिष्ठापित करके शुद्ध हो जाता है। उसे खाने पर अनाचार दोष होता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है लेकिन जिनकल्पी को अतिक्रम आदि चारों पदों में प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्राय: जिनकल्पी चारों पदों का सेवन नहीं करते[4] जिनकल्पी को अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार में गुरुमास तथा अनाचार में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[5] स्थविरकल्पी यदि मन से अगुप्त या असमित है तो भी उसे तप प्रायश्चित्त नहीं आता लेकिन जो जिनकल्पी हैं, वे यदि मन से भी अगुप्त या असमित होते हैं तो उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[6]

**प्रायश्चित्तों के प्रतीकाक्षर**

प्राचीन हस्तप्रतियों में प्रायश्चित्त सम्बन्धी कुछ संक्षिप्त सांकेतिक संज्ञाओं का प्रयोग भी किया

१. उ २९/१७।
२. याज्ञ ३/२२०।
३. जीभा २८७।
४. व्यभा ४३४, निभा ६४९७, ६४९९ चू पृ. ३३८।
५. व्यभा ४४ मटी. प. १८।
६. व्यभा ६१ मटी प. २४।

गया है। इसका सबसे अधिक प्रयोग निशीथ भाष्य एवं उसकी चूर्णि में किया गया है। उदाहरणार्थ कुछ प्रायश्चित्त एवं उनके प्रतीक इस प्रकार हैं—

- चतुर्लघु — ङ्क
- चतुर्गुरु — ङ्का
- षड्लघु — फ्रुं
- शुद्ध — सु
- लघुमास — ०
- गुरु — द्वी या गु
- लघु — द्वि या ल

दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि में प्रायश्चित्त के प्रतीकाक्षर और प्रतीक अंक भी मिलते हैं।[1]

**निर्ग्रन्थ और संयत में प्रायश्चित्त**

आचार-विशुद्धि की तरतमता के आधार पर जैन परम्परा में निर्ग्रन्थ के पांच भेद मिलते हैं— १. पुलाक २. बकुश ३. कुशील ४. निर्ग्रन्थ ५. स्नातक।[2] भाष्यकार ने निर्ग्रन्थों में पाए जाने वाले प्रायश्चित्तों का उल्लेख किया है—

पुलाक निर्ग्रन्थ को तप प्रायश्चित्त तक प्रथम छह प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।[3] बकुश एवं प्रतिसेवना कुशील में स्थविरकल्पी को दश तथा जिनकल्पिक को आठ प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।[4] निर्ग्रन्थ के लिए आलोचना एवं विवेक—इन दो प्रायश्चित्तों का विधान है। स्नातक के लिए केवल विवेक प्रायश्चित्त विहित है।[5]

चारित्र के आधार पर प्रायश्चित्तों की योजना इस प्रकार है[6]—

सामायिक चारित्र वाले स्थविरकल्पी को छेद और मूल छोड़कर आठ प्रायश्चित्त दिए जाते हैं। जिनकल्पिक सामायिक संयमी को तप पर्यन्त छह प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं। छेदोपस्थापनीय में स्थित स्थविरकल्पी के लिए दस प्रायश्चित्त तथा जिनकल्पी के लिए मूल पर्यन्त आठ प्रायश्चित्तों का विधान है। परिहारविशुद्ध स्थविरकल्पी के लिए प्रथम आठ तथा परिहारविशुद्ध जिनकल्पी के लिए प्रथम छह प्रायश्चित्तों का विधान है। सूक्ष्मसंपराय तथा यथाख्यातसंयत के लिए आलोचना तथा विवेक—ये दो प्रायश्चित्त विहित हैं।

जब तक तीर्थ का अस्तित्व है, तब तक निर्ग्रन्थों में बकुश एवं प्रतिसेवना कुशील तथा संयतों में इत्वरिक सामायिक संयत एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र—इनका अस्तित्व रहेगा।[7]

---

१. दशअचू पृ. २५०-५२।
२. जीभा २८१, व्यभा ४१८४।
३. जीभा २८२, व्यभा ४१८५।
४. जीभा २८३, व्यभा ४१८६।
५. जीभा २८४, व्यभा ४१८७।
६. जीभा २८६-८९, व्यभा ४१८९-९२।
७. जीभा २९०, व्यभा ४१९३।

**प्रायश्चित्त-दान में सापेक्षता एवं तरतमता**

प्रायश्चित्त-दान में सापेक्षता का होना अत्यन्त अनिवार्य है। निरपेक्षता प्रायश्चित्त को विकलांग बना देती है। जैन आचार्यों ने प्रायश्चित्त-दान के प्रतिपादन में अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग किया है। एस. बी. ड्यू के अनुसार जैनों की प्रायश्चित्त-विधि प्रजातान्त्रिक स्वरूप को लिए हुए है। इसमें लचीलापन भी है।[1] सापेक्षता और निरपेक्षता को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने सापेक्ष और निरपेक्ष धनिक और धारणक का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। निर्धन को उधार दिया हुआ धन यदि प्राप्त नहीं होता है तो सापेक्ष धनिक कुछ समय प्रतीक्षा करता है, वह उससे दूसरा काम करवाकर अपने धन को उपाय से प्राप्त कर लेता है लेकिन निरपेक्ष धनिक स्वयं, धन तथा धारणक—तीनों की हानि कर देता है। सापेक्ष प्रतिसेवक प्राप्त सारे प्रायश्चित्त को सहजता से स्वीकार कर लेता है लेकिन निरपेक्ष प्रतिसेवक को यदि परिस्थिति समझे बिना प्रायश्चित्त दिया जाता है तो वह उससे विमुख होकर साधु वेश को छोड़ देता है। एक-एक के जाने से तीर्थ की हानि होती है। सापेक्ष आचार्य चारित्र की रक्षा और तीर्थ की अविच्छिन्न परम्परा चलाने में समर्थ होते हैं। वे शिष्य के प्रति सापेक्ष होकर सामर्थ्य के अनुसार प्रायश्चित्त वहन की अनुमति देते हैं। वे प्रतिसेवक के सम्मुख प्रायश्चित्त के अनेक विकल्प प्रस्तुत करके इच्छानुसार विकल्प ग्रहण करने की बात कहते हैं, जिससे प्रतिसेवक सहजता से प्रायश्चित्त का वहन कर सके। प्रायश्चित्तवाही मुनि के प्रति आचार्य की इस अनुकम्पा से वह शिष्य संयम में स्थिर रह जाता है।[2]

जैसे जौहरी गुणहीन बड़े रत्न का कम तथा गुणयुक्त छोटे रत्न का भी बहुत बड़ा मूल्य आंकता है अथवा बड़ी काचमणि का काकिणी जितना तथा छोटे से वज्ररत्न का भी एक लाख मुद्रा का मूल्य समझता है, वैसे ही आलोचनार्ह राग-द्वेष के अपचय और उपचय के आधार पर कम या अधिक प्रायश्चित्त देते हैं।[3] व्यवहारभाष्य में इसी तथ्य को जलकुम्भ और वस्त्र की चतुर्भंगी से समझाया गया है[4]—

- एक वस्त्र एक जलकुम्भ से स्वच्छ होता है।
- एक वस्त्र अनेक जलकुम्भों से स्वच्छ होता है।
- अनेक वस्त्र एक जलकुम्भ से स्वच्छ होते हैं।
- अनेक वस्त्र अनेक जलकुम्भों से स्वच्छ होते हैं।

जैसे मल की वृद्धि-होने से जलकुटों की वृद्धि होती जाती है, वैसे ही प्रायश्चित्तदाता अपराध एवं राग-द्वेष की वृद्धि-हानि के आधार पर प्रायश्चित्त देते हैं। जैसे छह घड़ों से साफ होने वाले वस्त्रों की धुलाई

---

१. Jain monastic juris prudence p. 25।
२. जीभा २९२-३०३।
३. जीभा ११८-२०।
४. व्यभा ५०५-०८।

घर में ही कर दी जाती है, अधिक मैले वस्त्र को नदी के तट पर जाकर नाना प्रयत्नों से साफ किया जाता है, वैसे ही छेद प्रायश्चित्त तक साधुत्व अवस्था में ही शुद्धि का उपक्रम होता है। बाद के प्रायश्चित्तों में साधुत्व से बाहर जाकर पुनः उपस्थापना दी जाती है। पंचकल्पभाष्य में इसके लिए संवासी और प्रवासी शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

समान अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त-दान में दारुण स्वभाव वाले को अधिक तथा भद्र स्वभाव वाले को कम प्रायश्चित्त मिलता है।[2] इस विषमता का हेतु पक्षपात नहीं, अपितु विवेक है। भाष्यकार कहते हैं कि इंद्रिय विषयों की प्राप्ति समान होने पर भी एक व्यक्ति उनसे विरक्त होता है और दूसरा आसक्त अतः इंद्रियों के विषय प्रधान नहीं, प्रधान है अध्यात्म और मनोभाव। प्रायश्चित्त-प्राप्ति में भी राग और द्वेष प्रमाण बनते हैं, इंद्रियों के अर्थ नहीं इसीलिए समान रूप से विषय-सेवन करने पर भी एक व्यक्ति महान् प्रायश्चित्त का भागी होता है, दूसरा अल्प।[3] इसी प्रकार गलती की पुनरावृत्ति में भी प्रायश्चित्त-दान में अंतर आ जाता है। एक साधु मासिक प्रतिसेवना जितना अतिचार सेवन करके पुनः प्रतिसेवना न करने का संकल्प कर लेता है तो मासिक प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि हो जाती है लेकिन जो मुनि बार-बार प्रतिसेवना करता है उसे मासिक प्रतिसेवना जितने अतिचार के लिए मूल और छेद प्रायश्चित्त भी प्राप्त हो सकता है।[4]

सापेक्ष आचार्य इस तथ्य को जानता है कि केवल अपराध प्रायश्चित्त की तुला नहीं हो सकता। वे जानते हैं कि प्रायश्चित्त देने में शारीरिक सामर्थ्य और मानसिक धृति भी निमित्त बनती है। इनके आधार पर कठोर या मृदु प्रायश्चित्त दिया जाता है। भाष्यकार ने इस बात को भी दृष्टान्त से स्पष्ट किया है कि समान रूप से रोग होने पर भी जो व्यक्ति शरीर से बलवान् है, उसे वमन-विरेचन आदि कर्कश क्रियाएं करवाई जा सकती हैं किन्तु जो शरीर से दुर्बल है, उसे मृदु क्रिया द्वारा स्वास्थ्य-लाभ करवाया जाता है। इसी प्रकार धृति और संहनन से युक्त को पूरा प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। इन दोनों से हीन को कम या प्रायश्चित्त से मुक्त भी किया जा सकता है।[5] उदाहरणार्थ किसी प्रतिसेवी को पांच उपवास, पांच आयम्बिल, पांच एकासन, पांच पुरिमार्ध और पांच निर्विगय—ये पांच कल्याणक प्रायश्चित्त स्वरूप प्राप्त हुए हों तो सापेक्ष आचार्य उस प्रतिसेवक मुनि की स्थिति देखकर नानाविध विकल्प प्रस्तुत करते हैं और सामर्थ्य के अनुसार प्रायश्चित्त वहन करने की बात कहते हैं। पांच कल्याणकों को वहन करने में असमर्थ मुनि को चार, तीन, दो और एक कल्याणक प्रायश्चित्त वहन करने को कहते हैं। वह न कर सकने पर एक निर्विगय

---

१. पंकभा १९४५, १९४६।
२. व्यभा ४०२६, मटी प. ३०; तुल्येऽप्यपराधे दारुणानामन्यत् प्रायश्चित्तमन्यत् भद्रकाणाम्।
३. व्यभा १०२८, १०२९ मटी प. १५।
४. व्यभा ३३९।
५. व्यभा ५४४, ५४५।

करने की बात कहते हैं। इस उपक्रम से मुनि की विशोधि हो जाती है और वह संयम में स्थिर हो जाता है। उपाय के अभाव में प्रतिसेवी विशोधि को भूलकर और अधिक कलुषित हो जाता है।[1] कुछ भी प्रायश्चित्त न देने पर भी अनवस्था दोष होता है।

दुर्बल को कम और बलिष्ठ को अधिक प्रायश्चित्त देने पर तर्क उपस्थित हो सकता है कि निर्बल के प्रति आचार्य का राग और बलिष्ठ के प्रति द्वेष है। इस तर्क का समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि जैसे नवोदित अग्नि शीघ्र ही बुझ जाती है, वैसे ही दुर्बल व्यक्ति को अधिक प्रायश्चित्त देने से उसका धृतिबल और संहनन टूट जाता है लेकिन बड़े काष्ठ की प्रज्वलित अग्नि अन्य काष्ठों को भी जला देती है अत: धृति और संहनन से बलिष्ठ व्यक्ति बड़े से बड़े प्रायश्चित्त को वहन कर सकता है। इसी प्रकार दुर्बल को अधिक प्रायश्चित्त देने पर वह टूट जाता है और बलिष्ठ को कम प्रायश्चित्त देने पर उसकी शुद्धि नहीं होती।[2]

यदि आचार्य दोष के अनुरूप प्रायश्चित्त न देकर कम प्रायश्चित्त देते हैं तो भी प्रतिसेवक की शोधि नहीं होती। इस संदर्भ में भाष्यकार ने राजकन्याओं का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। राजा की कन्याएं गवाक्ष आदि का अवलोकन करती थीं, अंत:पुर पालक उनका निवारण नहीं करता था। एक बार वे किसी धूर्त के साथ भाग गईं। इसी प्रकार दूसरे अंत:पुर पालक ने जैसे ही कन्या को गवाक्ष में देखा, उसे उपालम्भ देकर उसका निवारण किया। यह देखकर शेष कन्याओं के मन में भी भय उत्पन्न हो गया। राजा ने उस अंत:पुर पालक को सम्मानित किया।[3]

गीतार्थ और अगीतार्थ को प्रायश्चित्त देने में भी आचार्य को सापेक्षता का प्रयोग करना पड़ता है। इस संदर्भ में भाष्यकार ने वणिक् और मरुक का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वणिक् और मरुक बीस-बीस शकटों पर माल लेकर चले। सबमें समान वजन था। शुल्कपाल ने प्रत्येक शकट का बीसवां हिस्सा शुल्क मांगा। वणिक् ने तत्काल चतुराई से एक शकट उसको दे दिया लेकिन मरुक ने प्रत्येक शकट से बीसवां हिस्सा दिया। गीतार्थ साधु वणिक् के समान होता है, वह स्थापना आरोपणा के बिना ही प्रायश्चित्त स्वीकार कर लेता है लेकिन अगीतार्थ मरुक के समान होता है, उसे स्थापना आरोपणा के विधान से प्रायश्चित्त दिया जाता है, तभी उसे विश्वास होता है कि मेरी शुद्धि हुई है।[4]

अध्यवसाय भेद से भी प्रायश्चित्त में तरतमता हो जाती है। जो अपराध करके अनुताप करता है पश्चात्ताप करता हुआ मन ही मन दु:खी होता है, उसके अनुताप से प्रायश्चित्त भी कम हो जाता है। जो

---

१. जीभा ३०४-०७, व्यभा ४२०५-०८।
२. व्यभा ४९४।
३. व्यभा ६६६-६९।
४. व्यभा ४५३-५७।

जिनप्रज्ञप्त भावों पर श्रद्धा न करता हुआ दोष-सेवन करके निधि-प्राप्ति की भांति पुलकित होता है, उसका प्रायश्चित्त बढ़ता चला जाता है।[१]

श्रमण के आधार पर भी प्रायश्चित्त-दान में तरतमता आ जाती है। पार्श्वस्थ को जिस अपराध पद में जितना प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, उसी अपराधपद में यथाच्छंद का प्रायश्चित्त वृद्धिंगत हो जाता है। जैसे पार्श्वस्थ को लघुमास तो यथाच्छंद को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। पार्श्वस्थ को चतुर्लघु तो यथाच्छंद को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आचार्य मलयगिरि ने यथाच्छंद की प्रायश्चित्त-वृद्धि के ये कारण बताए हैं—आगम विरुद्ध आचरण और अधिक दोषयुक्त कुमत की प्ररूपणा।[२]

वैदिक परम्परा में भी सापेक्षता से दण्ड देने का विधान है। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार पुरुष की शारीरिक शक्ति, अपराध और अपराध की पुनरावृत्ति का ज्ञान करके दण्ड देना चाहिए।[३] मनुस्मृति में भी इसी तथ्य की स्वीकृति है।[४]

**प्रतिसेवना**

प्रतिसेवना का अर्थ है—दोष का आचरण। प्रतिसेवना को परिहारस्थान भी कहा जाता है क्योंकि प्रतिसेवना परिहार करने योग्य होती है। ओघनिर्युक्ति में प्रतिसेवना के निम्न एकार्थक मिलते हैं—मलिनता, भंग, विराधना, स्खलना, उपघात, अशोधि और शबलीकरण।[५] बिना कारण अकुशल परिणामों से की गई प्रतिसेवना अशुद्ध तथा प्रायश्चित्तार्ह होती है। सालम्बन एवं कुशल परिणामों से की गई प्रतिसेवना शुद्ध होती है।[६]

**प्रतिसेवना के भेद**

जीतकल्प सूत्र में प्रतिसेवना करने के चार कारणों का उल्लेख मिलता है। कारण में कार्य का उपचार करके वहां प्रतिसेवना के चार भेद मिलते हैं[७]—

१. आकुट्टिका[८]—जानते हुए हिंसा आदि करना।

---

१. व्यभा ५१५, ५१६।
२. व्यभा ८७५ मटी प. ११६।
३. गौतम २/३/४८ पृ. १३०; पुरुषशक्त्यपराधानुबन्धविज्ञाना -दण्डनियोगः।
४. मनु ११/२०९ ; शक्तिं चावेक्ष्य पापं च, प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्।
५. ओनि ७८८;
पडिसेवणा मइलणा, भंगो य विराहणा य खलणा य।
उवघाओ य असोही, सबलीकरणं च एगट्ठा।।
६. व्यभा ३९।
७. जी ७४।
८. निशीथ भाष्य में 'आकुट्टिका' के स्थान पर 'अनाभोग' शब्द का प्रयोग है। दोनों शब्दों में शाब्दिक अंतर भी है। अनाभोग का अर्थ है—अजानकारी अथवा विस्मृति से अतिचार सेवन करना। ईर्या आदि समिति में अत्यन्त विस्मृति से उपयुक्त न होने के कारण प्राणातिपात नहीं होता लेकिन उपयोगशून्यता के कारण प्रतिसेवना होती है। (निभा ९० चू. पृ. ४२)

२. दर्प—निष्कारण धावन, डेवन आदि करना। इसके दश भेदों की चर्चा आगे की जाएगी।

३. प्रमाद—कषाय, विकथा आदि प्रमाद से प्रतिसेवना करना।

४. कल्प—कारण उपस्थित होने पर अतिचार सेवन करना।[1] इसके चौबीस भेदों की व्याख्या आगे है।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के अनुसार दर्प प्रतिसेवना करने वाले के प्रायश्चित्त में एक स्थान की वृद्धि हो जाती है।[2] यदि प्रमाद प्रतिसेवना से निर्विगय से तेले तक का प्रायश्चित्त मिलता है तो दर्प प्रतिसेवना में पुरिमार्ध से चोले तक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3] आकुट्टिका प्रतिसेवना करने वाले को एकासन से लेकर पंचोले तक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि जानबूझकर प्राणातिपात आदि किया जाता है तो स्वस्थान में मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कल्प प्रतिसेवना होने पर मिथ्याकार—मिच्छामि दुक्कडं प्रतिक्रमण तथा तदुभय प्रायश्चित्त से शुद्धि हो जाती है।[4]

प्रकारान्तर से चारित्र की मलिनता और उसकी सम्पूर्ण समाप्ति के आधार पर प्रतिसेवना के दो भेद मिलते हैं—देशत्यागी और सर्वत्यागी। जिस अपराध से मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति नहीं होती, जो चारित्र के देशभाग को मलिन करती है, जिससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अंश बाकी रहता है तथा जिसमें उत्तरगुण से सम्बन्धित प्रतिसेवना की जाती है, वह देशत्यागी प्रतिसेवना है। इसके विपरीत जिससे मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, ज्ञान आदि का सम्पूर्ण नाश हो जाता है, सम्पूर्ण चारित्र मलिन या विनष्ट हो जाता है तथा जो मूलगुण से सम्बन्धित प्रतिसेवना होती है, वह सर्वत्यागी प्रतिसेवना कहलाती है।[5]

पंचकल्पभाष्य में 'प्रतिसेवना कल्प' के बारे में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें प्रतिसेवना कब शुद्ध और कब अशुद्ध होती है, इसका विशद विवेचन है।[6] मूलत: प्रतिसेवना के दो भेद हैं—दर्प एवं कल्प। ये दोनों प्रतिसेवनाएं दो-दो प्रकार की होती हैं—मूलगुण विषयक और उत्तरगुण विषयक। मूलगुण विषयक प्रतिसेवना प्राणातिपात आदि पांच प्रकार की तथा उत्तरगुण प्रतिसेवना पिण्डविशोधि आदि से सम्बन्धित होती हैं।[7]

### दर्प प्रतिसेवना

राग द्वेष के वशीभूत होकर निष्कारण दर्प से की जाने वाली दर्प प्रतिसेवना कहलाती है। निशीथभाष्य में इसे प्रमाद प्रतिसेवना भी कहा है।[8] निष्कारण प्रतिसेवना करने वाला साधु अगाध सागर में

---

१. निशीथभाष्यकार एवं चूर्णिकार ने इन चारों का समाहार दर्प और कल्प—इन दो प्रतिसेवनाओं में कर दिया गया है। (निचू १ पृ. ४२; तम्हा चउहा पडिसेवणा दुविहा भवति दप्पिया कप्पिया य।)

२. जी ७५।

३. जीभा २२६९, २२७०।

४. जी ७६, जीभा २२७१, २२७२।

५. निभा ४८१, ४८२, चू. पृ. १६१।

६. पंकभा २५३२-४८।

७. व्यभा ४१।

८. निभा ९१ ; दप्पो तु जो पमादो।

डूब जाता है।[1] इसके दश भेद हैं—

१. **दर्प**—बिना कारण व्यायाम, बाहुयुद्ध एवं धावन आदि करना।

२. **अकल्प्य उपभोग**—पूर्णतः अचित्त हुए बिना सचित्त ग्रहण करना अथवा अगीतार्थ द्वारा लाए गए अकल्प्य आहार का भोग करना।

३. **निरालम्ब**—ज्ञान आदि के आलम्बन बिना दोष सेवन करना अथवा अमुक साधु ने दोष सेवन किया है तो फिर मैं भी करूं तो क्या दोष है, ऐसा सोचकर दोष सेवन करना।

४. **त्यक्त**—असाध्य रोग में जिस अपवाद का सेवन किया, स्वस्थ होने पर भी उसी का प्रयोग करना।

५. **अप्रशस्त**—बल, वर्ण आदि की वृद्धि के लिए अशुद्ध भोजन का सेवन करना।

६. **विश्वस्त**—लोक् और लोकोत्तर के विरुद्ध अकृत्य का सेवन करते हुए भी परपक्ष तथा श्रावक आदि से लज्जित नहीं होना।

७. **अपरीक्ष्य**—संयम में लाभ-हानि का विमर्श किए बिना प्रतिसेवना करना।

८. **अकृतयोगी**—तीन बार एषणीय की गवेषणा किए बिना प्रथम बार या दूसरी बार में अनेषणीय ग्रहण करना।[2]

९. **अननुतापी**—दूसरों को परितापित करके अथवा पृथ्वीकाय आदि का संघट्टन, परितापन करके बाद में पश्चात्ताप नहीं करना।

१०. **निःशंक**—अकरणीय कार्य करते हुए इहलोक और परलोक कहीं से भी भय या शंका नहीं करके प्रतिसेवना करना।[3]

**कल्प प्रतिसेवना**

कुशल परिणामों से दर्शन, ज्ञान आदि की वृद्धि हेतु जो प्रतिसेवना की जाती है, वह कल्प प्रतिसेवना है।[4] इसे अप्रमाद प्रतिसेवना भी कहा जाता है। निशीथ भाष्य के अनुसार महामारी, दुर्भिक्ष, राजप्रद्वेष, भय, ग्लानत्व, भयानक अटवी, नगर-अवरोध आदि उपद्रवों की स्थिति में यतनापूर्वक यदि मूलगुण और उत्तरगुण विषयक प्रतिसेवना की जाए तो वह भी कल्प-प्रतिसेवना है।[5] गीतार्थ परिस्थिति

---

१. आवनि ७७५।

२. तीन बार एषणीय की एषणा करने पर भी यदि एषणीय की प्राप्ति न हो तो चौथी बार अनेषणीय ग्रहण किया जा सकता है।

३. जीभा ५८९-९९, विस्तार हेतु देखें निभा ४६३-७३ चू. पृ. १५७-५९।

४. चूर्णिकार के अनुसार कारण उपस्थित होने पर गीतार्थ, कृतयोगी और उपयुक्त साधु यतनापूर्वक जो प्रतिसेवना करता है, वह कल्प प्रतिसेवना है। (जीभा २२६७, जीचू पृ. २५; कप्पपडिसेवणा नाम कारणे गीयत्थो कडजोगी उवउत्तो जयणाए पडिसेवेज्जा।)

५. निभा ४५८ ;
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भये य गेलण्णे।
अद्धाणरोधए वा, कप्पिया तीसु वी जतणा।।

आने पर राग-द्वेष से मुक्त होकर कल्प प्रतिसेवना करता है अत: वह प्रायश्चित का भागी नहीं होता।[1] माया के साथ सालम्बन प्रतिसेवना करने पर चारित्र का भेद होता है।

व्यवहारभाष्य की पीठिका में आचार्य के संदर्भ में जो सालम्ब प्रतिसेवना की बात कही है, उसका संकेत कल्पिका प्रतिसेवना की ओर होना चाहिए। आचार्य के ग्लान होने पर वे इस आलम्बन से सावद्य चिकित्सा रूप प्रतिसेवना करते हैं कि स्वस्थ होकर मैं तीर्थ की परम्परा अविच्छिन्न रखूंगा, सूत्र और अर्थ का अध्ययन करूंगा, तपोपधान में उद्यम करूंगा तथा गण की नीति पूर्वक सारणा-वारणा करूंगा, इस प्रकार ऋजुता पूर्वक सालम्ब प्रतिसेवना करने वाला आचार्य मोक्ष को प्राप्त करता है।[2]

भाष्यकार के अनुसार कारण उपस्थित होने पर यद्यपि कल्प प्रतिसेवना अनुज्ञात है फिर भी सावद्य होने के कारण निश्चय नय में वह अकरणीय ही है। कारण उपस्थित होने पर लाभ-हानि का चिन्तन करने वाले वणिक् की भांति सोच समझकर अकरणीय प्रतिसेवना में प्रवृत्त होना चाहिए। भाष्यकार कहते हैं कि अनुज्ञात होने पर भी कल्पिका प्रतिसेवना का वर्जन करने में आज्ञाभंग का दोष नहीं है। कल्प प्रतिसेवना का प्रयोग न करने से दृढ़धर्मिता, बार-बार दोष-सेवन न होना तथा जीवों के प्रति करुणा आदि गुण प्रकट होते है अत: कल्पिका प्रतिसेवना का प्रयोग सहसा नहीं करना चाहिए।[3] जीतकल्पभाष्य तथा निशीथभाष्य में कल्पिका प्रतिसेवना के २४ भेद प्राप्त होते हैं—

१. दर्शन—दर्शन प्रभावक सिद्धिविनिश्चय तथा सन्मतितर्कप्रकरण आदि ग्रंथों को अधिगम करने हेतु की जाने वाली प्रतिसेवना।

२. ज्ञान—सूत्रार्थ को धारण करने में समर्थ न होने पर असंधरण की स्थिति में ज्ञान के निमित्त की जाने वाली प्रतिसेवना।

३. चारित्र—चारित्र के अन्तर्गत अनिर्वाह की स्थिति में एषणा एवं स्त्री सम्बन्धी दोष उत्पन्न होने वाले क्षेत्र में विहरण करते हुए होने वाली प्रतिसेवना।

४. तप—'आगे तप करूंगा' यह सोचकर घृत आदि का सेवन करना तथा विकृष्ट तप के पारणे में दोष सहित चावल की पेया आदि का सेवन करना।

५. प्रवचन—प्रवचन की प्रभावना एवं उसके रक्षार्थ गृहस्थ आदि को अभिवादन करना, जैसे—विष्णु

---

१. निभा ४८११, ४८१७ चू पृ. ५१०, ५११।

२. व्यभा १८३ ;
काहं अछित्तिं अदुवा अधीतं, तवोवधाणेसु य उज्जमिस्सं।
गणं व नीइए य सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेति मोक्खं।।

३. निभा ४५९, ४६०चू पृ. १५५, १५६ ;
कारणपडिसेवा वि य, सावज्जा णिच्छए अकरणिज्जा।
बहुसो विचारइत्ता, अधारणिज्जेसु अत्थेसु।।
जति वि य समणुण्णाता, तह वि य दोसो ण वज्जणे दिट्ठो।
दढधम्मता हु एवं, णाभिक्खणिसेवणिद्दयता।।

अनगार ने एक लाख योजन की विकुर्वणा की थी।[1]

६. समिति—आंख की ज्योति बिना मैं ईर्या की शुद्धि नहीं कर सकूंगा अत: आंख के उपचार हेतु सावद्य क्रिया करना। इसी प्रकार भाषा समिति और एषणा समिति आदि के बारे में जानना चाहिए।

७. गुप्ति—मन, वचन आदि की अगुप्ति होने पर मद्य आदि का सेवन करना।

८. साधर्मिक वात्सल्य—साधर्मिक वात्सल्य के लिए प्रतिसेवना करना।

९. कुल—कुल की रक्षा के लिए राजा आदि को वश में करने के लिए वशीकरण मंत्र आदि का प्रयोग करना।

१०. गण—गण की रक्षा के लिए निमित्त आदि का प्रयोग करना।

११. संघ—संघ की प्रभावना के लिए चूर्ण, योग आदि का प्रयोग करना।

१२-१६. आचार्य, असहिष्णु राजा, ग्लान, बाल और वृद्ध की समाधि हेतु पंचक यतना से वस्तु की याचना करना।

१७-२१. उदक-प्लावन, अग्नि, चोर, श्वापदभय—इन चारों की भयपूर्ण स्थिति में स्तम्भिनी विद्या का प्रयोग, पलायन तथा वृक्ष पर चढ़ना आदि करना।

२२. कान्तार—सघन अटवी में भक्त-पान के अभाव में प्रलम्ब आदि फल का सेवन करना।

२३. आपत्ति—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी आपदा में शुद्ध द्रव्य प्राप्त न होने पर की जाने वाली प्रतिसेवना करना।

२४. व्यसन—मद्यपान व्यसनी गायक के दीक्षित होने पर यतनापूर्वक मदिरा ग्रहण करना।[2]

**दर्पिका और कल्पिका प्रतिसेवना में भेद**

दर्प प्रतिसेवना राग-द्वेष से तथा निष्कारण की जाती है। इसका प्रतिसेवी विराधक होता है। कल्पिका प्रतिसेवना में राग-द्वेष का अभाव होता है, यह सप्रयोजन की जाती है तथा इसका प्रतिसेवी आराधक होता है।[3] अगीतार्थ कार्य-अकार्य अथवा यतना और अयतना को नहीं जानता हुआ जो प्रतिसेवना करता है, वह दर्प प्रतिसेवना है। यदि गीतार्थ भी दर्प प्रतिसेवना अथवा अयतना से कल्प प्रतिसेवना करता

---

१. विष्णु मुनि ने लक्षयोजन की विकुर्वणा की, वह उत्सेध अंगुल से की या प्रमाण अंगुल से, यह एक प्रश्न है। उत्तराध्ययन की टीका में उल्लेख मिलता है कि उन्होंने उत्सेध अंगुल प्रमाण से विकुर्वणा की। उन्होंने जम्बूद्वीप के मध्य लवण समुद्र की खातिका में पूर्व से पश्चिम तक अपने पैरों को रखा। बिना उत्सेध अंगुल के इस रूप में पैर रखना संभव नहीं था। विष्णु कुमार की कथा के विस्तार हेतु देखें राजेन्द्र अभि. भा. ५ पृ. ८८६, ८८७।

२. जीभा ६०१-१५, निभा ४८४-९३।

३. निभा ३६३ ;
रागद्दोसाणुगता तु, दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेणं।।

है तो वह प्रायश्चित्तभाक् होता है।[1] दर्प प्रतिसेवना प्रमादी के तथा कल्प प्रतिसेवना अप्रमादी के होती है।[2]

**मिश्र प्रतिसेवना**

निशीथभाष्य में मिश्र प्रतिसेवना का भी उल्लेख मिलता है। ज्ञान आदि का प्रशस्त आलम्बन लेकर जो सावद्य आचरण करता है किन्तु बाद में उसका पश्चात्ताप नहीं करता, वह मिश्र प्रतिसेवना है। इसमें सालम्बन पद शुद्ध तथा अननुताप पद अशुद्ध है। इसी प्रकार पश्चात्ताप युक्त प्रमाद प्रतिसेवना भी मिश्र प्रतिसेवना कहलाती है।[3] इसमें पश्चात्ताप पद शुद्ध तथा प्रमाद पद अशुद्ध है। इसके दश भेद हैं[4]—

१. दर्प—निष्कारण की जाने वाली प्रतिसेवना।

२. प्रमाद—प्रमाद से होने वाली प्रतिसेवना।

३. अनाभोग—विस्मृतिवश या अजानकारी में होने वाली प्रतिसेवना।

४. आतुर—ग्लान अवस्था में अथवा क्षुधा आदि से आतुर होने पर की जाने वाली प्रतिसेवना।

५. आपत्ति—द्रव्य, क्षेत्र आदि आपदा की स्थिति में शुद्ध द्रव्य न मिलने पर की जाने वाली प्रतिसेवना।

६. तिंतिण—पदार्थ की अप्राप्ति होने पर तिनतिनाहट करके की जाने वाली प्रतिसेवना।

७. सहसाकरण—सहसा अयतना से होने वाली प्रतिसेवना।

८. भय—राजा अथवा सिंह आदि के भय से की जाने वाली प्रतिसेवना।

९. प्रद्वेष—कषाय के वशीभूत होकर की जाने वाली प्रतिसेवना।

१०. विमर्श—शिष्यों की परीक्षा के निमित्त की जाने वाली प्रतिसेवना।[5]

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार इन दश प्रतिसेवनाओं में अनाभोग और सहसाकरण—ये दो भेद कल्पिका प्रतिसेवना के वाचक होने चाहिए क्योंकि अनाभोग में प्रमाद नहीं अपितु उपयोगशून्यता की स्थिति होती है तथा सहसाकरण में उपयुक्तता होने पर भी शारीरिक स्थिति नियंत्रित न होने से या दैहिक चंचलता की विवशता के कारण हिंसा आदि का समाचरण होता है।[6] स्थानांग और भगवती के इन भेदों को देखकर यह कल्पना की जा सकती है कि दर्प और कल्प प्रतिसेवना के भेदों की कल्पना उत्तरवर्ती आचार्यों

---

१. व्यभा १७१।

२. निभा ९१।

३. निभा ४७५ चू पृ. १६० ;
सालंबो सावज्जं, णिसेवते णाणुतप्पते पच्छा।
जं वा पमादसहिओ, एसा मीसा तु पडिसेवा।।

४. निभा ४७७-८०।

५. स्था १०/६९, भ २५/५५१, इन दोनों ग्रंथों में दर्प, प्रमाद आदि दस प्रकार प्रतिसेवना के भेद रूप में उल्लिखित हैं। वहां मिश्र प्रतिसेवना का उल्लेख नहीं है। स्थानांग में 'तिंतिण' के स्थान पर 'शंकित' शब्द का प्रयोग है तथा भगवती में 'तिंतिण' के स्थान पर 'संकिण्ण' शब्द का प्रयोग मिलता है।

६. स्था १०/६९ का टिप्पण पृ. ९७६, ९७७।

ने की है। आगम-साहित्य में प्रतिसेवना के दश भेद मिलते हैं। इनको निशीथ भाष्यकार ने मिश्र प्रतिसेवना के अन्तर्गत रखा, वह भी साधार है क्योंकि ये दसों प्रतिसेवनाएं परिस्थिति जन्य हैं। यदि इनका सेवन करके अनुताप होता है तो ये मिश्र प्रतिसेवना के अन्तर्गत आ सकती हैं।

पंचकल्पभाष्य में दस प्रकार के कल्पों का वर्णन है—१. कल्प २. प्रकल्प ३. विकल्प ४. संकल्प ५. उपकल्प ६. अनुकल्प ७. उत्कल्प ८. अकल्प ९. दुष्कल्प १०. सुकल्प। इनमें विकल्प, उत्कल्प, अकल्प और दुष्कल्प का प्रतिसेवना से सम्बन्ध है। संकल्प प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार का होता है अत: हेय संकल्प प्रतिसेवना के अन्तर्गत आता है।[1]

**प्रतिसेवना और कर्मबन्ध**

प्रतिसेवना होने पर भी कर्मबन्ध हो, यह आवश्यक नहीं है। कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना कर्मक्षय करने वाली होती है, जैसे संघीय प्रयोजन प्रस्तुत होने पर की जाने वाली प्रतिसेवना कर्मक्षय करने वाली तथा दर्प से अयतना पूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना कर्मबंध का हेतु बनती है।[2] भाष्यकार के अनुसार कर्मोदय से प्रतिसेवना होती है और प्रतिसेवना से कर्मबन्ध होता है अत: प्रतिसेवना और कर्म में बीज और अंकुर की भांति परस्पर हेतुहेतुमद् भाव का सम्बन्ध है।[3] ज्ञान और ज्ञानी की भांति प्रतिसेवक और प्रतिसेवना में एकत्व है।[4] प्रतिसेवक की शठता और अशठता के आधार पर कर्मबंध होता है। अकल्प्य का कल्प्य बुद्धि से सेवन करता हुआ साधु दोष का भागी नहीं होता क्योंकि वहां उसका भाव शठ नहीं है।[5] जिसे गुण-दोष का विवेक नहीं है, वह दोष को नहीं जानता हुआ अशठ भाव से प्रतिसेवना करता है अत: वह निर्दोष होता है, उसके कर्मबन्ध नहीं होता। अध्यवसाय की मलिनता के कारण प्रतिसेवना करता है तो उसे दोष लगता है और कर्मबन्ध होता है।

**गूढ़-पदों में प्रतिसेवना का कथन**

आज्ञा व्यवहार में जंघाबल से हीन आचार्य गूढ़-पदों में अपने अतिचारों को धारणा शक्ति से समर्थ परिणामक शिष्य के साथ गीतार्थ आचार्य के पास भेजते हैं। उस समय उनकी भाषा होती है प्रथम कार्य के प्रथम पद से प्रथम षट्क के प्रथम स्थान में प्रतिसेवना हुई है। इसका तात्पर्य है प्रथमकार्य—दर्पप्रतिसेवना में प्रथमपद—निष्कारण दर्प से प्रथम षट्क का प्रथम—प्राणातिपात विषयक प्रतिसेवना हुई है।[6] इससे

---

१. विस्तार हेतु देखें पंकभा १५१३-१६६७।
२. व्यभा २२५।
३. व्यभा २२६ ;
पडिसेवणा उ कम्मोदएण कम्ममवि तं निमित्तागं।
अण्णोण्णहेउसिद्धी, तेसि बीयंकुराणं च।।
४. व्यभा ४०।
५. व्यभा १७४, १७५।
६. जीभा ६१८।

दूरस्थ गीतार्थ आचार्य जान जाते थे कि दर्प प्रतिसेवना से प्राणातिपात सम्बन्धी प्रतिसेवना हुई है। इसी प्रकार द्वितीय कार्य कहने पर कल्पिका प्रतिसेवना से सम्बन्धित प्रतिसेवना हुई है। प्रथम पद कहने से दर्शन के निमित्त तथा प्रथम षट्क अर्थात् प्राणातिपात विषयक अतिचार हुआ है।[1] अपराध स्थान के तीन षट्क हैं—प्रथम षट्क (प्राणातिपात आदि), द्वितीय षट्क (पृथ्वीकाय-विराधना आदि), तृतीय षट्क[2] (अकल्प्य ग्रहण आदि)

दूरस्थ आलोचनाचार्य आलोचना सुनकर गूढ़-पदों में प्रायश्चित्त देते थे। प्रथम कार्य अर्थात् दर्प प्रतिसेवना के दश भेदों से सम्बन्धित आलोचना सुनकर आचार्य कहते थे—'नक्षत्र (मास) जितने प्रायश्चित्त से शुद्धि हो सके, उतनी व्रत की पीड़ा हुई है अतः तुम शुक्ल (लघु) मासिक तप करो,[3] जीतकल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य में इसका विस्तार से वर्णन प्राप्त है।

## आलोचना का स्वरूप एवं उसका महत्त्व

प्रायश्चित्त का प्रथम भेद है—आलोचना। आ उपसर्ग के साथ लोचृं—दर्शने धातु से आलोचना शब्द निष्पन्न हुआ है। आलोचना का अर्थ है—मर्यादापूर्वक शुद्ध हृदय से गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना।[4] निशीथ चूर्णिकार के अनुसार जैसे शिष्य स्वयं अपने दोषों को जानता है, उसी रूप में गुरु के समक्ष प्रकट करना आलोचना है।[5] आचार्य मलयगिरि के अनुसार अवश्यकरणीय कार्य करने के पहले तथा कार्य-समाप्ति के पश्चात् गुरु के समक्ष वाणी के द्वारा स्वयं के दोषों को प्रकट करना आलोचना है।[6] कुंदकुंद निश्चय नय के आचार्य हैं अतः उनका मंतव्य है कि अपनी आत्मा को समभाव में स्थित करके अपने आत्म-परिणामों को देखना आलोचना है।[7] मूलाराधना की टीका के अनुसार अपने अपराधों का गोपन न करने का संकल्प करना आलोचना है।[8]

ओघनिर्युक्ति में आलोचना, विकटना, शोधि, सद्भावदर्शन, निंदा, गर्हा, विकुट्टन, शल्योद्धरण, प्रकाशन, आख्यान और प्रादुष्करण—इन सबको एकार्थक माना है।[9] जीतकल्पभाष्य में व्यवहार, आलोचना,

---

१. जीभा ६३२।
२. जीभा ६३०।
३. जीभा ६३९।
४. जीभा ७१८।
५. निचू ४ पृ. २७१ ; आलोयणा णाम जहा अप्पणो जाणति, तहा परस्स पागडं करेति।
६. व्यभापीटी प. २१; आलोचना नाम अवश्यकरणीयस्य कार्यस्य पूर्वं वा कार्यसमाप्तेरूर्ध्वं वा यदि वा पूर्वमपि पश्चादपि च गुरोः पुरतो वचसा प्रकटीकरणं सा चालोचना।
७. निसा १०९;
जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह, परमजिणंदस्स उवएसं।।
८. मूला ६२१ टी पृ. ४५९।
९. ओनि ७९१;
आलोयणा वियडणा, सोही सब्भावदायणा चेव।
निंदण गरिह विउट्टण, सल्लुद्धरणं ति एगट्ठा।।

शोधि और प्रायश्चित्त को एकार्थक माना है।[1] उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका में आलोचन, विकटन, प्रकाशन, आख्यान और प्रादुष्करण—इन शब्दों को एकार्थक माना है।[2] तत्त्वार्थस्वोपज्ञभाष्य में विकटन के स्थान पर प्रकटन शब्द का प्रयोग है।[3] भाष्यानुसारिणी में आचार्य सिद्धसेन ने इन शब्दों को एकार्थक मानते हुए भी आलोचना की क्रमिक अवस्था के रूप में इनकी व्याख्या की है। मर्यादापूर्वक गुरु को निवेदन करना आलोचन, गुरु के समक्ष द्रव्य, क्षेत्र आदि के भेद से अतिचारों को कहना विवरण[4], गुरु के चित्त में सम्यक् रूप से अतिचारों का समारोपण करना प्रकाशन, मृदुचित्त से अपने दोष बताना आख्यान तथा उसके पश्चात् निंदा और गर्हा के द्वारा अपने अतिचारों को प्रकट करना प्रादुष्करण है।[5]

अतिचार, स्खलना एवं अपराध होने के अनेक स्थान हो सकते हैं, जैसे—सहसा, अज्ञानवश, भय, परप्रेरणा, आपदा, रोग—आतंक, मूढ़ता और राग-द्वेष आदि।[6] इन स्थानों से अतिचार होने पर आलोचना के द्वारा साधु अतीत के दोषों की स्वीकृति करके भविष्य में पुनः उस गलती को न दोहराने का संकल्प ग्रहण करता है।[7] आचारांग में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जो साधु अपनी गलती को स्वीकार नहीं करता, वह उसकी दोहरी मूढ़ता है। भाष्यकार के अनुसार साधु को मुहूर्त भर भी अतिचार शल्य को भीतर नहीं रखना चाहिए, अपराध होते ही तत्काल आलोचना करनी चाहिए।[8] तत्काल निवेदन न करने से पुनः-पुनः अपराध करने का साहस बढ़ता जाता है। विनय पिटक में भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य का समर्थन है। अपराध को तत्काल सूचित करने तथा कई दिनों तक छिपाकर प्रकट करने—इन दोनों स्थितियों में प्रायश्चित्त-दान में अंतर आ जाता है। आचार्य भिक्षु ने अपने साहित्य में इस तथ्य की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति दी है। यदि कोई साधु अधिक समय का अंतराल बिताकर आचार्य को दूसरे साधु के दोष बताता है तो वह स्वयं प्रायश्चित्त का भागी बन जाता है।

आगमों में अनेक ऐसे कथानक हैं, जहां धर्माचार्य, प्रवर्तनी आदि के द्वारा अकृत्य स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमण करने की प्रेरणा दी गई है। जैसे सुकुमालिका द्रौपदी[9] चुलनीपिता[10] आदि। आनंद के

---

१. जीभा १८४४।

२. उशांटी प ६०८ ; आलोचनं विकटनं प्रकाशनमाख्यानं प्रादुष्करणमित्यनर्थान्तरम्।

३. तस्वोभा ९/२२ ; आलोचनं प्रकटनं प्रकाशनमाख्यानं प्रादुष्करणमित्यनर्थान्तरम्।।

४. भाष्यानुसारिणी (९/२२) में प्रकटन के स्थान पर विवरण शब्द का प्रयोग है।

५. तभा ९/२२ टी पृ. २५० ; आलोचनं मर्यादनं मर्यादया गुरोर्निवेदनम्। पिण्डिताख्यानस्य विवरणं द्रव्यादिभेदेन। प्रकाशनं गुरोश्चेतसि सम्यगतीचारसमारोपणम्। आख्यानं प्रथमं मृदुना चेतसा। प्रादुष्करणं निन्दा-गर्हाद्वारेण, इति एवमनर्थान्तरम्—एकार्थत्वं परमार्थत इति।

६. जीभा १३४, व्यभा ४०५६।

७. व्यभा ४३००।

८. निभा ६३०९, व्यभा २२९;
तं न खमं खु पमातो, मुहुत्तमवि अच्छितुं ससल्लेणं।
आयरियपादमूले, गंतूण समुद्धरे सल्लं।।

९. ज्ञा १/१६/११५।

१०. उपा ३/४५, ४६।

अवधिज्ञान की विशालता पर शंका करने पर भगवान् महावीर ने गौतम गणधर को उस स्थान की आलोचना करके प्रायश्चित्त तप स्वीकार करने को कहा।[1]

शुद्ध हृदय से आलोचना करने वाला भार उतारे हुए भारवाहक की भांति स्वयं को हल्का अनुभव करता है।[2] निर्युक्तिकार के अनुसार लज्जा, गौरव और बहुश्रुतता के अभिमान के कारण जो मुनि गुरु के समक्ष अपने दोषों की आलोचना नहीं करता, वह आराधक नहीं हो सकता। उसका इहलोक और परलोक—दोनों बिगड़ जाते हैं।[3] आलोचना करने पर भी यदि गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त का पालन नहीं किया जाता तो वह बिना साफ किए धान्य की भांति महाफलदायक नहीं होता।[4]

जो साधु अपने अतिचार रूप शल्य का विशोधन नहीं करता, वह दु:ख और परिक्लेश को प्राप्त करता है, इस बात को व्यवहारभाष्यकार ने एक दृष्टान्त से समझाया है। एक शिकारी नंगे पैरों से जंगल में गया। उसके दोनों पैर कांटों से विद्ध हो गए। उसने न स्वयं कांटों को निकाला और न ही अपनी भार्या से निकलवाया। एक बार वह वन में गया। एक उन्मत्त हाथी ने उसका पीछा किया। शिकारी दौड़ने लगा लेकिन कांटों के कारण वह दौड़ नहीं सका। उसकी गति मंद हो गई। भय से मूर्च्छित होकर वह वहीं गिर गया। हाथी ने उसे रौंदकर मार डाला। दूसरा शिकारी भी जंगल में गया। उसके पैर में कांटे चुभे लेकिन उसने तत्काल उन कांटों को निकाला और शेष कांटों को अपनी पत्नी से निकलवाया। कांटों से विद्ध स्थानों को कर्णमैल और दंतमैल से भरा, जिससे वह पुन: स्वस्थ हो गया। हाथी ने उसे भी देखा लेकिन वह भागकर सुरक्षित घर लौट आया।[5] भगवती आराधना में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन है।[6] बत्तीस योग-संग्रह में प्रथम योग आलोचना है[7], आवश्यकनिर्युक्ति में दी गई अट्टन मल्ल और मात्स्यिक मल्ल की कथा इसी तथ्य को प्रकट करने वाली है।[8] महानिशीथ के प्रथम अध्याय शल्योद्धरण में विस्तार से प्रायश्चित्त और आलोचना का वर्णन किया गया है।

### आलोचना के प्रकार

आलोचना तीन प्रकार की होती है—

---

१. उपा १/७७-८१।

२. ओनि ८०६;
उद्धरियसव्वसल्लो, आलोइय-निंदिओ गुरुसगासे।
होइ अतिरेगलहुओ, ओहरियभरो व्व भारवहो।।

३. उनि २११;
लज्जाए गारवेण य, बहुस्सुयमएण वावि दुच्चरियं।
जे न कहंति गुरूणं, न हु ते आराहगा होंति।।

४. तवा ९/२२; कृतालोचनस्यापि गुरुदत्तप्रायश्चित्तम-कुर्वतोऽपरिकर्मसस्यवद् महाफलं न स्यात्।

५. व्यभा ६६२, ६६३।

६. भआ ५३८, ५३९।

७. सम ३२/१।

८. आवनि ८६९, हाटी प. ११७।

१. *विहार आलोचना*—*बल और वीर्य होने पर भी तप, उपधान आदि में उद्यम न करने की आलोचना तथा दैनिकचर्या की आलोचना।*

२. *उपसम्पदा आलोचना*—*उपसम्पदा के लिए उपस्थित मुनि के द्वारा की जाने वाली आलोचना। उपसम्पदा आलोचना प्रशस्त-अप्रशस्त दिन में अथवा रात में कभी भी की जा सकती है।*[1]

३. अपराध आलोचना—अतिचार या अतिक्रमण की विशुद्धि हेतु की जाने वाली आलोचना। अपराध आलोचना में प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और दिशा आदि का ध्यान रखा जाता है।[2] इन सबका वर्णन भूमिका में आगे किया जाएगा। तीनों प्रकार की उपसम्पदाएं दो-दो प्रकार की होती है—ओघ और विभाग। ओघ का अर्थ है— संक्षिप्त रूप में की जाने वाली आलोचना तथा विभाग[3] का तात्पर्य है—विस्तारपूर्वक की जाने वाली आलोचना। उपसम्पदा का जघन्य समय छहमास तथा मध्यम बारह वर्ष तथा उत्कृष्ट यावज्जीवन होता है।[4]

**ओघ विहार आलोचना**

कोई-मुनि एक दिन या पन्द्रह दिनों के भीतर कहीं से आया है, वह यदि निरतिचार साधु है तो ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करके भोजन-वेला में ओघ आलोचना करके भोजन-मंडलि में प्रवेश कर सकता है। यह ओघ आलोचना है, जो एक दिवसीय होती है तथा दिन में ही की जाती है।[5] इसी प्रकार मूलगुण और उत्तरगुण में अल्प विराधना होने पर तथा पार्श्वस्थ साधु को देने-लेने में अल्प विराधना होने पर ओघ आलोचना होती है।[6] भगवती आराधना के अनुसार अपरिमित तथा बहुत अपराध करने पर, सम्यक्त्व आदि का घात होने पर ओघ आलोचना होती है। यह मूल प्रायश्चित्त प्राप्त साधु के होती है।[7]

**विभाग विहार आलोचना**

पन्द्रह दिन से अधिक समय लगने पर भोजन-वेला के अतिरिक्त अन्य समय में समिति आदि की विशुद्धि के लिए विभाग आलोचना की जाती है।[8] दूसरे गण से संविग्न साधुओं में से कोई साधु अन्य गण में आता है तो उसे अवश्य विभागतः आलोचना दी जाती है।[9] जहां नियमतः पांच प्रकार की अथवा एक प्रकार की उपसम्पदा स्वीकार की जाती है, वहां निरतिचार होने पर भी विभागतः आलोचना देनी चाहिए।[10]

---

१. व्यभा २४६; दिव-रातो उवसंपय।
२. व्यभा २४६ ; अवराधे दिवसतो पसत्थम्मि।
३. भआ ५३५ ; दिगम्बर साहित्य में 'विभाग' के स्थान पर 'पदविभाग' शब्द का प्रयोग हुआ है लेकिन वहां दोनों के स्वरूप में काफी अंतर है।
४. निभा ५४५२।
५. निभा ६३१५।
६. जीभा ७७३, निभा ६३१६।
७. भआ ५३५, ५३६ विटी पृ. ३९२।
८. जीभा ७७४।
९. जीभा ७७८।
१०. जीभा ७८०।

एक गच्छ के समनोज्ञ, सांभोजिक और गीतार्थ साधु यदि एक दिन, पांच दिन, पक्ष या चातुर्मास में जहां भी आपस में मिलते हैं, वहां विभागतः विहार आलोचना देनी चाहिए।[1] विभाग आलोचना से पूर्व मंडलि में आहार नहीं किया जाता। अपवाद स्वरूप अग्नि-संभ्रम आदि कारण हो या सार्थ के साथ विहार हो, सार्थ जल्दी प्रस्थान करने वाला हो अथवा पात्र कम हों तो आगंतुक मुनि ओघ आलोचना करके एक साथ मंडलि में आहार करके तत्पश्चात् विभाग आलोचना कर सकता है।

अपराध बहुलता के कारण यह एक या अनेक दैवसिकी हो सकती है।[2] विहार विभाग आलोचना करने के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्य मानते हैं कि जब शिष्य और प्रतीच्छक भिक्षार्थ, विचारभूमि या अन्य कार्य से बाहर चले जाएं तो अकेले आचार्य के पास स्पर्धकपति (अग्रणी) आलोचना करता है लेकिन कुछ आचार्यों की यह मान्यता है कि स्पर्धकस्वामी को अपने साथ आए हुए साधुओं के समक्ष आलोचना करनी चाहिए, जिससे कुछ विस्मृत हुआ हो तो वे स्मृति दिला सकें।[3]

भगवती आराधना के अनुसार दीक्षा ली, तब से हुई प्रतिसेवना के क्रम से आलोचना करना पदविभागी आलोचना है।[4]

**विहार आलोचना का क्रम**

जिस गांव में उपाश्रय छोटा हो, वहां साधु भिन्न-भिन्न उपाश्रय में रहते हैं। उस समय अलग-अलग वसति में रहते हुए भी प्राभातिक और वैकालिक प्रतिक्रमण और आलोचना गुरु के पास की जाती है। यदि आचार्य का उपाश्रय दूर हो तो उद्घाट पौरुषी में आचार्य के पास जाकर आलोचना की जाती है। यदि गीतार्थ या गीतार्थ सहायक मुनि साथ न हो, प्रत्येक मुनि अलग-अलग आचार्य के पास जाकर आलोचना करते हैं तो आने-जाने में पौरुषी भंग होती है, उस स्थिति में गुरु स्वयं आलोचना देने उनके पास आते हैं। आचार्य यदि स्थविर हों, जंघाबल क्षीण हो तो अकृतश्रुत मुनि मध्याह्न में जाकर गुरु के पास आलोचना करते हैं। यदि उपाश्रय अत्यधिक दूर है तो आचार्य समनोज्ञ, धृतिमान् मध्यमवय से ऊपर वय वाले वृषभों को वहां भेजते हैं। यदि आचार्य का कोई नित्य सहायक नहीं है तो एक स्थान पर रात्रि-प्रवास करके आचार्य उनको अर्थ पौरुषी देकर मध्याह्न में दूसरे स्पर्धक मुनियों के पास जाकर आहार करते हैं। उनको प्रायश्चित्त देकर तीसरे स्पर्धक के पास आलोचना आदि देकर वहीं रह जाते हैं। इस प्रकार आचार्य एक दिन में तीन स्थानों पर स्पर्धकों की विशोधि करते हैं। किसी कारणवश आचार्य के आने की स्थिति न हो तो तीन दिन में आलोचना ली जाती है। यदि अगीतार्थ मुनि तीन पृथक्-पृथक् गांवों में हैं और आचार्य

१. जीभा ७८१, ७८२, व्यभा २३४।
२. निभा ६३१५।
३. व्यभा २३९।
४. भआ ५३७।

आलोचना आदि की दृष्टि से उनकी संभाल नहीं करते हैं तो उन्हें चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि साधु भी आचार्य के न आने पर उनकी गवेषणा नहीं करते तो उन्हें लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

तीन स्थानों पर मुनि रुके हुए हैं और आचार्य स्थविर हैं तो वे एक दिन में एक-एक स्पर्धक मुनियों के पास रहकर आलोचना देते हैं और यदि वे सर्वथा अक्षम हैं तो दूसरे स्पर्धकद्वय आचार्य के पास आकर आलोचना करते हैं। स्पर्धक मुनियों में जो मेधावी होता है, वह सभी साधुओं के अतिचारों/अपराधों को एकत्रित करके आचार्य के पास आलोचना ग्रहण करता है। यदि आचार्य अत्यधिक दूर हैं तो पांचवें दिन अथवा पाक्षिक अथवा मासिक अथवा डेढ़ मास से आचार्य के समक्ष आलोचना ग्रहण करते हैं।[1] यदि ऐसा भी संभव न हो तो चातुर्मासिक, वह भी संभव न हो तो सांवत्सरिक आलोचना की जाए। किसी कारण विशेष से ऐसा संभव न हो तो बारह वर्ष बीतने पर दूर से आकर भी विहार आलोचना अवश्य करनी चाहिए।[2]

आचार्य हरिभद्र ने इस सारे प्रसंग का उपसंहार करते हुए पंचाशक प्रकरण में कहा है कि सुबह और शाम आलोचना करने पर भी पाक्षिकपर्व, चातुर्मासिक पर्व पर विहार आलोचना अवश्य करनी चाहिए। इसे दृष्टान्त से समझाते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार जल का घड़ा प्रतिदिन साफ करने पर भी उसमें थोड़ी गंदगी रह जाती है, प्रतिदिन घर की सफाई करने पर भी पर्व दिवसों में घर की विशेष सफाई की जाती है, वैसे ही साधक को भी प्रतिदिन आलोचना करने पर भी पाक्षिक आदि पर्वों में आलोचना अवश्य करनी चाहिए।[3]

**उपसम्पद्यमान शिष्य की परीक्षा एवं आलोचना**

अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि के लिए एक गण से दूसरे गण में सम्मिलित होना उपसम्पदा है। भाष्यकार के अनुसार जो ज्ञान और चारित्र में नियुक्त है, चरणश्रेणी में स्थित है, जिसने पार्श्वस्थ आदि पांच स्थानों का त्याग कर दिया है तथा जो शिक्षापना—ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा देने में कुशल है, ऐसे आचार्यों के पास उपसम्पदा ग्रहण करनी चाहिए।[4]

उपसम्पद्यमान शिष्य दो प्रकार के होते हैं—समनोज्ञ और अमनोज्ञ। समनोज्ञ ज्ञान और दर्शन के लिए उपसम्पदा ग्रहण करता है। उसकी उपसम्पदा आलोचना विहार आलोचना की भांति होती है। अमनोज्ञ ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीनों कारणों से उपसम्पदा ग्रहण करता है।[5]

---

१. व्यभा २७२९-४४।
२. व्यभा २३४।
३. पंचा १५/११।
४. व्यभा १९३३ ;
नाण-चरणे निउत्ता, जा पुव्व परूविया चरणसेढी।
सुहसीलठाणविजढे, निच्चं सिक्खावणा कुसला।।
५. व्यभा २४७।

अन्य गण से आगत उपसम्पद्यमान मुनि का आगमन और निर्गमन शुद्ध है या अशुद्ध, इसकी आचार्य पूरी परीक्षा करते हैं। यदि आचार्य उपसम्पदा के लिए इच्छुक मुनि से उसके आगमन का कारण नहीं पूछते हैं तो वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।[1]

यदि उपसम्पद्यमान शिष्य कलहकारी, विकृति-प्रतिबद्ध, योगोद्वहन में भयभीत, प्रत्यनीक, स्तब्ध, क्रूर, अलस, अनुबद्धवैर वाला तथा स्वच्छंदमति है तो आचार्य उसको उपसम्पदा देने का परिहार करते हैं।[2] यदि आगत उपसम्पद्यमान भिक्षु अपने गण में आचार्य या गृहस्थ से कलह करके आया है, उसको यदि आचार्य स्वीकार करते है तो आचार्य को चतुर्लघु प्रायश्चित्त तथा संयतों से कलह करके आने वाले को स्वीकार करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। कलह करके आए उपसम्पद्यमान साधु को पांच दिन-रात का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। विकृति-प्रतिबद्ध आदि उपसम्पद्यमान शिष्यों के निवेदन का विस्तृत वर्णन भाष्यकार ने किया है।[3] जो उपसम्पद्यमान शिष्य साधुओं को प्रत्यनीक मानकर आया है, विकृति प्रतिबद्धता के कारण आया है अथवा अनुबद्धवैर वाला आया है तो उन सबको चतुर्गुरु प्रायश्चित्त तथा शेष कारणों से आने वाले को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इनको उपसम्पदा देने वाले आचार्य को भी यही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[4]

इसी प्रकार आचार्य को अकेला छोड़कर आने वाले, उनको अपरिणत शिष्य के पास छोड़कर आने वाले, आचार्य को अल्पाधार—(सूत्र और अर्थ की निपुणता से विकल) छोड़कर आने वाले, गुरु को स्थविर—वृद्ध अवस्था में छोड़कर आने वाले अथवा संघ में ग्लान, बहुत रोगों से आक्रान्त और मंदधर्मा शिष्यों को आचार्य के पास छोड़कर आने वाले तथा गुरु से कलह करके आने वाले को उपसम्पदा देने वाले आचार्य और उस उपसम्पद्यमान शिष्य को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[5]

अवगुणों से युक्त उपसम्पद्यमान मुनियों का आचार्य उपाय-कौशल से निवारण करते हैं। यदि आगत मुनि ज्ञानार्थी होकर आया है तो आचार्य उसको कहते हैं कि मेरा ज्ञान अब शंकित हो गया है। शंकित ज्ञान किसी दूसरों को दिया नहीं जा सकता अत: तुम निःशंक श्रुत देने वाले आचार्य की गवेषणा करो। स्वच्छंदमति वाले शिष्य के निवारण हेतु आचार्य कहते हैं कि हमारे गण की यह सामाचारी है कि स्थण्डिलभूमि में भी मुनि एकाकी नहीं जा सकता। अनुबद्धवैर के निवारण हेतु आचार्य उसको कहते हैं कि हमारे गण में मुनि भोजनमण्डली, सूत्रमण्डली, अर्थमण्डली और स्वाध्यायमण्डली में ही नियुक्त होते

---

१. विस्तार हेतु देखें व्यभा २९८-३०१।
२. व्यभा २४९।
३. द्र. व्यभा २५१-५५।
४. व्यभा २५६।
५. व्यभा २५७-६२।

हैं, तुम ऐसा नहीं कर सकते अत: अन्यत्र किसी गण में चले जाओ। अलस उपसम्पद्यमान को कहते हैं कि हमारे गण में बाल-वृद्ध आदि अनेक मुनि हैं, वे भिक्षाचर्या हेतु नहीं जा सकते। यदि तुम भिक्षाचर्या कर सको तो रहो, अन्यथा यहां रहना ठीक नहीं है। प्रायश्चित्तभीरु को कहते हैं कि यहां छोटी सी स्खलना पर तत्काल प्रायश्चित्त दिया जाता है, कालक्षेप नहीं किया जाता। विकृति-प्रतिबद्ध को कहते हैं कि हमारे गण में योगवाही अथवा अयोगवाही सभी विकृति का वर्जन करते हैं अथवा बाल, वृद्ध, अतिथि, ग्लान आदि को उत्कृष्ट द्रव्य दिया जाता है। तुम्हारा शरीर दुर्बल है अत: विकृति के बिना तुम्हारा निर्वाह कठिन है। स्तब्ध को कहते हैं कि हमारे गण में यह सामाचारी हैं कि गुरु जब चंक्रमण करें तो शिष्य को अभ्युत्थान करना होगा अन्यथा प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1]

जिस उपसम्पद्यमान शिष्य का कलह आदि के कारण निर्गमन अशुद्ध है, वह यदि आचार्य के समक्ष यह कहे कि अब मैं इन गलतियों को नहीं दोहराऊंगा तो आचार्य उसे उपसम्पदा के लिए स्वीकार कर सकते हैं लेकिन इनमें भी जो कलह करके, अनुबद्धरोष वाला होकर आया है अथवा आचार्य को एकाकी छोड़कर आया है उसे आचार्य उपसम्पदा हेतु स्वीकार नहीं करते।

जिस शिष्य का अपने गण से निर्गमन शुद्ध हो तो आचार्य उसकी तीन दिन तक परीक्षा करते हैं तथा शिष्य भी आचार्य की परीक्षा करता है। आचार्य उपसम्पद्यमान शिष्य की निम्न विषयों में परीक्षा करते हैं[2]—१. आवश्यक २. प्रतिलेखन ३. स्वाध्याय ४. भोजन ५. भाषा ६. बहिर्भूमिगमन ७. ग्लान और ८. भिक्षाग्रहण।[3] इसके अतिरिक्त गुरु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से परीक्षा करके उसे स्नुषा दृष्टान्त से यह समझाते हैं कि तुम्हारा अपना गच्छ पीहर के समान तथा हमारा गण तुम्हारे लिए श्वसुरकुल के समान है। पितृगृह में वधू का प्रमाद सहन किया जा सकता है लेकिन श्वसुरगृह में सहन करना कठिन होता है। यहां तुम्हारा अल्प प्रमाद भी सहन नहीं होगा।[4]

यदि उपसम्पद्यमान का गण निर्गमन शुद्ध है लेकिन रास्ते में गोकुल आदि में प्रतिबद्धता रहने के कारण आगमन अशुद्ध है तो उसे प्रायश्चित्त देकर उपसम्पदा दी जाती है। तीन दिन परीक्षा करने के बाद जिसका आगमन और निर्गमन दोनों शुद्ध प्रतीत होता है, उसको उपसम्पदा न देने पर आचार्य को चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मुनि जिस लक्ष्य से उपसम्पदा ग्रहण करता है, वह लक्ष्य पूरा नहीं करता है तो उसे

---

१. व्यभा २७७-७९ टी प. २९, ३०।

२. व्यभा २६५, २६६ ;
सुद्धं पडिच्छऊणं, अपडिच्छणे लहुग तिण्णि दिवसाणि।
सीसे आयरिए वा, पारिच्छा तत्थिमा होति।।
आवस्सग-पडिलेहण-सज्झाए भुंजणे य भासाए।
वीयारे गेलण्णे, भिक्खग्गहणे पडिच्छंति।।

३. गुरु के द्वारा की जाने वाली मनोवैज्ञानिक परीक्षा-विधि के विस्तार हेतु देखें व्यभा २६७-७२।

४. बृभा १२५६-६१।

लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि प्रमादी शिष्य की आचार्य सारणा नहीं करते तो आचार्य को लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। यदि दो-तीन बार कहने पर भी शिष्य जागरूक नहीं होता तो उस उपसम्पन्न शिष्य का आचार्य यह कहकर परित्याग कर देते हैं कि जैसे एक सड़ा हुआ ताम्बूल पत्र अन्य पत्रों को नष्ट कर देता है, वैसे ही तुम स्वयं विनष्ट होकर मेरे शिष्यों का नाश कर दोगे।[1]

यदि उपसम्पद्यमान क्षपक है और गण में पहले से ही एक क्षपक और है तो आचार्य को गण से पूछकर उसे उपसम्पदा देनी चाहिए क्योंकि दो-दो क्षपकों की वैयावृत्त्य में लगे रहने से साधुओं की सूत्र और अर्थ की हानि होती है। यदि गण अनुमति दे तो आचार्य क्षपक—तपस्वी को उपसम्पदा दे सकते हैं। बिना पूछे उपसम्पदा देने से आचार्य प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।[2] उपसम्पद्यमान शिष्य भी उपसम्पदा ग्रहण करने से पूर्व आचार्य और संघ की परीक्षा करता है। वह गच्छवासी साधु को आवश्यक आदि क्रिया में प्रमत्त देखता है तो आचार्य को निवेदन करता है। उसकी बात सुनकर आचार्य यदि प्रमादी साधु को सावधान करते हैं, उचित प्रायश्चित्त देते हैं तो वह वहां उपसम्पदा ग्रहण करता है, अन्यथा नहीं।

यदि अपराध आलोचना हेतु शिष्य उपसम्पदा लेने आया है तो आचार्य उससे पूछते हैं कि तुमने अपने गण में ही अपराध की विशोधि क्यों नहीं की? यदि आगंतुक कलह आदि की बात कहता है तो आचार्य उसे कहते हैं कि हमारे संघ में कोई प्रतिचारक नहीं है। यह क्षेत्र ऐसा है, जहां भिक्षा मिलना दुर्लभ है तथा यहां थोड़े से अपराध का भी उग्र प्रायश्चित्त दिया जाता है। हमारे संघ में विचारभूमि के लिए भी संघाटक के साथ जाना पड़ता है, अकेला साधु कहीं नहीं जा सकता। यदि इन कसौटियों पर आगंतुक उपसम्पद्यमान खरा उतरे तो आचार्य उसे उपसम्पदा देकर अपराध आलोचना करवाते हैं।[3]

**उपसम्पद्यमान की आलोचना**

यदि उपसम्पद्यमान पार्श्वस्थ के पास दीक्षित हुआ हो और वह स्वयं भी पार्श्वस्थ हो तो वह उस दिन से लेकर आज तक की आलोचना करता है। यदि संविग्न से मुंडित हो तो जब से अवसन्न हुआ, तब से आलोचना प्रारम्भ करता है। साम्भोजिक और असाम्भोजिक जब से अपने गच्छ से निकले हैं, तब से लेकर आलोचना करते हैं। आचार्य उन्हें तप, छेद आदि प्रायश्चित्त देकर अपने गच्छ की सामाचारी बताते हैं।[4] उपसम्पद्यमान मुनि आचार्य के समक्ष सर्वप्रथम मूलगुणों से सम्बन्धित अतिचारों की तथा उसके पश्चात् उत्तरगुण सम्बन्धित अतिचारों की आलोचना करता है।[5]

---

१. बृभा १२७२;
तेण परं निच्छुभणा, आउट्टो पुण सयं परेहिं वा।
तंबोलपत्तनायं, नासेहिसि मज्झ अन्ने वि।।

२. व्यभा २९३-९७।

३. व्यभा ३०३, ३०४।

४. बृभा १२६२, १२६३ टी पृ. ३९०।

५. निशीथ भाष्य (५४५९-५५९३) और पंचकल्पभाष्य (१९५०-८४) में उपसम्पदा के संदर्भ में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

**अपराध आलोचना किसके पास?**

व्यवहार सूत्र[1] में आलोचना किसके पास करनी चाहिए, इसका व्यवस्थित क्रम निर्दिष्ट है। अकृत्य स्थान का सेवन करने पर साधु को अपने गण के आचार्य या उपाध्याय के पास आलोचना करनी चाहिए। उनके अभाव में क्रमशः प्रवर्तक[2], स्थविर, गणावच्छेदक के पास आलोचना करनी चाहिए। इस क्रम का उल्लंघन करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अगीतार्थ के पास आलोचना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अपने गण में इन पांचों के न होने पर आगमज्ञ, बहुश्रुत, गीतार्थ, साम्भोजिक साधर्मिक के पास आलोचना करनी चाहिए। इनके अभाव में क्रमशः बहुश्रुत गीतार्थ अन्यसांभोजिक के पास आलोचना करनी चाहिए। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि बारह वर्ष तक आलोचनार्हों की गवेषणा करने पर भी यदि उनकी प्राप्ति न हो तो पार्श्वस्थ के पास आलोचना करनी चाहिए। इनके अभाव में अगीतार्थ, सिद्धपुत्र या पश्चात्कृत को यावज्जीवन लिंग धारण करवाकर आलोचना करनी चाहिए। यदि वे यावज्जीवन लिंग धारण न करें तो इत्वरिक लिंग धारण कराकर सारूपिक[3] और पश्चात्कृत श्रमणोपासक के पास आलोचना करनी चाहिए।[4]

यदि ये सब सुलभ न हो तो सम्यक् भावित चैत्य में आलोचना करनी चाहिए। चैत्य में सम्यक्त्वी देवता के पास भी आलोचना का यही क्रम है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होने के कारण उनमें सामायिक का आरोपण तथा लिंग-समर्पण नहीं किया जाता।[5] चैत्य में आलोचना करने के संदर्भ में भाष्यकार ने भरुकच्छ के कोरंटक और राजगृह नगरी के ईशान कोण में स्थित गुणशिलक चैत्य का उल्लेख किया है। कोरंटक उद्यान में तीर्थंकर मुनि सुव्रतस्वामी तथा गुणशिलक चैत्य में भगवान् महावीर अनेक बार समवसृत हुए। वहां तीर्थंकर और गणधरों ने अनेक बार साधुओं को प्रायश्चित्त दिया, जिसे वहां के देवता ने सुना अतः ऐसे उद्यानों में जाकर तेले के अनुष्ठान में सम्यक्त्व भावित देवता का आह्वान करके उनके समक्ष आलोचना की जाती है। वह देवता पूर्व श्रुति के अनुसार यथार्थ प्रायश्चित्त देता है। यदि पूर्व स्थित देव का च्यवन हो गया है तो वह आलोचक से अनुज्ञा लेकर महाविदेह क्षेत्र में जाता है। वहां तीर्थंकर से पूछकर प्रायश्चित्त देता है।[6]

यदि चैत्य सम्यक् देवता से भावित न हो तो ग्राम या नगर के बाहर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके आलोचक साधु कहे कि मैंने इतने अपराध इतनी बार किए हैं। मैंने तिल मात्र भी अपने दोषों को

---

१. व्यसू. १/३३।

२. जो तप, नियम और विनय रूप गुणनिधियों के प्रवर्तक, ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सतत उपयोगवान् तथा शिष्यों के संग्रहण और उपग्रहण में कुशल होते हैं, वे प्रवर्तक कहलाते हैं। (व्यभा ९५८)

३. जो संघ से बाहर निकलने पर भी मुनि वेश को नहीं छोड़ते, वे सारूपिक कहलाते हैं।

४. व्यभा ९६५-७०।

५. व्यभा ९७०, ९७१।

६. व्यभा ९७५, ९७६।

नहीं छिपाया है। ऐसा कहकर वह अर्हत् और सिद्धों की साक्षी से निंदा, गर्हा और शोधि करे और स्वयं ही यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार कर ले।

मूल सूत्रकार ने अगीतार्थ को आलोचना देने के योग्य नहीं माना है लेकिन भाष्यकार ने इस संदर्भ में अन्य आचार्यों की मान्यता का भी उल्लेख किया है कि गीतार्थ की अनुपस्थिति में अगीतार्थ के पास भी आलोचना की जा सकती है।[1] इसमें भी अगीतार्थ के पास केवल विहार आलोचना की जा सकती है, अपराध आलोचना नहीं की जाती।[2] आलोचना के लिए गीतार्थ की खोज क्षेत्र की दृष्टि से सात सौ योजन तथा काल की दृष्टि से बारह वर्ष तक करनी चाहिए।[3]

**अपराध आलोचना की विधि**

आलोचना करने की विधि का प्रकीर्णक रूप से उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है।[4] साधु जिसके पास आलोचना करे, सर्वप्रथम उसके प्रति गौरव और अहंकार से मुक्त होकर अभ्युत्थान कृतिकर्म करना चाहिए[5] फिर उत्कटुकासन में बैठकर बद्धाञ्जलि होकर आलोचना करनी चाहिए। आलोचक साधु यदि रुग्ण हो, अर्श आदि रोग हो अथवा बहु प्रतिसेवना के कारण आलोच्य विषय लम्बा हो तो वह आचार्य से निषद्या की अनुज्ञा लेकर औपग्रहिक पादप्रोञ्छन पर अथवा यथेच्छ आसन में बैठकर आलोचना कर सकता है। यह आचार्य के समक्ष स्वपक्ष—साधु के द्वारा की जाने वाली आलोचना की विधि है।[6]

साधु आचार्य के समक्ष एकान्त या निर्जन स्थान में आलोचना कर सकता है लेकिन साध्वी शून्यगृह, देवकुल, उद्यान, अरण्य, प्रच्छन्नस्थान, उपाश्रय का मध्यभाग—इन शंकास्पद स्थानों में आलोचना नहीं कर सकती। जहां लोग चलते-फिरते दिखाई दें, वैसे स्थान में साध्वी आलोचना कर सकती है।[7] साध्वी आलोचना करते समय खड़ी होकर कुछ झुकी हुई आलोचना करती है।[8] अकेले आचार्य के समक्ष एक साध्वी के साथ जब दूसरी साध्वी आलोचना करे तो वह दिशा और विदिशा का अवलोकन नहीं करती और न ही किसी अन्य विषय पर वार्तालाप करती है।[9]

जिस समय गुरु का चित्त धर्मकथा करने में या अन्य किसी कारण से विक्षिप्त हो अथवा किसी अन्य कार्य में संलग्न हो, कथा करने में लीन हो, वैसी स्थिति में गुरु के पास आलोचना नहीं करनी चाहिए।

---

१. व्यभा ५५ ; आलोयणा उ नियमा, गीतमगीते य केसिंचि।
२. व्यभा २१९८।
३. जीभा ३६७।
४. मवि १०० ;
तम्हा सुत्तर-मूलं, अविकलमविविच्चुयं अणुव्विग्गो।
निम्मोहियमणिगूढं, सम्मं आलोयए सव्वं।।
५. मूला ६२०;
काऊण य किदियम्मं, पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो।
आलोचिज्ज सुविहिदो, गारव-माणं च मोत्तूण।।
६. व्यभा ३१५।
७. व्यभा २३७०।
८ व्यभा २३७३ ; ईसिं ओणा उद्धट्ठिया उ आलोयणा विपक्खम्मि।
९. बृभा ३९५।

आहार करते समय गुरु से आलोचना करने पर आहार ठंडा होना तथा अंतराय आदि दोष लगते हैं तथा नीहार—उत्सर्ग के समय भी गुरु से आलोचना नहीं करनी चाहिए क्योंकि उस समय शारीरिक वेग धारण करने से कभी-कभी अकस्मात् मृत्यु भी हो सकती है।[१] जिस समय गुरु का चित्त धर्मकथा आदि में क्षिप्त न हो, उपयोगयुक्त हो, उपशान्त हो, अनाकुल हो, उस समय गुरु से अनुज्ञा प्राप्त करके साधु को आलोचना करनी चाहिए।[२]

आलोचना सुनने वाले आचार्य को भी अव्याकुल और प्रसन्न चित्त से आलोचना सुननी चाहिए। एकाग्रचित्त होकर सुनने से आलोचना करने वाले का उत्साह नष्ट नहीं होता और आलोचक ऐसा नहीं सोचता कि गुरु का मेरे प्रति अनादर का भाव है। इस प्रकार विधिपूर्वक की गई आलोचना विशोधि की निमित्त बनती है।

**आलोचना करने का क्रम**

भावविशोधि हेतु साधु को आलोचना कैसे करनी चाहिए, इसको टीकाकार हरिभद्र ने मालाकार के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है[३] , जैसे कोई निपुण मालाकार अपने बगीचे का दोनों समय अवलोकन करता है। यदि फूल आ गए हों तो उनको ग्रहण करके विकसित, मुकुलित और अर्द्धमुकुलित के क्रम से उनका अलग-अलग विभाग करता है। उसके पश्चात् उनको धागे में पिरोकर माला बनाता है। फिर माला से अभिलषित अर्थ की प्राप्ति होने से उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है। जो इस क्रम से अपने बगीचे की देखभाल आदि नहीं करता, उसको ईप्सित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार साधु भी अपनी हर क्रिया का सजगता से अवलोकन करता है। यदि कोई दोष लग जाए तो उनको चित्त में ग्रहण करके लघु और बृहद् दोषों का विभाग करता है और फिर प्रतिसेवना के क्रम से उनको ग्रथित करके गुरु के पास आलोचना करके भावशुद्धि प्राप्त कर लेता है। इस प्रक्रिया से वह औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव को प्राप्त कर लेता है। पंचकल्पभाष्य में आलोचनाकल्प के अन्तर्गत आलोचना करने के क्रम का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।[४] नियमसार में इन चारों शब्दों को आलोचना के लक्षण के रूप में स्वीकार किया है लेकिन ये चारों आलोचना करने की क्रमिक अवस्थाएं हैं[५]—

---

१. ओनि ५१४ ;
वक्खित्तपराहुत्ते, पमत्ते मा कयाइ आलोए।
आहारं च करेंतो, नीहारं वा जइ करेइ।।

२. ओनि ५१५ ;
अव्वक्खित्ताउत्तं, उवसंतमुवट्ठिअं च नाऊणं।
अणुन्नवेत्तु मेहावी, आलोएज्जा सुसंजए।।

३. आवनि ८३४, हाटी २ पृ. ४८ ;
आलोवणमालुंचण वियडीकरणं च भावसोही य।

४. पंकभा १९२७-४९।

५. निसा १०८ ;
आलोयणमालुंछण, वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं, आलोयणलक्खणं समए।।

१. आलोचन—दोषों का निवेदन।

२. आलुंछण—समूल वृक्ष की भांति अपने दोषों को उखाड़ना।

३. अविकृतीकरण—मध्यस्थ भावना से कर्म से भिन्न आत्मा के निर्मल गुणों का चिन्तन करना।

४. भावशुद्धि—भावों की शुद्धि।[1]

आलोचना दो प्रकार की होती है—मूलगुण आलोचना और उत्तरगुण आलोचना। साधु को सर्वप्रथम मूलगुण—महाव्रत सम्बन्धी आलोचना करनी चाहिए। सर्वप्रथम पृथ्वीकाय सम्बन्धी आलोचना करनी चाहिए, जैसे—मार्ग में चलते समय स्थण्डिल से अस्थण्डिल भूमि में जाना हुआ हो, काली मिट्टी से नीली मिट्टी में तथा नीली मिट्टी से काली मिट्टी में संक्रमण करते हुए पैरों का प्रमार्जन न किया हो, सचित्त रजों से युक्त हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण की हो। अप्काय में सचित्त उदक से आर्द्र या स्निग्ध हाथ से भिक्षा ली हो, जल-मार्ग को अयतनापूर्वक पार किया हो। इसी प्रकार तेजस्काय, वायुकाय आदि के बारे में हुए अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए। दूसरे महाव्रत में हास्य, भय आदि के कारण असत्य बोला हो, तीसरे महाव्रत में अयाचित ग्रहण किया हो, चौथे महाव्रत में स्त्री का स्पर्श, पूर्वक्रीडित का स्मरण, स्त्रियों के अवयवों का अवलोकन आदि किया हो। पांचवें महाव्रत में उपकरणों में मूर्च्छा तथा अतिरिक्त उपधि ग्रहण की हो, छठे व्रत में आहार के लेप से युक्त पात्र आदि अथवा औषधि या सौंठ रात्रि में रखे हों अथवा रात्रि में ग्रहण किया हो तो क्रमशः गुरु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। इसी प्रकार उत्तरगुण में समिति-गुप्ति आदि में अयतना हुई हो अथवा बल और पराक्रम होने पर भी तप-उपधान में उद्यम न किया हो तो मुनि ऋजुता से उसकी आलोचना करे।[2] इसके अतिरिक्त राग-द्वेष, भय, हास्य, प्रमाद, रोग, आतंक और परप्रेरणा—इनमें से किस कारण से प्रतिसेवना की, उसकी भी गुरु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए।[3] आचार्य हरिभद्र के अनुसार प्रकारान्तर से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इनसे सम्बन्धित अतिचारों की गुरु के समक्ष क्रमशः आलोचना करनी चाहिए।[4] मरणविभक्ति प्रकीर्णक में आलोचना करने के क्रम का विशद विवेचन प्राप्त होता है।[5]

आचार्य हरिभद्र ने पंचाशक प्रकरण में आलोचना के क्रम को दो भागों में विभक्त किया है—विकट आलोचना और आसेवना आलोचना। पहले छोटे फिर क्रमशः बड़े अतिचारों की आलोचना करना विकट आलोचना है। जिस क्रम से दोष सेवन किया हो, उसी क्रम से दोषों को प्रकट करना आसेवना

---

१. निसा १०९-१२।
२. व्यभा २४०-४४ मटी प. १९, २०।
३. मवि ११३।
४. पंचा १५/२८।
५. मवि ९४-१२४।

आलोचना है। गीतार्थ साधु विकट आलोचना के क्रम से आलोचना करे क्योंकि वह आलोचना के क्रम को जानता है। अगीतार्थ साधु आसेवन के क्रम से आलोचना करे क्योंकि वह आसेवना के क्रम से दोषों को याद रख सकता है, उसे आलोचना के क्रम का ज्ञान नहीं होता।[1]

**आलोचना के समय द्रव्य, क्षेत्र आदि का महत्त्व**

आलोचना के समय द्रव्य, क्षेत्र आदि का भी प्रभाव पड़ता है अतः प्रशस्त द्रव्यों की उपस्थिति में अपराध आलोचना की जाती है। व्यवहारभाष्य में अप्रशस्त द्रव्यों का उल्लेख मिलता है, जैसे—तिल, उड़द आदि अमनोज्ञ धान्य राशि के ढ़ेर के पास आलोचना नहीं करनी चाहिए। पत्र रहित करीर, कंटीला बबूल, विद्युतहत वृक्ष, क्षाररस युक्त वृक्ष, रोहिणी, कुटज, नीम आदि कटुक रस वाले वृक्ष, दावाग्नि से दग्ध वृक्ष—ये अमनोज्ञ वृक्ष हैं, इनके नीचे आलोचना नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार लोहा, जस्ता, तांबा और सीसा आदि अमनोज्ञ धातुओं के पास आलोचना नहीं करनी चाहिए।[2] आलोचना के लिए शालि आदि धान्य का ढ़ेर प्रशस्त होता है। इसी प्रकार मणि, स्वर्ण, मौक्तिक आदि रत्नों की राशि आलोचना के लिए प्रशस्त द्रव्य हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से टूटा घर, भित्ति के अवशेष वाला घर, रुद्रगृह, ऊषरभूमि, प्रपात, दग्धभूमि—इन स्थानों के पास आलोचना नहीं करनी चाहिए।[3] रौद्र देवताओं के स्थान पर भी आलोचना नहीं करनी चाहिए।[4] आलोचक की निर्विघ्नता के लिए ऐसे स्थानों पर आचार्य आलोचना नहीं करवाते। ऐसे स्थानों पर आलोचना करने से प्रारब्ध कार्य की सिद्धि नहीं होती।[5] इक्षुवन, पुष्पित-फलित उद्यान, शालिवन, चैत्यगृह, भग्नत्व आदि दोषों से रहित स्थान, सानुनाद स्थान—वह स्थान, जहां प्रतिध्वनि होती है, प्रदक्षिणावर्त जल वाली नदी, पद्मसरोवर—ये आलोचना के लिए प्रशस्त स्थान हैं।[6] भगवती आराधना के अनुसार अर्हत् और सिद्धों के स्थान, सागर, उद्यान में स्थित भवन, तोरण, प्रासाद, नाग और यक्षों के स्थान पर आलोचना करनी चाहिए।[7] पाराशरस्मृति के अनुसार जब भी प्रायश्चित्त दिया जाए, तब देवमंदिर के सामने ही दिया जाए।[8]

आलोचना के साथ प्रशस्त काल का भी गहरा सम्बन्ध है। यदि आचार्य के पास पर्याप्त समय न

---

१. पंचा १५/१६, १७ ;
दुविहेणऽणुलोमेणं, आसेवणवियडणाभिहाणेणं।
आसेवणाणुलोमं, जं जह आसेवियं वियडे।।
आलोयणाणुलोमं, गुरुगऽवराहे उ पच्छओ वियडे।
पणगादिणा कमेणं, जह जह पच्छित्तवुड्ढी उ।।

२. व्यभा ३०७, ३०८, भआ ५५७, ५५८।

३. व्यभा ३०६ मटी प. ४०।

४. भआ ५५८, ५५९।

५. भआ ५५९ विटी पृ. ४००।

६. व्यभा ३१३ मटी प. ४१।

७. भआ ५६०।

८. पारा ८/३८।

हो तो उस समय आलोचना नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार सूर्यास्त के समय, रोगी की परिचर्या के समय आलोचना नहीं करनी चाहिए। जिस समय आलोचक स्वयं श्रान्त हो अथवा आचार्य श्रान्त या क्लान्त हों, उस समय संक्षेप में आलोचना करनी चाहिए, जैसे—आज पुरःकर्म या पश्चात्कर्म का सेवन किया। यदि उस समय अन्य आवश्यक कार्य हो तो दोष सम्बन्धी उतनी बात अवश्य बतानी चाहिए, जिसे बताए बिना शुद्धि न हो अथवा वह आहार आदि न कर सके।[1]

भाष्यकार के अनुसार शुक्ल और कृष्ण पक्ष की चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी और द्वादशी—ये तिथियां निसर्गतः शुभ कार्य के लिए वर्जनीय हैं अतः इन तिथियों में आलोचना नहीं करनी चाहिए। आलोचना के लिए अप्रशस्त सात नक्षत्र भी वर्जनीय हैं—१. सन्ध्यागत २. रविगत ३. विद्वारिक ४. संग्रह ५. विलम्बि ६. राहुहत और ७. ग्रहभिन्न। सन्ध्यागत नक्षत्र में आलोचना करने से कलह, विलम्बि नक्षत्र में करने से कुभक्त की प्राप्ति, विद्वारिक नक्षत्र में शत्रु की विजय, रविगत नक्षत्र में असुख, संग्रह नक्षत्र में व्युद्ग्रह, राहुहत नक्षत्र में मरण तथा ग्रहभिन्न नक्षत्र में रक्त का वमन होता है।[2] काल की दृष्टि से व्याघात आदि दोष रहित द्वितीया, तृतीया आदि तिथियां, प्रशस्त करण और मुहूर्त्त आलोचना के लिए प्रशस्त काल है।

प्रशस्त भाव की दृष्टि से जब प्रशस्त ग्रह उच्च स्थानगत हों, तब आलोचना करनी चाहिए।[3] टीकाकार मलयगिरि के अनुसार सूर्य का मेष, चन्द्रमा का वृषभ, मंगल का मकर, बुध का कन्या, बृहस्पति का कर्क , शुक्र का मीन और शनैश्चर का तुला—ये ग्रहों के उच्चस्थान हैं।[4]

आचार्य हरिभद्र के अनुसार क्षीरयुक्त वटवृक्ष आदि प्रशस्त द्रव्य, जिनमंदिर आदि प्रशस्त क्षेत्र, पूर्णिमा आदि शुभ तिथियां प्रशस्त काल तथा शुभोपयोग प्रशस्त भाव है।[5]

आलोचना के लिए पूर्व, उत्तर और चरंती दिशा—प्रशस्त दिशा है। जिस दिशा में तीर्थंकर, केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, त्रयोदशपूर्वी यावत् नवपूर्वी अथवा युगप्रधान आचार्य विहरण करते हों, वह चरंती दिशा कहलाती है।[6] यदि आलोचना देने वाले गुरु पूर्वाभिमुख हैं तो आलोचक

---

१. ओनि ५१८, ५१९ ;
काले य पहुप्पंते, उच्चाओ वावि ओहमालोए।
वेला गिलाणगस्स व, अइच्छइ गुरू व उच्चाओ।।
पुरकम्मपच्छकम्मे, अप्पेऽसुद्धे य ओहमालोए।
तुरियकरणम्मि जं से, न सुज्झई तत्तिअं कहए।।

२. व्यभा ३०९-१२।

३. व्यभा ३१४ ; उच्चट्ठाणा गहा य भावम्मि।

४. व्यभा ३१४ मटी प. ४१।

५. पंचा १५/२० ;
दव्वे खीरदुमादी, जिणभवणादी य होइ खेत्तम्मि।
पुण्णतिहि पभितिकाले, सुहोवओगादि भावे उ।।

६. व्यभा ३१४ मटी प. ४२।

गुरु के दाहिनी ओर उत्तराभिमुख होकर बैठता है। यदि आचार्य उत्तराभिमुख होकर बैठें तो वह वामपार्श्व में पूर्वाभिमुख होकर बैठता है। यदि आलोचनार्ह आचार्य तीर्थंकर आदि विशिष्ट व्यक्तियों की विहरण दिशा के अभिमुख बैठे हों तो आलोचक द्वादशावर्त वंदना देकर हाथ जोड़कर खड़ा रहे।

**आलोचना के समय निषद्या एवं कृतिकर्म-विधि**

आलोचना करते समय आलोचक को औपचारिक विनय करना भी आवश्यक है। इसके बिना आचार्य की मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। भाष्यकार के अनुसार जिसके पास आलोचना की जाए, वह यदि अवमरात्निक हो तो भी उसके प्रति कृतिकर्म करना चाहिए। यदि साध्वी के पास आलोचना की जाए तो उसके प्रति भी कृतिकर्म करना चाहिए।[1] आलोचक साधु आलोचनार्ह के लिए अपने नवीन कल्प—कंबल से निषद्या तैयार करता है। यदि कंबल न हो तो अन्य से प्रातिहारिक कल्प ग्रहण करके आचार्य की निषद्या करता है।[2] निषद्या के संदर्भ में एक प्रश्न उपस्थित किया गया कि यदि कोई आलोचनार्ह स्वभावतः निषद्या पर नहीं बैठना चाहे तो उसके लिए निषद्या करनी चाहिए या नहीं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि आचार्य चाहें या नहीं लेकिन शिष्य को औपचारिक विनय की दृष्टि से निषद्या अवश्य करनी चाहिए। जो शिष्य निषद्या किए बिना आलोचना करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है तथा निषद्या करने वाला विनीत एवं प्रशंसा का पात्र होता है। इस संदर्भ में व्यवहार भाष्यकार ने नापित और राजा का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। एक राजा के सिर में बाल नहीं थे, उसके दाढ़ी, मूंछ भी नहीं थी इसलिए नियुक्त नापित राजा की हजामत करने नहीं जाता था। राजा ने उसको निष्कासित करके दूसरा नापित नियुक्त कर दिया। वह हर सातवें दिन आकर राजा के बाल, मूंछ आदि काटने का अभिनय करता था। राजा ने समय आने पर उसको पुरस्कृत किया।[3]

गुरु जितनी बार आलोचना देते हैं, उतनी ही बार निषद्या करनी चाहिए। यदि सभी अपराधों की एक साथ आलोचना की जाए तो एक ही निषद्या करनी होती है। निषद्या और आलोचना के सम्बन्ध में चतुर्भंगी प्राप्त होती है—

१. एक निषद्या, एक आलोचना।

२. (अतिचार विस्मृत होने पर) एक निषद्या, अनेक आलोचना।

३. अनेक निषद्या, एक आलोचना।

४. अनेक निषद्या, अनेक आलोचना।

---

१. बृभा ४५३६ टी पृ. १२२५; संयतीनामप्यालोचना-सूत्रार्थनिमित्तं कृतिकर्म कर्त्तव्यम्।

२. व्यभा ३१५ मटी प ४२।

३. व्यभा ५८६ मटी प ४२, निचू ४ पृ. ३८२।

चतुर्थ भंग में अनेक प्रतिसेवनाएं हो जाने के कारण अनेक दिनों तक निषद्या करके आलोचना करना तथा तृतीय भंग में गुरु को यदि बार-बार कायिकी भूमि जाना पड़े तो अनेक निषद्या में एक आलोचना होती है।[1]

जो सिंहानुग आलोचनार्ह होते हैं, वे अनेक कम्बलों वाली निषद्या पर स्थित होकर प्रायश्चित्त देते हैं। वृषभानुग एक कम्बल वाली निषद्या पर बैठकर प्रायश्चित्त देते हैं तथा क्रोष्टुकानुग रजोहरण निषद्या अथवा औपग्रहिक पादप्रोञ्छन पर स्थित होकर प्रायश्चित्त देते हैं।[2] इसी प्रकार आलोचक भी तीन प्रकार के होते हैं—सिंहानुग, वृषभानुग और क्रोष्टुकानुग। सिंहानुग आचार्य के समक्ष यदि आलोचक सिंहानुग होकर आलोचना करता है तो वह अशुद्ध है, प्रायश्चित्त का भागी है। यदि वह वृषभानुगत्व या क्रोष्टुकानुगत्व के रूप में आलोचना करता है तो वह शुद्ध है। यदि वृषभानुग आचार्य के समक्ष क्रोष्टुकानुगत्व के रूप में आलोचना करता है तो शुद्ध है। इसी प्रकार क्रोष्टुकानुग गीतार्थ आचार्य के समक्ष क्रोष्टुकानुग की तरह या उत्कटुकासन में आलोचना करता है तो शुद्ध है। सिंहानुग आचार्य की यथायोग्य निषद्या न करने पर एक मासिक, वृषभानुग आचार्य की यथायोग्य निषद्या न करने पर द्विमासिक तथा क्रोष्टुकानुग आचार्य की यथायोग्य निषद्या न करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है।[3] यदि आलोचक उत्कटुक आसन में आलोचना करता है तो वह शुद्ध है। निषद्या और पादप्रोञ्छन पर बैठकर आलोचना करने की भजना है।[4]

सिंहानुग, वृषभानुग और क्रोष्टुकानुग के साथ सम आसन पर बैठकर आलोचना करने वाले को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। बिना कारण बैठने या अप्रमार्जन आदि दोष में लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[5] आलोचना के समय आलोचनार्ह ऊपर और आलोचक नीचे बैठे तो यह आलोचना की सम्यक् सामाचारी हैं। यदि आलोचनार्ह आज्ञा दे तो आलोचक किसी भी आसन में बैठ सकता है।

यदि पार्श्वस्थ और पश्चात्कृत श्रमणोपासक से आलोचना करनी पड़े, वे कृतिकर्म न करवाना चाहें तो उनके लिए निषद्या की रचना करके उन्हें प्रणाम करके आलोचना करनी चाहिए। पश्चात्कृत को इत्वरिक सामायिक व्रत तथा रजोहरण आदि लिंग देकर उसकी निषद्या करके कृतिकर्म—वंदन करना चाहिए। यदि वह कृतिकर्म की अनिच्छा प्रकट करे तो वचन और काया से प्रणाम करके आलोचना करनी

---

१. व्यभा ४४७।

२. निभा ४, चू. पृ. ३८२ ; तत्थ जो महंतणिसिज्जाए ठितो, सुत्तमत्थं वाएति चिट्ठइ वा सो सीहाणुगो। जो एक्कम्मि कप्पे ठितो वाएति चिट्ठइ वा सो वसहाणुगो। जो रयहरण-णिसेज्जाए उवग्गहियपादपुंछणे वा ठितो वाएति चिट्ठति वा सो कोल्लुगाणुगो।

३. व्यभा ५८६, विस्तार हेतु देखें व्यभा ५८७-९६।

४. निचू ४ पृ. ३८२; जइ उक्कुडुओ आलोएति तो सुद्धो। णिसेज्जपादपुंछणेसु भयणा।

५. व्यभा ५९६।

चाहिए।[1] साध्वियां आचार्य के लिए निषद्या की रचना नहीं करतीं।[2]

## साध्वियों की आलोचना किसके पास?

आर्यरक्षित अंतिम आगम व्यवहारी (नवपूर्वधर) थे। वे अपने आगमबल से जान लेते थे कि अमुक साध्वी को छेदसूत्र की वाचना देने में दोष नहीं है तो वे उसको वाचना देते थे। आर्यरक्षित के पश्चात् श्रुतव्यवहारी साधुओं ने सोचा कि छेदसूत्र के अध्ययन से साध्वियां अपनी हानि न कर लें अतः उन्होंने साध्वियों को छेदसूत्र की वाचना देना बंद कर दिया इसलिए आर्यरक्षित के समय तक साध्वियां मूलगुण से सम्बन्धित अपराध की आलोचना छेदसूत्र सम्पन्न प्रवर्तिनी साध्वी के पास करती थीं। कभी-कभी गीतार्थ साधु के अभाव में श्रमण भी साध्वियों के पास आलोचना करते थे। गीतार्थ साध्वी के अभाव में साध्वियां कृतयोगी—छेदसूत्रधर साधु के पास आलोचना करती थीं। आर्यरक्षित के बाद साधुओं के पास ही साध्वियों की भी आलोचना होने लगी।[3] उस समय भी कुछ आचार्यों की मान्यता थी कि चतुर्थ व्रत की आलोचना स्वपक्ष अर्थात् श्रमणी की श्रमणी के पास तथा श्रमण की श्रमण के पास होनी चाहिए क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत सम्बन्धी आलोचना परपक्ष से करने पर दृष्टिराग तथा मुखविकार से भाव को समझकर परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। निर्ग्रन्थी यदि निर्ग्रन्थ के पास आलोचना करती है तो निर्ग्रन्थ कह सकता है कि तुम मेरे साथ भी यह दोष सेवन करके फिर प्रायश्चित्त लेना।[4]

आचार्य या साधुओं के पास साध्वी की आलोचना करने की भी विधि थी। भाष्यकार के अनुसार जहां लोहार आदि दिखाई देते हों लेकिन दूरी के कारण सुनाई न देता हो तो साध्वी बीच में पर्दा डाल कर आचार्य के पास आलोचना करे। यदि पर्दा लगाने का अवकाश न हो तो साध्वी भूमि पर दृष्टि टिकाकर आलोचना करे। आलोचना के समय यदि श्रमण साध्वी को विकार युक्त दृष्टि से देखता है तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[5]

## आलोचना के समय परिषद्

आलोचना के समय आचार्य के पास राहस्यिकी परिषद् होती है। साधु और साध्वी की यदि स्वपक्ष में आलोचना होती है तो चतुष्कर्णा परिषद् होती है—दो आलोचनार्ह के कान तथा दो आलोचक के, इस प्रकार चतुष्कर्णा परिषद् होती है। आचार्य वृद्ध हों तो साध्वियों द्वारा की जाने वाली आलोचना के समय षट्कर्णा परिषद् भी होती है—आचार्य, प्रवर्तिनी और आलोचक साध्वी। यदि प्रवर्तिनी या अन्य साध्वी

---

१. व्यभा ९७०, ९७१।
२. बृभाटी पृ. ११५ ; निषद्यां चाचार्यस्य न करोति।
३. व्यभा २३६५-६७।
४. व्यभा २३६१-६४।
५. व्यभा २३७४।

तरुण आचार्य के पास आलोचना करती है तो उस समय अष्टकर्णा परिषद् होती है—एक आचार्य, एक साधु, एक प्रवर्तिनी और एक साध्वी। यदि आचार्य और आलोचक साध्वी दोनों तरुण हों तो उनके पास एक स्थविर और एक स्थविरा भी रहनी चाहिए।[1] सदृश वय वाले सहायक का नियमतः वर्जन करना चाहिए। यदि ऐसा संभव न हो तो एक पटु क्षुल्लक या क्षुल्लिका को पास में रखना चाहिए।[2] इस स्थिति में आलोचना के समय दशकर्णा परिषद् हो जाती है। इस प्रकार आलोचना काल में परिषद् के छह विकल्प हो सकते हैं—

१. साधु साधु के पास — दो — चतुष्कर्णा परिषद्।

२. स्थविरा साध्वी स्थविर आचार्य के पास — तीन — षट्कर्णा परिषद्।

३. स्थविरा तरुण के पास —तीन — षट्कर्णा परिषद्।

४. तरुणी स्थविर के पास — तीन — षट्कर्णा परिषद्।

५. तरुणी तरुण के पास — चार — अष्टकर्णा परिषद्।

६. सदृश वय — पांच — दशकर्णा परिषद्।

दिगम्बर परम्परा में आर्यिकाओं की आलोचना का उल्लेख नहीं मिलता अतः वहां स्पष्ट निर्देश है कि अकेले आचार्य को एकान्त में ही आलोचक की आलोचना सुननी चाहिए। चारित्रसार की टीका में उल्लेख है कि यदि स्त्री आलोचना करे तो दो स्त्री और एक गुरु अथवा दो गुरु और एक स्त्री होनी चाहिए। आलोचना अंधकारयुक्त स्थान में नहीं अपितु सूर्य के प्रकाश में होनी चाहिए।[3] यदि अनेक आचार्य एक ही दोष को सुनें तो आलोचक लज्जा और खेद का अनुभव करता है। इसी प्रकार एक आचार्य अनेक क्षपकों की आलोचना एक साथ सुने तो अनेकों की आलोचना एक साथ याद रखनी कठिन होने के कारण योग्य प्रायश्चित्त देना संभव नहीं होता।[4]

### आलोचना काल में सहवर्ती साधु और साध्वी की अर्हता

आलोचना के समय साथ रहने वाला साधु और साध्वी भी अर्हता सम्पन्न होने चाहिए। भाष्यकार के अनुसार आचार्य के पास रहने वाला साधु ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विनय से सम्पन्न, प्रतिलेखना आदि क्रियाओं में जागरूक, उपशम गुण से सम्पन्न, अवस्था से परिणत तथा शास्त्र के सही अर्थ का ज्ञाता

---

१. बृभा ३९१ टी पृ. ११५ ;
सल्लुद्धरणे समणस्स, चाउकण्णा रहस्सिया परिसा।
अज्जाणं चउकण्णा, छक्कण्णा अट्ठकण्णा वा।।

२. व्यभा २३७२;
थेरो पुण असहायो, निग्गंथी थेरिया वि ससहाया।
सरिसवयं च विवज्जे, असती पंचम पडुं कुज्जा।।

३. काअ ४५२ टी पृ. ३४३ ; एको गुरुः द्वे स्त्रियौ अथवा द्वौ गुरु एका स्त्रीति।

४. भआ ५६२ टी पृ. ४०२।

होना चाहिए।[1] इसी प्रकार साथ में आने वाली साध्वी ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, उचित और अनुचित का विवेक करने में सक्षम, अवस्था से परिणत होनी चाहिए। इन गुणों के बिना वह आलोचक साध्वी का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकती।[2]

**आलोचना और माया**

आलोचना और ऋजुता का गहरा संबंध है लेकिन छद्मस्थता के कारण साधक ऋजुतापूर्वक अपने दोषों को प्रकट नहीं कर पाता। स्थानांग सूत्र में मायावी व्यक्ति द्वारा आलोचना-प्रतिक्रमण न करने के आठ कारण बताए गए हैं—१. मैंने अकरणीय कार्य किया है २. मैं अकरणीय कार्य कर रहा हूं ३. मैं अकरणीय कार्य करूंगा ४. मेरी अकीर्ति होगी ५. मेरा अवर्ण होगा ६. मेरा अविनय होगा ७. मेरी कीर्ति कम हो जाएगी ८. मेरा यश कम हो जाएगा।[3] मायावी व्यक्ति माया करके भी तीन कारणों से आलोचना, निंदा और गर्हा करके गुरु से प्रायश्चित्त प्राप्त करके विशुद्ध हो जाता है—१. आलोचना करने वाले का वर्तमान जीवन गर्हित होता है। २. उसका उपपात प्रशस्त होता है। ३. आगामी जन्म प्रशस्त होता है।[4]

उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि यदि कदाचित् भिक्षु क्रोध में आकर कोई अकरणीय कार्य कर ले तो उसे छिपाए नहीं। गुरु के सामने स्वीकार करे कि मुझसे यह अपराध हुआ है।[5] निर्युक्तिकार[6] के अनुसार शस्त्र, विष, दुःसाधित वेताल, दुष्प्रयुक्त यंत्र और क्रुद्ध सर्प भी उतना कष्टदायक नहीं होता, जितना कि माया आदि भावशल्य।[7] स्थानांग सूत्र में मायावी व्यक्ति की माया से उसके भीतर होने वाली तप्ति को अनेक उपमाओं से उपमित किया है। मायावी व्यक्ति अकरणीय कार्य करके उसी प्रकार अंदर ही अंदर जलता है, जैसे लोहे को गालने की भट्टी, तांबे को गलाने की भट्टी, त्रपु को गलाने की भट्टी। लोहकार की भट्टी जैसे अंदर ही अंदर जलती है, उसी प्रकार मायावी माया करके अंदर ही अंदर जलता है आदि। यदि कोई बिना आलोचना या प्रतिक्रमण किए ही कालगत होता है तो ऋद्धिमान्, द्युतिमान्, यशस्वी और

---

१. बृभा ३९८;
नाणेण दंसणेण य,चरित्त-तव-विणय-आलयगुणेहिं।
वयपरिणामेण य अभिगमेण इयरो हवइ जुत्तो।।

२. बृभा ३९६;
नाण दंसणसंपन्ना, पोढा वयस परिणया।
इंगियागारसंपन्ना, भणिया तीसे बिइज्जिया।।

३. स्था ८/९।

४. स्था ३/३४२।

५. उ १/११।

६. ओनि ८०३, ८०४;
न वि तं सत्थं व विसं व, दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पो व पमाइणो कुद्धो।।
जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालम्मि।
दुल्लभबोहीयत्तं, अणंतसंसारियत्तं च।।

७. पंचा १५/३६;
सम्मं दुच्चरितस्सा, परसक्खिगमप्पगासणं जं तु।
एयमिह भावसल्लं, पण्णत्तं वीयरागेहिं।।
गीतार्थ के समक्ष अपने अकृत्य का प्रकाशन न करना भावशल्य है।

बलशाली देव नहीं बनता, न ही ऊंची गति वाला और दीर्घ आयु वाला देव बनता है। देवलोक की बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् उसे आदर और सम्मान नहीं देती। यदि वह भाषण देना प्रारम्भ करता है तो चार-पांच देव बिना कहे ही खड़े होकर उसे बोलने से रोक देते हैं। देवलोक से च्युत होकर वह मनुष्य लोक में अंतकुल, प्रान्तकुल आदि में उत्पन्न होकर पराभव को प्राप्त करता है। इसके विपरीत जो आलोचना, प्रतिक्रमण करके कालगत होता है, वह उच्च देवलोक में ऋद्धिशाली देव बनकर आभ्यन्तर और बाह्य परिषद् में सम्मान को प्राप्त करता है तथा मनुष्यलोक में भी उच्चकुल आदि प्राप्त होता है।[1]

जैन आचार्य स्थान-स्थान पर इस बात का उल्लेख करते हैं कि जैसे बालक सरलता से अपने कार्य और अकार्य को प्रकट कर देता है, वैसे ही मुनि को माया और अहंकार से मुक्त होकर गुरु के पास आलोचना करनी चाहिए।[2] भगवती आराधना के अनुसार आलोचना के समय दोष छिपाने हेतु माया करना प्रतिकुञ्चन माया है। छेद सूत्रों में उल्लेख मिलता है कि मायापूर्वक आलोचना करने से प्रायश्चित्त की वृद्धि होती जाती है। जैसे कोई भिक्षु द्वैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके ऋजुता से आलोचना करता है तो उसे द्वैमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यदि वह मायापूर्वक आलोचना करता है तो उसे त्रैमासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। माया के कारण एक गुरुमास अधिक प्राप्त होता है।[3] चूर्णिकार के अनुसार मायारहित आलोचना करने वाले को लघु और गुरु--दोनों प्रकार का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है लेकिन मायापूर्वक आलोचना करने वाले को गुरु प्रायश्चित्त ही प्राप्त होता है।[4] पाराशर स्मृति के अनुसार पाप करके माया नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसको छिपाने से पाप बढ़ता चला जाता है। पाप करने के पश्चात् तब तक भोजन नहीं करना चाहिए, जब तक ब्राह्मणों की परिषद् में बताया न जाए। पापी का पाप परिषद् के आदेश से वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे पत्थर पर पड़ा जल वायु और सूर्य की किरण से नष्ट हो जाता है।[5]

यदि आलोचक आगमव्यवहारी के पास आलोचना करता है तो वे उसके अतिचारों को साक्षात् जानते हैं लेकिन परोक्षज्ञानी चेहरे के आकार, इंगित, स्वर और पूर्वापरसंवादिनी भाषा के आधार पर जानते हैं कि आलोचक मायापूर्वक आलोचना कर रहा है या ऋजुता से। ऋजुता से आलोचना करने वाले का स्वर अक्षुब्ध, अव्याकुल और स्पष्ट होता है।[6] श्रुतव्यवहारी आलोचक से तीन बार आलोचना सुनते हैं, जिससे वे

---

१. स्था ८/१०।

२. व्यभा ४२९९;
जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणति।
तं तह आलोएज्जा, माया-मदविप्पमुक्को उ।।

३. व्यसू. १/२, निसू २०/२।

४. निचू ४ पृ. २७१; अपलिकुंचियं आलोएमाणस्स मासियं लहुगं गुरुगं वा पडिसेवणाणिप्फण्णं दिज्जति। जो पुण पलिकुंचियं आलोएइ, तस्स जं दिज्जति पलिउंचणमासो य मायाणिप्फण्णो गुरुगो दिज्जति।

५. पारा ८/४, ६, १७, १८।

६. व्यभा ३२३।

उसकी माया या ऋजुता को जान सकें। प्रथम बार आलोचना करने पर नींद का अभिनय करते हुए आचार्य कहते हैं कि मैं निद्रा प्रमाद में चला गया था। दूसरी बार आचार्य कहते हैं कि मैंने तुम्हारे अतिचारों की पूरी अवधारणा नहीं की, उस समय मैं अनुपयुक्त था। पुनः आलोचना करने पर यदि तीनों बार सदृश आलोचना होती है तो वे जान लेते हैं कि यह ऋजुता से आलोचना कर रहा है, यदि तीनों बार के कथन में विसंवादिता होती है तो उन्हें ज्ञात हो जाता है कि यह मायापूर्वक आलोचना कर रहा है।[1] बौद्ध परम्परा में भी अपराध की स्वीकृति तीन बार करवाने का विधान है। लौकिक न्याय करते समय भी न्यायकर्ता अपराधी से तीन बार वस्तुस्थिति का ज्ञान करते थे। यदि अपराधी विसदृश बोलता तो उसे राजकुल में मृषा बोलने एवं माया करने का अधिक दंड मिलता था।

जब श्रुतव्यवहारी को उसकी माया ज्ञात हो जाती है तो वे उसे अश्व के दृष्टान्त से प्रतिबोध देते हैं। एक राजा के पास सर्वलक्षणयुक्त अश्व था। अन्य राजाओं ने अश्व को अपहृत करना चाहा लेकिन कड़ी सुरक्षा के कारण अश्व का अपहरण करना संभव नहीं था। एक व्यक्ति ने गुप्त रूप से एक कोमल बाण के अग्र भाग में क्षुद्र कंटक लगाकर बाण छोड़ा। बाण अश्व के लगा और कंटक की अग्र अणी उसके शरीर में प्रविष्ट हो गई। उसी दिन से अश्व का शरीर सूखने लगा। राजा ने चिंतित होकर वैद्य को बुलाया। वैद्य ने एक साथ अनेक कर्मकरों से घोड़े के पूरे शरीर में लेप करवाया। शरीर के जिस भाग में लेप पहले सूख गया, उस आधार पर वैद्य ने जान लिया कि यहां कंटक चुभा है। वैद्य ने शल्योद्धरण कर दिया। शल्य निकलने से घोड़ा स्वस्थ हो गया। निगमन करते हुए आचार्य मायावी शिष्य को प्रतिबोध देते हैं कि तुम भी माया छोड़कर अपने हृदय को सरल बनाकर शल्य को दूर करो। माया बहुत बड़ा शल्य है, वह इहलोक और परलोक—दोनों को बिगाड़ देता है।[2]

शिष्य गुरु के समक्ष चार प्रकार से माया करके अशुद्ध आलोचना करता है[3]—

१. द्रव्य—सचित्त की प्रतिसेवना करके अचित्त की आलोचना करना द्रव्यतः अशुद्ध है।

२. पर्याय—अन्य अवस्था में प्रतिसेवना करके अन्य अवस्था की आलोचना करना पर्याय से अशुद्ध आलोचना है, जैसे स्वस्थ अवस्था में प्रतिसेवना करके ग्लान अवस्था की आलोचना करना।

३. क्षेत्र—जनपद में प्रतिसेवना करके अटवीगत मार्ग की आलोचना लेना क्षेत्रतः अशुद्ध आलोचना है।

४. काल—सुभिक्ष में प्रतिसेवना करके दुर्भिक्ष का कहना, रात्रि में प्रतिसेवना करके दिन का कहना कालतः अशुद्ध आलोचना है।

---

१. व्यभा ३२० मटी प. ४३, अनध ७/३९ ; स्वागस्त्विराजवाट्टा-व्यम्।

२. व्यभा ३२०, ३२१ मटी प. ४३, ४४।

३. जीभा १३२, १३३, व्यभा १४९, १५०।

५. क्रम—आगे-पीछे या अक्रमपूर्वक करना क्रम से अशुद्ध आलोचना है। माया की अपेक्षा से आलोचना के चार भंग बनते हैं—

संकल्पकाल में ऋजुता, आलोचनाकाल में ऋजुता।
संकल्पकाल में ऋजुता, आलोचनाकाल में माया।
संकल्पकाल में माया, आलोचनाकाल में ऋजुता।
संकल्पकाल में माया और आलोचनाकाल में भी माया।

इस प्रसंग को भाष्यकार ने अनेक व्यावहारिक दृष्टान्तों से स्पष्ट किया है। एक शिकारी घर से यह सोचकर चला कि मैं सारा मांस स्वामी को दे दूंगा। जाते ही स्वामी ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया। स्वामी के मृदु व्यवहार से प्रभावित होकर उसने प्रसन्नता से सारा मांस दे दिया। इसके विपरीत दूसरा शिकारी भी मालिक को सारा मांस देने की भावना से प्रस्थित हुआ। स्वामी के कर्कश व्यवहार और डांट-फटकार से क्षुभित होकर उसने कुछ मांस छिपाकर अपने पास रख लिया। दृष्टान्त को घटित करते हुए टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि आलोचक गुरु के पास जाता है, उस समय यदि आचार्य कहें कि तुम धन्य हो, कृतपुण्य हो जो गुप्त अपराधों को प्रकट करके आलोचना के लिए उपस्थित हुए हो। प्रतिसेवना करना कोई बड़ी बात नहीं है, दुष्कर है आलोचना करना। आलोचना करने वाला हल्केपन का अनुभव करता है। मनोवैज्ञानिक ढंग से कही गई इस बात को सुनकर आलोचक ऋजुतापूर्वक आलोचना कर लेता है। यदि आचार्य उसे यह कहे कि तुम साधु बनकर भी ऐसी स्खलनाएं करते हो, धिक्कार है तुम्हें। इस बात को सुनकर वह अपनी पूर्ण आलोचना नहीं कर पाता, अपने दोषों को छिपा लेता है। कभी-कभी ताड़ना से कुपित होकर वह आचार्य का घात भी कर सकता है।

भाष्यकार ने इसी प्रकार गाय का दृष्टान्त भी प्रस्तुत किया है। जंगल से लौटने वाली गाय को गृहस्वामी यदि मधुरता से नामोल्लेख पूर्वक पुचकारता है, पीठ थपथपाता है, आगे चारा रख देता है तो वह सारे दूध का क्षरण कर देती है। इसके विपरीत पीटना आदि कर्कश व्यवहार से वह लात मार देती है, पूरा दूध नहीं देती। उसी प्रकार आलोचना देने वाले आलोचक को यदि आचार्य प्रोत्साहन देते हैं, उसका उत्साह बढ़ाते हैं, उसके इस कृत्य की सराहना करते हैं तो वह ऋजुतापूर्वक आलोचना करता है। तिरस्कृत होने वाला आलोचक माया करके दोष को छिपा लेता है।[1] भगवती आराधना में भी मायापूर्वक की जाने वाली आलोचना को अनेक दृष्टान्तों से स्पष्ट किया है।[2]

---

१. व्यभा ५८०-८४ मटी प. ३९-४१ । २. भआ ५६७-६९।

## आलोचना-विधि के दोष

आलोचना को विधिवत् करना आवश्यक है। अविधि से की गई आलोचना फलदायी नहीं होती। जिस प्रकार कुवैद्य यदि अन्यथा रूप से रोग की चिकित्सा करे तो रोग का निवारण नहीं होता अथवा अविधि से विद्या सिद्ध की जाए तो वह सिद्ध नहीं होती, वैसे ही अविधि से की गई आलोचना से जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का भंग होता है।[१] आलोचना-विधि के दश दोष हैं[२] —

१. **आकम्प्य**—आलोचनार्ह की अशन-पान आदि से सेवा करके उनको प्रसन्न करके अथवा करुणा उत्पन्न करके आलोचना करना। दिगम्बर परम्परा में इसे आकम्पित दोष माना है। तत्त्वार्थ की श्रुतसागरीय टीका में इसका अर्थ किया है—'आचार्य मुझे दण्ड न दें' इस भय से आलोचना करना।[३]

२. **अनुमान्य**—ये आचार्य मुझे कम दंड देंगे या अधिक, यह अनुमान करके मृदु दंड देने वाले के पास आलोचना करना।[४] निशीथ चूर्णि के अनुसार यह अनुनय करके आलोचना करना कि मैं दुर्बल हूं, शरीर से रोगी हूं अत: मुझे कम दंड देना। आपकी कृपा से यदि कम दण्ड मिलेगा तो मैं अपराधमुक्त हो जाऊंगा।[५] दिगम्बर साहित्य में इसे 'अनुमानित' दोष माना है।[६]

३. **यद्दृष्ट**—मायापूर्वक उसी दोष की आलोचना करना, जो आचार्य अथवा किसी दूसरे के द्वारा देखा गया हो। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में इसका नाम 'मायाचार' भी मिलता है।[७]

४. **बादर**—केवल स्थूल दोषों की आलोचना करना, सूक्ष्म अतिचारों को छिपा देना। राजवार्तिक में इसका नाम 'स्थूल' मिलता है।[८]

५. **सूक्ष्म**—बड़े दोषों को छिपाकर केवल छोटे दोषों की आलोचना करना। इस भय से बड़े दोष छिपाना कि आचार्य मुझे बड़ा प्रायश्चित्त देंगे अथवा मुझे संघ से अलग कर देंगे।

६. **छन्न**—अप्रकट रूप से अथवा मंद शब्दों में आलोचना करना, जिससे आचार्य स्पष्ट रूप से न सुन सकें। दिगम्बर परम्परा में इसके लिए प्रच्छन्न शब्द का प्रयोग हुआ है। मूलगुण और उत्तरगुण में ऐसी विराधना होने पर क्या प्रायश्चित्त तप दिया जाता है, इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से पूछना और उसके अनुसार अपनी शुद्धि कर लेना प्रच्छन्न दोष है।[९]

---

१. पंचा १५/५।
२. भ २५/५५२, स्था १०/७०, व्यभा ५२३, भआ ५६४।
३. श्रुतटी पृ. ९।
४. तवा ९/२२ पृ. ६२१।
५. निचू ४ पृ. ३६३।
६. भआ ५७०-७५।
७. तवा ९/२२ पृ. ६२१ ; अन्यादृष्टदोषगूहनं कृत्वा प्रकाशदोषनिवेदनं मायाचारस्तृतीयो दोष:।
८. तवा ९/२२ पृ. ६२१।
९. तवा ९/२२ पृ. ६२१।

**७. शब्दाकुल**—जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना, जिससे अगीतार्थ भी सुन सके। भगवती आराधना के अनुसार जब सब मुनि एक साथ पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक आलोचना करते हैं, तब अपने दोषों को कहना जिससे गुरु को दोष ज्ञात न हो सकें।[1]

**८. बहुजन**—एक के पास आलोचना करके फिर उसी दोष की दूसरे के पास भी आलोचना करना अथवा एक आचार्य द्वारा दिए गए प्रायश्चित्त में अश्रद्धा करके अन्य आचार्य को पूछना कि आचार्य ने सम्यक् प्रायश्चित्त दिया है या नहीं अथवा अनेक लोगों के बीच आलोचना करना। तत्त्वार्थ की श्रुतसागरीय टीका में इसका अर्थ जब बहुत बड़ा संघ एकत्रित हो, तब दोष प्रकट करना किया है।

**९. अव्यक्त**—अगीतार्थ या बाल मुनि के पास आलोचना करना।

**१०. तत्सेवी**—पार्श्वस्थ अथवा उस आचार्य के पास आलोचना करना, जो उस दोष का सेवन कर चुका हो या वर्तमान में कर रहा हो, जिससे उसे कम प्रायश्चित्त मिले। षट्प्राभृत में तत्सेवी का अर्थ जिस दोष का प्रकाशन किया है, उसका पुनः सेवन करना किया है।[2] कहीं-कहीं तत्त्वार्थराजवार्तिक तथा श्रुतसागरीय वृत्ति में इन दोषों की व्याख्या में कुछ अंतर है।[3] भगवती आराधना में विस्तार से इन दोषों का विवेचन हुआ है।[4] आलोचना के प्रायः दोष माया के साथ जुड़े हुए हैं। माया रहित होकर आलोचना करने वाला आलोचक स्वतः इन दोषों से मुक्त हो जाता है।

आलोचक को आलोचना के समय शारीरिक और वाचिक दृष्टि से होने वाले इन दोषों का वर्जन करना चाहिए—

नृत्य—अंगों को नचाते हुए आलोचना करना।

वल—शरीर को मोड़ते हुए आलोचना करना।

चल—अंगों को चालित करते हुए आलोचना करना।

भाषा—असंयत या गृहस्थ की भाषा में आलोचना करना।

मूक—मूक स्वर में बुदबुदाते हुए आलोचना करना।

ढड्डर—उच्च स्वर में आलोचना करना।[5] पंचवस्तु में वल दोष नहीं है केवल पांच दोष हैं।[6]

---

१. मूलाचार में इसे शब्दाकुलित दोष माना है।

२. षट्प्राभृत १/९ श्रुतसागरीय वृत्ति पृ. ९।

३. तवा ९/२२ पृ. ६२१।

४. भआ ५६४-६०८।

५. ओनि ५१६, ५१७;
नट्ठं वलं चलं भासं, मूयं तह ढड्डरं च वज्जेज्जा।
आलोएज्ज सुविहिओ, हत्थं मत्तं च वावारं।।
एयद्दोसविमुक्कं, गुरुणा गुरुसम्मयस्स वाऽऽलोए।
तं जह गहियं तु भवे ,पढमाओ जा भवे चरिमा।।

६. पंव ३३१-३३, भआ ६०९।

**आलोचनार्ह की योग्यता**

आलोचनार्ह की योग्यता का शास्त्रकारों ने विशद विवेचन किया है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार बहुत आगमों का ज्ञाता, आलोचक के मन में समाधि उत्पन्न करने वाला तथा गुणग्राही आचार्य आलोचना सुनने के योग्य होता है।[1] प्रायश्चित्त देने वाले आचार्य को सभी अपराधस्थानों का भी ज्ञान होना चाहिए, इनको जाने बिना वह प्रायश्चित्त नहीं दे सकता। आलोचनार्ह के आठ गुण बताए गए हैं[2] —

१. **आचारवान्**—आचार के प्रति दृढ़ आस्थावान् तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पांच आचारों से युक्त।

२. **अवधारवान्**—आलोचक द्वारा आलोचित या आलोच्यमान समस्त अतिचारों को धारण करने में समर्थ। दिगम्बर परम्परा के अनुसार चौदहपूर्व, दशपूर्व एवं नवपूर्व का धारक, महामतिमान्, सागर के समान गंभीर, कल्प एवं प्रकल्प का धारक आचार्य आधारवान् या अवधारवान् होता है।[3]

३. **व्यवहारवान्**—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पांच व्यवहारों का ज्ञाता तथा इनके आधार पर प्रायश्चित्त देने में कुशल।

४. **अपव्रीडक**— आलोचक को मधुर वचनों से साहस उत्पन्न करने वाला, जिससे आलोचक लज्जामुक्त होकर निःसंकोच रूप से अपने दोषों को बता सके।

५. **प्रकुर्वी**—राग-द्वेष मुक्त होकर सम्यक् प्रायश्चित्त देकर आलोचक की भावविशोधि करने वाला। मरणविभक्ति प्रकीर्णक में प्रकुर्वी के स्थान पर विधिज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ हैं, जो इसी का संवादी है।[4] भगवती आराधना के अनुसार अपने श्रम की गणना न करके आलोचक का उपकार करने वाला प्रकुर्वक होता है।[5]

६. **निर्यापक**—ऐसा प्रायश्चित्त देने वाला, जिसे प्रतिसेवक निभा सके। स्थानांग की टीका में इसका अर्थ आलोचक बड़े से बड़े प्रायश्चित्त का निर्वहन कर सके, इस रूप में मानसिक सहयोग देने वाला किया है।[6] आ. महाप्रज्ञ के अनुसार यहां टीका का अर्थ अधिक संगत है।[7] आलोचना के समय कठोर शब्दों का प्रयोग करने वाला आचार्य प्रतिसेवक की शोधि नहीं कर सकता। इस तथ्य को भाष्यकार ने एक

---

१. उ ३६/२६२;
बहुआगमविण्णाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं।।
२. प २५/५५४।
३. भआ ४३०।
४. मवि ८६।
५. भआ ४५९।
६. स्थाटी प. ४६१; निज्जवए यस्तथा प्रायश्चित्तं दत्ते यथा परो निर्वोढुमलं भवति।
७. स्था का टिप्पण पृ. ९७९।

दृष्टान्त से समझाया है। किसी खेत में सांड घुसने पर मालिक ने बाड़े को बंद करके उसकी खूब पिटाई की। भयाक्रान्त सांड के इधर-उधर भागने से सारी फसल नष्ट हो गई। इसी प्रकार अल्प अपराध या प्रतिसेवक की स्थिति जाने बिना उपाय-कौशल से रहित प्रेरणा देने वाला आलोचनार्ह प्रतिसेवक मुनि के शेष चारित्र को भी नष्ट कर देता है।

७. **अपायदर्शी**—सम्यक् आलोचना न करने पर उससे उत्पन्न ऐहलौकिक एवं पारलौकिक दोषों को बताने वाला, जिससे वह सरलता से हृदय की ग्रन्थियां खोल सके। मरणविभक्ति प्रकीर्णक में इसके लिए अपायविधिज्ञ शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

८. **अपरिस्रावी**—आलोचक के द्वारा प्रकट किए गए दोषों को दूसरों को नहीं बताकर गंभीरता से उसे भीतर पचाने वाला। अपरिस्रावी विशेषता को प्रकट करने में भाष्यकार ने दृढ़मित्र[2] का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।[3] भगवती आराधना में इन सभी गुणों का दृष्टान्त सहित विस्तृत वर्णन किया है।[4]

स्थानांग और भगवती सूत्र में अंतिम तीन गुणों का क्रम इस प्रकार है—अपरिस्रावी, निर्यापक एवं अपायदर्शी।[5] दसवें स्थानांग और भगवती सूत्र में दस गुणों का उल्लेख मिलता है। इन आठ गुणों के अतिरिक्त वहां प्रियधर्मा और दृढ़धर्मा—ये दो गुण अतिरिक्त मिलते हैं।[6]

व्यवहारभाष्य में आलोचना श्रवण के योग्य व्यवहारी आचार्य की निम्न विशेषताएं वर्णित हैं—

---

१. मवि ८७ ; तह य अवायविहन्नू।

२. दंतपुर नगर में दंतवक्त्र नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सत्यवती था। उसके मन में दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं दंतमय प्रासाद में क्रीड़ा करूं। उसने अपना दोहद राजा को बताया। राजा ने अमात्य को दंतमय प्रासाद बनाने की आज्ञा दी। अमात्य ने नगर में घोषणा करवाई कि जो दूसरों से हाथी दांत खरीदेगा और अपने घर में एकत्रित दांत नहीं देगा, उसे शूली की सजा भुगतनी होगी।

उसी नगर में धनमित्र नामक सार्थवाह की दो पत्नियां थीं। एक का नाम धनश्री तथा दूसरी का नाम पद्मश्री था। एक बार दोनों में कलह होने पर पद्मश्री ने धनश्री को कहा—"तू क्यों गर्व करती है?" क्या तूने रानी सत्यवती की भांति अपने लिए दंतमय प्रासाद बनवाया है? धनश्री को यह बात चुभ गई। उसने पति के समक्ष हठ पकड़ लिया कि मेरे लिए दंतमय प्रासाद बनवाना पड़ेगा। उसने अपने पति से आलाप-संलाप करना बंद कर दिया। धनमित्र ने अपने मित्र दृढ़मित्र को सारी बात कही। दृढ़मित्र ने कहा—'मैं सारी व्यवस्था कर दूंगा।' दृढ़मित्र ने वनचरों से मित्रता स्थापित करके उनसे दांत प्राप्त कर लिए। उन्होंने घास के पुलों में छिपाकर दांतों का एक शकट भर दिया। नगरद्वार पर एक बैल ने घास का पूला खींच लिया। इससे उसमें छिपे दांत नीचे आकर गिर पड़े। चोर समझकर राजपुरुषों ने उसको पकड़ लिया। दृढ़मित्र बोला—'ये दांत मेरे अधिकार में हैं।' इतने में ही धनमित्र आकर बोला—'ये दांत मेरे अधिकार में हैं।' दोनों अपनी बात पर दृढ़ थे। राजा ने कहा—'तुम दोनों निरपराधी हो, मुझे यथार्थ बात बताओ।' उन्होंने दांतों की पूरी बात बताई। राजा उनकी बात सुनकर बहुत संतुष्ट हुआ और दोनों को मुक्त कर दिया। आलोचनार्ह को ऐसा ही अपरिस्रावी—अर्थात् दृढ़मित्र की भांति गोप्य बात को प्रकट नहीं करने वाला होना चाहिए। (व्यभा ५१७ टी प. १७)

३. व्यभा ५२०।

४. द्र. भआ ४४९-५१०।

५. स्था ८/१८, भ. २५/५५४।

६. स्था १०/७२, भ. २५/५५४।

१. **गीतार्थ**—वह सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ में निपुण होना चाहिए। कम से कम कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार आदि छेदसूत्र और उसकी निर्युक्ति का ज्ञाता होना चाहिए।[1]

२. **कृतकरण**—जो आलोचना देने में सहयोगी रह चुका हो।

३. **प्रौढ़**—बिना किसी हिचकिचाहट के प्रायश्चित्त देने में समर्थ।

४. **परिणामक**—अपरिणामक और अतिपरिणामक आचार्य आलोचना देने के योग्य नहीं होता। जिसकी बुद्धि सूत्र और अर्थ तथा उत्सर्ग और अपवाद—दोनों में परिणत होती है, वह परिणामक कहलाता है।

५. **गंभीर**—आलोचक के महान् दोषों को सुनकर भी जो उसको पचाने में समर्थ हो। पूर्व वर्णित अपरिस्रावी योग्यता से इसकी तुलना की जा सकती है।

६. **चिरदीक्षित**—जो कम से कम तीन वर्ष से अधिक दीक्षा पर्याय वाला हो।

७. **वृद्ध**—जो श्रुत, पर्याय और वय—इन तीनों से स्थविर हो।[2]

इन विशेषताओं के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने आलोचनार्ह में कुछ और विशेषताओं का वर्णन किया है—वह परहित में उद्यत, सूक्ष्मभावकुशलमति सम्पन्न, दूसरों के चित्त के भावों को अनुमान से जानने वाला होना चाहिए।[3] धवला के अनुसार आस्रव से रहित, श्रुत रहस्य के ज्ञाता, वीतराग, रत्नत्रय में मेरु के समान स्थिर गुरु के समक्ष अपनी आलोचना करनी चाहिए।[4] मूलाचार के अनुसार जो ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र—इन चारों आचारों में अविचल, धीर, आगम में निपुण और गुप्त दोषों को दूसरों के समक्ष प्रकट नहीं करने वाला आचार्य आलोचना सुनने के योग्य होता है।[5] मरणविभक्ति प्रकीर्णक में विशोधि करने वाले आलोचनार्ह आचार्य के आचार की मेरुपर्वत, सागर, पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य से तुलना की है।[6]

इस प्रकार आलोचनार्ह तटस्थ, परिस्थिति का ज्ञाता, निर्दोष, मृदुभाषी तथा आत्मानुशासित होना चाहिए, जिससे उसके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त प्रतिसेवक के लिए आदेय हो जाए।

---

१. वैदिक परम्परा के अनुसार वेदविद्या के जानकार अग्निहोत्री तीन या चार ब्राह्मणों के समूह की परिषद् ही प्रायश्चित्त दे सकती है। जो धर्मशास्त्र जाने बिना प्रायश्चित्त बताता है तो प्रायश्चित्त करने वाले की तो शुद्धि हो जाती है लेकिन उसका पाप परिषद् को लग जाता है। (पारा ८/१४, १९)

२. व्यभा २३७८;
गीतत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा।
चिरदिक्खिया य वुड्ढा, जतीण आलोयणा जोग्गा।।

३. पंचा १५/१५;
तह परहियम्मि जुत्तो, विसेसओ सुहुमभावकुसलमती।
भावाणुमाणवं तह, जोग्गो आलोयणायरिओ।।

४. षट्ध पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६०; गुरूणमपरिस्सवाणं सुदरहस्साणं वीयरायाणं तिरयणे मेरुव्व थिराणं, सगदोसणिवेयणमालोयणा.....।

५. मूला ५७;
णाणम्हि दंसणम्हि य, तवे चरित्ते य चउसु वि अकंपो।
धीरो आगमकुसलो, अपरिस्साई रहस्साणं।।

६. मवि ९३;
तेसिं मेरु-महोयहि-मेयणि-ससि-सूरसरिसकप्पाणं।
पामूले य विसोही, करणिज्जा सुविहियजणेणं।।

**आलोचक की योग्यता**

आलोचना विशोधि का सशक्त उपक्रम है। अपने अपराधों या अतिचारों की आलोचना करना इतना सरल नहीं होता। बिना धृति के व्यक्ति अपनी दुर्बलता को प्रकट नहीं कर सकता। निम्न गुणों से युक्त साधु ही विशुद्ध हृदय से अपनी आलोचना कर सकता है—

१. **जाति सम्पन्न**—जाति सम्पन्न मुनि प्रायः अकरणीय कार्य नहीं करता। यदि प्रमादवश अकृत्य हो जाए तो वह उसकी सम्यक् आलोचना कर लेता है।

२. **कुल सम्पन्न**—कुल सम्पन्न साधु प्राप्त प्रायश्चित्त का सम्यक् निर्वहन करता है। वह बहाने बनाकर प्रायश्चित्त को कम नहीं करवाता।

३. **विनय सम्पन्न**—विनय सम्पन्न साधु सहजता से गुरु के प्रायश्चित्त को स्वीकार करता है तथा सभी विनय-प्रतिपत्तियों का निर्वाह करता है।

४. **ज्ञान सम्पन्न**—ज्ञान सम्पन्न मुनि श्रुत के अनुसार सम्यक् आलोचना करता है। वह जान लेता है कि अमुक श्रुत के आधार पर मुझे प्रायश्चित्त दिया गया है, यह प्रायश्चित्त मेरी आत्मशोधि करने वाला है।

५. **दर्शन सम्पन्न**—दृष्टि की विशुद्धता के कारण दर्शन सम्पन्न साधु प्रायश्चित्त से शुद्धि में विश्वास करता है। वह प्राप्त प्रायश्चित्त के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं रखता।

६. **चारित्र सम्पन्न**—चारित्र सम्पन्न मुनि पुनः अतिचारों का सेवन नहीं करता। वह चारित्र की स्खलनाओं की सम्यक् आलोचना करता है।

७. **क्षान्त**—क्षमाशील और सहनशील मुनि गुरु के कठोर अनुशासन को भी सम्यक् रूप से ग्रहण करता है।

८. **दान्त**—इंद्रिय और मन पर संयम करने वाला कठोर तप के प्रायश्चित्त का भी सम्यक् वहन कर सकता है।

९. **अमायी**—अमायी साधु बिना कुछ छिपाए सरल हृदय से अपने सभी अपराधों की आलोचना करता है।

१०. **अपश्चात्तापी**—अपश्चात्तापी मुनि अपने बड़े से बड़े अपराध की आलोचना करके भी पश्चात्ताप नहीं करता। वह यह मानता है कि मैं पुण्यशाली हूं, जो प्रायश्चित्त स्वीकार करके आराधक बन गया हूं।[१]

---

१. स्था ८/१९, १०/७१, भ २५/५५३।

आचार्य हरिभद्र के अनुसार इन गुणों से युक्त साधु भाव-विशुद्धि के लिए आलोचना कर सकता है—संविग्न, अमायी, मतिमान्, कल्पस्थित, अनाशंसी (आकांक्षा रहित) प्रज्ञापनीय—जिसे समझाना सरल हो, श्रद्धालु, आज्ञावान्, दुष्कृत-अनुतापी।[1]

**आगमव्यवहारी की स्मारणा विधि**

आगमव्यवहारी आलोचक के अपराध और उसकी शोधि को प्रत्यक्ष जानते हैं फिर भी वे दूसरों के द्वारा आलोचना करने पर उसे सुनकर ही प्रायश्चित्त का प्रयोग करते हैं। उनके सामने यदि आलोचक निसर्गतः अपने अतिचारों को भूल जाता है तो वे उसे अतिचारों की स्मृति करवाते हैं।[2] स्मृति दिलाने पर यदि वह उस अपराध को सम्यक् रूप से स्वीकृत कर लेता है तो उसे प्रायश्चित्त देते हैं अन्यथा अन्यत्र शोधि करने की बात कहते हैं। यदि माया के कारण वह दोषों को छिपाता है अथवा वे यह जानते हैं कि यह अपराध याद कराने पर भी आलोचना स्वीकार नहीं करेगा तो वे आलोचनीय की स्मृति नहीं करवाते। आगमव्यवहारी आलोचक की द्रव्य, पर्याय, क्रम, क्षेत्र, काल और भाव से विशुद्ध आलोचना सुनते हैं उसके पश्चात् व्यवहार का प्रयोग करते हैं[3] यदि प्रतिसेवक अपने सभी अतिचारों की यथाक्रम से आलोचना नहीं करता तो वे उसे प्रायश्चित्त नहीं देते।[4] 'किसी दोष को छिपाये बिना अतिचारों को कहो' ऐसा कहने पर भी यदि वह सरलता से आलोचना नहीं करता, दोष छिपाता है तो आगमव्यवहारी उसे अन्य आचार्य के पास जाकर शोधि करने की बात कहते हैं।[5] आगमव्यवहारी आलोचना देते समय सूत्र और अर्थ—दोनों से आगम-विमर्श करते हैं।[6] यदि आगम और आलोचना—दोनों में विषमता होती है अर्थात् जिस रूप में उसने आलोचना की है, उसके अतिचारों को उस रूप में नहीं देखते, न्यूनाधिक देखते हैं तो आगमव्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नहीं देते। यदि आलोचना और आगम—दोनों समान होते हैं तो आगमव्यवहारी उसे प्रायश्चित्त देते हैं।[7]

**आलोचना परसाक्षी से ही क्यों?**

प्रश्न हो सकता है कि जब व्यक्ति को अपने दुष्कृत्यों की आलोचना करनी है तो वह आत्मसाक्षी से भी की जा सकती है, दूसरे के पास करनी क्यों आवश्यक है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य

---

१. पंचा १५/१२;
संविग्गो उ अमाई, मइमं कप्पट्ठिओ अणासंसी।
पण्णवणिज्जो सद्धो, आणाइत्तो दुकडतावी।।

२. जीभा १४६, निभा ६३९४।

३. जीभा १३१।

४. जीभा १४३, भआ ६२०, व्यभा ४०६५।

५. जीभा १४५।

६. जीभा १३९।

७. जीभा १४७, १४८, व्यभा ४०६८, ४०६९।

कहते हैं कि गुरु के समक्ष आलोचना किए बिना भीतरी शल्य की विशोधि नहीं होती।[१] जिस प्रकार शरीर में बढ़ते हुए फोड़े को यदि चिकित्सक को न बताया जाए तो वह मृत्यु का कारण भी बन सकता है, वैसे ही अपराधरूपी व्रण की चिकित्सा भी आचार्य के समक्ष ही करनी चाहिए अन्यथा भाव शल्य का उद्धरण नहीं हो सकता। भाष्यकार के अनुसार छत्तीस गुणों से युक्त, आगम आदि पांच व्यवहार के प्रयोगों में कुशल आचार्य को भी अन्य आचार्य के पास विशोधि करनी चाहिए।[२] जैसे कुशल वैद्य भी अपनी व्याधि को किसी दूसरे वैद्य को बताता है, वह उसकी व्याधि सुनकर उसकी चिकित्सा प्रारम्भ करता है, वैसे ही निपुण प्रायश्चित्तवेत्ता को भी अन्य आचार्य के पास आलोचना करनी चाहिए।[३] जंघाबल क्षीण होने पर जब आचार्य चलने-फिरने में अशक्त हो जाए तो उसे धारणा व्यवहार से अन्य आचार्य के पास आलोचना करनी चाहिए। टीकाकार अपराजितसूरि के अनुसार परसाक्षी अर्थात् आचार्य की साक्षी से आलोचना करने से मायाशल्य दूर होता है, मान कषाय जड़ से उखड़ जाती है, गुरुजनों के प्रति आदरभाव व्यक्त होता है तथा मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है।[४]

## आलोचना और आराधना

उत्तम अर्थ की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना आराधना है। औपपातिक टीका के अनुसार ज्ञान आदि गुणों की विशेष रूप से अनुपालना आराधना है। इन गुणों को खंडित न होने देना तथा खंडित होने पर उसको सरलता से प्रकट कर देना आराधना है। जैन धर्म में आराधक जीवन का विशेष महत्त्व है। बत्तीस योग-संग्रह में अंतिम योग मारणांतिक आराधना है।[५] आराधना मुख्यतः तीन प्रकार की होती है—ज्ञान आराधना, दर्शन आराधना और चारित्र आराधना।[६] इन तीनों के तीन-तीन भेद होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।[७]

आलोचना और आराधना का गहरा सम्बन्ध है। जो माया के कारण आलोचना नहीं करता, उसके तीनों जन्म गर्हित हो जाते हैं, वह विराधक बन जाता है।[८] जो आलोचना करके निःशल्य हो जाता है, वह निश्चित रूप से आराधक होता है।[९] जो यह सोचते हैं कि कल, परसों या आगे मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्र

---

१. पंचा १५/३९;
आलोयणं अदाउं, सति अण्णम्मि वि तहऽप्पणो दाउं।
जे वि हु करेंति सोहिं, तेऽवि ससल्ला विणिद्दिट्ठा।।

२. जीभा ४११।

३. जीभा ४०९, ४१०, ओनि ७९५, ७९६।

४. भआ ५३६ विटी पृ. ३९२; परसाक्षिकायां शुद्धौ मायाशल्यं निरस्तं भवति। मानकषायो निर्मूलितो भवति। गुरुजनः पूजितो भवति। तत्परतंत्रया वृत्तेर्मार्गप्रख्यापना च कृता स्यात्।।

५. सम ३२/१/५।

६. स्था ३/४३४, भ ८/४५१।

७. भ ८/४५२-५४।

८. स्था ८/१०।

९. भ ३/१९२, मवि ७८ ; आलोइय निस्सल्ला, मरिउं आराहगा ते वि।

की शोधि कर लेंगे, वे काल को नहीं जानते हुए सशल्य मरण प्राप्त करके विराधक हो जाते हैं।[1]

निर्युक्तिकार के अनुसार आलोचना करके आराधनापूर्वक मरण प्राप्त करने वाला उत्कृष्ट तीन भव में निर्वाण प्राप्त कर लेता है।[2] भगवती सूत्र के अनुसार वह नियमित सात-आठ भवों में मोक्ष प्राप्त करता है।[3] यदि साधु बिना आलोचना किए मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उसके चारित्र का नाश हो जाता है और वह अनंत संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[4] भगवती आराधना के अनुसार आलोचना करके ज्ञान, दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करने वाला उसी भव में मुक्त हो जाता है। मध्यम आराधना करने वाला तीसरे भव में तथा जघन्य आराधना करने वाला सातवें भव में मुक्त होता है।[5]

निशीथभाष्य के अनुसार कोई मुनि आपत्ति के कारण मद्य, गीत आदि व्यसन में आसक्त होता है अथवा शारीरिक दौर्बल्य के कारण यथोक्त आचार का पालन करने में असमर्थ होता है, उसका चरण-करण अशुद्ध होता है फिर भी यदि वह अपने अशुद्ध आचरण की गुरु के समक्ष गर्हा करता है और शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करता है तो वह आराधक हो सकता है।[6] इसी प्रकार संयम यात्रा में अवसन्न होने पर भी यदि विशुद्ध आचार की वृद्धि करता है, शुद्ध चारित्रमार्ग की प्ररूपणा करता है तो वह कर्मबंधन को शिथिल करके सुलभबोधि और आराधक होता है।[7]

कभी-कभी बिना आलोचना किए भी साधु आराधक होता है।[8] भगवती सूत्र के आठवें शतक में आलोचना की अभिमुखता के आठ विकल्प बताए गए हैं। उसका फलितार्थ यही है कि कोई साधु अकृत्य स्थान का सेवन करके इस चिन्तन से गुरु के सम्मुख प्रस्थित होता है कि मुझे आलोचना करके प्रायश्चित्त स्वीकार करना है। बीच में उसके मुख का लकवा हो जाए या किसी रोग के कारण आचार्य बोल नहीं पाएं अथवा आचार्य कालगत हो जाएं तो आलोचना न करने पर भी वह साधु आराधक होता है क्योंकि वह मानसिक रूप से आलोचना करने के लिए कृतसंकल्प और समुत्सुक है तथा आलोचना करने के भाव में परिणत होने के कारण उसकी प्रवृत्ति निश्छल और सरल है।[9] आचार्य महाप्रज्ञ ने इस आलापक पर भाष्य लिखते हुए कहा है[10]—आराधक और विराधक का प्रयोग अनेक संदर्भों में होता है—• ज्ञान का आराधक और विराधक। • दर्शन का आराधक और विराधक। • चारित्र का आराधक और विराधक। • इहलोक का

---

१. भआ ५४३;
कल्ले परे व परदो, काहं दंसणणाणचरित्तसोधि त्ति।
इय संकप्पमदीया, गयं पि कालं ण याणंति।।

२. ओनि ८०८;
आराहणाइ जुत्तो, सम्मं काऊण सुविहिओ कालं।
उक्कोसं तिन्नि भवे, गंतूण लभेज्ज निव्वाणं।।

३. भ ८/४६६, पंचा ७/५०।

४. व्यभा ९२१; ससल्लस्सा जीवितघाते चरणघातो।

५. भआ २१५४-५६।

६. निभा ५४३५ चू पृ. ७०।

७. निभा ५४३६।

८. आवनि ८३४; आलोइयम्मि आराधणा, अणालोइए भयणा।

९. भ ८/२५१-५५, जीभा १२८, २३३।

१०. भभा ३ पृ. ९९, १००।

आराधक और विराधक। • परलोक का आराधक और विराधक। • स्वीकृत व्रत की निरतिचार अनुपालना करने वाला आराधक, न करने वाला विराधक होता है।

अकृत्यस्थान की आलोचना न होने पर विशुद्धि कैसे हो सकती है? इसका समाधान 'क्रियमाण-कृत' के सिद्धांत द्वारा किया गया है। क्रिया-काल और निष्ठा-काल में अभेद होता है, प्रतिक्षण कार्य की निष्पत्ति होती है, इस सिद्धांत के अनुसार छिद्यमान को छिन्न, प्रक्षिप्यमान को प्रक्षिप्त और दह्यमान को दग्ध कहा जाता है, वैसे ही आराधना में प्रवृत्त को आराधक कहा जा सकता है।[1]

दसवें शतक में पुनः आराधक और विराधक के प्रसंग में जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है कि यदि कोई भिक्षु अकृत्यस्थान का सेवन करके यह सोचता है कि मैं अंतिम समय में आलोचना करके प्रायश्चित्त प्राप्त करूंगा लेकिन किसी कारणवश वह आलोचना नहीं करता तो वह विराधक है। यदि संकल्प करके अंतिम समय में आलोचना कर लेता है तो वह आराधक होता है।[2] निर्युक्तिकार कहते हैं कि अल्प भावशल्य की भी यदि गुरु के पास आलोचना नहीं की जाती तो श्रुत से समृद्ध होने पर भी वह साधु आराधक नहीं होता। बड़े से बड़े शल्य की भी यदि गुरु के समक्ष आलोचना कर ली जाए तो वह आराधक हो जाता है। पर साक्षी के बिना शल्य की शुद्धि संभव नहीं है।[3] भाष्यकार कहते हैं कि अपराध या अतिचार होते ही साधु को अश्व के समान कहीं भी प्रतिबद्ध हुए बिना तत्काल गुरु के पास आलोचना करनी चाहिए।[4] यदि साधु का किसी के साथ कलह हो जाए, उस समय पश्चात्ताप करता हुआ उपशान्त हो जाता है तथा क्षमायाचना कर लेता है तो वह आराधक होता है। अन्यथा विराधक होता है।[5]

इसी संदर्भ में एक प्रश्न उठता है कि यदि किसी कारण से मुनि को प्रतिसेवना के अतिचार विस्मृत हो जाएं तो बिना सम्यक् आलोचना के वह निःशल्य कैसे बनेगा? इस प्रश्न का समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि आलोचक माया और गौरव से रहित होकर यह सोचता है कि मैंने जो-जो अपराध किए हैं, उन्हें जिनेश्वर भगवान् जानते हैं, मैं सर्वात्मना उनकी आलोचना के लिए उपस्थित हूं तो अतिचार विस्मृत होने पर भी भाव-विशोधि के कारण वह मुनि आराधक होता है।[6] संघीय कार्य उपस्थित होने पर अथवा संघ के ऊपर संकट की स्थिति आने पर पंचेन्द्रिय का वध होने पर अथवा स्वयं के जीवन का नाश होने पर भी साधु आराधक होता है क्योंकि इसमें आलम्बन विशुद्ध है, ऐसा करने से तीर्थ की परम्परा

---

१. भ. ८/२५५ टी प ३७६ ; क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदेन प्रतिक्षणं कार्यस्य निष्पत्तेः छिद्यमानं छिन्नमित्युच्यते एवमसावालोचनापरिणतौ सत्यामाराधनाप्रवृत्त आराधक एवेति।

२. भ १०/१९-२१।

३. मवि २२५, २२६ ;
सुबहुं पि भावसल्लं, आलोएऊण गुरुसगासम्मि।
निस्सल्लो संथारं, उवेइ आराहओ होइ।।
अप्पं पि भावसल्लं, जे णालोयंति गुरुसगासम्मि।
धंतं पि सुयसमिद्धा, न हु ते आराहगा होंति।।

४. व्यभा २३१; अहगं च सावराधो, आसो विव पत्थितो गुरुसगासं।

५. कसू १/३४।

६. जीभा ४२२।

अविच्छिन्न रहती है। सामर्थ्य या विद्यातिशय होने पर भी जो साधु उसका उपयोग नहीं करता तो वह विराधक होता है।[1]

## आलोचना के लाभ

जैन आगमों में अपनी स्खलना को गुरु के समक्ष स्पष्ट रूप से कहने का निर्देश स्थान-स्थान पर मिलता है। व्यक्ति जब मार्गदर्शक के समक्ष अपने अपराध स्वीकार कर लेता है तो वह हल्का हो जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में आलोचना के लाभ प्रकट करते हुए महावीर कहते हैं कि आलोचना से आंतरिक शल्यों की चिकित्सा होती है, सरल मनोभाव की विशेष उपलब्धि होती है, तीव्रतर विकारों से दूर रहने की क्षमता का विकास होता है तथा पूर्व संचित विकार के संस्कारों का विलय होता है।[2] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार आलोचना करने से निम्न गुण प्रकट होते हैं—

- मिथ्यात्व आदि पांच आश्रवों को दूर करके पंचविध आचार की सम्यक् आराधना।
- माया का विनाश तथा विनयगुण का विस्तार।
- चारित्र के नियमों में निरतिचार प्रवृत्ति।
- अतिचार रूपी पंक से पंकिल आत्मा की विशोधि।
- ऋजु भाव—संयम का विकास।
- आर्जव और मार्दव का विकास।
- अतिचार की गुरुता समाप्त होने से लाघव का अनुभव।
- मैं शल्यमुक्त हो गया हूं, इस प्रकार की तुष्टि।
- अतिचार के समाप्त होने से प्रसन्नता की वृद्धि।[3]

व्यवहारभाष्य में कुछ अंतर के साथ आलोचना करने के निम्न लाभों का उल्लेख मिलता है[4]—

१. लाघवता—भारहीन व्यक्ति की भांति आलोचना करने वाला हल्केपन की अनुभूति करता है। अपराधबोध का भार उसके मस्तिष्क से हट जाता है।

२. प्रसन्नता—अतिचार जन्य आंतरिक ताप का शमन होने से अतिरिक्त मानसिक प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

३. आत्मपरनिवृत्ति—आलोचना करने से स्वयं के दोषों की निवृत्ति होती है तथा उसे देखकर दूसरों के दोषों की भी निवृत्ति हो जाती है।

४. आर्जव—अपने दोषों को प्रकट करने से स्वयं की ऋजुता का विकास होता है।

---

१. जीभा २३८६-९१।
२. उ २९/६।
३. जीभा २४६-५१, पंकभा १३१०।
४. व्यभा ३१७ ;
लहुयल्हादीजणणं, अप्पपरनियत्ति अज्जवं सोही।
दुक्करकरणं विणओ, निस्सल्लत्तं व सोधिगुणा।।

५. शोधि—जल से मलिन वस्त्र की भांति आलोचना से मलिन चारित्र की विशोधि होती है।

६. दुष्करकरण—प्रबल वैराग्य और उत्साह से ही व्यक्ति अपने दोषों की आलोचना कर सकता है अतः दोषों की प्रतिसेवना उतनी दुष्कर नहीं है, जितनी कि उसकी गुरु के समक्ष आलोचना करना।

७. विनय— अहंकार का नाश हुए बिना व्यक्ति आलोचना नहीं कर सकता अतः आलोचना करने वाले व्यक्ति में सहज ही विनय का गुण प्रकट हो जाता है।

८. निःशल्यता—आंतरिक शल्य भीतर ही भीतर व्यक्ति के आत्मबल को कमजोर कर देता है। आलोचना से माया आदि शल्यों का उद्धरण हो जाता है।

आचार्य अकलंक के अनुसार आलोचना के बिना बड़ी तपस्या भी उसी भांति इष्ट फल नहीं देती, जैसे विरेचन से शरीर के मल की शुद्धि किए बिना खाई गई औषधि।[1] विशुद्ध हृदय से आलोचना के साथ किया गया प्रायश्चित्त साफ दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप की भांति निखर उठता है। शुद्ध हृदय से आलोचना करने पर भी यदि आलोचक प्राप्त प्रायश्चित्त का सम्यक् वहन नहीं करता है तो उसका शोधन नहीं होता। वह व्यक्ति अपने आय और व्यय का हिसाब नहीं रखने वाले कर्जदार की भांति सदैव दुःखी रहता है।[2]

## आलोचना के अपराध-स्थान

दैनिक जीवन में अवश्य करणीय कार्यों को निरतिचार रूप से उपयुक्त होकर करने वाले छद्मस्थ मुनि की आलोचना मात्र से शुद्धि हो जाती है।[3] प्रश्न हो सकता है कि जब मुनि करणीय योग में निरतिचार रूप से उपयुक्त है तो फिर आलोचना की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि सूक्ष्म आस्रव क्रिया अथवा सूक्ष्म प्रमाद से लगने वाले कर्म और अतिचार को छद्मस्थ नहीं जान सकता अतः उसकी शुद्धि गुरु के समक्ष आलोचना करने मात्र से हो जाती है अतः गुरु के समक्ष ज्ञात या अज्ञात तीनों योगों से सम्बन्धित क्रियाओं की आलोचना करनी चाहिए।[4] सातिचार मुनि को ऊपर के प्रायश्चित्तों की प्राप्ति होती है।[5] केवलज्ञानी कृत्कृत्य होते हैं अतः उनके आलोचना प्रायश्चित्त नहीं होता।[6]

---

१. तवा ९/२२, पृ. ६२१ ; महदपि तपस्कर्म अनालोचनपूर्वकम् नाभिप्रेतफलप्रदम्, अविरिक्तकायगतौषधवत् ।

२. तवा ९/२२ पृ. ६२१; कृतालोचनचित्तगतं प्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते।.....परपरिभवादिगणनया निवेद्यातिचारं यदि न शोधयेद् अपरीक्षिताय-व्ययाधमर्णवदवसीदति।

३. व्यभा ५६।

४. जीभा ७३६-३८।

५. प्रसाटी प. २१८ ; सातिचारस्य तूपरितनप्रायश्चित्तसम्भवात्।

६. प्रसाटी प. २१८; केवलज्ञानिनश्च कृतकृत्यत्वेनालोचनाया अयोगात्।

सामान्यतया सौ हाथ की दूरी तक बाहर जाने पर समिति-गुप्ति की विशुद्धि के लिए आलोचना आवश्यक है।[1] इसी प्रकार श्लेष्म, प्रस्रवण आदि के परिष्ठापन में प्रमत्त साधु की आलोचना से शुद्धि होती है। अप्रमत्त और उपयुक्त को आलोचना की आवश्यकता नहीं होती।[2] सामान्यतया आलोचना करने के निम्न स्थान हो सकते हैं—

- कुल, गण या संघ के कार्य हेतु बाहर जाने पर।
- प्रातिहारिक संस्तारक आदि लौटाने हेतु जाने पर।
- आहार या औषध आदि लाने हेतु जाने पर।
- उच्चारप्रस्रवण के परिष्ठापन हेतु या स्वाध्याय-भूमि में जाने पर।
- क्षेत्र-प्रतिलेखना हेतु जाने पर।
- शैक्ष का अभिनिष्क्रमण अथवा कोई आचार्य के संलेखना करने से वहां जाने पर।
- बहुश्रुत तथा अपूर्व संविग्न आचार्य को वंदना करने या संशय को दूर करने हेतु जाने पर।
- श्रावक अथवा अपने ज्ञातिजनों की श्रद्धा बढ़ाने हेतु जाने पर।
- अवसन्न साधर्मिक का संयम में उत्साह बढ़ाने हेतु जाने पर।[3]

चूर्णिकार जिनदासगणी के अनुसार परस्पर अध्ययन-अध्यापन, परिवर्तना, केशलोच, वस्त्रों का आदान-प्रदान—इन कार्यों की गुरु के समक्ष आलोचना मात्र से शुद्धि हो जाती है।[4] भिक्षा, विहार आदि स्थानों को गुरु की आज्ञा के बिना करने पर अथवा आलोचना न करने से गुरु का अविनय तथा अशुद्ध परिभोग होता है।[5]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार निम्न स्थानों में आलोचना प्रायश्चित्त प्राप्त होता है—

- आचार्य से पूछे बिना आतापना लेने पर।
- दूसरे साधुओं की अनुपस्थिति में उनके उपकरण ग्रहण करने पर।
- प्रमाद से आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन करने पर।
- आचार्य से पूछे बिना जाकर आने पर।
- परसंघ से पूछे बिना अपने संघ में आने पर।
- धर्मकथा आदि के कारण व्रत, नियम आदि का विस्मरण होने पर।[6]

---

१. जीसू ७, जीभा ७५९, ७६०।
२. जीभा ७६२।
३. जीभा ७५०-५७, प्रसाटी प. २१८।
४. आवचू २ पृ. २४६ ; परोप्परस्स वायण-परियट्टण-वत्थ-दाणादिए अणालोतिए गुरूणं अविणओ त्ति आलोयणारिहं।
५. व्यभा ५७ ;
भिक्खु-वियार-विहारे, अन्नेसु य एवमादिकज्जेसु।
अविगडियम्मि अविणओ, होज्ज असुद्धे व परिभोगो।।
६. काअटी पृ. ३४३।

भाष्यकार के अनुसार प्रतिक्रमण प्रायश्चित में आलोचना नहीं की जाती लेकिन विवेक और व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त में आलोचना वैकल्पिक है।[1]

## २. प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त

प्रतिक्रमण आत्मा के मल को धोने के लिए साबुन के समान है। इसका अर्थ है—पीछे लौटना। अतीत के पाप की विशुद्धि के लिए मानसिक रूप से अतिचारों को याद करके उससे निवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[2] आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण शब्द की दो रूपों में व्याख्या की है—

- शुभ योग से अशुभ योग में जाते हुए पुनः शुभ योग में विपरीत चलना प्रतिक्रमण है।[3] अर्थात् औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौटना प्रतिक्रमण है।
- प्रतिक्षण शुभ योगों में क्रमण—वर्तन करना प्रतिक्रमण है।[4]

निश्चय नय के अनुसार जब तक आत्मा स्वयं प्रतिक्रमण नहीं बन जाती, तब तक वह द्रव्य प्रतिक्रमण होता है। नियमसार के अनुसार जब साधक वचन-रचना को छोड़कर, राग आदि भावों का निवारण करके अपनी आत्मा का ध्यान करता है, विराधना को छोड़कर आराधना में प्रवृत्त होकर प्रतिक्रमणमय हो जाता है, तब प्रतिक्रमण होता है।[5] आचार्य जिनदास के अनुसार जब आत्मा में तीव्र संवेग की प्राप्ति होती है, तब व्यक्ति अपने अतीतकालीन पाप की स्मृति करके आत्मनिंदा और गर्हा करता है, पुनः वह अनाचरणीय को न करने का संकल्प करता है, वही वास्तविक प्रतिक्रमण है।[6] धवला में भी इसी मत की पुष्टि है।[7]

प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त में गुरु के समक्ष आलोचना करने की आवश्यकता नहीं रहती, संवेगपूर्वक मिथ्या दुष्कृत करने मात्र से पाप की शुद्धि हो जाती है।[8] उदाहरण स्वरूप किसी साधु के श्लेष्म आदि बाहर निकलता है, उससे हिंसा आदि दोष लगता है लेकिन उसमें तप रूप प्रायश्चित्त नहीं मिलता, प्रतिक्रमण करने से शुद्धि हो जाती है।[9]

---

१. व्यभा ५५; बितिए णत्थि वियडणा, वा उ विवेगे तधा विउस्सग्गे।

२. विभा ३५७२; पडिक्कमामि त्ति भूयसाकज्जओ निवत्तामि।

३. आवहाटी २ पृ. ४१ ; शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेष्वेव प्रतीपं प्रतिकूलं वा क्रमणं प्रतिक्रमणम्।

४. आवहाटी २ पृ. ४१; प्रति प्रति क्रमणं वा प्रतिक्रमणं, शुभयोगेषु प्रति प्रति वर्तनमित्यर्थः।

५. निसा ८३, ८४;
मोत्तूण वयणरयणं, रागादि भाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं।।
आराहणाइ वट्टइ, मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा।।

६. अनुद्वाचू पृ. १८।

७. षट्ध पु. १३/५, ४, २६, पृ. ६०; गुरुणमालोचणाए विणा ससंवेग-निव्वेयस्स पुणो ण करेमि त्ति जमवराहादो णियत्तणं पडिक्कमणं णाम पायच्छित्तं।

८. तवा ९/२२ पृ. ६२१; मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्त-प्रतिक्रिया प्रतिक्रमणम्।

९. जीभा ७१९, ७२०।

चूर्णिकार के अनुसार प्रतिक्रमण का तात्पर्य है— दोष का पुनः सेवन न करने का संकल्प तथा उसके योग्य प्रायश्चित्त को स्वीकार करके उसका वहन करना।[1] प्रतिक्रमण करके जो पुनः उन्हीं पापों का सेवन करता है, उसका प्रतिक्रमण सार्थक नहीं होता, वह प्रत्यक्ष मृषावादी और मायावी होता है।[2] निर्युक्तिकार के अनुसार किसी भी प्रकार का अकार्य हो जाने पर उसका प्रतिक्रमण करके हल्का हो जाना चाहिए, उसका हृदय में भार नहीं ढ़ोना चाहिए।[3]

प्रतिक्रमण का अर्थ यहां केवल अशुभ योगमय पापकर्म से निवृत्ति है, न कि शुभ योग या शुभ ध्यान से निवृत्ति। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर दिगम्बर-साहित्य में अप्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। ज्ञानी का शुभ भाव तथा ज्ञान, दर्शन से पीछे न लौटना प्रशस्त अप्रतिक्रमण तथा अज्ञानी का लोभ, विषय-कषाय से पीछे न लौटना अप्रशस्त अप्रतिक्रमण है।[4] यहां प्रशस्त प्रतिक्रमण का प्रसंग है।

**प्रतिक्रमण के एकार्थक**

प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द मिलते हैं[5]—

**प्रतिक्रमण**—प्रमादवश संयम से बाहर चले जाने पर पुनः संयम में लौटना।[6]

**प्रतिचरण**—अकार्य का परिहार और कार्य में प्रवृत्ति।

**परिहरण**—दोषों का परिहरण।

**वारण**—अपने आपको दोषों से दूर रखना।

**निवृत्ति**—अशुभ भावों से निवर्तन।

**निंदा**—आत्म-संताप।

**गर्हा**—गुरु के समक्ष आलोचना करना।

**शोधि**[7]—दोषों का उच्छेद करना।

यद्यपि निर्युक्तिकार ने इन आठों शब्दों को प्रतिक्रमण का पर्याय माना है लेकिन इन आठों शब्दों

---

१. आवचू २ पृ. ४८ ; पडिक्कमामि णाम अपुणक्करणताए अब्भुट्ठेमि, अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जामि।

२. आवहाटी १ पृ. ३२३।

३. ओनि ८००;
जं किंचि कयमकज्जं, न हु तं लब्भा पुणो समायरिउं।
तस्स पडिक्कमियव्वं, न हु तं हियएण वोढव्वं।।

४. समयसार ता वृ ३०७/३८९/१७।

५. आवनि ८२४।

६. आवचू २ पृ. ५२ ;
स्वस्थानाद्यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते।।

७. चूर्णि में 'शोधि' के स्थान पर 'विशोधि' शब्द का प्रयोग मिलता है। (आवचू २ पृ. ५३)

को प्रतिक्रमण का पर्याय न मानकर उसकी क्रमिक अवस्थाएं कहा जा सकता है। ये एकार्थक न होकर प्रतिक्रमण के विविध भावों की अवस्थाएं हैं, इसका साक्षी है तिलोयपण्णत्ति, वहां प्रतिक्रमण, प्रतिचरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि—ये नाम मिलते हैं लेकिन वहां इनको एकार्थक न मानकर आत्मा के विविध भावों के रूप में स्वीकार किया है।

आवश्यक निर्युक्ति में इन आठों के निक्षेप तथा इनसे सम्बन्धित एक-एक कथा का वर्णन प्राप्त होता है।[1] यहां केवल प्रतिक्रमण की कथा प्रस्तुत की जा रही है—एक राजा अपने नगर के बाहर प्रासाद का निर्माण करवाना चाहता था। उसने शुभ तिथि और नक्षत्र में प्रासाद-निर्माण का कार्य प्रारम्भ करवा दिया। उसने रक्षक नियुक्त करते हुए उससे कहा—'जो व्यक्ति इसमें प्रवेश करे, उसे मृत्युदंड देना है। जो उन्हीं पैरों वापस लौट जाए, उसे नहीं मारना है।' एक बार दो ग्रामीण व्यक्ति उस क्षेत्र में घुस गए। आरक्षकों के पकड़ने पर एक ने उद्दंडतापूर्वक कहा—'भीतर आ गए तो क्या हुआ?' दूसरा अपनी गलती स्वीकार करता हुआ उन्हीं पैरों वापस लौट गया। उसके प्रतिक्रमण ने उसे बचा लिया।[2] शेष सात कथाओं हेतु देखें आवहाटी २ पृ. ४३-४८

**प्रतिक्रमण के निक्षेप**

आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के छह निक्षेप मिलते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। कुछ आचार्य प्रतिक्रमण के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार निक्षेप ही करते हैं। इनमें नाम, स्थापना प्रतिक्रमण स्पष्ट हैं। भाव से अनुपयुक्त होकर जो केवल द्रव्य प्रतिक्रमण करता है, उसका प्रतिक्रमण करने का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।[3] द्रव्य प्रतिक्रमण में कुम्भकार का उदाहरण प्रसिद्ध है। एक कुम्भकार के पास कुछ साधु ठहरे हुए थे। एक छोटा शिष्य पत्थर के टुकड़ों से घड़ों को खण्डित कर रहा था। कुम्भकार ने कहा—'तुम मेरे बर्तनों को खण्डित क्यों कर रहे हो? इस बात को सुनकर क्षुल्लक शिष्य ने 'मिच्छामि दुक्कडं' का उच्चारण किया लेकिन थोड़ी देर के बाद वह पुनः मिट्टी के बर्तनों को खण्डित करने लगा। तब कुम्भकार ने बाल साधु को शठ जानकर जोर से कान मरोड़ दिया और 'मिच्छामि दुक्कडं' का उच्चारण किया। इस प्रकार 'मिच्छामि दुक्कडं' का उच्चारण करके पुनः उसी पाप का सेवन करना द्रव्य प्रतिक्रमण है।[4]

क्षेत्र प्रतिक्रमण का अर्थ है—पानी, कीचड़ तथा त्रस-स्थावर जीवों से युक्त क्षेत्र में गमन का वर्जन

---

१. देखें आवनि ८२५-३२।
२. आवनि ८३३ हाटी २ पृ. ४३।
३. मूला ६२६।
४. आवहाटी १ पृ. ३२३।

करना अथवा जिस क्षेत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय की हानि होती हो, उसका परिहार करना। काल प्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है—ध्रुव और अध्रुव। प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के तीर्थ में ध्रुव प्रतिक्रमण तथा मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरों के तीर्थ में काल की दृष्टि से अध्रुव प्रतिक्रमण होता है। भाव प्रतिक्रमण भी दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। मिथ्यात्व आदि से सम्यक्त्व में लौटना प्रशस्त प्रतिक्रमण तथा सम्यक्त्व आदि से मिथ्यात्व आदि में लौटना अप्रशस्त प्रतिक्रमण है। आलोचना, निंदा, गर्हा के द्वारा जो प्रतिक्रमण करने के लिए उद्यत होता है, उसके भाव प्रतिक्रमण होता है, शेष के द्रव्य प्रतिक्रमण होता है।[1] जब जीव प्रतिक्रमण के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त हो जाता है, द्वैतभाव नहीं रहता स्वयं प्रतिक्रमण मय बन जाता है, तब भाव प्रतिक्रमण होता है। आचार्य कुंदकुंद ने इसी तथ्य को प्रकट किया है। अनाचार को छोड़कर आचार में स्थिर होना, उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में स्थिर होना, शल्य को छोड़कर निःशल्य बन जाना, अगुप्ति को छोड़कर त्रिगुप्ति से गुप्त होना, आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्लध्यानमय बन जाना, मिथ्यादर्शन आदि को सम्पूर्ण रूप से छोड़कर सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र से स्वयं को भावित करना भाव प्रतिक्रमण है।[2] भाव प्रतिक्रमण को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्तिकार ने नागदत्त और चार कषाय रूप सर्प के सुन्दर रूपक का उल्लेख किया है।[3]

भाव प्रतिक्रमण में मृगावती की कथा प्रसिद्ध है। भगवान् महावीर के समवसरण में चांद और सूरज विमान सहित उपस्थित थे अतः मृगावती को रात्रि होने की अवगति नहीं मिली। शेष साध्वियां भगवान् को वंदना करके लौट गईं। मृगावती कुछ देरी से आर्या चंदना के पास आलोचना हेतु पहुंची। आर्या चंदना ने उसे कड़ा उपालम्भ दिया। साध्वी मृगावती 'मिच्छामि दुक्कडं' कहती हुई आर्या चंदना के चरणों में झुक गई। तीव्र संवेग से प्रतिक्रमण करते हुए आर्या मृगावती को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय एक सर्प आर्या चंदना के संस्तारक के पास से गुजरने लगा। चंदना का हाथ संस्तारक से नीचे लटक रहा था। मृगावती ने हाथ को ऊपर कर दिया। आर्या चंदना ने पूछा—'क्या तुम अभी तक जग रही हो?' मृगावती ने कहा—'यह सर्प आपको डस न ले इसलिए मैंने आपका हाथ संस्तारक से ऊपर कर दिया है। आर्या चंदना को सांप दिखाई नहीं दिया तो उसने पूछा—'क्या तुम्हें अतिशायी ज्ञान उत्पन्न हुआ है?' मृगावती ने कहा—'आपकी कृपा से केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।' तब आर्या चंदना मृगावती के चरणों में झुककर बोली—'मिच्छामि दुक्कडं' मैंने केवली की आशातना कर दी। यहां दोनों का भावप्रतिक्रमण है।[4]

---

१. मूला ६२५ ;
आलोचण-णिंदण-गरहणाहिं अब्भुट्ठिओ य करणाए।
तं भावपडिक्कमणं, सेसं पुण दव्वदो भणियं।।

२. निसा ८५-९१।
३. द्र. आवनि ८४४-६२
४. आवहाटी १ पृ. ३२३, ३२४।

**प्रतिक्रमण के प्रकार**

आचार्यों ने भिन्न-भिन्न विवक्षा से प्रतिक्रमण के भेदों की अनेक रूपों में व्याख्या की है। काल के आधार पर प्रतिक्रमण के आठ भेद मिलते हैं[1] —

| | |
|---|---|
| १. दैवसिक प्रतिक्रमण | ५. पाक्षिक प्रतिक्रमण |
| २. रात्रिक प्रतिक्रमण | ६. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण |
| ३. इत्वरिक प्रतिक्रमण | ७. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण |
| ४. यावत्कथिक प्रतिक्रमण | ८. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण |

दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में साधु ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सम्बन्धित अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करता है।[2] प्रश्न उपस्थित होता है कि दैवसिक प्रतिक्रमण में साधु उन अतिचारों का भी उच्चारण करता है, जिनका आसेवन दिन में संभव नहीं, इसी प्रकार रात्रिक प्रतिक्रमण में भी ऐसे अतिचार उच्चरित होते हैं, जो रात में संभव नहीं, फिर उनका उच्चारण क्यों किया जाता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि इसके मुख्य तीन हेतु हैं—१. संवेग-वृद्धि २. अप्रमाद की साधना ३. निंदा-गर्हा।[3] इत्वरिक प्रतिक्रमण को स्पष्ट करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म तथा नाक का मल आदि परिष्ठापित करके किया जाने वाला तथा ज्ञात-अज्ञात अवस्था में, सहसा गलती होने पर किया जाने वाला इत्वरिक प्रतिक्रमण कहलाता है।[4] पांच महाव्रत, रात्रिभोजन-विरति, चातुर्याम, भक्तपरिज्ञा तथा इंगिनीमरण—इनसे सम्बन्धित प्रतिक्रमण यावत्कथिक प्रतिक्रमण है।[5]

तर्क उपस्थित होता है कि जब सुबह और शाम प्रतिक्रमण करना साधु की नित्य दिनचर्या का अंग है तो फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि लोग अपने-अपने घरों को प्रतिदिन सुबह और शाम साफ करते हैं फिर भी पक्ष, मास आदि बीतने पर अथवा दीपावली आदि विशिष्ट पर्वों के अवसर पर घरों की लिपाई-पुताई आदि के द्वारा विशेष रूप से सफाई होती है, इसी प्रकार प्रतिदिन सुबह और शाम प्रतिक्रमण करने पर भी यदि कुछ अतिचार दोष शेष रह जाते हैं तो उनकी विशेष विशुद्धि के लिए पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण किया जाता है।[6]

---

१. आवनि ८३८।
२. उ २६/३९-४१।
३. आवचू २ पृ. ७५।
४. आवनि ८४०।
५. आवनि ८३९।
६. आवचू २ पृ. ६४ ; जथा लोगे गेहं दिवसे-दिवसे पमज्जिज्जंतं पि पक्षादिसु अब्भधितं अवलेवणपमज्जणादीहिं सज्जिज्जति, एवमिहावि ववसोहणविसेसे कीरति त्ति।

अपराध-स्थानों के आधार पर स्थानांग सूत्र में प्रतिक्रमण के छह भेद भी मिलते हैं—

१. उच्चार प्रतिक्रमण—मल-त्याग करने के बाद वापस आकर ईर्यापथिकी सूत्र द्वारा प्रतिक्रमण करना।

२. प्रस्रवण प्रतिक्रमण—मूत्र त्याग करने के बाद ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।

३. इत्वरिक प्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण करना।

४. यावत्कथिक प्रतिक्रमण—हिंसा आदि से सर्वथा निवृत्त होना तथा आजीवन अनशन करना।

५. यत्किंचिद्मिथ्यादुष्कृत प्रतिक्रमण—साधारण अयतना या असावधानी होने पर उसकी विशुद्धि हेतु 'मिच्छामि दुक्कडं' अर्थात् मिथ्याकार प्रतिक्रमण करना।

६. स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—सोकर उठने के पश्चात् ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।[1]

दिगम्बर परम्परा में कुछ अंतर के साथ प्रतिक्रमण के सात भेद मिलते हैं—

१. दैवसिक प्रतिक्रमण—दिवस सम्बन्धी अतिचारों से निवृत्त होना।

२. रात्रिक प्रतिक्रमण—रात्रि सम्बन्धी अतिचारों से निवृत्त होना।

३. ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण—चलते समय लगने वाले प्रमाद से निवृत्त होना।

४. पाक्षिक प्रतिक्रमण—पक्ष सम्बन्धी अतिचारों से निवृत्त होना।

५. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—चातुर्मास सम्बन्धी अतिचारों से निवृत्त होना।

६. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण—एक साल में लगने वाले अतिचारों से निवृत्ति।

७. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण—जीवन के अंत में आजीवन अनशन के समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण।[2]

मूलाचार में मरण-समाधि की आराधना के समय होने वाले तीन प्रतिक्रमणों का निर्देश मिलता है—

१. सर्वातिचार प्रतिक्रमण—दीक्षा ग्रहण से लेकर तपश्चरण के काल तक जितने दोष लगे हों, उनकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना।[3]

२. त्रिविध प्रतिक्रमण—जल के अतिरिक्त अशन, खाद्य, स्वाद्य आदि तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना।

३. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण—जीवन पर्यन्त जल पीने से निवृत्त होना। यह प्रतिक्रमण उत्तम अर्थ—मोक्ष के लिए होता है।[4] मूलाचार के टीकाकार ने उस समय होने वाले अन्य प्रतिक्रमणों का भी उल्लेख किया है—

---

१. स्था ६/१२५।

२. मूला ६१५।

३. निसा ९३।

४. मूला १२० ;
पढमं सव्वदिचारं, बिदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।
पाणस्स परिच्चयणं, जावज्जीवायमुत्तमट्ठं च।।

योग प्रतिक्रमण, इंद्रिय प्रतिक्रमण, शरीर प्रतिक्रमण और कषाय प्रतिक्रमण आदि।[1]

कषाय पाहुड के अनुसार सर्वातिचार और त्रिविध आहार त्याग रूप प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में समाविष्ट होते हैं। शेष रात्रिक आदि प्रतिक्रमण ईर्यापथिक प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत हो जाते हैं इसलिए प्रतिक्रमण के सात ही भेद होते हैं।[2]

प्रकारान्तर से भगवती आराधना की विजयोदया टीका में प्रतिक्रमण के तीन भेद उल्लिखित हैं—

- मनः प्रतिक्रमण—किए हुए अतिचारों की मन से आलोचना करना मानसिक प्रतिक्रमण है।
- वाक्य प्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण के सूत्रों का उच्चारण करना वाक्य प्रतिक्रमण है।
- काय-प्रतिक्रमण—शरीर के द्वारा दुष्कृत्य नहीं करना काय प्रतिक्रमण है।[3]

**प्रतिक्रमण किसका?**

आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण, प्रतिक्रामक और प्रतिक्रमितव्य—इन तीन शब्दों का उल्लेख मिलता है। प्रतिक्रमितव्य अर्थात् प्रतिक्रमण करने योग्य तत्त्व। आवश्यक सूत्र में एक से लेकर ३२ संख्या तक प्रतिक्रान्तव्यों का वर्णन है, जैसे—एकविध असंयम, द्विविध बंधन—रागबंधन, द्वेषबंधन, त्रिविध दण्ड—मनः दण्ड, वचन दण्ड और कायदण्ड, चतुर्विध कषाय आदि।[4] निर्युक्तिकार के अनुसार प्रतिक्रान्तव्य तत्त्व ये हैं—

- मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर।
- असंयम से संयम की ओर।
- कषाय से अकषाय की ओर।
- अप्रशस्तयोग से प्रशस्तयोग की ओर।
- संसार (नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति रूप संसार) से प्रतिक्रमण।[5]

स्थानांग सूत्र में इन्हीं विषयों के आधार पर प्रतिक्रमण के पांच भेद किए गए हैं[6]—

१. आश्रव प्रतिक्रमण—प्राणातिपात आदि आस्रवों से प्रतिनिवृत्त होना। यह असंयम से संयम की ओर प्रतिक्रमण करने का संवादी है।

२. मिथ्यात्व प्रतिक्रमण—आभिग्रहिक आदि मिथ्यात्व से प्रतिक्रमण।

३. कषाय प्रतिक्रमण—क्रोध, मान, माया और लोभ से प्रतिक्रमण।

४. योग प्रतिक्रमण—मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति।

---

१. मूलाटी पृ. १०३, १०४।
२. कपा १/१ पृ. ११३, ११४।
३. भआविटी पृ. ३८१।
४. आव ४/८।
५. आवनि ८४१, ८४२।
६. स्था ५/२२२।

५. भावप्रतिक्रमण—मिथ्यात्व आदि में स्वयं प्रवृत्त न होना, दूसरों को प्रवृत्त न करना तथा प्रवृत्त होने वाले का अनुमोदन नहीं करना।[1]

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार यदि विषय के आधार पर इनकी विवक्षा न की जाए तो प्रथम मिथ्यात्व आदि चार प्रतिक्रमणों का भाव प्रतिक्रमण में समावेश हो जाता है।

**प्रतिक्रमण, सामायिक और प्रत्याख्यान में अंतर**

प्रश्न हो सकता है कि प्रतिक्रमण, सामायिक और प्रत्याख्यान में क्या अंतर है क्योंकि तीनों में पाप की निवृत्ति होती है। इसका यह समाधान है कि सामायिक में वर्तमान के सावद्य योगों से निवृत्ति होती है प्रत्याख्यान में भविष्य का त्याग किया जाता है तथा प्रतिक्रमण में अतीत में हुए पापों से निवृत्ति की जाती है[2] लेकिन आवश्यक निर्युक्तिकार ने प्रतिक्रमण का सम्बन्ध तीनों कालों से जोड़ा है। प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिक्रमण तो अतीत का होता है फिर निर्युक्तिकार ने इसका सम्बन्ध तीनों कालों से क्यों जोड़ा? आचार्य हरिभद्र ने टीका में इस प्रश्न का समाधान किया है। उनके अनुसार निंदा के द्वारा अशुभ योगों से निवृत्ति, यह अतीत का प्रतिक्रमण है। संवर द्वारा अशुभ योगों से निवृत्ति, यह वर्तमान का प्रतिक्रमण है तथा प्रत्याख्यान द्वारा अशुभ योगों से निवृत्ति, यह भविष्य का प्रतिक्रमण है।[3] तत्त्वार्थ भाष्य की टीका में सिद्धसेनगणि ने प्रतिक्रमण का सम्बन्ध प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इन दो के साथ जोड़ा है।

**प्रतिक्रमण और आलोचना**

प्राय: सभी प्रायश्चित्त आलोचनापूर्वक होते हैं लेकिन प्रतिक्रमण में गुरु के समक्ष आलोचना करना आवश्यक नहीं है।[4] इसका कारण बताते हुए दिगम्बर आचार्य कहते हैं कि छोटे अपराध की गुरु के समक्ष आलोचना करनी आवश्यक नहीं है, वह केवल प्रतिक्रमण से शुद्ध हो जाता है।[5]

**प्रतिक्रमण और कल्प**

दश स्थितकल्पों में आठवां कल्प प्रतिक्रमण है। प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों का प्रतिक्रमण युक्त धर्म होता है लेकिन मध्यम तीर्थंकरों के समय में कारण उपस्थित होने पर प्रतिक्रमण होता है। प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु चंचल चित्त वाले तथा मूढ़लक्ष्य होते हैं अत: गमनागमन या विचारभूमि में लगने वाले अतिचारों के लिए नियमत: सुबह और शाम प्रतिक्रमण करते हैं लेकिन मध्यम तीर्थंकरों के साधु दृढ़

---

१. आवनि ८४३।
२. तवा ६/२४ पृ. ५३० ; अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम्।
३. आवनि ८२२ हाटी २ पृ. ४१।
४. व्यभा ५५।
५. षट्ध पु. १३, ५, ४, २६, पृ. ६०; अप्पावराहे गुरूहि विणा वट्टमाणम्हि होदि।

बुद्धि वाले, एकाग्रचित्त तथा अमूढ़लक्ष्य होते हैं इसलिए वे अतिचार लगने पर तथा चित्त चंचल होने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं।[1]

ईर्या सम्बन्धी, आहार-सम्बन्धी, स्वप्न आदि से सम्बन्धित दोष नहीं लगने पर भी प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधु नियमत: प्रतिक्रमण करते हैं।[2] प्रश्न उपस्थित होता है कि अतिचार न लगने पर प्रतिक्रमण करना क्यों आवश्यक है? इस प्रश्न के समाधान में भाष्यकार ने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। एक राजा अपने राजकुमार के लिए रसायन बनवाना चाहता था। उसके लिए तीन वैद्य उपस्थित हुए। प्रथम वैद्य बोला—'यदि दोष होगा तो मेरा रसायन उसे नष्ट कर देगा, यदि दोष नहीं होगा तो रोग हो जाएगा।' दूसरा वैद्य बोला—'मेरी औषधि से रोग का हरण होगा लेकिन रोग के अभाव में गुण और दोष कुछ भी नहीं होगा। तीसरा वैद्य बोला—'दोषरहित होने के कारण मेरी औषधि दोष का नाश तो करेगी ही, दोष न होने पर वह वर्ण, रूप, लावण्य और यौवन में परिणत हो जाएगी।' प्रतिक्रमण तीसरे कुशल चिकित्सक के रसायन के समान है। यदि दोष होता है तो यह नाश करता है और यदि दोष नहीं होता तो निर्जरा कर देता है।[3] मूलाचार में इस संदर्भ को अंधे घोड़े[4] के दृष्टान्त से भी समझाया है।

**प्रतिक्रमण के अपराध-स्थान**

आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण करने के निम्न स्थान निर्दिष्ट हैं—

- प्रतिसिद्ध का आचरण करने पर, जैसे अकाल में स्वाध्याय आदि।
- करणीय कार्य न करने पर जैसे—काल में स्वाध्याय आदि न करने पर।
- अर्हत् प्रज्ञप्त तत्त्वों पर अश्रद्धा करने पर।
- विपरीत प्ररूपणा करने पर।[5]

हारिभद्रीय टीका में प्रतिक्रमण के जो स्थान निर्दिष्ट हैं, वे ईर्यापथिक प्रतिक्रमण की ओर निर्देश करते हैं। उसके अनुसार निम्न स्थानों में प्रतिक्रमण करना चाहिए—

- प्रतिलेखन और प्रमार्जन करके।

---

१. जीभा २०५१, २०५२, मूला ६२८, ६२९।

२. मूला ६३०।

३. जीभा २०५३-५७।

४. एक राजा का घोड़ा अंधा होने पर वैद्यपुत्र से उपचार हेतु कहा गया। उसे औषध आदि का विशेष ज्ञान नहीं था। उसने घोड़े की आंख पर क्रमश: आंख की सभी दवाओं का प्रयोग किया इससे अचानक उसकी आंखें अच्छी हो गईं। इसी प्रकार प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के समय साधु के अतिचार लगे अथवा न लगे, पर वह प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों का उच्चारण करे, जिससे उसके जहां दोष लगा है, उसका प्रमार्जन हो जाए। (मूला ६३२ टी पृ. ४६४, ४६५)

५. आवनि ८६३।

• भक्तपान का परिष्ठापन करके।

• उपाश्रय का कूड़ा-कर्कट परिष्ठापित करके।

• सौ हाथ की दूरी तय करके मुहूर्त्त भर उस स्थान में ठहरने पर।

• यात्रापथ से निवृत्त होने पर।

• नंदी-संतरण करने पर।[1]

• जो केवल अगुप्त अथवा केवल असमित है, किन्तु जिसने सहसा या अजानकारी में हिंसा नहीं की है, उसे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। हिंसा होने पर उसे तप प्रायश्चित्त आता है।[2]

जीतकल्प के अनुसार प्रतिक्रमण के निम्न अपराध-स्थान हैं—

१. समिति-गुप्ति में प्रमाद—दुश्चेष्टा, दुर्भाषण तथा दुश्चिन्तन रूप अगुप्ति करना तथा ऊंचा मुख करके बातें करते हुए चलना, गृहस्थ सम्बन्धी सावद्य भाषा बोलना, उद्गम, उत्पादन आदि के दोषों में सावधानी न रखना, उपकरणों को ग्रहण करने एवं रखने में असावधानी रखना, प्रमादपूर्वक प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करना।

२. गुरु की आशातना—गुरु के कहने पर, बुलाने पर, कार्य में नियुक्त करने पर, पूछने पर एवं आज्ञा देने पर—इन पांच गुरु-वचनों के प्रत्युत्तर में शिष्य चुप रहता है, केवल हुंकारा देता है आदि छह प्रतिक्रियाएं करता है तो आशातना होती है। इस प्रकार गुरु की आशातना करने पर अथवा गुरु से प्रद्वेष करने पर।[3]

३. गुरु के प्रति विनय का भंग—गुरु के आने पर अभ्युत्थान, अभिग्रहण, आसन-दान, सत्कार, सम्मान, कृतिकर्म, जाते हुए गुरु को पहुंचाना—ये गुरु के प्रति विनय हैं अथवा ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय आदि का पालन विनय है, इन दोनों प्रकार के विनय का भंग होने पर।

४. इच्छाकार मिथ्याकार आदि दशविध सामाचारी का पालन न करने पर।

५. लघुस्वक मृषा[4], अदत्त एवं पदार्थ के प्रति मूर्च्छा करने पर।

६. अविधि से खांसी आदि—मुख पर हाथ या मुखवस्त्र लगाए बिना जम्भाई, खांसी या छींक आने पर,

---

१. आवहाटी २ पृ. ५०।

२. व्यभा ६१।

३. भाष्यकार ने गुरु के पांच वचन तथा शिष्य के छह प्रतिवचन से आशातना के तीस भेद किए हैं। (जीभा ८६९-७१)

४. भाष्यकार ने लघुस्वक मृषा के पन्द्रह भेद किए हैं। ये उदाहरण प्रायः सभी भाष्यों में मिलते हैं। उदाहरणार्थ, भिक्षार्थ चलने पर मुनि कहता है कि आज मुझे एक ही द्रव्य ग्रहण करना है। अनेक द्रव्य ग्रहण करने पर जब उससे पूछा जाता है तो वह कहता है—'मैं छह द्रव्यों में केवल एक द्रव्य पुद्गल को ही ग्रहण कर रहा हूं।' यह लघुस्वक मृषावाद है। (जीभा ८८२-९०१)

मुख पर हाथ लगाए बिना डकार लेने पर, नीचे की ओर पुतकर्षण किए बिना अधोवात करने पर।

७. छेदन-भेदन आदि असंक्लिष्ट कर्म करने पर।

८. कंदर्प, हास्य, विकथा आदि करने पर।

९. क्रोध, मान आदि कषाय करने पर।

१०. इंद्रिय-विषयों में आसक्त होने पर।[1]

उत्तरगुण प्रतिसेवना रूप अपराध में अतिक्रम और व्यतिक्रम होने पर तथा अनजान में मूलगुण प्रतिसेवना रूप अतिक्रम होने पर।[2]

मिथ्या दुष्कृत रूप (मिच्छामि दुक्कडं) प्रतिक्रमण के निम्न अपराध-स्थान हैं[3] —

- हिंसा न होने पर भी यतना युक्त मुनि के समिति-गुप्ति में स्खलना होने पर।
- जानते हुए छोटी-छोटी बातों में स्नेह, भय, शोक तथा बकुशत्व आदि करने पर।

दिगम्बर परम्परा में कुछ अंतर के साथ प्रतिक्रमण करने के ये स्थान निर्दिष्ट हैं —

- पांच इंद्रिय और मन का दुष्प्रयोग होने पर।
- वचन का दुष्प्रयोग होने पर।
- आचार्य से हाथ-पांव आदि टकराने पर।
- पैशुन्य और कलह करने पर।
- वैयावृत्त्य और स्वाध्याय आदि में प्रमाद करने पर।
- गोचरी करते हुए लिंगोत्थान होने पर।
- अन्य के साथ संक्लेश युक्त क्रिया करने पर।
- व्रत, समिति, गुप्ति आदि में स्वल्प अतिचार लगने पर।[4]

**प्रतिक्रमण के लाभ**

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर प्रतिक्रमण से होने वाले लाभों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रतिक्रमण से साधक व्रत में होने वाले छेदों को ढ़क देता है। छोटा छेद भी आगे जाकर नौका को डुबो सकता है। प्रतिक्रमण करने से व्रतों में पुनः शक्ति का संचार हो जाता है। व्रत के छिद्र पिहित होने पर जीव

---

१. जीसू ९, १० विस्तार हेतु देखें जीभा ७८४-९१२, त ९/२२ भाटी पृ. २५१।

२. व्यभा ९८ मटी प. ३५।

३. जीसू ११, १२ विस्तार हेतु देखें जीभा ९१३-३१।

४. काअटी पृ. ३४३, ३४४।

के आस्रव आने का मार्ग रुक जाता है। आस्रव रुकने पर साधु का चारित्र अशबल—धब्बों से रहित हो जाता है। वह आठ प्रवचन-माताओं—समिति-गुप्ति में सावधान होकर संयम योग में एकरूप अर्थात् उससे अभिन्न हो जाता है। इससे जीव सुप्रणिहित इन्द्रिय वाला हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वह असद् मार्ग से अपनी इंद्रियों को हटाकर सन्मार्ग में स्थापित कर लेता है।[1]

**तदुभय प्रायश्चित्त**

तदुभय प्रायश्चित्त में आलोचना और प्रतिक्रमण का मिश्रण है। जिस पाप का सेवन करने के पश्चात् गुरु के पास सम्यक् आलोचना की जाती है तथा गुरु के द्वारा निर्दिष्ट प्रतिक्रमण किया जाता है, वह तदुभय प्रायश्चित्त है।[2] इसका उभय प्रायश्चित्त नाम भी मिलता है।[3] भाष्यकार कहते हैं कि जैसे तीक्ष्ण जल-प्रवाह में विषम अथवा गहरे कीचड़ युक्त मार्ग में प्रयत्नपूर्वक चलते हुए भी अवश होकर व्यक्ति उसमें गिर जाता है, वैसे ही यतनायुक्त सुविहित मुनि के द्वारा प्रयत्नपूर्वक चर्या करने पर भी सहसा कर्मोदय के कारण विराधना हो जाती है। ऐसे यतनाशील मुनि की विशोधि तदुभय प्रायश्चित्त से होती है।[4]

**तदुभय प्रायश्चित्त के स्थान**

हाथी, अग्नि आदि दिखाई देने से हड़बड़ी होने पर, चोर आदि का भय होने पर, क्षुधा, पिपासा आदि परीषहों से आतुर होने पर, आपत्ति में सहसा या अजानकारी में अतिचार-सेवन करने पर, वात, पित्त एवं श्लेष्म आदि से संबंधित रोग से परवश होने अथवा यक्षावेश या मोहावेश से परवश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा विकलेन्द्रिय आदि जीवों की विराधना करने पर और महाव्रतों में अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार दोष की आशंका होने पर तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, जैसे—मैंने हिंसा की या नहीं, झूठ बोला या नहीं, चोरी की या नहीं, स्त्री का स्पर्श हुआ या नहीं, इंद्रिय विषयों के प्रति राग-द्वेष किया या नहीं, सूर्यास्त से पूर्व पात्र के लेप धोए या नहीं, इन सबकी सम्यक् अवगति न होने पर तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[5] इसी प्रकार अनेक प्रकार के शब्द सुनने पर कुछ शब्दों पर राग या द्वेष का भाव आया या नहीं, इस प्रकार का संदेह होने पर तदुभय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[6] इसी प्रकार अन्य इंद्रियों के विषयों में राग-द्वेष हुआ या नहीं, यह निर्णय न कर पाने पर तदुभय प्रायश्चित्त होता है।[7] यदि यह निश्चित हो जाए कि अमुक शब्दों के प्रति राग या द्वेष आया है तो मुनि को तप प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

---

१. उ २९/१२।
२. जीभा ७२१।
३. बृभा पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६०; सगावराहं गुरुणमालोचि य गुरुसक्खिया अवराहादो पडिणियत्ती उभयं णाम पायच्छित्तं।
४. जीभा ९५१-५३।
५. जीभा ९३३-४४, व्यभा १००-१०२, आवचू २ पृ. २४६।
६. व्यभा १०३।
७. व्यभा १०४।

इसी प्रकार उपयुक्त मुनि के ज्ञान, दर्शन, चारित्र से संबंधित अपराध-पदों में तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[१]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केशलोच, नख-छेदन, स्वप्न में मैथुन सेवन, इंद्रियों का अतिचार, रात्रिभोजन, पक्ष, मास तथा वर्ष आदि में लगने वाले दोषों में तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[२] धवला के अनुसार दु:स्वप्न आदि में तदुभय प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[३]

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में आलोचना और प्रतिक्रमण के अपराधस्थानों का वर्णन है। बाद में तदुभय से तप प्रायश्चित्त तक के लिए ग्रंथकार ने उल्लेख किया है कि भय, त्वरा, विस्मरण, अनवबोध, अशक्ति तथा व्यसन आदि से महाव्रतों में अतिचार दोष लगने पर छेद से पहले के छह प्रायश्चित्त देने चाहिए।[४] कार्तिकेय अनुप्रेक्षा की टीका के अनुसार दिन या रात्रि के अंत में गमनागमन करने पर भी तदुभय प्रायश्चित्त होता है।[५]

## विवेक प्रायश्चित्त

कम या अधिक अकल्प्य आहार ग्रहण करने पर उसको विधिपूर्वक परिष्ठापित करना विवेक प्रायश्चित्त है।[६] संसक्त अन्न-पान-उपकरण आदि का विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है।[७] राजवार्तिक में इसके लिए उत्सर्जन प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग हुआ है।[८] तत्त्वार्थ भाष्य में विवेक, विवेचन, विशोधन और प्रत्युपेक्षण को एकार्थक माना है।[९] विवेक प्रायश्चित्त तब होता है, जब साधु अजानकारी में अशुद्ध ग्रहण करता है और बाद में उसे ज्ञात होता है कि गृहीत आहार अशुद्ध था।[१०] धवला में विवेक प्रायश्चित्त की व्याख्या बिल्कुल भिन्न है।[११]

## विवेक प्रायश्चित्त के स्थान

विवेक प्रायश्चित्त के ये स्थान हैं—

१. आधाकर्मिक वसति, शय्या, उपधि आदि ज्ञात होने पर।[१२]

१. जीसू १५।
२. काअटी पृ. ३४४।
३. षट्ध पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६०।
४. तवा ९/२२ पृ. ६२२, अनध ७/५३।
५. काअटी पृ. ३४४।
६. जीभा ७२२।
७. तवा ९/२२, पृ. ६२१; संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः।
८. तवा ९/२२, पृ. ६२२।
९. तस्वोभा ९/२२।
१०. जीसू १६, त ९/२२ भाटी पृ. २५१; उपयुक्तेन गीतार्थेन गृहीतं प्राक् पश्चादवगतमशुद्धं विवेकार्हम्।
११. षट्ध पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६०, ६१।
१२. शय्या, उपधि, वसति आदि प्रातिहारिक वस्तुओं के आधाकर्मिक आदि ज्ञात होने पर उसका परित्याग करना विवेक प्रायश्चित्त है, न कि परिष्ठापित करना। व्यवहार भाष्य में इसे एक उदाहरण से समझाया है। कुछ मुनि प्रचुर अन्न-पान वाले ग्राम में गए लेकिन वसति के अभाव में वे वहां नहीं रुके। नहीं रुकने का कारण बताते हुए साधुओं ने कहा—'यहां उपयुक्त वसति नहीं है।' साधुओं के जाने के बाद श्रावकों ने उपाश्रय का निर्माण करवा दिया। कुछ समय बाद अन्य मुनि वहां आए। सही स्थिति अवगत होने पर साधुओं ने उस वसति का विवेक—परित्याग कर दिया। (व्यभा १०९)

२. पर्वत, राहु, बादल, कुहासा और रज से सूर्य आवृत होने पर सूर्योदय हो गया है, इस अशठ भाव से अशन आदि ग्रहण करने पर, इसी प्रकार सूर्यास्त के बाद अशन आदि रहने पर।

३. प्रथम पौरुषी में आनीत अशन चतुर्थ पौरुषी तक कालातीत हो जाता है, उसे रखने पर।

४. आधे योजन से अधिक दूरी तक ले जाने वाले मार्गातीत अशन को रखने पर।

५. ग्लान, आचार्य, बाल और वृद्ध के निमित्त से लाए हुए आहार के बचने पर।[1]

**विवेक में औचित्य**

आधाकर्म से होने वाले दोषों को जानकर साधु दो प्रकार से उसका विवेक—परिहार करता है—१. विधि-परिहार २. अविधि-परिहार। जो साधु अविधि से आधाकर्म का विवेक करता है, वह न साधुत्व का सम्यक् पालन कर सकता है और न ही ज्ञान आदि का लाभ प्राप्त कर सकता है। अविधि-परिहार में ग्रंथकार ने एक भिक्षु की कथा का उल्लेख किया है। भिक्षु के द्वारा पूछने पर गृहस्वामी ने बताया कि यह शाल्योदन मगध के गोबरग्राम से आया है। वह उसकी जानकारी हेतु गोबरग्राम जाने लगा। मार्ग का निर्माण तो कहीं अधाकर्मी नहीं है, इस आशंका से वह मूल मार्ग को छोड़कर कांटे, सांप आदि से युक्त उन्मार्ग से जाने लगा तथा वृक्ष की छाया को भी आधाकर्मिक समझकर छाया का भी परिहार करने लगा। वह रास्ते में ही मूर्च्छित होकर संक्लेश को प्राप्त हो गया।[2]

पंचकल्पभाष्य में भी इस विवेक का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। यदि साधु-शालि की उत्पत्ति कहां से हुई, कहीं हमारे शय्या-संस्तारक के लिए तो वृक्ष नहीं बोएं हैं। गाय साधु के लिए तो नहीं खरीदी या दुही गई है, इस प्रकार की गवेषणा करना अविधि विवेक है क्योंकि आहार-उपधि और शय्या की निष्पत्ति अनेक द्रव्यों से होती है, जैसे शाक में डाले गए मसालों में, हिमाचल प्रदेश में पीपल, मलय देश में मिर्च तथा रमढ देश में हींग आदि की निष्पत्ति होती है। उन सबके मूल की गवेषणा करने पर साधु के ज्ञान आदि की हानि होती है तथा खोज करते हुए रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो सकती है।[3]

विधि-परिहरण में साधु चार बातों पर ध्यान देता है—द्रव्य, कुल, देश और भाव। इनकी व्याख्या करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि विवक्षित देश में असंभाव्य द्रव्य की उपलब्धि, छोटे परिवार में प्रचुर खाद्य की प्राप्ति तथा अत्यधिक आदरपूर्वक दान हो तो वहां आधाकर्म की संभावना हो सकती है। जो वस्तु जहां सामान्य रूप से लोगों के द्वारा प्रचुर रूप में काम में ली जाती है, वह यदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो तो पृच्छा

---

१. जीसू १६, १७, विस्तार हेतु देखें ९५५-७१।
२. पिनि ८९/१-३, मटी प. ७२, ७३।
३. पंकभा १६८९-९१।

की आवश्यकता नहीं रहती, जैसे मालवा देश में मण्डक (एक प्रकार की रोटी) प्रचुर मात्रा में होता है, वहां उस द्रव्य के विषय में आधाकर्म की आशंका नहीं होती लेकिन वहां भी यदि परिवार छोटा हो और द्रव्य प्रचुर मात्रा में हो तो आधाकर्म की शंका हो सकती है। यदि कोई दाता अनादरपूर्वक दान दे रहा है, वहां भी प्राय: आधाकर्म की आशंका नहीं रहती क्योंकि जो दाता आधाकर्म आहार निष्पन्न करता है, वह प्राय: आदर भी प्रदर्शित करता है।[1]

अमुक घर में आधाकर्म भोजन निष्पन्न हुआ है अथवा नहीं, इसकी परीक्षा करने की विधि को ग्रंथकार ने मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। मुनि के द्वारा पूछने पर यदि गृहस्वामिनी मायापूर्वक कहती है कि यह खाद्य-पदार्थ घर के सदस्यों के लिए बनाया गया है, आपके लिए नहीं। यह सुनकर यदि घर के अन्य सदस्य एक दूसरे को टेढ़ी नजरों से देखते हैं अथवा सलज्ज एक दूसरे को देखकर मंद हास्य करते हैं, तब साधु को उस देय वस्तु को आधाकर्मिक समझकर परिहार—विवेक कर देना चाहिए। यदि पूछने पर दानदात्री गुस्से में आकर यह कहती है कि आपको इसकी क्या चिन्ता है? ऐसी स्थिति में आधाकर्म की आशंका नहीं रहती, मुनि नि:शंक रूप से वह आहार ग्रहण कर सकता है।[2] इन सब कारणों से भी आहार शुद्ध है या नहीं, यह ज्ञात न हो तो निर्युक्तिकार ने समाधान दिया है कि यदि मुनि उपयुक्त होकर शुद्ध आहार की गवेषणा कर रहा है तो वह आधाकर्म भोजन ग्रहण करता हुआ भी शुद्ध है अर्थात् कर्मों का बंधन नहीं करता। यदि वह अनुपयुक्त होकर वैचारिक दृष्टि से आधाकर्म आहार ग्रहण में परिणत है तो वह प्रासुक और एषणीय आहार ग्रहण करता हुआ भी अशुभ कर्मों का बंध करता है।[3]

**विशोधिकोटि और अविशोधि कोटि का विवेक**

अविशोधिकोटि को उद्गमकोटि भी कहा जा सकता है। दोष से स्पृष्ट आहार को उतनी मात्रा में निकाल देने पर शेष आहार मुनि के लिए कल्पनीय हो जाता है, वह विशोधिकोटि कहलाता है तथा जो आहार जिस दोष से दूषित है, उस आहार को अलग करने पर भी जो आहार साधु के लिए कल्पनीय नहीं होता, वह अविशोधिकोटि कहलाता है।[4] आधाकर्म, औद्देशिक, पूतिकर्म, मिश्रजात, बादरप्राभृतिका और अध्यवतर के अंतिम दो भेद—ये अविशोधिकोटि के अन्तर्गत आते हैं। इसमें भी औद्देशिक, मिश्रजात और अध्यवतर के कुछ भेद अविशोधिकोटि में तथा कुछ भेद विशोधिकोटि के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं।[5] जैसे

---

१. पिनि ८९/४-७, मटी प. ७३।
२. पिनि ८९/८ मटी प. ७३, ७४।
३. पिनि ९० मटी प. ७४।
४. पिनिमटी प. ११६ ; यद्दोषस्पृष्टभक्ते तावन्मात्रेऽपनीते सति शेषं कल्पते स दोषो विशोधिकोटि:, शेषस्त्वविशोधिकोटि:।
५. पिनि १९० मटी प. ११७।

औद्देशिक के अन्तर्गत विभाग औद्देशिक के तीनों भेद अविशोधिकोटि के अन्तर्गत आते हैं।[1] अध्यवपूरक के अंतिम दो भेद स्वगृहपाषंडिमिश्र तथा स्वगृहसाधुमिश्र—ये दो अविशोधिकोटि में तथा स्वगृहयावदर्थिकमिश्र विशोधिकोटि के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं।

अविशोधिकोटि के अवयव से युक्त लेपकृद् या अलेपकृद् पदार्थ यदि विशुद्ध आहार के साथ मिल जाता है तो उस आहार को त्यक्त करने के पश्चात् भी पात्र को कल्पत्रय—तीन बार साफ करना आवश्यक है अन्यथा पूति दोष होता है।[2]

शेष ओघ औद्देशिक, मिश्रजात का आद्य भेद (यावदर्थिकमिश्र), उपकरणपूति, स्थापना, सूक्ष्म प्राभृतिका, प्रादुष्करण, क्रीत, प्रामित्य, परिवर्तित, अभ्याहृत, उद्भिन्न, मालापहृत, आच्छेद्य, अनिसृष्ट, अध्यवपूरक का आद्य भेद (स्वगृहयावदर्थिक)—ये सब दोष अविशोधिकोटि के अन्तर्गत आते हैं।[3] अविशोधिकोटि आहार के स्पृष्ट होने पर कल्पत्रय से शोधन करने की आवश्यकता नहीं रहती।

अविशोधि कोटि के संदर्भ में ग्रंथकार ने विवेक की विस्तार से व्याख्या की है। चतुर्भंगी के माध्यम से स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि शुद्ध शुष्क चने आदि में यदि विशोधिकोटि शुष्क वल्ल आदि गिर जाएं तो बिना जल-प्रक्षेप के सुगमता से उनको अलग किया जा सकता है। यदि शुद्ध शुष्क चने आदि में विशोधिकोटिक आर्द्र तीमन आदि गिर जाए तो उसमें कांजिक आदि डालकर अशुद्ध तीमन को बाहर निकाला जा सकता है। तीसरे भंग में यदि शुद्ध आर्द्र तीमन में विशोधिकोटिक शुष्क चने आदि का प्रक्षेप हो जाए तो हाथ डालकर चने आदि को निकाला जा सकता है तथा चतुर्थ भंग में यदि अशुद्ध आर्द्र तीमन में विशोधिकोटि आर्द्र तीमन का मिश्रण हो जाए, उस स्थिति में यदि दुर्लभ द्रव्य है, जिसकी पुनः प्राप्ति संभव नहीं है तो अशठ भाव से उतना अंश निकाला जा सकता है, शेष का परित्याग कर दिया जाता है।[4] यदि उसके बिना काम चलता हो तो सम्पूर्ण का परित्याग कर दिया जाता है क्योंकि आर्द्र से आर्द्र को पृथक् करना संभव नहीं होता।[5]

### व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त

आगमोक्त विधि से शरीर का त्याग अर्थात् ममत्व-विसर्जन करना व्युत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग है।[6]

---

१. कुछ आचार्य विभाग के अन्तर्गत कर्म औद्देशिक के अंतिम तीन भेदों को अविशोधि कोटि में रखते हैं (पिंप्रटी प. ४९)।

२. जीभा १२९७, १२९८।

३. पिनिमटी प. ११७।

४. जीभा १३०८-११, पिनि १९२/२-५ मटी प. ११८, ११९।

५. पिनिमटी प. ११८; इह निर्वाहे सति विशोधिकोटिदोषसम्मिश्रं सकलमपि परित्यक्तव्यम्, अनिर्वाहे तु तावन्मात्रम्।

६. उशांटी प. ५८१; कायः—शरीरं तस्योत्सर्गः—आगमोक्तनीत्या परित्यागः कायोत्सर्गः।

सिद्धसेनगणि के अनुसार प्रणिधानपूर्वक विशेष रूप से उत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है।[१] धवलाकार के अनुसार शरीर और आहार में मन और वचन की प्रवृत्ति को हटाकर ध्येय वस्तु में एकाग्रता से चित्त का निरोध करना व्युत्सर्ग है।[२] सर्वार्थसिद्धि[३] और राजवार्तिक[४] आदि की परिभाषा इसी की संवादी है। अनगारधर्मामृत में व्युत्सर्ग की निरुक्तपरक व्याख्या मिलती है।[५] भगवान् महावीर ने इसे सब दुःखों से मुक्ति का उपाय माना है।[६]

उत्तराध्ययन के छब्बीसवें अध्ययन में मुनि की दिनचर्या में अनेक बार कायोत्सर्ग का विधान है। मुनि के लिए **अभिक्खणं काउस्सग्गकारी**[७] विशेषण कायोत्सर्ग के महत्त्व को प्रकट करने वाला है। व्युत्सर्ग, उत्सर्ग और कायोत्सर्ग—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

आवश्यक निर्युक्ति में उत्सर्ग के ग्यारह पर्यायवाची नाम मिलते हैं—१. उत्सर्ग, २. व्युत्सर्जन, ३. उज्झन, ४. अवकिरण, ५. छर्दन, ६. विवेक, ७. वर्जन, ८. त्यजन, ९. उन्मोचन, १०. परिशातन, ११. शातन।[८] आचार्य उमास्वाति ने व्युत्सर्ग और प्रतिष्ठापन को एकार्थक माना है।[९] यहां प्रतिष्ठापन शब्द परित्याग के अर्थ में है।[१०] आचार्य तुलसी ने कायिकध्यान, कायगुप्ति, कायविवेक, कायव्युत्सर्ग और कायप्रतिसंलीनता को एकार्थक माना है।

व्युत्सर्ग में शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है—इस बुद्धि का निर्माण करके शरीर पर होने वाले ममत्व का छेदन किया जाता है। राजवार्तिक के अनुसार अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा समाप्त होने पर व्युत्सर्ग सिद्ध होता है।[११] जैन आचार्यों ने इसे भावचिकित्सा का बहुत बड़ा साधन माना है अतः व्रत में अतिचार लगने पर कायोत्सर्ग द्वारा उसकी शोधि का उपाय बताया गया है। कायोत्सर्ग करने मात्र से जिस पाप की शुद्धि हो जाती है, वह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।[१२] व्युत्सर्ग तीन प्रकार से किया जा सकता है—

- ऊर्ध्व—खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना।
- निषीदन—बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना।

---

१. त ९/२२ भाटी पृ. २५१ ; विशिष्टउत्सर्गो व्युत्सर्गः—प्रणिधानपूर्वको निरोधः।
२. षट्ध पु. ८/३, ४१ पृ. ८५ ; सरीराहारेसु हु मणवयणपवुत्तीओ ओसारिय ज्झेयम्मि एयग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम।
३. ससि ९/२०।
४. तवा ९/२२ पृ. ६२१।
५. अनध ७/९४ ; बाह्याभ्यन्तरदोषा ये, विविधा बन्धहेतवः।
यस्तेषामुत्तमःसर्गः, स व्युत्सर्गो निरुच्यते।।
६. उ २६/३८।
७. दशचू २/७।
८. आवनि ९९०।
९. तस्वोभा ९/२२ ; व्युत्सर्ग प्रतिष्ठापनमित्यनर्थान्तरम्।
१०. त ९/२२ भाटी पृ. २५१ ; प्रतिष्ठापनशब्दः परित्यागार्थः।
११. तवा ९/२६ टी पृ. ६२५; निःसंगत्व-निर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः।
१२. जीभा ७२३।

• त्वग्वर्तन—सोए-सोए कायोत्सर्ग करना।[1]

**कायोत्सर्ग के प्रकार**

कायोत्सर्ग दो प्रकार का होता है—चेष्टा कायोत्सर्ग और अभिभव कायोत्सर्ग।

१. चेष्टा कायोत्सर्ग—भिक्षु के लिए प्रायः सभी प्रवृत्तियों को सम्पन्न करने के पश्चात् कायोत्सर्ग का विधान है। भिक्षा आदि प्रवृत्ति के पश्चात् तथा दैवसिक अतिचारों की विशोधि हेतु किया जाने वाला कायोत्सर्ग चेष्टा कायोत्सर्ग है। सारी प्रायश्चित्त-विधि चेष्टा कायोत्सर्ग से सम्बन्धित है।[2]

२. अभिभव कायोत्सर्ग— मोहनीय कर्म की भय आदि प्रकृतियों का अभिभव करने के लिए किया जाने वाला कायोत्सर्ग अभिभव कायोत्सर्ग कहलाता है। अभिभव कायोत्सर्ग किसी व्यक्ति का पराभव करने के लिए नहीं किया जाता, अपितु दैविक, मानुषिक और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपद्रव होने की स्थिति में उत्पन्न भय तथा कर्म रूपी सेना के नायक क्रोध आदि कषायों का पराभव करने के लिए किया जाता है।[3]

अभिभव कायोत्सर्ग के दो प्रयोजन हैं—पराभिभूत और पराभिभव। चूर्णिकार के अनुसार हूण, शक आदि आक्रामक लोगों से अभिभूत होकर 'मैं शरीर आदि सबका व्युत्सर्ग करता हूं, इस संकल्प के साथ कायोत्सर्ग करना पराभिभूत अभिभव कायोत्सर्ग है तथा अनुलोम-प्रतिलोम उत्सर्ग करने वाले देव मनुष्य आदि को तथा भय, क्षुधा, अज्ञान, ममत्व और परीषह—इन सबको अभिभूत करने का संकल्प लेकर कायोत्सर्ग करना पराभिभव कायोत्सर्ग है।[4]

**अभिभव कायोत्सर्ग का काल**

अभिभव कायोत्सर्ग का जघन्य काल अन्तमुहूर्त्त तथा उत्कृष्ट काल एक वर्ष होता है। बाहुबलि एक वर्ष कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थिर रहे।[5] साध्वियों के लिए अभिभव कायोत्सर्ग प्रतिषिद्ध है।[6]

शुद्धि की अपेक्षा से आवश्यक निर्युक्ति में कायोत्सर्ग के चार भेद मिलते हैं—

१. चारित्रशुद्धि सम्बन्धी कायोत्सर्ग, जो पचास श्वासोच्छ्वास प्रमाण होता है।

२. दर्शनविशोधि के निमित्त चतुर्विंशति का कायोत्सर्ग, यह पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण होता है।

---

१. ओभा १५२ ;
दुइ-निसीय-तुयट्टण, ठाणं तिविहं तु होइ नायव्वं।

२. आवनि ९९१।

३. आवनि ९९१/२-५।

४. आवचू २ पृ. २४८ ; अभिभवो णाम अभिभूतो वा परेणं परं वा अभिभूय कुणति, परेणाभिभूतो, तथा हूणादीहिं अभिभूतो सव्वं सरीरादि वोसिरामि त्ति काउस्सग्गं करेति। परं वा अभिभूय काउस्सग्गं करेति, जथा तित्थगरो देवमणुयादिणो अणुलोमपडिलोमकारिणो भयादी पंच अभिभूय काउस्सग्गं कातुं प्रतिज्ञां पूरेति।

५. आवनि ९९२ हाटी २ पृ. १८८।

६. बृभाटी पृ. १५७२ ; तत्राभिभवकायोत्सर्गस्तासां प्रतिषिद्ध इति।

३. श्रुतज्ञान की वृद्धि हेतु पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण किया जाने वाला कायोत्सर्ग।

४. सिद्धों की स्तुति हेतु किया जाने वाला कायोत्सर्ग।[1]

आवश्यक निर्युक्ति में शारीरिक और मानसिक—इन दो दृष्टियों से कायोत्सर्ग के भेदों पर विचार किया गया है। शरीर से स्थिर खड़े रहना द्रव्य उत्थान है तथा ध्येय में एकाग्र होकर शुभ ध्यान में कायोत्सर्ग करना भावोत्थान है। कभी-कभी कोई व्यक्ति बैठे-बैठे भी मानसिक ध्यान की दृष्टि से उत्थित हो सकता है और कोई खड़े-खड़े भी मानसिक दृष्टि से निषण्ण—बैठा हुआ हो सकता है अत: यहां विरोधाभास नहीं अपितु शारीरिक स्थिति और मानसिक भाव-धारा के आधार पर कायोत्सर्ग के नौ प्रकार निर्दिष्ट हैं—

१. उच्छ्रित उच्छ्रित—खड़े खड़े धर्म और शुक्ल—इन दो ध्यानों में प्रवृत्त होना उच्छ्रित उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। स्तम्भ की भांति शरीर का उन्नत और निश्चल होना द्रव्य उच्छ्रित तथा धर्म और शुक्ल रूप ध्यान करना भाव उच्छ्रित है। यहां दोनों दृष्टियों से उत्थित है अत: उच्छ्रित उच्छ्रित भेद है।

२. खड़े होकर धर्म शुक्ल आदि किसी ध्यान में प्रवृत्त न होना यह उच्छ्रित कायोत्सर्ग है।

३. खड़े होकर आर्त्त और रौद्र—ये दो ध्यान करना द्रव्यत: उच्छ्रित और भावत: निषण्ण कायोत्सर्ग है।

४. बैठे-बैठे धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न होना द्रव्यत: निषण्ण और भावत: उच्छ्रित कायोत्सर्ग है।

५. बैठकर धर्म और शुक्ल आदि किसी ध्यान में प्रवृत्त नहीं होना निषण्ण कायोत्सर्ग है।

६. बैठ-बैठे आर्त्त और रौद्र ध्यान में संलग्न होना निषण्ण-निषण्ण कायोत्सर्ग है।

७. सोकर धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न होना निषण्ण-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है।

८. सोकर धर्म और शुक्ल आदि किसी भी ध्यान में संलग्न नहीं होना निषण्ण कायोत्सर्ग है।

९. सोकर आर्त्त और रौद्र ध्यान में संलग्न होना निषण्ण-निषण्ण कायोत्सर्ग है।[2]

मूलाचार में इन नौ भेदों को चार भेदों में समाविष्ट कर दिया है। उसके अनुसार उत्थितोत्थित, उत्थित-निविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्ट-निविष्ट—कायोत्सर्ग के ये चार भेद हैं।[3]

भगवती आराधना में खड़े-खड़े कायोत्सर्ग के सात-भेद मिलते हैं—

१. साधारण—खम्भे आदि के सहारे निश्चल होकर खड़े रहना।

२. सविचार—दूसरे स्थान पर जाकर एक प्रहर अथवा एक दिन तक खड़े रहना।

३. संनिरुद्ध—अपने स्थान पर निश्चल होकर खड़े रहना।

४. वोसट्ट—शरीर की प्रवृत्ति को पूर्णतया छोड़कर कायोत्सर्ग करना।

---

१. आवनि १०२५/७, पंव ४८२-८६।

२. आवनि ९९६-१००४।

३. मूला ६७५ ; उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठउट्ठिदो चेव।
उवविट्ठणिविट्ठो वि य, काओसग्गो चदुट्ठाणो।।

५. समपाद—पैरों को समश्रेणी में स्थापित करके खड़े रहना।

६. एकपाद—एक पैर पर खड़े रहना।

७. गृद्धोड्डीन—उड़ते हुए गीध के पंखों की भांति बाहों को फैलाकर खड़े होना।[1]

अपराजित सूरि ने भगवती आराधना की टीका में मानसिक, वाचिक और कायिक योग के आधार पर कायोत्सर्ग के तीन भेद किए हैं—

१. मन: कायोत्सर्ग—यह शरीर मेरा है, इस भाव से दूर होना मन: कायोत्सर्ग है।

२. वचन-कायोत्सर्ग—मैं शरीर का त्याग करता हूं, इस प्रकार का उच्चारण वचन कायोत्सर्ग है।

३. काय-उत्सर्ग—बाहु नीचे लटकाकर, दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अंतर करके समपाद निश्चल खड़े रहना काय उत्सर्ग है। सामान्यत: कायोत्सर्ग में तीनों ध्यान होते हैं लेकिन मुख्यत: कायिक ध्यान होता है। पूर्वगत में भंगिकश्रुत के गुणन में तीनों ध्यान एक साथ होते हैं।[2]

**कायोत्सर्ग कर्ता की अर्हता**

जो वसौले से काटने एवं चंदन का लेप करने पर तथा जीवन और मरण में सम रहता है, देह के प्रति ममत्व रहित होता है, वही व्यक्ति कायोत्सर्ग करने का अधिकारी होता है।[3] इसके अतिरिक्त जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च कृत उपसर्गों को समभाव से सहन करता है, उसके विशुद्ध कायोत्सर्ग होता है।[4]

धवला के अनुसार व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त उसी के सिद्ध होता है, जो नव पदार्थ का ज्ञाता, वज्र संहनन वाला, शीतवात और आतप को सहने में समर्थ तथा शूरवीर होता है।[5] मूलाचार के अनुसार जो मोक्ष का इच्छुक, निद्राविजयी, सूत्रार्थ में प्रवीण, करणशुद्ध, आत्मा के बल और वीर्य से युक्त तथा विशुद्ध आत्मा वाला होता है, वह कायोत्सर्ग कर सकता है।[6] स्वामिकुमार का मंतव्य है कि जो शरीर के मल की सफाई की ओर ध्यान नहीं देता, दु:सह बीमारी में चिकित्सा नहीं कराता, मुख धोना आदि शारीरिक परिकर्म से विरत रहता है, भोजन, शय्या आदि के प्रति निरपेक्ष रहता है, सदैव स्वस्वरूप के चिंतन में रत रहता है, सज्जन और दुर्जन में मध्यस्थ रहता है, देह के प्रति निर्ममत्व होता है, उसके कायोत्सर्ग सिद्ध होता है।[7]

---

१. भआ २२५ ;
साधारणं सवीचारं, सणिरुद्धं तहेव वोसट्टं।
समपादमेगपादं, गिद्धोलीणं च ठाणाणि।।

२. व्यभा १२२, १२३।

३. आवनि १०३८।

४. आवनि १०३९।

५. षट्ख पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६१ ; णाणेण दिट्ठणवट्ठस्स वज्जसंघडणस्स सीदवादादवसहस्स ओघसूरस्स साहुस्स होदि।

६. मूला ६५३।

७. काअ ४६७, ४६८ ;
जल्ल-मल-लित्त-गत्तो, दुस्सह-वाहीसु णिप्पडीयारो।
मुह-धोवणादि-विरओ, भोयण-सेज्जादि-णिरवेक्खो।।
ससरूवचिंतणरओ, दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो, काओसग्गो तओ तस्स।।

## कायोत्सर्ग की विधि

माया रहित होकर अवस्था और शारीरिक बल को ध्यान में रखकर स्थाणु की भांति निष्प्रकम्प होकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग का प्रारम्भ कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा सूत्र बोलकर किया जाता है, जिसमें यह संकल्प किया जाता है कि मैं अतिचारों को संस्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशोधि करने के लिए, शल्य रहित होने के लिए, पाप कर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग कर रहा हूं। अंत में यह प्रतिज्ञा की जाती है कि जब तक मैं अर्हत् भगवान् को नमस्कार करके कायोत्सर्ग सम्पन्न न करूं, तब तक स्थिरमुद्रा, मौन और शुभध्यान के द्वारा अपने शरीर का विसर्जन करता हूं।[1]

कायोत्सर्ग करते समय समपाद आसन में पंजों के बीच चार अंगुल का अन्तर रखकर बाहु युगल को लटकाकर शरीर की प्रवृत्ति और परिकर्म का परित्याग किया जाता है।[2] कायोत्सर्ग के पश्चात् नमस्कार महामंत्र के उच्चारण से कायोत्सर्ग को पूर्ण किया जाता है।[3]

शारीरिक दृष्टि से शक्ति का गोपन किए बिना जब तक खड़ा रह सके, तब तक खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना चाहिए उसके पश्चात् बैठकर तथा अधिक असामर्थ्य की स्थिति में लेटकर कायोत्सर्ग किया जा सकता है।[4] बलवान् होकर भी जो मुनि माया के वशीभूत होकर विधिवत् कायोत्सर्ग नहीं करता, उसके मायाप्रत्ययिक कर्म का बन्धन होता है तथा वह कायोत्सर्ग में क्लेश को प्राप्त होता है।[5]

## कायोत्सर्ग के अपवाद

कायोत्सर्ग में तीनों योगों की चंचलता का निरोध होता है लेकिन कुछ आवश्यक शारीरिक योगों में अपवाद रहता है—

१. कायोत्सर्ग में श्वास और प्रश्वास का निरोध नहीं होता क्योंकि श्वास-प्रश्वास के निरोध से सद्य: मौत हो सकती है अत: कायोत्सर्ग में यतनापूर्वक सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास लिया जा सकता है।[6]

२. खांसी, छींक और जम्भाई भी यतनापूर्वक की जाती है, जिससे भीतर की उष्ण वायु से बाहर के वायुकाय के जीवों का वध न हो। छींक आदि शारीरिक वेग रोकने से असमाधि तथा मरण तक संभव है। निर्युक्तिकार के अनुसार मुंह के आगे हाथ लगाकर जम्भाई लेनी चाहिए, जिससे मच्छर आदि मुख में प्रवेश करके मर न जाएं।[7]

---

१. आव ५/३।
२. मूला ६५२।
३. निभा ६१३४।
४. आवचू २ पृ. २५०।
५. आवनि १०३१/७।
६. आवनि १०१९।
७. आवनि १०२०।

३. यतनापूर्वक ऊर्ध्व वात तथा पुतकर्षण पूर्वक अधो वातनिसर्ग करना।

४. पित्तजनित मूर्च्छा आने पर बैठना।

५. शरीर में सूक्ष्म अंग-संचार तथा श्लेष्म संचार।

६. नैसर्गिक आंखों का संचार। कायोत्सर्ग में मुनि प्रयत्नपूर्वक उन्मेष-निमेष नहीं करता। एकरात्रिकी प्रतिमा में स्थित साधु अनिमेष नयनों से पूरी रात कायोत्सर्ग करते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त अग्नि, छेदन, भेदन, चोर का भय, सर्पदंश आदि अपवादों में होने वाली अस्थिरता का अपवाद रहता है।

**कायोत्सर्ग के दोष**

आवश्यक निर्युक्ति में कायोत्सर्ग के इक्कीस दोष निर्दिष्ट हैं—

१. घोटक—अश्व की भांति पैरों को विषम स्थिति में रखकर कायोत्सर्ग करना।

२. लता—हवा से प्रेरित लता की भांति प्रकम्पित होकर कायोत्सर्ग करना।

३. स्तम्भ—खम्भे का सहारा लेकर कायोत्सर्ग करना।

४. कुड्य—दीवार का सहारा लेकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

५. माल—ऊपर की छत से सिर को सटाकर कायोत्सर्ग करना।

६. शबरी—नग्न भीलनी की भांति अपने गुह्य प्रदेश को हाथ से ढ़ककर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

७. बहू—कुलवधू की भांति सिर को नमाकर कायोत्सर्ग करना।

८. निगड़—पैरों को सटाकर या चौड़ा करके खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

९. लम्बोत्तर—चोलपट्ट को नाभि के ऊपर बांधकर नीचे घुटनों तक रखकर कायोत्सर्ग करना।

१०. स्तनदृष्टि—दंश मशक से बचने अथवा अज्ञान से चोलपट्ट को स्तनों तक बांधकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

११. उद्धि—यह दोष दो प्रकार से होता है। एड़ियों को सटाकर, पंजों को फैलाकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना बाह्य उद्धिका तथा दोनों पैरों के अंगूठे को सटाकर, एड़ियों को फैलाकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना आभ्यन्तरिका उद्धिका है।

१२. संयती—सूती कपड़े या कम्बल से शरीर को साध्वी की भांति ढककर कायोत्सर्ग करना।

१३. खलीन—रजोहरण को आगे करके खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना।

१४. वायस—काक की भांति दृष्टि को घुमाते हुए कायोत्सर्ग करना।

---

१. आवनि १०२४; न कुणइ निमेसजत्तं, तत्थुवयोगे न झाण झाएज्जा। एगनिसिं तु पवन्नो, झाति सहू अनिमिसच्छो वि।।

१५. कपित्थ—जूं आदि के भय से गोलाकार कपड़ा जंघाओं के बीच रखकर कायोत्सर्ग करना।

१६. शीष-प्रकंपन—यक्षाविष्ट व्यक्ति की भांति सिर को धुनते हुए कायोत्सर्ग करना।

१७. मूक—बिना बोले हूं हूं शब्द करते हुए कायोत्सर्ग करना।

१८. अंगुलि—आलापकों को गिनने के लिए अंगुलियों को चालित करते हुए कायोत्सर्ग करना।

१९. भ्रू—भौहों को नचाते हुए कायोत्सर्ग करना।

२०. वारुणी—मदिरा की भांति बुदबुदाते हुए कायोत्सर्ग करना।

२१. प्रेक्षा—बंदर की भांति होठों को चालित करते हुए कायोत्सर्ग करना।[1]

मूलाचार[2] तथा कार्तिकेय अनुप्रेक्षा की टीका में कायोत्सर्ग के निम्न ३२ दोष मिलते हैं। इनमें अधिकांश दोष आवश्यक निर्युक्ति से मिलते हैं। कुछ अतिरिक्त दोष भी हैं—१. घोटकपाद, २. लतावक्र, ३. स्तम्भावष्टम्भ, ४. कुड्याश्रित, ५. मालिकोद्वहन, ६. शबरीगुह्यगूहन, ७. शृंखलित, ८. लम्बित, ९. उत्तरित, १०. स्तनदृष्टि, ११. काकावलोकन, १२. खलीनित, १३. युगकन्धर, १४. कपित्थमुष्टि, १५. शीर्षप्रकम्पित, १६. मूकसंज्ञा, १७. अंगुलिचालन, १८. भ्रूक्षेप, १९. उन्मत्त, २०. पिशाच, २१. पूर्वदिशावलोकन, २२. आग्नेयदिशावलोकन, २३. दक्षिणदिशावलोकन, २४. नैऋत्यदिशावलोकन, २५. पश्चिमदिशावलोकन, २६. वायव्यदिशावलोकन, २७. उत्तरदिशावलोकन, २८. ईशानदिशावलोकन, २९. ग्रीवोन्नमन, ३०. ग्रीवावनमन, ३१. निष्ठीवन, ३२. अंगस्पर्श।[3]

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में कायोत्सर्ग के इन दोषों के क्रम में अंतर है तथा कहीं-कहीं दो दोषों को एक साथ मिला दिया है।[4] टीकाकार ने आवश्यक निर्युक्ति से इन दोषों को लिया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त कायोत्सर्ग के समय मुनि यदि नींद का बहाना करता है, सूत्र और अर्थ विषयक पृच्छा करता है, कांटा निकालने लगता है, मल और मूत्र का विसर्जन करने के लिए चला जाता है, धर्मकथा में प्रवृत्त हो जाता है, रोगी होने का बहाना करता है तो माया के कारण कायोत्सर्ग शुद्ध नहीं होता।[5]

**उच्छ्वास का कालप्रमाण**

आचार्यों ने श्वासोच्छ्वास प्रमाण के आधार पर व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त को निर्धारित किया है। वैदिक परम्परा में भी प्राणायाम के द्वारा पाप-मुक्ति की बात कही गई है।[6] मनुस्मृति के अनुसार प्रणव से युक्त

---

१. आवनि १०३६, १०३७।
२. मूलाचार में दोषों के नामों में अंतर है।
३. मूला ६७०-७२, टी पृ. ४८६-८८।
४. भआटी पृ. १६३।
५. आवनि १०३३।
६. विष्णुपुराण २/६/४०।

सोलह प्राणायाम प्रतिदिन एक मास तक करने से ब्रह्मघाती भी शुद्ध हो जाता है।[१] याज्ञवल्क्य ने उपपातक तथा सभी अनिर्दिष्ट पापों की शुद्धि हेतु सौ प्राणायाम का निर्देश किया है।[२]

एक श्वास का कालमान श्लोक के एक चरण जितना होता है। उसी के आधार पर प्रायश्चित्त के श्वासोच्छ्वास पूरे किए जाते हैं।[३] चार उच्छ्वास में एक श्लोक का चिंतन होता है। चतुर्विंशतिस्तव के छह श्लोकों के २४ चरण होते हैं और एक 'चरण चंदेसु निम्मलयरा' का मिलाने से २५ चरण होते हैं। प्रायश्चित्त रूप 'लोगस्स' में प्रायः पूरा लोगस्स किया जाता है। प्रायश्चित्त प्राप्ति में जघन्य आठ श्वासोच्छ्वास का तथा उत्कृष्ट एक हजार आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है।[४] दिगम्बर परम्परा में पूरे नमस्कार महामंत्र के उच्चारण में तीन उच्छ्वास काल प्रमाण होता है।

**प्रतिक्रमण में उच्छ्वास और लोगस्स का प्रमाण**

प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का श्वासोच्छ्वास प्रमाण नियत होता है लेकिन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में इनके प्रमाण में अंतर है, वह इस प्रकार हैं—

| प्रतिक्रमण | आवनि | मूलाचार | भआ विजयोदया |
|---|---|---|---|
| रात्रिक प्रतिक्रमण | पचास | चौपन | पचास |
| दैवसिक प्रतिक्रमण | सौ | एक सौ आठ | सौ |
| पाक्षिक प्रतिक्रमण | तीन सौ | तीन सौ | तीन सौ |
| चातुर्मासिक प्रतिक्रमण | पांच सौ | चार सौ | चार सौ |
| सांवत्सरिक प्रतिक्रमण | एक हजार आठ[५] | पांच सौ[६] | पांच सौ[७] |

श्वासोच्छ्वास का प्रमाण लोगस्स के साथ होता है। दैवसिक प्रतिक्रमण के चार, रात्रिक के दो, पाक्षिक के बारह, चातुर्मासिक के बीस तथा वार्षिक प्रतिक्रमण के चालीस लोगस्स (चतुर्विंशतिस्तव) होते हैं। इनका श्लोक प्रमाण इस प्रकार होता है—दैवसिक प्रतिक्रमण में पच्चीस, रात्रिक में साढ़े बारह, पाक्षिक में पचहत्तर, चातुर्मासिक में एक सौ पच्चीस तथा वार्षिक में दो सौ बावन श्लोक होते हैं।[८] दिगम्बर परम्परा में नमस्कारमंत्र के साथ श्वासोच्छ्वास का काल प्रमाण होता है। एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास के लिए छत्तीस नमस्कार महामंत्र का जाप करना होता है।

---

१. मनु ११/२४८।
२. याज्ञ ३/३०५;
प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये।
उपपातकजातानां, नादिष्टस्य चैव हि।।
३. आवनि १०२७, व्यभा १२१।
४. पंकभा ११२१।
५. आवनि १०२८, १०२९।
६. मूला ६५९, ६६०
७. भआ ११८ विटी पृ. १६२।
८. आवनि १०३०।

## कायोत्सर्ग के स्थान एवं श्वासोच्छ्वास का प्रमाण

श्वेताम्बर परम्परा में अतिचारनिवृत्ति के लिए किया जाने वाला कायोत्सर्ग प्रायः श्वासोच्छ्वास पर आधारित है तथा अनेक प्रकार का है। दिगम्बर परम्परा में व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त में श्वासोच्छ्वास के प्रमाण के साथ काल-प्रमाण से भी अतिचार की विशोधि कही गई है। धवला के अनुसार ध्यानपूर्वक काय का व्युत्सर्ग करके एक मुहूर्त्त, एक दिन, एक पक्ष और एक महीना आदि काल तक स्थिर रहना व्युत्सर्ग नामक प्रायश्चित्त है।[1]

विहार, शयन, स्वप्न-दर्शन, नौका से नदी-संतार तथा पैरों से नदी पार करने पर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण में पच्चीस श्वासोच्छ्वास (एक लोगस्स) का कायोत्सर्ग होता है।[2] इसी प्रकार भक्त-पान, शयन, आसन के लिए गमनागमन करने पर, अर्हत् शय्या (जिनालय) तथा श्रमणशय्या (उपाश्रय) में आने-जाने पर तथा उच्चार प्रस्रवण का परिष्ठापन करने पर पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग प्राप्त होता है।[3]

सूत्र के उद्देश (वाचना देना), समुद्देश (अर्थ प्रदान करना) और अनुज्ञा (सूत्र और अर्थ को पढ़ाने की अनुमति) में सत्तावीस[4] तथा प्रस्थापना एवं काल-प्रतिक्रमण में आठ श्वासोच्छ्वास (नमस्कार महामंत्र) का कायोत्सर्ग होता है।[5] इसी प्रकार अकाल में स्वाध्याय, अविनीत को वाचना देने, गलत विधि से वाचना देने, श्रुत की अवहेलना करने तथा दूसरों को अर्थ की वाचना देने में भी कायोत्सर्ग का विधान है।[6]

यदि मुनि दूसरे गांव में जाते समय अथवा भिक्षाचर्या में थककर विश्राम करे, भिक्षाकाल में कहीं प्रतीक्षा करे, प्रातःराश करने कहीं अन्यत्र शून्यगृह में जाए, वर्षा आदि के कारण किसी आच्छन्न स्थान की गवेषणा करके वहां जाए, किसी संखडी—जीमनवार में जाने के लिए प्रतीक्षा करे तो ऐर्यापथिकी विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करते हुए पच्चीस श्वासोच्छ्वास के कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। भिक्षा आदि के समय यदि बीच में कहीं विश्राम न करना पड़े तो गमनागमन का एक साथ प्रतिक्रमण हो जाता है अर्थात् केवल पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग ही किया जाता है अन्यथा गमन और आगमन का अलग-अलग कायोत्सर्ग किया जाता है।[7]

---

१. षट्ध पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६१।
२. आवनि १०३१, व्यभा ११०, जीसू १८।
३. जी १९, व्यभा १११।
४. मूलाचार में स्वाध्याय, वंदन और प्रणिधान में भी सत्तावीस श्वासोच्छ्वास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (मूला ६६३)
५. आवनि १०३१/१।
६. आवनि १०३१/२ हाटी पृ. २०४।
७. व्यभा ११२, ११३।

स्वप्न में प्राणिवध[1], मृषावाद, अदत्त, मैथुन और परिग्रह का सेवन करने पर सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है।[2] स्वप्न में मैथुन—दृष्टि-विपर्यास होने पर सौ तथा स्त्री-विपर्यास होने पर एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है।[3]

भगवती आराधना के अनुसार यदि उच्छ्वासों की संख्या विस्मृत हो जाए या संदेह हो जाए तो आठ उच्छ्वास अधिक करना चाहिए।[4]

आचार्य उमास्वाति के अनुसार अनेषणीय आहार, उपकरण आदि ग्रहण करने पर उसका परिष्ठापन करके कायोत्सर्ग करना चाहिए। जीवों से संसक्त सत्तू,दही, तक्र आदि वस्तुएं, जिनसे जीवों को अलग करना शक्य नहीं होता, उनको परिष्ठापित करके कायोत्सर्ग के साथ तप प्रायश्चित्त करना चाहिए।[5]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार व्युत्सर्ग के निम्न स्थान हैं—• बिना मौन आलोचना करने पर। • हरे तृणों पर चलने पर। • कीचड़ में चलने पर। • पेट से कीड़े निकलने पर। • शीत, मच्छर, वायु आदि के कारण रोमांचित होने पर। • आर्द्र भूमि के ऊपर चलने पर। • घुटने तक जल में प्रवेश करने पर। • दूसरे की आई हुई वस्तु का अपने लिए उपयोग करने पर। • नौका आदि द्वारा नदी पार करने पर। • पुस्तक के गिरने पर। • प्रतिमा के गिरने पर। • पांच स्थावर जीवों का विघात होने पर। • प्रतिक्रमण के समय व्याख्यान आदि में उपयुक्त होने पर। • मलमूत्र करने पर।[6]

**कायोत्सर्ग करने का स्थान**

कायोत्सर्ग ऐसे स्थान पर करना चाहिए, जिससे स्वयं को एवं दूसरों को कोई विघ्न-बाधा न आए। उच्चार, प्रस्रवण आदि आवश्यक कार्य सम्पन्न करने के बाद भिक्षु जब गुरु के समक्ष ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करे तो उस समय कायोत्सर्ग करते हुए गुरु के बगल में खड़ा होकर कायोत्सर्ग न करे, उसके उच्छ्वास के स्पर्श से गुरु को क्लान्ति हो सकती है। आगे भी खड़ा न रहे, इससे अविनय प्रकट होता है और लोकव्यवहार के विरुद्ध होता है। गुरु के पीछे खड़ा होकर भी कायोत्सर्ग न करे, इससे

---

१. मूलाचार में प्राणिवध आदि सारे अतिचारों में १०८ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है। (मूला ६६१)

२. जीसू २०।

३. (क) आवचू २ पृ. २६७ ; मेहुणे दिट्ठीविप्परियासियाए सतं, इत्थीए सह अट्ठसयं।

(ख) व्यभा १२०;इत्थीविप्परियासे तु सत्तावीससिलोइओ।

४. भआविटी पृ. १६२।

५. त ९/२२ भाटी २५१, २५२।

६. काअटी पृ.३४४ ; मौनादिना विना लोचनविधाने व्युत्सर्गः, हरिततृणोपरिगमने व्युत्सर्गः, कर्दमोपरि गमने व्युत्सर्गः, उदरकृमिनिर्गमने व्युत्सर्गः, हिमदंशमशकादिवातादिरोमाञ्चे व्युत्सर्गः, आर्द्रभूम्युपरिगमने व्युत्सर्गः, जानुमात्रजलप्रवेशे व्युत्सर्गः, परनिमित्तवस्तुनः स्वोपयोगविधाने व्युत्सर्गः, नावादिनदीतरणे व्युत्सर्गः, पुस्तकपतने व्युत्सर्गः, प्रतिमापतने व्युत्सर्गः, पञ्चस्थावरविघातादृष्टदेशतनुमलविसर्गादिषु व्युत्सर्गः, पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियान्तरव्याख्यानप्रवृत्त्यादिषु व्युत्सर्गः, उच्चारप्रस्रवणादिषु व्युत्सर्गः।

वायु का निरोध होने से गुरु अस्वस्थ हो सकते हैं।[1]

ओघ निर्युक्ति में इस संदर्भ में विमर्श किया गया है कि साधु को निष्क्रमण और प्रवेश के रास्ते को छोड़कर कायोत्सर्ग करना चाहिए। आने-जाने के रास्ते में कायोत्सर्ग करने से निम्न दोष उत्पन्न हो सकते हैं—

- उच्चार आदि से पीड़ित साधु वहां से बाहर नहीं जा सकने से उसे रोग हो सकता है। यदि वह उस रास्ते से जाता है तो कायोत्सर्ग का भंग होता है।
- भिक्षा लेकर आने वाला साधु अंदर न जाने के कारण भार से क्लान्त हो सकता है।
- कोई तपस्वी साधु गर्मी में संतप्त होकर भिक्षा लेकर आया है, वह यदि खड़े-खड़े प्रतीक्षा करे तो उसे मूर्च्छा हो सकती है।
- अन्य सामान्य साधु भी गर्मी से तप्त होकर आया है तो उसको परिताप हो सकता है।
- यदि ये सभी कायोत्सर्ग में स्थित उस मुनि को स्पर्श करते हुए या हटाते हुए अंदर प्रवेश करें तो आपस में कलह हो सकता है इसलिए अव्याबाध स्थान में कायोत्सर्ग करना चाहिए।
- कायोत्सर्ग करते समय यदि वहां कोई गृहस्थ होता है तो मुनि को बिना प्रमार्जन किए ही कायोत्सर्ग में स्थित हो जाना चाहिए अन्यथा रजोहरण और निषद्या से कायोत्सर्ग के स्थान का प्रमार्जन करके कायोत्सर्ग में स्थित होना चाहिए।[2]

**कायोत्सर्ग का प्रयोजन**

कायोत्सर्ग के प्रयोजन विकीर्ण रूप से आगम-साहित्य में मिलते हैं। आवश्यक सूत्र के अनुसार अविधिकृत आचरण का परिष्कार, प्रायश्चित्त, विशोधि, शल्य-उद्धरण के द्वारा पाप कर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए।[3] कायोत्सर्ग के कुछ मुख्य प्रयोजनों को निम्न बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है—

- कायोत्सर्ग पाप का निराकरण करने वाला तथा मंगल रूप अनुष्ठान है अतः कार्य में विघ्न न आए इस दृष्टि से वाचना आदि कार्य के प्रारम्भ में मंगल अनुष्ठान हेतु कायोत्सर्ग करना चाहिए।[4]

---

१. ओभा १५३ ;
पक्खे उस्सासाई, पुरतो अविणीय मग्गओ वाऊ।
निक्खमपवेसवज्जण, भावासण्णे गिलाणाई।।

२. ओभा १५४ टी पृ. १०७ ;
भारे वेयणखमगुण्हमुच्छपरियावछिंदणे कलहो।
अव्वाबाहे ठाणे, सागारपमज्जणा जयणा।।

३. आव ५/३ ; तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं णिग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।

४. आवनि १०३१/४;
पावुग्घाती कीरति, उस्सग्गो मंगलं ति उद्देसो।
अणुवहियमंगलाणं, मा होज्ज कहिंचि णे विग्घं।।

• किसी कार्य हेतु बाहर जाते समय यदि अपशकुन हो जाए तो आठ श्वासोच्छ्वास (एक नमस्कार महामंत्र) का कायोत्सर्ग करके अथवा आगम के दो श्लोकों का ध्यान करके फिर जाना चाहिए। दूसरी बार अपशकुन होने पर सोलह श्वासोच्छ्वास का तथा तीसरी बार अपशकुन होने पर रुककर शुभ शकुन की प्रतीक्षा करनी चाहिए।[1] व्यवहार भाष्य के अनुसार तीसरी बार अपशकुन होने पर बत्तीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए। चौथी बार अपशकुन होने पर बाहर नहीं जाना चाहिए और न ही कोई नया कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।[2]

• अस्वास्थ्य की स्थिति में भी कायोत्सर्ग का प्रयोग किया जाता था। प्रथम दिन कायोत्सर्ग दूसरे दिन निर्विगय फिर तीसरे दिन कायोत्सर्ग और चौथे दिन निर्विगय—इस प्रकार नौ दिन का प्रयोग किया जाता था।[3]

• विजयोदया टीका के अनुसार यह शरीर अशुचि, अनित्य, अपाययुक्त, दुर्वह, असार और दु:ख का हेतु है, यह चिन्तन करके शरीर की ममता का निवारण करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए[4] तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार नि:संगत्व, निर्भयत्व, जीवन की आकांक्षा का त्याग, दोषों का उच्छेद तथा मोक्षमार्ग की प्रभावना—इन कारणों से व्युत्सर्ग करना चाहिए।[5]

• देवता के आह्वान के लिए कायोत्सर्ग किया जाता था। निशीथभाष्य में एक प्रसंग आता है कि भयंकर अटवी में रास्ता भूलने पर वृषभ साधुओं ने वनदेवी का आह्वान करने के लिए कायोत्सर्ग किया। उसका आसन कम्पित हुआ। प्रकट होकर उसने सही मार्ग का पथदर्शन किया।[6] अमुक व्यक्ति व्यन्तरदेव से प्रभावित होकर उपद्रव कर रहा है अथवा धातुओं के कुपित होने के कारण, इसका ज्ञान करने के लिए देवता की आराधना हेतु कायोत्सर्ग किया जाता था। देवता के अनुसार चिकित्सा की जाती थी।[7] दो के बीच कौन सही हैं और कौन गलत, यह निर्णय करने के लिए भी देवता का कायोत्सर्ग किया जाता था।[8]

• अनुयोग का प्रारम्भ करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।[9] निशीथभाष्य एवं चूर्णि में उल्लेख मिलता है कि स्वाध्याय की प्रस्थापना हेतु उद्घाट कायोत्सर्ग करना चाहिए। उपाश्रय में कहीं किसी का दांत गिर जाए तो उसकी गवेषणा करनी चाहिए। मिल जाने पर सौ हाथ की दूरी पर उसका

---

१. आवचू २ पृ. २६६, २६७ ।
२. व्यभा ११७-११८।
३. व्यभा २१३५ मटी प. ७७।
४. भआविटी पृ. १६१।
५. तवा ९/२६ पृ. ६२५; नि: सङ्गत्वं निर्भयत्वं जीविताशाव्युदास: दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते।
६. निभा ५६९५ चू पृ. ११८।
७. व्यभा १०९८ मटी प. ३२।
८. व्यभा १२४७ मटी प. ६१।
९. व्यभा २६५१ मटी प. ३७ ; अनुयोगारंभणिमित्तं कायोत्सर्गम्।

परिष्ठापन करना चाहिए। यदि दांत न मिले तो उद्घाट कायोत्सर्ग करके स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए।[1]

• सूक्ष्म प्रमाद पर विजय प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए।[2]

• स्वाध्याय के कालग्रहण के लिए पांच मंगल (आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग किया जाता है।)[3] कुछ आचार्य मानते हैं कि पांच श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए। आचार्य मलयगिरि के अनुसार श्रद्धा, मेधा, धृति और धारणा के विकास हेतु कायोत्सर्ग करना चाहिए।[4]

• जैसे शकट और रथ का चक्र अथवा गृह के भग्न होने पर उसे सांधा जाता है, वैसे ही मूलगुण और उत्तरगुणों के खंडित और विराधित होने पर कायोत्सर्ग द्वारा उसको संस्कृत—परिष्कृत किया जाता है।[5] सभी एकरात्रिकी आदि प्रतिमाओं के अनुष्ठान को उपसर्ग रहित पूर्ण करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता था।[6]

### व्युत्सर्ग तप और व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त में अन्तर

राजवार्तिक में आचार्य अकलंक ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि प्रायश्चित्त के भेदों में व्युत्सर्ग का उल्लेख है तथा निर्जरा के बारह भेदों में भी व्युत्सर्ग आन्तरिक तप है, यह पुनरुक्ति क्यों? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि अतिचार होने पर उसकी शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त में प्राप्त व्युत्सर्ग नियत काल के लिए किया जाता है लेकिन तप रूप में उल्लिखित व्युत्सर्ग सतत करणीय है।[7]

### कायोत्सर्ग के लाभ

कायोत्सर्ग के लाभ का आगमों में प्रकीर्ण रूप से वर्णन मिलता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कायोत्सर्ग के लाभ बताते हुए भगवान् महावीर कहते हैं—'कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य कर्मों का विशोधन करता है। ऐसा करने से व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भारवाहक की भांति हल्के हृदय वाला हो जाता है। वह प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है।[8] भाष्यकार ने चार अनंत निर्जरा के स्थानों में एक स्थान कायोत्सर्ग को माना है।[9]

निर्युक्तिकार ने कायोत्सर्ग की पांच निष्पत्तियां बताई हैं[10]—

१. देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।

---

१. निभा ६१११ चू पृ. २३७ ; जति दंतो पडितो सो पयत्ततो गवेसियव्वो, जइ दिट्ठो तो हत्थसतातो परं विगिंचियव्वो। अह ण दिट्ठो तो उग्घाडकाउस्सग्गं काउं सज्झायं करेंति।

२. पंव ४७९;
जीवो पमायबहुलो, तब्भावणभाविओ अ संसारे।
तत्थ वि संभाविज्जइ, सुहुमो सो तेण उस्सग्गो।।

३. आवनि ९५४, हाटी २ पृ. १७३।

४. व्यभा ५४६ मटी प. २९।

५. आवनि १०१६।

६. व्यभा ७९८ टी प. ९६।

७. तवा ९/२६ पृ. ६२५।

८. उ २९/१३।

९. जीभा ४५५, आवनि १०४०/१।

१०. आवनि ९९५/१।

२. मतिजाड्यशुद्धि—जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।

३. सुख-दु:ख-तितिक्षा—सुख-दु:ख को सहन करने की शक्ति का विकास होता है।

४. अनुप्रेक्षा—अनित्य आदि भावनाओं से मन को भावित करने का अवसर प्राप्त होता है।

५. एकाग्रता—एकाग्रचित्त से शुभध्यान करने का अवसर प्राप्त होता है।

कायोत्सर्ग की सबसे बड़ी फलश्रुति है—भेद विज्ञान की अनुभूति। जैसे म्यान में रखी तलवार और म्यान—दोनों भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है, इस अनुभूति को प्राप्त करना, विदेह की स्थिति का अनुभव करना कायोत्सर्ग है।[1]

**तप प्रायश्चित्त**

जिस पाप की शुद्धि तप से होती है, वह तप प्रायश्चित्त है। जीतकल्प भाष्य के अनुसार निर्विगय से लेकर छह मास पर्यन्त तप से जिस पाप की विशुद्धि होती है, वह तपोर्ह प्रायश्चित्त है।[2]

प्रश्न होता है कि छह मास से अधिक तप प्रायश्चित्त क्यों नहीं दिया जाता, इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो तीर्थंकर छद्मस्थ काल में जितना उत्कृष्ट तप करते हैं, उनके तीर्थ में उतना ही उत्कृष्ट तप प्रायश्चित्त दिया जाता है, इससे अधिक नहीं। शक्ति होने पर भी इससे अधिक तप न तो देना चाहिए और न ही करना चाहिए क्योंकि इससे तीर्थंकरों की आशातना होती है।[3] दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे कोई राजा अपने राज्य में धान्यप्रस्थक को स्थापित करता है, उसके स्थापित होने पर यदि कोई पुराने धान्य प्रस्थक का व्यवहार करता है तो वह दण्डित होता है।[4]

प्रथम तीर्थंकर के समय तप का उत्कृष्ट समय बारह मास, मध्यम तीर्थंकरों के समय आठ मास तथा अंतिम महावीर के तीर्थ में तप का उत्कृष्ट समय छह मास होता है। यदि इतने तप को अतिक्रान्त करने वाला अतिचार होता है तो फिर छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[5]

पुन: प्रश्न उपस्थित होता है कि विषम तप प्रायश्चित्त देने से प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों की शोधि में भी अंतर आ जाएगा। इस तर्क का समाधान यह है कि प्रथम तीर्थंकर के काल में भूमि की स्निग्धता के कारण मनुष्यों का देहबल और धृतिबल—दोनों ही उत्कृष्ट होता है। चरम तीर्थंकर के समय में ये दोनों बल अनंतभाग हीन हो गए अत: शारीरिक और धृतिबल की विषमता के कारण विषम प्रायश्चित्त का विधान है। प्रथम तीर्थंकर के समय में दोनों बलों के प्रवर्धमान होने के कारण एक साल तक

---

१. व्यभा ४३९९, जीभा ५४०।

२. जीभा ७२४।

३. निचू ४ पृ. ३०७ ; सत्तिजुत्तेण वि परतो तवो ण कायव्वो, आसायणभया।

४. व्यभा १४१-४३।

५. जीभा २२८७, २२८८, व्यभा १४४।

तपस्या करने पर भी संयम-योगों की हानि नहीं होती थी। मध्यम तीर्थंकरों के शासन काल में दोनों बल कुछ कम हुए तथा अंतिम तीर्थंकर के समय ये दोनों बल कम होने के कारण छह मास के तप से भी उतनी ही विशोधि प्राप्त हो जाती है, जितनी प्रथम तीर्थंकर के समय होने वाले उत्कृष्ट तप में।[१]

**तप प्रायश्चित्त के प्रकार**

निर्जरा के बारह भेदों में प्रारम्भ के चार भेद तप से सम्बन्धित हैं। जिससे पाप कर्म तप्त होते हैं, वह तप कहलाता है।[२] मनुस्मृति के अनुसार मनुष्य मन, वचन और काया से जो कुछ भी पाप करता है, उसको तप की अग्नि शीघ्र भस्म कर देती है।[३]

सामान्यतया तप दो भागों में विभक्त है—इत्वरिक और यावत्कथिक। उपवास से लेकर छह मास तक का तप इत्वरिक तप के अन्तर्गत है। यावज्जीवन अनशन स्वीकार करना यावत्कथिक प्रायश्चित्त है। जैन परम्परा में कनकावलि, रत्नावलि की भांति स्मृति-साहित्य में भी पादकृच्छ्रतप तथा प्राजापत्य आदि अनेक तपों का वर्णन मिलता है।[४]

तप प्रायश्चित्त दो प्रकार से वहन किया जाता है—१. शुद्ध तप २. पारिहारिक तप।

**परिहारतप और शुद्धतप में अंतर**

संघ में रहकर जो अपनी इच्छा से तप किया जाता है, वह शुद्ध तप कहलाता है। साधुओं के साथ इसमें आलाप-संलाप होने से यह इतना कठोर नहीं है तथा संघ में रहते हुए भी जिस तप प्रायश्चित्त में परस्पर साधुओं से आलाप-संलाप आदि दश पदों का परिहार किया जाता है, वह परिहार तप कहलाता है।[५] चूर्णिकार ने परिहार शब्द के दो अर्थ किए हैं—वर्जन और वहन या धारण करना।[६] पांच अहोरात्र यावत् भिन्न मास प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना करने पर परिहार तप प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता। प्रतिसेवना जब मासिकी, द्विमासिकी आदि जितनी होती है, तब परिहार तप प्रायश्चित्त दिया जाता है।[७] मायारहित होकर साधु जिस तप को करने में समर्थ होता है, उसका पालन करने से वह शुद्ध हो जाता है। जो अपने बल और वीर्य का गोपन करता है, वह शुद्ध नहीं होता।[८] निशीथ चूर्णिकार के अनुसार उत्तरगुण सम्बन्धी दोष लगने पर तथा मूलगुण सम्बन्धी जघन्य और मध्यम अपराध में शुद्ध तप दिया जाता है लेकिन मूलगुण सम्बन्धी

---

१. व्यभा १४५-४७।
२. निभा ४६ चू पृ. २५ तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो।
३. मनु ११/२४१।
४. याज्ञ ३/५०।
५. त ९/२२ भाटी पृ. २५३; परिहियते अस्मिन् सति वंदना-लापान्नपानप्रदानादिक्रियया साधुभिरिति परिहारः।
६. निचू ४ पृ. ३७१ ; परिहरणं परिहारो वज्जणं ति वुत्तं भवति, अहवा परिहारो वहणं ति वुत्तं भवति, तं प्रायश्चित्तम्।
७. व्यभा ५९८ मटी प. ४६।
८. निभा ६६०३, व्यभा ५५७।

उत्कट दोष सेवन करने में मासिक अथवा छह मासिक परिहार तप का प्रायश्चित्त दिया जाता है।[1] बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार जो साधु निष्कारण प्रतिसेवना, कारण में अयतना से प्रतिसेवना करने वाला तथा स्वस्थ होने पर भी म्रक्षण आदि क्रिया को नहीं छोड़ने वाला होता है, उसे परिहार तप प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[2] गृहस्थ के द्वारा कुछ कहने पर जो साधु कलह करता है, उसको नियमतः परिहारतप प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3] इसे आपन्न परिहार भी कहा जाता है। यह सातिचार के होता है। शुद्ध परिहार (परिहारविशुद्ध चारित्र) अनतिचार होता है।[4]

काल और तपःकरण की दृष्टि से शुद्ध तप और परिहारतप दोनों समान हैं। प्रश्न हो सकता है कि समान दोष होने पर भी किसी को परिहारतप और किसी को शुद्ध तप का प्रायश्चित्त देने का आधार क्या है? क्या उन दोनों की शुद्धि में कोई अंतर नहीं रहेगा? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यदि मण्डप पाषाण से बनाया है तो उसमें कितना भी भार रख दिया जाए, वह नहीं टूटता है लेकिन एरण्ड से बनाए गए मण्डप पर अधिक भार नहीं रखा जा सकता। इसी प्रकार जो साधु धृति और संहनन से बलवान् है, उन्हें परिहारतप तथा इन दोनों से दुर्बल को शुद्ध तप दिया जाता है।[5] इसी बात को अन्य दृष्टान्त से समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि जो रोगी शरीर से बलवान् होता है, उसको चिकित्सक वमन, विरेचन आदि कर्कश क्रियाएं करवाता है लेकिन जो रोगी दुर्बल होता है, उसे ये क्रियाएं नहीं करवाई जातीं। इसी प्रकार शुद्ध तप के योग्य साधु की शुद्ध तप से शोधि होती है, उसे यदि परिहारतप दे दिया जाए तो वह भग्न हो जाता है। परिहार तप वाले को शुद्ध तप दिया जाए तो उसकी पूरी शोधि नहीं होती अतः समर्थ साधु को परिहार तप ही दिया जाता है।[6] भाष्यकार ने बालक की गाड़ी का दृष्टान्त भी दिया है।[7] परिहार तप का विस्तार आगे किया जाएगा।

**छेद में भी तप प्रायश्चित्त**

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार जो छेद, मूल आदि प्रायश्चित्तों में श्रद्धा नहीं रखता, छेद और मूल प्रायश्चित्त दिए जाने पर भी प्रसन्न रहता है, छेद मिलने पर भी जो अन्य साधु से छोटा नहीं होता, वंदनीय रहता है और कहता है कि मेरा इतना पर्याय छेद होने पर भी मैं तुमसे बड़ा हूं, ऐसे पर्याय गर्वित को छेद प्रायश्चित्त होने पर भी तप प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा जो तप गर्वित होता है, उसके दोष को दूर करने

---

१. निभा ४ चू पृ. २८०।
२. बृभा ६०३३।
३. बृभा ५५९५ ; चोयण कलहम्मि कते, तस्स उ नियमेण परिहारो।
४. निचू ४ पृ. २७९।
५. व्यभा ५४२, ५४३।
६. बृभा ५५९४ ; सहुस्स परिहार एव, न उ सुद्धो।
७. व्यभा ५५६।

के लिए इसके विपरीत छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए। छेद प्रायश्चित्त प्राप्त गणाधिपति आचार्य की अपरिणत शैक्ष आदि में अवहेलना न हो अतः बुद्धि, बल, संहनन आदि को जानकर तथा ग्रीष्म आदि ऋतुओं के आधार पर तपोर्ह प्रायश्चित्त देना चाहिए।[1]

**प्रायश्चित्त के संकेत और तप प्रायश्चित्त**

तप प्रायश्चित्त प्राप्ति के लिए भाष्य-साहित्य में कुछ सांकेतिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। कुछ मुख्य सांकेतिक शब्द और उनका तप प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं[2] —

१. चतुर्गुरु — उपवास।
२. चतुर्लघु — आयम्बिल।
३. गुरुमास — एकासन।
४. लघुमास — पुरिमार्ध।
५. पणग — निर्विगय।
६. षड्गुरु — तेला।
७. षड्लघु — बेला।

**नवविध व्यवहार में तप प्रायश्चित्त**

व्यवहार का अर्थ है—प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त के आधार पर व्यवहार के संक्षेप में तीन तथा विस्तार से नौ भेद किए गए हैं। व्यवहार के तीन प्रकार हैं—गुरु, लघु और लघुस्वक। इन तीनों के तीन-तीन प्रकार हैं—

१. गुरुक, गुरुकतरक, यथागुरुक।
२. लघुक, लघुतरक, यथालघुक।
३. लघुस्वक, लघुस्वतरक, यथालघुस्वक।

गुरुक आदि नौ व्यवहारों का प्रायश्चित्त परिमाण एक मास आदि है, जो तेले आदि के तप से पूर्ण होता है। इसका चार्ट इस प्रकार है—

| | व्यवहार | प्रायश्चित्त-परिमाण | तप |
|---|---|---|---|
| १. | गुरुक | एकमास | तेला |
| २. | गुरुतरक | चार मास | चोला |
| ३. | यथागुरुक | छह मास | पंचोला |
| ४. | लघुक | तीस दिन | बेला |
| ५. | लघुतरक | पच्चीस दिन | उपवास |

१. जीभा १७९०-९६। २. जीभा १८०४, १८०५।

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६. | यथालघुक | बीस दिन | आचाम्ल |
| ७. | लघुस्वक | पन्द्रह दिन | एक स्थान |
| ८. | लघुस्वतरक | दस दिन | पूर्वार्द्ध |
| ९. | यथालघुस्वक | पांच दिन | निर्विगय[1] |

गुरु प्रायश्चित्त के तीन भेद होते हैं। उनमें तप का क्रम इस प्रकार होता है—

१. जघन्य गुरु प्रायश्चित्त— एक मासिक और दो मासिक।

२. मध्यम गुरु प्रायश्चित्त— त्रैमासिक और चातुर्मासिक।

३. उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त—पंचमासिक और षाण्मासिक।

४. जघन्य लघु प्रायश्चित्त—बीस दिन।

५. मध्यम लघु प्रायश्चित्त—भिन्नमास।

६. उत्कृष्ट लघु प्रायश्चित्त—लघुमास।

७. जघन्य लघुस्वक प्रायश्चित्त—पांच दिन।

८. मध्यम लघुस्वक प्रायश्चित्त—दस दिन।

९. उत्कृष्ट लघुस्वक प्रायश्चित्त—पन्द्रह दिन।[2]

भाष्यकार ने सभी ऋतुओं के आधार पर जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तथा इनमें भी उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के आधार पर तप प्रायश्चित्त का वर्णन किया है।[3]

**जीतव्यवहार के आधार पर तप प्रायश्चित्त**

तप प्रायश्चित्त में पणग (निर्विगय) से लेकर चतुर्गुरु (उपवास) तक के प्रायश्चित्त उल्लिखित हैं। भाष्यकार ने दैनिक व्यवहार में होने वाले सैकड़ों छोटे-छोटे अतिचारों का जीतकल्प के आधार पर तप प्रायश्चित्त निर्धारित किया है। यह सारा वर्णन उन्होंने गा. १०२२-१८१३ तक की गाथाओं में किया है। विस्तारभय से यहां उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है। इनमें पिण्डैषणा के दोषों से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों का पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका में वर्णन किया गया है। (देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. १२९-३६) यहां उदाहरणस्वरूप कुछ अतिचारों के तप का संकेत किया जा रहा है—

**चतुर्गुरु—उपवास प्रायश्चित्त के स्थान—**

- सौंठ, बेहड़ा आदि शुष्क औषधि बासी रहने पर।[4]

---

१. जीभा १८३८-४३।
२. जीभा १८४८, १८४९।
३. जीभा १८२६-१९३५।
४. जीभा १०८३।

- मार्गातिक्रान्त आहार का परिभोग करने पर।[1]
- बिना कारण दिन में सोने पर।[2]
- पक्ष अथवा चातुर्मास के व्यतीत होने पर भी क्रोध रहने पर।[3]
- दौड़ प्रतियोगिता करने पर।[4]
- चौपड़, चौरस, जूआ आदि खेल खेलने पर।[5]
- कोयल, मयूर, बिल्ली आदि की आवाज निकालने पर।[6]
- वर्तमान तथा भविष्य सम्बन्धी निमित्त कथन करने पर।[7]

**चतुर्लघु—आयम्बिल के स्थान—**

- चार काल की सूत्र पौरुषी न करने पर।[8]
- सर्वथा कायोत्सर्ग न करने पर।[9]
- पर्व तिथियों में अन्य उपाश्रय में स्थित मुनियों को वंदना न करने पर।[10]
- अतिप्रमाण आहार करने पर।[11]

**गुरुमास—एकासन के स्थान—**

- स्थापना कुल में गुरु से पूछे बिना प्रवेश करके भक्तपान ग्रहण करने पर।[12]
- वीर्य का गोपन करने पर।[13]

**लघुमास—पुरिमार्ध के स्थान—**

- अर्थ पौरुषी न करने पर।[14]
- स्वाध्याय, कायोत्सर्ग एवं प्रतिलेखना न करने पर।[15]

---

१. जीभा १७४५।
२. जीभा १७६२।
३. जीभा १७६३, १७६४।
४. जीसू ४५।
५. जीभा १७२३।
६. जीभा १७२५।
७. जीभा १६८३।
८. व्यभा १३०।
९. व्यभा १३१।
१०. व्यभा १३३।
११. जीसू ३८।
१२. जीभा १७७५।
१३. जीसू ५६; भाष्यकार के अनुसार यह प्रायश्चित्त जीत-व्यवहार के आधार पर है। श्रुतव्यवहार के अनुसार अन्यथा प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है।
१४. सूत्र पौरुषी न करने पर गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अर्थ सूत्र के अधीन होता है। सूत्रपौरुषी यथाशक्ति सबको करनी पड़ती है। सूत्र के अभाव में सर्वस्व का अभाव हो जाता है इसलिए सूत्र पौरुषी अर्थ पौरुषी से महत्त्वपूर्ण है। (व्यभा १३०, मटी प. ४५)
१५. व्यभा १२९।

- अष्टमी और पक्खी के दिन उपवास न करने पर।[1]
- आहार का अविधिपूर्वक परिष्ठापन करने पर।[2]
- आहार आदि का संवरण न करने पर।[3]
- नवकारसी न करने पर।[4]
- अचित्त लहसुन तथा प्याज ग्रहण करने पर।[5]
- बछड़े को बंधनमुक्त करने पर।[6]

**पणग—निर्विगय के स्थान—**

- वसति से बाहर जाते समय 'आवस्सही' और प्रवेश के समय 'निस्सिही' का उच्चारण न करने पर।[7]
- गुरु को प्रणाम न करने पर।[8]
- विकथा आदि के कारण कालातिक्रान्त आहार रखने पर।[9]
- दीर्घकालिक रोग की स्थिति में आधाकर्म फल आदि का सेवन करने पर।[10]
- दुष्प्रतिलेखन अथवा दुष्प्रमार्जन करने पर।[11]
- विहार से आकर पैरों का प्रमार्जन या प्रत्युपेक्षा न करने पर।[12]

**बेला—( दो उपवास ) के स्थान—**

- गुड़, घृत, तेल आदि गीली वस्तुओं के बासी रहने पर।[13]
- प्रमादी साधु के रजोहरण खोने या नष्ट होने पर।[14]

**तेला—( तीन उपवास ) के स्थान—**

- दिन में गृहीत रात्रि में भुक्त, रात्रि में गृहीत दिन में भुक्त, रात्रि में ग्रहण तथा रात्रि में भोग—इन तीनों भंगों की शोधि तेले के तप से होती है।

कहीं-कहीं पुरुष भेद से भी प्रायश्चित्त-प्राप्ति में भेद होता है

- संयम में डांवाडोल साधु के प्रति प्रशस्त स्थिरीकरण न करने पर भिक्षु को पुरिमार्ध, वृषभ को

---

१. व्यभा १३३।
२. जीभा १७४५।
३. जीभा १७४८।
४. जीभा १७४९।
५. जीभा १७६६।
६. जीभा १७६७।
७. व्यभा १२५।
८. व्यभा १२५।
९. जीभा १७४४।
१०. जीभा १७८२।
११. जीभा १७८९।
१२. व्यभा १२६।
१३. जीभा १०८४।
१४. जीभा १७४३।

एकासन, उपाध्याय को आयम्बिल तथा आचार्य को उपवास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1]

• प्रतिदिन यथाशक्ति प्रत्याख्यान ग्रहण न करने पर क्षुल्लक को एकासन, भिक्षु को आयम्बिल, स्थविर को उपवास, उपाध्याय को बेला तथा आचार्य को तेले के तप का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[2]

कहीं-कहीं वस्तुभेद से भी प्रायश्चित्त में अन्तर आता है—

• जघन्य उपधि खोने पर उसकी शोधि हेतु एकासन, मध्यम उपधि खोने पर आयम्बिल तथा उत्कृष्ट उपधि खोने पर उपवास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3] सर्व उपधि खोने पर उसकी शोधि बेले के तप से होती है।[4]

• तीनों प्रकार की उपधि की प्रतिलेखना विस्मृत होने पर उसकी शोधि क्रमशः निर्विगय, पुरिमार्ध और एकासन से होती है तथा सर्व उपधि की प्रतिलेखना विस्मृत होने पर या आचार्य को निवेदन न करने पर आयम्बिल प्रायश्चित्त से शोधि होती है।[5]

• गुरु-आज्ञा के बिना जघन्य उपधि अन्य साधु को देने पर जीतव्यवहार से उसकी शोधि एकासन से, मध्यम उपधि देने पर आयम्बिल से, उत्कृष्ट उपधि देने पर उपवास से तथा सर्व उपधि देने पर बेले के तप से शोधि होती है।[6]

शुद्ध तप प्रायश्चित्त के संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् अब परिहार तप प्रायश्चित्त का वर्णन किया जा रहा है—

**परिहार तप की योग्यता**

जिस साधु को परिहार तप दिया जाता है, उसकी निम्न बिन्दुओं से परीक्षा की जाती है—

• पृच्छा—अपने गण के साधु से पृच्छा नहीं की जाती क्योंकि वह सबके लिए परिचित होता है। अन्य गण से आगत मुनि की गीतार्थता आदि इंगित और आकार से जान ली जाती है तो पृच्छा नहीं की जाती। अपरिचित आगंतुक साधु से पूछा जाता है कि तुम गीतार्थ हो या अगीतार्थ? यदि वह उत्तर में गीतार्थ बताता है तो उससे आगे पूछा जाता है कि तुम कौन सा तप कर सकते हो? धृति-संहनन में दुर्बल हो या सबल? स्थिर हो अथवा अस्थिर? तपस्या में कृतयोगी हो या अकृतयोगी? यदि आगंतुक कृतयोगी हो तो उसे परिहार तप तथा अकृतयोगी को शुद्ध तप का प्रायश्चित्त दिया जाता है।

• पर्याय—परिहार तप प्रायश्चित्त वहन कर्ता की जन्म पर्याय जघन्यतः उनतीस वर्ष तथा श्रमण पर्याय बीस वर्ष की होनी चाहिए। उत्कृष्ट रूप से दोनों ही पर्याय देशोन पूर्वकोटि हो सकती हैं।

• सूत्रार्थ—उसका सूत्रार्थ जघन्यतः नवें पूर्व की तृतीय आचार वस्तु तथा उत्कृष्टतः कुछ कम दश पूर्व होना

---

१. जीभा १०६०, १०६१।
२. जीभा १७५४।
३. जीभा १७३६।
४. जीभा १७३७।
५. जीभा १७३५।
६. जीभा १७४१।

चाहिए। संघ में श्रुत की अविच्छिन्न परम्परा हेतु सम्पूर्ण दशपूर्वी को यह तप नहीं दिया जाता क्योंकि उसके लिए स्वाध्याय ही महानिर्जरा का कारण है।

- अभिग्रह—भिक्षाचर्या में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सम्बन्धित अभिग्रह करने वाला।
- तप:कर्म—रत्नावलि[1] कनकावलि[2] आदि तप से भावित।[3]

परिहार तप योग्य अपराध होने पर भी साध्वियों को यह प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता क्योंकि वे धृति और संहनन से दुर्बल तथा पूर्वों के ज्ञान से रहित होती हैं। अगीतार्थ तथा प्रथम तीन संहननों से रहित को भी शुद्ध तप दिया जाता है। जो धृति और संहनन से सम्पन्न हैं, उनको परिहारतप प्रायश्चित्त दिया जाता है।[4]

**परिहार तप वहन का समय**

ग्रीष्म अथवा शीतकाल में प्राप्त परिहारतप का वहन आचार्य वर्षाकाल में करवाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि काल की स्निग्धता के कारण यह काल तपस्या के लिए गुणकारी होता है तथा वर्षाकाल में एक स्थान में रहने के कारण परिहारतप प्रायश्चित्त का वहन सुखपूर्वक हो जाता है।[5]

**परिहार तप प्रायश्चित्त स्वीकार करने की विधि**

परिहार तप स्वीकृति के समय आचार्य द्रव्य, क्षेत्र आदि का भी ध्यान रखते हैं। द्रव्य से वट आदि क्षीरवृक्ष के नीचे, क्षेत्र से जिनगृह में, काल से प्रशस्त दिन में पूर्वाह्न के समय तथा भाव से शुभ चन्द्रबल और शुभ नक्षत्रबल में इसकी प्रतिपत्ति करवाते हैं।[6]

परिहारतप स्वीकार करने से पूर्व गुरु पूर्व, उत्तर या चरन्ती दिशा की ओर अभिमुख होते हैं। पारिहारिक शिष्य गुरु के वामपार्श्व में कुछ पीछे की ओर स्थित होता है। उस समय आचार्य सम्पूर्ण संघ के साथ पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करते हैं अथवा चतुर्विंशतिस्तव करके नमस्कार महामंत्र का पाठ करके पुन: अस्खलित रूप से चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग करते हैं।[7] ससंघ कायोत्सर्ग करने के दो कारण हैं—

१. कायोत्सर्ग के द्वारा संघाटक साधु उसके भयभीत मन को आश्वस्त करके समर्थ बनाते हैं, जिससे वह निर्विघ्न रूप से परिहार तप की समाप्ति कर सके।

---

१. यह तप हार की कल्पना के अनुसार किया जाता है। हार में ऊपर दोनों ओर दाड़िम पुष्प तथा बीच में बड़ा दाड़िम पुष्प होता है, उसी कल्पना के अनुसार इस तप की विधि होती है। विस्तार हेतु देखें श्रीभिक्षु २ पृ. २७७, २७८

२. कनकावलि तप भी रत्नावलि तप के समान होता है। इसमें इतना ही अंतर होता है कि दाड़िमपुष्पों में रत्नावलि में बेले तथा इसमें तेले किए जाते हैं। विस्तार हेतु देखें श्रीभिक्षु २ पृ. २७८।

३. निभा ६५८४-८७ चू. पृ. ३६९, व्यभा ५३६-४१।

४. निभा ६५९१।

५. व्यभा १३३८-४०।

६. निचू ३ पृ. ६५।

७. निचू ४ पृ. ३७१।

२. शेष साधुओं के मन में यह भय पैदा करने के लिए कि अमुक साधु ने ऐसी प्रतिसेवना की, जिससे इसे यह दुष्कर परिहार तप दिया जा रहा है। ऐसी प्रतिसेवना करने पर यह प्रायश्चित्त वहन करना पड़ेगा।[1]

कायोत्सर्ग के पश्चात् गुरु पारिहारिक को कहते हैं कि परिहार तप समाप्ति-काल तक मैं तुम्हारे लिए कल्पस्थित हूं अर्थात् वंदना, वाचना आदि के लिए कल्पभाव में स्थित हूं, परिहार्य नहीं हूं। यह गीतार्थ मुनि तुम्हारा अनुपारिहारिक रहेगा। परिहार तप का वहन करने के कारण यह सकल सामाचारी जानता है।[2]

**पारिहारिक को आचार्य द्वारा आश्वासन**

परिहार तप को स्वीकार करते हुए यदि कभी पारिहारिक भयभीत हो जाए कि इस उग्र तप को मैं कैसे वहन करूंगा, इतना समय एकाकी कैसे व्यतीत करूंगा तो आचार्य उसे कूप, नदी और राजा के दृष्टान्त से समझाते हैं। कूप आदि के दृष्टान्त स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि कोई व्यक्ति यदि कूप में गिर जाता है, उस समय यदि कोई व्यक्ति उसे यह कहे कि यह बेचारा मरकर बचा है तो वह भय से अंगों को ढीला छोड़ देता है और डूबकर मर जाता है। यदि तटस्थ व्यक्ति उसे आश्वस्त करे कि तुम डरो मत, तुम्हें डोरी से निकाल दिया जाएगा तो वह आश्वस्त हो जाता है। नदी में डूबने वाले को यदि यह कहा जाए कि तुम तट की ओर आने का प्रयत्न करो, यह तैराक व्यक्ति दृति लेकर तुमको नदी के पार उतार देगा तो वह भयमुक्त हो जाता है। यदि राजा कुपित होकर किसी को मृत्युदण्ड देता है उस समय अन्य व्यक्ति उसे यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो गए तो वह उद्विग्न हो जाता है। यदि आश्वस्त करते हुए यह कहा जाता है कि तुम भयभीत मत बनो, हम राजा से प्रार्थना करके तुम्हें दण्ड से मुक्त करवा देंगे, राजा अन्याय नहीं करेगा। इस बात को सुनकर उसका मन समाहित हो जाता है। इन तीनों दृष्टान्तों की भांति आचार्य उसे आश्वस्त करते हैं कि तुम डरो मत, तुमको जो कुछ पूछना है, वह मुझसे पूछना, अनुपारिहारिकों के साथ तुम भिक्षार्थ भ्रमण करना। इस प्रकार आचार्य उसे आश्वस्त करके भय से उपरत कर देते हैं।[3]

**आलाप आदि दस पदों का परिहार**

आचार्य सबाल वृद्ध संघ को निर्देश देते हुए कहते हैं कि यह परिहार तप स्वीकार करने वाला आत्मचिन्तन में लीन रहेगा।[4] निम्न आलाप आदि दश स्थानों से तुम्हारा और प्रायश्चित्त वहन कर्ता का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा—

१. आलाप—यह पारिहारिक किसी से बातचीत नहीं करेगा, तुम लोग भी इसके साथ आलाप-संलाप मत करना। यह स्वयं अपनी भिक्षा आदि की चिन्ता करेगा, आत्मार्थ चिन्तन करते हुए आत्मशोधन करेगा।

---

१. जीभा २४३७, २४३८।
२. जीभा २४३९;
कप्पट्ठितो अहं ते अणुपरिहारी य एस गीतो ते।
३. जीभा २४४६-५४, निचू ३ पृ. ६५।
४. जीभा २४४०, बृभा ५५९७।

तुम लोग इसकी साधना में किसी प्रकार का व्याघात मत डालना।

२. प्रतिपृच्छा—यह पारिहारिक सूत्र और अर्थ से सम्बन्धित कोई भी प्रश्न तुमसे नहीं पूछेगा और तुम भी इससे कुछ भी नहीं पूछ सकते।

३. परिवर्तना—यह तुम्हारे साथ किसी भी प्रकार के सूत्रार्थ का परावर्तन नहीं करेगा और तुम भी इसके साथ परिवर्तना नहीं करोगे।

४. उत्थान—काल-वेला में न यह तुम्हें उठाएगा और न ही तुम इसे उठाओगे।

५. वंदन—न यह तुम्हें वंदन करेगा और न ही तुम इसको वंदन करोगे।[1]

६. मात्रक-आनयन—न यह तुम्हें मात्रक लाकर देगा और न ही तुम इसे लाकर दोगे।

७. प्रतिलेखन—यह तुम्हारे किसी भी उपकरण की प्रतिलेखना नहीं करेगा, तुम भी इसकी प्रतिलेखना नहीं करोगे।

८. संघाटक—इससे तुम्हारा तथा तुम्हारा इससे संघाटक नहीं होगा।

९. भक्तदान—यह तुम्हें भक्तपान लाकर नहीं देगा और तुम भी इसे भक्तपान लाकर नहीं दोगे। जिस दिन भिक्षु परिहार तप प्रायश्चित्त स्वीकार करता है, उस दिन आचार्य उसे एक घर से आहार दिला सकते हैं, उस दिन के बाद विशेष परिस्थिति के अलावा उसे आहार-पानी न दे सकते हैं और न दिला सकते हैं।

१०. सहभोजन—यह तुम्हारे साथ भोजन नहीं करेगा और तुम भी इसके साथ भोजन नहीं करोगे।[2]

व्यवहार सूत्र के अनुसार यदि अनेक पारिहारिक और अनेक अपारिहारिक मुनि एक दिन यावत् छह मास भी साथ रहें तो भी वे सहभोजन नहीं कर सकते।[3] इस संदर्भ में बृहत्कल्पभाष्य में एक अपवाद का वर्णन है। परिहारतप स्वीकार करने के पश्चात् विपुल अशन-पान देखकर उसके मन में यदि खाने की इच्छा हो जाए तो आचार्य उसके भावों को देखकर सोचते हैं कि यदि यह एक बार प्रणीत आहार कर लेगा तो सुखपूर्वक अग्रिम परिहार तप वहन कर सकेगा अतः अतिशयज्ञानी या आचार्य उसके भावों को जानकर इंद्र महोत्सव आदि के दिन प्रणीत भोजन वाले जीमनवार में ले जाते हैं, यदि पारिहारिक असमर्थ हो तो गुरु स्वयं उसे प्रणीत आहार लाकर देते हैं, इससे उसकी तृप्ति हो जाती है। वह शेष प्रायश्चित्त को सुखपूर्वक वहन करता है। उस दिन के बाद पारिहारिक को भक्तपान नहीं देते।[4] छहमासिक परिहार तप पूरा होने पर

---

१. अजानकारी में अन्य गण से आगत भिक्षु उसे वंदना कर लेता है। (जीभा २४५७)

२. जीभा २४४१, २४४२, व्यभा ५४९, ५५०।

३. व्यसू २/२७।

४. बृभा ५६०२-०७।

एक मास के पश्चात् वे सब एक साथ भोजन कर सकते हैं। जो एक मासिक परिहार तप वाला है, वह एक मास और पांच दिन पूरा होने पर साथ में भोजन कर सकता है।[१] इस प्रकार पांच-पांच दिन की वृद्धि से संभोज वर्जित है। पांच, दस, यावत् एक मास के अतिरिक्त दिनों में आलापन आदि नौ पद आपस में किए जा सकते हैं।

एक मास अतिरिक्त संभोज क्यों नहीं किया जाता, इसका कारण बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे कुथित मद्य आदि से दुर्गन्धित पात्र में जब तक गंध आती है, तब तक उसमें क्षीर आदि नहीं डाला जाता, वैसे ही दुश्चरित्र की दुर्गंध से भावित उसके साथ भोजन नहीं किया जाता। इस अतिरिक्त मास के दो नाम हैं—१. पूतिनिर्वलन मास २. प्रमोदमास। यह मास दुर्गंध का नाश करने वाला है अतः पूतिनिर्वलन मास नाम है तथा संभाषण आदि करने से प्रसन्नता रहती है अतः इसका नाम प्रमोद मास भी है। पृथक् आहार करने का एक कारण भाष्यकार यह बतलाते हैं कि उसका शरीर तप से जर्जरित हो जाता है, जब तक वह पृथक् आहार करता है, तब तक सभी साधु करुणावश उसे बलवर्धक आहार देते हैं, इससे वह शीघ्र ही बाह्य और आभ्यन्तर तप के योग्य हो जाता है।[२] इस प्रकार इन दस स्थानों से गच्छ उसका तथा वह गच्छ का परिहार कर देता है।

परिहार तप प्रायश्चित्त कर्ता एक क्षेत्र अथवा एक उपाश्रय में रह सकता है लेकिन बिना कारण इन दस स्थानों का यदि परिहार नहीं करता है तो प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। आज्ञा भंग आदि दोष होते हैं, प्रमत्त देवता उसे छल सकता है अथवा आपस में टोकने पर कलह की संभावना रहती है।[३] आलापन से संघाटक तक आठ पदों का व्यवहार करने पर गच्छगत साधु को लघुमास, भक्तपान देने पर चतुर्लघु तथा सहभोजन करने पर चार अनुद्घात मास—गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[४] आलापन से संघाटक तक आठ पदों का व्यवहार करने पर पारिहारिक को गुरुमास, भक्तपान देने तथा सहभोजन करने पर चार अनुद्घात मास अर्थात् चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[५]

### कल्पस्थित और अनुपारिहारिक का सम्बन्ध

आचार्य अथवा आचार्य के द्वारा नियुक्त नियमतः गीतार्थ साधु, जो आचार्य के समान व्यवहार करता है, वह कल्पस्थित कहलाता है।[६] यदि पारिहारिक कृतिकर्म करता है तो कल्पस्थित आचार्य उसे

---

१. व्यभा १३३९; दो मास वाला बाद में दस दिन तक सहभोजन नहीं कर सकता।
२. व्यभा १३४१, १३४२।
३. बृभा ५६०१।
४. जीभा २४४३।
५. जीभा २४४४।
६. निचू भा ३ पृ. ६५; आयरिओ, आयरियणिउत्तो वा णियमा गीतत्थो तस्स आयरियाण पदाणुपालगो कप्पट्ठितो भण्णति।

स्वीकार करते हैं। उसे प्रत्याख्यान करवाते हैं। सूत्रार्थ विषयक पूछने पर आचार्य उसकी जिज्ञासा का समाधान करते हैं। पारिहारिक गुरु के आने पर खड़ा होता है। गुरु यदि उसके शारीरिक स्वास्थ्य के बारे में पूछते हैं तो वह उसका प्रत्युत्तर देता है।[1]

जो पारिहारिक के चलने पर सर्वत्र उसका अनुगमन करता है, वह अनुपारिहारिक कहलाता है। आचार्य उसी शिष्य को अनुपारिहारिक के रूप में स्थापित करते हैं, जो पहले परिहार तप स्वीकार कर चुका हो। उसके अभाव में दृढ़ संहनन वाले किसी गीतार्थ मुनि को अनुपारिहारिक स्थापित करते हैं।[2] पारिहारिक भिक्षार्थ जाता है तो अनुपारिहारिक श्वान आदि से उसकी रक्षा करता है। बृहत्कल्पभाष्य में इस प्रसंग की विस्तार से चर्चा है। सामान्यत: अनुपारिहारिक पारिहारिक को भक्त- पान आदि लाकर नहीं देते हैं, न ही आलापन आदि करते हैं लेकिन कारण होने पर गोदृष्टान्त की भांति उसका सहयोग करते हैं। जैसे नवप्रसूता गाय उठने-बैठने में समर्थ नहीं रहती, उस समय ग्वाला गाय को उठाकर चरने के लिए अरण्य में ले जाता है। जो गाय चलने में समर्थ नहीं होती, उसके लिए घर पर चारा लाकर देता है। इसी प्रकार पारिहारिक भी उत्थान आदि करने में समर्थ नहीं होता तो अनुपारिहारिक सारा कार्य करता है।[3]

उग्र तप आदि करने से जब पारिहारिक कृश अथवा दुर्बल शरीर वाला हो जाता है, उत्थान आदि करने में समर्थ नहीं रहता तो वह अनुपारिहारिक की सहायता लेता है। वह उसको कहता है, मुझे उठाओ, बिठाओ, भिक्षा करो, भंडक की प्रतिलेखना करो आदि। ऐसा कहने पर वह शीघ्र ही मौनभाव से कुपित प्रिय बांधव की भांति उसकी सारी क्रियाएं सम्पन्न करता है।[4] यदि भिक्षार्थ गया हुआ पारिहारिक भिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ, क्लान्त या मूर्च्छित हो जाता है तो अनुपारिहारिक भिक्षा ग्रहण करता है। यदि जाने में असमर्थ है तो अनुपारिहारिक अकेला भिक्षार्थ जाता है। यदि वह उपकरण आदि उठाने में समर्थ नहीं है तो अनुपारिहारिक उसकी प्रतिलेखना आदि भी कर देता है। जब तक वह पुन: स्वस्थ नहीं हो जाता, उसकी अग्लान भाव से सेवा करता है।[5]

**ग्लानत्व की स्थिति में परिकर्म**

यदि कल्पस्थित, पारिहारिक और अनुपारिहारिक—ये तीनों ग्लान हो जाएं तो गच्छगत साधु पारिहारिक के पात्र में भिक्षा लाकर कल्पस्थित को देते हैं। कल्पस्थित वह भिक्षापात्र अनुपारिहारिक को देता है, वह उसे पारिहारिक को देता है। यदि गच्छवासी साधुओं के द्वारा देने पर भी कल्पस्थित और

---

१. जीभा २४४५।
२. जीभा २४३९।
३. बृभा ५६०९ टी पृ. १४८४।
४. जीभा २४५५, २४५६, व्यभा ५५४।
५. कसू ४/२७, २८।

अनुपारिहारिक वहां नहीं जाते हैं तो साधु स्वयं पारिहारिक को वह भिक्षा-पात्र दे देते हैं।

मदन कोद्रव आदि खाने अथवा महामारी से संघगत साधु ग्लान हो जाएं अथवा शत्रु के द्वारा विष दे दिया जाए अथवा अवमौदर्य हो तो पारिहारिक मुनि गच्छवासी साधुओं के पात्र में आहार लाकर अनुपारिहारिक को देता है, अनुपारिहारिक कल्पस्थित को देता है फिर वह गच्छवासी साधुओं को वह आहार देता है। यदि आचार्य की सेवा करने वाला कोई साधु नहीं होता तो पारिहारिक यतनापूर्वक उनकी सेवा करता है। वह आचार्य के पात्र में भिक्षा लाकर अनुपारिहारिक को देता है। अनुपारिहारिक कल्पस्थित को देता है तथा वह उस आहार को संघ के आचार्य को देता है।[1] यदि गच्छ के साधु आगाढ़ योग में संलग्न हों, उस समय यदि वाचना देने वाला उपाध्याय ग्लान हो जाए या कालगत हो जाए तो उस समय पारिहारिक अनुपारिहारिक या कल्पस्थित वाचना दे सकता है।[2]

**पारिहारिक की आहार एवं भिक्षा सम्बन्धी मर्यादा**

मार्ग में भिक्षा करने के सम्बन्ध में भी भाष्यकार ने विशद चिन्तन किया है। विहार करते हुए पारिहारिक को छोटा ग्राम प्राप्त हो जाए, उस समय तक यदि संघगत साधु वहां नहीं पहुंचे हैं तो वह ग्राम पारिहारिक की भिक्षा हेतु स्थापित कर दिया जाए। यदि ग्राम दूर हो और भिक्षा-काल का अतिक्रमण हो रहा हो तो उसी ग्राम का आधा भाग पारिहारिक के लिए तथा शेष आधा गांव अन्य गच्छगत साधुओं की भिक्षा के लिए रख दिया जाए। यदि गच्छगत साधुओं को आहार पूरा न मिले तो पारिहारिक की भिक्षा के पश्चात् गच्छगत साधु पूरे गांव में भिक्षा कर सकते हैं। यदि एक गांव में ही प्रवास कर रहे हों तो भी आधे-आधे गांव में गण के साधु और पारिहारिक भिक्षा करते हैं।[3]

सामान्यतः पारिहारिक आहार का दान-अनुप्रदान नहीं करता लेकिन आचार्य यदि उसे साधुओं को आहार-वितरण की अनुज्ञा दें तो वह आहार-वितरण कर सकता है। आचार्य उसे निम्न कारणों से आहार-वितरण की आज्ञा देते हैं —

- परिहारी का शरीर तप से शोषित होता है। आहार-वितरण करने से विगय से खरंटित हाथ तथा शेष बचा हुआ आहार वह खा सके।
- आहार परिमित हो और परिहारी यदि आहार-वितरण में कुशल हो।
- अनेक प्रकार का प्रचुर आहार मिलने पर अगीतार्थ के व्यामोह की निवृत्ति हेतु।

पारिहारिक गुरु की आज्ञा प्राप्त करके घृत आदि विकृति का सेवन कर सकता है। यदि वह गुरु

---

१. बृभा ५६१५ टी पृ. १४८६, निचू ३ पृ. ६७।
२. बृभा ५६१४ टी पृ. १४८५, १४८६।
३. बृभा ५६१६ टी पृ. १४८६।

की आज्ञा प्राप्त नहीं करता है तो आहार-वितरण के बाद विगय से संसृष्ट हाथ दूसरा साधु चाटकर साफ करता है अथवा वह उस लिप्त हाथ को दीवार या काष्ठ से साफ करता है। गुरु की अनुज्ञा के बिना स्वयं चाटकर साफ करता है तो लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आचार्य की अनुज्ञा से वह विकृति से लिप्त हाथ को चाट सकता है अथवा शेष बचे हुए आहार को भी खा सकता है, जैसे रसोइया बचे हुए भोजन का मालिक की आज्ञा से परिभोग करता है। भाष्यकार के अनुसार यह पारिहारिक की आचार मर्यादा है कि शक्तिसंवर्धन के लिए वह ऐसा कर सकता है।[1]

**पारिहारिक के प्रति आचार्य की सेवा**

कल्पस्थित आचार्य पारिहारिक की तीन रूपों में सेवा करते हैं—१.अनुशिष्टि २. उपालम्भ और ३. उपग्रह। अनुशिष्टि के माध्यम से वे पारिहारिक को प्रेरणा देते हैं कि अपराध होने पर दण्ड मिलना संसार में सुलभ है। तुम यह मत सोचो कि मुझे यह प्रायश्चित्त मिला है तो मैं दण्डित या तिरस्कृत हुआ हूं। यह प्रायश्चित्त तुम्हारे संसार का उद्धार करने वाला है। तुम्हारी आत्मा अतिचार दोष से मलिन है, इस प्रायश्चित्त से वह विशुद्ध हो जाएगी। उपालम्भ स्वरूप वे पारिहारिक को कहते हैं कि तुमने स्वयं ने यह प्रतिसेवना की है इसलिए तुमको यह प्रायश्चित्त दिया गया है। प्रायश्चित्त का वहन न करने से तुम इस भव में भले ही मुक्त हो जाओ लेकिन परलोक में दण्ड-मुक्त नहीं हो सकते।

आचार्य पारिहारिक का द्रव्य और भाव—दो प्रकार से उपग्रह करते हैं। पारिहारिक और अनुपारिहारिक दोनों ग्लान या असमर्थ हो जाते हैं तो आचार्य भक्तपान लाते हैं, यह द्रव्यत: उपग्रह है तथा उसे सूत्रार्थ अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हेतु मार्गदर्शन देते हैं, यह भावत: उपग्रह है।[2]

**परिहारी और अपरिहारी की पात्र सम्बन्धी मर्यादा**

परिहारतप करने वाले के पात्र सम्बन्धी मर्यादा का भी व्याख्या-साहित्य में वर्णन मिलता है। परिहार तप प्रायश्चित्त वहनकर्ता पात्र लेकर स्वयं की भिक्षा के लिए जा रहा हो, उस समय यदि आचार्य कह दें कि मेरे लिए भी भिक्षा ला देना तो वह परिहारी अपने पात्र में आचार्य के लिए भिक्षा ला सकता है लेकिन अपरिहारी आचार्य परिहारी के पात्र में अशन-पान का प्रयोग नहीं कर सकते। वे अपने पात्र में वह आहार लेकर खा-पी सकते हैं।

यदि परिहारी भिक्षु विशेष कारण में स्थविर (आचार्य) के लिए भिक्षार्थ जाए, उस समय यदि आचार्य कहे कि तुम अपने लिए भी आहार लेकर आ जाना। ऐसा कहने पर परिहारी स्वयं के लिए भी साथ

---

१. व्यसू २/२८, व्यभा १३४४-४८। २. व्यभा ५६०-६५।

में भिक्षा ला सकता है। पारिहारिक भी अपरिहारी के पात्र में खा-पी नहीं सकता। अपने पात्र में लेकर या हाथ में लेकर आहार कर सकता है।

पारिहारिक भिक्षु की सामान्य मर्यादा यह है कि वह पहले अपने पात्र में स्वयं के योग्य भिक्षा लाकर फिर स्थविर के पात्र में स्थविर के योग्य भिक्षा लाता है अथवा पहले स्थविर योग्य आहार लाकर फिर अपने लिए आहार लाता है। किसी कारणवश यदि वह एक ही पात्र में साथ में आहार लाए तो स्थविर के खाने के पश्चात् वह स्वयं खाता है। इन तीनों स्थितियों के निम्न कारण हो सकते हैं—

- अशिव आदि के कारण अन्य साधुओं को अन्यत्र भेज दिया हो।
- स्थविर और परिहारी दो ही रह गए हों।
- जंघाबल की क्षीणता के कारण स्थविर भिक्षाटन में असमर्थ हो गए हों।
- अपरिहारी तप के कारण खिन्न हो।
- द्रव्य दुर्लभ हो।
- सब घरों में भिक्षा का समय एक ही हो।
- समय की कमी हो।
- पानी आदि की अल्पता हो तो पारिहारिक और अपारिहारिक दोनों एक साथ भोजन कर सकते हैं।[1]

**परिहार तप प्रायश्चित्त के विकल्प**

दो साधर्मिक एक साथ विहार कर रहे हों, उस समय उनके साथ संघ सहित आचार्य न हों, वैसी स्थिति में यदि एक मुनि अकृत्य स्थान का सेवन करके आलोचना करे तो वह परिहारतप स्वीकार करता है और दूसरा साधर्मिक अनुपारिहारिक के रूप में उसकी सेवा करता है। कल्पस्थित की भूमिका भी वही निभाता है। उसमें भी यदि आलोचक गीतार्थ है तो परिहार तप दिया जाता है अन्यथा अगीतार्थ को शुद्ध तप दिया जाता है।[2]

**पारिहारिक की संघ-सेवा**

यदि पारिहारिक सूत्रार्थ विशारद तथा लब्धि सम्पन्न है तो उसे संघ के इन कारणों से अन्य गच्छों में भेजा जा सकता है—

- कोई नास्तिकवादी व्यक्ति राजा के समक्ष वाद करने की इच्छा व्यक्त करे।

---

१. व्यसू २/२९, ३० व्यभा. १३५२-५६।
२. व्यसू २/१।

- साधु के प्रति प्रद्विष्ट राजा द्वारा किसी साधु को मारने-पीटने का प्रसंग हो।
- दुर्भिक्ष आदि के कारण आहार-प्राप्ति न हो।
- किसी साधु ने अनशन किया हो और उसके लिए निर्यापक की आवश्यकता हो।
- कोई आचार्य ग्लान हो गए हों।
- राजा आदि के द्वारा किसी साधु या साध्वी को उत्प्रव्रजित करके बंदी बना रखा हो।
- अन्य मतावलम्बी शास्त्रार्थ करना चाहता हो।[1]

इन परिस्थितियों में आचार्य कहते हैं कि इस पारिहारिक के अतिरिक्त अन्य कोई साधु ऐसा नहीं है, जो वादी का निग्रह कर सके या अन्य प्रयोजन सिद्ध कर सके, उस समय पारिहारिक स्वयं भी निवेदन कर सकता है कि उस वादी को मैंने शास्त्रार्थ में अनेक बार हराया है अतः आप अनुज्ञा दें तो मैं वहां जाऊं।[2]

प्रश्न उपस्थित होता है कि दुष्कर परिहारतप वहन करने वाले को बीच में ही तप स्थगित करके अन्यत्र क्यों भेजा जाता है? इसका समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि तीक्ष्ण और तीक्ष्णतर कार्य उपस्थित होने पर पहले तीक्ष्णतर कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। यदि दो महत्त्वपूर्ण कार्य एक साथ उपस्थित हो जाएं तो कार्य की गुरुता और लघुता का चिन्तन करके जो कार्य संघ के लिए हितकारी हो, उसे पहले करना चाहिए। इसी बात को दृष्टान्त से समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि व्रण-चिकित्सा के समय यदि बीच में किसी को धनुग्रहवात जैसी घातक बीमारी हो जाए तो कुशल वैद्य पहले उस व्याधि की चिकित्सा करते हैं, तत्पश्चात् उस व्रण का शमन करते हैं।[3] इसी प्रकार अनेक कार्य होने पर भी संघ कार्य को पहले करना चाहिए। यदि शक्ति होने पर भी मुनि संघ-कार्य के लिए उपस्थित नहीं होता तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[4]

**परिहार तप का झोष—क्षपण**

असमर्थ पारिहारिक गुरु के कहने पर तप को छोड़ देता है अथवा आचार्य उसे अवशिष्ट तप से मुक्त कर देते हैं। जिस पारिहारिक ने अभी तप प्रारम्भ ही किया है, सारा ही तप शेष है तो समर्थ पारिहारिक मार्ग में तप-वहन की बात कहता है अथवा प्रसन्न होकर गुरु उसे सम्पूर्ण तप से मुक्त कर देते हैं। गुरु यदि प्रायश्चित्त से मुक्त न करें तो प्रयोजन सम्पन्न कर अपने क्षेत्र में आकर देशभाग अथवा सर्वभाग[5] प्रायश्चित्त को पूरा करता है।[6]

---

१. व्यभा ६९४, ६९५ मटी प. ७१।
२. व्यभा ६९६, ६९७।
३. व्यभा ६९८-७०१।
४. व्यभा १६५५।
५. देशभाग और सर्वभाग की व्याख्या हेतु देखें इसी ग्रंथ की भूमिका पृ. १८४, १८५।
६. व्यभा ७६५, ७६६।

**वादी पारिहारिक के प्रायश्चित्त में कमी**

वादी का निग्रह करना भी संघ की सेवा है। यदि पारिहारिक वादी का निग्रह करने हेतु राजसभा जाता है, उस समय प्रवचन की जुगुप्सा न हो इसलिए वह पैर धोता है, दंत-प्रक्षालन करता है, वाक्-पाटव एवं मेधा-वृद्धि के लिए प्रणीत आहार करता है, आन्तरिक उत्साह बढ़ाने हेतु वातिक— मदिरा आदि पदार्थों का सेवन करता है, सभा में विजय प्राप्त करने के लिए शुक्ल वस्त्र धारण करता है, इन सब प्रतिसेवनाओं को जानकर आगमव्यवहारी उसे कहते हैं कि पहले तुमको दोष सेवन पर पारिहारिक तप दिया था लेकिन अब भविष्य में तुम ऐसा अपराध मत करना। तुमने परवादी का निग्रह करके प्रवचन की प्रभावना की है अत: तुम्हें अल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है अथवा प्रायश्चित्त से मुक्त भी कर दिया जाता है।[1]

**पारिहारिक का मार्ग में अवस्थान**

पारिहारिक संघीय या अन्य कारण उपस्थित होने पर अन्यत्र जाए तो निम्न छह कारणों से वह बीच में रुक सकता है—

- मार्ग में स्वयं ग्लान हो जाए अथवा अन्य किसी ग्लान साधु को देखे या सुने तो उसकी परिचर्या के लिए।
- वर्षा या नदी का पूर आ जाने पर।
- किसी के द्वारा सूत्रार्थ की पृच्छा करने पर।
- किसी विशिष्ट विद्याधर या निमित्तज्ञ से निमित्त सीखने हेतु।
- अनेक साधु आगाढ़ योग में प्रविष्ट हों, उस समय उनको वाचना देने वाले आचार्य के कालगत होने पर उन्हें वाचना देने के लिए।
- मार्ग में ऐसा ग्रंथ मिलने पर, जिसे पढ़ने से प्रज्ञा का स्फुरण हो जाए तो उसे पढ़ने की इच्छा से।[2]

**परिहार तप प्रायश्चित्त के स्थान**

- कुल और श्रुत से असदृश मुनि को आचार्य बनाने पर।
- चिकित्साकाल में मनोज्ञ आहार का आसक्ति से सेवन करने पर।
- गण द्वारा असम्मत और अप्रीतिकर शिष्य को आचार्य पद पर नियुक्त करने पर।[3]
- निष्कारण प्रतिसेवना तथा कारण होने पर अयतना से प्रतिसेवना करने पर।

---

१. बृभा ६०३४-३६ टी पृ. १५९२, १५९३।
२. व्यभा ७०६।
३. व्यभा १३३४, १३३५।

- स्वस्थ होने पर भी प्रक्षण आदि क्रियाएं उसी रूप में करने पर।[1]
- स्थविर की अनुज्ञा के बिना अभिशय्या और नैषेधिकी में जाने पर।[2]

**तप प्रायश्चित्त तथा अनवस्थाप्य और पाराञ्चित तप में अन्तर**

यद्यपि व्याख्याकारों ने कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि तप प्रायश्चित्त में प्राप्त परिहार तप और अंतिम दो प्रायश्चित्तों में मिलने वाले परिहार तप में क्या अंतर है? ऐसा प्रतीत होता है कि परिहार तप कर्ता की योग्यता, आलाप आदि दश पदों का परिहार तथा पर्याय आदि की दृष्टि से दोनों में समानता है लेकिन तप की काल-मर्यादा की दृष्टि से तप प्रायश्चित्त वाले परिहार तप का जघन्य समय एक मास तथा उत्कृष्ट छह मास है। अनवस्थाप्य और पाराञ्चित तप में जघन्य छह मास तथा उत्कृष्ट बारह वर्ष है।

तप प्रायश्चित्त में पारिहारिक संघ में रहते हुए प्रायश्चित्त वहन करता है लेकिन पाराञ्चित में क्षेत्र के बाहर प्रायश्चित्त वहन किया जाता है। तप प्रायश्चित्त साधु को भी प्राप्त हो सकता है लेकिन अनवस्थाप्य उपाध्याय को तथा पाराञ्चित प्रायश्चित्त आचार्य को प्राप्त होता है। परिहार तप प्राप्ति के कारण तथा अनवस्थाप्य और पाराञ्चित प्रायश्चित्त में प्राप्त परिहार तप के कारणों में भी अन्तर है।

**तप प्रायश्चित्त-दान में तरतमता**

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अन्य प्रायश्चित्तों की अपेक्षा तप प्रायश्चित्त का विस्तार से वर्णन किया है। इस पूरे प्रसंग को पढ़कर कहा जा सकता है कि तप प्रायश्चित्त को उन्होंने अनेकान्त के प्रायोगिक रूप में प्रस्तुत किया है। भाष्यकार के अनुसार तप प्रायश्चित्त के निर्धारण में आचार्य निम्न बातों का ध्यान रखते हैं—

१. आहार आदि द्रव्य की सुलभता-दुर्लभता।
२. क्षेत्र की रूक्षता और स्निग्धता?
३. काल की दृष्टि से कौन सी ऋतु है?
४. भाव की दृष्टि से ग्लान या स्वस्थ? अथवा मंद या तीव्र अनुभाव?
५. प्रतिसेवक पुरुष गीतार्थ है या अगीतार्थ?
६. प्रतिसेवना कैसी है दर्प या कल्प?

भगवती आराधना के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रव्रज्याकाल, आगम और पुरुष—इन दस बातों को जानकर फिर प्रायश्चित्त देना चाहिए।[3]

---

१. बृभा ६०३३।
२. व्यभा ६९०।
३. भआ ४५२ ; दव्वं खेत्तं कालं, भावं करणपरिणाममुच्छाहं।
संघदणं परियायं, आगमपुरिसं च विण्णाय।।

द्रव्य की दृष्टि से जहां शालि आदि उत्कृष्ट धान्य नित्य सुलभ होते हैं, वहां अधिक प्रायश्चित्त दिया जाता है तथा जहां काञ्जिक आदि रूक्ष आहार कम या दुर्लभ हों, वहां कम प्रायश्चित्त दिया जाता है।[1] रूक्ष क्षेत्र वात और पित्त को उत्पन्न करता है। शीत क्षेत्र बलप्रद होता है। शीत क्षेत्र में अधिक प्रायश्चित्त, रूक्ष क्षेत्र में हीनतर तथा साधारण क्षेत्र में मध्यम प्रायश्चित्त दिया जाता है।[2]

गर्मी में तपस्या करना कठिन होता है अतः काल की दृष्टि से भी भाष्यकार ने विस्तार से चर्चा की है। ग्रीष्म ऋतु में उत्कृष्ट तेला, शिशिर में चोला तथा वर्षाकाल में पंचोला तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए, यह उत्कृष्ट तप की अपेक्षा है। जघन्य दृष्टि से ग्रीष्म में उपवास, शीतकाल में बेला तथा वर्षाकाल में तेले का प्रायश्चित्त दिया जाता है। मध्यम तप की दृष्टि से ग्रीष्म में बेला, शीत में तेला तथा वर्षा में चोले का प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका भाष्यकार ने १०९[3] गाथाओं में विस्तार से वर्णन किया है।

भाव के आधार पर स्वस्थ प्रतिसेवक को अधिक तप दिया जाता है। ग्लान को नहीं दिया जाता अथवा उतना ही दिया जाता है, जितना वह शरीर के आधार पर सहन कर सके। भाव में मंद और तीव्र अनुभाव भी प्रायश्चित्त की तरतमता में निमित्त बनते हैं।[4] मंद अनुभाव से चरम प्रायश्चित्त जितना अतिचार सेवन करके भी पणग (निर्विगय) प्रायश्चित्त दिया जा सकता है तथा तीव्र अनुभाव से पणग प्रायश्चित्त जितना अतिचार सेवन करने पर चरम—पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त हो सकता है।[5] यदि साधु मायावी नहीं है लेकिन कर्मोदय से सावधानी में कमी है तो अनेक बार गलती होने पर भी उसे कड़ा प्रायश्चित्त नहीं मिलता। यदि गलती करके दर्प प्रतिसेवना से वह गलती को स्वीकार नहीं करता अपितु दोषों की स्थापना करता है तो बोलने मात्र से उसका प्रायश्चित्त बढ़ता जाता है। भाष्यकार ने इन सबको अनेक दृष्टान्तों से विस्तार से समझाया है।[6]

प्रतिसेवक के अध्यवसाय-भेद से प्रतिसेवना की भिन्नता होने पर भी समान प्रायश्चित्त से विशोधि हो जाती है। इस भेद के पीछे प्रायश्चित्तदाता का राग द्वेष नहीं, अपितु यथार्थ दृष्टिकोण और विवेक होता है। व्यवहारभाष्य में इस संदर्भ में चतुर्भंगी प्रस्तुत की गई है—

- एक भिक्षु ने तीव्र अध्यवसाय से निष्कारण मासिक प्रतिसेवना प्रायश्चित्त जितना अपराध किया, उसको एक मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है।

---

१. जीसू ६५।
२. जीसू ६६।
३. जीभा १८२६-१९३५।
४. जीसू ६८।
५. जीभा १९३८।
६. देखें बृभा ६१३०-६२।

- दूसरे भिक्षु ने मंद अध्यवसाय से दो मास प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना की, उसको प्रत्येक मास के पन्द्रह दिनों के अनुपात से एक मास का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।
- तीसरे भिक्षु ने मंदतम अध्यवसाय से तीन प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना की, उसको मास के दस-दस दिनों के अनुपात से एक मास का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।
- किसी चौथे भिक्षु ने अति मंदतम अध्यवसाय से चार मास प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना की, उसको प्रत्येक मास के साढ़े सात दिन के अनुपात से एक मास का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। इस चतुर्भंगी को समझने के लिए भाष्यकार ने पांच वणिक् और पन्द्रह गर्दभ की मार्मिक कथा का संकेत किया है।

पांच वणिकों के पास विषम मूल्य वाले पन्द्रह गधे थे। समान वितरण के समय पांचों में कलह होने लगा। यदि सबको समान वितरण किया जाता तो सबको तीन-तीन गधे मिलते चूंकि उनका मूल्य समान नहीं था अतः यह वितरण किसी को मान्य नहीं हुआ। एक मध्यस्थ व्यक्ति ने उनका वितरण किया। उसने साठ रुपए मूल्य वाला एक गधा एक व्यापारी को दिया। दूसरे को तीस-तीस रुपए मूल्य वाले दो गधे, तीसरे को बीस-बीस रुपए मूल्य वाले तीन गधे, चौथे को पन्द्रह-पन्द्रह रुपए मूल्य वाले चार गधे तथा पांचवें को बारह-बारह मूल्य वाले पांच गधे दिए। इसी प्रकार प्रायश्चित्त दाता रागद्वेष से मुक्त होकर अनेक परिस्थितियों के आधार पर प्रायश्चित्त देता है।[1]

पुरुष के आधार पर भी प्रायश्चित्त का निर्धारण होता है। जीतकल्पभाष्य के अनुसार पुरुषों के अनेक प्रकार हो सकते हैं—गीतार्थ-अगीतार्थ, समर्थ-असमर्थ, सहिष्णु-असहिष्णु, मायावी-ऋजु, परिणामक, अपरिणामक, अतिपरिणामक, ऋद्धिमान प्रव्रजित ऋद्धिहीन प्रव्रजित—इन सब पुरुषों में तुल्य अपराध होने पर भी प्रायश्चित्त-दान में भिन्नता रहती है। स्वभाव के आधार पर दारुण और भद्र पुरुष में भी समान अपराध में प्रायश्चित्त भेद होता है।[2]

उदाहरणार्थ जो स्थिर गीतार्थ होते हैं, उन्हें अपराध के अनुसार पूर्ण प्रायश्चित्त दिया जाता है लेकिन अस्थिर अगीतार्थ को गुरु उसके सामर्थ्य के आधार पर कम या पूर्ण प्रायश्चित्त देते हैं।

अन्य विकल्प के अनुसार पुरुष चार प्रकार के होते हैं। उनमें भी प्रायश्चित्त-दान में तरतमता होती है।

**१. उभयतरक**—उत्कृष्ट छह मासिक तप करने पर भी आचार्य की अग्लान भाव से सेवा करने वाला उभयतरक कहलाता है। वह अपना और आचार्य—दोनों का उपग्रह करता है।

---

१. व्यभा ३२९-३१।

२. व्यभा ४०२५, ४०२६।

२. **आत्मतरक**—तप में बलिष्ठ किन्तु वैयावृत्त्य लब्धि से हीन आत्मतरक कहलाता है। वह तप द्वारा केवल स्वयं पर अनुग्रह करता है।

३. **परतरक**—तपोबल से हीन केवल वैयावृत्त्य करने वाला।

४. **अन्यतरक**—तप और वैयावृत्त्य दोनों में समर्थ लेकिन एक समय में एक ही कार्य करने वाला।

जीतकल्पभाष्य में नोभयतरक को चौथा भेद मानकर अन्यतरक को पांचवां भेद माना है।[1]

उभयतरक और आत्मतरक—ये दोनों प्रायश्चित्त के अभिमुख होते हैं। परतरक और अन्यतरक जब तक वैयावृत्त्य करते हैं, तब तक उनका प्रायश्चित्त निक्षिप्त रहता है।[2] उभयतरक को यदि इंद्रियों के अतिक्रमण आदि से पुनः तप प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तो पंच मास पर्यन्त प्रायश्चित्त भी भिन्नमास में समाविष्ट हो जाता है।[3] परतरक पुरुष को बहुक प्रायश्चित्त स्थान में भी अल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है क्योंकि वैयावृत्त्य आदि में संलग्न रहने के कारण वह तपोयोग का वहन नहीं कर सकता।[4]

प्रतिसेवक पुरुष के धृतिबल और संहनन को देखकर भी आचार्य तप प्रायश्चित्त में तरतमता करते हैं। धृति और संहनन के आधार पर दिए जाने वाले प्रायश्चित्त को भाष्यकार ने बैल और शकट की उपमा से उपमित किया है—

- भंडी दुर्बल, बैल बलिष्ठ।
- भंडी सक्षम, बैल दुर्बल।
- भंडी सक्षम, बैल बलिष्ठ।
- भंडी दुर्बल, बैल भी दुर्बल।

पुरुष के आधार पर इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार होती है—

- धृति से दुर्बल, देह से बलिष्ठ।
- धृति से बली, देह से दुर्बल।
- धृति और देह—दोनों से बली।
- धृति और देह—दोनों से दुर्बल।

धृति और देह से बलिष्ठ को पूरा प्रायश्चित्त दिया जाता है। धृति से हीन और शरीर से बलिष्ठ, धृति से बली और शरीर से दुर्बल को लघुक तथा उभय से हीन को कम प्रायश्चित्त दिया जाता है। क्षमता से अधिक प्रायश्चित्त देने से आचार्य को मृषा दोष तथा आशातना दोष लगता है तथा शिष्य के मन में भी आचार्य के प्रति अप्रीति हो जाती है।[5]

प्रायश्चित्त की तरतमता के पीछे आचार्य का दृष्टिकोण राग-द्वेष युक्त नहीं अपितु प्रतिसेवक को अच्छी तरह प्रायश्चित्त वहन करवाना होता है। जैसे एक माह के शिशु को चार माह के शिशु जितना आहार देने से वह अजीर्ण रोग से ग्रस्त हो जाता है तथा चार माह के शिशु को एक माह के शिशु जितना आहार देने

१. जीभा १९६२-६६।
२. व्यभा ४७९, ४८०।
३. व्यभा ४८३।
४. व्यभा ५०१।
५. व्यभा ६६०, ६६१।

पर वह दुर्बल हो जाता है, वैसे ही दुर्बल को कम और सबल को अधिक प्रायश्चित्त देने से आचार्य पक्षपात के दोष से दूषित नहीं होते।[1]

तप प्रायश्चित्त में जीतव्यवहार के आधार पर एक ही अपराध में भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त की प्राप्ति का विधान भी मिलता है। उदाहरणार्थ एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों का व्यापादन होने पर प्राप्त प्रायश्चित्त में तीन आदेश—परम्पराएं मिलती हैं—

१. एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों का व्यापादन होने पर क्रमशः उपवास से लेकर द्वादशभक्त—पंचोला तक का प्रायश्चित्त मिलता है, यह एक आदेश है। अर्थात् एकेन्द्रिय के व्यापादन में उपवास, द्वीन्द्रिय में बेला, त्रीन्द्रिय में तेला, चतुरिन्द्रिय में चोला तथा पंचेन्द्रिय के व्यापादन में पंचोले तप का प्रायश्चित्त मिलता है।

२. क्रमशः एक कल्याणक से पांच कल्याणक तक की प्राप्ति होती है, यह दूसरा आदेश है।

३. तीसरे आदेश के अनुसार पृथ्वी, अप्, तैजस्, वायु और परित्त वनस्पति—इनका संघट्टन होने पर लघुमास, परितापन में गुरुमास तथा अपद्रावण में चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। साधारण वनस्पति काय के संघट्टन में गुरुमास, परितापन में चतुर्लघु तथा अपद्रावण में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी उल्लेख मिलता है कि प्रायश्चित्त देते समय देश, काल, बल, आयु, योग्यता, विद्या आदि की स्थिति जानकर फिर प्रायश्चित्त देना चाहिए।[3] प्रायश्चित्त में सापेक्षता अनेकान्त का प्रायोगिक रूप है। इसके द्वारा संघ की अव्यवच्छित्ति और प्रतिसेवक की शोधि—दोनों कार्य सुगमता से सम्पन्न हो जाते हैं।

### ७. छेद प्रायश्चित्त

छेद का अर्थ है—काटना। दिवस, पक्ष, मास आदि पर्यन्त दीक्षा-पर्याय को कम करना छेद प्रायश्चित्त है।[4] जैसे शरीर में विषैले फोड़े या व्याधिग्रस्त अंग को अन्य अंगों की रक्षा के लिए काट दिया जाता है, वैसे ही जिस अपराध के सेवन करने पर पूर्व पर्याय दूषित हो जाने से शेष पर्याय की रक्षा के लिए उतने पर्याय का छेद कर दिया जाता है, वह छेद प्रायश्चित्त है।[5] चूर्णिकार के अनुसार अपराधों का उपचय, शासनविरुद्ध समाचरण तथा तप के योग्य प्रायश्चित्त का अतिक्रमण होने पर प्रव्रज्या के पांच दिन आदि का

---

१. व्यभा ४९४ टी प. ८।

२. निभा ११६, ११७ चू पृ. ४९।

३. याज्ञ १/३६८;
ज्ञात्वापराधं देशं च, कालं बलमथापि वा।
वयः कर्म च वित्तं च, दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्।।

४. तवा ९/२२ पृ. ६२१; दिवस-पक्ष-मासादिना प्रव्रज्याहायनं छेदः।

५. जीभा ७२५।

छेद करना अर्थात् संयम-पर्याय को कम करना छेद प्रायश्चित्त है।[1] आचार्य उमास्वाति ने छेद, अपवर्तन और अपहार को एकार्थक माना है।[2] परिहार तप से छेद प्रायश्चित्त बड़ा होता है।[3]

जो तप-गर्वित, तप करने में असमर्थ, तप में श्रद्धा नहीं करने वाला, तप करने पर भी अदम्य स्वभाव वाला, अतिपरिणामक और अतिप्रसंगी होता है, उसको तप प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसके अतिरिक्त पिण्डविशोधि आदि उत्तर गुणों को अधिक भ्रष्ट करने वाला, बार-बार छेद प्रायश्चित्त को प्राप्त करने वाला, पार्श्वस्थ, कुशील आदि अथवा वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं को तप्त करने वाले साधु को छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[4] दिगम्बर परम्परा के अनुसार जो उपवास आदि करने में समर्थ है, सब प्रकार से बलवान्, शूरवीर और अभिमानी है, उसके द्वारा अपराध करने पर उसको छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है।[5]

निशीथभाष्य में शिष्य प्रश्न पूछता है कि किसी साधु ने छह मास तप से अधिक प्रतिसेवना की तो भी उसे छेद प्रायश्चित्त क्यों नहीं दिया जाता? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि जो अगीतार्थ, अपरिणामक या अतिपरिणामक है, छेद को सहन करने में समर्थ नहीं है, उसके द्वारा अनेक वर्षों जितनी प्रतिसेवना करने पर भी स्थापनारोपणा के द्वारा छह मास तक का तप प्रायश्चित्त दिया जाता है। छेद और मूल प्रायश्चित्त जितना अपराध होने पर भी उसे तप ही दिया जाता है। यदि अविकोविद भी जान-बूझकर पञ्चेन्द्रिय का घात करता है, दर्प से मैथुन सेवन करता है तो उसे छेद या मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है। एकेन्द्रिय की अयतना से विराधना या निष्कारण प्रतिसेवना करने अथवा बार-बार प्रतिसेवना करने पर छेद और मूल को प्राप्त अविकोविद को छह मास का तप प्रायश्चित्त ही दिया जाता है। जो विकोविद होता है, उसके द्वारा अनेक मास प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना करने पर उद्घात प्रायश्चित्त, दूसरी बार प्रतिसेवना करने पर अनुद्घातिक प्रायश्चित्त दिया जाता है, छेद नहीं दिया जाता। तीसरी बार प्रतिसेवना करने पर छेद दिया जाता है, मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।[6]

तप और छेद—इन दोनों का स्वस्थान में प्रायश्चित्त-दान तुल्य होता है अर्थात् दोनों का आदि स्थान पांच अहोरात्र है फिर पांच-पांच दिन की वृद्धि होने से अंतिम स्थान छह मास[7] है। कहने का तात्पर्य यह है कि तप प्रायश्चित्त में पांच अहोरात्र से कम और छह मास से अधिक प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।

---

१. आवचू २ पृ. २४६, २४७।
२. तस्वोभा ९/२२ ; छेदोऽपवर्तनमपहार इत्यनर्थान्तरम्।
३. व्यभा ७१८ मटी प. ७८ ; परिहाराच्छेदो गरीयान्।
४. जीसू ८०-८२।
५. षट्ध पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६१, ६२; उववासादिखमस्स ओघबलस्स ओघसूरस्स गव्वियस्स कयावराहस्स साहुस्स होदि।
६. निभा ६५२४, चू पृ. ३४५, ३४६।
७. धवला में एक वर्ष आदि की पर्याप्त छेद का उल्लेख मिलता है। (षट्ध पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६१)

इसी प्रकार छेद में भी पांच से कम और छह मास से अधिक पर्याय का छेद नहीं किया जाता।[1] यदि चिरप्रव्रजित का छह माह से अधिक दीक्षा-पर्याय छेद किया जाता है तो वह मूल के अन्तर्गत ही आता है अत: कुछ आचार्य प्रायश्चित्त आठ ही मानते हैं।[2] कुछ आचार्य ऐसा भी मानते हैं कि जब तक सम्पूर्ण व्रतपर्याय का छेद न हो, तब तक छेद प्रायश्चित्त तथा सर्व पर्याय का छेद होने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3] तीन बार छेद प्रायश्चित्त देने के बाद भी यदि साधु पुन: प्रतिसेवना करता है तो उसे तीन बार मूल दिया जाता है। पुन: प्रतिसेवना करने पर तीन बार अनवस्थाप्य तथा पुन: अपराध करने पर एक बार पाराञ्चित प्रायश्चित्त दिया जाता है।[4] निशीथचूर्णि में इस संदर्भ में विस्तृत वर्णन है।[5]

छेद और मूल में मुख्य अंतर यह है कि छेद चिरघाती है। इसमें चिरकाल तक दीक्षा-पर्याय का छेद होता है, मूल सद्योघाती है, यह तत्काल दीक्षा-पर्याय को समाप्त कर देता है।[6]

**छेद प्रायश्चित्त के प्रकार**

छेद दो प्रकार का होता है—१. देशछेद और २. सर्वछेद। पांच अहोरात्र से छह मास पर्यन्त पर्याय का छेद देशछेद कहलाता है तथा मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—इन तीनों का समावेश सर्वछेद प्रायश्चित्त के अन्तर्गत होता है। अंतिम तीनों प्रायश्चित्तों में श्रमण-पर्याय का एक साथ छेद होता है। यदि अंतिम तीन प्रायश्चित्तों का सर्वछेद में समावेश कर दिया जाए तो प्रायश्चित्त के सात ही प्रकार होते हैं।[7]

**छेद प्रायश्चित्त के अपराध-स्थान**

छेद प्रायश्चित्त के अपराध-स्थान इस प्रकार हैं—

- जानते हुए पञ्चेन्द्रिय का घात करने पर।
- दर्प से मैथुन सेवन करने पर।
- शेष मृषावाद, अदत्तादान तथा परिग्रह आदि की बिना कारण उत्कृष्ट प्रतिसेवना करने पर।[8]
- संघ सम्बन्धी आगाढ़ प्रयोजन उपस्थित होने पर भी संघीय कार्य न करने पर।[9]

---

१. बृभा ७०७।
२. बृभा ७११।
३. जीचू पृ. २७।
४. निभा ६५३८;
तवतिगं छेदतिगं, मूलतिगं अणवट्ठाणतिगं च।
चरिमं च एगसरयं, पढमं तववज्जियं बितियं।।
५. निचू ४ पृ. ३५२।
६. बृभा ७११; चिरघाई वा छेओ, मूलं पुण सज्जघाई उ।
७. बृभा ७१०;
दुविहो अ होइ छेदो, देसच्छेदो अ सव्वछेदो अ।
मूला-ऽणवट्ठ-चरिमा, सव्वच्छेओ अतो सत्त।।
८. जीसू ८३।
९. आगाढम्मि य कज्जे, दप्पेण वि ते भवे छेदो।

• निष्कारण ही तप प्रायश्चित्त के अपराध स्थानों का निरन्तर तीन बार अतिक्रमण करने पर उस मुनि के पांच अहोरात्र के संयम-पर्याय का छेद होता है।[1]

• बार-बार प्रमाद का सेवन करने पर।[2]

भाष्यकार ने छेद प्रायश्चित्त को एक उदाहरण से समझाते हुए कहा है कि कोई वस्त्र कम घड़े से साफ हो जाता है, किसी वस्त्र को छह घड़े से अधिक पानी की आवश्यकता होती है तो उसे नदी, तालाब पर बाहर ले जाना पड़ता है, वैसे ही राग-द्वेष के कारण दोषों की वृद्धि होती है तो छेद आदि प्रायश्चित्त बाहर जाकर वस्त्र धोने के समान हैं।[3]

**आज्ञाव्यवहार में छेद प्रायश्चित्त का गूढ़ार्थ**

जब अनशन में स्थित कोई आचार्य किसी दूरस्थित छत्तीस गुणों से सम्पन्न आचार्य से अपने अतिचारों की विशोधि करना चाहते हैं तो वे आज्ञापरिणामक एवं धारणाकुशल शिष्य को उनके पास भेजते हैं। व्यवहारभाष्य में पणग से लेकर छह माह तक के छेद का प्रायश्चित्त आने पर उसका विस्तार से वर्णन किया है। पांच दिन-रात का छेद आने पर आचार्य संदेश भेजे कि अंगुल के छठे भाग जितने भाजन का छेद करो। दस रात-दिन जितना छेद आने पर संदेश भेजे कि अंगुल के तीसरे भाग जितने भाजन का छेद करो। पन्द्रह दिन-रात जितना छेद आने पर कहे कि अंगुल के आधे भाग जितने भाजन का छेद करो। बीस दिन-रात जितना छेद आने पर कहे कि तीन भाग कम अंगुल जितने भाजन का छेद करो। पच्चीस दिन-रात का छेद आने पर कहे कि छह भाग न्यून अंगुल जितने भाजन का छेद करो। एक मास जितना छेद आने पर कहे कि पूर्ण अंगुल जितने भाजन का छेद करो, दो मास जितना छेद आने पर आचार्य कहे कि दो अंगुल जितने भाजन का छेद करो, चार मास जितना छेद आने पर आचार्य कहे कि चार अंगुल जितने भाजन का छेद करो तथा छह मास जितने छेद का प्रायश्चित्त आने पर कहे कि छह अंगुल जितने भाजन का छेद करो।[4]

## ८. मूल प्रायश्चित्त

जिस पाप का सेवन करने पर पूर्व पर्याय का पूर्णतः छेद करके पुनः महाव्रतों का आरोपण किया जाता है, वह मूलार्ह प्रायश्चित्त है।[5] यह प्रायश्चित्त प्रगाढ़ अपराध करने पर प्राप्त होता है।[6]

---

१. व्यभा १२७ ;
एतेसिं अण्णतरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो।
निक्कारणमगिलाणे, पंच उ राइंदिया छेदो।।

२. तवा ९/२२ पृ. ६२२।

३. व्यभा ५०५-०८, ५११।

४. व्यभा ४४९८, ४४९९ टी प. ८८।

५. जीभा ७२६, षट्ध पु. १३/५, ४, २६ पृ. ६२ ; सव्वं परियायमवहारिय पुणो दीक्खणं मूलं णाम पायच्छित्तं।

६. आवचू २ पृ. २४६, २४७: मूलं पगाढतरावराहस्स मूलतो परियातो छिज्जति।

**मूल प्रायश्चित्त के स्थान**

व्यवहारभाष्य के अनुसार आठ प्रकार के मुनि मूल प्रायश्चित्त को प्राप्त करते हैं—

१. **तप-अतीत**—छह माह पर्यन्त तप करने पर भी जिसकी शुद्धि न हो।

२. **अश्रद्धालु**—तप से पाप की विशुद्धि नहीं होती, ऐसी श्रद्धा रखने वाला।

३. **तप गर्वित**—जो महान् तप से भी क्लान्त न होकर यह सोचता है कि मैं प्रतिसेवना करके तप कर लूंगा अथवा षाण्मासिक तप देने पर वह कहता है कि मैं अन्य तप करने में भी समर्थ हूं।

४. **छेद**—छेद प्रायश्चित्त से भी शोधि न होने पर अथवा यह गर्व करने पर कि मैं रत्नाधिक हूं, छेद देने पर भी मैं अवमरात्निक नहीं बनूंगा।

५. **दुर्बल**—अधिक तप को वहन करने में असमर्थ।

६. **अपरिणामी**—इस छह मासी तप से मेरी शुद्धि नहीं होगी, ऐसा कहने वाला।

७. **अस्थिर**—अधैर्य के कारण पुनः पुनः प्रतिसेवना करने वाला।

८. **अबहुश्रुत**—अनवस्थाप्य या पाराञ्चित प्राप्त होने पर भी अगीतार्थ होने के कारण जिसे मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।[1]

जीतकल्पभाष्य के अनुसार जो दर्प से पञ्चेन्द्रिय का वध करता है, मैथुन सेवन करता है, इसी प्रकार मृषा, अदत्त और परिग्रह का बार-बार प्रयोग करता है, उसे मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है। अतिपरिणामी, अतिप्रसंगी, मूलगुण और उत्तरगुणों को बहुविध और अनेक बार भंग करने वाला, ज्ञान-दर्शन का त्याग करने वाला, सम्पूर्ण संयम तथा दशविध सामाचारी को पूर्णतः त्यक्त करने वाला तथा अनवस्थाप्य शैक्ष—इन सबको मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।[2] जो साधु अत्यन्त अवसन्न हैं, दर्प से गृहलिंग या अन्य यूथिक लिंग को धारण करता है, गर्भाधान और गर्भ-परिशाटन करवाता है, उसको मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी बार-बार अपने गण में उन्हीं अपराधों को करता रहता है, उसे भी मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3] चूर्णिकार के अनुसार दशविध दर्प प्रतिसेवना करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[4]

भगवती आराधना के अनुसार उद्गम आदि दोषों से युक्त पिण्ड, उपधि और शय्या का उपयोग करने वाला मूल प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है।[5] अनगारधर्मामृत के अनुसार अपरिमित अपराध करने वाले

---

१. व्यभा ५०२।
२. जीभा २२९०-९६।
३. जीसू ८५, ८६।
४. निभा ४७४ चू पृ. १५९; दससु दप्पादिसु मूलं भवतीत्यर्थः।
५. भआ २९०।

पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और स्वच्छंद को यह प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1]

## ९. अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त

जिस प्रतिसेवना में कुछ काल तक मुनि को पांचों ही मूल व्रतों में अनवस्थाप्य रखा जाता है अर्थात् पुनः दीक्षा नहीं दी जाती फिर तप का आचरण करने के पश्चात्, उस दोष से उपरत होने के बाद महाव्रतों की आरोपणा की जाती है, वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है।[2] इस प्रायश्चित्त में तत्क्षण ही व्रतों से अनवस्थाप्य किया जाता है। तत्त्वार्थभाष्य में उपस्थापन, पुनर्दीक्षा, पुनश्चरण तथा पुनर्व्रतारोपण को एकार्थक माना है।[3] भाष्यानुसारिणी में आचार्य सिद्धसेन ने अनवस्थाप्य और पाराञ्चित को उपस्थापन के अन्तर्गत माना है।[4] इस प्रायश्चित्त और वहन कर्ता साधु में अभेद होने से इस प्रायश्चित्त का नाम भी उपचार से अनवस्थाप्य होता है।

बृहत्कल्पसूत्र एवं भाष्य में पहले पाराञ्चित प्रायश्चित्त का वर्णन है, उसके बाद अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त वर्णित है, जबकि प्रायश्चित्त के क्रम में नवां अनवस्थाप्य तथा दसवां पाराञ्चित प्रायश्चित्त है। इसका कारण संभवतः यह होना चाहिए कि पाराञ्चित प्रायश्चित्त आचार्य की शोधि से सम्बन्धित है तथा अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त उपाध्याय की शोधि से सम्बन्धित है।[5]

### अनवस्थाप्य के प्रकार

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के दो प्रकार हैं—आशातना अनवस्थाप्य और प्रतिसेवना अनवस्थाप्य। इन दोनों में चारित्र की भजना है। किसी अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य अपराध में पूरा चारित्र समाप्त हो जाता है और किसी में चारित्र का अंश बच जाता है।[6] इसका हेतु है कि तीव्र और मंद अध्यवसाय तथा जघन्य और उत्कृष्ट अपराध।

### आशातना अनवस्थाप्य

आशातना के मुख्य छह स्थान हैं—तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्द्धिक मुनि। इनमें तीर्थंकर और संघ की देश आशातना से उपाध्याय को अनवस्थाप्य प्राप्त होता है। शेष श्रुत आदि चारों पदों में एक-एक की आशातना करने और सर्व अशातना करने पर प्रत्येक का चतुर्गुरु (उपवास) तथा सबकी आशातना करने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[7]

---

१. अनध. ७/५५।

२. जीभा ७२७, ७२८।

३. तस्वोभा ९/२२; उपस्थापनं पुनर्दीक्षणं पुनश्चरणं पुनर्व्रतारोपणमित्यनर्थान्तरम्।

४. त ९/२२ भाटी २ पृ. २५३।

५. बृभा ५०५८।

६. बृभा ५०५९ टी पृ. १३५० ;
आसायण पडिसेवी, अणवट्ठप्पो वि होति दुविहो तु।
एक्केक्को वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो।।

७. जीभा २३०५, बृभा ५०६१ टी पृ. १३५०, आशातना के विस्तार हेतु देखें भूमिका पृ. १७७, १७८।

**प्रतिसेवना अनवस्थाप्य**

तीन कारणों से साधु को प्रतिसेवना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त मिलता है—

१. साधर्मिकों की चोरी करना।

२. अन्यधार्मिकों की चोरी करना।

३. हस्तताल—मारक प्रहार करना।[1]

**साधर्मिक स्तैन्य**

अपने साथ रहने वाले साधर्मिकों के उपकरणों की चोरी करना साधर्मिक स्तैन्य है। साधर्मिक स्तैन्य दो प्रकार का होता है—सचित्त और अचित्त। अचित्त भी दो प्रकार से होता है—उपधि और भक्त की चोरी करना।[2] सचित्त में शैक्ष का अपहरण करना।

**उपधि स्तैन्य**

गुरु किसी संघाटक को त्रिविध उपधि लाने का निर्देश दे, उपधि प्राप्त करके मार्ग में ही 'यह तुम्हारी है और यह मेरी है' इस प्रकार उसको विभाजित करके आत्मार्थ कर लेना उपधि स्तैन्य है। स्वयं उस उपधि को काम में लेने पर लघुमास, गुरु को उपधि निवेदित न करने पर या नहीं देने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। भाष्यकार का स्पष्ट निर्देश है कि सूत्रादेश से ऐसे मुनि अनवस्थाप्य होते हैं।[3] साधर्मिक स्तैन्य करने पर उपाध्याय को नवां तथा आचार्य को दसवां प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। दूसरे आदेश से यदि आचार्य साधर्मिक स्तैन्य की बार-बार प्रतिसेवना करता है तो उसको नवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। शेष मुनि को बार-बार प्रतिसेवना करने पर भी मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[4]

व्यापारित स्तैन्य का एक प्रकार यह भी हो सकता है कि कोई श्रावक आचार्य को वस्त्र आदि लेने का निमंत्रण दे, उस समय आचार्य वस्त्र आदि उपधि लेने का प्रतिषेध कर दे, उस वस्त्र को देखकर कोई मुनि मायापूर्वक श्रावक के पास जाकर बोले कि मेरी उपधि जल गई है अतः आचार्य ने उपधि लाने के लिए मुझे आपके पास भेजा है। श्रावक से उपधि लेकर मुनि उपाश्रय में आकर गुरु को नहीं दिखाता। श्रावक जब आचार्य के पास दर्शनार्थ आता है तो सहज जिज्ञासा वश पूछता है कि आज किसकी उपधि जल गई थी, साधु हमारे यहां वस्त्र लेने आए थे। आचार्य उसको प्रत्युत्तर देते हैं कि किसी की उपधि दग्ध नहीं हुई। *कौन मुनि बिना आज्ञा वस्त्र लेकर आया है, यह सुनकर भी श्रावक यदि अनुग्रह मानता है तो मुनि को* चतुर्लघु, यदि श्रावक को अप्रीति होती है तो चतुर्गुरु 'यह साधु चोर है' ऐसा प्रचार हो जाता है तो मूल तथा

---

१. कसू ४/३, जीभा २३०७।

२. जीभा २३०८।

३. जीभा २३१६, २३१७।

४. जीभा २४१७, २४१८।

शेष साधुओं के लिए अन्य द्रव्यों के विच्छेद का प्रसंग आ जाने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1]

यदि यथार्थ रूप में उपधि जली हो, उस समय गुरु शिष्य को उपधि लाने को भेजे और बीच में ही शिष्य उस उपधि को आत्मार्थ बना ले तो उसे चतुर्लघु तथा गुरु को निवेदन न करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। भाष्यकार के अनुसार सूत्रादेश से वह अनवस्थाप्य होता है।[2] इसी प्रकार कोई आचार्य पात्रकबंधयुक्त उत्कृष्ट पात्र किसी अन्य आचार्य के पास भेजे, वह शिष्य लुब्ध होकर उस पात्र को आत्मार्थ कर ले तो उसे उपर्युक्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3]

**आहार स्तैन्य**

असंदिष्ट स्थापना कुल में जाकर आहार आदि लाना आहार स्तैन्य है। साधु गुरु की आज्ञा के बिना आहार लाए तो उसे लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। स्थापना कुल में जाकर मायापूर्वक श्रावक को भ्रम में डालकर यह कहे कि गुरु ने मुझे भेजा है, अतिथि और ग्लान आदि के लिए आया हूं। इस प्रकार माया करके आहार प्राप्त करने पर गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अथवा आहार आदि लाकर गुरु के समक्ष उसकी आलोचना नहीं करने पर गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[4] साधु का मायापूर्ण स्तैन्य श्रावक को ज्ञात होने पर भी यदि श्रावक अनुग्रह मानता है तो चतुर्लघु, यदि अप्रीति करता है तो चतुर्गुरु, यदि श्रावक विपरिणत होकर गुरु और ग्लान के योग्य भक्तपान का विच्छेद करता है तो चतुर्गुरु, यदि क्षपक और अतिथि साधु के योग्य आहार नहीं देता है तो चतुर्लघु, बाल और वृद्धों के योग्य आहार न देने पर गुरुमास तथा शैक्ष और बहुभक्षी को आहार न देने पर लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[5]

**सचित्त शैक्ष आदि का स्तैन्य**

'मैं अमुक साधु के पास दीक्षा ग्रहण करूंगा' इस भावना से कोई शैक्ष मार्ग में मिल जाए, उसका यदि कोई बीच में ही अपहरण कर ले तो यह सचित्त स्तैन्य है। कोई साधु संज्ञाभूमि में किसी शैक्ष साधु को एकाकी देखकर भक्तपान आदि से उसे अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करे तो उसकी भावना अशुद्ध है। यदि वह साधर्मिक की अनुकम्पा वश धर्मकथा करे या भक्तपान दे तो वह शुद्ध है।

व्यक्त या अव्यक्त शैक्ष-अपहरण के छह स्थान होते हैं—

१. भक्त-प्रदान—शैक्ष का अपहरण करने के लिए या विपरिणत करने के लिए उसे भक्त-पान देना।

२. धर्म-कथा—प्रभावित करने के लिए धर्मकथा करना।

---

१. जीभा २३१८-२२।

२. जीभा २३२३, २३२४।

३. जीभा २३२५, २३२६ बृभा ५०७२।

४. जीभा २३२८, २३२९।

५. जीभा २३३१, २३३२, बृभा ५०८६, ५०८७।

३. निगूहना वचन—शैक्ष को किसी स्थान पर छिपा देना।

४. व्यापृत करना—उसे किसी अन्य कार्य में लगा देना।

५. झंपना—पलाल आदि से ढ़क देना।

६. प्रस्थापन—किसी अन्य ग्राम में उसे प्रस्थित कर देना।[1]

जिसके दाढ़ी मूंछ नहीं आई है, ऐसा अव्यक्त शैक्ष जिसका सहायक किसी कारणवश भक्तपान आदि लेने गया हो, उसको अपनी ओर आकृष्ट करने की दृष्टि से भक्तपान देने पर गुरुमास, धर्मकथा करने पर चतुर्लघु, निगूहन वचन बोलने पर चतुर्गुरु, व्यापृत करने पर षड्लघु, झम्पन—ढ़कने पर षड्गुरु तथा प्रस्थापन—स्वयं हरण करने पर छेद प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। व्यक्त शैक्ष के अपहरण सम्बन्धी पदों में साधु को चतुर्लघु से मूल पर्यन्त, उपाध्याय को चतुर्गुरु से अनवस्थाप्य पर्यन्त तथा आचार्य को षड्लघु से पाराञ्चित पर्यन्त प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[2]

यदि कोई असहाय या एकाकी शैक्ष अमुक आचार्य के पास दीक्षित होने का संकल्प लेकर जा रहा हो, साधु को ज्ञात हो जाए कि यह अमुक आचार्य के पास जा रहा है। वहां यदि अव्यक्त शैक्ष को भक्तपान अथवा धर्मकथा आदि करे तो भक्तपान प्रदान करने का गुरुमास तथा धर्मकथा करने का चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है। असहाय और एकाकी शैक्ष होने से शेष निगूहन आदि चार पद वहां नहीं होते।[3] इसी प्रकार स्त्री शैक्ष के अपहरण के बारे में जानना चाहिए।[4]

व्यक्त या अव्यक्त शैक्ष को अपहृत करने में निम्न दोष होते हैं— १. आज्ञाभंग २. अनंतसंसार की वृद्धि ३. बोधि-दुर्लभता ४. साधर्मिक स्तैन्य ५. प्रमत्त साधु की प्रान्त देवता द्वारा छलना ६. आपसी कलह।[5]

**अन्यधार्मिक स्तैन्य**

प्रतिसेवना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का दूसरा कारण है—अन्यधार्मिक अथवा परधार्मिक स्तैन्य। यह दो प्रकार का होता है—लिंगप्रविष्ट तथा गृहस्थ। इन सबका स्तैन्य भी साधर्मिक स्तैन्य की भांति तीन प्रकार का होता है—आहार, उपधि तथा शैक्ष आदि।

**लिंग प्रविष्ट आहार स्तैन्य**

कोई आहार लोलुप मुनि बौद्ध भिक्षुओं के जीमनवार में बौद्ध लिंग धारण करके भोजन करता है

---

१. जीभा २३३९, बृभा ५०७६।
२. जीभा २३४०, बृभा ५०७७।
३. जीभा २३४१, २३४२, बृभा ५०७८।
४. बृभा ५०८०।
५. जीभा २३४४।

तो यह परधार्मिक आहार स्तैन्य है। उस समय यदि कोई उसे पहचान ले तो चतुर्लघु, यदि संघ की अवहेलना हो तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। लोग प्रवचन की अवहेलना करते हुए यह कहें कि ये जैन साधु भोजन के लिए ही प्रव्रजित होते हैं। इन्होंने कभी दान दिया ही नहीं। गृहवास में भी ये गरीब थे। इनके शास्ता ने इनका गला नहीं दबाया और सब कुछ कर दिया।[1]

**लिंग प्रविष्ट उपधि स्तैन्य**

कोई बौद्ध भिक्षु अपनी उपधि छोड़कर भिक्षार्थ गया, उस समय यदि साधु उसकी उपधि चुरा ले तो उसे चतुर्लघु, यदि बौद्ध भिक्षु मुनि को पकड़ ले तो चतुर्गुरु, राजकुल के सम्मुख उसे घसीटे तो षड्गुरु, यदि राजा न्याय करे तो छेद, यदि उसे पुनः गृहस्थ बना दे तो मूल तथा देश से निष्काशित करे अथवा अपद्रावण करे तो अंतिम पाराञ्चित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[2] बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार उसे अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। यहां बृहत्कल्पभाष्य का अभिमत सम्यक् प्रतीत होता है क्योंकि यहां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का प्रसंग है। यह भी संभावना की जा सकती है कि चरिम शब्द से जिनभद्रगणि का अभिप्राय अनवस्थाप्य से ही हो।

**लिंग प्रविष्ट सचित्त स्तैन्य**

कोई साधु अव्यक्त क्षुल्लक अथवा क्षुल्लिका को उसके सम्बन्धी से पूछे बिना चुराकर ले जाए तो उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। साधु को खींचने पर षड्गुरु, न्यायालय में ले जाने पर छेद, पश्चात्कृत (गृहस्थ वेश पहनाना) करने पर मूल, लोगों में उड्डाह—अपमान होने पर तथा हाथ-पैर काटे जाने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3] व्यक्त क्षुल्लक अथवा क्षुल्लिका के लिए पृच्छा की अपेक्षा नहीं है। क्षेत्र और उसकी शक्ति को जानकर प्रव्रजित किया जा सकता है।[4] यदि वह क्षेत्र शाक्य आदि से प्रभावित है अथवा राजभवन में उसका प्रभाव है तो पृच्छा के बिना दीक्षित करना अकल्प्य है।

**गृहस्थ स्तैन्य**

गृहस्थ से सम्बन्धी स्तैन्य भी तीन प्रकार का होता है। किसी गृहस्थ महिला के घर सुखाई हुई पिष्टपिंडिका को देखकर कोई क्षुल्लिका साध्वी बिना पूछे उसे चुरा ले, उसको ग्रहण करते हुए यदि गृहस्वामिनी देख ले, उस समय वह क्षुल्लिका साध्वी कुशलता से अन्य साध्वी के पात्र में डाल दे तो यह गृहस्थ से सम्बन्धित आहार स्तैन्य है। आहार स्तैन्य करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है लेकिन अन्य आचार्यों के आदेश के अनुसार आहार स्तैन्य करने वाला अनवस्थाप्य होता है।

---

१. जीभा २३५२-५४।
२. जीभा २३५५-५७।
३. बृभा ५०९३।
४. जीभा २३५९, बृभा ५०९५।

इसी प्रकार सूत्राष्टिका वस्त्र आदि ग्रहण करना उपधि स्तैन्य है। माता-पिता आदि ज्ञातिजनों से पूछे बिना अप्राप्तवय पुरुष को दीक्षित करना गृहस्थ सम्बन्धी सचित्त स्तैन्य है।[1] जिसके कोई माता-पिता आदि अभिभावक न हों, अपरिगृहीत हो तथा बाल, जड्ड आदि दोष से रहित हो तो अव्यक्त को भी दीक्षित करना कल्प्य है।[2] नारी प्रायः अपरिगृहीत नहीं होती। उसके पिता या पति से पूछे बिना दीक्षा देना स्तैन्य है। अदत्त या अपरिगृहीत नारी को दीक्षित करना कल्प्य है, जैसे—करकंडु की माता पद्मावती तथा क्षुल्लककुमार की माता यशोभद्रा।[3]

**स्तैन्य ग्रहण के अपवाद**

आहार के सम्बन्ध में भाष्यकार एक अपवाद बताते हुए कहते हैं कि स्वलिंगी के यहां पहले देहली पर भोजन की याचना करनी चाहिए, उनके द्वारा न देने पर बलात् भी ग्रहण किया जा सकता है। दुर्गम मार्ग या दुर्भिक्ष आदि कारणों से अदत्त आहार भी ग्रहण किया जा सकता है। आपवादिक स्थिति में सारी उपधियों की चोरी हो जाने पर अदत्त उपधि ग्रहण की जा सकती है। यदि अन्यतीर्थिक दारुण या दुष्ट स्वभाव के हैं तो प्रच्छन्न रूप से भी उपधि आदि ग्रहण की जा सकती है। परलिंगियों से आगाढ़ स्थिति में यदि याचना करने पर आहार आदि नहीं मिलता है तो प्रच्छन्न रूप से अदत्त ग्रहण किया जा सकता है। गृहस्थों से भी आपवादिक स्थिति में अदत्त ग्रहण किया जा सकता है।[4]

**शैक्ष अपहरण में अपवाद**

भाष्यकार के अनुसार आपवादिक स्थिति में पूर्वगत और कालिकानुयोग के अंशों का विच्छेद होने की स्थिति आ जाए, उसका ज्ञान किसी अन्य साधु को न हो तो उस ज्ञान की अव्यवच्छित्ति के लिए ग्रहण और धारणा में समर्थ शिष्य को भक्तपान आदि के माध्यम से विपरिणत किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में गृहस्थ तथा अन्यतीर्थिक के बालक अथवा बालिका का भी अपहरण किया जा सकता है।[5] यदि संघ में कोई आचार्य पद धारण करने योग्य साधु न हो अथवा संघ के आचार्य अभ्युद्यत मरण अथवा गुरुविहार स्वीकार कर रहे हों तो शैक्ष का अपहरण कल्प्य है। जब अपहृत शैक्ष प्रावचनिक बन जाए, गुरु के कालगत होने पर गण को धारण करे, उस समय गण में अन्य शिष्य निष्पन्न हो जाए तो फिर उसकी स्वयं की इच्छा है कि वह वहां रहे या न रहे। यदि निष्कारण ही शैक्ष का अपहरण हो तो वह स्वयं पूर्व आचार्य के पास चला जाए।[6]

---

१. जीभा २३६०-६३।
२. बृभा ५०९८।
३. जीभा २३६४, बृभा ५०९९, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५६, ५७।
४. जीभा २३६५-६७, भाष्य में उल्लिखित ये अपवाद उस समय की विशेष परिस्थितियों की ओर संकेत करते हैं। वर्तमान में ये अपवाद विमर्शनीय हैं।
५. जीभा २३६९, २३७०।
६. जीभा २३४५-४९, बृभा ५०८२-८४ टी पृ. १३५५, १३५६।

स्तैन्य करने पर सामान्य साधु, आचार्य और उपाध्याय के प्रायश्चित्त में भी अंतर रहता है। साधर्मिक स्तैन्य और अन्यधार्मिक स्तैन्य के प्रायश्चित्त और उनके बारे में मतान्तरों का भी भाष्यकार ने विस्तृत विवेचन किया है।[1]

**हस्तताल**

प्रतिसेवना अनवस्थाप्य का तीसरा प्रकार है—हस्तताल देना। भाष्यकार ने इसकी तीन संदर्भों में व्याख्या की है—

१. हस्तताल—हाथ से मारक प्रहार करना।

२. हस्तालम्ब—दुःख से पीड़ित प्राणियों के दुःख को अभिचारुक आदि मंत्रों से दूर करना।

३. अर्थादान—निमित्त आदि के द्वारा गृहस्थ के लिए अर्थ को उत्पन्न करना।

हस्तताल दो प्रकार का होता है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक हस्तताल में पुरुष के वध हेतु खड्ग का प्रयोग करने पर ८० हजार का गुरुक दण्ड होता था। यदि मारक प्रहार करने पर भी पुरुष की मृत्यु नहीं होती तो दण्ड की भजना थी। लोकोत्तर हस्तताल में जो साधु प्रद्वेषवश हाथ, पैर या यष्टि आदि से प्रहार करता है तो वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसमें भी प्रहार करने पर यदि कोई नहीं मरता है तो दण्ड की भजना है। व्यक्ति के मर जाने पर अंतिम पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[2]

आपवादिक स्थिति में शिष्य को शिक्षा देने के लिए कान मरोड़ना, सिर पर ठोला मारना, चपेटा देना—ये सब सापेक्ष हस्तताल हैं। मर्मस्थानों की रक्षा करते हुए गुरु ऐसा कर सकते हैं क्योंकि इसके पीछे गुरु की भावना परिताप देना नहीं, अपितु अविनीत और दुःशील शिष्य को सन्मार्ग पर लाना है। इसी प्रसंग को भाष्यकार लौकिक उदाहरण से समझाते हुए कहते हैं कि ऐहलौकिक सिद्धि हेतु शिल्प, लिपि, गणित आदि कला सीखने के लिए जैसे व्यक्ति लौकिक गुरु का भी अभिघात, तर्जना आदि दण्ड सहन करता है। वैद्य भी रोगी को उपालम्भ के साथ कटु औषधि देता है, वैसे ही पारलौकिक हित के लिए आचार्य पहले मधुर वचनों से सारणा करते हैं, बाद में कठोर अनुशासना करते हैं।[3]

आपवादिक स्थिति का उल्लेख करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि चोर, श्वापद आदि का भय होने पर अथवा गण या गणी के अत्यन्त विनाश की स्थिति में गीतार्थ साधु शीघ्र ही हस्तताल का प्रयोग कर सकते हैं। उस समय शक्ति-प्रदर्शन करके पंचेन्द्रियवध करता हुआ भी कृतकरण मुनि दोष को प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसका आलम्बन विशुद्ध होता है। वह अल्प हिंसा के द्वारा भी संघ की महान् सेवा करता है।

---

१. बृभा ५१२४-२७।

२. जीभा २३७५, बृभाटी पृ. १३६०।

३. जीभा २३७६-८४।

ऐसा करने से तीर्थ की परम्परा अविच्छिन्न रहती है। उस स्थिति में यदि उसका प्राणान्त हो जाए तो बिना आलोचना किए भी वह आराधक होता है। यदि आगाढ़ कारण उपस्थित होने पर मुनि अपने सामर्थ्य या विद्यातिशय का प्रयोग नहीं करता तो वह विराधक कहा गया है।[1]

हस्ताताल आदि का प्रयोग करने में उपाध्याय को नवां अनवस्थाप्य तथा आचार्य को दसवां प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अथवा पाराञ्चित प्रायश्चित्त योग्य अपराध करने पर भी उपाध्याय को अनवस्थाप्य तथा आचार्य को पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[2]

**हस्तालम्ब**

दु:ख से पीड़ित प्राणियों के अशिव उत्पन्न होने पर, नगर पर चढ़ाई तथा रोमाञ्चकारी दु:ख उत्पन्न होने पर नागरिक लोग परेशान होकर समर्थ आचार्य के पास जाते हैं। आचार्य या साधु मरण या दु:खभय से पीड़ित उन नागरिकों पर अनुकम्पा करके अचित्त प्रतिमा बनाकर अभिचारुक मंत्रों का जाप करते हुए उस प्रतिमा को मध्य से बींधते हैं। जिससे अशिव आदि उपद्रव दूर हो जाते हैं। इससे कुलदेवता भाग जाता है और देवकृत सारा उपद्रव शान्त हो जाता है।[3]

**हस्तादान**

हस्तादान को अर्थादान भी कहते हैं। निमित्त आदि के द्वारा अर्थ को उत्पन्न करना हस्तादान है। इस संदर्भ में भाष्यकार ने दो वणिक् और उज्जयिनी के आचार्य की कथा का उल्लेख किया है।[4] अर्थादान में क्षेत्रत: अनवस्थाप्य किया जाता है। निमित्त से अर्थ को उत्पन्न करने वाला कोई पुरुष दीक्षा के लिए उद्यत हो जाए तो उस क्षेत्र में उसकी उपस्थापना नहीं होती क्योंकि पूर्वाभ्यास के कारण लोग उससे निमित्त पूछ सकते हैं। वह ऋद्धि के गौरव से, स्नेह या भय से लाभ-अलाभ का कथन कर सकता है। जैसे खुजली का रोगी खुजली किए बिना नहीं रह सकता है, वैसे ही वह ज्ञान परीषह को सहन नहीं कर सकता। इसलिए उस स्थान पर भावलिंग नहीं देना चाहिए। यदि आपवादिक स्थिति में किसी कारण से लिंग देना पड़े तो अशिव, दुर्भिक्ष आदि कारणों के उपस्थित होने पर उसे लिंग दिया जा सकता है फिर उसको अकेला नहीं छोड़ा जाता। लोगों के द्वारा निमित्त आदि पूछने पर वह कहता है कि मैं निमित्त भूल गया। उत्तमार्थ—संथारे की स्थिति में उसको उसी क्षेत्र में लिंग दिया जा सकता है।[5] हस्तताल आदि तीनों पद करने वाले को लिंग देने के विषय में भाष्य में विस्तृत चर्चा है।[6]

---

१. जीभा २३८६-९१।
२. जीभा २४१६-१८।
३. जीभा २३९३, २३९४, बृभा ५११२, ५११३।
४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं ५८।
५. जीभा २४०६-११।
६. जीभा २४१३-१८, बृभा ५१२०-२२।

**अनवस्थाप्य का कालमान**

आशातना और प्रतिसेवना अनवस्थाप्य का जघन्य और उत्कृष्ट कालमान इस प्रकार है—

| अनवस्थाप्य | जघन्य | उत्कृष्ट |
|---|---|---|
| आशातना | छह मास | एक वर्ष |
| प्रतिसेवना | एक वर्ष | बारह वर्ष |

संघीय सेवा का प्रयोजन उपस्थित होने पर प्रतिसेवना अनवस्थाप्य का कालमान न्यून भी हो सकता है तथा प्रायश्चित्त से पूर्णतया मुक्त भी किया जा सकता।[1]

दिगम्बर-परम्परा में इस प्रायश्चित्त के दो रूप हैं—निजगणानुपस्थापन तथा परगणानुपस्थापन। जो स्तैन्य, मारक आदि प्रयोग करते हैं, उनको निजगणानुपस्थापन प्रायश्चित्त तथा दर्प से इन दोषों का सेवन करने वाले को परगणानुपस्थापन प्रायश्चित्त दिया जाता है।

हस्तताल आदि करने वाले को तप अनवस्थाप्य दिया जाता है, जिसमें गच्छ में रहते हुए साधु को आलापन आदि दस पदों से बहिष्कृत कर दिया जाता है। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्तकर्ता मुनि की धृति, संहनन आदि वे ही विशेषताएं हैं, जो पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त कर्ता की हैं। यदि साधु उन गुणों से युक्त नहीं है तो अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी उसे मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।[2] अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त मुनि गुरु के समक्ष प्रशस्त द्रव्य—वटवृक्ष आदि क्षीरवृक्षों के नीचे, प्रशस्त क्षेत्र—इक्षुक्षेत्र में, प्रशस्त काल—पूर्वाह्न तथा प्रशस्तभाव—चन्द्रबल और ताराबल के प्रबल होने पर आलोचना करके इस तप को स्वीकार करता है। इसके स्वीकार की विधि परिहार तप प्रायश्चित्त की भांति है।[3]

**अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त वाहक की देखभाल**

भिक्षु जिस आचार्य के पास अनवस्थाप्य या पराञ्चित प्रायश्चित्त वहन करता हैं, वे आचार्य प्रायश्चित्त वहन काल में प्रतिदिन उसकी देखभाल और सुखपृच्छा करते हैं।[4] अस्वस्थ होने पर आहार आदि की व्यवस्था भी करते हैं।

**तप निर्वहन के बाद गृहीभूत और उपस्थापना**

उपस्थापना का अर्थ है—संयम के उच्च स्थान पर स्थापना अथवा प्रबलता से स्थापना अर्थात्

---

१. विस्तार हेतु देखें पारांचित प्रायश्चित्त पृ. १८४, १८५।
२. बृभा ५१२९-३१, देखें जीभा २४३२-३४।
३. देखें इसी भूमिका का पृ. १४७, १४८।
४. जीभा २५५६, व्यभा १२११, विस्तार हेतु देखें पाराञ्चित प्रायश्चित्त पृ. १८२, १८३।

उपस्थापना—छेदोपस्थापनीय चारित्र है। उपस्थापना के संदर्भ में भाष्य साहित्य में तीन आदेश—मतान्तर मिलते हैं—दस, छह और चार।

प्रथम आदेश के अनुसार दस उपस्थाप्य इस प्रकार हैं—१. दुष्ट पाराञ्चिक २. प्रमत्त पाराञ्चिक ३. अन्योन्य प्रतिसेवी ४. साधर्मिक स्तैन्य अनवस्थाप्य ५. अन्यधार्मिक स्तैन्य अनवस्थाप्य ६. हस्ततालअनवस्थाप्य ७. दर्शनवान्त[1]—जिसने सम्पूर्ण सम्यक्त्व को वान्त कर दिया हो ८. चारित्रवान्त ९. त्यक्तकृत्य—संयम को त्यक्त करके जीवकाय का समारंभ करने वाला १०. शैक्ष।

दूसरे आदेश के अनुसार छह उपस्थाप्य होते हैं—१. पाराञ्चिकत्रिक २. अनवस्थाप्यत्रिक ३. दर्शनवान्त ४. चारित्रवान्त ५. त्यक्तकृत्य ६. शैक्ष।

तीसरे आदेश के अनुसार चार उपस्थाप्य हैं—१. दर्शनवान्त[2] २. चारित्रवान्त ३. त्यक्तकृत्य ४. शैक्ष।[3]

अनवस्थाप्य और पाराञ्चित तप का काल पूर्ण होने अथवा कुलादि कार्य सम्पन्न होने पर उसकी उपस्थापना होती है। अर्थात् पुनः व्रतों का आरोपण किया जाता है। इस संदर्भ में कुछ आचार्यों का यह मंतव्य है कि उसको गृहस्थवेश देकर फिर उसकी उपस्थापना की जाती है।[4] आचार्य यदि गृहस्थ वेश कराए बिना उपस्थापना देते हैं तो उन्हें चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है अथवा आज्ञा भंग आदि दोष होते हैं।[5] पाराञ्चित तप प्रायश्चित्त में जब तक वह क्षेत्र के बाहर रहता है, तब तक गृहस्थलिंग नहीं दिया जाता। वसति में आने पर गृहलिंग दिया जाता है।[6]

गृहस्थ वेश करने के संदर्भ में आचार्यों का मतभेद है। कुछ आचार्य मानते हैं कि स्नान आदि का वर्जन करके उसे केवल श्रेष्ठ गृहस्थ वेश पहनाया जाना ठीक है। कुछ दक्षिणात्य आचार्य मानते हैं कि मात्र वस्त्र युगल पहनाना पर्याप्त है। वह गृहस्थ वेश में परिषद् के मध्य आकर निवेदन करता है कि मुझे सम्बोध दें, मैं धर्म सुनना चाहता हूं। आचार्य उसे धर्म कहते हैं। धर्म श्रवण करके वह पुनः निवेदन करता है कि मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा रखता हूं, मुझे पुनः प्रव्रजित करने की कृपा करे। तत्पश्चात् मुनिवेश देकर उसे प्रव्रजित किया जाता है।[7]

---

१. जब दर्शन और चारित्र का पूर्णतः वमन होता है, तब उपस्थापना होती है। देशतः वमन में उपस्थापना की भजना है। (जीभा २०३५)

२. अनवस्थाप्य और पाराञ्चित का अन्तर्भाव दर्शनवान्त और चारित्रवान्त में हो जाता है। (जीभा २०३३)

३. जीभा २०२८।

४. जीभा २४६०।

५. जीभा २४६१।

६. व्यभा १२१० मटी प. ५३ ; स च बहिर्यावत्तिष्ठति तावन्न गृहस्थः क्रियते किन्त्वागत.....।

७. जीभा २४६२, व्यभा १२०७।

उसको श्रेष्ठ गृहस्थ के कपड़े क्यों पहनाए जाते हैं? अथवा वस्त्र युगल क्यों पहनाए जाते हैं? उसको परिषद् के मध्य में धर्मकथा क्यों कही जाती है? इन सब प्रश्नों को समाहित करते हुए आचार्य कहते हैं कि इन सबको करने से उसका तिरस्कार होता है। तिरस्कार होने से वह भविष्य में वैसे अतिचार का सेवन नहीं कर सकता। गण में अन्य साधुओं तथा शैक्ष मुनियों के मन में भय पैदा हो जाता है कि गृहस्थभूत होना धर्म से रहित होना है अतः उसका यह रूप किया जाता है।[1]

पांच कारणों से प्रायश्चित्ती को गृहीभूत नहीं किया जाता—

१. राजानुवृत्ति—यदि राजा का यह आग्रह हो कि इस मुनि को गृहस्थ न बनाया जाए अथवा उस भिक्षु ने किसी राजा को संघ के अनुकूल बनाया हो।

२. गण-प्रद्वेष—बिना गलती स्वगण ने द्वेषवश उसे यह प्रायश्चित्त दिलाया हो।

३. परमोचापन—अपने उपकारी आचार्य या भिक्षु को कठोर प्रायश्चित्त वहन करते देखकर अनेक शिष्य संघ या संयम छोड़ने के लिए उद्यत हो जाएं।

४. इच्छा—प्रायश्चित्त वहन कर्ता भिक्षु या अन्य अनेक शिष्यों का यह आग्रह हो कि गृहीभूत न किया जाए।

५. विवाद—उस प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में दो गणों में विवाद हो।[2]

बौद्ध-परम्परा में संघादिशेष प्रायश्चित्त की अनवस्थाप्य से आंशिक तुलना की जा सकती है। वहां इस प्रायश्चित्त-प्राप्ति के तेरह कारण बताए हैं। इस प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन विनयपिटक में मिलता है।[3]

**अनवस्थाप्य और पाराञ्चित में अंतर**

अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—दोनों में परिहार तप वहन किया जाता है लेकिन अनवस्थाप्य में बारह वर्ष तक गण में रहते हुए यह प्रायश्चित्त वहन किया जाता है लेकिन पाराञ्चित में परिहारतप वहन करता हुआ मुनि सक्रोश योजन प्रमाण क्षेत्र से बाहर अकेला रहता है। उत्कृष्ट अवधि बारह वर्ष पूर्ण होने पर उसको पुनः व्रतों में उपस्थापित किया जाता है।[4]

## १०. पाराञ्चित प्रायश्चित्त

अञ्चु गतिपूजनयोः धातु से पाराञ्चित शब्द बना है। जिस प्रायश्चित्त को वहन कर साधु संसार-समुद्र के तीर अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर लेता है, वह पाराञ्चित प्रायश्चित्त है। जिस प्रतिसेवना में तप

---

१. जीभा २४६४।

२. व्यभा १२१०;
अग्गिहीभूतो कीरति, रायणुवत्तिय पदुट्ठ सगणो वा।
परमोयावण इच्छा, दोण्ह गणाणं विवादो वा।।

३. विनयपिटक (महावग्ग १५० पृ. १४०, १४१)।

४. बृभा ७१२ टी पृ. २१६।

आदि के द्वारा क्रमशः अपराध को पार पाया जाता है, वह पाराञ्चित प्रायश्चित्त है।[१] इसका दूसरा निरुक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो प्रायश्चित्त के पार को प्राप्त है अर्थात् अंतिम प्रायश्चित्त है, वह पाराञ्चित है।[२] इस तप की पूर्णता से साधु अपूजित नहीं होता अपितु श्रमण संघ में पूजित होता है, वह पाराञ्चिक/पाराञ्चित प्रायश्चित्त है। इस योग से प्रायश्चित्तवहन कर्ता साधु पाराञ्चिक कहलाता है।[३] यदि कुल से निकालकर पाराञ्चित दिया जाता है तो वह साधु कुल पाराञ्चिक, गण से निकालने पर गण पाराञ्चिक तथा संघ से निकालने पर संघ पाराञ्चिक कहलाता है।[४]

**पाराञ्चित के प्रकार**

अनवस्थाप्य की भांति पाराञ्चित प्रायश्चित्त दो कारणों से मिलता है अतः कारण में कार्य का उपचार करके पाराञ्चित प्रायश्चित्त के दो भेद होते हैं—१. आशातना पाराञ्चित २. प्रतिसेवना पाराञ्चित। आशातना और प्रतिसेवना— दोनों के दो-दो भेद हैं—जघन्य और उत्कृष्ट। आशातना पाराञ्चिक जघन्यतः छह मास और उत्कृष्टतः एक वर्ष तक गच्छ से निर्यूढ़ रहता है। प्रतिसेवना पाराञ्चिक जघन्यतः एक वर्ष और उत्कृष्टतः बारह वर्ष तक संघ से निर्यूढ़ रहता है।[५] आशातना और प्रतिसेवना—दोनों पाराञ्चित सचारित्री और अचारित्री दोनों प्रकार के हो सकते हैं।[६] किसी अपराध पद का सेवन करने से सारा चारित्र नष्ट हो जाता है तथा किसी अपराध-सेवन से चारित्र का एक देश रह जाता है। इसका कारण परिणामों की तीव्रता, मंदता अथवा अपराध की गुरुता और लघुता है।[७]

**आशातना पाराञ्चिक**

आशातना के छह स्थान हैं—तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्द्धिक। जो इनकी आशातना करता है, वह आशातना पाराञ्चिक कहलाता है।

१. तीर्थंकर आशातना— तीर्थंकर देवों द्वारा रचित समवसरण की अनुमोदना करते हैं, यह ठीक नहीं है। वे अतिशायी ज्ञान युक्त होने के कारण संसार के स्वरूप को जानते हैं, फिर भोगों को क्यों भोगते हैं? स्त्री होने के कारण मल्लिनाथजी को तीर्थंकर कहना अयुक्त है। तीर्थंकरों ने बहुत कठोर चर्या का निरूपण किया

---

१. जीभा ७२९।
२. (क) जीभा २५४०, प्रसाटी प. २१८ ; यद्वा पारं—अंतं प्रायश्चित्तानां तत उत्कृष्टतरप्रायश्चित्ताभावादपराधानां वा पारमंचति—गच्छतीत्येवंशीलं पाराञ्चि तदेव पाराञ्चिकमिति।
(ख) बृभा ४९७१ टी पृ. १३३० ; अपश्चिमं प्रायश्चित्तं... तत् पाराञ्चिकं पाराञ्चितं वाभिधीयते।
३. बृभा ४९७१ टी पृ. १३३०।
४. जीभा २५१४।
५. बृभा ५०३२।
६. बृभा ४९७२।
७. बृभा ४९७३ ;
सव्वचरित्तं भस्सति, केणति पडिसेवितेण तु पदेणं।
कत्थति चिट्ठति देसो, परिणामऽवराहमासज्ज।।

है, उसका पालन दुष्कर है—इस प्रकार के वचनों का प्रयोग करने से तीर्थंकरों की आशातना होती है।[1]

२. प्रवचन आशातना—आक्रोश और तर्जना से संघ पर आक्षेप करना तथा यह कहना कि सियार, ढंक आदि के भी समूह होते हैं, वैसे ही यह संघ है।[2]

३. श्रुत आशातना—आगमों में व्रत, प्रमाद तथा षट्काय आदि का वर्णन बार-बार एक जैसा आया है, यह अनुपयुक्त है। आगमों में ज्योतिष्विद्या तथा निमित्त-विद्या का वर्णन निष्प्रयोजन है, इससे मुनि को क्या लेना-देना? इस प्रकार कहना श्रुत की आशातना है।[3]

४. आचार्य आशातना—आचार्य स्वयं तो ऋद्धि, रस और सुविधा से युक्त जीवन जीते हैं लेकिन हमको कठोर जीवन और उग्र विहार का उपदेश देते हैं। ब्राह्मणों की भांति केवल अपना पोषण करते रहते हैं, ऋद्धियों के आधार पर जीते हैं फिर भी कहते हैं कि हम अप्रतिबद्ध हैं, इस प्रकार बोलने से आचार्य की आशातना होती है।[4]

५, ६. गणधर और महर्द्धिक आशातना—इसी प्रकार तीर्थंकर के प्रथम शिष्य गणधर और महर्द्धिक की आशातना के बारे में समझना चाहिए।

इनमें तीर्थंकर और संघ की देशतः या सर्वतः आशातना करने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। श्रुत, आचार्य और महर्द्धिक की देशतः आशातना से प्रत्येक का चतुर्गुरु तथा सर्व आशातना से पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। एक भी प्रथम शिष्य—गणधर की आशातना से पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि तीर्थंकर अर्थ के प्रणेता होते हैं और गणधर सूत्र के प्रणेता।[5]

**प्रतिसेवना पाराञ्चिक**

बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार तीन कारणों से साधु पाराञ्चित प्रायश्चित्त को प्राप्त करते हैं—

१. दुष्ट पाराञ्चिक—कषाय और विषय से दूषित।

२. प्रमत्त पाराञ्चिक—स्त्यानर्द्धि निद्रा लेने वाला।

३. अन्योन्यप्रतिसेवी पाराञ्चिक—गुदा और मुख से आपस में मैथुन सेवन करने वाला।[6]

जीतकल्पभाष्य में ये तीनों प्रतिसेवना पारांचित के भेद हैं।[7]

**दुष्ट पाराञ्चिक**

दुष्ट पाराञ्चिक दो प्रकार का होता है—१. कषायदुष्ट २. विषयदुष्ट। कषायदुष्ट दो प्रकार का होता है—स्वपक्ष दुष्ट और परपक्ष दुष्ट।[8]

---

१. जीभा २४६६-६८।
२. जीभा २४६९।
३. जीभा २४७०।
४. जीभा २४७१, २४७२।
५. बृभा ४९८३, ४९८४, जीभा २४७३, २४७७।
६. कसू ४/२।
७. जीभा २४८०।
८. जीभा २४८१।

**कषाय दुष्ट पाराञ्चिक**

कषाय दुष्ट में स्वपक्ष दुष्ट के भाष्यकार ने चार दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं।[1] दृष्टांतों में शिष्य का क्रोध चरम सीमा पर वर्णित है। गुरु के अनशन स्वीकार करने पर भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। प्रथम दृष्टान्त में कुपित शिष्य ने गुरु के मृत कलेवर के दांतों का भञ्जन कर दिया। दूसरे दृष्टान्त में शिष्य ने क्रुद्ध होकर गुरु का गला दबा दिया। तृतीय दृष्टान्त में शिष्य ने गुरु के मृत शरीर से दोनों आंखें निकाल दीं तथा चतुर्थ दृष्टान्त में शिष्य ने आवेश में आकर गुरु के मृत कलेवर को डंडे से पीटा।[2] जो स्वपक्ष में दुष्ट होता है, उसको लिंग नहीं दिया जाता। अतिशयज्ञानी भविष्य को जानकर उसे लिंग दे सकते हैं।

जो राजा अमात्य आदि के वध में परिणत है, वह परपक्ष दुष्ट होता है, यह भी लिंगतः पाराञ्चिक होता है। यदि आचार्य भी राजवध में सहयोगी हैं तो उन्हें भी पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3] इसी प्रकार जो श्रावक या अश्रावक स्वपक्ष या परपक्ष में दुष्ट हैं, उन्हें भी लिंग नहीं दिया जाता। अतिशयधारी उसे लिंग दे सकते हैं। दूसरे आदेश के अनुसार जो राजा, युवराज अथवा धनाढ्य आदि का वध करने वाला है, उसको स्वदेश में दीक्षा नहीं दी जाती, कषाय उपशान्त होने पर अन्य देश में दीक्षित किया जा सकता है।[4]

**विषय दुष्ट पाराञ्चिक**

विषय दुष्ट की भी स्वपक्ष और परपक्ष की दृष्टि से चतुर्भंगी होती है।

प्रथम भंग—स्वपक्ष स्वपक्ष—संयत की तरुणी संयती में आसक्ति।

द्वितीय भंग—स्वपक्ष परपक्ष—संयत की शय्यातर की लड़की या परतीर्थिक साध्वी में आसक्ति।

तृतीय भंग—परपक्ष स्वपक्ष—गृहस्थ की तरुणी साध्वी में आसक्ति।

चतुर्थ भंग—परपक्ष परपक्ष—गृहस्थ की गृहस्थ स्त्री में आसक्ति।

इस चतुर्भंगी में प्रथम और द्वितीय भंग से ही साधु का सम्बन्ध है, इनको लिंग विवेक रूप पाराञ्चित प्रायश्चित्त मिलता है। तीसरे और चौथे भंग में विकल्प से अर्थात् उपशान्त होने पर अन्य देश में लिंग दिया जा सकता है।[5] भाष्यकार के अनुसार यदि लिंग युक्त साधु लिंग युक्त समणी के साथ प्रतिसेवना करता है तो साधु के नरक आयुष्य का बंध होता है। वह सभी तीर्थंकरों की आर्याओं तथा संघ की आशातना करता है। आशातना से अबोधि प्राप्त होती है और वह अनंत संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[6] प्रकट रूप में प्रतिसेवना करने वाले को लिंग पाराञ्चित दिया जाता है।

---

१. दृष्टान्तों के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५९-६२।
२. जीभा २४८३-८९, बृभा ४९८८-९३।
३. जीभा २५०३, बृभा ४९९४।
४. बृभा ४९९६।
५. बृभा ५००६, ५००७ टी पृ. १३३७।
६. जीभा २५०८-११।

विषय दुष्ट को उपाश्रय, क्षेत्र आदि से पाराञ्चिक किया जाता है। यदि वह विषय दोष से उपरत नहीं होता है तो उसे लिंग पाराञ्चित प्रायश्चित्त दिया जाता है। विषय प्रतिसेवना में यदि वह सामान्य स्त्री के साथ प्रतिसेवना करता है तो उसे अंतिम पाराञ्चित प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता, यदि वह पटरानी के साथ प्रतिसेवना करता है तो उसे क्षेत्र और लिंग दोनों से पाराञ्चिक किया जाता है। इसका कारण बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अग्रमहिषी के साथ प्रतिसेवना करने पर कुल, गण, संघ और स्वयं का भी विनाश हो सकता है लेकिन सामान्य महिलाओं के साथ प्रतिसेवना करने पर स्वयं के चारित्र का विनाश तथा शरीर की हानि होती है।[1]

**प्रमत्त पाराञ्चिक**

प्रमाद के कारण जिसको अंतिम प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह प्रमत्त पाराञ्चिक कहलाता है। प्रमत्त पांच प्रकार का होता है—

१. कषाय प्रमत्त—क्रोध आदि चार कषायों से प्रमत्त।

२ विकथा प्रमत्त—स्त्री कथा, राजकथा आदि में प्रमत्त।

३. मद्य प्रमत्त—पूर्वाभ्यास के कारण मद्य सेवन में प्रमत्त।

४. इंद्रिय प्रमत्त—श्रोत्र आदि पांच इंद्रिय-विषयों में प्रमत्त।

५. निद्रा प्रमत्त—स्त्यानर्द्धि निद्रा के कारण प्रमत्त।[2]

यहां मुख्यत: स्त्यानर्द्धि निद्रा प्रमत्त का प्रसंग है।

जैसे जमी हुई बर्फ और घी में कुछ भी दिखाई नहीं देता है, वैसे ही जिस निद्रा में व्यक्ति का चित्त प्रगाढ़ मूर्च्छा से जड़ीभूत हो जाता है, कुछ भान नहीं रहता, वह स्त्यानर्द्धि निद्रा है।[3] इस निद्रा के उदयकाल में व्यक्ति के भीतर वासुदेव से आधा बल आ जाता है।[4] यह बात प्रथम संहनन की अपेक्षा से है। वर्तमान में यह कहा जा सकता है कि इस निद्रा में चार गुना बल आ जाता है।[5] भाष्यकार ने स्त्यानर्द्धि निद्रा के पांच उदाहरण दिए हैं—१. पुद्गल—मांस २. मोदक ३. कुम्भकार ४. दांत ५. वटवृक्ष।[6] इन उदाहरणों के विस्तार हेतु देखें परि २, कथा सं. ६५-६९।

जैसे ही आचार्य को ज्ञात होता है कि अमुक साधु स्त्यानर्द्धि निद्रा वाला है तो वे उसे कहते हैं कि तुम लिंग छोड़ दो क्योंकि तुम्हारे अंदर चारित्र नहीं है। अब तुम देशव्रत धारण करके श्रावक बन जाओ या

---

१. जीभा २५२२-२४।
२. जीभा २५२५।
३. जीभा २५२८।
४. जीभा २५३४।
५. निचू १ पृ. ५६।
६. जीभा २५२७-३३, बृभा ५०१८-२२।

सम्यक्त्व स्वीकार करके दर्शन श्रावक बन जाओ अथवा इच्छानुसार रमणीय वेश धारण करो। यदि वह लिंग उतारना नहीं चाहता है तो संघ के सभी सदस्य मिलकर उसके लिंग का हरण करते हैं। कोई अकेला साधु यह कार्य नहीं करता क्योंकि इससे उसका व्यक्तिगत प्रद्वेष हो सकता है। यदि संघ में शक्ति सम्पन्न साधु न हों तो संघ उसे रात्रि में सोया छोड़कर अन्य स्थान पर चला जाता है।[1] स्त्यानर्द्धि निद्रा वाला उसी भव में केवली हो सकता है, यह संभावना होने पर भी अनतिशायी ज्ञानी उसे पुनः लिंग नहीं देते। अतिशयज्ञानी अपने ज्ञान के बल से यह जान लेते हैं कि अब इसके इस निद्रा का उदय नहीं होगा तो वे उसे पुनः लिंग दे सकते हैं, अन्यथा नहीं देते।

**अन्योन्य प्रतिसेवना पाराञ्चिक**

एक साधु का दूसरे साधु के साथ मुख और गुदा का सेवन अकल्प्य है। जो साधु यह कार्य करता है, वह अन्योन्य प्रतिसेवी कहलाता है। अन्योन्य प्रतिसेवी को लिंग पाराञ्चित दिया जाता है। यदि राजा या मंत्री आदि यह प्रतिसेवना करते हैं तो उन्हें संघ की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए लिंग पाराञ्चित प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।[2]

इस प्रायश्चित्त को चार प्रकार से दिया जाता है, इस आधार पर इसके चार भेद भी होते हैं—

१. लिंग पाराञ्चित २. क्षेत्र पाराञ्चित ३. काल पाराञ्चित ४. तप पाराञ्चित।

१. लिंग पाराञ्चित—साधु का लिंग उतारना लिंग पाराञ्चित है। कषायदुष्ट, प्रमत्त—स्त्यानर्द्धि निद्रा वाला तथा अन्योन्य प्रतिसेवी को लिंग पाराञ्चित दिया जाता है।[3]

२. क्षेत्र पाराञ्चित—जहां दोष उत्पन्न हुआ अथवा जहां दोष उत्पन्न होगा, यह जानकर उस क्षेत्र से दूर करना क्षेत्र पाराञ्चित है। विषयदुष्ट को क्षेत्र पाराञ्चित दिया जाता है।[4]

३. काल पाराञ्चित—जितने काल का तप दिया जाता है, वह काल पाराञ्चित है।[5]

४. तप पाराञ्चित—आलाप आदि दश पदों से मुक्त होकर परिहार तप वहन करना तप पाराञ्चित है। इंद्रिय दोष और प्रमाद दोष से उत्कृष्ट अपराध का सेवन करने पर भी जो सरलता से यह संकल्प स्वीकार कर लेता है कि अब ऐसा नहीं करूंगा तो उसे परिहार तप पाराञ्चित दिया जाता है। तप पाराञ्चित स्वीकर्ता मुनि में निम्न विशेषताएं होनी आवश्यक हैं—वज्रऋषभसंहनन से युक्त, वज्रकुड्य के समान धृति वाला, नवें पूर्व की आचार वस्तु के सूत्रार्थ का ज्ञाता, लघुनिष्क्रीड़ित आदि तप से भावित, इंद्रिय-विषय और कषाय का

---

१. जीभा २५३६, बृभा ५०२३, ५०२४ टी पृ. १३४१, १३४२।
२. बृभा ५०२६ टी पृ. १३४२।
३. बृभा ५०२७ टी पृ. १३४२।
४. जीभा २५४६।
५. जीसू १००।

निग्रह करने में समर्थ, प्रवचन के सारभूत अर्थ का ज्ञाता, निर्यूहित करने पर तिल तुष मात्र भी अशुभ नहीं सोचने वाला पाराञ्चित तप के लिए निर्यूहण के योग्य होता है।[1] इन गुणों से रहित साधु को पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।[2]

**आचार्य द्वारा पाराञ्चित तप का निर्वहन**

यदि आचार्य को पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तो वह कुछ समय के लिए अन्य साधु को गण का भार सौंपकर फिर अन्य गण में जाकर प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में आलोचना करके पाराञ्चित प्रायश्चित्त स्वीकार करते हैं।[3]

इस संदर्भ में बृहत्कल्पभाष्य में कुछ मतभेद है। उसके अनुसार गण निर्गमन रूप तप पाराञ्चित प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला नियमत: आचार्य ही होता है।[4] आचार्य को अपने गण में तप पाराञ्चित स्वीकार न करने के कारणों का वहां विशद वर्णन है। अपने गण में पाराञ्चित तप वहन करने से अगीतार्थ साधुओं के मन में यह विश्वास हो जाता है कि आचार्य ने अवश्य कोई बड़ा अकृत्य सेवन किया है। इससे उनके मन में आचार्य के प्रति जो भय, संकोच और सम्मान होता है, वह समाप्त हो जाता है। वे उनकी आज्ञा का उल्लंघन भी कर सकते हैं। स्वगण पर उनका कोई नियंत्रण नहीं रहता। दूसरे गण में तप पाराञ्चित स्वीकार करने से इन दोषों की संभावना नहीं रहती, अर्हत् की आज्ञा-अनुपालन में स्थिरता रहती है और आत्मा में पाप के प्रति भय रहता है अत: आचार्य एक योजन दूर अन्य गण में पाराञ्चित तप स्वीकार करते हैं। क्षेत्र से वे जिनकल्प के समान चर्या का वहन करते हैं। अलेपकृद् आहार ग्रहण करते हैं। तृतीय पौरुषी में भिक्षा करते हैं तथा बारह वर्ष तक एकाकी रूप से ध्यान-स्वाध्याय में लीन रहते हैं।[5] पाराञ्चित प्रायश्चित्त में पांच आभवद् व्यवहार से उसका संघ के साधुओं के साथ सम्बन्ध नहीं रहता।[6]

**पाराञ्चित तप-वहनकर्ता की देखभाल**

क्षेत्र पाराञ्चित तप वहन करने वाले की देखभाल हेतु आचार्य प्रतिदिन वहां जाते हैं। आचार्य वहां जाने से पहले शिष्यों को सूत्रार्थ की वाचना देते हैं फिर पाराञ्चित तप वहनकर्ता की वर्तमान की शारीरिक स्थिति की अवगति हेतु क्षेत्र के बाहर जाते हैं। प्रायश्चित्त वहन कर्ता को आश्वस्त करके आचार्य पुन: अपने गच्छ में आ जाते हैं। यदि आचार्य शारीरिक दृष्टि से असमर्थ हों अथवा सूत्र और अर्थ की वाचना दिए बिना प्रात:काल ही चले गए हों तो एक संघाटक पीछे से उनके लिए भक्तपान लेकर आता है।[7]

सामान्यतया पाराञ्चित तप वहन कर्ता स्वस्थ हो तो भक्तपान, प्रतिलेखन, उद्वर्तन आदि कार्य

---

१. जीभा २५४९-५१, बृभा ५०२९-३०।
२. जीभा २५५२, बृभा ५०३१।
३. जीभा २५५५।
४. बृभा ५०३३ टी पृ. १३४३।
५. बृभा ५०३४, ५०३५ टी पृ. १३४४।
६. व्यभा ६५०।
७. जीभा २५५६-५८।

स्वयं ही करता है लेकिन यदि किसी कारणवश पाराञ्चित तप को वहन करते हुए उसके रोग हो जाए तो उसकी पूर्णतः देखभाल तथा चिकित्सा की जाती है। साधुओं के अभाव में आचार्य स्वयं भक्तपान लेकर आते हैं तथा उद्वर्तन-परावर्तन आदि वैयावृत्त्य करते हैं।[1] जो आचार्य ग्लानत्व की स्थिति में उसकी उपेक्षा करता है तो उसे चतुर्गुरु (उपवास) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[2] यदि ग्लानत्व आदि कारण से आचार्य स्वयं नहीं जा सकें, अत्यधिक उष्णकाल हो, शारीरिक दौर्बल्य हो अथवा कोई संघीय कार्य उपस्थित हो गया हो तो आचार्य उपाध्याय को, उनके अभाव में योग्य गीतार्थ को वहां भेजते हैं। वह वहां जाकर आचार्य के न आने का कारण प्रकट करता है तथा उसकी शारीरिक स्थिति की पृच्छा करता है।[3]

**पाराञ्चित तप वहन कर्ता द्वारा संघीय सेवा**

पाराञ्चित तप वहन करने वाला यदि वादी, क्षीरास्रव लब्धि युक्त अथवा विद्यातिशय से युक्त हो तो संघीय सेवा का प्रयोजन उपस्थित होने पर आचार्य उसको कहते हैं कि संघ के ऊपर आपदा आई है, तुम इस कार्य को सम्पन्न करने में कुशल हो। यदि किसी कारणवश आचार्य उसकी शक्ति से परिचित न हों तो वह स्वयं आचार्य को निवेदन करता है कि संघ के इस कार्य को मैं भलीभांति सम्पन्न कर सकता हूं। वह बड़ा कार्य भी मेरे द्वारा लघु हो जाएगा।[4] राजा के द्वारा संघ में उपस्थित बाधा के ये कारण हो सकते हैं—

- वाद-पराजय से राजा कुपित हो गया हो।
- चैत्य अथवा चैत्य द्रव्य उसके द्वारा बंधक हों।
- राजा द्वारा साध्वी आदि का अपहरण हुआ हो।
- संघ को देश निकाला दिया हो।[5]

बृहत्कल्पभाष्य में राजा द्वारा प्रद्विष्ट होने पर चार प्रकार की आपदाओं का उल्लेख है—

- देश निकाला देना।
- भक्तपान देने का निषेध करना।
- उपकरणों का हरण कर लेना।
- मार डालना या चारित्र का भेद करना।[6]

---

१. जीभा २५५९, २५६०।
२. बृभा ५०३७ टी पृ. १३४४।
३. जीभा २५६२, २५६३।
४. जीभा २५६४-६६।
५. जीभा २५७३, २५७४।
६. बृभा ३१२१।

पाराञ्चित तप वहन कर्ता शब्द और तर्कशास्त्र में निपुण तथा अनेक विद्वत् सभाओं में अपराजित होता है। वह राजभवन में जाता है। द्वारपाल द्वारा रोके जाने पर वह कहता है— 'हे द्वारपालरूपिन्! तुम जाकर राजरूपी को कहो कि एक संयतरूपी आपसे मिलना चाहता है। द्वारपाल राजा की आज्ञा प्राप्त करके उसे राजा के पास ले जाता है। राजा साधु को वंदना करके उसे सुखपूर्वक आसन में बिठाता है। राजा साधु से प्रतिहाररूपी, राजरूपी और संयतरूपी का अर्थ पूछता है। पाराञ्चिक मुनि इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहता है कि जैसे इन्द्र आदि के आत्मरक्षक होते हैं, वैसा आपका यह द्वारपाल नहीं है इसलिए मैंने प्रतिहाररूपी— द्वारपाल के समान शब्द का प्रयोग किया। तुम भी चक्रवर्ती के समान राजा नहीं हो। चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न होते हैं लेकिन न्याय और शौर्य में चक्रवर्ती के प्रतिरूप हो अत: मैंने राजरूपी शब्द का प्रयोग किया है। वास्तविक साधु अठारह हजार शीलाङ्गों को धारण करते हैं लेकिन मैं अतिचार सेवन के कारण श्रमणप्रतिरूपी हूं। अपनी बात को जारी रखते हुए वह पाराञ्चित तप वहन कर्ता साधु कहता है कि अभी मैं संघ से निष्कासित हूं अत: श्रमणों के क्षेत्र में नहीं रह सकता। वर्तमान में मैं प्रमाद से होने वाले अतिचार की तप से विशोधि कर रहा हूं।

उसकी धर्मकथा और कथन शैली से आकृष्ट होकर राजा उससे राजभवन में आने का प्रयोजन पूछता है। मुनि उसे स्पष्ट शब्दों में आने का कारण बताता है। उसकी बात को सुनकर राजा कहता है कि तुम्हारे कथन से प्रभावित होकर मैं अपने पूर्व प्रतिबंधों को वापिस लेता हूं। राजा संघ को आमंत्रित करके उसकी पूजा करता है। इस प्रकार जिस प्रयोजन को संघ नहीं कर पाता, उस कार्य को वह अचिन्त्य प्रभाव युक्त पाराञ्चिक मुनि पूरा कर देता है। उस समय राजा संघ से प्रार्थना करता है कि मैं तुम्हारा यह प्रयोजन सिद्ध करता हूं, तुम पाराञ्चित तप वहन करने वाले मुनि को प्रायश्चित्त से मुक्त कर दो। राजा के कहने पर अथवा स्वयं संघ संतुष्ट होकर उस मुनि को प्रायश्चित्त से मुक्त कर सकता है।[1]

**पाराञ्चित प्रायश्चित्त की समयावधि में अल्पीकरण**

जब प्रायश्चित्त वहन कर्ता मुनि राजा को प्रसन्न करके संघ पर आई किसी विपत्ति को दूर करता है, उस समय काल की दृष्टि से उसका प्रायश्चित्त तीन रूपों वाला हो सकता है—

- आदि अर्थात् प्रायश्चित्त प्रारम्भ ही हुआ हो।
- मध्य— प्रायश्चित्त का मध्यवर्ती काल हो।
- अवसान— प्रायश्चित्त का अंतिम समय चल रहा हो।[2]

---

१. जीभा २५६७-७७, बृभा ५०४६-५३।

२. बृभा ५०५४।

संघ उस समय देश, देशदेश अथवा सारा प्रायश्चित्त भी वहन करवा सकता है अथवा उसे सारे प्रायश्चित्त से मुक्त भी कर सकता है। कुल प्रायश्चित्त का छठा भाग देश कहलाता है। आशातना पाराञ्चित में छह मास का छठा भाग एक मास तथा बारह वर्ष का दो मास होता है। एक वर्षीय जघन्य प्रतिसेवना प्रायश्चित्त का छठा भाग दो माह तथा बारह वर्ष का छठा भाग चौबीस मास होता है, यह देश प्रायश्चित्त वहन का काल है।

देशदेश प्रायश्चित्त के वहन काल में आशातना पाराञ्चित में छह मास का दसवां भाग अठारह दिन तथा वर्ष का दशवां भाग छत्तीस दिन होते हैं। प्रतिसेवना पाराञ्चित के जघन्य एक वर्ष का दसवां भाग छत्तीस दिन तथा उत्कृष्ट बारह वर्षों का दसवां भाग एक वर्ष बहत्तर दिन होते हैं। यह देशदेश प्रायश्चित्त का काल है। यदि प्रायश्चित्त वहन कर्ता अगीतार्थ या अपरिणामक है तो उसके समक्ष नवविध व्यवहार का विस्तार करके लघुस्वक प्रायश्चित्त दिया जाता है।[1]

**पाराञ्चित प्रायश्चित्त के स्थान**

स्थानांग सूत्र के अनुसार पांच स्थानों सें श्रमण पाराञ्चित प्रायश्चित्त का भागी होता है—

१. कुल में भेद डालने वाला।

२. गण में भेद डालने वाला।

३. कुल और गण के सदस्यों की हिंसा करने वाला।

४. छिद्रान्वेषी।

५. बार-बार प्रश्नायतनों[2] का प्रयोग करने वाला।[3]

बौद्ध-परम्परा में पाराजिक प्रायश्चित्त के चार अपराध-स्थान हैं—

१. संघ में रहकर मैथुन सेवन करना।

२. बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना।

३. मनुष्य की हत्या करना।

४. बिना जाने अलौकिक बातों का दावा करना।

वहां भिक्षुणी को भी आठ कारणों से पाराजिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

---

१. जीभा २५७८-८७।

२. स्थाटी प. २८६; प्रश्न—अंगुष्ठकुड्यप्रश्नादय: सावद्यानुष्ठानपृच्छा वा त एवायतनान्यसंयमस्य प्रश्नायतनानि प्रयोक्ता भवति— प्रश्नायतन का अर्थ है—अंगुष्ठ आदि प्रश्नविद्या का प्रयोग। रस के द्वारा वस्त्र, कांच, अंगुष्ठ आदि में देवता को बुलाकर अनेकविध प्रश्नों का हल करना।

३. स्था ५/४७।

### अंतिम दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद

प्रथम संहनन और चतुर्दशपूर्वी—इन दोनों का एक साथ विच्छेद हुआ। उनके विच्छेद होने पर अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—ये दोनों प्रायश्चित्त भी विच्छिन्न हो गए।

अनवस्थाप्य और पाराञ्चित के लिंग, क्षेत्र, काल और तप—इन चार भेदों में तप अनवस्थाप्य और तप पाराञ्चित का चौदहपूर्वी के साथ विच्छेद हो गया, शेष लिंग पाराञ्चित आदि प्रायश्चित्त तीर्थ की अवस्थिति तक रहते हैं।[1]

यहां मुख्यत: छेदसूत्र और भाष्य ग्रंथों के आधार पर दस प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त वर्णन किया है। इस संदर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से और भी अन्वेषण करने की अपेक्षा है।

### पाठ-संपादन की प्रक्रिया

शोध कार्यों में पाठ-संपादन का कार्य महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अत्यन्त जटिल, नीरस और श्रमसाध्य है। पाठ-निर्धारण का अर्थ इतना ही नहीं है कि प्राचीन प्रतियों के विभिन्न पाठों में एक पाठ को मुख्य मानकर अन्य पाठों को पाठान्तर के रूप में दे दिया जाए। पाठ-निर्धारण में अनेक दृष्टियों से सूक्ष्मता से विचार किया जाता है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने पाठानुसंधान के कार्य को चार भागों में विभक्त किया है— १. सामग्री-संकलन २. पाठ-चयन ३. पाठ-सुधार ४. उच्चतर आलोचना। प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन में चारों बातों का ध्यान रखा गया है। पाठ-संपादन में हमारे समक्ष निम्न आधार मुख्य रहे हैं—

- जीतकल्प एवं उसके भाष्य की हस्तलिखित प्रतियां, जिनमें एक ताड़पत्रीय प्रति भी सम्मिलित है।
- जीतकल्प का व्याख्या साहित्य (जीतकल्प चूर्णि आदि)
- जीतकल्पभाष्य की अनेक गाथाएं, जो पिण्डनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, निशीथभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य में मिलती हैं।

पाठ-सम्पादन एवं पाठ-चयन में प्राय: प्रतियों के पाठ को प्रमुखता दी है लेकिन किसी एक प्रति को ही पाठ-चयन का आधार नहीं बनाया है और न ही बहुमत के आधार पर पाठ का निश्चय किया है। अर्थ-मीमांसा का औचित्य, उस गाथा पर अन्य ग्रंथों की टीका और पौर्वापर्य के आधार पर जो पाठ संगत लगा, उसे मूल पाठ के अन्तर्गत रखा है। पाठ-सम्पादन के कुछ मुख्य बिन्दुओं को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

- कहीं-कहीं किसी प्रति में कोई शब्द, चरण या गाथा नहीं है, उसका पादटिप्पण में × के चिह्न से निर्देश कर दिया है। जहां पाठान्तर एक से अधिक शब्दों पर या एक चरण में है, उसे ' ' चिह्न से दर्शाया है।

---

१. जीसू १०२, जीभा २५८८, २५८९।

- प्राचीनता की दृष्टि से जहां कहीं मूल व्यञ्जनयुक्त पाठ मिला, उसे मूल में स्वीकृत किया है लेकिन पाठ न मिलने पर यकार श्रुति वाले पाठ को भी स्वीकृत किया है। जैसे तित्थगर - तित्थयर। तकारश्रुति वाले पाठ को हमने प्राथमिकता नहीं दी है, जैसे—कातो, कणतो, विणतो आदि।
- लिपिकार की भूल से जहां पाठभेद हुआ है, उन पाठान्तरों का प्रायः उल्लेख नहीं किया है लेकिन जहां उस शब्द से अन्य अर्थ निकलने की संभावना थी, उन पाठान्तरों का उल्लेख किया गया है।
- पाश्चात्य विद्वान् ल्यूमन ने दशवैकालिक एवं एल्फसडोर्फ ने उत्तराध्ययन का छंद की दृष्टि से अनेक स्थलों पर पाठ-संशोधन एवं पाठ-विमर्श किया है। छंद तकनीक को उन्होंने उपकरण के रूप में काम लिया है। जेकोबी ने छंद के आधार पर गाथा की प्राचीनता और अर्वाचीनता का निर्धारण किया है। उनके अनुसार आर्याछंद में निबद्ध साहित्य बाद का तथा वेद छंदों में प्रयुक्त गाथाएं प्राचीन हैं। सभाष्य जीत-कल्प के सम्पादन में भी अनेक पाठ छंद के आधार पर निर्धारित किए हैं। गाथा में यदि आर्या के अतिरिक्त छंद का प्रयोग हुआ है तो उसका पादटिप्पण में उल्लेख कर दिया है।

**हस्तप्रति-परिचय**

जीतकल्प भाष्य के सम्पादन में मुख्यतः इन प्रतियों एवं स्रोतों का उपयोग किया गया है—

**(पा)** यह प्रति श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर पाटण गुजरात से प्राप्त है। प्रति का लेखन समय लगभग १६ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। इसकी क्रमांक संख्या १००५६ तथा पत्र संख्या ९० है। इसके पत्र अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हैं लेकिन प्रति के अक्षर मोटे, स्पष्ट एवं साफ-सुथरे हैं। इसके अंत में 'इति जीतकल्पभाष्यं परिसमाप्तमिति'॥ छ॥ का उल्लेख है। इस प्रति में जीतकल्पसूत्र की गाथाएं भाष्य गाथाओं के साथ लिखी हुई हैं।

**(ब)** यह प्रति लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १४८४१ है। यह प्रति भी साफ-सुथरी एवं स्पष्ट अक्षरों वाली है। इसमें कुल ५५ पत्र है, जिसमें प्रथम पत्र अनुपलब्ध है। प्रति के अंत में लगभग दो पृष्ठों की प्रशस्तिपरक भूमिका है। लिपिकार ने इसके समय के लिए 'शशिमुनितिथिमिति वर्षे' का उल्लेख किया है। जिसका तात्पर्य है यह प्रति वि. सं. १५१८ में लिखी गई है। पुष्पिका का अंतिम पद्य इस प्रकार है—

निजमानसमोदभराद् लेखितमुत्तमविचित्ररचनाद्यं।
श्रीजीतकल्पभाष्यं, जिनोदितं तच्चिरं जयतात्॥ इति प्रशस्तिः॥

**(ला)** यह प्रति लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या ३६ है।

यह मोटे अक्षरों में लिखी गई साफ-सुथरी प्रति है। इसके ६० पत्र हैं। प्रति का अंतिम पत्र खाली है। प्रति के अंत में लिपिकार ने निम्न पट्टावलि का उल्लेख किया है। 'इति जीतकल्पभाष्यं परिसमाप्तं संवत् १५८१ वर्षे श्री पत्तननगरे श्री खरतरगच्छे श्रीजिनवर्द्धनसूरि, श्रीजिनचन्द्रसूरि, श्रीजिनसागरसूरि, श्रीजिनसुंदरसूरि, पूज्य श्रीजिनहर्षसूरि पट्टे श्रीजिनचंदसूरि जीतकल्पभाष्यं समाप्तं। श्री॥ शुभं भवतु॥ छ॥ जीतकल्प भाष्यं अवलेख्यत॥ छ॥' इसमें प्रति के प्रारम्भ में जीतकल्पसूत्र लिखा हुआ है, उसके बाद भाष्य की गाथाएं लिखी गई हैं।

**(ता)** यह ताड़पत्रीय प्रति महावीर आराधना केन्द्र कोबा (अहमदाबाद) से प्राप्त है। इसका समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। यह प्रति ७६२ गाथा से प्रारम्भ है। प्रारम्भ के पत्र लुप्त हैं। इस प्रति की क्रमांक संख्या १०३५६ है। ताड़पत्र से जेरोक्स होने के कारण प्रति के पाठान्तर व्यवस्थित नहीं लिए जा सके। फिर भी यह साफ-सुथरी और शुद्ध प्रति है।

**मु**—पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित जीतकल्पभाष्य।

**चू**—जीतकल्प पर लिखी गई चूर्णि के पाठान्तर।

**नि**—निशीथभाष्य, प्रकाशित।

**व्य**—व्यवहारभाष्य, प्रकाशित (जैन विश्व भारती, लाडनूं)

**बृ**—बृहत्कल्पभाष्य, प्रकाशित।

**पंक**—पंचकल्पभाष्य, प्रकाशित।

**पिनि**—पिण्डनिर्युक्ति, प्रकाशित (जैन विश्व भारती, लाडनूं)

## ग्रंथ का अनुवाद

एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद करना अत्यन्त दुरूह और जटिल कार्य है। इसे आधुनिक भाषा में स्रोतभाषा या लक्ष्यभाषा कहा जाता है। जिस भाषा में अनुवाद किया जाता है, वह लक्ष्य भाषा तथा जिस भाषा की सामग्री अनुदित होती है, वह स्रोतभाषा कहलाती है। अनुवादक का स्रोत और लक्ष्यभाषा—इन दोनों पर पूरा अधिकार होना चाहिए। आधुनिक विद्वानों ने अनुवाद के चार भेद किए हैं— १. शाब्दिक अनुवाद २. शब्द-प्रतिशब्द अनुवाद ३. भावानुवाद ४. छायानुवाद

इस ग्रंथ में शाब्दिक अनुवाद के साथ भावानुवाद और छायानुवाद का भी ध्यान रखा गया है। हर संभव प्रयत्न किया गया है कि अनुवाद सहज और सरल भाषा में प्रस्तुत हो तथा पाठक को ऐसा अनुभव हो कि मूल रचना ही पढ़ी जा रही है। जीतकल्प भाष्य का अनुवाद अभी तक कहीं से प्रकाशित नहीं हुआ है। इस ग्रंथ के अनुवाद में एक कठिनाई यह थी कि इस पर कोई टीका और चूर्णि नहीं थी अत: अर्थ-

निर्धारण में अत्यन्त श्रम करना पड़ा। व्याख्या-साहित्य के अभाव में संभव है कहीं-कहीं ग्रंथकार के मूल हार्द को नहीं पकड़ा गया हो। भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट कथाओं का अनुवाद भी प्रायः दूसरे व्याख्या- साहित्य से किया गया है। किसी ग्रंथ के आद्योपान्त अनुवाद का कार्य प्रथम बार किया है अतः संभव है इसमें कहीं त्रुटि रह जाए, विद्वत् समाज ज्ञान की इयत्ता को समझकर उन त्रुटियों पर ध्यान नहीं देगा। साध्वी श्री सिद्धप्रज्ञाजी ने न केवल आद्योपान्त इसका अनुवाद सुना है, अपितु अनेक स्थलों पर अपने अमूल्य सुझाव एवं क्लिष्ट स्थलों के अनुवाद का सहयोग देकर भी मुझे लाभान्वित किया है। उनके लिए मैं यही शुभकामना करती हूं कि वे भविष्य में निरामय रहकर इसी प्रकार आगम श्रुतयात्रा में सहयोगी बनती रहें।

## आगम-कार्य में नियोजन का इतिहास

आज से ३१ वर्ष पूर्व महावीर जयंती के अवसर पर युवाचार्य महाप्रज्ञ (वर्तमान आचार्य महाप्रज्ञ) का प्रवास लाडनूं था। आचार्य तुलसी उस समय पंजाब यात्रा पर थे। युवाचार्यश्री ने मुमुक्षु बहिनों एवं कुछ साध्वियों की गोष्ठी आहूत की। उस समय कुछ मुमुक्षु बहिनें पारम्परिक स्नातक एवं स्नातकोत्तर के अध्ययन में नियुक्त थीं। युवाचार्यवर ने पूछा—'तुम लोग डिग्री प्राप्त करना चाहती हो या आगम-कार्य करना चाहती हो?' मुमुक्षु बहिनों एवं साध्वियों ने एक स्वर में कहा—'हम आगम-कार्य करना चाहती हैं। उस समय साध्वियों के निर्देशन में पांच मंडलियां बनाई गईं। कार्य द्रुत गति से प्रारम्भ हो गया। लगभग एक वर्ष के पश्चात् कार्य में नियुक्त कुछ बहिनों की विलक्षण दीक्षा घोषित हो गई। उसमें एक नाम मेरा भी था। दीक्षित होने के बाद भी आगम-कार्य चलता रहा। लाखों कार्ड बन गए लेकिन कुछ कारणों से वह कार्य-सम्पन्नता की दिशा में आगे नहीं बढ़ सका। कार्य स्थगित होने पर भी इससे हमारा अनुभव बढ़ा और फलस्वरूप तीन कोश सामने आ गए—एकार्थक कोश, निरुक्त कोश तथा देशीशब्द कोश।

एकार्थक कोश की सम्पन्नता के पश्चात् सन् १९८४ में पूज्यवरों ने निर्युक्तियों के सम्पादन-कार्य में जोड़ा। उस समय पाठ-सम्पादन क्या होता है, इसका मुझे कोई अनुभव नहीं था। मन में सोचा कि यह अत्यन्त सरल कार्य है। दो-तीन महीनों में सारा कार्य सम्पन्न हो जाएगा। लगभग दो-तीन महीनों में टीका में प्रकाशित निर्युक्तियों की प्रतिलिपि करके, उनके क्रमांकों में रही त्रुटियों को ठीक करके जोधपुर चातुर्मास में पूज्यवरों को फाइलें निवेदित कीं। उस समय कार्य देखकर गुरुदेव ने फरमाया—" अहमदाबाद में लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर में आवश्यक निर्युक्ति पर काम हुआ है, उसे देखने से कार्य को एक दिशा मिल सकती है। अहमदाबाद में फाइलें देखकर मालवणियाजी ने कहा—"हस्तप्रतियों से पाठ-संपादन और गाथाओं की प्राचीनता और अर्वाचीनता के बारे में समालोचनात्मक टिप्पण के बिना पाठ-संपादन का कार्य अधूरा होता है। आपका यह कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं होगा। अभी तक निर्युक्ति-

साहित्य पर विशेष काम नहीं हुआ है। उन्होंने समय-समय पर कार्य के लिए मार्गदर्शन भी दिया। हस्तप्रतियों को पढ़ने की कला कनुभाई सेठ ने एक दिन में सिखा दी, साथ ही निर्युक्तियों की मूल हस्तप्रतियां भी निकालकर दे दीं। प्रतिलिपि आदि करने में समणी सरलप्रज्ञाजी का भी मुझे सहयोग मिला। हम लोग सुबह ८ बजे से सायं ४ या ५ बजे तक लाईब्रेरी में बैठकर कार्य करते। उस समय मध्याह्नकालीन आहार भी कभी-कभी ही लिया। कार्य में तन्मयता और एकाग्रता इतनी हो गई कि समय का भान ही नहीं रहता। उसके बाद निर्युक्तियों की गाथा संख्या के निर्धारण में मुनिश्री दुलहराजजी का आत्मीय सहयोग और मार्गदर्शन भी मिला। निर्युक्तियों के बीच में ही भाष्य-साहित्य के सम्पादन का कार्य भी प्रारम्भ हो गया। पूना भण्डारकर इंस्टीट्यूट से प्रो. कलघटके जी ने आचार्यवर को निवेदन करवाया कि यदि व्यवहारभाष्य का सम्पादन हो जाए तो हमारे यहां चल रहे कोश-साहित्य तथा अन्यान्य शोधकार्य करने में सुगमता हो सकती है। उनके सुझाव पर पूज्यवरों ने ध्यान दिया और मुझे व्यवहारभाष्य के संपादन में नियुक्त कर दिया। पूज्यवरों की कृपा से वह कार्य सन् १९९६ में प्रकाशित हो गया।

यद्यपि वर्तमान में आवश्यक निर्युक्ति खण्ड-२ का कार्य करना अत्यन्त आवश्यक था लेकिन नियति की प्रधानता ही माननी चाहिए कि उसके पूर्व जीतकल्प सभाष्य का कार्य प्रकाश में आ रहा है। आचार्यवर से प्राप्त आशीर्वाद से यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि अब आगम व्याख्या-साहित्य के अन्य ग्रंथों का कार्य भी द्रुतगति से हो सकेगा।

पूज्य गुरुदेव तुलसी पाठ-सम्पादन के कार्य को अत्यन्त महत्त्व देते थे। प्रारम्भ में जब-जब इस कार्य के प्रति मेरे मन में अरुचि या निराशा के भाव जागते, मेरे हाथ श्लथ होते, गुरुदेव प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर नए प्राणों का संचार कर देते। अनेकों बार उनके मुखारविन्द से यह सुनने को मिला—"देखो, आगम का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह कार्य करने का अवसर किसी भाग्यशाली को ही मिलता है। इससे नया इतिहास बनेगा और धर्मसंघ की अपूर्व सेवा होगी।" आचार्य तुलसी ने अपने जीवन में नारी-विकास के अनेक स्वप्न देखे और वे फलित भी हुए। एक स्वप्न की चर्चा करते हुए उन्होंने बीदासर में (दिनांक १२/२/६७) कहा—"मैं तो उस दिन का स्वप्न देखता हूं, जब साध्वियों द्वारा लिखी गई टीकाएं या भाष्य विद्वानों के सामने आएंगे। जिस दिन वे इस रूप में सामने आएंगी, मैं अपने कार्य का एक अंग पूर्ण समझूंगा।" पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का यह स्वप्न सार्थक नहीं हो सका लेकिन आचार्य महाप्रज्ञजी की प्रेरणा से उनके निर्देशन में इस दिशा में प्रयास जारी है।

## कृतज्ञता-ज्ञापन

यह ग्रंथ अपने निर्धारित लक्ष्य से लगभग सात माह पीछे चल रहा है। उज्जैन यात्रा के बाद लगभग

तीन-चार महीनों तक इस कार्य में मन एकाग्र नहीं हो सका। उस समय पूज्यप्रवर द्वारा प्रदत्त कल्प सूत्र का अनुवाद प्राय: सम्पन्न हो गया। पुन: २३ नवम्बर २००९ को इसकी भूमिका लिखनी प्रारम्भ की। आज इसकी परिसम्पन्नता पर जो आत्मिक तोष और आनंद की अनुभूति हो रही है, वह अनिर्वचनीय है।

इस ग्रंथ में जो कुछ अच्छा है, वह सब पूज्यवरों की कृपा, संघ की शक्ति और बुजुर्गों के आशीर्वाद से संभव हुआ है। ग्रंथ में जो कुछ त्रुटि रही है, उसमें मेरी अनवधानता, प्रमाद या ज्ञान की कमी आदि कारण रहे हैं।

आचार्य तुलसी की अभीक्ष्ण स्मृति मुझे सतत कर्मशील बने रहने की प्रेरणा देती रहती है। परम पूज्य आचार्यप्रवर एवं श्रद्धेय युवाचार्यश्री का आशीर्वाद मुझे सतत शक्ति प्रदान कर लक्ष्य की ओर गति करने का पाथेय देता रहता है। आदरणीया महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री जी का आत्मीय वात्सल्य मुझे सदैव प्रसन्न और उत्साहशील बनाए रखता है। सम्माननीया मुख्य नियोजिका विश्रुतविभजी का समुचित व्यवस्थागत सहयोग इस कार्य को अस्खलित गति से आगे बढ़ाने में निमित्तभूत है। साध्वीश्री सिद्धप्रज्ञाजी के सहयोग का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आदरणीया नियोजिकाजी मधुरप्रज्ञाजी का मधुर, निश्छल व्यवहार एवं सभी समणियों का हार्दिक सहयोग सतत स्मर्तव्य है। जैन विश्वभारती के अधिकारियों का उदार सहयोग उल्लेखनीय है। इस कार्य के कम्पोजिंग और संदर्भ आदि मिलाने में कुसुम सुराणा, सुनीता, प्रीति, रीना आदि बहिनों का सहयोग विशेष महत्त्व का है। अब एक ही इच्छा है कि जीवन की अंतिम सांस तक धर्मसंघ की श्रीवृद्धि में इस जीवन के बहुमूल्य क्षण समर्पित करती रहूं, निस्पृह और निष्कामभाव से श्रुतयात्रा में यात्रायित होती रहूं।

**समणी कुसुमप्रज्ञा**

# विषय-सूची


१. प्रवचन की व्याख्या।
२. प्रवचन का निरुक्त।
३. प्रवचन की परिभाषा।
४. दशविध प्रायश्चित्त के वर्णन की प्रतिज्ञा।
५. प्रायश्चित्त का निरुक्त।
६. निर्विगय आदि प्रायश्चित्त-दान तथा संक्षेप शब्द के एकार्थक।
७. जीतव्यवहार के नाम का ही उल्लेख क्यों?
८. पंचविध व्यवहार की प्ररूपणा।
९. आगम व्यवहार के दो भेद—प्रत्यक्ष और परोक्ष।
१०. प्रत्यक्ष आगम व्यवहार के द्विविध भेद।
११. प्रत्यक्ष शब्द का निरुक्त।
१२,१३. अक्ष शब्द का निरुक्त।
१४. प्रत्यक्ष के संदर्भ में वैशेषिक दर्शन की मान्यता का निरसन।
१५,१६. जीव विषय का ग्राहक है, इंद्रियां नहीं।
१७-१९. लिंग के एकार्थक तथा लिंग द्वारा इंद्रियों को ज्ञान।
२०-२२. इंद्रिय प्रत्यक्ष से व्यवहार।
२३. नोइंद्रिय प्रत्यक्ष व्यवहार के तीन भेद।
२४,२५. अवधिज्ञान आदि का संक्षिप्त-वर्णन करने की प्रतिज्ञा।
२६. अवधिज्ञान की असंख्य प्रकृतियां।
२७-३०. अवधिज्ञान की असंख्य प्रकृतियां क्यों? आचार्य का समाधान।
३१. पुद्गल की अपेक्षा अनंत प्रकृतियां।
३२. अवधिज्ञान के दो भेद—भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक।
३३. भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान में हानि-वृद्धि नहीं।
३४. गुणप्रत्ययिक अवधि क्षयोपशम जन्य।
३५. अवधिज्ञान का विषय अरूपी द्रव्य नहीं।
३६. अवधिज्ञान की सीमा।
३७,३८. अवधिज्ञान के छह भेद।
३९-४२. अंतगत अवधि के त्रिविध भेद एवं उनकी उपमाएं।
४३. मध्यगत अवधि की उपमा।
४४,४५. मध्यगत और अंतगत अवधिज्ञान में भेद।
४६-४९. अनानुगामिक अवधि के कथन की प्रतिज्ञा एवं उसकी उपमा।
५०-६१. वर्धमान अवधि का स्वरूप-कथन।
६२. हीयमान अवधि का स्वरूप-कथन।
६३,६४. प्रतिपाती अवधिज्ञान का स्वरूप-कथन।
६५. अप्रतिपाती अवधिज्ञान का स्वरूप-कथन।
६६-७३. अवधिज्ञान के भेद-प्रभेद।
७४-८८. मनः पर्यव ज्ञान का स्वरूप-कथन एवं भेद-प्रभेद।
८९. मनःपर्यव ज्ञानी व्यवहार करने के योग्य।
९०-१०८. केवलज्ञान का स्वरूप-कथन।
१०९. प्रत्यक्ष आगम-व्यवहारी के दो भेद।
११०. आगम व्यवहारी कौन?
१११-१३. परोक्ष आगम व्यवहारी का वर्णन।

११४-२४. केवली से श्रुतज्ञानी की तुलना एवं उनके द्वारा व्यवहार का प्रयोग।
१२५, १२६. आगमव्यवहारी के द्वारा व्यवहार का प्रयोग।
१२७-२९. आराधक कौन?
१३०. आलोचना का महत्त्व।
१३१-३३. व्यवहार का प्रयोग द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के आधार पर।
१३४-३८. दोष सेवन के सहसाकरण, अज्ञान आदि कारण तथा उनकी व्याख्या।
१३९, १४०. आगम विमर्श का स्वरूप।
१४१. आप्त का स्वरूप-कथन।
१४२. तदुभय का स्वरूप।
१४३-४८. आगमव्यवहारी किसको प्रायश्चित्त नहीं देते तथा किसको देते हैं?
१४९-५९. प्रायश्चित्त देने के योग्य कौन?
१६०. अष्टविध गणिसंपदा के बत्तीस स्थान।
१६१. आठ गणिसम्पदाओं के नाम।
१६२-६६. आचार-सम्पदा के चार भेद।
१६७-७०. श्रुत-सम्पदा के चार भेद।
१७१-७४. शरीर-सम्पदा के चार भेद।
१७५-७८. वचन-सम्पदा के चार भेद।
१७९-८४. वाचना-सम्पदा के चार भेद।
१८५-९१. मति-सम्पदा के चार भेद।
१९२-९६. प्रयोगमति-सम्पदा के चार भेद।
१९७-०५. संग्रहपरिज्ञा-सम्पदा के चार भेद।
२०६-१०. बत्तीस एवं छत्तीस स्थानों से युक्त आचार्य ही व्यवहार करने के योग्य।
२११-४१. विनयप्रतिपत्ति के चार भेद एवं उनकी व्याख्या।
२४२-४५. आगमव्यवहारी का स्वरूप।
२४६-५१. आलोचना के दश गुण एवं उनकी व्याख्या।
२५२-५४. आगम व्यवहारी के अन्यान्य गुण।
२५५-६२. शिष्य की जिज्ञासा—वर्तमान में आगम व्यवहारी, चतुर्दशपूर्वी और चारित्र-शुद्धि का व्यवच्छेद।
२६३. प्रायश्चित्त विच्छेद विषयक आचार्य का समाधान।
२६४. सूत्र और अर्थ का विमर्श।
२६५. निशीथ, कल्प और व्यवहार का निर्यूहण नौवें पूर्व से।
२६६. छेदसूत्रों के ज्ञाता की विद्यमानता।
२६७. स्वपद प्ररूपणा आदि द्वार।
२६८-७२. आठ प्रायश्चित्तों की यथावत् अवस्थिति में चक्रवर्ती के प्रासाद का उदाहरण।
२७३. परोक्ष व्यवहारी का प्रत्यक्ष व्यवहारी की भांति व्यवहार।
२७४. प्रायश्चित्त के दश प्रकार।
२७५, २७६. दश प्रायश्चित्तों की चतुर्दशपूर्वी तक अवस्थिति।
२७७. उसके बाद अंतिम दो प्रायश्चित्तों का विच्छेद।
२७८. आठ प्रायश्चित्तों की वार्तमानिक अवस्थिति के बारे में शिष्य की जिज्ञासा।

२७९. आठ प्रायश्चित्त का विच्छेद कहने वालों को प्रायश्चित्त।
२८०-८४. पुलाक आदि पांच निर्ग्रन्थ और उनके प्रायश्चित्त।
२८५-९०. सामायिक आदि पांच प्रकार के संयत और उनके प्रायश्चित्त।
२९१. प्रायश्चित्त वाहक के संदर्भ में शिष्य की जिज्ञासा।
२९२-०३. धनिक का दृष्टान्त और उसका उपनय।
३०४-०७. सापेक्ष प्रायश्चित्त-दान।
३०८-१०. अनवस्था दोष में तिलहारक चोर का दृष्टान्त एवं उपनय।
३११-१९. तीर्थ में ज्ञान और दर्शन की अवस्थिति विषयक जिज्ञासा एवं समाधान।
३२०, ३२१. निर्यापक के भेद एवं उनका अनशन से सम्बन्ध।
३२२-२७. भक्तपरिज्ञा के कथन की प्रतिज्ञा एवं उसके भेद-प्रभेद।
३२८-३१. भक्तपरिज्ञा के गण निःसरण आदि द्वार।
३३२, ३३३. गण निःसरण की विधि।
३३४-३७. परगण में जाने की विधि।
३३८-४०. तृतीय श्रिति द्वार की व्याख्या।
३४१-५५. संलेखना के प्रकार एवं उसका क्रम।
३५६-६५. अगीतार्थ के पास भक्त परिज्ञा स्वीकार करने का निषेध तथा उसकी हानियां।
३६६-६९. गीतार्थ की मार्गणा का निर्देश।
३७०-७३. असंविग्न के पास भक्तप्रत्याख्यान का निषेध एवं उससे होने वाली हानियां।
३७४-७७. संविग्न की मार्गणा का निर्देश।
३७८-८०. अनेक निर्यापक रखने का निर्देश।
३८१. अनशन की पारगामिता हेतु देवता या निमित्त का सहयोग।
३८२. कंचनपुर में देवता-रुदन का वृत्तान्त।
३८३. पारगामिता का चिंतन किए बिना अनशन कराने में प्रायश्चित्त।
३८४-८७. भक्तप्रत्याख्यान करने में काल विषयक चिन्तन।
३८८. अनशन में व्याघात होने पर की जाने वाली विधि।
३८९. गुरु को पूछे बिना अनशन करने पर प्रायश्चित्त।
३९०, ३९१. गच्छ को पूछे बिना अनशन कराने से होने वाली हानियां।
३९२-०७. अनशनी और गच्छ के साधुओं की आपस में परीक्षा तथा कोंकणक और अमात्य का दृष्टान्त।
४०८-११. अनशनकर्ता की शोधि का उपाय—आलोचना।
४१२, ४१३. आलोचना करने के गुण।
४१४-२०. दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना।
४२१, ४२२. शल्योद्धरण की विधि।
४२३. आराधक कौन?
४२४-२८. अनशनकर्ता के लिए निषिद्ध स्थल।

४२९. अनशनकर्ता के लिए प्रशस्त स्थान।
४३०, ४३१. आहार और पानक रखने का स्थान।
४३२. अनशनकर्ता के समक्ष धर्मचर्चा का निर्देश।
४३३. निर्यापक के गुण।
४३४-३७. निर्यापकों की संख्या एवं उनके कार्य।
४३८-५०. अनशनकर्ता को चरम आहार देने की विधि एवं उसके गुण।
४५१, ४५२. अनशनी के प्रति प्रतिचारकों का कर्त्तव्य।
४५३. भक्तप्रत्याख्याता और निर्यापक के विपुल निर्जरा।
४५४-५७. विपुल निर्जरा के चार स्थान।
४५८-६०. अनशनकर्ता का संस्तारक।
४६१, ४६२. उद्वर्तन आदि में निर्यापक का सहयोग।
४६३-७५. अनशन में मानसिक समाधि उत्पन्न करने में निर्यापकों का दायित्व।
४७६-९०. अनशनकर्ता द्वारा आहार-पानी मांगने पर निर्यापकों का दायित्व।
४९१, ४९२. अनशनकर्ता के कालगत होने पर परिष्ठापन की विधि।
४९३-९६. अनशन में व्याघात होने पर गीतार्थ द्वारा करणीय उपाय।
४९७. अपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान के कथन की प्रतिज्ञा।
४९८. अपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप।
४९९-११. व्याघातिम बालमरण के हेतु।
५१२. इंगिनीमरण अनशन और पांच तुलाएं।
५१३. भक्तपरिज्ञा और इंगिनीमरण में अंतर।
५१४. इंगिनीमरण अनशन का स्वरूप।
५१५, ५१६. इंगिनीमरण अनशनकर्ता की योग्यता।
५१७-२१. प्रायोपगमन अनशन के भेद एवं उसका स्वरूप-कथन।
५२२-२७. प्रायोपगमन अनशनकर्ता की दृढ़ता और भेद-विज्ञान के उदाहरण।
५२८, ५२९. आचार्य स्कंदक का वृत्तान्त।
५३०. प्रायोपगमन अनशनकर्ता के ध्यान की स्थिरता।
५३१. चाणक्य का उदाहरण।
५३२, ५३३. चिलातपुत्र की सहनशीलता।
५३४-३९. प्रायोपगमन अनशन में कालासवैश्य पुत्र तथा अवंतीसुकुमाल आदि के उदाहरण।
५४०. प्रायोपगमन अनशनकर्ता के भेदविज्ञान का चिन्तन।
५४१. प्रायोपगमन अनशनकर्ता की गति।
५४२-५५. अनुकूल उपसर्गों में अनशनकर्ता की दृढ़ता।
५५६. चतुर्दशपूर्वी का विच्छेद होने पर प्रथम संहनन एवं प्रायोपगमन का विच्छेद।
५५७. प्रायोपगमन अनशन का महत्त्व।
५५८. वर्तमान में भी शोधि और शोधि करने वालों का अस्तित्व।
५५९. श्रुतव्यवहार के कथन की प्रतिज्ञा।
५६०. पंचविध व्यवहार का आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्यूहण।
५६१, ५६२. कल्प और व्यवहार में-निपुण कौन?

५६३-६५. श्रुतव्यवहारी कौन?
५६६-६८. आज्ञा व्यवहार की व्याख्या।
५६९-८६. आज्ञा व्यवहार में नियुक्ति हेतु शिष्य की परीक्षा, आम्र और ईमली का दृष्टान्त।
५८७. अतिचार के अठारह स्थान।
५८८-३५. दर्पिका एवं कल्पिका प्रतिसेवना के भेद एवं व्याख्या।
६३६-५४. आज्ञा व्यवहार के प्रयोग की विधि।
६५५-५८. धारणा व्यवहार के एकार्थक तथा निरुक्त।
६५९-६१. धारणा व्यवहार का प्रयोग किसके प्रति?
६६२-७४. धारणा व्यवहार प्रयोक्ता की विशेषता।
६७५-८१. जीतव्यवहार की परिभाषा एवं व्याख्या।
६८२-८६. जीतव्यवहार प्रयोग के कुछ उदाहरण।
६८७-९४. सावद्य और निरवद्य जीतव्यवहार की व्याख्या।
६९५-९७. व्यवहार का उपसंहार एवं उसकी महत्ता।
६९८-७०१. पांचों व्यवहार के प्रयोग का क्रम।
७०२. द्रव्य, क्षेत्र के आधार पर जीतव्यवहार का सापेक्ष प्रयोग।
७०३. विशोधि से समाधि।
७०४. जीव शब्द का निरुक्त।
७०५, ७०६. प्रायश्चित्त से आत्मविशुद्धि।
७०७. संवर शब्द के एकार्थक एवं उसके प्रकार।
७०८. संवर और निर्जरा का स्वरूप।
७०९. सर्व संवर और देश निर्जरा किसके?
७१०. मोक्ष के हेतु संवर और निर्जरा।
७११. संवर और निर्जरा का कारण—तप।
७१२. तप का प्रधान अंग—प्रायश्चित्त।
७१३. सम्बन्ध गाथा।
७१४. चारित्र का सार—निर्वाण।
७१५. ज्ञान की विशुद्धि से चारित्र-शुद्धि।
७१६, ७१७. चारित्र-विशुद्धि से निर्वाण।
७१८. आलोचनार्ह प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७१९, ७२०. प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७२१. तदुभयार्ह प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७२२. विवेकार्ह प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७२३. व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७२४. तपोर्ह प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७२५. छेदार्ह प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७२६. मूलार्ह प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७२७, ७२८. अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का स्वरूप।
७२९, ७३०. पाराञ्चित प्रायश्चित्त का स्वरूप एवं उसके भेद।
७३१. करणीय कार्यों का निर्देश?
७३२, ७३३. योग (क्रिया) शब्द का निरुक्त एवं व्याख्या।
७३४. आलोचना से शुद्धि के स्थान।
७३५. घाती कर्म के चार प्रकार।
७३६-३९. निरतिचार मुनि को आलोचना की आवश्यकता क्यों?
७४०. आहार के चार प्रकार।

७४१. उपधियों के प्रकार।
७४२-४९. आहार शय्या आदि ग्रहण के सम्बन्ध में शिष्य की जिज्ञासा एवं आचार्य का समाधान।
७५०-५२. निर्गमन के अनेक कारण।
७५३, ७५४. अवनि आदि शब्दों का अर्थ।
७५५-५७. निर्गमन के अन्य कारण।
७५८-६०. सौ हाथ के भीतर या दूर जाने के कारण।
७६१-६३. श्लेष्म, प्रस्रवण आदि करने में आलोचना नहीं।
७६४. गच्छ से निर्गमन के दो हेतु—सकारण और निष्कारण।
७६५, ७६६. *सकारण निर्गमन के हेतु।*
७६७, ७६८. निष्कारण निर्गमन के हेतु।
७६९. आलोचना कब?
७७०. आलोचना के दो प्रकार—ओघ और विभाग।
७७१-७३. ओघ आलोचना का स्वरूप।
७७४, ७७५. विभाग आलोचना कब?
७७६, ७७७. अन्य गण से आगत साधु के प्रकार।
७७८. अन्य गण से आगत साधु की विभाग आलोचना।
७७९. उपसंपदा के पांच प्रकार।
७८०-८३. विभागतः आलोचना का वर्णन।
७८४. गुप्ति शब्द का निरुक्त।
७८५. त्रिविध अगुप्ति।
७८६-९०. मनोगुप्ति में जिनदास का उदाहरण।
७९१-९६. वचनगुप्ति में साधु का उदाहरण।
७९७-०३. कायगुप्ति के दो उदाहरण।
८०४. समिति की परिभाषा एवं उसके प्रकार।
८०५. ईर्यासमिति का प्रमाद।
८०६. भाषा समिति का प्रमाद।
८०७. एषणा समिति का प्रमाद।
८०८. आदान-निक्षेप समिति का प्रमाद।
८०९. निक्षेप शब्द का निरुक्त।
८१०-१२. प्रतिलेखन और प्रमार्जन की चतुर्भंगी।
८१३, ८१४. प्रतिलेखन प्रमार्जन के प्रमादयुक्त छह भंग।
८१५, ८१६. उच्चार और प्रस्रवण का निरुक्त।
८१७-१९. *ईर्यासमिति में अर्हन्नक साधु का* उदाहरण।
८२०-२३. भाषा समिति में साधु का उदाहरण।
८२४. भाषा समित की विशेषता।
८२५. एषणा समित का वैशिष्ट्य।
८२६-४७. एषणा समिति में नंदिषेण का उदाहरण।
८४८, ८४९. आदान भंड निक्षेपणा समित का स्वरूप।
८५०-५३. चौथी समिति में दो साधुओं का उदाहरण।
८५४. परिष्ठापन समित की विशेषता।
८५५-६०. परिष्ठापन समिति में धर्मरुचि अनगार का उदाहरण।
८६१-७१. आशातना की व्याख्या एवं उसके प्रकार।

८७२-७९. गुरु के प्रति होने वाले विनय के भेद एवं उनकी व्याख्या।
८८०. सामाचारी के दश प्रकार।
८८१-०१. लघुस्वक सूक्ष्म के प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
९०२. लघुस्वक अदत्त की व्याख्या।
९०३-०५. लघुस्वक परिग्रह की व्याख्या।
९०६-१२. खांसी, छींक, वातनिसर्ग आदि की अविधि और यतना।
९१३. स्खलना के दो प्रकार।
९१४. स्खलना के स्थान।
९१५. यतनायुक्त मुनि के स्खलना होने पर मिथ्याकार प्रतिक्रमण।
९१६. अनाभोग की परिभाषा।
९१७. सहसाकरण की परिभाषा।
९१८. सहसा अनाभोग में मिथ्याकार प्रतिक्रमण।
९१९, ९२०. शय्यातर बालक तथा ज्ञातिजनों से स्नेह करने पर मिथ्याकार प्रतिक्रमण।
९२१-२८. भय के सात प्रकार एवं उनके प्रायश्चित्त।
९२९. वियोग में शोक करने पर मिथ्याकार प्रतिक्रमण।
९३०. बकुश के पांच प्रकार।
९३१. कंदर्प आदि में वर्तन करने पर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त।
९३२. तीसरे तदुभय प्रायश्चित्त-कथन की प्रतिज्ञा।
९३३. संभ्रम और भय की व्याख्या।
९३४. आतुर कौन?
९३५, ९३६. आपत्ति के चार प्रकार एवं उनकी व्याख्या।
९३७-४१. परवशता के कारण एवं उसके अतिचार।
९४२. पिंडविशोधि आदि में अतिचार लगने पर तदुभय प्रायश्चित्त।
९४३. तदुभय प्रायश्चित्त का स्वरूप।
९४४. आशंका होने पर तदुभय प्रायश्चित्त।
९४५-४८. सूत्र में आए दुश्चिन्तित आदि पदों की व्याख्या।
९४९, ९५०. जीसू १५ में आए शब्दों की व्याख्या।
९५१, ९५२. उपयुक्त होने पर भी कर्मोदय से विराधना।
९५३. दर्शन आदि में अतिचार लगने पर तदुभय प्रायश्चित्त।
९५४. विवेक प्रायश्चित्त के कथन की प्रतिज्ञा।
९५५. पिण्ड शब्द का अर्थ।
९५६, ९५७. पिण्ड के भेद-प्रभेद।
९५८. उपधि के प्रकार।
९५९. शय्या की परिभाषा।
९६०. गीतार्थ कौन?
९६१, ९६२. अशुद्ध आहार ग्रहण करने पर शुद्धि का विवेक।
९६३. कालातीत आहार का स्वरूप।
९६४-६६. अध्वातीत आहार का विवेचन।

९६७-६९. सूर्योदय और सूर्यास्त से सम्बन्धित आहार-विवेक।
९७०, ९७१. ग्लान आदि के लिए आनीत आहार का विवेक।
९७२, ९७३. साधु का गमनागमन विहार।
९७४, ९७५. समिति की विशुद्धि एवं श्रुत हेतु व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त।
९७६, ९७७. दु:स्वप्न आदि की विशोधि में व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त।
९७८. नौका के चार प्रकार।
९७९, ९८०. नदी-संतार के चार प्रकार तथा उनका प्रायश्चित्त।
९८१. भक्त-पान आदि की व्याख्या।
९८२, ९८३. अर्हत् की परिभाषा एवं उसके निरुक्त।
९८४, ९८५. भक्त-पान तथा गमनागमन में २५ श्वासोच्छ्वास का प्रायश्चित्त।
९८६-८८. उच्चार और प्रस्रवण शब्द के निरुक्त तथा इनसे सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
९८९, ९९०. प्राणातिपात और मृषावाद आदि से सम्बन्धित स्वप्न आने पर प्रायश्चित्त।
९९१-९४. उच्छ्वास का प्रमाण तथा प्रतिक्रमण से सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
९९५-३०. ज्ञान से सम्बन्धित अतिचार और प्रायश्चित।
१०३१-३६. आगाढ़ और अनागाढ़ योग की व्याख्या।
१०३७-६८. दर्शनाचार के आठ प्रकार एवं उनसे सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
१०६९-८७. सामान्य जीतव्यवहार से सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
१०८८-९४. उद्गम दोष की व्याख्या।
१०९५-९७. उद्गम दोष के सोलह भेद।
१०९८-९५. आधाकर्म की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
११९६-०२. औद्देशिक की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२०३-१५. पूतिकर्म की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२१६-१८. मिश्रजात के भेद एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२१९-२३. स्थापना दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२२४-३७. प्राभृतिका दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२३८-४०. प्रादुष्करण दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२४१-४४. क्रीतकृत दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२४५-४८. प्रामित्य एवं परिवर्तित दोष के भेद एवं उनके प्रायश्चित्त।
१२४९-५७. अभिहृत और उद्भिन्न दोष के भेद एवं उनके प्रायश्चित्त।
१२५८-६९. पिहित दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२७०-७३. मालापहृत दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।

१२७४. आच्छेद्य दोष के भेद एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२७५-८२. अनिसृष्ट दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२८३-८६. अध्वतर दोष के भेद एवं उसके प्रायश्चित्त।
१२८७-०४. कोटि की परिभाषा एवं उसके भेद-प्रभेद।
१३०५-१२. आहार से सम्बन्धित द्रव्य, क्षेत्र आदि का विवेक।
१३१३. उद्गम दोष गृहस्थ से तथा उत्पादन दोष साधु से सम्बन्धित।
१३१४-१८. उत्पादन के निक्षेप एवं उसकी व्याख्या।
१३१९, १३२०. उत्पादना के सोलह दोष।
१३२१-२४. धात्रीपिण्ड की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१३२५-४०. दूतीपिण्ड की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१३४१-४९. निमित्तपिण्ड की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१३५०-६१. आजीवनापिण्ड की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१३६२-८३. वनीपकपिण्ड की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१३८४-९३. चिकित्सापिण्ड की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१३९४-९७. क्रोधपिण्ड एवं मानपिण्ड की व्याख्या एवं उनके कथानक।
१३९८-११. मायापिण्ड में आषाढ़भूति का कथानक।
१४१२-१७. लोभपिण्ड में सिंहकेशरक क्षपक का कथानक।
१४१८-२०. क्रोधपिण्ड आदि का प्रायश्चित्त।
१४२१-३६. संस्तवपिण्ड की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१४३७. विद्यापिण्ड और मंत्रपिण्ड का प्रायश्चित्त।
१४३८. विद्या और मंत्र में अंतर।
१४३९-४३. विद्यापिण्ड में भिक्षु उपासक का कथानक।
१४४४-४७. मंत्रपिण्ड में पादलिप्त और मुरुण्ड राजा का कथानक।
१४४८-५७. चूर्णपिण्ड में चाणक्य एवं क्षुल्लकद्वय का कथानक।
१४५८-६७. योगपिण्ड में आर्य समित और ब्रह्म-द्वीपवासी तापस का कथानक।
१४६८-७०. मूलकर्म के भेद एवं उनके प्रायश्चित्त।
१४७१-७६. ग्रहणैषणा के भेद एवं दोष।
१४७७-८९. शंकित दोष की व्याख्या।
१४९०-११. म्रक्षित दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१५१२-४५. निक्षिप्त दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१५४६-५६. पिहित दोष के प्रायश्चित्त।

१५५७-६८. संहृत दोष के प्रायश्चित्त।
१५६९-८१. वर्जनीय दायक एवं उनके प्रायश्चित्त।
१५८२-८६. उन्मिश्र दोष की व्याख्या।
१५८७-९३. अपरिणत दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१५९४-९९. लिप्त दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१६००-०४. छर्दित दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१६०५-१०. ग्रासैषणा के निक्षेप एवं उसके भेद-प्रभेद।
१६११-२०. संयोजना दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१६२१-४२. प्रमाण दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१६४३-४८. अंगार दोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१६४९-५४. धूमदोष की व्याख्या एवं उसके प्रायश्चित्त।
१६५५-७०. कारण दोष एवं उसकी व्याख्या।
१६७१-७४. पिण्डैषणा के ४६ दोषों से शुद्ध भिक्षा का निर्देश।
१६७५-२१. भिक्षाचर्या के दोषों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
१७२२-२६. धावण, क्रीड़ा आदि करने पर प्रायश्चित्त।
१७२७-३१. उपधि के जघन्य, मध्यम आदि तीन भेद।
१७३२-४१. उपधि के गिरने, विस्मृत आदि होने पर प्रायश्चित्त।
१७४२-६९. जीतव्यवहार से सम्बन्धित अन्य प्रायश्चित्त।
१७७०. पुस्तक पंचक और तृण पंचक के प्रकार।
१७७१, १७७२. अप्रतिलेखित दूष्य पंचक।
१७७३, १७७४. चर्म पञ्चक के नाम।
१७७५. स्थापना कुल में बिना आज्ञा जाने पर प्रायश्चित्त।
१७७६. वीर्य और गूहन शब्द के एकार्थक।
१७७७-१४. जीतव्यवहार से सम्बन्धित अन्य प्रायश्चित्त।
१८१५-२१. द्रव्य के आधार पर प्रायश्चित्त-दान।
१८२२-२५. क्षेत्र के प्रकार एवं उसके आधार पर प्रायश्चित्त-दान।
१८२६-३०. काल के भेद एवं उसके आधार पर प्रायश्चित्त-दान।
१८३१-३५. नवविध व्यवहार की व्याख्या।
१९३६-३८. भाव के आधार पर प्रायश्चित्त-दान।
१९३९. पुरुष के आधार पर प्रायश्चित्त में अल्पता या अधिकता।
१९४०, १९४१. पुरुषों के विविध प्रकार।
१९४२-५९. परिणामक, अतिपरिणामक आदि शिष्यों की परीक्षा।

१९६०, १९६१. धृति और बल के आधार पर पुरुषों की चतुर्भंगी।
१९६२-६६. आत्मतर, परतर आदि पुरुषों के पांच प्रकार।
१९६७. कल्पस्थित, परिणत आदि पुरुषों के आठ भेद।
१९६८. स्थिति के एकार्थक।
१९६९. छह प्रकार की कल्पस्थिति।
१९७०-७५. स्थितकल्प एवं अनवस्थितकल्प के भेद।
१९७६-९१. आचेलक्य की व्याख्या।
१९९२, १९९३. औद्देशिक की व्याख्या।
१९९४-९७. शय्यातरपिण्ड की व्याख्या।
१९९८-१४. राजपिण्ड की व्याख्या।
२०१५-१८. कृतिकर्म की व्याख्या।
२०१९-२४. पंचयाम और चातुर्याम की व्याख्या।
२०२५-५०. पुरुषज्येष्ठ की व्याख्या।
२०५१-५७. प्रतिक्रमण की व्याख्या।
२०५८-९४. मासकल्प की व्याख्या।
२०९५. स्थविरकल्प के दो प्रकार।
२०९६-११. पर्युषणाकल्प की व्याख्या।
२११२-५८. परिहारविशुद्धिकल्प का विवेचन।
२१५९-८०. जिनकल्प का विवेचन।
२१८१-९४. स्थविरकल्प की व्याख्या।
२१९५-९७. कल्पस्थित आदि को सापेक्ष प्रायश्चित्त-दान का निर्देश।
२१९८-६४. भिक्षुओं के अनेक प्रकार और उनके प्रति जीतव्यवहार।
२२६५-७२. प्रतिसेवना की व्याख्या एवं प्रायश्चित्त।
२२७३-७७. परिणाम के आधार पर प्रायश्चित्त।
२२७८-८१. वैयावृत्यकर्ता मुनि के प्रायश्चित्त में अंतर।
२२८२-८९. छेदार्ह प्रायश्चित्त की व्याख्या।
२२९०-०२. मूलार्ह प्रायश्चित्त की व्याख्या।
२३०३-०५. अनवस्थाप्य के दो भेद एवं उनकी व्याख्या।
२३०६. प्रद्विष्ट चित्त कौन?
२३०७. प्रतिसेवना अनवस्थाप्य के तीन भेद।
२३०८-५०. साधर्मिक स्तैन्य की व्याख्या एवं उससे सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
२३५१-७१. अन्यधार्मिक स्तैन्य की व्याख्या एवं उससे सम्बन्धित प्रायश्चित्त।
२३७२-९१. हस्ताल का वर्णन, उसके भेद, अपवाद एवं प्रायश्चित्त।
२३९२-९४. हस्तालम्ब का स्वरूप।
२३९५. हस्तादान की व्याख्या।
२३९६-०५. हस्तादान में दो वणिक् की कथा।
२४०६-१५. हस्तादान करने वाले की उपस्थापना एवं प्रायश्चित्त।
२४१६-२३. अनवस्थाप्य एवं पाराञ्चित में पुरुष भेद से भजना।
२४२४-२९. अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के भेद एवं व्याख्या।
२४३०-६४. पारिहारिक का विवेचन।

| | |
|---|---|
| २४६५-७८. | तीर्थंकर, प्रवचन आदि की आशातना करने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त की प्राप्ति। |
| २४७९, २४८०. | पाराञ्चित के तीन प्रकार। |
| २४८१. | दुष्ट पाराञ्चित के दो भेद। |
| २४८२-८९. | स्वपक्ष-स्वपक्ष में कषाय दुष्ट के चार दृष्टान्त। |
| २४९०-९४. | आचार्य के लिए आहार से सम्बन्धित विशेष निर्देश। |
| २४९५-९७. | मंडलि-पात्र में डाला जाने वाला आहार। |
| २४९८-२५००. | परपक्ष में कषाय दुष्ट के उदाहरण। |
| २५०१-०६. | परपक्ष-परपक्ष के प्रकार एवं उसके प्रायश्चित्त। |
| २५०७-२४. | विषय दुष्ट की चतुर्भंगी, उसकी व्याख्या एवं प्रायश्चित्त। |
| २५२५, २५२६. | प्रमाद के पांच प्रकार। |
| २५२७-३६. | स्त्यानर्द्धि निद्रा के पुद्गल आदि पांच उदाहरण एवं उनके प्रायश्चित्त। |
| २५३७-४१. | अन्योन्य (गुदा-संभोग) प्रतिसेवक को पाराञ्चित प्रायश्चित्त। |
| २५४२. | अनवस्थाप्य के दो प्रकार। |
| २५४३-४७. | दुष्ट आदि तीन प्रकार के पाराञ्चित तथा उनकी क्षेत्र और लिंग के आधार पर व्याख्या। |
| २५४८. | तप पाराञ्चित किसको? |
| २५४९-५२. | पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त कर्ता की योग्यता। |
| २५५३-५५. | पाराञ्चित प्रायश्चित्त का कालमान। |
| २५५६-६४. | पाराञ्चित तप वहनकर्ता के प्रति आचार्य का कर्त्तव्य। |
| २५६५-७५. | लब्धिधारी पाराञ्चित के द्वारा की जाने वाली संघीय-सेवा। |
| २५७६-८७. | संघ-सेवा से उसके प्रायश्चित्त-काल में कमी या प्रायश्चित्त-मुक्ति। |
| २५८८, २५८९. | आचार्य भद्रबाहु के बाद अनवस्थाप्य और पाराञ्चित प्रायश्चित्त का विच्छेद। |
| २५९०-९४. | जीतकल्प की व्याख्या। |
| २५९५-०१. | जीतकल्प प्रायश्चित्त के पात्र। |
| २६०२-०५. | अपात्र को वाचना देने का निषेध। |
| २६०६-०८. | जीतकल्प का महत्त्व। |

# जीतकल्प सभाष्य

**कयपवयणप्पणामो, वोच्छं पच्छित्त-दाणसंखेवं।**
**जीयव्ववहारगतं, जीवस्स विसोहणं परमं॥ १॥**

१. पवयण दुवालसंगं, सामाइयमादि बिंदुसारंतं।
अहव चउव्विध संघो, जत्थेव पतिट्ठियं नाणं॥

२. अहवा पगतपसत्थं, पहाणवयणं व पवयणं तेण।
अहव[1] पवत्तयतीई, नाणादी पवयणं तेणं॥

३. जीवादिपयत्था वा, उवदंसिज्जंति जत्थ संपुण्णा।
सो उवदेसो पवयण, तम्मि करेत्ता णमोक्कारं॥

४. वोच्छं वक्खामि त्ती, पच्छित्तं दसह एय उवरिं तु।
वण्णेहामि सवित्थर, किं भणितं होति पच्छित्तं?॥

५. पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं ति भण्णते तेणं।
पायेण वावि चित्तं[2], सोहयती[3] तेण पच्छित्तं[4]॥

६. पणगादी आवत्ती, णिव्विगतियमादि[5] एत्थ दाणं तु।
संखेव[6] समासो त्ति व, ओहो त्ति व होंति एगट्ठा॥

७. किं अत्थी अण्णे वी, ववहारा जेण जीतगहणं तु?।
भण्णति चउरऽत्थऽण्णे, आगममादी इमे सुणसु॥

८. पंचविधो ववहारो, दुग्गतिभवमूरगेहिं[7] पण्णत्तो।
आगम सुत आणा धारणा य जीते य पंचमगे॥

९. आगमतो ववहारो, सुणह जहा धीरपुरिसपण्णत्तो।
पच्चक्खो य परोक्खो, सो वि य दुविधो मुणेतव्वो[8]॥

---

१. अहवा (पा)।
२. चित्त इति जीवस्याख्येति (व्यमटी)।
३. विसोहए (व्य ३५)।
४. पंचा १६/३।
५. °गईय° (ला)।
६. संखेवो (पा)।
७. °वचूरगेहि (व्य ४०२८)।
८. व्य ४०२९।

१०. पच्चक्खो वि य दुविधो, इंदियजो चेव नोयइंदियजो।
इंदियपच्चक्खो 'वि य, पंचसु[1] विसएसु णातव्वो[2]॥

११. जीवो अक्खो तं पति, जं वट्टति तं तु होति पच्चक्खं।
परतो पुण अक्खस्सा, वट्टंतं[3] होति पारोक्खं[4]॥

१२. असु वावण धाऊओ, अक्खो जीवो उ भण्णते णियमा।
जं वावयए भावे, णाणेणं तेण अक्खो त्ति॥

१३. अस भोयणम्मि अहवा, सव्वद्दव्वाणि भोगमेतस्स।
आगच्छंती जम्हा, पालेति य तेण अक्खो त्ति॥

१४. केसिंचि इंदियाइं, अक्खाइं तदुवलद्धि पच्चक्खं।
तं 'तु ण'[5] जुज्जति जम्हा, अग्गाहगमिंदियं[6] विसए[7]॥

१५. रूवादीविसयाणं, जीवो खलु इंदिएहिँ उवलभगो।
जम्हा मतम्मि जीवे, ण इंदिया उवलभे विसयं॥

१६. तम्हा विसयाणं खलु, अग्गाहगमिंदियं हवइ सिद्धं।
जं इंदिएहिँ नज्जति, तं नाणं लिंगियं होति॥

१७. लिंगं चिंध निमित्तं, कारणमेगट्ठियाइँ एट्ठाइं।
जाणाति इंदिएहिं, जीवो धूमेण अग्गिं व्व॥

१८. एवं खु इंदिएहिं, जं नज्जति लिंगियं तगं नाणं।
तम्हा सिद्धं अक्खो, न इंदिया पंच सोयादी॥

१९. एत पसंगाभिहितं, जहकण्हुइ इंदियाइँ पच्चक्खं।
अहुणा उ इंदिएहिं, णातूणं ववहरे इणमो॥

२०. सोइंदिएण सोउं, तस्स व अण्णस्स वावि पडिसेवं।
चक्खिंदिएण दट्ठुं[8], पडिसेविज्जंतमणयारं॥

२१. धूवादिगंधवासे, मूइंगलियादियं[9] व उद्दवितं।
कंदादि व खज्जंतं, गंधो वि रसो वि तत्थेव॥

---

१. × (ला)।
२. नेय° (व्य ४०३०)।
३. वच्चंतं (पा, ला)।
४. बृ २५।
५. पुण (पा)।
६. °गहिंदियं (पा)।
७. बृ २६, तु. विभा ९१।
८. दट्ठं (ला)।
९. मूतिंग° (मु)।

२२. फासेणऽब्भंगियमादि, फासतो अप्पगासें णाऊणं।
इंदियपच्चक्खेणं, इय णाऊणं ववहरंति॥

२३. नोइंदियपच्चक्खो, ववहारो सो समासतो तिविहो।
ओहि-मणपज्जवे या, केवलणाणे य पच्चक्खे[1]॥

२४. अच्छउ ता ववहारो, ओहीमादीण लक्खणं तिण्हं।
संखेवतो उ एतं[2], अस्सुन्नत्थं इमं वोच्छं॥

२५. तत्थोहिणाण पढमं, सामित्ता कम-विसुद्धिओ होति।
तो तं वोच्छ बहुविहं, केत्तिय भेदा भवे तस्स?॥

२६. संखातीताओ खलु, ओधीनाणस्स सव्वपगडीओ।
काई भवपच्चइया, खओवसमिया य काओ वि[3]॥

२७. किह संखातीताओ, पगडी ओहिस्स? भण्णते जम्हा।
अंगुलअसंखभागा, आरब्भ पदेसवुड्ढीए[4]॥

२८. उक्कोसेण मसंखा, जा लोगा होंति खेत्तमाणेणं[5]।
काले वाऽऽवलियाए, असंखभागाउ[6] आरब्भ॥

२९. *समउत्तरवुड्ढीए*[7], *उक्कोसेणं असंख जाव भवे।*
ओसप्पिणि[8]-उस्सप्पिणिसमयपमाणा भवे पगडी॥

३०. इय होंति असंखाओ, ओहिण्णाणस्स सव्वपगडीओ।
संखातीतग्गहणा, ण केवलं होंत[9]ऽसंखेज्जा॥

३१. ता होंति अणंताओ, पोग्गलकायत्थिकायमहिकिच्च[10]।
संखातीतं ति ततो, असंख अणंता[11] य गहिता हु॥

३२. सो पुण ओही दुविधो, भवपच्चइओ खओवसमिओ य।
देवाण नारगाण य, नियमा भवपच्चओ ओही[12]॥

---

१. व्य ४०३१।
२. एय (पा), वेय (ला)।
३. आवनि २३।
४. °वड्ढीए (पा, ब, ला)।
५. °णेण (ला)।
६. °खभंगाउ (पा), °खवासाउ (ला)।
७. °वड्ढीए (पा, ब, ला)।
८. × (ला)।
९. होंति (ब, मु)।
१०. °किच्चं (ला)।
११. छंद की दृष्टि से यहां 'ऽणंता' पाठ होना चाहिए।
१२. तु. नंदी ७।

३३. उप्पज्जमाणओ खलु, भवपच्चइओ हि जत्तिओ विसओ।
सव्वं तं ओभासति, ण उ वुड्ढी[1] णेव हाणी उ॥

३४. गुणपच्चइओ ओधी, गब्भजमणु-तिरिय-संखमाऊणं।
कम्माण खयोवसमे, तयवरणिज्जाण उप्पज्जे॥

३५. अवधी मज्जायत्थो, परिमितदव्वं तु जाणते तेणं[2]।
मुत्तिमदव्वे विसयो, ण खलु अरूवीसु दव्वेसु॥

३६. अच्चंतमणुवलद्धा, 'वि ओहिणाणस्स'[3] होंति पच्चक्खा।
ओहीणाणपरिणता[4], दव्वा असमत्तपज्जाया॥

३७. तं[5] पुण ओहीणाणं[6], समासतो छव्विधं[7] इमं होति।
अणुगामि अणणुगामी, वड्ढंत य हायमाणं च॥

३८. पडिवाति[8] अपडिवाती, छव्विधमेवं तु होति विण्णेयं।
अणुगामिओ उ दुविधो, अंतगतो चेव मज्झगतो[9]॥

३९. अंतगतो वि य तिविधो, पुरतो तह मग्गतो य पासगतो।
पुरतो पुण अंतगतं, इमं तु वोच्छं समासेणं[10]॥

४०. जह कोई तु मणुस्सो[11], उक्कं चुडुलिं[12] व[13] दीव मणिमादी[14]।
काउं पुरतो गच्छति, पणुल्लयंतो व्व जह पुरिसो[15]॥

४१. मग्गतो अंतगतो ऊ, तह चेव य नवरि मग्गतो काउं।
अणुकड्ढमाणु गच्छति, अंतगतो मग्गतो एस[16]॥

४२. पासगतंऽतगतो ऊ, चुडुलादि तहेव जाव तु मणिं तु।
परिकड्ढमाणु गच्छति, अंतगतं एत तिह भणितं[17]॥

४३. से किं मज्झगतो? तं, जह पुरिसो कोइ चुडुलिमादीणि।
काउं सिरम्मि गच्छति, मज्झगतो एस ओही तु[18]॥

---

१. वड्ढी (पा, ला)।
२. जेणं (ला, मु)।
३. ओही° (ला, मु)।
४. ओहिण्णाणपरिगया (बृ ३३)।
५. × (ला)।
६. °हीण्णाणं (ला)।
७. च्छव्विहं (पा, ब, ला)।
८. °वाती (ला, ब)।
९. तु. नंदी १०।
१०. तु. नंदी ११।
११. मणूसो (ला)।
१२. चडुलिं (ब)।
१३. च (पा), व्व (ब)।
१४. मणिवादी (पा, ला)।
१५. तु. नंदी १२।
१६. तु. नंदी १३।
१७. तु. नंदी १४।
१८. तु. नंदी १५।

४४. मज्झगतंऽतगतस्स य, ओहिण्णाणस्स को पतिविसेसो?।
पुरतो अंतगतेणं, जोयण[1] संखेज्ज[2]ऽसंखा वा[3]॥

४५. पुरतो जाणति पासति, एस विसेसो उ मज्झअंतगतो।
एवं तु मग्गतो ई[4], पासगतो चेव[5] बोधव्वो॥

४६. अणुगामिओ उ ओही, एमेसो[6] वण्णितो समासेणं।
एत्तो उ अणणुगामी, ओहिण्णाणं इमाऽऽहंसु॥

४७. जह णाम कोइ[7] पुरिसो, एग महं अगणिठाण[8] काउं जे।
तस्सेव य पेरंते, परिघोलणहिंडमाणो[9] तु॥

४८. तं चेव अगणिठाणं[10], तत्थ गतो पासती ण अण्णत्थ।
एवं जत्थुप्पज्जति, तत्थ ठितो जाण पासति वि॥

४९. ण वि जाणति अण्णत्था, संखमसंखे उ जोयणे जो उ।
ओही तु अणणुगामी, समासतो एसमक्खातो॥

५०. अज्झवसाणेहिं पसत्थएहिं सुहवद्धमाणचारित्ते[11]।
उवरुवरिं सुज्झंते, समंततो वड्ढते ओही[12]॥

५१. तत्थ जहण्णादी तू, जाव उ[13] उक्कोस ओहिणाणं तु।
वड्ढंते परिणामे, गाहाहिं इमं तु वोच्छामि॥

५२. जावइया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स[14] पणगजीवस्स।
ओगाहणा जहण्णा, ओहीखेत्तं जहण्णं तु[15]॥

५३. सव्वबहुअगणिजीवा, णिरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु[16]।
खेत्तं सव्वदिसागं, परमोही खेत्तणिद्दिट्ठो[17]॥

---

१. जोयणं (पा)।
२. °ज्जा (पा)।
३. तु. नंदी १६।
४. यी (ब), ई पादपूरण रूप अव्यय है।
५. च्चेव (पा, ला)।
६. इमेसो (ब)।
७. कोइं (पा)।
८. °द्वाण (ला, ब)।
९. °माणं (पा, ब)।
१०. °णिट्ठाणं (ब)।
११. नंदी सूत्र में 'वद्धमाण' के स्थान पर 'वट्टमाण' पाठ मिलता है।
१२. तु. नंदी १८।
१३. य (पा)।
१४. सुहम° (पा, ब, ला)।
१५. आवनि २८, नंदी १८/१, विभा ५८८।
१६. °ज्जंतु (पा, ब)।
१७. आवनि २९, नंदी १८/२, विभा ५९८।

५४. अंगुलमावलियाणं, भागमसंखेज्ज दोसु संखेज्जा।
अंगुलमावलियंतो[1], आवलिया अंगुलपुहत्तं[2]॥

५५. हत्थम्मि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउयम्मि बोद्धव्वो।
जोयण दिवसपुहत्तं, पक्खंतो पण्णवीसाए[3]॥

५६. भरहम्मि अद्धमासो, 'जंबुद्दीवे य'[4] साधिगो मासो।
वासं तु मणुयलोगे, वासपुहत्तं च रुयगम्मि॥

५७. संखेज्जम्मि तु काले, दीव-समुद्दा उ[5] होंति संखेज्जा।
कालम्मि असंखेज्जे, दीव-समुद्दा वि भइयव्वा॥

५८. काले चतुण्ह वुड्ढी[6], कालो भइयव्वु खेत्तवुड्ढीए।
वुड्ढीय[7] दव्व-पज्जव, भइतव्वा खेत्त-काला उ[8]॥

५९. सुहुमो य[9] होति कालो, तत्तो सुहुमतरगं हवति खेत्तं।
अंगुलसेढीमेत्ते, ओसप्पिणीओ असंखेज्जा[10]॥

६०. तिसमयऽऽहारादीणं, गाहाणऽट्ठण्ह वी सरूवं तु।
वित्थरतो वण्णेज्जा, जह[11] हेट्ठाऽऽवस्सगे भणितं॥

६१. एवं तु वड्ढमाणो, ओही उ समासतो समक्खातो।
एत्तो परिहायंतं, ओहीणाणं इमं होति॥

६२. अज्झवसाठाणेहिं, अपसत्थेहिँ[12] वट्टमाणचारित्ते।
संकिस्समाणचित्ते, समंततो हायते ओही[13]॥

६३. पडिवयमाणो ओही, अंगुलभागं तु संखऽसंखं[14] वा।
अंगुलमेव पुहत्तं, हत्थ धणू जोयणे तह य॥

६४. जोयणसयं सहस्सं, संखमसंखा व जाव लोगं तु।
पासित्ताण पडेज्जा, ओहीणाणेद पडिवाती[15]॥

---

१. अंगुलि° (ब)।
२. आवनि ३०, नंदी १८/३, विभा ६०८।
३. पण्णु° (ला, ब), आवनि ३१, नंदी १८/४, विभा ६०९।
४. °दीवम्मि (आवनि ३२, विभा ६१०, नंदी १८/५), जंबूदी° (पा)।
५. वि (पा, ब, नंदी १८/६, आवनि ३३, विभा ६१५)।
६. वड्ढी (ला)।
७. × (ला)।
८. आवनि ३४, नंदी १८/७, विभा ६१७।
९. × (पा)।
१०. नंदी १८/८, आवनि ३५, विभा ६२१।
११. जहा (पा)।
१२. अप्प° (ब)।
१३. तु. नंदी १९।
१४. × (पा, ला)।
१५. परिवा° (पा, ब, ला), तु. नंदी २०।

६५. से किं अप्पडिवातिं, ओहिण्णाणं तु? जो अलोगस्स।
आगासपदेसं तू, एगमवी पासती जाव॥

६६. असंखेज्जाइँ अलोगे, पमाणमेत्ताइँ लोगखंडाइं।
जाणति पासति य तहा, खेत्तोही एसमक्खातो[1]॥

६७. एसो अप्पडिवाई[2], ओही तु समासतो समक्खातो।
सव्वं पेतं चउहा, दव्वादि समासतो वोच्छं॥

६८. रूवीदव्वे विसओ, दव्वोही खेत्ततो इमाऽऽहंसु।
अंगुलअसंखभागं, उक्कोसेणं इमं वोच्छं॥

६९. असंखेज्जाइँ अलोगे, पमाणमेत्ताइँ लोगखंडाइं।
जाणति पासति य तहा, खेत्तोही एसमक्खातो॥

७०. कालतों ओहिण्णाणी, असंखभागं तु आवलीए उ।
सव्वजहण्णं जाणति, पासति या सो उ नियमेणं॥

७१. उस्सप्पिणि-ओसप्पिणिकालमतीतं अणागतं चेव।
उक्कोसेण वि जाणति, पासति या एस कालोही॥

७२. भावतो ओहिण्णाणी, अणंतभावे[3] अणंतभागं च।
जाणति पासति य तहा, भावोही एसमक्खातो॥

७३. ओही भवपच्चइओ, खओवसमिओ य वण्णितो दुविधो।
तस्स उ बहू विगप्पा, दव्वे खेत्ते य कालादी[4]॥

७४. तं मणपज्जवणाणं, दुविधं तु समासतो समक्खातं।
उज्जुमती विमलमती, दव्वादि चउव्विहेक्केक्कं[5]॥

७५. दव्वओं उज्जुमती तू, अणंतपदेसे अणंतखंधा ऊ।
जाणति पासति ते च्चिय, वितिमिरसुद्धे तु विउलमती॥

---

१. यह गाथा सभी हस्तप्रतियों में इसी क्रम में मिलती है। ६६ वीं गाथा ६९ वीं गाथा की संवादी है अत: इस क्रम में यह गाथा नहीं होनी चाहिए। विषय की दृष्टि से भी ६५ वीं गाथा ६७ वीं गाथा से सम्बद्ध है। ग्रंथकार ने ६७ वीं गाथा में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अवधि का संकेत दिया है। ६९ वीं गाथा में क्षेत्र अवधि का वर्णन है अत: यह गाथा पुनरुक्त सी प्रतीत होती है लेकिन यहां संभावना यह की जा सकती है कि ६६ वीं गाथा में अप्रतिपाती अवधि का क्षेत्र की दृष्टि से वर्णन किया है तथा ६९ वीं गाथा में सामान्य अवधिज्ञान का क्षेत्रत: उत्कृष्ट अवधि का वर्णन है अत: इसे भाष्यगाथा के क्रम में रखा है।

२. °वादी (पा, ब, ला)।

३. °भागे (पा, ब)।

४. नंदी २२/१।

५. नंदी २३।

७६. खेत्ततो उज्जुमती तू, ऽहे लोगे जाव रतणपुढवीए।
जाणति पासति उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डुपतरे तु॥

७७. एते च्चिय अब्भहिते, विउलतराए उ मुणति पासति य।
सुद्धवितिमिरतराए, विउलमती उज्जुमतिणो उ॥

७८. उज्जुमती उड्ढे ऊ, जोतिसियाणं तु जाव सव्वुवरिं।
जाणति पासति ते च्चिय, वितिमिरसुद्धे तु विउलमती॥

७९. तिरियं उज्जुमती तू, उदधिदुगे तह य दीव अड्ढहिए[1]।
पंचिंदियजीवाणं, सण्णीपज्जत्तगाणं तु॥

८०. भावे मणोगिहगते, सव्वे जाणति मणिज्जमाणे तु।
ते चेव य विमलतरे, वितिमिरसुद्धे तु विउलमती॥

८१. णवर विसेसो तु इमो, अड्ढाइयअंगुलेहिं[2] खेत्तं तु।
तिरि-उड्ढमहे अहियं, वितिमिरसुद्धं तु विउलमती॥

८२. कालतो उज्जुमती तू[3], जहण्ण-उक्कोसगे वि पलियस्स।
भागमसंखेज्जइमं, अतीत एस्से व कालदुगे॥

८३. जाणति पासति ते तू, मणिज्जमाणे उ सण्णिजीवाणं।
ते चेव य विउलमती, वितिमिरसुद्धे तु जाणति उ[4]॥

८४. भावतो उज्जुमती ऊ, अणंतभावे उ[5] मुणति पासति य।
सव्वेसिं भावाणं, ते नवरमणंतभागे उ॥

८५. ते सव्वे विउलमती, विसुद्धतर-वितिमिरे तु भावतया।
जाणति पासति य तहा, मणपज्जवणाण चउभेदं॥

८६. तं मणपज्जवणाणं, जेण विजाणाति सण्णिजीवाणं।
दट्ठुं मणिज्जमाणे, मणदव्वे माणसं भावं[6]॥

---

१. °हीए (पा, ब)।
२. °इयं अंगु° (पा)।
३. तु (मु)।
४. य (ब)।
५. च (पा)।
६. बृ ३५।

८७. जाणति पिहुज्जणो[1] वि हु, फुडमागारेहि माणसं भावं।
एसुवमा तस्स भवे, मणदव्वपगासिते अत्थे॥

८८. मणपज्जवणाणं पुण, जणमणपरिचिंतितत्थपागडणं।
माणुसखेत्तणिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवतो[2]॥

८९. उज्जुमती[3] विउलमती, जे वट्टंती सुतंगवी धीरा।
मणपज्जवणाणत्थे, जाणसु ववहारसोधिकरे[4]॥

९०. पंकसलिले पसादो, जह होति कमेण तह इमो जीवो।
आवरणे झिज्जंते, विसुज्झती[5] केवलं जाव॥

९१. केवल[6] संभिण्णं तू, लोगमलोगं तु पासती नियमा।
तं नत्थि जं ण पासति, भूतं भव्वं भविस्सं च॥

९२. सव्वेहि जियपदेसेहिं, जुगवं जाणति पासती[7]।
दंसणेण य णाणेणं, पदीवो अब्भयस्स वा[8]॥

९३. अंबरे[9] व कतो संतो, तं सव्वं तु[10] पगासती।
एवं[11] उवणओ होति, संभिण्णं तु जं वयं॥

९४. तं च लोगमलोगं[12] च, सव्वतो पुव्वमादिसु।
सव्वं सव्वे तु जे भावा, दव्वतो खेत्त-कालतो॥

९५. भावतो चेव जे भावा, णत्थि जे तु ण पासती।
अभावा णत्थि ताए तु, जाणती पासती वि य॥

९६. अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमव्वाबाहं[13], एगविहं 'केवलं नाणं'[14]॥

९७. सव्वं णेयं चतुहा, एतस्स परूवणट्ठयाए तु।
गाहासुत्तं वुत्तं, अह त्ति जं वण्णितं हेट्ठा॥

---

१. य पिहुजणो (बृ ३६)।
२. नंदी २५/१, आवनि ७३, विभा ८१०।
३. °मति (पा, ब, ला)।
४. व्य ४०३३।
५. °ज्झति (मु, ब, ला), °ज्झए (बृ ३७)।
६. केवलं (ला)।
७. पासति (पा)।
८. गाथा ९२ से ९५ तक चार गाथाओं में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है।
९. संबरे (ब)।
१०. तू (ब)।
११. एवं तु (ब, ला)।
१२. लोगं अ° (ब, ला), × (पा)।
१३. °मप्पडिवाई (आवनि ७४, नंदी ३३/१)।
१४. °लण्णाणं (मु)।

९८. भिण्णग्गहणं खलु कालतो तु सो घेप्पती तु एतेसिं।
दव्वादीण चउण्हं, परिणामो पज्जया जाणे॥

९९. जीवाण अजीवाण य, उप्पाद-व्वय-धुवत्तपज्जाया।
परपच्चएण तिण्हं, धम्मादीयाण परिणामो॥

१००. गति-ठिति[1]-अवगाहेहिं, संजोग-विओगओ य सो होति।
ओदइयादीयाणं, परिणामो होति भावाणं॥

१०१. एतेसिं चिय दव्वादियाण कालो तु होति परिणामो।
कालं पति[2] पतिसुहुमादिएसु वण्णादिपरिणामो॥

१०२. दव्वादीपरिणामं, सव्वं जाणाति केवली अहिलं[3]।
किं भवती परिणामो?, एतस्स उ कारणं इणमो॥

१०३. वीससपयोग अब्भाइयाण खंधाण वीससुप्पाओ[4]।
पण्णरसहा पयोगो, तिविधे कालम्मि परिणामो॥

१०४. जो केवली मणूसो, ण सो तु बाहं करेऽण्णसत्ताणं।
नियमेण अणाबाहं[5], पावति मोक्खं खवियसेसं[6]॥

१०५. 'जं छउमत्थियणाणं[7], केवलिणो ण खलु विज्जते तं तु।
जम्हा खयोवसमिए, वट्टंते छाउमत्था उ॥

१०६. भावे केवलणाणं, वट्टति[8] णियमेण खाइए णिच्चं।
न उ अक्खीणे मीसे, खाइयभावस्स उप्पत्ती॥

१०७. तम्हा एगविधं खलु, केवलणाणं तु होति उववण्णं।
जेणाऽऽह केवलम्मि वि[9], छउण्णाणा मोहया तेसिं॥

१०८. आदिगरा धम्माणं, चरित्त-वरणाण-दंसणसमग्गा।
सव्वत्तगणाणेणं, ववहारं ववहरंति जिणा[10]॥

---

१. ट्ठिति (पा, ब)।
२. × (ला)।
३. अखिलं (पा, ब, ला)।
४. वीसमु° (पा, ब)।
५. अण° (पा, ला)।
६. °सेसा (ला)।
७. जञ्छउ° (ब)।
८. वट्टंति (पा)।
९. × (मु)।
१०. व्य ४०३४।

१०९. पच्चक्खव्ववहारी, इंदिय-नोइंदिएसु वक्खातो।
आगमतो[१] ववहारी, पारोक्खं तू इमं वोच्छं॥

११०. पच्चक्खागमसरिसो, होति परोक्खो वि आगमो जस्स।
'चंदमुहीव तु'[२] सो वि हु[३], आगमववहारवं होति॥

१११. णातं आगमितं ति य, एगट्ठं जस्स सो परायत्तो।
सो पारोक्खो वुच्चति, तस्स पदेसा इमे होंति[४]॥

११२. पारोक्खं ववहारं, आगमतो सुतधरा ववहरंति।
चोद्दस[५]-दसपुव्वधरा, नवपुव्विय गंधहत्थी य[६]॥

११३. किह आगमववहारी?, जम्हा जीवादओ 'णव पदत्था'[७]।
उवलद्धा तेहिं तू, सव्वेहिं नयविगप्पेहिं॥

११४. जह केवली वियाणति[८], दव्वं खेत्तं च[९] काल भावं च।
तह चउलक्खणमेतं, सुतणाणी वी विजाणाति॥

११५. पणगं मासविवड्ढी[१०], मासिगहाणी य पणगहाणी य।
एगाहे पंचाहं, पंचाहे चेव एगाहं[११]॥

११६. राग-दोसविवड्ढिं, हाणिं वा णातु देति पच्चक्खी।
चोद्दसपुव्वादी वि हु, तह णाउं देंति हीणऽधिगं[१२]॥

११७. चोदगपुच्छा पच्चक्खणाणिणो थोवें[१३] कह बहुं देंति?
भण्णति सुणसू एत्थं, दिट्ठंतं वाणिएण इमं[१४]॥

११८. जं जह मोल्लं रयणं, तं जाणति रयणवाणिओ णिउणो।
थोवं तु महल्लस्स वि, कासति अप्पस्स वि बहुं तु[१५]॥

११९. अहवा वि कायमणिणो[१६], सुमहल्लस्सावि[१७] कागिणीमोल्लं।
वइरस्स तु अप्पस्स वि, मोल्लं होती सतसहस्सं॥

---

१. °मजो (पा, ब, ला)।
२. °हो विव (पा, व्य ४०३५)।
३. य (ब)।
४. व्य ४०३६।
५. चोदस (ब, ला)।
६. व्य ४०३७।
७. पयत्था उ (व्य ४०३८)।
८. वि जाणति (व्य ४०३९)।
९. × (पा)।
१०. °वड्ढिं (पा, ब, ला)।
११. व्य ४०४०।
१२. व्य ४०४१।
१३. थेवे वि (ला, मु)।
१४. इस गाथा का उत्तरार्ध (व्य ४०४२) में इस प्रकार है—
दिट्ठंतो वाणियए, जिणचोद्दसपुव्विए धमए।
१५. व्य ४०४३।
१६. °मणिस्स उ (व्य ४०४४)।
१७. °स्स वि उ (व्य)।

१२०. इय मासाण बहूण वि, राग-दोसऽप्पयाए थोवं तु।
रागद्दोसोवचया, पणगे वि जिणा बहुं देंति[1]॥

१२१. पच्चक्खी पच्चक्खं, पासति पडिसेवगस्स सो भावं।
किह जाणति पारोक्खी?, णातमिणं तत्थ धमएणं[2]॥

१२२. नालीधमएण जिणा, उवसंधारं[3] करेंति पारोक्खे।
जह सो कालं जाणति, सुतेण सोहिं तहा सोउं॥

१२३. जेणं[4] जीवा-ऽजीवा, उवलद्धा सव्वभावपरिणामा।
तो पुव्वधरा सोहिं, कुव्वंति सुतोवदेसेणं[5]॥

१२४. तं पुण केण कतं तू, सुतणाणं जेण जीवमादीया।
नज्जंति सव्वभावा?, केवलणाणीण तं तु कतं[6]॥

१२५. संते वि आगमम्मी[7], जाहे आलोइयं तु तेण भवे।
सम्मं नाऽऽलोएती, पडिवज्जति सारिओ जइया॥

१२६. तो तस्स उ पच्छित्तं, जेण विसुज्झति तगं पयच्छंति।
आगमववहारी छव्विधो वि पलिउंचिएँ ण देति॥

१२७. आलोइय-पडिकंते[8], होति[9] आलोयणा[10] तु णियमेणं।
अणालोइयम्मि[11] भयणा, किह पुण भयणा[12] भवति तस्स?॥

१२८. आलोयणापरिणतो, अंतर कालं करे अभिमुहो वा।
अहवा वी आयरिओ, एमेव य होति संपत्तो[13]॥

१२९. आराहओ तु तह वी, जं सम्मालोयणापरिणतो तु।
नाराहेति अपरिणतो, एवं भयणा भवति एसा॥

१३०. अवराहं वियाणंति, तस्स सोधिं व जद्दवी।
तहेवाऽऽलोयणा वुत्ता, आलोयंते बहू गुणा[14]॥

---

१. व्य ४०४५।
२. व्य ४०४६।
३. °संहारं (व्य ४०४७)।
४. जेसिं (व्य)।
५. व्य (४०४८) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
सव्वाहि नयविधीहिं, केण कतं आगमेण कयं।
६. व्य ४०४९।
७. °म्मिं (ला, ब)।
८. पडिकंतस्स (व्य ४०५२)।
९. होती (मु)।
१०. आराधणा (व्य)।
११. °लोयम्मि (व्य)।
१२. × (पा)।
१३. संपत्ते (ब)।
१४. व्य ४०५४।

१३१. दव्वेहिं पज्जवेहि य, कम खेत्ते काल-भावपरिसुद्धं।
आलोयणं सुणेत्ता, तो ववहारं पउंजंति[1]॥

१३२. दव्वे सच्चित्तादी, पज्जव दव्वा बहूविगप्पेहिं।
पुव्वाणुपुव्विमादी, कमओ एवं तु आलोए॥

१३३. अद्धाण जणवदे वा, खेत्ते काले सुभिक्ख-दुब्भिक्खे।
भावे हट्ठ-गिलाणे, सेविय जह तं तहाऽऽलोए॥

१३४. 'अहवा सहसऽण्णाणा[2], भीतेण व पेल्लितेण व परेहिं[3]।
वसणेण पमादेण व, मूढेण व राग-दोसेहिं॥

१३५. पुव्वं अपासिऊणं, छूढे पादम्मि जं पुणो पासे।
ण य तरति णियत्तेउं, पादं सहसाकरणमेतं[4]॥

१३६. अण्णतरपमादेणं, असंपउत्तस्स णोवउत्तस्स।
इरियादिसु[5] भूतत्थे, अवट्टतो एतदण्णाणं[6]॥

१३७. भीतो पलायमाणो, अभियोगभएण वावि जं कुज्जा।
पडितो व अपडितो वा, पेल्लिज्जा[7] पेल्लितो पाणे॥

१३८. जूतादि[8] होति वसणं, पंचविधो खलु भवे पमादो उ।
'मिच्छत्तभावणा तू[9], मोहो तह[10] राग-दोसा ऊ॥

१३९. एतेसिं ठाणाणं[11], अण्णतरे कारणे समुप्पण्णे।
तो आगमवीमंसं, करेंति अत्ता तदुभएणं[12]॥

१४०. जदि आगमो य आलोयणा य दोण्णि वि समं तु निवतंति[13]।
एसा खलु वीमंसा, जो असहू[14] जेण वा सुज्झे॥

१४१. नाणमादीणि अत्ताणि[15], जेण अत्तो उ सो भवे।
रागद्दोसप्पहीणे वा, जे व इट्ठा विसोहिए[16]॥

---

१. पउंज्जंति (ब, ला), व्य ४०५५।
२. सहसा अण्णाणेण व (व्य ४०५६), "सहस्स" (पा, ब)।
३. परेण (व्य)।
४. व्य ४०५७, नि ९७।
५. रीया (नि ९६)।
६. होतणाभोगो (नि), व्य ४०५८।
७. पेलिज्जउ (व्य ४०५९)।
८. गीतादि (ब, ला)।
९. "णाओ (व्य ४०६०)।
१०. तहा (पा, ला)।
११. ट्ठाणाणं (ब, ला)।
१२. व्य ४०६१।
१३. निवयंतो (व्य ४०६२)।
१४. वऽसहू (व्य)।
१५. अण्णाणि (ब, ला, मु)।
१६. व्य ४०६३।

१४२. सुत्तं अत्थे उभयं, आलोयण आगमो 'व इति'[१] उभयं।
जं तदुभयं ति वुत्तं, तत्थेसा[२] होति परिभासा॥

१४३. पडिसेवणातियारे, जदि नाऽऽउट्टति जहक्कमं सव्वे।
ण हु देंती[३] पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स[४]॥

१४४. पडिसेवणातियारे, जदि आउट्टति जहक्कमं सव्वे।
देंति[५] तओ पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स[६]॥

१४५. कहेहि सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणो वि गूहति।
ण तस्स देंति पच्छित्तं, बेंति[७] अण्णत्थ सोहय[८]॥

१४६. ण संभरति जो दोसे, सब्भावा ण य मायया।
पच्चक्खी साहते ते उ, माइणो उ ण साहती[९]॥

१४७. जइ आगमो य आलोयणा य दोण्णि[१०] वि समं ण णिवइयाइं[११]।
ण हु 'देंति उ'[१२] पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स॥

१४८. जइ आगमो य आलोयणा य दोण्णि[१३] वि समं णिवइयाइं[१४]।
देंति ततो पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स॥

१४९. को पुण पायच्छित्ते, दातव्वे अणरिहो 'व अरिहो वा?।
भण्णति इणमो सुणसू, अरिहो जो वा अणरिहो उ'[१५]॥

१५०. अट्ठारसेहिं[१६] ठाणेहिं, जो होति ऽपरिणिट्ठितो[१७]।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

१५१. अट्ठारसेहिं ठाणेहिं, जो होती[१८] सुपरिट्ठितो[१९]।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

---

१. इती (ब, पा, मु)।
२. तत्थ इमा (व्य ४०६४)।
३. देती (ला)।
४. व्य ४०६५।
५. देती (पा, ला)।
६. व्य ४०६५/१।
७. बेति (ला)।
८. व्य ४०६६, १४५ और १४६ गाथा में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है।
९. साधए (व्य ४०६७)।
१०. दोण्हि (पा, ब, ला)।
११. निवडियाइं (व्य)।
१२. देंती (व्य ४०६८)।
१३. दोण्हि (पा, ब, ला)।
१४. निवडियाइं (व्य ४०६९)।
१५. × (पा)।
१६. °रसहि (ब) सर्वत्र।
१७. अप° (व्य ४०७०)।
१८. होति (पा, मु)।
१९. परिणिट्ठितो (व्य ४०७१)।

१५२. अट्ठारसेहिं ठाणेहिं, जो होती[१] अपतिट्ठितो[२]।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए[३]॥

१५३. 'अट्ठारसेहिं ठाणेहिं'[४], जो होति[५] सुपतिट्ठितो[६]।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए[७]॥

१५४. वयछक्ककायछक्कं, अकप्प गिहिभायणं[८] च पलियंको।
गोयर-णिसेज्ज-ण्हाणे, भूसा अट्ठारठाणेते[९]॥

१५५. परिणिट्ठित परिण्णात[१०], पतिट्ठितो जो ठितो[११] उ तेसु भवे।
'अविदू सोहि[१२] ण जाणति, अठितो पुण अण्णहा कुज्जा॥

१५६. बत्तीसाए 'तु ठाणेहिं'[१३], जो होतऽपरिणिट्ठितो।
नलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

१५७. बत्तीसाए तु ठाणेहिं, जो होति परिणिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए[१४]॥

१५८. बत्तीसाए तु ठाणेहिं, जो होती अपतिट्ठितो।
णलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए[१५]॥

१५९. बत्तीसाए 'तु ठाणेहिं'[१६], जो होति सुपतिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए[१७]॥

१६०. अट्ठविधा गणिसंपद, एक्केक्का[१८] चउविहा उ बोद्धव्वा।
एसा खलु बत्तीसा, ते खलु[१९] ठाणा[२०] इमे होंति॥

१६१. आयार-सुत-सरीरे, वयणे वायण मती पओगमती।
एतेसु संपदा खलु, अट्ठमिगा संगहपरिण्णा[२१]॥

---

१. होति (मु)।
२. अपडिट्ठितो (ला)।
३. व्य ४०७२।
४. °रसहि ट्ठाणेहिं (ब)।
५. होती (पा, ब, ला)।
६. सुपरिट्ठितो (पा)।
७. व्य ४०७३।
८. °यणे (व्य)।
९. °रसट्ठाणे (व्य ४०७४)।
१०. °णाता (पा, मु)।
११. ट्ठितो (ब, ला)।
१२. अविदु सोहिं (व्य ४०७५)।
१३. ठाणेसु (व्य ४०७६), सर्वत्र।
१४. व्य ४०७७।
१५. व्य ४०७८।
१६. ठाणेसु (व्य ४०७९)।
१७. पा प्रति में इस गाथा का संकेत मात्र है।
१८. एक्केक्क (ला)।
१९. पुण (व्य ४०८०)।
२०. ट्ठाणा (पा, ब, ला)।
२१. व्य ४०८१, प्रसा ५४२।

१६२. एसा अट्ठविधा खलु, एक्केक्कीए[1] चउव्विधो भेदो।
इणमो उ समासेणं, वोच्छामी[2] आणुपुव्वीए[3]॥

१६३. आयारसंपदाए, संजमधुवजोगजुत्तया पढमा।
बितिय असंपग्गहिता, अणियतवित्ती भवे ततिया[4]॥

१६४. तत्तो य वुड्ढसीले, आयारे संपदा चउद्धेसा[5]।
चरणमिह[6] संजमो तू, तहियं णिच्चं तु उवउत्तो[7]॥

१६५. आयरिओ य[8] बहुस्सुत-तवस्सि-जच्चादिएहि व मदेहिं।
जो होति अणुस्सित्तो, 'सो तु असंपग्गहीउ त्ति'[9]॥

१६६. अणियतचारी[10] अणियतवित्ती 'अगिहो य'[11] होति 'जो अणिसो'[12]।
णिहुयसभाव अचंचल, णातव्वो वुड्ढसीलो त्ति॥

१६७. बहुसुत परिजितसुत्ते[13], विचित्तसुत्ते य होति बोद्धव्वे।
घोसविसुद्धिकरे या[14], चउहा सुतसंपदा होति[15]॥

१६८. बहुसुत जुगप्पहाणो, अब्भंतर बाहिरं 'च बहु जाणे'[16]।
होति चसद्दग्गहणा, चारित्तं पी सुबहुयं तु॥

१६९. सगणामं व परिजितं[17], उक्कम-कमओ बहूहि 'व कमेहिं'[18]।
ससमय-परसमएहिं, उस्सग्ग-ऽववायओ चित्तं[19]॥

१७०. घोसा उदत्तमादी, तेहिँ विसुद्धं तु घोसपरिसुद्धं।
एसा सुतोवसंपद, सरीरसंपदमतो वोच्छं[20]॥

---

१. °क्काए (मु)।
२. वोच्छामि (पा)।
३. अधाणु° (व्य ४०८२)।
४. व्य ४०८३।
५. चउब्भेया (व्य ४०८४)।
६. चरणं तु (व्य)।
७. उ (व्य)।
८. ऽसंपग्गहितो भवे सो उ (व्य ४०८५), पा प्रति में इस गाथा का केवल 'आयरिओ' इतना ही संकेत मात्र मिलता है।
९. × (पा)।
१०. अगिहितो वि (व्य ४०८६)।
११. अणिकेतो (व्य)।
१२. परिचिय° (व्य ४०८७)।
१३. वा (व्य)।
१४. होंति (पा, ला)।
१५. सुतं बहुहा (व्य ४०८८)।
१६. परिचितं (व्य ४०८९)।
१७. विगमेहिं (व्य)।
१८. विचित्तं (पा, ला)।
१९. व्य ४०९०।

१७१. आरोह-परीणाहो, तह य अणोत्तप्पया[1] सरीरस्स[2]।
पडिपुण्णिंदियमादिय[3], संघतणथिरे[4] य बोद्धव्वो॥

१७२. आरोहो दिग्घत्तं, विक्खंभो होति[5] तत्तिओ[6] चेव।
आरोह-परीणाहो, य संपदा एस णातव्वा॥

१७३. तपु लज्जाए धातू, अलज्जणिज्जो[7] अहीणसव्वंगो।
होति अणोत्तप्पो खलु[8], अविकलइंदी तु पडिपुण्णो॥

१७४. पढमादीसंघयणो[9], बलियसरीरो 'थिरो मुणेतव्वो'[10]।
एसा सरीरसंपद, एत्तो वयणम्मि वोच्छामि॥

१७५. आदेज्ज[11] मधुरवयणो, अणिस्सितवयण तहा असंदिद्धो।
आदेज्जगज्झवक्को, अत्थवगाढं भवे मधुरं[12]॥

१७६. अहवा अफरुसवयणो, खीरासवलद्धिमादिजुत्तो[13] वा।
अहवा सूसर-सूहग-गंभीरजुओ महुरवक्को[14]॥

१७७. णिस्सितों कोहादीहिं, रागद्दोसेहि वावि जं वयति।
होति अणिस्सितवयणो, जो वयती एय वतिरित्तं॥

१७८. अव्वत्तं अफुडत्तं[15], अत्थबहुत्ता व होति संदिद्धं[16]।
विवरीतमसंदिद्धं, वयणेसा संपदा चतुधा॥

१७९. वायणभेदा चतुरो, विधिउद्दिसणा[17] 'समुद्दिसणओ य'[18]।
परिणिव्वविया वाए, निज्जवणा चेव अत्थस्स॥

१८०. तेणेव गुणेणं तू, वाएयव्वा परिक्खितुं सीसा।
उद्दिसई विजिणेउं, जं जस्स तु जोग्ग तं तस्स[19]॥

---

१. अणा° (ला)।
२. °रम्मि (व्य ४०९१), °रस्सा (ला)।
३. °पुण्णइंदिएहि य (व्य), परिपु° (मु)।
४. थिरसंघयणो (व्य)।
५. वि जइ (व्य ४०९२)।
६. तित्तिओ (पा, ब)।
७. °णीओ (व्य ४०९३)।
८. सो (व्य)।
९. पढमगसंघयणथिरो (व्य ४०९४)।
१०. य होति नातव्वो (व्य)।
११. आदेज्ज त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादादेयवचन इति (व्यमटी)।
१२. व्य ४०९५।
१३. °वमादिलद्धिजुत्तो (व्य)।
१४. व्य (४०९६), में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
निस्सियकोधादीहिं, अहवा वी रागदोसेहिं।
१५. °डत्थं (पा, ब, व्य ४०९७)।
१६. संतिदुं (पा)।
१७. विजिओद्देसण (व्य ४०९८)।
१८. °णया तु (व्य)।
१९. तस्सा (ला), व्य ४०९९।

१८१. अपरीणामगमादी, वियाणितुमभायणे[१] ण वाएति।
जह आममट्टियघडे, अंबेव ण छुब्भती[२] खीरं॥

१८२. जदि छुब्भती विणस्सति, नस्सति वा एवमपरिणामादी।
णोद्दिस्से[३] छेदसुतं, समुद्दिसे यावि[४] तं चेव॥

१८३. परिणिव्वविया वाए,जत्तियमेत्तं तु तरति तुग्घेतुं[५]।
जाहगदिट्ठंतेणं, 'परिजित ताहऽण्णु उद्दिसति'[६]॥

१८४. णिज्जवगो अत्थस्सा, जो उ विजाणेति अत्थ सुत्तस्स।
अत्थेण वि[७] णिव्वहती[८], अत्थं पि कहेति जं भणितं॥

१८५. मतिसंपद चउभेदा, उग्गह ईहा अवाय धारणया[९]।
उग्गहमति छब्भेदा, तत्थ 'इमे होंति छब्भेदा'[१०]॥

१८६. खिप्प बहु बहुविहं वा, धुवऽणिस्सित तह य होतऽसंदिद्धं।
ओगेण्हति[११] एवीहा, अवायमिति[१२] धारणा चेव॥

१८७. 'परवाइण सिस्सेण'[१३] व, उच्चारितमेत्तमेव ओगिण्हे।
तं खिप्पं बहुगं पुण, पंच व 'छ स्सत्त'[१४] गंथसता॥

१८८. 'बहुविहऽणेगपगारं'[१५], जह लिहति ऽवधारए[१६] गणेति वि य।
अक्खाणगं कहेती[१७], सद्दसमूहं व[१८] णेगविहं[१९]॥

१८९. ण वि विस्सरति[२०] धुवत्तं, अनिस्सितं जं ण पोत्थगे लिहितं।
अणुभासित व्व गेण्हति, निस्संकित 'होतऽसंदिद्धं'[२१]॥

१९०. उग्गहितस्स तु ईहा, ईहित पच्छा अणंतरअवायो[२२]।
अवगतें पच्छा धारण, तीय विसेसो इमो णवरं॥

---

१. °तु अभा° (व्य ४१००)।
२. छुब्भए (ब, मु)।
३. णोदिस्से (पा, ब, ला)।
४. वावि (व्य ४१०१)।
५. उग्गहिउं (व्य ४१०२)।
६. परिचिते ताव तमुद्दि° (व्य)।
७. व (व्य ४१०३), विहि (ला)।
८. °हति इ (ब, ला, मु)।
९. धरणा य (व्य ४१०४)।
१०. इमा होति णातव्वा (व्य)।
११. उग्गिण्हति (ब)।
१२. °यमवि (व्य ४१०५)।
१३. सीसेण कुतित्थीण (व्य ४१०६)।
१४. छ व सत्त (ब, ला, मु)।
१५. °विहे° (ला)।
१६. पहारए (ब, मु, ला)।
१७. कहेति इ (मु, पा)।
१८. व्व (ब, ला)।
१९. व्य ४१०७।
२०. वस्सरइ (पा, ला)।
२१. °संदिट्ठं (पा, ला), होति सं° (ब), व्य ४१०८।
२२. °रमवाओ (व्य ४१०९)।

१९१. बहु 'बहुविह पोराणं'[१], दुद्धर ऽनिस्सिय[२] तहेव असंदिद्धं[३]।
पोराण पुरा 'व जितं'[४], दुद्धरणय-भंगगुविलत्ता॥

१९२. एत्तो उ पओगमती, चउव्विहा होति आणुपुव्वीए।
आय पुरिसं च खेत्तं, 'वत्थुं वि'[५] पउंजए वादं॥

१९३. जाणति पयोगभिसजो, 'वाही जेणाऽऽतुरस्स छिज्जति ऊ'[६]।
इय वादो व कहा वा, णियसत्तिं[७] णाउ कातव्वा॥

१९४. पुरिसं उवासगादी, अहवा वी जाणगा[८] इयं परिसं[९]।
पुव्वं तु गमेऊणं, ताहे वादो पउत्तव्वो॥

१९५. खेत्तं मालवमादी, अहवा वी साधुभावितं जं तु।
नाऊण तहा विहिणा, वादो हु[१०] तहिं पउत्तव्वो॥

१९६. वत्थुं 'पुण परवादी'[११], बहुआगमितो न वावि नाऊणं।
राया व 'रायऽमच्चो'[१२], दारुण-भद्दस्सभावो वा[१३]॥

१९७. एसा उ पओगमती, एत्तो वोच्छामि संगहपरिण्णं।
सा वि य चउव्विगप्पा, तीय विभागो इमो होति॥

१९८. बहुजणजोग्गं 'पेहे, खेत्तं'[१४] तह पीढफलहमोगिण्हे[१५]।
वासासु एतें दोण्णि वि, काले य समाणए कालं॥

१९९. पूए अहागुरुं 'पि य'[१६], चउत्थ[१७] एसा उ संगहपरिण्णा।
एत्तो एक्केक्कीय य, इमा विभासा मुणेतव्वा[१८]॥

---

१. °विधं पुराणं (व्य ४११०)।
२. ऽणितयं (मु, पा, ब, ला)।
३. छंद की दृष्टि से 'ऽसंदिद्धं' पाठ होना चाहिए।
४. वायित (व्य), ज्जितं (पा, ला)।
५. वत्थु विय (व्य ४१११), वत्थु विउ (ब)।
६. जेण आतुरस्स छिज्जती वाही (व्य ४११२)।
७. °सत्ती (मु, ब, ला)।
८. जाणिगा (व्य ४११३)।
९. पुरिसं (ब)।
१०. य (व्य ४११४)।
११. परवादी ऊ (व्य ४११५), °वाइ (ला)।
१२. °मत्तो (ब)।
१३. त्ति (व्य)।
१४. खेत्तं पेहे (ब, व्य ४११६)।
१५. फलग-पीढमाइण्णो (व्य), °हनिग्गिण्हे (ला)।
१६. पी (व्य)।
१७. चउहा (पा, व्य)।
१८. व्य (४११७) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
एतेसिं तु विभागं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए।

२००. वासे बहुजणजोग्गं, वित्थिण्णं जं तु गच्छपायोग्गं।
पडिलेह[1] बाल-दुब्बल-गिलाण-मादेसमादीणं॥

२०१. 'खेत्त असति अगहित्ता'[2], ताहे गच्छंति ते उ अण्णत्थ।
'पीढप्फलगग्गहणे, ण उ मइलंती णिसेज्जादी'[3]॥

२०२. 'वासासु विसेसेणं, अण्णं कालं तु गमय अण्णत्थ'[4]।
पाणा सीतल-कुंथादिया य तो गहण वासासुं[5]॥

२०३. जं जम्मि होति काले, कातव्वं तं समाणए तम्मि।
सज्झाय पेह उवधी, उप्पादण भिक्खमादी तु[6]॥

२०४. अहगुरु[7] जेणं पव्वावितो तु जस्स व अधीत पासम्मि।
अहवा अहागुरू खलु, हवंति रातिणियतरगा उ॥

२०५. तेसिं अब्भुट्ठाणं, डंडग्गह[8] तह य होति आहारे।
उवधीवहणं विस्सामणं च संपूयणा एसा॥

२०६. एसा खलु बत्तीसा, 'जाणाति जो पतिट्ठितो एत्थं'[9]।
ववहारे अलमत्थो, अहवावि भवे इमेहिं तु॥

२०७. छत्तीसाए तु[10] ठाणेहिं, जो 'होयऽपरिणिट्ठितो'[11]।
नऽलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

२०८. छत्तीसाए तु ठाणेहिं[12], जो होति परिणिट्ठितो[13]।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए॥

२०९. छत्तीसाए तु ठाणेहिं, जो होति अपतिट्ठितो।
नऽलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए[14]॥

---

१. अहवावि (व्य ४११८)।
२. खेत्तऽसति असंगहिया (व्य ४११९)।
३. न उ मइलेंति निसेज्जा, पीढगफलगाण गहणम्मि (व्य)।
४. वितरे न तु वासासुं, अन्ने काले उ गम्मतेऽण्णत्थ (व्य ४१२०)।
५. वासासु (ब)।
६. य (व्य ४१२१)।
७. अधा° (व्य ४१२२)।
८. दंड° (व्य ४१२३)।
९. एयं जाणाति जो ठितो वेत्थ (व्य ४१२४, ब)।
१०. × (व्य ४१२५)।
११. होति अपरि° (ला, पा, व्य)।
१२. ट्ठाणेहिं (ब), सर्वत्र।
१३. सुपरि°, (व्य ४१२६)।
१४. व्य ४१२७, हस्तप्रतियों एवं मुद्रित पुस्तक में गा. २०७ के बाद २०९ की गाथा है लेकिन यहां उपर्युक्त क्रम संगत प्रतीत होता है।

२१०. छत्तीसाए तु ठाणेहिं, जो होति सुपतिट्ठितो।
अलमत्थो तारिसो होति, ववहारं ववहरित्तए[1]॥

२११. जा होती[2] बत्तीसा, तम्मी[3] छोढूण विणयपडिवत्ती[4]।
चतुभेदं तो होती, छत्तीसाए उ ठाणाणं॥

२१२. बत्तीस वण्णित च्चिय, वोच्छं चउभेद विणयपडिवत्तिं।
आयरियंतेवासी[5], जह विणएत्ता[6] भवे णिरिणो॥

२१३. आयारे सुत विणए, विक्खिवणे चेव होति बोधव्वो।
दोसस्स य णिग्घाते, विणए चउहेस पडिवत्ती[7]॥

२१४. आयारे विणयो खलु, चउव्विधो होति आणुपुव्वीए।
संजमसामायारी, तवे य गणविहरणा[8] चेव[9]॥

२१५. एगल्लविहारे या, सामायारी य एस 'चउधा तु'[10]।
एतेसिं[11] तु विभागं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए॥

२१६. संजममायरति सयं, परं च गाहेति संजमं नियमा।
सीदंतथिरीकरणं, उज्जुतचरणं च उववूहे[12]॥

२१७. सो सत्तरसो पुढवादियाण घट्ट-परितावणोद्दवणं[13]।
परिहरितव्वं णियमा, संजमतो एस बोद्धव्वो॥

२१८. 'पक्खे य पोसधेसुं'[14], कारेति[15] तवं सयं करेति[16] वि य।
भिक्खायरियाय तहा, णियुंजति परं सयं वावि॥

२१९. सव्वम्मि बारसविधे, णिउंजति परं सयं च उज्जमति[17]।
गणसामायारीए, गणं विसीदंत चोदेति॥

---

१. व्य ४१२८।
२. भणिया (व्य ४१२९)।
३. तीए (व्य)।
४. °वत्तिं (व्य)।
५. °वासिं (व्य ४१३०)।
६. विणवित्ता (ब)।
७. व्य ४१३१।
८. गणिवि° (ला, पा, मु)।
९. व्य ४१३२।
१०. चउभेया (व्य ४१३३)।
११. एयासिं (व्य)।
१२. व्य ४१३४।
१३. °ताव उद्द° (व्य ४१३५)।
१४. पक्खियपोसहिएसुं (व्य ४१३६)।
१५. कारयति (ला, व्य)।
१६. करोति (पा), करोती (व्य)।
१७. उज्जुत्तो (व्य ४१३७)।

२२०. पडिलेहण-पप्फोडण[1], बाल-गिलाणादिवेयवच्चेसुं[2]।
सीदंतं गाहेती, सयं च 'जुत्तो तु'[3] एतेसु॥

२२१. एगल्लविहारादी, पडिमा पडिवज्जते 'सयं वऽण्णं'[4]।
पडिवज्जावे एवं, अप्पाण परं च विणएति॥

२२२. आयारविणय एसो, जहक्कमं वण्णितो समासेणं।
एत्तो ऊ सुतविणयं, जहाणुपुव्विं पवक्खामि॥

२२३. सुत्तं अत्थं च तहा, हितकर 'णिस्सेसयं च वाएति'[5]।
एसो चउव्विधो खलु, सुतविणओ होति णातव्वो॥

२२४. सुत्तं[6] गाहेति उज्जुत्तो[7], अत्थं च सुणावए पयत्तेणं।
जं जस्स होति जोग्गं, परिणामगमादियं[8] तु हितं॥

२२५. णिस्सेसमपरिसेसं, जाव समत्तं तु ताव वाएति।
एसो सुतविणयो खलु, वोच्छं विक्खेवणाविणयं[9]॥

२२६. अदिट्ठं दिट्ठं[10] खलु, दिट्ठं साहम्मियत्तविणएणं।
चुतधम्म ठावें धम्मे, तस्सेव हितट्ठ अब्भुट्ठे[11]॥

२२७. 'विण्णाणाभावम्मि वि'[12], खिव पेरणे विक्खिवितु[13] परसमया।
ससमएणमभिच्छुभे[14], अदिट्ठधम्मं तु[15] 'दिट्ठं वा'[16]॥

२२८. धम्म सहावो सम्मद्दंसण जं जेण पुव्वि ण उ लद्धं।
सो होतऽदिट्ठपुव्वो, तं 'गाहे दिट्ठपुव्वमिव'[17]॥

२२९. जह भायरं व[18] पितरं, 'व मिच्छदिट्ठिं'[19] पि गाहें सम्मत्तं।
दिट्ठपुव्वं सावग, साहम्मि करेति पव्वावे॥

---

१. पक्खोडण (ला,ब)।
२. °वच्चे य (व्य ४१३८), °वच्चेसु (पा)।
३. उज्जुत्त (व्य)।
४. सयऽण्णं वा (व्य ४१३९)।
५. °सेसं तधा पवाएति (व्य ४१४०)।
६. सुत्त (ला)।
७. जुत्तो (मु, ब), प्रथम चरण में अनुष्टुप् छंद है।
८. °दिणं (व्य ४१४१)।
९. व्य ४१४२।
११. मब्भुट्ठे (ला, व्य ४१४३)।
१२. °म्मिं (पा), °म्मी (व्य ४१४४)।
१३. °वितु (पा)।
१४. °मयंतेणऽभिछुभे (व्य)।
१५. य (ला)।
१६. दिट्ठं ता (ला), वा शब्द उपमायां (व्यमटी)।
१७. गाहिति पुव्वदिट्ठम्मि (व्य ४१४५)।
१८. व्व (ब)।
१९. मिच्छा° (व्य ४१४६), °दिट्ठं (ब)।

२३०. चुतधम्म[१] णट्ठधम्मो[२], चरित्तधम्माउ[३] दंसणाओ वा।
तं ठावेति[४] तहिं चिय, पुणो वि धम्मे जहुद्दिट्ठे[५]॥

२३१. तस्स त्ती तस्सेव उ, चरित्तधम्मस्स वुड्ढिहेतुं[६] तु।
वारेतऽणेसणादी, ण य गिण्हे[७] सयं हितट्ठाए॥

२३२. जं इह-परलोगे या, हितं सुहं तं खमं मुणेतव्वं।
णिस्सेयस मोक्खो[८] तु, अणुगामऽणुगच्छते जं तु॥

२३३. विक्खेवणविणएसो, जहक्कमं[९] वण्णितो समासेणं।
एत्तो तु पवक्खामी[१०], विणयं दोसाण णिग्घाते॥

२३४. दोसा कसायमादी, बंधो अहवा वि अट्ठपगडीओ।
णियतं व णिच्छितं वा, घात विणासो य एगट्ठा[११]॥

२३५. रुट्ठस्स[१२] कोधविणयण, दुट्ठस्स य दोसविणयणं जं[१३] तु।
कंखिय कंखुच्छेदे[१४], आयप्पणिहाण चउहेसा॥

२३६. 'सीतघरम्मि व'[१५] डाहं, वंजुलरुक्खो[१६] व जह व उरगविसं।
रुट्ठस्स[१७] तहा कोधं, पविणेती उवसमेति त्ति॥

२३७. दुट्ठो कसाय-'विसयादिएहिँ माण-मयभावदुट्ठो व'[१८]।
तस्स पविणेति दोसं, णासयते धंसते व त्ति॥

२३८. कंखा उ भत्त-पाणे, परसमए अहव संखडीमादी[१९]।
तस्स पविणेति कंखं, संखडि अण्णावदेसेणं[२०]॥

---

१. °धम्मो (ब, ला)।
२. भट्ठ° (व्य ४१४७)।
३. चरित्तं ध° (पा)।
४. ट्ठावति (पा)।
५. °द्दिट्ठो (ला)।
६. वड्ढि° (ब)।
७. गेण्ह (व्य ४१४८)।
८. मोक्खाय (व्य ४१४९)।
९. तह° (पा)।
१०. °खामिं (ब, पा)।
११. व्य ४१५०।
१२. कुद्धस्स (व्य ४१५१)।
१३. × (पा)।
१४. कंखाछेदो (व्य)।
१५. °घरं पिव (व्य ४१५२)।
१६. °लरेहा (ला)।
१७. कुद्धस्स (व्य)।
१८. °सएहि माण-मायासभाव दुट्ठो वा (व्य ४१५३)।
१९. कंख एमादी (मु, ब, ला)।
२०. अण्णं व° (पा, ब, मु, ला), व्य ४१५४।

२३९. चरगादिमादिगेसू[1], अहिंसमक्खो व्व अत्थि जा कंखा।
तं हेतु-कारणेहिं, विणयउ जह होति णिक्कंखो[2]॥

२४०. जो एतेसु ण वट्टति, कोधे दोसे तहेव कंखाए।
सो होति सुप्पणिहितो, सोभणपरिणामजुत्तो[3] वा॥

२४१. छत्तीसेताणि ठाणाणि, 'भणिताणऽणुपुव्वसो'[4]।
जो कुसलो य[5] एतेहिं, सो ववहारी समक्खातो[6]॥

२४२. अट्ठहि अट्ठारसहि य, 'दसहि य'[7] ठाणेहिं जे अपारोक्खा।
आलोयणदोसेहिं, छहिं[8] अपारोक्ख विण्णेया[9]॥

२४३. आलोयणागुणेहिं, छहिं य ठाणेहिं[10] जे अपारोक्खा[11]।
पंचहि य नियंठेहिं, पंचहि य चरित्तमंतेहिं[12]॥

२४४. अट्ठायारवमादी, वयछक्कादी हवंति[13] यऽट्ठरसा[14]।
दसविहपायच्छित्ते, 'आलोयणमादिए चेव'[15]॥

२४५. आलोयणदोसेहिं, आकंपणमादिएहिँ दसहिं तु।
छहि काएहिँ वतेहि व, दसहिं चाऽऽलोयणगुणेहिं[16]॥

२४६. आयार 'विणयगुण कप्पदीवणा'[17] अत्तसोहि उज्जुभावो।
अज्जव-मद्दव-लाघव, तुट्ठी पल्हायकरणं[18] च॥

२४७. मिच्छत्ततवाऽऽयारे, पढमं आलोयणा तहिं पढमं।
विणयो विणासणं ति य, मायाए विणयणगुणेसो॥

---

१. °एसु तु (मु), °गाइएसुं (ला)।
२. गाथाओं के क्रम में व्य में यह गाथा अप्राप्त है।
३. °पणिधाणजु° (व्य ४१५५)।
४. भणिता अणु° (ला), °ताणि अणु° (ब)।
५. × (ब, मु)।
६. व्य ४१५६, गाथा के प्रथम तीन चरणों में अनुष्टुप् तथा अंतिम चरण में आर्या छंद का प्रयोग हुआ है।
७. × (पा, ला)।
८. छहि य (ब, मु)।
९. विण्णाणा (व्य ४१५७)।
१०. ट्ठाणेहिं (पा, ब, ला)।
११. अपरो° (पा)।
१२. व्य ४१५८।
१३. हवति (पा)।
१४. °रसं (पा)।
१५. °यण दोस दसहिं वा (व्य ४१५९)।
१६. इस गाथा के स्थान पर व्य (४१६०) में निम्न गाथा मिलती है—
छहि काएहि वतेहि व, गुणेहि आलोयणाय दसहिं च।
छट्ठाणवडितेहिं छहि चेव तु जे अपारोक्खा॥
१७. °य कप्प गुणदी° (पंक२३१०), °कप्पमादी° (नि ३८६५), जीदकप्प गुणदी° (मूला ३८७, भआ ४११)।
१८. °यजणणं (व्य ४३०१, जीभा ४१३)।

२४८. चारित्त कप्प णियमा, निरतियारित्त विगडिते सो य।
दीवित पभासिउ त्ति य, पगासितो चेव एगट्ठा॥

२४९. अतियारपंकपंकंकितो य आया विसोहिओ होति।
आलोइए य आया, उजुभावे ठावितो होति॥

२५०. अज्जवभावे अज्जव, सयं[1] चियाऽऽलोइए कतो होति।
मद्दवभावेणं पुण, अमाणि होऊण आलोए॥

२५१. अतियारगुरुभरेणं[2], अक्कंतालोइए लहू होति।
सुद्धो हं ति य तुट्ठी, अतियारुण्हो य पल्हाणो॥

२५२. आलोयणागुणेसू, जे ऊ एवं हवंतऽपारोक्खा।
छट्ठाणयपडितेहिं, छहिँ चेव य जे अपारोक्खा॥

२५३. संखाईया ठाणा[3], छहिँ ठाणेहिँ पडिताण ठाणाणं।
जे संजया सरागा, 'एगे ठाणे विगतरागा'[4]॥

२५४. एताऽऽगमववहारी, पण्णत्ता राग-दोसणीहूया।
आणाएँ जिणिंदाणं[5], जे ववहारं ववहरंति[6]॥

२५५. 'इय भणिते चोदेती'[7], ते वोच्छिण्णा हु संपदं इहइं[8]।
तेसु य वोच्छिण्णेसू, नत्थि विसुद्धी चरित्तस्स॥

२५६. चोद्दसपुव्वधराणं, वोच्छेदो केवलीण वोच्छेदे।
'केसिंचि य'[9] आदेसो, पायच्छित्तं पि[10] वोच्छिण्णं॥

२५७. जं जत्तिएण सुज्झति, पावं तस्स तह देंति पच्छित्तं।
जिण-चोद्दसपुव्वधरा, तव्विवरीता जहिच्छाए[11]॥

२५८. पारगमपारगं वा, जाणंते जस्स[12] जं च करणिज्जं।
देति[13] तहा पच्चक्खी, घुणक्खरसमो तु पारोक्खी[14]॥

---

१. सेयं (पा, ब)।
२. °भएणं (मु, ला)।
३. ट्ठाणा (पा, ब, ला), सर्वत्र।
४. × (ला), सेसा एक्कम्मि ठाणम्मि (व्य ४१६१)।
५. जिणंदाणं (ब)।
६. व्य ४१६२।
७. एवं भणिते भणती (व्य ४१६३)।
८. इहयं (ब)।
९. केसिंची (व्य ४१६५)।
१०. × (ला)।
११. व्य ४१६६।
१२ कप्पं (पा, ब, ला)।
१३. देंति (ब)।
१४. व्य ४१६७।

२५९. जा य ऊणाहिए वुत्ता[1], सुत्ते मग्गविराधणा।
ण 'सुज्झे तीइ'[2] देंतो उ, असुद्धो कं च सोधए॥

२६०. देंता वि ण दीसंती, मास-चउम्मासियाउ सोधीओ।
'कुणमाणा वि य सोधिं'[3], ण पासिमो 'जो व सिं देज्जा'[4]॥

२६१. सोहीए य अभावे, देंताण करेंतगाण य अभावे।
वट्टति संपतिकाले, तित्थं[5] सम्मत्त-णाणेहिं[6]॥

२६२. णिज्जवगा य ण संती, महपुरिसाणं तु तेसि वोच्छेदे[7]।
तम्हा संपयकाले, नत्थि विसुद्धी सुविहिताणं[8]॥

२६३. एवं तु चोइयम्मी, आयरिओ भणति ण हु तुमे णातं।
पच्छित्तं कहितं तू, किं धरती किं च वोच्छिण्णं?[9]॥

२६४. अत्थं पडुच्च सुत्तं, अणागतं तं तु किंचि आमुसति[10]।
अत्थो वि को वि सुत्तं, अणागतं चेव आमुसति[11]॥

२६५. सव्वं पि[12] य पच्छित्तं, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थुम्मि।
तत्तो च्चिय णिज्जूढं, कप्प-पकप्पो य ववहारो[13]॥

२६६. ताणि धरंती अज्ज वि, तेसु धरंतेसु कह तुमं भणसि।
वोच्छिण्णं पच्छित्तं?, तत्थ इमा तू[14] परूवणया॥

२६७. सपदपरूवण अणुसज्जणा य दस 'चोद्दसऽट्ठ'[15] दुप्पसभे।
अत्थि ण दीसति धणिएण विणा तित्थं च णिज्जवगे[16]॥

२६८. पण्णवगस्स तु सपदं, पच्छित्तं चोदगस्स तमणिट्ठं।
तं संपयं पि विज्जति, जहा तहा मे णिसामेहि[17]॥

---

१. दाणे (व्य ४१६८)।
२. सुज्झइ (पा, ला), सुज्झति वि (व्य)।
३. °माणे य विसोधिं (व्य ४१७०)।
४. संपई केई (व्य)।
५. तित्थ (ला)।
६. व्य ४१७१।
७. वोच्छिन्ने (ब)।
८. × (ला)।
९. व्य ४१७२।
१०. आमसति (पा, ब)।
११. व्य ४१६९।
१२. वि (पा, ला)।
१३. व्य ४१७३।
१४. तु (पा)।
१५. चउद्द° (ब)।
१६. व्य ४१७४।
१७. °मेहिं (पा, ब, ला), व्य ४१७५।

२६९. भुंजति चक्की भोगे, पासादे सिप्पिरयणणिम्मविते।
तं दट्ठुं[१] राईणं, अण्णेसिच्छा समुप्पण्णा[२]॥

२७०. अम्हे कारावेमो, पासादे एरिसे[३] त्ति इति तेहिं।
चित्तकरा पेसविता, णिउणं लिहिऊण आणेह॥

२७१. पासादस्सायणे मणहारितं तेहिं चित्तकारेहिं[४]।
लीलविहूणं णवरिं[५], आगारो होति सो चेव॥

२७२. जह रूवादिविसेसा, परिहीणा होंति पागतजणस्स।
ण य ते ण होंति गेहा, 'भुंजंति य तेसु ते भोगे'[६]॥

२७३. एमेव[७] य पारोक्खी, तदाऽणुरूवं तु सो व्व[८] ववहरति।
किं पुण ववहरितव्वं, पायच्छित्तं इमं दसहा॥

२७४. आलोयण पडिकमणे, मीस 'विवेगे तहा'[९] विओसग्गे[१०]।
तव छेद मूल अणवट्ठया य पारंचिए चेव॥

२७५. एतुवरिं भण्णिहिती, सवित्थरेणं तु आणुपुव्वीए।
एतं पुण जह धरती, जं जत्था तं चिमाऽऽहंसु॥

२७६. 'दस ता'[११] अणुसज्जंती, जा चोद्दसपुव्वि पढमसंघयणे।
तेणाऽऽरेणऽट्ठविहं, तित्थंतिम जाव दुप्पसभो[१२]॥

२७७. दोसु तु वोच्छिण्णेसू, चोद्दसपुव्वाऽऽदिमे य संघयणे।
तव पारंच-ऽणवट्ठा, णव-दस पच्छित्तवोच्छिण्णा॥

---

१. दट्ठं (ला)।
२. व्य (४१७७) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
किंच न कारेति तधा, पासाए पागयजणो वि।
३. एरिसो (पा, ब, ला)।
४. व्य (४१७६) में गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
पासायस्स उ निम्मं, लिहावियं चित्तकारगेहि जहा।
५. नवर (व्य, ला)।
६. एमेव इमं पि पासामो (व्य ४१७८)।
७. एवमेव (ला)।
८. वि (व्य ४१७९)।
९. × (ला)।
१०. विउस्स° (व्य ४१८०)।
११. दसहा (मु)।
१२. तु. नि. ६६८०, व्य (४१८१) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
तेण परेणऽट्ठविधं, जा तित्थं ताव बोधव्वं।
इस गाथा के बाद प्रतियों में निम्न उल्लेख मिलता है—
तम्मि कालगते तित्थं, चरित्तं च वोच्छिज्जिहीति।
यह वाक्यांश गाथा का अंश नहीं है अतः टिप्पण में उल्लेख कर दिया है।

२७८. सेस अट्ठहऽणुसज्जति, जा तित्थं णव दसे[1] य लिंगादी।
'चोदे तं'[2] पि ण दीसति[3], एव भणंतं[4] गुरू भणति॥

२७९. दोसु तु वोच्छिण्णेसू, अट्ठविहं देंतया करेंता य।
ण य केई दीसंती, 'एव भणंतस्स चतुगुरुगा'[5]॥

२८०. दोसु तु वोच्छिण्णेसू[6], अट्ठविहं[7] देंतया करेंता य।
पच्चक्खं दीसंती[8], जहा तहा मे णिसामेहि॥

२८१. 'पंच णियंठा भणिता[9], पुलाग बगुसा कुसील निग्गंठा।
तह य सिणाया[10] तेसिं, पच्छित्त जहक्कमं वोच्छं॥

२८२. आलोयण पडिकमणे, मीस विवेगे तहा विओसग्गे[11]।
तत्तो य तवे छट्ठे[12], पच्छित्त पुलाग छऽप्पेते॥

२८३. बगुस-पडिसेवगाणं, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेराण भवे कप्पे, जिणकप्पे[13] अट्ठधा होति[14]॥

२८४. आलोयणा विवेगो वा[15], णियंठस्स दुवे भवे।
विवेगो य सिणातस्स, एमेया[16] पडिवत्तिओ[17]॥

२८५. पंचेव संजता खलु, नायसुतेणं कहिय[18] जिणवरेणं।
सामाइसंजतादी, पच्छित्तं तेसि वोच्छामि[19]॥

२८६. सामाइसंजताणं, पच्छित्ता छेद[20]-मूलरहितऽट्ठे।
थेराण जिणाणं पुण, तवगंतं[21] छव्विधं होति॥

---

१. दस (ला)।
२. चोदेत (पा)।
३. दीसदि (पा, ब, मु)।
४. भणंते (ब)।
५. वदमाणे भारिया चउरो (व्य ४१८२)।
६. °णेसुं (व्य ४१८३)।
७. °विह (ब)।
८. दंसंती (ला, ब, पा)।
९. पंचेव नियंठा खलु (व्य ४१८४)।
१०. सिणाओ (मु, ला)।
११. विउस्स' (व्य ४१८५)।
१२. छेदे (मु)।
१३. × (ला)।
१४. व्य ४१८६।
१५. य (व्य ४१८७)।
१६. एमेव या (पा, ला)।
१७. °वत्तीओ (ब)।
१८. कहिता (ब)।
१९. इस गाथा का उत्तरार्ध (व्य ४१८८) में इस प्रकार है—
तेसिं पायच्छित्तं, अहक्कमं कित्तइस्सामि।
२०. च्छेद (पा, ब)।
२१. तवमंतं (व्य ४१८९)।

२८७. छेदोवट्ठावणिए, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेराण जिणाणं पुण, मूलंतं अट्ठहा होति[1]॥

२८८. परिहारविसुद्धीए, मूलंता[2] अट्ठ होंति पच्छित्ता।
थेराण जिणाणं पुण, 'छव्विहमेतं चिय तवंतं'[3]॥

२८९. आलोयणा विवेगे य, ततियं तु ण विज्जती।
सुहुमम्मि[4] संपराए, अहक्खाते तधेव य॥

२९०. बकुस-पडिसेवगा खलु, इत्तरि[5]-छेदा य संजता दोण्णि।
जा 'तित्थऽणुसज्जंती'[6], अत्थि हु तेणं तु पच्छित्तं॥

२९१. जदि अत्थि ण दीसंती, केइ 'करेंता उ भण्णती सुणसु[7]।
दीसंतु उवाएणं, कुव्वंता तत्थिमं णातं॥

२९२. जह धणिओ सावेक्खो, निरवेक्खो चेव होति दुविधो तु।
धारणग संतविभवो, असंतविभवो य सो दुविधो॥

२९३. संतविभवो तु जाहे, व मग्गितो[8] ताहें देति तं सव्वं।
जो पुण असंतविभवो, तस्स[9] विसेसो इमो होति॥

२९४. निरवेक्खो तिण्णि चयती, 'अत्ताण धणं च तह य[10] धारणगं।
सावेक्खो पुण रक्खति, अप्पाण धणं च धारणगं॥

२९५. जो तू असंतविभवो, दब्भे[11] घेत्तूण पडति पाडेणं[12]।
सो अप्पाण धणं पि य, धारणगं चेव णासेति॥

२९६. जो पुण सहती कालं, सो अत्थं लहति 'रक्खति य[13] तं च।
न किलिस्सति[14] य सयं पी, एव उवाओ तु सव्वत्थ॥

---

१. व्य ४१९०।
२. मूलं वा (पा)।
३. छव्विध छेदादिवज्जं वा (व्य ४१९१)।
४. सुहम° (पा, ब, ला), सुहुमे य (व्य ४१९२)।
५. इत्तरि (व्य ४१९३)।
६. °सज्जंति इ (पा), तित्थं अणु° (ला, ब, मु)।
७. करेंतत्थ धणियदिट्ठंतो (व्य ४१९४)।
८. मग्गति (व्य ४१९५)।
९. तत्थ (व्य)।
१०. अप्पाण धणागमं च (व्य ४१९६)।
११. दब्भं (मु), पाए (व्य ४१९७)।
१२. पाडेण (ब)।
१३. °क्खती (व्य ४१९८)।
१४. किलस्सति (ब)।

२९७. जो तु 'धरेज्ज अवड्ढं'[1], असंतविभवो सयं।
कुणमाणो य कम्मं तु, णिव्विसे[2] करिसावणं[3]॥

२९८. अणमप्पेण कालेणं, सो तगं तु विमोयए।
दिट्ठंतेसो भणितो, अत्थोवणओ इमो तस्स[4]॥

२९९. संतविभवेहि तुल्ला, धिति-संघयणेहि जे उ संपण्णा।
ते आवण्णा सव्वं, वहंति निरणुग्गहं धीरा[5]॥

३००. संघतण-धितीहीणा, असंतविभवेहि होंति तुल्ला तु।
निरवेक्खो जदि तेसिं, देति तओ ते 'ण सुज्झंति[6]॥

३०१. ते तेण परिच्चत्ता, लिंगविवेगं तु काउ वच्चंति।
तित्थुच्छेदो 'एवं, अप्पा वि य चत्तो इणमो उ[7]॥

३०२. ते उट्ठेत्तु पलाणा, पच्छा एकाणिओ तओ[8] होति।
ताहे किं 'तु करेतू[9]?, एवं अप्पा परिच्चत्तो[10]॥

३०३. सावेक्खो पवयणम्मि[11], अणवत्थपसंगवारणाकुसलो।
चारित्तरक्खणट्ठा[12], अव्वोच्छित्तीय तु विसुज्झे॥

३०४. कल्लाणगमावण्णे, अतरंत जहक्कमेण[13] काउं जे।
दस कारेंति चतुत्थे, तब्बिउणाऽऽयंबिलतवे य[14]॥

३०५. एक्कासण[15] पुरिमड्ढ, णिव्विगती चेव बिगुणबिगुणाओ।
पत्तेयाऽसहु दाणं[16], कारेंति व सण्णिगासं ति[17]॥

३०६. चउ-तिग[18]-दुगकल्लाणा, एगं कल्लाणगं च कारिंति।
जं जो उ तरति तं तस्स[19], देंति असहुस्स झोसेंति[20]॥

---

१. धारेज्ज वड्ढंतं (व्य ४१९९)।
२. निवेसे (व्य)।
३. गाथा २९७ एवं २९८ में अनुष्टुप् छंद है।
४. व्य ४२००।
५. व्य ४२०१।
६. विणस्संति (व्य ४२०२)।
७. अप्पा एगाणिय तेण चत्तो य (व्य ४२०३), °ऊ (ब, ला)।
८. × (ब)।
९. करेतत्थ (पा)।
१०. ३०१ एवं ३०२—इन दो गाथाओं के स्थान पर व्य (४२०३) में एक ही गाथा मिलती है।
११. °म्मी (पा, ब, ला)।
१२. °णट्ठं (व्य ४२०४)।
१३. °भेणं (ला)।
१४. व (व्य ४२०५)।
१५. °सणा (पा, ला)।
१६. दाउं (व्य ४२०६)।
१७. तु (ला, व्य)।
१८. ति (पा)।
१९. तस्सा (ला)।
२०. व्य ४२०७।

३०७. एवं सदयं दिज्जति, जेणं सो संजमे थिरो होति।
ण य सव्वहा ण दिज्जति, अणवत्थपसंगदोसाओ[१]॥

३०८. तिलहारगदिट्ठंतो, पसंगदोसेण जह वधं पत्तो।
जणणी य थणच्छेदं, पत्ता अणिवारयंती तु[२]॥

३०९. णिब्भत्थणाइ बितियाय, वारितो जीवितादि आभागी।
नेव य थणछेदादी, पत्ता जणणी य अवराहं[३]॥

३१०. इय अणिवारितदोसा, संसारे दुक्खसागरमुवेंति।
विणियत्तपसंगा पुण[४], करेंति संसारवोच्छेदं॥

३११. एवं धरती सोही, देंत करेंता वि एव दीसंति।
जं पि य दंसण-णाणेहि, भाति[५] तित्थं ति तं सुणसु[६]॥

३१२. एवं तु[७] भणंतेणं, सेणियमादी वि थाविया समणा।
समणस्स 'उ सुत्तम्मी'[८], नत्थी णरगेसु उववातो॥

३१३. जं पि य हु एक्कवीसं, वाससहस्साइँ होहिती तित्थं।
तं मिच्छा सिद्धी वा, सव्वगतीसुं पि[९] होज्जाहि॥

३१४. अण्णं च इमो दोसो, पच्छित्ताभावतो तु पावति हु।
जह न वि चिट्ठति चरणं, तत्थ इमं गाहमाहंसु[१०]॥

३१५. पायच्छित्ते असंतम्मि, चरित्तं पि[११] ण चिट्ठए[१२]।
चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे णो सचरित्तया॥

३१६. 'अचरित्तयाए तित्थे, णेव्वाणं पि[१३] ण गच्छती।
णिव्वाणम्मि[१४] असंतम्मि, सव्वा दिक्खा णिरत्थिगा[१५]॥

---

१. व्य ४२०८।
२. व्य (४२०९) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—
दिट्ठंतो तेणएण, पसंगदोसेण जध वहं पत्तो।
पावंति अणंताइं, मरणाइ अवारियपसंगा॥
३. व्य ४२१०, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १।
४. खलु (व्य ४२११)।
५. जाति (पा, ला)।
६. व्य ४२१२।
७. ते (पा, ब, ला)।
८. य जुत्तस्स य (व्य ४२१३)।
९. व (व्य ४२१४)।
१०. गाथाओं के क्रम में व्य में यह गाथा नहीं है।
११. तु (पंक २३१२)।
१२. वट्टति (व्य ४२१५), चिट्ठती (नि ६६७८)।
१३. °रित्ताय तित्थस्स निव्वाणम्मि (व्य ४२१६), तित्थम्मि असंतम्मि णेव्वाणं तु (पंक २३१३), चरित्तम्मि असंतम्मि निव्वाणं पि (नि ६६७९)।
१४. °णं पि (ब)।
१५. निरत्थया (व्य)।

३१७. ण विणा तित्थं णियंठेहिं, णियंठा व अतित्थगा।
छक्कायसंजमो जाव, ताव 'दुण्हाऽणुसज्जणा'[1]॥

३१८. सव्वण्णूहिं परूविय, छक्काय महव्वता य समितीओ।
*स च्चेव य पण्णवणा, संपयकालम्मि*[2] साहूणं॥

३१९. तं णो वच्चति तित्थं, दंसण-णाणेहि एव सिद्धं[3] तु।
णिज्जवगा वोच्छिण्णा, जं पि य भणितं तु तं ण तहा[4]॥

३२०. सुण जह णिज्जवगऽत्थी, दीसंति जहा य णिज्जविज्जंता।
इह दुविधा णिज्जवगा, अत्ताण परे य बोधव्वा[5]॥

३२१. पादोवगमे इंगिणि, दुविधा खलु होंति आयणिज्जवगा।
णिज्जवणा[6] य परेण व, भत्तपरिण्णाय बोद्धव्वा[7]॥

३२२. पादोवगमे[8] इंगिणि, दोण्णि वि चिट्ठंतु ताव मरणाइं।
भत्तपरिण्णाएँ विधिं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए[9]॥

३२३. पव्वज्जादी[10] काउं, णेयव्वं ताव जाव वोच्छित्ती।
पंच तुलेऊण य सो, भत्तपरिण्णं परिणतो य[11]॥

३२४. सपरक्कमे[12] य अपरक्कमे य[13] वाघात आणुपुव्वीए।
सुत्तत्थजाणएणं, समाधिमरणं तु कातव्वं[14]॥

३२५. भिक्ख[15]-वियारसमत्थो, जो अण्णगणं तु गंतु चाएति[16]।
एस सपरक्कमो खलु, तव्विवरीतो भवे इतरो॥

३२६. एक्केक्कं तं दुविधं, णिव्वाघातं तहेव वाघातं।
वाघातो वि य दुविधो, 'कालाइधरो व्व इतरो व्व'[17]॥

---

१. णुसज्जणा दोण्हं (व्य ४२१७)।
२. °काले वि (व्य ४२१८)।
३. सिद्धिं (ला)।
४. व्य ४२१९।
५. व्य ४२२०।
६. °वगो (ला, ब)।
७. व्य ४२२१।
८. °गमं (ब)।
९. व्य ४२२२।
१०. पावज्जादी (पा, ब, मु)।
११. उ (व्य ४२२३), नि ३८१२।
१२. सपरि° (पा, ब)।
१३. च शब्दान्निर्व्याघाते च समुपस्थिते (व्यमटी)।
१४. व्य ४२२४, आनि २८२।
१५. भिक्खु (ला, ब)।
१६. वाएति (व्य ४२२५)।
१७. कालऽतियारो य इतरो वा (व्य ४२२६)।

३२७. सपरक्कमं तु तहियं, निव्वाघातं तहेव वाघातं।
वोच्छामि समासेणं, ठप्पं अपरक्कमं दुविधं॥

३२८. तं पुण अणुगंतव्वं, दारेहि इमेहि आणुपुव्वीए।
गणणिसिरणादिएहिं[१], तेसि विभागं तु वोच्छामि॥

३२९. गणणिसिरणा[२] परगणे, सिति संलेहे अगीतऽसंविग्गे।
एगाऽऽभोगण अण्णे, अणपुच्छ परिच्छ आलोए[३]॥

३३०. ठाण वसही पसत्थे, णिज्जवगा दव्वदायणा[४] चरिमे।
हाणऽपरितंत णिज्जर, संथारुव्वत्तणादीणि[५]॥

३३१. सारेऊण य कवयं, णिव्वाघातेण चिंधकरणं च।
'वाघाते जतणा या'[६], भत्तपरिण्णाय कायव्वा॥

३३२. गणणिसिरणम्मि उ विही, जो कप्पे वण्णितो उ सत्तविहो।
सो चेव णिरवसेसो, भत्तपरिण्णाएँ 'इहइं पि'[७]॥

३३३. णिसिरित्तु गणं वीरो, गंतूण य परगणं तु सो ताहे।
कुणति[८] दढव्ववसायो, भत्तपरिण्णं परिणतो य॥

३३४. किं 'कारणऽवक्कमणं'[९], थेराण इहं तवोकिलंताणं?।
अब्भुज्जतम्मि मरणे, कालुणिया झाणवाघातो[१०]॥

३३५. सगणे आणाहाणी, अप्पत्तिय होति एवमादीहिं[११]।
परगणें गुरुकुलवासो, अप्पत्तियवज्जितो[१२] होति॥

३३६. उवगरणगणणिमित्तं, तु वुग्गहं[१३] दिस्स वावि गणभेदं।
बालादी थेराण व, उचियाकरणम्मि वाघातो[१४]॥

---

१. °निसरणा (व्य ४२२७), सर्वत्र।
२. °निसरणे (व्य ४२२८)।
३. नि ३८१४।
४. °दावणं (व्य ४२२९)।
५. नि ३८१५।
६. अंतोबहिवाघातो (व्य ४२३०, नि ३८१६)।
७. दसमम्मि (व्य ४२३१, नि ३८१९)।
८. कुणती (ला, ब)।
९. °अवक्कमणं (मु), °चंकमणं (नि ३८२०)।
१०. व्य ४२३२।
११. °मादीयं (व्य ४२३३)।
१२. अपत्ति° (पा)।
१३. वुग्गहो (ब)।
१४. व्य ४२३४।

३३७. सिणेहो पेलवी होती, णिग्गते उभयस्स वि।
आहच्च वावि वाघाते, णो सेहादि[१] विउब्भमो[२]॥

३३८. दव्वसिती[३] भावसिती[४], दव्वसिती होति दारुणिस्सेणी।
भावसिति संजमो जा, तीय वि भंगा इमे होंति[५]॥

३३९. संजमठाणाणं कंडगाण लेस्साठितीविसेसाणं[६]।
उवरिल्लपरक्कमणं, भावसिती केवलं जाव[७]॥

३४०. भावसिती अहिगारो, विसुद्धभावेण तत्थ ठातव्वं[८]।
ण हु उड्ढगमणकज्जे, हेट्ठिल्लपदं पसंसंति[९]॥

३४१. संलेहणा उ तिविधा, जहण्ण मज्झा तहेव उक्कोसा।
छम्मासा वरिसं वा, बारसवरिसा जहाकमसो[१०]॥

३४२. चिट्ठतु[११] जहण्ण मज्झा, उक्कोसं तत्थ ताव वोच्छामि।
जं संलिहिऊण मुणी, साहेंती 'अप्पणो अट्ठं'[१२]॥

३४३. चत्तारि विचित्ताइं, विगतीणिज्जूहिताइँ चत्तारि।
दोसु चउत्थाऽऽयामं, अविगिट्ठ विगिट्ठ कोडेक्कं[१३]॥

३४४. संवच्छराणि[१४] चउरो, तवं[१५] विचित्तं चउत्थमादीयं।
काऊण सव्वगुणितं, पारेती उग्गमविसुद्धं॥

३४५. पुणरवि चउरण्णा[१६] तू, विचित्त काऊण विगतिवज्जं तु।
पारेति सो महप्पा, णिद्धं पणियं 'च वज्जेति'[१७]॥

---

१. स होइ (मु, ब)।
२. व्य ४२३५, नि ३८२१।
३, ४. °सीती (ला, ब, पा)।
५. व्य (४२३६), तथा नि (३८२२) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—
दव्वसिती भावसिती, अणुयोगधराण जेसिमुवलद्धा।
न हु उड्ढगमणकज्जे, हेट्ठिल्लपदं पसंसंति॥
६. लेसा° (मु)।
७. व्य ४२३७, नि ३८२३।
८. गा. ३३८ और ३४० के स्थान पर नि और व्य में एक ही गाथा है। देखें गा. ३३८ के टिप्पण की गाथा।
९. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'सिति त्ति गतं' का उल्लेख है।
१०. तु. व्य ४२३८।
११. चिट्ठंतु (ब)।
१२. अत्तणो अत्थं (व्य ४२३९)।
१३. व्य (४२४०) तथा नि (३८२४) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
एगंतरमायामे णातिविगिट्ठेऽविगिट्ठे य।
१४. °राइँ (मु, ब)।
१५. होति (व्य ४२४१)।
१६. °रण्णे (व्य ४२४२)।
१७. ववहोइ (ला)।

३४६. अण्णा दोण्णि समाओ, चउत्थ काऊण पारें[1] आयामं।
कंजीएणं तु ततो, अण्णेक्कसमं 'दुहा काउं'[2]॥

३४७. तत्थेक्कं छम्मासं, चतुत्थ छट्ठं च काउ पारेति।
आयामेणं[3] णियमा, बितिए छम्मासिय[4] विगिट्ठं॥

३४८. अट्ठम दसम दुवालस, 'काउं पारे तमेव आयामं[5]।
अण्णेक्कहायणं तू, कोडीसहितं तु काऊणं॥

३४९. आयाम-चउत्थादी, काऊण अपारिए पुणो अण्णं।
जं कुणयाऽऽयामादी, तं भण्णति कोडिसहितं तु[6]॥

३५०. आयंबिल उसिणोदेण पारें हावंत[7] आणुपुव्वीए।
जह दीव-तेल्ल-वत्ती, खओ समं तह सरीरायुं[8]॥

३५१. बारसमम्मि य[9] वरिसे, जे मासा उवरिमा उ चत्तारि।
पारणगे तेसिं तू, एक्कंतरगं इमं धारे[10]॥

३५२. तेल्लस्स उ गंडूसं, णीसट्ठं जाव खेलसंवुत्तो।
तो णिसिरे खेलमल्ले[11], किं कारण? गल्लधरणं तु[12]॥

३५३. लुक्खत्ता मुहजंतं, मा हु खुभेज्ज त्ति तेण धारेति।
'माऽह'[13] णमोक्कारस्सा, अपच्चलो सो 'हु होज्जाहि'[14]॥

३५४. उक्कोसिगा तु एसा, संलेहा मज्झिमा जहण्णा य।
संवच्छर छम्मासा, एमेव य मास-पक्खेहिं[15]॥

३५५. एत्तो एगतरेणं, संलेहेणं खवेत्तु अप्पाणं।
कुज्जा भत्तपरिण्णं, इंगिणि पाओवगमणं च[16]॥

---

१. पारि (ब, व्य)।
२. इमं कुणति (व्य ४२४३)।
३. आयंबिलेण (व्य ४२४४)।
४. °सिए (ब)।
५. काऊ° (ब), काऊणायंबिलेण पारेति (व्य ४२४५)।
६. गाथाओं के क्रम में व्य में यह गाथा नहीं है।
७. हावंतो (ला, ब, पा)।
८. व्य ४२४६।
९. उ (ब)।
१०. धीरे (पा, ब)।
११. °मत्ते (पा, मु)।
१२. गाथा ३५१ और ३५२-इन दोनों गाथाओं के स्थान पर (व्य ४२४७) में निम्न गाथा है—
पच्छिल्लहायणे तू, चउरो धारेंतु तेल्लगंडूसं।
निसिरे खेल्लमल्लम्मि, किं कारण गल्लधरणं तु॥
१३. °हु (व्य ४२४८)।
१४. हविज्जाहि (व्य, ला)।
१५. व्य ४२४९।
१६. वा (व्य ४२५०)।

३५६. अग्गीतसगासम्मी, भत्तपरिण्णं तु जो करेज्जाहि।
चतुगुरुगा तस्स भवे, किं कारण? जेणिमे दोसा[1]॥

३५७. णासेति अगीतत्थो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं।
नट्ठम्मि य चतुरंगे, ण हु सुलभं होति चतुरंगं[2]॥

३५८. किं पुण तं चउरंगं, जं णट्ठं दुल्लभं पुणो होति?।
माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तह[3] संजमे विरियं॥

३५९. किह णासेति अगीतो, 'पढम-बितियएहिं'[4] अद्दितो सो उ।
ओभासे कालियाए[5], तो निद्धम्मो त्ति छड्डेज्जा[6]॥

३६०. अंतो वा बाहिं वा, दिया[7] व रातो व सो विवित्तो तु।
अट्ट-दुहट्ट-वसट्टो, पडिगमणादीणि कुज्जाहि॥

३६१. मरिऊण अट्टझाणो[8], 'गच्छेज्ज व तिरिय[9]-वणसुरेसुं'[10] वा।
संभरिऊण य वेरं[11], पडिणीयत्तं करेज्जाहि॥

३६२. अहवावि सव्वरीए, मोयं देज्जाहि जायमाणस्स।
सो डंडियादि[12] होज्जा, रुट्ठो साहे णिवादीणं॥

३६३. कुज्जा कुलादिपत्थारं, सो वा रुट्ठो तु गच्छें मिच्छत्तं।
तप्पच्चयं तु[13] दीहं, भमेज्ज संसारकंतारं॥

३६४. सो 'दिट्ठो य विगिंचिंतों'[14], संविग्गेहिं तु अण्णसाधूहिं।
आसासियमणुसिट्ठो[15], मरणजढ पुणो वि पडिवण्णो॥

३६५. एते अण्णे य 'बहू, तहियं दोसा'[16] सपच्चवाया य।
एतेहि कारणेहिं, अग्गीतें ण कप्पति परिण्णा॥

---

१. व्य ४२५१।
२. व्य ४२५२, नि ३८२६, पंक २३८९।
३. तव (व्य ४२५३)।
४. °बितिएहिं (मु)।
५. कालिमाए (ला, मु)।
६. व्य ४२५४।
७. दिवा (व्य ४२५५)।
८. अट्टज्झाणो (ब)।
९. तिरिया (ब)।
१०. गच्छे तिरिएसु वणयरेसुं (व्य ४२५६)।
११. रुट्ठो (व्य)।
१२. दंडि° (व्य ४२५७)।
१३. च (व्य ४२५८)।
१४. उ विविंचिय दिट्ठो (व्य ४२५९)।
१५. °सट्ठो (मु, ब, ला)।
१६. तहिं बहवे दोसा य (व्य ४२६०, नि ३८२९)।

३६६. तम्हा पंच व छ स्सत्त, वावि जोयणसते समहिए वा[1]।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो॥

३६७. एक्कं व दो व तिण्णि[2] व, उक्कोसं बारसेव वासाइं[3]।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो॥

३६८. गीतत्थदुल्लभं खलु, 'पडुच्च कालं तु'[4] मग्गणा एसा।
ते खलु गवेसमाणे, खेत्ते काले य परिमाणं॥

३६९. तेण य गीतत्थेणं, पवयणगहितत्थसव्वसारेणं।
णिज्जवगेण समाधी, कातव्वा उत्तिमट्ठम्मि[5]॥

३७०. 'एवमसंविग्गे वी'[6], पडिवज्जंतस्स होंति चउगुरुगा[7]।
किं कारणं तु? तहियं[8], जम्हा दोसा हवंति इमे॥

३७१. णासेति असंविग्गो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं।
नट्ठम्मि य चउरंगे, ण हु सुलभं होति चउरंगं[9]॥

३७२. आहाकम्मिय पाणग, पुप्फा सीया[10] य बहुजणे णातं।
सेज्जा संथारो वि य, उवधी वि य होति अविसुद्धो॥

३७३. एते अण्णे य तहिं, बहवे दोसा सपच्चवाया[11] य।
एतेण कारणेणं, असंविग्गे ण कप्पति परिण्णा॥

३७४. तम्हा पंच व छ स्सत्त, वा वि जोयणसते समहिए वा[12]।
संविग्गपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो॥

---

१. या (ब), गाथा का पूर्वार्द्ध व्य (४२६१) और नि (३८३०) में इस प्रकार है—
पंच व छस्सत्तसते, अधवा एत्तो वि सातिरेगतरे।

२. ति वि (पा), तिसि (ला)।

३. वासाणि (व्य ४२६२), वरिसातिं (नि ३८३१)।

४. कालं तु पडुच्च (व्य ४२६३, नि ३८३२)।

५. नि ३८३३, व्य ४२६४, ला और पा प्रति में गाथा के अंत में 'अग्गीय त्ति' ऐसा उल्लेख मिलता है। यह विषय की समाप्ति का संकेत है।

६. असंविग्गसमीवे वि (व्य ४२६५)।

७. गुरुगा उ (व्य)।

८. जहियं (व्य)।

९. व्य ४२६६, नि ३८३४।

१०. सेया (व्य ४२६७), सिंगा (नि ३८३५)।

११. य पच्च° (व्य ४२६८, नि ३८३६)।

१२. व्य (४२६९) तथा नि (३८३७) में गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
पंच व छस्सत्तसया अहवा एत्तो वि सातिरेगतरे।

३७५. एक्कं व दो व तिण्णि व, उक्कोसं बारसेव वासाइं[1]।
संविग्गपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो[2]॥

३७६. संविग्गदुल्लभं खलु, कालं तु पडुच्च मग्गणा एसा।
ते खलु गवेसमाणे, खेत्ते काले य परिमाणं[3]॥

३७७. 'तेण य'[4] संविग्गेणं, पवयणगहितत्थसव्वसारेणं।
णिज्जवगेण समाधी, कातव्वा उत्तिमट्ठम्मि[5]॥

३७८. एगम्मि उ[6] णिज्जवगे, विराधणा होति कज्जहाणी य।
सो सेहा वि य चत्ता, पावयणं चेव उड्डाहो[7]॥

३७९. तस्सट्ठगतोभासण, सेहादिअदाणे सो 'य परिचत्तो'[8]।
'दातुं व'[9] अदाउं वा[10], हवंति सेहा वि णिद्धम्मा॥

३८०. कूवति[11] अदिज्जमाणे, मारेंति बल त्ति पवयणं चत्तं।
सेहा य जं[12] पडिगता, जणे अवण्णं पगासेंति[13]॥

३८१. सयमेवाऽऽभोएतुं[14], अतिसेसि णिमित्तिओ[15] व आयरिओ।
देवयणिवेदणेण व, जह नगरे कंचणपुरम्मि॥

३८२. कंचणपुर गुरुसण्णा, देवयरुयणा[16] य पुच्छ कहणा य।
पारणग खीर रुहिरं, आमंतण संघणासणया[17]॥

३८३. 'अहवा वि सो व्व परतो'[18], पारगमिच्छंत[19] ऽपारगे गुरुगा।
असती खेमसुभिक्खे, णिव्वाघातेण पडिवत्ती॥

---

१. वरिसाइं (नि ३८३८)।
२. व्य ४२७०।
३. व्य ४२७१, नि ३८३९।
४. तम्हा (व्य ४२७२, नि ३८४०)।
५. इस गाथा के बाद पा और ला प्रति में 'संविग्गे त्ति दारं' का उल्लेख है।
६. × (पा, ब)।
७. व्य ४२७३, नि (३८४१) में इस गाथा के स्थान पर पाठ-भेद के साथ निम्न गाथा मिलती है—
एगे उ कज्जहाणी, सो वा सेहा य पवयणं चत्तं।
तव्वण्णिए निमित्ते, पत्तो चत्तो य उड्डाहो॥
८. परिच्चत्तो (व्य ४२७४), नि ३८४२।
९. दातु व्व (ब)।
१०. व्व (पा, ला)।
११. कूयति (व्य ४२७५)।
१२. सं (ला), जे (व्य)।
१३. पदाणे वि (नि ३८४३)।
१४. °एतु (पा)।
१५. णिमित्तं यो (ला, पा)।
१६. °रुवणा (व्य ४२७८)।
१७. व्य और नि (३८४६) में इस गाथा में क्रम-व्यत्यय है, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २।
१८. परतो सयं व णच्चा (व्य ४२७६), नि ३८४४।
१९. °मिच्छंता (पा)।

३८४. सयं चेव चिरावासो[1], वासावासे तवस्सिणं।
तेण[2] तस्स विसेसेणं, वासासु पडिवज्जणं[3]॥

३८५. असिवोमादीएसु तु, पडिवज्जंते इमे भवे दोसा।
संजम-आयविराधण, आणादीया य दोसा उ[4]॥

३८६. असिवादीहि वहंता, तं उवगरणं व संजता चत्ता।
उवहिं विणा य छड्डुण, चत्तो सो पवयणं चेव[5]॥

३८७. एगो संथारगतो, बितिओ संलेहें ततिय पडिसेधो।
अपहुच्चंतऽसमाही, तस्स व तेसिं च असमाही[6]॥

३८८. हवेज्ज जदि वाघातो, बितियं तत्थ ठावते।
चिलिमिलिं[7] अंतरे काउं[8], बहिं वंदावए जणं॥

३८९. अणपुच्छाएँ गणस्सा[9], पडिच्छए तं[10] जती गुरू गुरुगा।
चत्तारि तु विण्णेया, गच्छमणिच्छंत[11] जं पावे॥

३९०. पाणगादीणि[12] जोग्गाणि,जाणि तस्स[13] समाहिते।
अलंभे तस्स जा हाणी[14], परिक्केसो य जायणे[15]॥

३९१. असंथरं अजोग्गो वा, जोगवाही व ते[16] भवे।
एसणादिपरिक्केसो[17], जा य तस्स विराधणा[18]॥

३९२. अपरिच्छणम्मि गुरुगा, दोण्ह वि अण्णोण्णगं जधाकमसो।
होति विराहण दुविधा, एक्को एक्को व जं पावे[19]॥

---

१. चिरं वासो (व्य ४२७७, नि ३८४५)।
२. तेणं (मु, ब, ला)।
३. °ज्जणा (व्य)।
४. य (ब)।
५. व्य ४२७९, तु. नि ३८४७।
६. असतीए (व्य ४२८०), नि (३८४८) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
अण्णायपुच्छ असमाही, तस्स व तेसिं च असती य।
७. °मिणि (व्य ४२८१), °मिणी (नि ३८४९)।
८. चेव (व्य, नि)।
९. गच्छस्स (व्य ४२८२)।
१०. व (व्य, ला)।
११. °च्छंते (पा, ब)।
१२. °दीण (पा, ब)।
१३. तत्थ (नि)।
१४. ठाणा (नि ३८५०)।
१५. व्य ४२८३।
१६. ज्जइ (पा, ब), जइ (मु)।
१७. °णाए परि° (व्य ४२८४)।
१८. नि ३८५१।
१९. व्य ४२८५।

३९३. तम्हा 'परिच्छणा खलु'[1], दव्वे भावे य होति दोण्हं पि।
तहियं तु जो परिच्छति, दव्वपरिच्छाएँ ते इणमो[2]॥

३९४. मोदणपयकढियादी[3], दव्वे आणेह मे त्ति तो उदिते।
जदि उवहसंति ते तू, अहो इमो विगयगेहि त्ति[4]॥

३९५. किह मोच्छिइ त्ति भत्तं?, तेसेवं दव्वओ परिच्छा उ।
भावे कसाइज्जंती, तेसि सगासे ण पडिवज्जे॥

३९६. अह पुण विरूवरूवे, आणीत दुगुंछते[5] भणंतऽण्णं।
आणेमो त्ति ववसिते, पडिवज्जति तेसि सो[6] पासे॥

३९७. एवं भासी[7] ते तू, परिच्छए दव्व-भावओ विधिणा।
ते वि य तं तु परिच्छे, दुविधपरिच्छाएँ इणमो तु॥

३९८. कलमोयणो य पयसा, अण्णं व सभावअणुमतं तस्स।
उवणीतं जो कुच्छति[8], 'दव्वपरिच्छाएँ सो सुद्धो'[9]॥

३९९. भावे पुण पुच्छिज्जति, किं संलेहो[10] कतो त्ति ण कतो त्ति?
इति उदिते सो ताहे, हंतूणं अंगुलिं दाए[11]॥

४००. पेच्छह ता मे एतं, किं कतो ण कतो त्ति एव उदितम्मि।
भणति गुरू तो ण तओ, एयं चिय[12] ते ण संलीढं॥

४०१. ण हु ते दव्वसंलेहं, पुच्छे पासामि ते किसं।
कीस ते अंगुली भग्गा?, भावं संलिहमाउर[13]!॥

---

१. °च्छणं तू (व्य ४२८६)।
२. गाथा का उत्तरार्ध व्य में इस प्रकार है—
संलेह पुच्छ दायण, दिट्ठंतोऽमच्च कोंकणए।
३. °यादि (पा, ला, ब), व्य (४२८७) में गा. ३९४ एवं ३९५ के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—
कलमोदण-पयकढियादि, दव्वे आणेह मे त्ति इति उदिते।
भावे कसाइज्जंति, तेसि सगासे न पडिवज्जे॥
४. तु. नि ३८५२, ३८५३।
५. दुगुच्छए (पा), दुगुंछिते (व्य ४२८८)।
६. तो (व्य)।
७. भासो (पा, ला), व्य और नि में गाथाओं के क्रम में यह गाथा नहीं है।
८. कुंछइ (ला, मु)।
९. तं तु अलुद्धं पडिच्छंति (व्य, ४२८९, नि ३८५४)।
१०. सल्लेहो (पा, ब, ला)।
११. व्य (४२९०) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा है—
अज्जो संलेहो ते, किं कतो न कतो त्ति एवमुदियम्मि।
भंतुं अंगुलि दावे, पेच्छह किं वा कतो न कतो॥
१२. चियं (ब)।
१३. व्य ४२९१, नि ३८५५, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३।

४०२. भावो च्चिय एत्थं तू, संलिहियव्वो सदा पयत्तेणं।
तेणाऽऽयट्टं साहे, दिट्ठंतोऽमच्च-कोंकणगे॥

४०३. रण्णा कोंकणगाऽमच्चा, दो वि णिव्विसया कता।
दोद्धिए[1] कंजियं छोढुं, कोंकणो[2] तक्खणा गतो[3]॥

४०४. 'भंडी बहल्लए'[4] काए, अमच्चो जा भरेति[5] तु।
ताव पुण्णं तु पंचाहं, णलिए[6] णिधणं गतो[7]॥

४०५. एवं जेहिं तु संलीढो, भावो ते तू[8] साहगा।
असंलीढे ण साहेंति, अमच्चो इव ते खलु॥

४०६. इंदियाणि कसाए य, गारवे य किसे कुण[9]।
'ण चेयं'[10] ते पसंसामो, किसं साधु! सरीरगं॥

४०७. एवं परिच्छिऊणं, जदि[11] सुद्धो ताहें तं पडिच्छंति।
ताहे य अत्तसोधिं, करेति विधिणा इमेणं तु॥

४०८. आयरियपादमूलं, गंतूणं सति परक्कमे[12] ताहे।
सव्वेण अत्तसोधी, 'परसक्खीयं तु कातव्वा'[13]॥

४०९. जह सुकुसलो वि वेज्जो, अण्णस्स कहेति अप्पणो वाधी[14]।
वेज्जस्स य सो सोतुं, तो परिकम्मं[15] समारभति[16]॥

४१०. 'जाणंतेण वि एवं'[17], पायच्छित्तविधिमप्पणो[18] णिउणं[19]।
तह वि य पागडतरगं, आलोएतव्वगं होति[20]॥

---

१. दोद्धिए (व्य ४२९२)।
२. कोंकणा (पा, ला)।
३. नि ३८५६, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४।
४. भंडिओ बहिलए (पा), भणिओ बहिलए (ला), हिंडितो बहिले (नि ३८५७)।
५. भरति (ला)।
६. णेलिए (पा, ला), पुण्णे (नि)।
७. व्य ४२९३।
८. तु (ब)।
९. कुरु (व्य ४२९४, नि ३८५८)।
१०. णो वयं (नि)।
११. जहि (ब)।
१२. परि° (ब, ला)।
१३. कायव्वा एस उवदेसो (व्य ४२९५, नि ३८५९)।
१४. वाहिं (व्य ४२९६)।
१५. पडिक° (व्य, नि ३८६०)।
१६. ओनि (७९५) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
सोऊण तस्स विज्जस्स, सो वि परिकम्ममारभइ।
१७. °एयं (ब), एवं जाणंतेण वि (ओनि ७९६)।
१८. °प्पणा (ब)।
१९. सम्मं (ओनि)।
२०. व्य ४२९७, नि ३८६१।

४११. छत्तीसगुणसमण्णागतेण तेण वि अवस्स कातव्वा।
आलोयण निंदण[1] गरहणा य ण पुणो य[2] बितियं ति[3]॥

४१२. किं कारणमालोयण, एव पयत्तेण होति दातव्वा?।
भण्णति सुणसू इणमो, आलोयंतस्स जे उ गुणा॥

४१३. आयार विणयगुण कप्पदीवणा अत्तसोहि उजुभावो।
अज्जव मद्दव लाघव, तुट्ठी पल्हायजणणं च[4]॥

४१४. पव्वज्जादी[5] आलोयणा तु तिण्हं चतुक्किय विसोही।
जह अप्पणो तह परे, कातव्वा उत्तिमट्ठम्मि[6]॥

४१५. तिण्हं ती णाणादी, दव्वादि चउक्कगं मुणेतव्वं।
जो अतियारो तेसू, कत आलोएति[7] तं सव्वं॥

४१६. णाणे वितहपरूवण, जं वा आसेवितं तदट्ठाए।
चेतणमचेतणं वा, दव्वे खेत्तादिसु इमं तु[8]॥

४१७. णाणणिमित्तं अद्धाणमेति ओमे वि[9] अच्छति तदट्ठा।
णाणं च 'आगमेस्सइ, कुणती'[10] परिकम्मणं देहे[11]॥

४१८. पडिसेवति विगतीओ, मेहादव्वे[12] व एसती पियति।
वायंतस्स व[13] किरिया, कता तु पणगादिहाणीए॥

४१९. एमेव दंसणम्मि वि, सद्दहणा णवरि तत्थ[14] णाणत्तं।
एसण इत्थीदोसे, वतं ति चरणे सिया से वा[15]॥

---

१. निंद (ला)।
२. वि (पा, ला)।
३. व्य (४२९८), नि (३८६२) तथा प्रकी (२८९५) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
परसक्खिगा विसोधी, सुट्ठु वि ववहारकुसलेणं।
४. व्य ४३०१, नि ३८६५, पंक १३१०, मूला ३८७।
५. पाव (पा, ला, मु)।
६. °मट्ठं ति (नि ३८६६), उत्त (व्य ४३०२)।
७. आलोए (ला)।
८. व्य (४३०३) एवं नि (३८६७) में यह गाथा कुछ अंतर के साथ मिलती है—
णाणनिमित्तं आसेवियं तु वितहं परूवियं वावि।
चेतणमचेतणं वा, दव्वं सेसेसु इमगं तु॥
९. य (व्य ४३०४), व (मु, ब, ला)।
१०. °मेस्सं ति कुणति (व्य)।
११. नि ३८६८।
१२. मेज्झं दव्वं (व्य ४३०५), मज्झे दव्वे (नि ३८६९)।
१३. वि (नि)।
१४. तत्थं (ला)।
१५. व्य ४३०६, नि ३८७०।

४२०. अहवा तिगसालंबेण, दव्वमादी चउक्कमाहच्च[1]।
आसेवितं णिरालंबओ व आलोयए तं तु[2]॥

४२१. पडिसेवणातियारा, जदि[3] वीसरिता कहिंचि[4] होज्जाहि।
तेसु कह[5] वट्टितव्वं, सल्लुद्धरणम्मि समणेणं?॥

४२२. जे मे जाणंति जिणा, अवराहे जेसु जेसु ठाणेसु।
ते हं आलोएउं, उवट्ठितो सव्वभावेणं[6]॥

४२३. एवं आलोएंतो[7], विसुद्धभावपरिणामसंजुत्तो।
आराहओ तह वि सो, गारवपलिकुंचणारहितो[8]॥

४२४. ठाणं पुण केरिसगं, होति पसत्थं तु तस्स जं जोग्गं?।
भण्णति जत्थ ण होज्जा, झाणस्स उ तस्स वाघातो[9]॥

४२५. गंधव्व-नट्ट-जड्डऽस्स-चक्क-जंत-ऽग्गिकम्म-फरुसे[10] य।
णंतिक्क-रयग-देवड[11], डोंबिल-पाडहिय-रायपहे[12]॥

४२६. चारग-कोट्टग-कल्लाल, 'करकए पुप्फ-दगसमीवे य'[13]।
'आराम अहेवियडे'[14], णागघरे[15] पुव्वभणिते[16] य॥

४२७. पढम-बितिएसु कप्पे, उद्देसेसू उवस्सगा जे तु।
विहिसुत्ते य णिसिद्धा, तव्विवरीते गवेसेज्जा[17]॥

४२८. उज्जाणरुक्खमूले[18], सुण्णघर ऽणिसट्ठ[19] हरितमग्गे य।
एवंविधे ण ठायति[20], होज्ज समाधीय वाघातो[21]॥

---

१. °च्चा (पा)।
२. व्य ४३०७, नि ३८७१।
३. जा (पा, ला), जह (व्य ४३०८)।
४. कहं वि (नि ३८७२)।
५. कहं (पा)।
६. व्य ४३०९, नि ३८७३, प्रकी ८६९।
७. °एंति (नि ३८७४)।
८. व्य ४३१०।
९. व्य ४३११।
१०. पुरुसे (मु, व्य ४३१२)।
११. देवट्ट (पा)।
१२. नि ३८७५।
१३. करकय-पुप्फ-फल-दगसमीवम्मि (व्य ४३१३), करयपुप्फ-फलदगसमीवम्मि (नि ३८७६)।
१४. आरामे अहेवियडे (व्य)।
१५. °घडे (ला, पा)।
१६. पूर्वभणित का तात्पर्य है कि यह वर्णन व्यवहार भाष्य (४३१२, ४३१३) में वर्णित है।
१७. भवे सिज्जा (मु, ला), व्य ४३१४, नि ३८७७।
१८. °णे तरुमूले (मु)।
१९. अणिसट्ठ (मु)।
२०. वायइ (पा)।
२१. व्य ४३१५, नि ३८७९।

४२९. इंदियपडिसंचारो, मणसंखोभकरणं[1] जहिं णत्थि।
चाउस्सालाइं[2] दुवे, अणुण्णवेऊण ठायंति[3]॥

४३०. पाणगजोग्गाहारे, ठवेंति से तत्थ जत्थ ण उवेंति।
अप्परिणता व सो वा, अप्पच्चय-गेहिरक्खट्ठा[4]॥

४३१. भुत्तभोगी पुरा जो तु[5], गीतत्थो वि य भावितो।
'संतेसाऽऽहारधम्मेसु'[6], सो वि खिप्पं तु खुब्भती॥

४३२. पडिलोमाणुलोमा[7] वा, विसया जत्थ दूरतो।
ठावेत्ता तत्थ से णिच्चं, कहणा जाणगस्स वि[8]॥

४३३. पासत्थोसण्णकुसीलठाणपरिवज्जिता तु णिज्जवगा।
पियधम्माऽवज्जभीरू, गुणसंपण्णा अपरितंता[9]॥

४३४. जो जारिसगो कालो, भरहेरवतेसु[10] होति वासेसु।
ते तारिसगा तइया, अडयालीसा तु णिज्जवगा[11]॥

४३५. 'उव्वत्त दार'[12] संथार, कहग वादी य आगदारम्मि।
भत्ते पाण वियारे, कहग दिसा जे समत्था य[13]॥

४३६. दुवालसेसु एतेसु, एक्केक्के चउरो भवे।
दिसि चउसुं[14] एक्केक्के, अडयालीसं भवंती तु॥

४३७. एवं खलु उक्कोसा, परिहायंता हवंति 'दो च्चेव'[15]।
दो 'गीत किं णिमित्तं?'[16], असुण्णकरणं जहण्णेणं॥

४३८. तस्स य चरिमाहारो, इट्ठो दातव्व तण्हछेदट्ठा।
सव्वस्स चरिमकाले, अतीवतण्हा समुज्जलइ[17]॥

---

१. °करं (नि ३८७८)।
२. °लादि (व्य ४३१६)।
३. व्य और नि में इस गाथा में क्रम-व्यत्यय है।
४. गिद्धिर (नि ३८८०), व्य ४३१७।
५. वि (नि ३८८१)।
६. संतेमा (व्य ४३१८)।
७. °लोम अणु (मु, ब)।
८. ते (नि ३८८२), व्य ४३१९।
९. व्य ४३२०, नि ३८८३।
१०. °वते य (नि ३८८५)।
११. व्य ४३२२।
१२. °त्तणाइ (नि ३८८४)।
१३. व्य ४३२१।
१४. मु एवं हस्तप्रतियों में चउसु के बाद 'पुव्वे' पाठ अतिरिक्त है।
१५. तिण्णेव (व्य ४३२३, नि ३८८६)।
१६. गीयत्था ततिए (व्य)।
१७. समुप्पज्जे (व्य ४३२४)।

४३९. णवविगति-सत्तओदण, अट्ठारस वंजणुच्चपाणं च।
अणुपुव्विविहारीणं[1], समाधिकामाण उवहरइ[2]॥

४४०. काल-सभावाणुमतो, पुव्वज्झुसितो 'सुतो व दिट्ठो'[3] वा।
झोसिज्जति सो वि तहा, जतणाय चउव्विहाहारो[4]॥

४४१. तण्हाछेदम्मि कते, ण तस्स तहियं पवत्तते भावो।
अहव कहिंचुप्पज्जति, तह वि णियत्तेइ एवं तु[5]॥

४४२. 'किं च तं णोवभुत्तं'[6] मे, परिणामासुयिं सुयिं?।
दिट्ठसारो सुहं झाति, चोदणे सेव सीदते[7]॥

४४३. चरिमं च एस भुंजति, सद्धाजणणं च होति उभए वि।
संजय-गिहियाणं वा, तो देंति इमीय तु विहीय[8]॥

४४४. तिविधं तु 'वोसिरिहीइ, सो ता'[9] उक्कोसगाइँ दव्वाइं।
मग्गेत्ता जतणाए, चरिमाहारं पदंसेंति[10]॥

४४५. पासित्तु ताणि कोई, तीरप्पत्तस्स किं ममेतेहिं?।
वेरग्गमणुप्पत्तो, संवेगपरायणो होति[11]॥

४४६. सव्वं भोच्चा कोई, 'धिद्धीकारं इमेण[12] किं मे? त्ति'[13]।
वेरग्गमणुप्पत्तो, संवेगपरायणो होति॥

४४७. सव्वं भोच्चा कोई, मणुण्णरसपरिणतो[14] हवेज्जाहि[15]।
तं 'चेवऽणुबंधंतो'[16], देसं सव्वं च गेहीया[17]॥

---

१. °हारीण (ला)।
२. °हरिउं (व्य ४३२५), तु. नि ३८८७।
३. सुओवइट्ठो (मु)।
४. व्य ४३२६, नि ३८८८।
५. व्य (४३२७) तथा नि (३८८९) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
चरमं च एस भुंजति, सद्धाजणणं दुपक्खे वि।
६. किं पत्तो णो भुत्तं (नि ३८९०)।
७. सीययो (मु, ब), व्य ४३२८।
८. गाथाओं के क्रम में व्य में यह गाथा नहीं है।
९. °सिरेहिति ताहे (व्य ४३२९)।
१०. नि ३८९१।
११. व्य ४३३०, नि ३८९२।
१२. इमेणं (पा)।
१३. धिक्कारं करइ इमेहि कम्मेहिं (नि ३८९४)।
१४. °सविपरि° (नि)।
१५. भवे° (व्य ४३३१, नि)।
१६. °णुबच्चंतो (ला, ब)।
१७. रोचीया (नि ३८९५), रोहीया (ब)।

४४८. विगतीकताणुबंधे, आहारऽणुबंधणाएँ वोच्छेदो[1]।
परिहायमाणदव्वे, गुणवुड्ढि[2] समाधि अणुकंपा[3]॥

४४९. 'दवियपरीमाणं ता[4], हावेंति दिणे दिणे तु जा तिण्णि।
बिंति ण लभंति[5] दुलभे, सुलभम्मि वि होतिमा जतणा॥

४५०. आहारे ताव छिंदाहि[6], गेधिं तो णं चइस्ससि[7]।
जं 'भुत्तं ण हु[8] पुव्वं ते, तीरं पत्तो तमिच्छसि॥

४५१. वट्टंति अपरितंता, दिया व रातो व सव्वपरिकम्मं[9]।
पडियरगा मुणिवरगा[10], कम्मरयं णिज्जरेमाणा[11]॥

४५२. जो जत्थ होति कुसलो, सो तु ण हावेति तं सति बलम्मि।
उज्जुत्ता सनिजोगे[12], तस्स वि दीवेंति तं सड्ढं[13]॥

४५३. देहविओगो खिप्पं, व[14] होज्ज अहवा वि कालकरणेणं[15]।
दोण्हं पि निज्जरा वड्ढमाणो[16] गच्छो उ एतट्ठा॥

४५४. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
'अण्णयरम्मि वि'[17] जोगे, सज्झायम्मी विसेसेणं[18]॥

४५५. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अण्णयरम्मि वि जोगे, काउस्सग्गे विसेसेणं॥

४५६. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अण्णयरम्मि वि जोगे, वेयावच्चे विसेसेणं॥

---

१. वोच्छेदे (ब)।
२. °वड्ढि (मु)।
३. नि ३८९६, व्य ४३३२।
४. दव्वियपरीमाणं (ला, ब), विगयपरिमाणंता (पा), °परिणामतो वा (व्य ४३३३, नि ३८९७)।
५. लब्भति (व्य, नि)।
६. च्छिंदाहि (पा), छिंदाही (व्य ४३३४)।
७. °स्सति (पा, ला)।
८. वा भुत्तं न (व्य, नि ३८९८)।
९. °परितंतो (ला), °पडिकम्मं (व्य ४३३५)।
१०. गुणरयणा (व्य)।
११. नि ३८९९।
१२. सति जोगे (मु)।
१३. सद्धं (व्य ४३३६, ला), नि ३९००।
१४. व्व (ब)।
१५. कालहरणेणं (व्य ४३३७, नि)।
१६. वट्टमाणो (मु, पा), वट्टमाणे (नि ३९०१)।
१७. अन्नतरगम्मि (व्य) सर्वत्र।
१८. ४५४ से ४५७ तक की चार गाथाओं के लिए देखें व्य ४३३८-४१, नि ३९०२-५।

४५७. कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अण्णयरम्मि वि जोगे, विसेसतो उत्तिमट्ठम्मि॥

४५८. संथारो उत्तिमट्ठे, भूमि-सिला-फलगमादि णातव्वो[१]।
संथारपट्टमादी, दुगचीरा ऊ बहू वावि[२]॥

४५९. तह वि असंथरमाणे, कुसमादी तिण्णि[३] अझुसिरतणाइ।
तेसऽसति असंथरणे, व[४] 'होज्ज सुसिरा वि तो[५] पच्छा॥

४६०. 'तह वि असंथर कोयव[६], पावारग णवय तूलि[७] भूमीए।
एमेव अणहियासे, संथारगमादि पल्लंके॥

४६१. पडिलेहण संथारं, पाणगउव्वत्तणादि णिग्गमणं।
सयमेव करेंति सहू, 'असहुस्स करेंति अण्णे उ[८]॥

४६२. कायोवचितो बलवं, णिक्खमण-पवेसणं च सो कुणति।
तह वि य अविसहमाणं, संथारगतं तु संधारे[९]॥

४६३. संथारो 'तस्स मउगो[१०], समाधिहेतुं तु होति कातव्वो।
तह वि य अविसहमाणे, समाधिहेउं उदाहरणं[११]॥

४६४. धीरपुरिसपण्णत्ते, सप्पुरिसणिसेविते परमरम्मे।
धण्णा सिलातलगता[१२], 'णिरावयक्खा णिवज्जंति'[१३]॥

४६५. जदि ताव सावयाकुल, गिरि-कंदर-विसमकडगदुग्गेसु।
साधेंति उत्तिमट्ठं, धितिधणियसहायगा धीरा[१४]॥

---

१. °च्चे (व्य ४३४२), °व्वा (मु)।
२. गा. ४५८ के स्थान पर नि (३९०६-०८) में तीन अन्य गाथाएं हैं—
भूमिं सिलाए फलए, तणाए संथार उत्तिमट्ठम्मि।
दोमादि संथरंति, बितियपद अणधियासे य॥
तण-कंबल-पावारे, कोयवतूली य भूमिसंथारे।
एमेव अणहियासे, संथारगमादि पल्लंके॥
पडिलेहणसंथारे, पाणगउव्वत्तणादिणिग्गमणं।
सयमेव करेंति सहू, उस्सग्गाणेतरे करते॥
३. णिंतु (व्य ४३४३)।
४. व्व (पा, ब)।
५. झुसिरतणाई ततो (व्य)।
६. कोतवं (पा)।
७. कोयव पावारग नवय तूलि आलिंगिणी य (व्य ४३४४)।
८. उस्सग्गाणेतरे करते (नि ३९०८), व्य ४३४५।
९. संचारे (व्य ४३४६), संथारे (ब, ला, नि ३९१०)।
१०. मउओ तस्स (व्य ४३४७), °मउतो (पा)।
११. नि में यह गाथा नहीं है।
१२. °तलतले (मु, ब, ला)।
१३. साहिंती अप्पणो अट्ठं (प्रकी १०२३), व्य ४३४८, नि ३९११।
१४. व्य ४३४९, नि ३९१२, तु. प्रकी १०२०।

४६६. किं पुण अणगारसहायगेण अण्णोण्णसंगहबलेणं।
परलोइए ण सक्का, साहेउं अप्पणो[1] अट्ठं?॥

४६७. जिणवयणमप्पमेयं, णिउणं[2] कण्णाहुतिं सुणेंताणं[3]।
सक्का हु साधुमज्झे, 'संसारमहोदधिं तरितुं'[4]॥

४६८. सव्वे सव्वद्धाए, सव्वण्णू सव्वकम्मभूमीसु।
सव्वगुरु सव्वमहिता, सव्वे मेरुम्मि अभिसित्ता[5]॥

४६९. सव्वाहिं वि लद्धीहिं, सव्वे वि परीसहे पराइत्ता।
सव्वे वि य तित्थगरा, पायोवगमेण[6] सिद्धिगता॥

४७०. अवसेसा अणगारा, तीत-पडुप्पण्ण-ऽणागता सव्वे।
केई पादोवगता, पच्चक्खाणिंगिणी[7] केई॥

४७१. सव्वाओ[8] अज्जाओ, सव्वे वि य पढमसंघयणवज्जा।
सव्वे य देसविरता, पच्चक्खाणेण तु मरंति[9]॥

४७२. सव्वसुहप्पभवाओ, जीवितसाराओ सव्वजणगाओ[10]।
आहाराओ रतणं, ण विज्जते[11] उत्तमं अण्णं[12]॥

४७३. सेलेसि सिद्ध विग्गह, केवलिओघायए य मोत्तूणं[13]।
सव्वे सव्वावत्थं, आहारे होंति आयत्ता[14]॥

४७४. तं तारिसगं रतणं, सारं जं सव्वलोगरयणाणं।
सव्वं परिच्चइत्ता, पादोवगता पविहरंति[15]॥

---

१. उत्तमो (व्य ४३५०), उत्तिमो (नि ३९१३)।
२. मधुरं (व्य ४३५१), महुरं (नि ३९१४, प्रकी १०२२)।
३. सुणेंतेणं (मु, ब, ला)।
४. साहेउं अप्पणो अट्ठं (प्रकी)।
५. व्य ४३५२, नि ३९१५, प्रकी १२८८।
६. पादोवगया तु (व्य ४३५३, नि ३९१६, प्रकी १२८९)।
७. °गिणिं (व्य ४३५४, नि ३९१७, प्रकी १२९०)।
८. सव्वा वि य (प्रकी १२९१)।
९. व्य ४३५५, नि ३९१८।
१०. °जाणिगाओ (पा, ला)।
११. विज्जति हु (व्य ४३५६)।
१२. लोए (नि ३९१९, प्रकी १२९२)।
१३. व्य (४३५७), नि (३९२०) तथा प्रकी (१२९३) में इस गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
विग्गहगते य सिद्धे य मोत्तु लोगम्मि जत्तिया जीवा।
१४. उवउत्ता (व्य, नि)।
१५. परिह° (नि ३९२१), व्य ४३५८, प्रकी १२९४।

४७५. एवं पादोवगमं, णिप्पडिकम्मं जिणेहिँ पण्णत्तं।
जं 'सोऊण परिण्णी'[१], ववसायपरक्कमं कुणति॥

४७६. कोई[२] परीसहेहिं, वाउलिओ वेदणट्टिओ[३] वावि।
ओभासेज्ज कयाई[४], पढमं बितियं च आसज्ज॥

४७७. गीतत्थमगीतत्थं, सारेउं[५] 'तह विबोहणं'[६] काउं।
तो पडिबोहय छट्ठे, पढमे पगते सिया बितिए॥

४७८. 'हंदि दु'[७] परीसहचमू, जोहेतव्वा मणेण काएण।
तो मरणदेसकाले, कवयब्भूतो[८] तु आहारो॥

४७९. णातं संगामदुगं, महसिल-रहमुसलवण्णणा तेसिं[९]।
असुर-सुरिंदावरणं, चेडग 'एगो गह सरस्स'[१०]॥

४८०. महसिलकंटे तहियं, वट्टंते कूणिओ तु रहिएणं।
रुक्खग्गविलग्गेणं[११], 'पहतो पट्ठम्मि'[१२] कणगेणं॥

४८१. उप्फिडितुं सो कणगो, कवयावरणम्मि तो[१३] ततो पडितो।
तो तस्स कोणिगेणं[१४], छिण्णं सीसं खुरप्पेणं[१५]॥

४८२. दिट्ठंतस्सोवणओ, कवयत्थाणी इहं तहाऽऽहारो।
सत्तू परीसहा खलु, आराहण रज्जथाणीया[१६]॥

४८३. जह वाऽऽउंटियपादे, पादं काऊण हत्थिणो पुरिसो।
आरुभति तह परिण्णी, आहारेणं तु झाणवरं[१७]॥

---

१. सोऊणं खमओ (व्य ४३५९, नि ३९२२, प्रकी १२९५)।
२. कोयिं (मु, पा, ब), केई (नि ३९२३)।
३. °णट्टिओ (व्य ४३६०)।
४. कयाइं (ब)।
५. साहेउं (पा, ब, ला)।
६. मतिविसोहणं (नि ३९२४), मतिवि° (व्य ४३६१)।
७. हंदी (व्य ४३६२)।
८. °यतुल्लो (नि ३९२५)।
९. व्य (४३६३) में गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
संगामदुगं महसिलरधमुसल चेव परूवणा तस्स।
१०. एगोग्गह° (पा, ला), गाथा ४७९ से ४८१ तक की तीन गाथाओं के स्थान पर नि (३९२६) में निम्न गाथा मिलती है—
संगाम दुग परूवण चेडग एगसर उग्गहो चेव।
असुर-सुरिंदावरणं, संवुभमं रहियकणगस्स॥
११. °ग्गवल° (मु, पा)।
१२. पट्ठे पहतो उ (व्य ४३६४)।
१३. × (पा, ला)।
१४. कूणि° (व्य ४३६५)।
१५. खुरुप्पेणं (पा, ला), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५।
१६. व्य ४३६६।
१७. व्य ४३६७।

४८४. उवगरणेहि विहूणो, जह वा पुरिसो ण साहते कज्जं।
एवाऽऽहारपरिण्णी, दिट्ठंता तत्थिमे होंति[1]॥

४८५. लावए[2] पवए जोहे, संगामे पत्थिए[3] इय।
आतुरे सिक्खगे चेव, 'दिट्ठंत समाहिकामेते'[4]॥

४८६. दत्तेणं ण्हावाए, आउध तहोवाहणोसहेहिं[5] च।
उवगरणेहिं च विणा, जहसंखमसाधगा सव्वे॥

४८७. 'एवाऽऽहारेण'[6] विणा, समाधिकामो ण साहए[7] समाधिं।
तम्हा समाधिहेतुं[8], दातव्वो तस्स आहारो॥

४८८. धिति-संघयणविजुत्तो, असमत्थो परीसहेऽहियासेउं।
फिट्टति चंदगवेज्झा, तेण विणा कवयभूतेणं[9]॥

४८९. सरीरमुज्झितं जेण, को संगो तस्स भोयणे?
समाधिसंधणाहेतुं, दिज्जते सो सि[10] अंतिए[11]॥

४९०. सुद्धं एसित्तु ठावेंति, हाणीए[12] वा दिणे दिणे।
पुव्वुत्ताए तु जतणाए, तं तु गोवेंति अण्णहिं[13]॥

४९१. णिव्वाघातेणेवं, कालगतविगिंचणा विहीपुव्वं[14]।
कातव्व चिंधकरणं, अचिंधकरणे भवे गुरुगा॥

४९२. 'उवगरण-सरीरम्मि'[15] य, अचिंधकरणम्मि 'दंडिओ'[16] तहियं'[17]।
मग्गणगवेसणाए, गामाणं घातणं कुणति॥

---

१. व्य ४३६८।
२. लवए (ब)।
३. पंथिगे (व्य ४३६९, नि ३९२७)।
४. दिट्ठंतो कवए ति या (व्य)।
५. पहुवा° (व्य ४३७०)।
६. एव आहा° (पा)।
७. सोहए (ला)।
८. °हेऊ (व्य ४३७१)।
९. °यरूवेण (पा, ब, ला)।
१०. उ (व्य ४३७२)।
११. अंततो (नि ३९३०)।
१२. हाणिओ (मु, ब, ला), हाणी उ (नि ३९३१)।
१३. व्य ४३७३।
१४. विधिपुव्वं (व्य ४३७४), नि (३९३२) में इस गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
आयरितो कुंडिपदं, जे मूलं सिद्धिवासवसहीए।
१५. सरीरउवगरणम्मि (व्य ४३७५, नि)।
१६. डंडिओ (पा)।
१७. सो उ रातिणिओ (व्य, नि ३९३३)।

४९३. ण पगासेज्ज लहुत्तं, परीसहुदएण[1] होज्ज वाघातो।
उप्पण्णे वाघाते, जो गीतत्थाण तु उवाओ[2]॥

४९४. को गीताण उवाओ?, संलेहगतो ठविज्जते अण्णो।
उच्छहते जो वऽण्णो, इतरे उ गिलाणपरिकम्मं[3]॥

४९५. वसभो वा ठाविज्जति, अण्णस्सऽसतीय तम्मि संथारे।
कालगतो त्ति य[4] काउं, संझाकालम्मि णीणेंति[5]॥

४९६. एवं[6] तू णातम्मी, डंडिगमादीहि[7] होति जतणेसा[8]।
सयगमण पेसणं वा, खिंसण चउरो अणुग्घाता॥

४९७. सपरक्कमे य भणितं, णिव्वाघाइं तहेव वाघातं।
णिव्वाघातिम इतरं, एत्तो अपरक्कमं वोच्छं॥

४९८. अपरक्कमो बलहीणो, अण्णगण ण[9] जाति[10] कुणति गच्छम्मि।
सपरक्कमो व्व सेसं, णिव्वाघाती गतो एसो[11]॥

४९९. वाघाति[12] आणुपुव्वी, रोगाऽऽतंकेहि नवरि अभिभूतो।
बालमरणं पि 'य सिया'[13], मरेज्ज उ इमेहि हेऊहिं॥

५००. वाल-ऽच्छभल्ल-'विसगत-विसूयिगाऽऽतंक'[14] सण्णिकोसलगे।
ऊसास गद्ध रज्जू, ओमऽसिव-ऽहिघात-संबद्धे॥

५०१. वालेण गोणसाइण[15], खइओ होज्जाहि[16] सडिउमारद्धो।
कण्णोट्ठ-णासिगादी, विभंगिता अच्छभल्लेणं॥

---

१. परिसहउदतेण (नि ३९३४)।
२. व्य ४३७६।
३. 'पडिक' (व्य ४३७७), गा. ४९४ से ४९६ —इन तीन गाथाओं के स्थान पर (नि ३९३५) में एक ही गाथा मिलती है।
४. × (पा, ब, ला)।
५. णीणम्मि (ब), व्य ४३७८।
६. एव (पा, ला)।
७. दंडिग' (ब, व्य ४३७९)।
८. जयमेसा (ला), जयणा उ (व्य)।
९. × (ब)।
१०. जाती (ला)।
११. गा. ४९७ और ४९८ के स्थान पर (व्य ४३८०) में निम्न गाथा है —
सपरक्कमें जो उ गमो, नियमा अपरक्कमम्मि सो चेव।
नवरं पुण नाणत्तं, खीणे जंघाबले गच्छे॥
१२. एमेव (व्य ४३८१)।
१३. सिया हु (व्य)।
१४. विस विसूइकएँ आयंक (व्य ४३८२)।
१५. 'सादी (व्य ४३८३)।
१६. जोज्जाहि (पा, ला)।

५०२. 'लद्धो व विसेणं तू'[1], विसूइगा[2] वा सें उट्ठिता होज्जा[3]।
आतंको वा कोई, खयमादी उट्ठिओ होज्जा॥

५०३. तिण्णि तु वारा किरिया, तस्स 'कता ण वि'[4] य उवसमो जातो[5]।
जह वोमें[6] कोसलेणं, सण्णीणं पंच उ सयाइं॥

५०४. सण्णीणं[7] रुद्धाइं, अहयं भत्तं तु तुब्भ[8] दाहामि।
लाभंतरं च णाउं, लुद्धेणं 'विक्किकयं धण्णं'[9]॥

५०५. तो णाउ वित्तिछेदं, ऊसासणिरोहमादिणि कताणि।
अणहीयासे तेहिं, 'खुहवेदण ओमें साहूहिं'[10]॥

५०६. एवं ता कोसलगे, अण्णम्मि वि ओमें होज्ज एमेव।
सहसा छिण्णद्धाणे, असिवग्गहिता व कुज्जाहिं[11]॥

५०७. अभिघातो वा विज्जू, गिरिभित्ती कोणगादि वा होज्जा।
संबद्ध हत्थ-पादादओ व वाएण होज्जाहि[12]॥

५०८. एतेहि कारणेहिं, वाघातिममरण होति णातव्वं।
परिकम्ममकाऊणं, पच्चक्खाई ततो भत्तं[13]॥

५०९. अह पुण[14] जदि होज्जाही, पंडितमरणं तु काउ असमत्थो।
ऊसासगद्धपट्ठं, रज्जुग्गहणं व कुज्जाहि॥

५१०. अणुपुव्विविहारीणं, उस्सग्गणिवाइताण जा सोधी।
विहरंतए ण सोधी, भणिता 'आहारलोवा या'[15]॥

५११. एसा पच्चक्खाणे, आय परे भणित णिज्जवाण विही।
इंगिणि-पाओवगमे, वोच्छामी आयणिज्जवणं[16]॥

---

१. विसेण लद्धो होज्जा (व्य ४३८४)।
२. विसूयिया (पा, ब)।
३. होज्ज (ला)।
४. वी (पा, ब)।
५. कय हवेज्ज नो य उवसंतो (व्य ४३८५)।
६. ओमे (मु)।
७. साहूणं (व्य ४३८६, ब)।
८. तुज्झ (व्य)।
९. धण्णविक्कीयं (व्य)।
१०. वेदण साधूहि ओमम्मि (व्य ४३८७)।
११. कुज्जाहिं (ला, मु), कथा के विस्तार हेतु देखें परि.२, कथा सं. ६।
१२. व्य ४३८८।
१३. ५०८ और ५०९ गाथा के स्थान पर व्य (४३८९) में निम्न गाथा है—
एतेहि कारणेहिं, पंडितमरणं तु काउ असमत्थो।
ऊसासगद्धपट्ठं, रज्जुग्गहणं व कुज्जाही॥
१४. वा (ब)।
१५. 'लोवेण (व्य ४३९०)।
१६. गाथाओं के क्रम में व्य में यह गाथा नहीं है।

५१२. पव्वज्जादी काउं, णेतव्वं जाव होतऽवोच्छित्ती।
पंच तुलेऊण य सो[1], इंगिणिमरणं 'ववसितो तु'[2]॥

५१३. आयप्परपरिकम्मं[3], भत्तपरिण्णाएँ दो अणुण्णाता।
परिवज्जिता य इंगिणि, चउव्विधाहारविरती य॥

५१४. ठाण-णिसीय-तुयट्टण, इत्तिरियाइं[4] जहासमाधीए।
सयमेव य सो कुणती, उवसग्ग-परीसहऽहियासे[5]॥

५१५. संघयण-धितीजुत्तो, नव-दसपुव्वा सुतेण अंगा वा।
'इंगिणिमरणं नियमा'[6], पडिवज्जति एरिसो साहू'[7]॥

५१६. पव्वज्जादी काउं, णेतव्वं जाव 'होतऽवोच्छित्ती'[8]।
पंच तुलेऊण य सो, पायोवगमं परिणतो य[9]॥

५१७. तं दुविहं णातव्वं, णीहारिं[10] चेव तह अणीहारिं।
बहिया गामादीणं, गिरि-कंदरमादि णीहारिं॥

५१८. वइयादिसु जं अंतो, उट्ठेउमणा ण[11] ठायऽणीहारिं।
कम्हा पादवगमणं?, जं उवमा पादवेणेत्थं॥

५१९. सम-विसमम्मि व पडितो, अच्छति जह पादवो व णिक्कंपो।
णिच्चल-णिप्पडिकम्मो, णिक्खिवती जं जहिं अंगं[12]॥

५२०. तं ठित होति तह च्चिय, नवरं चलणं परप्पयोगातो[13]।
वायादीहिं तरुस्स व[14], पडिणीयादीहि तह तस्स॥

५२१. तसपाण-बीयरहिते, विच्छिण्णवियार थंडिलविसुद्धे।
णिद्दोसा णिद्दोसे[15], उवेंति[16] अब्भुज्जतं मरणं[17]॥

---

१. तो (व्य ४३९१)।
२. परिणतो य (व्य)।
३. आयपरपरिक्कम्मं (ब), °पडि° (व्य ४३९२, नि ३९३७)।
४. इत्तरि° (ला)।
५. °यासी (नि ३९३८), व्य ४३९३।
६. °णिपाओवगमं (नि ३९३९)।
७. इंगिणि पादोवगमं नीहारी वा अनीहारी (व्य ४३९४)।
८. °वोच्छिण्णं (ब)।
९. नि ३९४०।
१०. णीहारी (पा, ला)।
११. य (मु)।
१२. तु. नि ३९४१।
१३. °योगो उ (ला)।
१४. वा (ला)।
१५. णिद्दोसा (ला)।
१६. भवंति (नि ३९४३)।
१७. व्य ४३९६।

५२२. पुव्वभवियवेरेणं, देवो साहरति कोवि पाताले।
मा सो चरिमसरीरो[१], ण वेदणं किंचि पाविहिती[२]॥

५२३. उप्पण्णे उवसग्गे, दिव्वे माणुस्सगे तिरिक्खे य।
सव्वे पराजिणित्ता, पायोवगता पविहरंति[३]॥

५२४. 'देव-णर दुगतिगऽस्सा, केई[४] पक्खेवगं सिया कुज्जा।
वोसट्ठ-चत्तदेहो, अहाउगं कोइ पालेज्जा॥

५२५. अणुलोमा पडिलोमा[५], दुगं तु उभयसहिता तिगं होति।
अहवा चित्तमचित्तं, दुगं तिगं मीसगसमग्गं[६]॥

५२६. पुढवि-दग-अगणि-मारुय-वणस्सति-तसेसु कोइ[७] साहरति।
वोसट्ठ-चत्तदेहो, अहाउगं कोइ पालेज्जा॥

५२७. धिति-बलजुत्तेहि तहिं, उवसग्गा जह सढा उ धीरेहिं।
णिदरिसणा केइ[८] तहिं, वोच्छामि इमे समासेणं॥

५२८. मुणिसुव्वयंतवासी[९], खंदगमणगार[१०] कुंभकारकडे[११]।
देवी पुरंदरजसा, डंडगि[१२] पालक्क[१३] मरुगे य॥

५२९. पंचसता जंतेणं, 'रुट्ठेण पुरोहितेण मलिया उ'[१४]।
राग-दोसतुलग्गं, समकरणं चिंतयंतेहिं[१५]॥

५३०. 'जंतेहिं करकएहि व, सत्थेहि'[१६] व सावएहि विविधेहिं।
देहे विद्धंसंते, 'ण य ते झाणातो[१७] फिट्टंति'[१८]॥

---

१. चरम (नि ३९४४)।
२. °हिंति (ला), व्य ४३९७।
३. व्य ४३९८, नि ३९४५।
४. दिव्वमणुया उ दुग तिग अस्से (व्य ४४०२), दिव्व मणुया उ दुगतिगस्स (नि ३९४९)।
५. °लोमं (मु, ब)।
६. व्य ४४०३, नि ३९५०।
७. कोवि (व्य ४४०४), कोति (नि ३९५१)।
८. × (पा)।
९. °यंतेवासी (ला, मु)।
१०. खंदगदाहे य (व्य ४४१७, नि ३९६४), °गपमुहा य (उनि ११३)।
११. °कडं (ब)।
१२. दंडगि (ब)।
१३. पालग्ग (पा, ला)।
१४. वधिता तु पुरोहिएण रुट्ठेण (उनि ११४), °मलिताओ (ला)।
१५. व्य ४४१८, नि ३९६५।
१६. जंतेण करकतेण व सत्थेण (व्य ४४१९, नि ३९६६)।
१७. ठाणाहि (नि)।
१८. ईसिं पि अकंपणा समणा (प्रकी १२३१), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ७।

५३१. पडिणीययाएँ[1] कोई, 'अग्गिंसि पदेज्ज असुभपरिणामो'[2]।
पादोवगते संते, जह चाणक्कस्स वा करिसे[3]॥

५३२. पडिणीययाएँ कोई[4], चम्मं से खीलएहिँ विहुणित्ता[5]।
मधु-घतमक्खितदेहं, पिवीलियाणं तु दिज्जाहि॥

५३३. जह सो चिलातपुत्तो, वोसट्ठ-णिसट्ठ-चत्तदेहो उ।
सोणियगंधेण पिवीलियाहि जह चालणि व्व कतो[6]॥

५३४. 'मोगल्लसेलसिहरे, जह सो कालासवेसिओ भगवं'[7]।
खइतो विउव्विऊणं, देवेण सियालरूवेणं[8]॥

५३५. जह से वंसिपदेसी, वोसट्ठ-णिसट्ठ-चत्तदेहो उ।
वंसीपत्तेहि विणिग्गतेहि, आगासमुक्खित्तो[9]॥

५३६. जहऽवंतीसुकुमालो, वोसट्ठ-णिसट्ठ-चत्तदेहो उ।
धीरो सपेल्लियाए, सिवाय खइतो तिरत्तेणं[10]॥

५३७. जह ते गोट्ठट्ठाणे[11], वोसट्ठ-णिसट्ठ-चत्तदेहागा।
उदगेण वुब्भमाणा[12], वियरम्मी[13] संकरे लग्गा[14]॥

५३८. जह सा बत्तीसघडा, वोसट्ठ-णिसट्ठ-चत्तदेहागा[15]।
'धीरा घाएण'[16] 'उ दीविएण डिलयम्मि'[17] ओलइया[18]॥

---

१. पडिणिय° (ब)।
२. अग्गिं से सव्वतो पदेज्जाहि (व्य ४४२०, नि ३९६७)।
३. प्रकी (१२२८) में इस गाथा की संवादी निम्न गाथा मिलती है—
गोब्बर पाओवगओ, सुबुद्धिणा णिग्घिणेण चाणक्को।
दड्ढो न य संचलिओ, सा हु धिई चिंतणिज्जा उ॥
कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ८।
४. केई (व्य ४४२१, प्रकी १२३२, नि ३९६८)।
५. निहणित्ता (प्रकी)।
६. व्य ४४२२, तु. नि ३९६९, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ९।
७. जध सो कालायसवेसिओ वि मोग्गल्लसेलसिहरम्मि (व्य ४४२३, नि ३९७०)।
८. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १०।
९. °मुज्झित्तो (मु), व्य ४४२४, नि ३९७१, प्रकी १२२९, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ११।
१०. व्य ४४२५, नि ३९७२, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १२।
११. °ट्ठाणा (ला)।
१२. वुज्झमाणा (व्य, नि ३९७३)।
१३. वियरम्मि उ (व्य ४४२६)।
१४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १३।
१५. °देहा उ (व्य ४४२८)।
१६. °वाएण (ब, प्रकी १२३०)।
१७. उदीरिएण विगलम्मि (प्रकी)।
१८. नि ३९७५, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १४।

५३९. बावीस आणुपुव्वी[1], तिरिक्ख मणुया व भंसणत्थाए।
विसयाणुकंपरक्खण, करेज्ज देवा व मणुया वा॥

५४०. जह णाम असी कोसी[2], 'अण्णा कोसी[3] असी वि खलु अण्णो[4]'।
इय मे 'अण्णो देहो, अण्णो जीवो त्ति मण्णंति[5]॥

५४१. एगंतणिज्जरा से, दुविहा आराधणा धुवा तस्स।
अंतकिरियं च साधू, करेज्ज देवोववत्तिं वा[6]॥

५४२. एवं धिति-बलजुत्तो, अहियासेति पडिलोमउवसग्गे।
एत्तो पुण अणुलोमे, जह सहती ते तहा वोच्छं[7]॥

५४३. सक्कारं सम्माणं, ण्हाणादीयाणि तत्थ कुज्जाहि।
वोसट्ठ-चत्तदेहो, अहाउगं कोइ पालेज्जा॥

५४४. पुव्वभवियपेमेणं, देवो 'देवकुरु-उत्तरकुरासु[8]'।
कोई हु[9] साहरेज्जा, सव्वसुहा जत्थ अणुभावा॥

५४५. पुव्वभवियपेमेणं, देवो साहरति नागभवणम्मि।
जहियं इट्ठा कंता, सव्वसुहा होंति अणुभावा[10]॥

५४६. बत्तीसलक्खणधरो, पादोवगतो य पागडसरीरो।
पुरिसव्वेसिणिकण्णा[11], रायविदिण्णा[12] तु गिण्हेज्जा॥

५४७. मज्जण-गंधं पुप्फोवकारपरियारणं 'च कुज्जाहिं[13]'।
सा पवररायकण्णा, इमेहि जुत्ता गुणगणेहिं[14]॥

५४८. नवयंगसोतबोहिय[15], अट्ठारसरतिविसेसकुसला तु।
चोयट्ठीमहिलगुणा, णिउणा य बिसत्तरिकलाहिं[16]॥

---

१. माणु (व्य ४४२७), माणुपुव्विं (नि ३९७४)।
२. कोसे (व्य ४३९९)।
३. कोसो (प्रकी १२८१), सर्वत्र।
४. असी वि कोसी वि दो वि खलु अण्णे (नि ३९४६)।
५. जीवो अन्नो देहो त्ति मन्नेज्जा (प्रकी)।
६. व्य ४४०५, नि ३९५२।
७. ५४२, ५४३ ये दोनों गाथाएं व्य में नहीं हैं।
८. 'कुरुत्तर' (ला), 'कुरुवुत्त' (ब)।
९. तु (व्य ४४०७, नि ३९५४)।
१०. व्य ४४०८, नि ३९५५।
११. पुरिसद्देसि' (नि ३९५७)।
१२. राइवि' (व्य ४४०९)।
१३. सिया कुज्जा (व्य), सया कुज्जा (नि)।
१४. व्य (४४१०) तथा नि (३९५८) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
वोसट्ठचत्तदेहो, अहाउयं कोवि पालेज्जा।
१५. नवंगसुत्तप्पडिबोहयाए (व्य, नि)।
१६. व्य (४४११) और नि (३९५९) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
बावत्तरिकलापंडियाए, चोसट्ठिमहिलागुणेहिं च।

५४९. दो सोत-णेत्तमादिग[1], णवंगसोता हवंति 'एते तु'[2]।
'देसीभासऽट्ठारस'[3], रतीविसेसा उ इगुवीस[4]॥

५५०. कोसल्लगेगवीसतिविधं तु एमादिएहि तु गुणेहिं।
जुत्ताए रूव-जोव्वण-विलास-लावण्णकलियाए[5]॥

५५१. चउकण्णम्मि[6] रहस्से, रागेणं रायदिण्णपसराए।
तिमि-मगरेहि व उदधी, ण खोभितो जो मणो मुणिणो[7]॥

५५२. जाहे पराइया सा, ण समत्था सीलखंडणं[8] काउं।
णेऊण सेलसिहरं, तो 'सिलमुवरिं मुयति तस्स'[9]॥

५५३. एगंतणिज्जरा से, दुविधा आराधणा धुवा तस्स।
अंतकिरियं व साधू, करेज्ज देवोववत्तिं[10] वा[11]॥

५५४. एमादीहि बहुविधं, दुविधं तिविहेहि ते महाभागा।
घोरेहि उवसग्गेहिं, चालिज्जंता वि णिद्दयया॥

५५५. पुव्वा-ऽवर-दाहिण-उत्तरेहि[12] वातेहि आवयंतेहिं[13]।
जह ण वि कंपति मेरू, 'तह ते'[14] झाणाउ न चलिंति[15]॥

५५६. पढमम्मि य संघयणे, वट्टंता सेल-कुड्डसामाणा।
तेसिं पि य वोच्छेदो, चउदसपुव्वीण[16] वोच्छेदे[17]॥

५५७. एतं[18] पादोवगमं, णिप्पडिकम्मं 'जिणेहि पण्णत्तं'[19]।
तित्थगर-गणहरेहि य, साधूहि य सेवितमुदारं[20]॥

---

१. °मादी (व्य ४४१२)।
२. एतेसु (मु, पा)।
३. 'अठारस (मु, ला)।
४. उगु' (ब), इगवीसं (व्य), गा. ५४९ और ५५० के स्थान पर नि (३९६०) में निम्न गाथा है—
सोआती णवसोत्ता, अट्ठारस होंति देसभासाओ।
इगतीस रइविसेसा, कोसल्लं एक्कवीसतिहा॥
५. लायण्ण' (मु, पा, ब), व्य ४४१३।
६. °कण्णंसि (व्य ४४१४)।
७. नि ३९६१।
८. सीलक्खं° (ला)।
९. से सिलं मुंचते उवरिं (व्य ४४१५, नि ३९६२)।
१०. °ववायं (नि)।
११. व्य ४४०५, ४४१६, नि ३९५२, ३९६३।
१२. उत्तरहिं (पा, ला)।
१३. आवडंतेहिं (प्रकी १२८२)।
१४. ते तह (ला)।
१५. व्य ४४००, नि ३९४७।
१६. चोद्दस° (ला, व्य ४४०१, नि ३९४८)।
१७. प्रकी १२८३।
१८. एवं (व्य, नि, ब)।
१९. तु वण्णितं सुत्ते (व्य ४४२९)।
२०. नि ३९७६।

५५८. एवं जहाणुरूवा, संपतिकालम्मि अत्थि जह सोधी।
विज्जंति य सोधिकरा, तं सव्वेतं समक्खातं॥

५५९. एसाऽऽगमववहारो, जहोवदेसं जहक्कमं कहितो।
एत्तो सुतववहारं, सुण वच्छ! जहाणुपुव्वीए[1]॥

५६०. णिज्जूढं चोद्दसपुव्विएण[2] जं भद्दबाहुणा सुत्तं।
पंचविधो ववहारो, दुवालसंगस्स नवणीतं॥

५६१. जो सुतमहिज्जति बहुं, सुत्तत्थं च णिउणं ण याणाति।
कप्पे ववहारम्मि य, 'ण सो'[3] पमाणं सुतधराणं॥

५६२. जो सुतमहिज्जति[4] बहुं, सुत्तत्थं च णिउणं वियाणाति।
कप्पे ववहारम्मि य, सो उ पमाणं सुतधराणं॥

५६३. कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
जो अत्थतो न जाणति, सो ववहारी णऽणुण्णातो॥

५६४. कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
जो अत्थतो विजाणति, ववहारी सो अणुण्णातो[5]॥

५६५. एसो सुतववहारो, जहोवदेसं जहक्कमं कहितो।
आणाए ववहारं, सुण वच्छ! जहक्कमं वोच्छं॥

५६६. समणस्स उत्तिमट्ठे, सल्लुद्धरणकरणे अभिमुहस्स।
दूरत्था जत्थ भवे, छत्तीसगुणा उ आयरिया॥

५६७. अपरक्कमो मि जातो, गंतुं जे कारणं तु उप्पण्णं।
अट्ठारसमण्णतरे, वसणगते इच्छिमो आणं॥

५६८. अपरक्कमो तवस्सी, गंतुं ण चतेइ सोहिकरमूलं।
सीसं पेसेति तहिं, जहिच्छ सोधिं तुमसमीवे[6]॥

---

१. गा. ५५९ से ५६७ तक की नौ गाथाओं की तुलना हेतु देखें व्य ४४३० से ४४३५, ४४३७-३९।

२. °पुव्वीएण (पा, ब, ला)।

३. सो न (व्य)।

४. °ज्जंति (पा, ला)।

५. इस गाथा के बाद व्य (४४३६) में निम्न गाथा अतिरिक्त है—
तं चेवऽणुमज्जंते, ववहारविधिं पउंजति जहुत्तं।
एसो सुतववहारी, पण्णत्तो धीरपुरिसेहिं॥

६. इस गाथा के स्थान पर व्य ४४४०, ४४४१ में निम्न दो गाथाएं हैं—
अपरक्कमो तवस्सी, गंतुं सो सोधिकारगसमीवं।
आगंतु न चाएती, सो सोहिकरो वि देसातो॥
अध पट्ठवेति सीसं, देसंतरगमणनट्ठचेट्ठागो।
इच्छामऽज्जो काउं, सोहिं तुब्भं सगासम्मि॥

५६९. सो वि अपरक्कमगती, सीसं पेसेति धारणाकुसलं।
णातु तहिं जो जोग्गो, इमेण विहिणा परिच्छित्ता[1]॥

५७०. अपरक्कमो य सीसं, आणापरिणामगं परिच्छेज्जा।
रुक्खे व बीयकाए, सुत्ते 'वाऽमोहणाऽऽधारिं'[2]॥

५७१. दट्ठु महल्लमहीरुह[3], भणितो[4] रुक्खे विलग्गितुं डेव[5]।
अपरिणतो बेति 'तओ, णो'[6] वट्टति रुक्खें आरोढुं॥

५७२. किं वा मारेतव्वो, अहयं? तो बेह डेव रुक्खातो।
अतिपरिणामो भणती, इय होऊ अम्ह वेसिच्छा[7]॥

५७३. बेति गुरू अह तं तू, 'अपरिगतऽत्थे य भाससे'[8] एवं।
किं व मए तं भणितो, आरुभ रुक्खे तु सच्चित्ते?॥

५७४. तव-णियम-णाणरुक्खं, आरुहिउं[9] भवमहण्णवावत्तं[10]।
संसारागडमूलं[11], डेवेहि 'मए तुमं'[12] भणितो॥

५७५. जो पुण परिणामो खलु, आरुभ भणितो तु सो विचिंतेती[13]।
णेच्छंति पावमेते, जीवाणं थावराणं पि[14]॥

५७६. किं पुण पंचिंदीणं?, तं भवितव्वेत्थ कारणेणं तु।
आरुहणववसितं तू, वारेति 'गुरूऽहवा थंभे'[15]॥

५७७. एवाऽऽणध बीयाइं, भणिते पडिसेह अपरिणामो तु।
अतिपरिणामो पोट्टल, बंधूणं आगतो तत्थ[16]॥

५७८. 'पच्चाह गुरू ते तू, जहोदिया'[17]ऽऽणेह अंबिलीबीए।
ण विरोहसमत्थाइं, सच्चित्ताइं व भणिताइं[18]॥

---

१. व्य (४४४२) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
एयस्स दाणि पुरतो, करेति सोहिं जहावत्तं।
२. °धारि (पा, ला), व्य ४४४३।
३. महंतम° (व्य ४४४४)।
४. गणिओ (व्य)।
५. डेवे (ब)।
६. तहिं न (व्य)।
७. व्य ४४४५।
८. °रिच्छियत्थे पभाससे (व्य ४४४६)।
९. °हियं (ब)।
१०. °वावण्णं (व्य ४४४७)।
११. संसारगडकूलं (व्य)।
१२. त्ती मए (व्य)।
१३. °तेति (ब)।
१४. तु (पा), व्य ४४४८।
१५. गुरूऽववट्ठंभे (व्य ४४४९)।
१६. व्य ४४५०।
१७. ते वि भणिया गुरूणं, मएँ भणिया (व्य ४४५१)।
१८. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १५।

५७९. 'परिणामगो[1] हु तत्थ वि[2], भणती आणेमि केरिसाइं तु?।
कित्तियमित्ताइं वा?, विरोहमविरोहजोग्गाइं?॥

५८०. सो वि गुरूहिं भणितो, ण ताव कज्जं पुणो भणीहामी।
हसितो व मए 'वाऽसी'[3], वीमंसत्थं व भणितो सि॥

५८१. पदमक्खरमुद्देसं, संधी सुत्तऽत्थ तदुभयं पुट्ठो[4]।
अक्खर-वंजणसुद्धं, 'कहेति सव्वं जहाभणितं'[5]॥

५८२. एवं परिच्छिऊणं[6], जोग्गं णाऊण पेसवे तं तु।
वच्चाहि तस्सगासं, सोहिं सोऊण आगच्छ[7]॥

५८३. अध सो गतो उ तहियं, तस्स सगासम्मि सो करे सोधिं।
दुग-तिग-चऊविसुद्धं, तिविधे काले विगडभावो॥

५८४. दुविधं तु दप्प-कप्पे, तिविधं णाणादिणं तु अट्ठाए।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य चउव्विधं एतं[8]॥

५८५. तिविधं अतीतकाले, पच्चुप्पण्णे व सेवितं जं तु।
सेविस्सं वा एस्से, पागडभावो विगडभावो॥

५८६. किं पुण आलोएती?, अतियारं सो इमो य अतियारो।
वतछक्कादीओ खलु, णातव्वो आणुपुव्वीए॥

५८७. वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक णिसेज्जा य, सिणाणं सोभवज्जणं॥

५८८. तं पुण होज्जाऽऽसेवित, दप्पेणं अहव होज्ज कप्पेणं।
दप्पेण दसविधं तू, इणमो वोच्छं समासेणं॥

५८९. दप्प अकप्प णिरालंब, चियत्ते अप्पसत्थ वीसत्थे।
अपरिच्छ अकडजोगी, अणाणुतावी य णीसंके[9]॥

५९०. वायाम-वग्गणादी, णिक्कारणधावणं तु दप्पो उ।
कायापरिणतगहणं, अकप्पो जं वा अगीतेणं[10]॥

---

१. °णामो (पा)।
२. तत्थ वि परिणामो तू (व्य ४४५२)।
३. × (ला), ता वि (व्य ४४५३)।
४. चेव (व्य)।
५. जह भणितं सो परिकहेति (व्य ४४५४)।
६. पडिच्छि° (पा, ब, ला)।
७. ५८२ से ५८८ तक की सात गाथाओं के लिए देखें व्य ४४५५-६१।
८. एति (ला)।
९. णिस्संके (नि ४६३), णिस्संको (व्य ४४६२)।
१०. नि ४६४।

५९१. संसारखड्डपडितो[1], णाणादवलंबितुं समुत्तरति[2]।
मोक्खतडं जह पुरिसो, वल्लिविताणेण विसमाओ॥

५९२. णाणादीपरिवुड्ढी, ण भविस्सति मे असेवओ बितियं।
तेसिं 'पसंधणट्ठ व'[3], सालंबणिसेवणा होति[4]॥

५९३. 'जा पुण णिक्कारणओ[5], अपसत्थालंबणा य 'सेवा उ'[6]।
अमुगेण वि आयरियं, को दोसो वा[7] णिरालंबा[8]॥

५९४. जं सेवितं तु बितियं, गेलण्णादी[9] असंथरंतेणं।
हट्ठो वि पुणो तं चिय, चियत्तकिच्चो णिसेवंतो॥

५९५. बल-वण्ण-रूवहेतुं, फासुगभोई वि होति अपसत्थो।
किं पुण जो अविसुद्धं, णिसेवते वण्णमादट्ठा[10]?॥

५९६. सेवंतो तु अकिच्चं, लोए लोउत्तरम्मि य[11] विरुद्धं।
परपक्ख सपक्खे वा, वीसत्था सेवणमलज्जे॥

५९७. अपरिच्छितुमायवए[12], णिसेवमाणो तु होति अपरिच्छो।
तिगुणं जोगमकाउं, बितियासेवी अकडजोगी॥

५९८. बितियपदे जो तु परं, तावेत्ता णाणुतप्पती[13] पच्छा।
सो होति अणणुतावी, किं पुण दप्पेण[14] सेवित्ता?॥

५९९. 'करण-भएसु तु'[15] संका[16], करणे कुव्वं[17] ण संकति कयाइ।
इहलोगस्स ण भायति, परलोए वा भया एसा॥

६००. एसा दप्पियसेवा, दसभेद समासतो समक्खाता।
एत्तो कप्पियसेवं, चउवीसविहा इमाऽऽहंसु॥

---

१. °रगडु (नि ४६५)।
२. समारुहति (नि)।
३. °णट्ठा (नि ४६६)।
४. एसा (नि)।
५. णिक्कारणपडिसेवा (नि ४६७)।
६. जा सेवा (नि)।
७. व (ला)।
८. °लंबं (मु)।
९. °ण्णाइसु (नि ४६८)।
१०. नि ४६९।
११. वि (नि ४७०)।
१२. अपरिक्खिउमा° (नि ४७१)।
१३. °प्पते (नि ४७२)।
१४. दप्पो (पा, ला)।
१५. करणे भए य (नि ४७३)।
१६. संकत्ति इह छंदोभंगभया णिगारलोवो द्रष्टव्यः (निचू १ पृ. १५९)।
१७. कुव्वंति (ब)।

६०१. दंसण-णाण-चरित्ते, तव-पवयण-समिति-गुत्तिहेतुं वा।
साहम्मियवच्छल्लेण वावि कुलतो गणस्सेव[1]॥

६०२. संघस्साऽऽयरियस्स य, असहुस्स गिलाण-बाल-वुड्ढस्स।
उदयऽग्गि चोर सावय, भय कंताराऽऽवई वसणे[2]॥

६०३. दंसणपभावगाणं, 'सत्थाणऽट्ठाएँ'[3] सेवती[4] जं तु।
णाणे सुत्त-ऽत्थाणं, 'असंथरासेवणे सुद्धो'[5]॥

६०४. चरणे एसणदोसा, इत्थीदोसा य जत्थ खेत्तम्मि।
तत्तो विणिक्खमंतो, जं सेवाऽसंथरे सुद्धो॥

६०५. नेहादि तवं काहं, कते विगिट्ठे[6] वि लागतरणादी[7]।
अभिवायणा पवयणे, विण्हुस्स विउव्वणा चेव[8]॥

६०६. इरियं ण सोहइस्सं, चक्खुणिमित्तकिरिया तु रीयाए[9]।
खित्तादि बीय ततिया, 'अहवा वि इमं तु तइयाए'[10]॥

६०७. 'अद्धाणकप्पऽणेसी'[11], अण्णं वऽसिवादिकारणेहिं तु।
संकियमादी गिण्हे, जतणाए तत्थ सुद्धो तु[12]॥

६०८. आदाणे चलहत्थो, पमज्जमाणेहिं अण्णहिं जाति।
अहवा वि तस्स अट्ठा, ओसह किंची करेज्जाहि[13]॥

६०९. पंचमिएँ काइभूमादि बंधमाणे उ आरभे किंचि।
विगडादि मणअगुत्ते, वइ-काए खित्त-दित्तादी॥

---

१. व्य ४४६४, नि ४८४।
२. व्य ४४६५, नि ४८५।
३. सट्ठाण° (नि)।
४. सेवए (ब)।
५. नि (४८६) में गाथा के चौथे चरण में गा. ६०४ का संक्षिप्त पाठ है—चरणेसण इत्थिदोसा वा। वहां ६०४ गाथा नहीं है, गाथाओं के क्रम में व्य में ६०३ से ६१३ तक की गाथाएं नहीं मिलती हैं।
६. विगट्ठे (पा, ला)।
७. लाया णाम वीहिया तिमिउं भट्ठे भुज्जित्ता ताण तंदुलेसु पेज्जा कज्जति, तं लायतरणं भण्णति (निचू १ पृ. १६२)।
८. नि ४८७, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १६।
९. इरियाए (नि)।
१०. कप्पेण वऽणेसि संकाए (नि ४८८)।
११. °कप्पाणेसी (पा, ला)।
१२. नि में गाथाओं के क्रम में यह गाथा अप्राप्त है। इसका संक्षेपार्थ गा. ६०६ के चौथे चरण में दे दिया गया है।
१३. नि (४८९) में गा. ६०८ और ६०९ के स्थान पर निम्न गाथा है—
आदाणे चलहत्थो, पंचमिए कादि वच्चभोमादि।
विगडाइ मणअगुत्ते, वइ काए खित्तदित्तादी॥

६१०. 'वच्छल्ल असियमुंडो'[१], नित्थारिओं जह तु अज्जवइरेहिं।
कुल-गण-संघे अभिचारुगादि रायाइणं कुज्जा[२]॥

६११. आयरिय-असहु-अतरा, बाले वुड्ढे य जेण तु समाही।
तं जायिऊण देंती, पणगादीहिं तु जतणाए॥

६१२. निवदिक्खितादि असहू, बालो वइरो व्व दिक्खितो कज्जे।
वुड्ढो वी कज्जम्मी, जह दिक्खितों रक्खितज्जेहिं[३]॥

६१३. उदय-ऽग्गि-चोर[४]-सावय-भएसु थंभणि पलाण रुक्खे वा।
कंतारें पलंबादी, 'दव्वादी आवई[५] चउहा'[६]॥

६१४. कोई[७] तु वियडवसणी, गोज्जादी वावि होज्ज णिक्खंतो।
जतणाएँ वियडगहणं, गाएज्ज व गीतवसणी तु॥

६१५. एयण्णतरागाढे, सदंसणे णाण-चरणसालंबो।
पडिसेवितुं कदाई, होति समत्थो[८] पसत्थेसु[९]॥

६१६. एसा कप्पियसेवा, चउवीसविधा समासतो कहिता।
अहुणा उ चारणा तू, इणमो वोच्छं समासेणं॥

६१७. ठावेत्तु[१०] दप्प-कप्पे, हेट्ठा दप्पस्स दसपदे ठावे।
कप्पाधो चउवीसति, तेसिमह ऽट्ठारसपदा[११] उ॥

६१८. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
पढमे छक्के अब्भिंतरं तु पढमं भवे ठाणं[१२]॥

६१९. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
पढमे छक्के अब्भिंतर[१३] तु इय जाव णिसिभत्तं[१४]॥

---

१. 'ल्ले असिमुंडो (पा, ब)।
२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १७।
३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १८,१९।
४. तेण (नि)।
५. आवइं (ला), आवइ (पा)।
६. वसणं पुण वाइ गीतादी (नि ४९२)।
७. कोइं (पा, ब, ला)।
८. पसत्थो (पा, ब, ला)।
९. व्य ४४६६, नि ४९३।
१०. ठावेउ (व्य ४४६७)।
११. अट्ठार° (मु, ला)।
१२. ६१८ से ६२३ तक की गाथाएं व्य (४४६८-७४) में मिलती हैं लेकिन वहां प्रायः गाथाओं के चौथे चरण में पाठभेद है।
१३. अब्भंतरं (ला) सर्वत्र।
१४. गा. ६१९ से ६२३ तक की पांच गाथाओं का पा प्रति में संकेत मात्र है।

६२०. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
बितिए छक्के अब्भिंतरं[1] तु पढमं भवे ठाणं॥

६२१. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
बितिए छक्के अब्भिंतरं तु इय जाव तसकायं[2]॥

६२२. पढमस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
ततिए छक्के अब्भिंतरं तु पढमं भवे ठाणं॥

६२३. पढमस्स य[3] कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
ततिए छक्के अब्भिंतरं तु इय जाव तु विभूसा॥

६२४. पढममुंचंतेणं, बितियादीए तु जाव दसमं तु।
पढमच्छक्कादीसु उ, पुणो पुणो चारणिज्जाइं॥

६२५. दप्पियसेवाए तू, दप्पेणं चारियाणि अट्ठरस।
दस अट्ठारसगुणिता, आसीतसतं तु गाहाणं॥

६२६. एवं बीतिज्जस्स वि, कज्जस्सा गाह होंति छच्चेव।
सव्वाओ गाहाओ, चत्तारि सता तु बत्तीसा॥

६२७. बितियस्स य कज्जस्सा, पढमेण पदेण सेवितं होज्जा।
पढमे छक्के अब्भिंतरं तु पढमं भवे ठाणं[4]॥

६२८. एवं बितियस्सा[5] वि हु, कज्जस्सा एय चेव गाहाओ।
बितियगअभिलावेणं, सव्वाओ भाणियव्वाओ॥

६२९. पढमं ठाणं दप्पो, दप्पो च्चिय तस्स वी भवे[6] पढमं।
पढमं छक्क वताइं, पाणतिवाओ तहिं पढमं[7]॥

६३०. एवं तु मुसावाओ, अदत्त[8] मेहुण परिग्गहे चेव।
बितिछक्के पुढवादी, ततिछक्के होतऽकप्पादी॥

---

१. अब्भंतरं (ब)।
२. तमक्खायं (ब)।
३. × (ब)।
४. व्य ४४७५।
५. °स्स (पा, ब)।
६. × (पा, ला)।
७. गा. ६२९ के स्थान पर व्य (४४८१) में कुछ अंतर के साथ निम्न गाथा मिलती है—
पढमं कज्जं नामं, निक्कारणदप्पतो पढमं पदं।
पढमे छक्के पढमं पाणइवाओ मुणेयव्वो॥
८. अदिन्न (व्य ४४८२)।

६३१. एवं दप्पपदम्मी, दप्पेणं चारिया उ अट्ठरस[1]।
एवमकप्पादीसु वि, एक्केक्के होंति अट्ठरस[2]॥

६३२. बितियं कज्जं कप्पो[3], पढमपदं तत्थ दंसणणिमित्तं।
पढमं छक्क वताइं, तत्थ वि पढमं तु पाणवहो॥

६३३. 'दंसण अणुम्मुयंतो'[4], पुव्वकमेणं तु चारणीयाइं।
अट्ठारसठाणाइं, एवं णाणादि एक्केक्के॥

६३४. 'चउवीसऽट्ठारसगा'[5], एवं एते हवंति कप्पम्मि[6]।
दस होंति अकप्पम्मी, सव्वसमासेण मुण संखं[7]॥

६३५. दप्पेणाऽसीतसतं, गाहाणं कप्पे होंति चत्तारि।
बत्तीसाऽऽयातेते, छस्सय होंती तु बारस य[8]॥

६३६. सोतूण तस्स पडिसेवणं तु आलोयणं कमविधिं तु[9]।
आगम-पुरिसज्जातं, परियाग-बलं च खेत्तं च[10]॥

६३७. अह सो गतो सदेसं, संतस्साऽऽलोइयल्लयं सव्वं।
आयरियाण कहेती, परियाग बलं च खेत्तं च[11]॥

६३८. सो ववहारविहिण्णू, अणुमज्जित्ता[12] सुतोवदेसेणं।
सीसस्स देति[13] आणं, तस्स इमं देह[14] पच्छित्तं॥

६३९. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते 'पीला भे'[15], सुक्के पणगं तवं कुणह[16]॥

---

१. व्य (४४८३) में गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
निक्कारणदप्पेणं, अट्ठारसचारियाइ एताइं।
२. मट्ठ° (मु, ला)।
३. कारण (व्य ४४८४)।
४. °णमणुमुयंतेण (व्य ४४८५)।
५. °स अट्ठा° (मु, पा, ब)।
६. कप्पंति (ब)।
७. व्य ४४८६।
८. गाथाओं के क्रम में व्य में यह गाथा नहीं है।
९. व (व्य ४४८७)।
१०. वा (ला)।
११. गा. ६३७ के स्थान पर व्य (४४८८) में निम्न गाथा मिलती है—
आराहेउं सव्वं, सो गंतूणं पुणो गुरुसगासं।
तेसिं निवेदेति तधा, जधाणुपुव्विं गतं सव्वं॥
१२. अणुस° (मु)।
१३. देहि (ला, पा)।
१४. देहि (व्य ४४८९)।
१५. भे पीला (व्य) सर्वत्र।
१६. गा. ६३९ से ६४८ तक की गाथाएं व्य में कुछ अंतर के साथ मिलती हैं। द्र. व्य ४४९०-९६।

६४०. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते पीला भे, सुक्के दसमं तवं कुणह॥

६४१. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते पीला भे, सुक्के पक्खं तवं कुणह॥

६४२. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते पीला भे, सुक्के वीसं तवं कुणह॥

६४३. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते पीला भे, पणुवीसतवं[1] कुणह सुक्के॥

६४४. एवं ता उग्घाते[2], अणुघाते 'एत चेव गाहाओ'[3]।
'णवरं तू अभिलावो, किण्हे पणगादि वत्तव्वो'[4]॥

६४५. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते पीला भे, चउमासतवं कुणह[5] सुक्के॥

६४६. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते पीला भे, चउमासतवं कुणह किण्हे॥

६४७. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते पीला भे, छम्मासतवं कुणह सुक्के॥

६४८. पढमस्स य कज्जस्सा, दसविधमालोयणं णिसामेत्ता।
णक्खत्ते पीला भे, छम्मासतवं कुणह किण्हे॥

६४९. छिंदंतु व तं भाणं, गच्छंतु 'व तस्स'[6] साहुणो मूलं।
अव्वावारा[7] गच्छे[8], अब्बितिया वा पविहरंतु[9]॥

६५०. पणगादिभाणछेदं, साहू मूलं[10] भवे पुणक्करणं।
पुव्वमवहाय सव्वं, पंचाऽऽभवणाउ उवरिं तु॥

---

१. पण° (ब)।
२. उवग्घाए (पा)।
३. ताणि चेव किण्हम्मि (व्य)।
४. मासे चउमास-छमासियाणि छेदं अतो वुच्छं (व्य ४४९३)।
५. कुणसु (व्य) सर्वत्र।
६. तवस्स (मु, पा), य तस्स (व्य ४४९७)।
७. अव्वावडा व (व्य)।
८. गच्छो (पा)।
९. परिह° (ब)।
१०. मूले (ब)।

६५१. लिंगादी जोगत्थे, जहण्ण उक्कोसओ व[1] बोधव्वो[2]।
उक्कोस जहण्णो वा, विहरउ सो अब्बितीओ उ॥

६५२. बितियस्स य कज्जस्सा, तहियं चउवीसगं[3] वियाणेत्ता।
णवकारेणाउत्ता, हवंतु एवं भणेज्जासि॥

६५३. एवं गंतूण तहिं, जहोवदेसेण देहि[4] पच्छित्तं।
आणाए 'ववहारो, भणितेसो[5] धीरपुरिसेहिं॥

६५४. एसाऽऽणाववहारो, जहोवदेसं जहक्कमं भणितो।
धारणववहारं पुण, सुण वच्छ! जहक्कमं वोच्छं[6]॥

६५५. उद्धारणा विहारण[7], संधारण संपहारणा चेव।
धारणववहारस्स उ, नामा एगट्ठिता एते[8]॥

६५६. पाबल्लेण उवेच्च उ, उद्धितपदधारणा व[9] उद्धारो।
विविहेहि पगारेहिं, धारेतऽत्थं विधारो तु॥

६५७. सं एगीभावम्मी, धी धरणे ताणि एक्क[10] भावेणं।
धारेतऽत्थपदाणि तु, तम्हा संधारणा होति[11]॥

६५८. जम्हा संपहारेउं, ववहारं पजुंजती।
तम्हा कारणा[12] तेण, णातव्वा संपधारणा[13]॥

६५९. धारणववहारेसो, पउंजितव्वो तु केरिसे पुरिसे?।
भण्णति गुणसंपण्णे, जारिसगे तं सुणेह त्ति॥

६६०. पवयणजससंसि पुरिसे, अणुग्गहविसारदे तवस्सिम्मि।
सुस्सुयबहुस्सुतम्मि य, विवक्कपरियागबुद्धिम्मि॥

---

१. व्य (पा, ला)।
२. °व्वा (ला)।
३. °सतिं (व्य ४५००)।
४. देति (व्य)।
५. एस भणितो ववहारो (व्य ४५०१)।
६. व्य ४५०२।
७. °रणं (ला)।
८. व्य (व्य ४५०३) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है–
नाऊण धीरपुरिसा, धारणववहार तं बेंति।
९. उ (व्य ४५०४, मु)।
१०. एव (मु, पा)।
११. व्य ४५०५।
१२. कारणे (मु, ब)।
१३. गाथा ६५८ से ६६२ तक की गाथाओं की तुलना हेतु देखें व्य ४५०६-१०।

६६१. एतेसु धीरपुरिसा, पुरिसज्जातेसु किंचि खलितेसु।
रहिते विहारइत्ता, जहारिहं देंति पच्छित्तं॥

६६२. रहिते नाम असंते, आदिल्लम्मि ववहारतियगम्मि।
ताहे विहारइत्ता, वीमंसेऊण जं भणितं॥

६६३. पुरिसस्स उ अवराहं[1], विधारइत्ताण जस्स जं भणितं[2]।
तं देंती पच्छित्तं, केणं देंती उ? तं सुणसु[3]॥

६६४. जो धारितो सुतत्थो, अणुओगविधीय धीरपुरिसेहिं।
अल्लीणपलीणेहिं[4], जतणाजुत्तेहिँ दंतेहिं॥

६६५. अल्लीणा णाणादिसु, पइ पइ लीणा[5] उ होंति पल्लीणा[6]।
कोधादी वा पलयं, जेसिं गता ते पलीणा तु[7]॥

६६६. जतणाजुतो पयत्तव, दंतो जो उवरतो तु पावेहिं।
अहवा दंतो इंदियदमेण नोइंदिएणं च[8]॥

६६७. एरिसगा जे पुरिसा, अत्थधरा ते भवंति जोग्गा उ।
धारणववहारण्णू[9], ववहरिउं धारणाकुसला॥

६६८. अहवा 'जेणऽण्णइया'[10] दिट्ठा, सोधी परस्स कीरंती।
तारिसगं चेव पुणो, उप्पण्णं कारणं तस्स[11]॥

६६९. सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे।
तारिसगं अकरेंतो, न हु सो आराहगो होति[12]॥

६७०. सो तम्मि चेव दव्वे, खेत्ते काले य कारणे पुरिसे।
तारिसगं चिय भूतो, 'कुव्वंतो राहओ'[13] होति॥

६७१. अहवा वि इमे अण्णे, धारणववहारजोग्गयमुवेंति।
धारणववहारेणं, जे ववहारं[14] ववहरंति॥

---

१. अइयारं (व्य ४५११)।
२. अरिहं (व्य)।
३. सुणह (व्य, पा)।
४. आलीण° (व्य ४५१२)।
५. ल्लीणा (पा)।
६. तु पलीणा (मु, ब)।
७. व्य ४५१३।
८. व्य ४५१४।
९. °हारं तू (पा, ला)।
१०. जेणं ईया (मु), जेणं इया (ला)।
११. व्य ४५१५।
१२. व्य ४५१६।
१३. कुव्वं आराहगो (व्य ४५१७)।
१४. × (ला)।

६७२. वेयावच्चकरो वा, सीसो वा देसहिंडगो वा वि।
दुम्मेहत्ता ण तरति, अवधारेउं बहू जो तु[1]॥

६७३. तस्स तु उद्धरिऊणं, अत्थपदाइं तु देंति आयरिया।
जेहिं करेति[2] कज्जं, आधारेंतो[3] तु सो देसं[4]॥

६७४. धारणववहारो 'खलु, जहक्कमं[5] वण्णितो समासेणं।
जीतेणं ववहारं, सुण वच्छ! जहक्कमं वोच्छं॥

६७५. वत्तणुवत्तपवत्तो, बहुसो आसेवितो[6] महाणेणं।
एसो तु जीतकप्पो, पंचमगो होति ववहारो॥

६७६. वत्तो णामं एक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो बितियवारे।
ततियव्वारपवत्तो, परिग्गिहीतो महाणेणं[7]॥

६७७. बहुसो बहुस्सुतेहिं, जो वत्तो ण य णिवारितो होति।
वत्तऽणुवत्तपमाणं, जीतेण कतं हवति एतं[8]॥

६७८. जो आगमे य सुत्ते, य[9] सुण्णतो आण-धारणाए य।
सो ववहारं 'जीतेण, कुणति'[10] वत्ताणुवत्तेणं[11]॥

६७९. अमुगो[12] अमुगत्थकतो, जह अमुगस्स अमुगेण ववहारो।
अमुगत्थ वि य तह कओ, अमुगो अमुगेण ववहारो[13]॥

६८०. तं 'चेवऽणुकज्जंतो'[14], ववहारविधिं पयुंजति जहुत्तं।
जीतेण एस भणितो, ववहारो धीरपुरिसेहिं॥

६८१. धीरपुरिसपण्णत्तो, पंचमगो आगमो विदुपसत्थो।
पियधम्मऽवज्जभीरू, पुरिसज्जाताणुचिण्णो य[15]॥

---

१. व्य ४५१८।
२. करेहि (ला, ब, मु)।
३. आराहिंतो (पा, ला)।
४. देसो (व्य ४५१९)।
५. सो अधक्कमं (व्य ४५२०)।
६. अणुवत्तिओ (व्य ४५२१)।
७. व्य ४५२२।
८. व्य ४५४२।
९. या (ब)।
१०. जीतेणं कुणती (मु)।
११. व्य ४५३३।
१२. मु के स्थान पर पा प्रति में सर्वत्र सु पाठ है, जैसे असुतो।
१३. व्य ४५३४।
१४. °णुमज्जंते (व्य ४५३५)।
१५. व्य ४५३६।

६८२. सो जह कालादीणं, अपडिक्कंतस्स[1] निव्विगतियं तु।
मुहणंतफिडित पाणग, असंवरे[2] एवमादीसु॥

६८३. एगिंदिऽणंतवज्जे, घट्टण तावेऽणगाढ गाढे य।
णिव्विगतियमादीयं, जा आयामंतमुद्दवणे[3]॥

६८४. विगलिंदऽणंतघट्टण, 'परितावऽणगाढ'[4] गाढ उद्दवणे।
'पुरिमड्ढादिकमेण उ'[5], णेतव्वं जाव खमणं तु॥

६८५. पंचिंदि घट्ट तावणऽणगाढ गाढे[6] तहेव उद्दवणे।
एगासणमायामं[7], खमणं तह पंचकल्लाणं॥

६८६. एमादीओ एसो, णातव्वो होति जीतववहारो।
अणवज्जविसोधिकरो, संविग्गऽणगारचिण्णो त्ति[8]॥

६८७. जं जीतं सावज्जं, ण तेण जीतेण होति ववहारो।
जं जीतमसावज्जं, तेण उ जीतेण ववहारो[9]॥

६८८. केरिस सावज्जं तू?, केरिसगं वा भवे असावज्जं?
केरिसगस्स व दिज्जति[10], सावज्जं वावि? इतरं वा?॥

६८९. खार[11] हडि[12] हडुमाला, पोट्टेण व रंगणं तु सावज्जं।
दसविधपायच्छित्तं, होति असावज्जजीतं तु॥

६९०. 'ओसण्णे बहुदोसे'[13], निद्धंधस पवयणे य णिरवेक्खे।
एयारिसम्मि पुरिसे, दिज्जति सावज्जजीतं तु॥

६९१. संविग्गे पियधम्मे, य अप्पमत्ते यऽवज्जभीरुम्मि।
कम्ही[14] पमादखलिते, देयमसावज्जजीतं तु॥

---

१. गाथायां षष्ठी पञ्चम्यर्थे (व्यमटी)।
२. ऽसंवरणे (व्य ४५३७)।
३. °यामं तु उद्द° (व्य ४५३८)।
४. तावऽणगाढे य (व्य ४५३९)।
५. °मेणं (व्य, ला)।
६. गाढा (पा)।
७. एक्कासणआयामं (व्य ४५४०)।
८. व्य (४५४१) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
आयरियपरंपरएण, आगतो जाव जस्स भवे।
९. व्य ४५४३।
१०. दिज्जंति (पा)।
११. छार (व्य ४५४४)।
१२. घडि (ब)।
१३. उस्सण्णबहू दोसे (व्य ४५४५)।
१४. कम्हिइ (व्य ४५४६)।

६९२. जं जीतमसोहिकरं, ण तेण जीतेण होति ववहारो।
जं जीतं सोहिकरं, तेण 'उ जीतेण'[१] ववहारो[२]॥

६९३. जं जीतमसोहिकरं, पासत्थ-पमत्तसंजयाचिण्णं।
जइ वि महाणाचिण्णं, ण तेण[३] जीतेण ववहारो[४]॥

६९४. जं जीतं सोधिकरं, संविग्गपरायणेण दंतेणं[५]।
एक्केण[६] वि आइण्णं, तेण उ जीतेण ववहारो॥

६९५. एवं जहोवदिट्ठस्स, धीर-विदुदेसित-प्पसत्थस्स[७]।
णिस्संदो[८] ववहारस्स, एस[९] कहितो समासेणं॥

६९६. को वित्थरेण वोत्तूण, समत्थो णिरवसेसए अत्थे।
ववहारो जस्स 'ठिता, जीहाण मुहे सतसहस्सं'[१०]?॥

६९७. किं पुण गुणोवदेसो, ववहारस्स तु विदुप्पसत्थस्स[११]।
एवं[१२] भे परिकहितं, दुवालसंगस्स णवणीतं॥

६९८. ववहारे पंचसु वी, विज्जंते[१३] केण तू ववहरेज्जा?।
आगमववहारेणं, तस्स अभावा सुतेणं तु॥

६९९. सुतववहारअभावे, ववहारं ववहरेज्ज आणाए।
जेणं सो उ सुतस्सा[१४], अणुसरिसो एगदेसेणं॥

७००. आणाए ऽभावाओ, ववहारं ववहरेज्ज धरणाए।
जेणेसा वि सुतस्सा, वट्टति तू एगदेसम्मि॥

७०१. धारणऽणंतर जीतं, एत्थं[१५] पुण जीतकप्पे पगतं तु।
जेणेसो सावेक्खो, अणुसज्जति जाव 'तित्थं ति'[१६]॥

---

१. × (ला)।
२. व्य ४५४७।
३. तेणं (ला)।
४. व्य ४५४८।
५. दंतेण (ब)।
६. एगेण (व्य ४५४९)।
७. पसत्थं (पा, ला)।
८. नीसंदो (व्य ४५५०)।
९. को वि (व्य)।
१०. मुहे हवेज्ज जिब्भासतसहस्सं (व्य ४५५१), °स्सा (पा, ला)।
११. विदुप° (ला)।
१२. एसो (व्य ४५५२)।
१३. विज्जंत (ला)।
१४. °स्स (पा, ला)।
१५. एयत्थं (ला)।
१६. तित्थम्मि (ब)।

७०२. दव्वं खेत्तं कालं, भावं पुरिस पडिसेवणाओ य।
धिति-बल-संघयणं वा, आवेक्खति जीतकप्पो उ[1]॥

७०३. एस पसंगाभिहितो, चोदगवयणाउ अहुण जीवस्स।
वोच्छामि सोधणं तू, परमं सुसमाहितो एण्हि॥

७०४. जीव त्ति पाणधरणे, पाणा पुण आउमादि णिद्दिट्ठा।
अहवा जीवति जीविस्सई य जीवं[2] ति होति जिओ॥

७०५. होति विसोहण[3] सोहण, जह तू वत्थस्स तोयमादीहिं।
तह कम्ममलखउरल्लियस्सा[4] जीवस्स पच्छित्तं॥

७०६. एयं पुण पच्छित्तं, परम पहाणं ति होति एगट्ठं।
कस्सेयं परमं? ती, जीवस्स उ होति पच्छित्तं॥

**संवर-विणिज्जराओ, मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं।**
**तवसो य पहाणंगं, पच्छित्तं जं च णाणस्स॥ २॥**

७०७. संवर घट्टण पिहणं, एगट्ठं सो य संवरो दुविधो।
देसे सव्वे य तहा, एमेव य निज्जरा दुविहा॥

७०८. संवरियासवदारो, नवकम्मोवज्जणं ण कुव्वति उ।
पुव्वज्जितस्स खवणं, विणिज्जरा सा उ णातव्वा॥

७०९. सेलेसिं पडिवण्णे, दुचरिमसमयम्मि वट्टमाणे य।
तहिँ सव्वसंवरा णिज्जरा य अवसेसदेसम्मि॥

७१०. संवर-विणिज्जराओ, उभयमवी मोक्खकारणं होति।
मोक्खपहो हेतू कारणं ति एते उ एगट्ठा॥

७११. एतेसिं दोण्ह वि तू, तवो पहो हेउ कारणं होति।
एतस्स वि पच्छित्तं, पहाणमंगं मुणेतव्वं॥

७१२. जेण तवो बारसहा, पच्छित्ते णिवतती तु दसभेदे।
तेण पहाणं अंगं, तवस्स तू होति पच्छित्तं॥

---

१. इस गाथा से पूर्व प्रतियों में 'अण्णं च' का उल्लेख है।
२. जिवं (मु, पा, ब)।
३. °हणा (मु)।
४. °क्खउरल्लियस्स (मु, ब, ला)।

७१३. गाहापच्छद्धेणं, तस्स वि जं भणित जं च णाणस्स।
णंतर ततिगाहाए, सारं तू तं चिमं आह॥

**सारो चरणं तस्सा[1], णिव्वाणं चरणसाहणत्थं च।**
**पच्छित्तं तेण तयं, णेयं मोक्खत्थिणा ऽवस्सं[2]॥ ३॥**

७१४. सामाइयमादीयं, सुतणाणं बिंदुसारपज्जंतं[3]।
तस्स वि सारो चरणं, 'चरणस्स वि होति णेव्वाणं'[4]॥

७१५. णेव्वाणस्स अणंतर, चरणं चरणा अणंतरं णाणं।
णाणविसुद्धीए पुण, चारित्तविसुद्धया होति॥

७१६. चारित्तविसुद्धीए, णेव्वाणफलं तु पावती अचिरा।
सा पुण चरित्तसुद्धी, पच्छित्ताहीण णातव्वा॥

७१७. जम्हा एतेऽत्थ गुणा, पच्छित्ते वण्णिता तु सुत्तम्मि।
तम्हा खलु णातव्वं, दसहा मोक्खत्थिणा जहिमं॥

**तं दसविहमालोयण-पडिकमणोभय-विवेग-वोसग्गे[5]।**
**तव-छेद-मूल-अणवट्ठया य पारंचिए चेव॥ ४॥**

७१८. आलोयणअरिहं ती, आ[6] मज्जायाऽऽलोयणा गुरुसगासे[7]।
जं पाव विगडिएणं, सुज्झति पच्छित्त पढमेयं॥

७१९. मिच्छादुक्कडमेत्तेण, चेव जं सुज्झती तु पावं तु।
ण य विगडिज्जति गुरुणो, पडिकमणरिहं हवति एयं॥

७२०. जह तु अणाभोगेणं, खेलादी णिसिरितं तु होज्जाहि।
हिंसादिए य दोसे, ण य आवण्णो तु किंचिदवि॥

७२१. जं पाव सेवितूणं, गुरुणो विगडिज्जती उ सम्मं तु।
गुरुसंदिट्ठ पडिक्कम, तदुभयमेतं मुणेतव्वं॥

---

१. तस्स (पा, ब), तस्स वि (ला)।
२. सव्वं (ब)।
३. जाव बिंदुसाराओ (आवनि ८७)।
४. सारो चरणस्स णिव्वाणं (आवनि)।
५. वोसग्गा (पा)।
६. मुद्रित पुस्तक तथा कुछ प्रतियों में 'आ' पाठ मिलता है लेकिन छंद की दृष्टि से यह अतिरिक्त पाठ प्रतीत होता है।
७. °समासे (पा, मु)।

७२२. जं किंचि दव्वगहितं, अहियमकप्पं व अहव ऊणं तु।
विहिणा तु विगिंचंते[1], पच्छित्त विवेगअरिहेदं॥

७२३. जं कायचेट्ठमेत्तेण, णिरोहेणं[2] तु सुज्झती पावं।
जह दुस्सिमिणादीयं[3], पच्छित्तेयं वियोसग्गं॥

७२४. णिव्वीतियमादीओ, छम्मासंतो उ जत्थ दिज्जति तु।
एय[4] तवारिह भणितं, इदाणि छेदारिहं वोच्छं॥

७२५. जेण पडिसेवितेणं, दूसिज्जति जस्स पुव्वपरियाओ।
तत्तियमेत्तं छिज्जति, सेसगपरियायरक्खट्ठा॥

७२६. जम्मि पडिसेवितम्मी, सव्वं छेत्तूण पुव्वपरियागं।
पुणरवि महव्वयाइं, आरोविज्जंति मूलरिहे॥

७२७. जम्मि पडिसेवितम्मी, अणवट्ठो किंचि काल कीरति तु।
मूलवतेसुं पंचसु, चिण्णतवो पच्छ होऊणं॥

७२८. तद्दोसोवरतस्स उ, महव्वयारुवण कीरती तस्स।
अणवट्ठप्पो एसो, एत्तो पारंचियं वोच्छं॥

७२९. अंचु गती-पूजणयो, पारंचति गच्छती तु पारं तु।
तवमादीणं कमसो, सो लिंगादीहि चतुधा तु॥

७३०. आलोयणमादीणं, दसण्ह वी एस होति पिंडत्थो।
सट्ठाणे सट्ठाणे, विभागतो इणमों वोच्छामि॥

**करणिज्जा जे जोगा, तेसुवउत्तस्स निरतियारस्स[5]।**
**छउमत्थस्स विसोही, जइणो आलोयणा भणिता॥५॥**

७३१. के पुण करणिज्जा? जे[6], तित्थंकर-गणधरोवइट्ठा उ।
सुत्ताणुसारओ तू, संजम-दुक्खक्खया हेऊ॥

७३२. जे त्ति य जे निद्दिट्ठा, जुजि जोगे कायमादिया तिण्णि।
जं जीवे जुंजयती, पेरयती वा ततो जोगा॥

---

१. विगिंचते (पा, ला)।
२. °हेण (पा, ब, ला)।
३. दुस्सिम° (ला, ब)।
४. एयं (पा, ब, ला)।
५. °स्सा (ला)।
६. जे इति अणिद्दिट्ठणिद्देसो (चू)।

७३३. संखेवतो उ एते, मुहपुत्तियमादि जाव उस्सग्गो।
दिय-रायसमायारी[1], जा जहियं वुत्त सुत्तम्मि॥

७३४. ते तु जदा उवउत्तो, असवत्त करेति निरतियारा य।
तद आलोयणमेत्तेण चेव सुद्धी तु छदुमस्स॥

७३५. छउमं कम्मं भण्णति, नाणावरणं च दंसणावरणं।
मोहणिय अंतरायं, चउव्विधं होति णातव्वं॥

७३६. जे[2] तु जदा करणिज्जे, उवयुत्त करेति णिरतियारे य।
नणु तत्थ का[3] व सुद्धी?, का व असुद्धी तु? चोदेति॥

७३७. गुरुराह तत्थ चेट्ठा, जा किरिया सुहुम आसवेसुं वा।
अहव पमादा सुहुमा, अतियार ण जाणती छदुमो[4]॥

७३८. ते अतियारा सुहुमा, आलोइयमेत्तया विसुज्झंति।
सा आलोयण चोदग!, करणिज्जा तीसु जोगेसु॥

७३९. को कारयो? जती तू, जइ साहु पयत्तिओ विणिद्दिट्ठो।
पंचम गाह समत्ता, गाहं छट्ठं इमं वोच्छं॥

**आहारादिग्गगहणे[5], तह बहियाणिग्गमेसु णेगेसु।**
**उच्चार[6]-विहारावणि, चेइयजइवंदणादीसुं[7]॥ ६॥**

७४०. आहारो जेसि आदी, सो चउहा होतिमो तु आहारो।
भत्तं पाणं खादिम, सादिम होती चउत्थं तु॥

७४१. आदिग्गहणेणं पुण, सेज्जा-संथार-वत्थ-पायट्ठा।
पाउंछणअट्ठा वा, ओहोवहुवग्गहट्ठा वा॥

७४२. अहव गिलाणस्सट्ठा, आयरिए बाल-वुड्ढ-खमगे वा।
दुब्बल सेहे व महोदरे व आदेसअट्ठा वा॥

७४३. एतेसिं पाउग्गं, आहारो अहव होज्ज सेज्जादी।
ओसध-भेसज्जाणि य, एमादी होज्ज अट्ठो उ॥

---

१. रायो स° (पा, ला)।
२. ते (पा, ब, ला)।
३. क्का (पा)।
४. च्छतुमो (ला, ब)।
५. °रादीग° (पा, मु)।
६. °च्चारे (ला, ब)।
७. °जह वंद° (ला), °दीसु (ब), चेईयज° (ला)।

७४४. एतेसिं अट्ठाए, गुरु पुच्छित्ता गुरूणऽणुण्णातो।
सुत्ताणुसारतो तू, उवयुत्तो विधीय घेत्तूणं॥

७४५. आलोएती गुरुणो, जं जह गहितं तु भत्तमादीयं।
सुत्ताणुसारतो तू, आलोयणमेत्तयो सुद्धो॥

७४६. सीसाऽऽह जई एवं, विधिगहणं होति एवऽसुद्धं तु।
तो गहणमेव[1] सव्वे, आहारादीण मा कुणउ॥

७४७. चोदग[2]! जदि एवं तू, संजमजोगा उ होंति संपुण्णा।
आहारमादियाणं, को नाम परिग्गहं कुज्जा?॥

७४८. अण्णं च इमो दोसो, अग्गहणा पावती महंतो उ।
आयरियादी चत्ता, णाणादीणं च वोच्छेदो॥

७४९. तम्हा अवस्सगहणं, आहारादीण होति विहिणा उ।
आहारादीगहणे, एगो पादो समत्तेसो॥

७५०. निग्गम गुरुमूलाओ, सेज्जाओ 'वा हवेज्ज'[3] निग्गमणं।
ते य अणेगा निग्गम, कुलादिया इणमु वोच्छामि॥

७५१. कुल-गण-संघे चेइय, तद्दव्वविणासणे दुविधभेदे।
एतेसि णिवारणया, गुरुमूल करेज्ज णिग्गमणं॥

७५२. संथारादीणऽहवा, अप्पिणणत्था उ पाडिहारीणं।
निग्गम गुरुमूलाओ, वसहीओ वा करेज्जाहि॥

७५३. गाहापच्छद्धेणं, जं भणितुच्चार अवणिसद्दो तु।
अवणी भूमी भण्णति, तेण उ उच्चारभूमी उ॥

७५४. सज्झायविहारो तू, अवणीसहितो विहारभूमी उ।
चेइयवंदणहेतुं, गच्छे आसण्ण दूरं वा[4]॥

७५५. आयरिया तु अपुव्वा, अहवा साधू अतीव संविग्गा।
वंदण-संसयहेउं, गच्छे आसन्न दूरं[5] वा॥

---

१. गहणं एव (ला)।
२. वाअग (ला, ब)।
३. × (ला)।
४. व (पा)।
५. दूरे (ला)।

७५६. आदीगहणेणं पुण, सङ्घा सण्णाय अहव ओसण्णा।
दंसणगाहण निक्खामणं च[1] ओसण्णउच्छहणा॥

७५७. एतेहि व कज्जेहिं, गुरुमूला णिग्गमो उ साधूणं।
गाहा छट्ठ समत्ता, अहुणा पुण सत्तमं वोच्छं॥

**जं चउण्णं करणिज्जं, जतिणो हत्थसयबाहिरायरियं।**
**अवियडियम्मि असुद्धो, आलोएंतो[2] तगं सुद्धो॥७॥**

७५८. जं 'चउण्णमवुत्तं'[3] ती, करणिज्जं तं इमं तु खेत्तादी।
हत्थसया आरेणं, परतो व इमं पवक्खामि॥

७५९. खेत्तपडिलेह थंडिल[4], निक्खमणं अहव होज्ज सेहस्स।
संलेहणं व कोई, आयरियादी व कुज्जा तु॥

७६०. हत्थसयाउ परेणं, जं आयरियं तु होज्ज खेत्तादी।
समितिविसुद्धिणिमित्तं, अवस्स आलोयणं कुज्जा॥

७६१. जं पुण हत्थसयाओ, अंतो आसेवितं हवेज्जाहि[5]।
तं विगडिज्जति किंची, अहव ण विगडिज्जती किंची[6]॥

७६२. पासवण-खेल-सिंघाणगादिउवयुत्तें नत्थि आलोया।
आलोएति पमत्तोऽणालोइएँ 'होतऽसुद्धी'[7] तु॥

७६३. सत्तम गाह समत्ता, एत्तो वोच्छामि अट्ठमं गाहं।
कारण निग्गम[8] जत्थ तु, सपरगणाओ व आगमणं॥

**कारणविणिग्गयस्स य[9], सगणाओ परगणं[10] गतस्स वि य।**
**उवसंपदा विहारे, आलोयण निरतियारस्स[11]॥८॥**

७६४. दुविधो उ निग्गमो खलु, कारण निक्कारणा[12] व गच्छाओ।
असिवादी कारणिओ, निक्कारण चक्क-थूभादी॥

---

१. व्व (पा, ब, ला)।
२. °एतो (पा, ला)।
३. चण्णे अवुत्तं (पा)।
४. थंडिलि (ला)।
५. °ज्जाहिं (पा, ला)।
६. किंच (पा, ला), किंचि (मु, ब)।
७. °सुद्धो (मु)।
८. निग्गमे (ब, ला)।
९. उ (ला), च सद्दो आलोयणाइपयं समुच्चिणइ (चू)।
१०. °गणा (मु, ला)।
११. मणइया° (मु, पा)।
१२. °रणो (मु, पा, ब)।

७६५. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अहवा वि उत्तमट्ठे, समाधिकामो तु गच्छेज्जा॥

७६६. आयरियपेसणादी, विणिग्गमो[1] गच्छओ व होज्जाहि।
कारण णिग्गम एसो, निक्कारणओ इमं वोच्छं॥

७६७. चक्के थूभे पडिमा, जम्मण-णिक्खमण-णाण-णिव्वाणे।
महिम समोसरणे वा, सण्णातग-वइयमादिसु वा[2]॥

७६८. असमत्तकप्पियाणं, णिक्कारण णिग्गमा भवे एते।
एते च्चिय कारणतो, जतणाजुत्तस्स गीतस्स॥

७६९. कारणविणिग्गतेणं, णिरतीयारेण वी अवस्सं तु।
आलोयण दातव्वा, समितिविसुद्धीणिमित्तं तु॥

७७०. सा आलोयण दुविधा, ओहेण विभागतो य णातव्वा।
ओहो संखेवो ऊ, विभाग पुण वित्थरो भणितो॥

७७१. ओहो तत्थ इमो खलु, अब्भंतरअद्धमासआयस्स।
पडिकंतस्स य इरियं, साहुसमुद्दिसणवेला तु॥

७७२. णिरतीयारो 'य जती'[3], भत्तट्ठी वि य हवेज्ज जदि सो तु।
ओहेण तत्थ आलोइऊण तो मंडलिं पविसे॥

७७३. अप्पा मूलगुणेसुं, 'विराधणा अप्प उत्तरगुणेसुं'[4]।
अप्पा[5] पासत्थादिसु, 'दाणग्गहणं तु ओहेसा'[6]॥

७७४. अण्णाय उ वेलाए, विभागआलोयणा तु दातव्वा।
समितिविसुद्धिणिमित्तं[7], एमेव य पक्खपरओ[8] वि॥

७७५. एवं ता कारणिए, असिवादीणिग्गतस्स सगणातो।
अतियारविरहियस्स वि, आलोयणमेत्तओ सुद्धी॥

---

१. णिग्गमो (पा, ला), उ णिग्गमो (ब)।
२. ओनि (११९) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
संखडि विहार आहार-उवहि तह दंसणट्ठाए।
३. जयई (ता)।
४. उत्तरगुणतो विराधणा अप्पा (व्य २३८)।
५. अप्पं (ब)।
६. दाणगहसंपयोगोहा (व्य, नि ६३१६)।
७. °तिसुद्धि° (ता)।
८. °परया (पा, ला)।

७७६. जे बहियाऽऽगत साहू, ते दुविधा होंति तू मुणेतव्वा।
*'समणुण्णऽमणुण्णा'*[1] *वा, समणुण्ण सगच्छतो चेव॥*

७७७. *परगणें जे अमणुण्णा, ते दुविहा होंति तू मुणेतव्वा।*
*संविग्गमसंविग्गा, पासत्थादी असंविग्गा॥*

७७८. परगण संविग्गाओ, जो साधू आगतो तु अण्णगणं।
तेण अवस्साऽऽलोयण, विभागतो होति दातव्वा॥

७७९. उवसंपद पंचविधा, सुत सुह दुक्खे य खेत्त मग्गे य।
विणयोवसंपदा वि य, पंचमिगा[2] होति नातव्वा॥

७८०. पंचविहाए नियमा, एगविहाए व जत्थ उवसंपे।
निरतीयारेण ठिता[3], विभागतोऽवस्स दातव्वा॥

७८१. विहरेंति एगसंभोइगा उ फड्डावती उ गीतत्था।
तत्थऽण्णत्थ व खेत्ते, समणुण्णा एस गच्छम्मि॥

७८२. एगाह पणग पक्खे, चउमासे वावि जत्थ व[4] मिलंति[5]।
तत्थ विभागालोयण, अवरोप्पर तेहि दातव्वा॥

७८३. आलोयणारिहं ति इ, पढमं दारमेतं समक्खातं।
पडिकमणारिहमेत्तो, बितियं दारं इमं वोच्छं॥

**गुत्ती-समितिपमादे[6], गुरुणो आसायणा विणयभंगे।**
**इच्छादीणमकरणे, लहुस मुसादिण्णमुच्छासु॥९॥**

७८४. गुपु रक्खणम्मि गुत्ती, ताणि मणादीणि होंति तिण्णेव।
तेहि कहिंचि पमादं, साहु करेज्जा इमं तं च॥

७८५. दुच्चिंतिय दुब्भासिय, दुच्चेट्ठिय एसऽगुत्तिया होति।
मणमादीणं कमसो, एस पमादो उ साधुस्स॥

७८६. गुत्तो होति कहण्णू, मणमादीहिं तु साहुणा निच्चं।
तत्थोदाहरणे तू, जिणदासादी इमे वोच्छं॥

---

१. °णुण्णसमणुण्णा (ला)।
२. पंचविहा (ब)।
३. वि य (पा, ला)।
४. वि (मु, पा)।
५. मलंति (ता, ला, पा)।
६. °पमत्तो (मु, पा)।

७८७. मणगुत्तीए तहियं, जिणदासो सावगो उ सेट्ठिसुतो।
सो सव्वराइपडिमं, पडिवण्णो जाणसालाए॥

७८८. भज्जुब्भामिग पल्लंक, घेत्तु खीलजुयमागता[1] तत्थ।
तस्सेव पायगुवरिं, मंचगपादं[2] ठवेऊणं॥

७८९. अणयारमायरंती, पादो विद्धो य मंचखीलेणं।
तो तं महं ति वियणं, अहियासेती तहिं सम्मं॥

७९०. मणदुक्कडमुप्पण्णं, ण[3] तस्स झाणम्मि निच्चलमतिस्स।
दट्ठूण तीय विलियं, इय मणगुत्ती करेतव्वा[4]॥

७९१. वइगुत्तीए साधू, सण्णातगपल्लि गच्छते दट्ठुं।
चोरग्गह सेणावति, विमोइतो भणिउ मा साह॥

७९२. चलिया य जण्णजत्ता[5], सण्णातग मिलिय[6] अंतरा चेव।
माति-पिति[7]-भातिमादी[8], सो वि णियत्तो समं तेहिं॥

७९३. तेणेहि गहित मुसिता, दिट्ठो तो बेंति सो इमो समणो।
अम्हेहिं गहित मुक्को, तो बेती[9] अम्मया तस्स॥

७९४. तुम्हेहि गहित मुक्को? आमं आणेह बेति तच्छुरियं[10]।
जा छिंदामि थणं ति इ[11], किं? ती सेणावती भणति॥

७९५. दुज्जातजम्म एसो, दिट्ठा[12] अम्हं तहा वि ण वि सिट्ठं।
कह पुत्तो? त्ती आमं, कह ण वि सिट्ठं? ति धम्मकहा॥

७९६. आउट्टो उवसंतो, मुक्को मज्झं पि तं सि माय त्ति।
सव्वं समप्पियं ती, वइगुत्ती एव कातव्वा[13]॥

७९७. काइगगुत्ताहरणं, अद्धाणपवण्णगो जधा साधू।
आवासियम्मि सत्थे, ण लभति तहिँ थंडिलं किंचि[14]॥

---

१. °जुगयमा° (ता)।
२. °गं पादं (ब)।
३. य (पा)।
४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २०।
५. जहण्णत्ता (ला)।
६. विलिय (ला)।
७. पति (ता, पा, ला)।
८. भातिगादी (मु)।
९. बेंती (ब)।
१०. °रिया (पा)।
११. ई (पा, ब)।
१२. दिट्ठं (मु)।
१३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २१।
१४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २२।

७९८. 'लद्धं च णेण किह वी'[1], एगो पादो जहिं पइट्ठाइ।
तहियं ठितेगपादो, सव्वं राइं[2] तहा थद्धो॥

७९९. ण य ठवितो तेणाथंडिलम्मि होतव्वमेव गुत्तेणं।
सुमहब्भए वि अहवा, साहु ण[3] भिंदे गती एगो॥

८००. सक्कपसंसा अस्सद्दहणा देवागमो विउव्वणया।
मंडुक्कलि सुहुम बहू, जतणा सो संकमे सणियं॥

८०१. हत्थी विगुव्वितो या, आगच्छति मग्गतो गुलगुलेंतो[4]।
ण य कुणति[5] गतीभेदं, गएण हत्थेण उच्छूढो[6]॥

८०२. बेति पडंतो मिच्छामिदुक्कडं जिय विराधितं मे[7] त्ति।
ण वि अप्पाणे चिंता, देवो तुट्ठो णमंसति य॥

८०३. गुत्तीदारं भणितं, अगुत्तगुत्ती वि हू पसंगेण।
समितीदारं वोच्छं, समिति[8] समतिं वि माताओ॥

८०४. गमणकिरिया हु समिती, सामण्णे परिणयस्स वा गमणं।
सम्ममयति त्ति समिती[9], सा पंचह इरियमादीया॥

८०५. कह समितीसु पमादं, साधु करेज्जा तु? भण्णते सुणसु।
उड्डमुहो कहरत्तो, वच्चति[10] साधू पमादेसो॥

८०६. सावज्ज भास भासति, गारत्थिय ढड्ढर व्व भासेज्जा।
एमादी तु पमादो, भासाए होति णातव्वो॥

८०७. हिंडंतो गोयरम्मि[11], संकितमादीसु जो तु नाऽऽयुत्तो।
भिक्खाएँ गहणकाले, एसण एसो पमादो तु॥

८०८. आदाण-भंडणिक्खेवणम्मि जो होति एत्थऽणाउत्तो।
एसो होति पमादो, एत्थ पमादम्मि छब्भंगा॥

---

१. × (ब)।
२. राइ (ता, ब)।
३. णं (पा, ला)।
४. गुलेयं (पा, ब)।
५. कुणते (ता)।
६. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २३।
७. मि (ब)।
८. समिति (पा)।
९. समिति (मु, ब)।
१०. × (ला)।
११. °म्मिं (पा, ता)।

८०९. गहणं आदाणं ती, होति णिसद्दो तहाऽहिगत्थम्मि।
खिव पेरणे व भणितो, अहिउक्खेवो तु णिक्खेवो॥

८१०. ण वि पेहे ण पमज्जे, ण[1] वि पेह पमज्जती तु बितिभंगो।
पेहे ण पमज्ज ततिओ, पेह पमज्जे चतुत्थो तु॥

८११. जो सो चउत्थभंगो, पेहेति[2] पमज्जती य तस्स पुणो।
भंगा भवंति चउरो, दुपेहदुपमज्जणे पढमो॥

८१२. बितिओ दुपेहसुपमज्जणम्मि ततिओ सुपेहदुपमज्जे।
सुपडिल्लेहियसुपमज्जितम्मि भंगो चउत्थेसो॥

८१३. आदिमभंगा तिण्णि इ, अपेहअपमज्जणे य पढमादी।
तिण्णि दुपेहादी वि य, छब्भंगा होंति एते तु॥

८१४. उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणमादियाणं च।
परिठवणे एत्थं पि हु, पमादिणो होंति छब्भंगा॥

८१५. परिठवणुच्चारादी, उच्चरती तेण होति उच्चारो।
पस्सवति त्ति य तेणं, पासवणं भण्णते काई॥

८१६. अहवुच्चरती काइय, पायं सवती य पासवणसण्णा।
खे ललणाओ खेलो, 'णासिगलाणाओ सिंघाणो'[3]॥

८१७. एस पमादो भणितो, पंचसु समितीसु इरियमादीसु।
अहुण पसंगेणं चिय, वोच्छामि इ[4] अप्पमादं तु॥

८१८. जुगमेत्तंतरदिट्ठी, पदं पदं नसति[5] चक्खुपूतं च।
अव्वक्खित्तायुत्तो, अरहण्णग एत्थुदाहरणं॥

८१९. अह अरहण्णगसाधू, समितो असमीय गड्ड डेवंतो।
छलिओ पादो छिण्णो, अण्णाए संठिओ[6] यावि[7]॥

८२०. भासासमितो साहू, भिक्खट्ठा णगररोहए कोयी।
णिग्गंतु बाहिकडए, हिंडंतो केणई पुट्ठो॥

---

१. णे (पा, ब, ला)।
२. पेहिति (पा, ला)।
३. 'गलणाओ सिंघाडो (ब)।
४. ई (ता, ब)।
५. मसति (ता, पा)।
६. संधिओ (मु)।
७. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २४।

८२१. केवइय आस हत्थी?, धणणिचयो दारु-धण्णमादीणि।
णिव्विण्णमणिव्विण्णं, णगरं तो बेइमं समितो॥

८२२. बेति ण याणामो त्ती, सज्झाय-ज्झाण-जोगवक्खित्ता।
हिंडंता ण वि पेच्छह, ण वि सुणहा किह हु? तो बेति॥

८२३. बहुं[1] सुणेति[2] कण्णेहिं, बहुं[3] अच्छीहिं पेच्छति[4]।
ण य दिट्ठं सुतं सव्वं, भिक्खु अक्खाउमरहति[5]॥

८२४. अहव य भासति कज्जे, णिरवज्जमकारणे ण भासति य।
विकह-विसोत्तियपरिवज्जितो जती[6] भासणासमितो॥

८२५. बायालमेसणाओ, भोयणदोसे य जो विसोधेति।
सो एसणाएँ सहितो, दिट्ठंतो एत्थ वसुदेवो॥

८२६. वसुदेव अण्णजम्मे, आहरणं एसणाए समितेणं।
मगहा णंदिग्गामे, गोयम धेज्जाइ वक्कयरो[7]॥

८२७. तस्स य वारुणि भज्जा, गब्भो तीए कदाइ संभूतो।
धेज्जाइ मतो छम्मासि गब्भ धेज्जायणिज्जाए॥

८२८. मातुलसंवड्ढण कम्मकरण वेयारणा य लोएणं।
णत्थि तुह एत्थ किंचि इ, तो बेती माउलो तं च॥

८२९. मा सुण लोयस्स तुमं, धूयाओ तिण्णि तासि जेट्ठतरी।
दाहामि करे कम्मं, पकयो पत्ते य वीवाहे॥

८३०. सा णेच्छई विसण्णो, माउलओ भणति अण्ण दाहामि।
सा वि तहेव य णेच्छति, तइयं ती णेच्छती[8] सा वि॥

८३१. णिव्विण्ण नंदिवद्धण, आयरियाणं सगासें णिक्खंतो।
जातो छट्ठक्खमगो, गिण्हति य अभिग्गहमिमं तु॥

८३२. बाल-गिलाणादीणं, वेयावच्चं 'मए तु कातव्वं'[9]।
तं कुणति तिव्वसद्धो[10], खातजसो सक्क गुणकित्ती॥

---

१. बहू (ब)।
२. सुणेहि (ता)।
३. बहू (ब)।
४. पेच्छहिति (ला)।
५. °हसि (पा, ला, ता), °मरिहइ (दश ८/२०), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २५।
६. जति (पा, ब, ला)।
७. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २६।
८. णेच्छइ य (मु, पा)।
९. × (ला)।
१०. °सुद्धो (पा, ला)।

८३३. अस्सद्दहणा[1] देवस्स आगमो कुणति दो समणरूवे।
अतिसारगहितमेगो, अडवीय ठितो गतो बितिओ॥

८३४. बेति य गिलाणो पडितो, वेयावच्चं तु सद्दहे जो उ।
सो खिप्पं[2] उट्ठेतू, सुतं च तं नंदिसेणेणं॥

८३५. छट्ठोववासपारणगमाणितो कवल घेत्तुकामेणं।
तं सुत मोत्तुं रभसुट्ठितो य[3] भण केण कज्जं? ति॥

८३६. पाणगदव्वं[4] च तहिं, जं णत्थी तेण बेति कज्जं ति।
णिग्गत आहिंडंते[5], अणेसणं कुणति ण य पेल्ले॥

८३७. इत एक्कवार बितियं, च हिंडितो 'लद्ध ततियवाराए'[6]।
अणुकंपा तूरंतो, गतो य तो तस्सगासं तु॥

८३८. खर-फरुस-णिट्ठुरेहिं, अक्कोसति सो गिलाणगो रुट्ठो।
दे मंदभग्ग! घुक्किय, तूससि तं नाममेत्तेणं॥

८३९. साहुवयारि त्ति तुमं, णामट्ठ अहं तु उद्दिसिउ आओ।
एयाएँ अवत्थाए, तं अच्छसि भत्तलोहिल्लो॥

८४०. अमयमिव[7] मण्णमाणो, तं फरुसगिरं तु सो ससंभंतो।
चलणगतो खामेती, धुवति य तं समललित्तं तु॥

८४१. उट्ठेह वयामो त्ती, तह काहामो जहा उ अचिरेणं।
होहिह निरुया तुब्भे, बेती ण तरामि गंतुं जे॥

८४२. आरुभहा पट्ठीए, आरूढो ताहें तो पयारं तु।
परमासुइ दुग्गंधं, मुंचति सो तस्स पट्ठीए॥

८४३. फरुसं बेति दुमुण्डिय! , वेगविघातो कतो[8] त्ति दुक्खवितो।
इय बहुविहमक्कोसति, पदे पदे सो वि भगवं तु॥

८४४. ण गणेती फरुसगिरं, न वि य हु दुव्विसहमसुइगंधं च।
चंदणमिव मण्णंतो, मिच्छामी दुक्कडं भणति॥

---

१. °द्दहाण (ला, मु)।
२. सिग्घं (ला, मु)।
३. यं (ब)।
४. °गउच्चं (ता, पा, ब, ला)।
५. °डंतो (ला)।
६. तइय लद्धवा° (ता)।
७. °य विव (ला)।
८. कत्तो (पा), करो (ब)।

८४५. चिंतेति किं करेमी, कह णु समाधी हवेज्ज साहुस्स?।
इय बहुविधप्पगारं, ण वि तिण्णो जाहें खोभेउं॥

८४६. ताहे अभित्थुणित्ता,गतो तओ आगतो य इतरो वि।
आलोएति गुरूहि य, धण्णो[1] त्ति ततो समणुसट्ठो॥

८४७. जह तेणं ण वि पेल्लिय, एसण इय एव साहुणा निच्चं।
अइयव्वं एमेसा, एसणसमिती समक्खाता॥

८४८. पुव्विं चक्खु परिक्खिय, पमज्जितुं जो[2] ठवेति गिण्हति वा।
आदाणभंडनिक्खेवणाएँ सो होति इह समितो॥

८४९. एत्थ वि ते च्चिय भंगा, कातव्वा जाव होति अंतिमतो।
सुप्पडिलेहित-सुपमज्जितं च भंगो चउत्थो उ॥

८५०. एसो गज्झो एत्थं, तम्मुवयुत्तो स होति खलु समितो।
आहरण गुरुण भणितो, साहू वच्चामु गामं ति[3]॥

८५१. ओगाहिते[4] पडिग्गह, ताहें ठिता कारणेण केणावि।
तत्थेगो पेहेउं, णिक्खिवती[5] बितिओ[6] पुण आह॥

८५२. पेहितमेतं किं पेहणा, पुणो[7]? होज्ज एत्थ किं सप्पो?।
सण्णिहितदेवताए, विउव्वितो तत्थ तो सप्पो॥

८५३. उग्घाडिते य दिट्ठो, आउट्टो बेति मिच्छकारं च।
समिताऽसमिता एते, उक्कोस-जहण्णगा होंति॥

८५४. उच्चारं पासवणं, खेलादि व अण्णपाणमहितं च[8]।
सुविवेइए पदेसे, णिसिरंतो होति इह समितो॥

८५५. एत्थ वि ते च्चिय भंगा[9], तहेव समितो तु अंतिमे होति।
आहरणं धम्मरुई[10], परिठावणसमितिमुज्जुत्तो[11]॥

---

१. धण्णु (ता)।
२. × (ब)।
३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २७।
४. उग्गा° (ब)।
५. णिक्खिविई (ता)।
६. बितीओ (ता, पा, ला)।
७. × (ता)।
८. वा (मु, ता)।
९. भंगो (ता, पा)।
१०. °रुती (पा, ब, मु)।
११. °ट्ठावण° (पा, ला)।

८५६. काइयऽसमाहि परिट्ठावणे य गहितो अभिग्गहो तेणं।
सक्कपसंसा अस्सद्दहणा[1] देवागम विउव्वे॥

८५७. सुबहू पिपीलियाओ, बाहाडा यावि काइयऽसमाही।
अण्णो य काइयाए, उवट्ठितो बेतऽहं असहू॥

८५८. अहयं तु काइयाडो, बेति परिट्ठव समाहि मा अच्छ।
णिग्गत णिसिरे जहिँ जहिँ, पिवीलिया ऊ सरे तत्थ॥

८५९. अह साहु किलामिज्जति, ताहे पीतो[2] य धरितो देवेणं।
सो[3] मा य णिसिद्धो त्ती, मा पिय देवो य आउट्टो॥

८६०. वंदित्तु गतो देवो, समितीसू एव होति जतितव्वं।
एत पसंगाभिहितं, 'आसातण इणमु वोच्छामि'[4]॥

८६१. गुरवो आयरिया तू, णाणादीओ उ होति आयारो।
आयरण परूवणया, वट्टति सो तेसिमाऽऽसाणा[5]॥

८६२. तीय विभासा इणमो, आसातण दुपद वयणमेव त्ति।
आयाय सातयाणा, आयस्स उ साडणा जा उ॥

८६३. सा होती आसातण, आओ लाभो त्ति आगमो यावि।
णाणादीणं साया[6], सायण धंसो विणासो त्ति॥

८६४. आतस्स 'साडणं ती'[7], यकारलोवम्मि होति आसयणा।
आयरियाणं इणमा[8], आसायण[9] होतिमेहिं तु॥

८६५. डहरो अकुलीणो 'त्ति य'[10], दुम्मेहो दमग मंदबुद्धि त्ति।
अवि अप्पलाभलद्धी, सीसो परिभवति आयरियं[11]॥

८६६. अहवा वि वदे एवं, उवदेस परस्स देंति एवं तु।
दसविधवेयावच्चं, कातव्व सयं ण कुव्वंति॥

---

१. असद्द (ला)।
२. पवीतो (ता, ब)।
३. मा (मु), सा (पा)।
४. × (ता), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २८।
५. ता प्रति में यह गाथा नहीं है।
६. सोया (पा, ब, ला)।
७. °डम्मी (ता)।
८. इणमो (पा, मु)।
९. आसायणा (पा)।
१०. त्ती (पा, ब, ता)।
११. बृ ७७२, नि २७६०।

८६७. अहव तिहा आसायण, मण-वइ-काएण मणपदोसादी।
वायाए आसातण, अंतरभासादि कुव्वेज्जा॥

८६८. काएणं संघट्टण, जमलित पुरतो व वच्चती पंथे[1]।
अहवा आसायणमो, तुसिणीमादी मुणेतव्वा॥

८६९. आलत्ते वाहित्ते, वावारित-पुच्छिते णिसट्ठे या।
गुरुवयणा पंचेते, सीसस्स तु छा इमेक्केक्के[2]॥

८७०. तुसिणीए हुंकारे, किं ति व[3] किं चडकरं[4] करेसि? त्ति।
किं णिव्वुतिं[5] ण देसी?, केवइयं वावि रडसि? त्ति[6]॥

८७१. एवं छा[7] आलत्ते, तुसिणीमादी तु होंति णातव्वा।
वाहित्तादि य छ च्चिय, एक्केक्कपदम्मि बोद्धव्वा॥

८७२. गुरुआसायण भणिता, एत्तो वोच्छामि विणयभंगं तु।
णेगविध अब्भुट्ठाणें, अभिग्गहे आसणे चेव॥

८७३. आसणदाणं सक्कारणा य सम्माणणा य कितिकम्मे।
अंजलिपग्गहे अणुगती या ठितपज्जुवासणता॥

८७४. जंते पडिसंसाहण, आसणमादीहि होति सक्कारो।
सम्माणो उवहीए, जोग्गं जं जस्स तं कुज्जा॥

८७५. कप्पो संथारो वा, जहिं चेट्ठो अच्छती तु आयरिओ।
णायागमस्स कालं, पडिलेहिय घेत्तु तं अच्छे॥

८७६. कितिकम्मं वंदणगं, हत्थुस्सेहो निडालदेसम्मि।
अंजलिपग्गहमेतं, सेसा तु पदा हु कंठोत्ता॥

८७७. एमादी विणयं तू, जो ण वि कुणती तु सूरिमादीणं।
विणयब्भंगो एसो, सत्तविधो अहव णाणादी॥

८७८. णाणे दंसण चरणे, मण-वइ-कायोवयार सत्तविधो।
एतेसु[8] अवट्टंते, समासतो एस भंगो तु॥

---

१. पत्थे (पा, ला)।
२. नि (८६३) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
फरुसवयणम्मि एए, पंचेव गमा मुणेयव्वा।
३. वि (ला)।
४. चदगरं (ला, ब)।
५. णिव्वुती (नि ८६६)।
६. बृ ६१०५।
७. च्छा (पा, ब, ला)।
८. एतेसिं (ता, पा, ब, ला)।

८७९. विणयब्भंगो[1] एसो, ओहेण समासतो समक्खातो।
इच्छादी दसहा तू, अकरणेणमो तु[2] वोच्छामि॥

८८०. इच्छा-मिच्छा-तहक्कारो, आवसिया य णिसीहिया।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा[3]॥

८८१. उवसंपया य काले, इच्छादिअकरणया तु दसहेसा।
लहुसमुसावादि त्ती, एत्तो उ समासतो वोच्छं॥

८८२. पयला उल्ले मरुगे, पच्चक्खाणे य गमण-परियाए।
समुद्देस-संखडीओ[4], खुड्डग-परिहारिय मुहीउ[5]॥

८८३. अवस्सगमणं[6] दिसासु[7], एगकुले चेव एगदव्वे य।
एमादी तु पदेहिं, मुसं तु लहुसं वए साहू[8]॥

८८४. पयलासि किं दिवा? ण पयलामि लहु बितिय[9] णिण्हवे गुरुगो।
अण्णद्दाविय[10] णिण्हवें, लहुगा गुरुगा बहुतराणं॥

८८५. णिण्हवणे णिण्हवणे, पच्छित्तं वड्ढती तु[11] जा सपदं।
लहु-गुरुमासो सुहुमो, लहुगादी बादरो होति[12]॥

८८६. किं 'वच्चसि वासंते?, ण गच्छे'[13] णणु वासबिंदवो एते।
भुंजंति णीह मरुगा, कहं? ति णणु सव्वगेहेसु[14]॥

८८७. भुंजसु[15] पच्चक्खाणं[16], महं ति तक्खण पभुंजितो पुट्ठो।
किं च ण मे पंचविधा, पच्चक्खाता अविरतीओ[17]?॥

८८८. वच्चसि? णाहं वच्चे, तक्खण वच्चंत पुच्छितो भणति।
सिद्धंतं ण वि जाणह[18], णणु गम्मति गम्ममाणं तु?॥

---

१. °य भंगो (ता)।
२. तू (ब)।
३. गाथा में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग हुआ है, आवनि ४३६/१।
४. °खडी (पा)।
५. बृ ६०६६, नि २९८, ८८२।
६. अवस° (पा, ता, ब, मु)।
७. दिसासू (ला, मु), दिस्सासू (नि २९९)।
८. (बृ ६०६७ और नि ८८३) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
पडियाखित्ता गमणं, पडियाखित्ता य भुंजणयं।
९. दुच्च (बृ ६०६८), दोच्च (नि ३००)।
१०. °ह्वाइत (बृ)।
११. य (बृ ६०६९), ऊ (ब, मु)।
१२. नि ३०१।
१३. नीसि वासमाणे ण णीमि (बृ ६०७०)।
१४. °गेहेहिं (नि ३०२)।
१५. भुंजंसु (ता, पा, ब, ला)।
१६. °खातं (नि ३०३, बृ)।
१७. °रई उ (बृ ६०७१)।
१८. जाणसि (नि ३०४, बृ ६०७२)।

८८९. दस एतस्स य मज्झ य, पुच्छितों परियाग बेति तु छलेणं।
'मज्झ नव त्ति य वंदितें'[1], भणाति बे पंचगा दस उ[2]॥

८९०. वट्टति तु समुद्देसो, किं अच्छह कत्थ एस[3] गगणम्मि।
'वट्टंति संखडीओ'[4], घरेसु नणु आउखंडणया[5]॥

८९१. खुड्डग जणणी उ[6] मुया, परुण्णों जियइ त्ति एव भणितम्मि।
माइत्ता सव्वजिया, भविंसु तेणेस माता ते॥

८९२. ओसण्णे दट्ठूणं, दिट्ठा परिहारिग त्ति लहु कहणे[7]।
कत्थुज्जाणे गुरुगो, 'अदिट्ठ दिट्ठे य'[8] लहु-गुरुगा॥

८९३. छल्लहुगा उ नियत्ते, आलोएंतम्मि छग्गुरू होंति।
परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी भवे छेदो[9]॥

८९४. खाणुगमादी मूलं, सव्वे तुब्भेगो हं ति अणवट्ठो।
सव्वे उ बाहिरा पवयणस्स तुब्भे त्ति पारंची[10]॥

८९५. भणइ य दिट्ठ णियट्टे, आलोयामं ति घोडगमुहीउ।
'किमणुस्सा सव्वेगो'[11], सव्वे बाहिं पवयणस्स॥

८९६. मासो लहुगो गुरुगो, चउरो मासा हवंति लहु-गुरुगा।
छम्मासा लहु-गुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च[12]॥

८९७. गच्छसि ण ताव गच्छं, 'तक्खण वच्चंत'[13] पुच्छितो भणति।
वेला 'ताव ण'[14] जायति, परलोगं वावि मोक्खं वा॥

८९८. 'कतरिं दिसिं'[15] गमिस्ससि?, पुव्वं अवरं गतो भणति पुट्ठो।
किं वा ण होति पुव्वा, इमा दिसा अवरगामस्स?॥

---

१. मम नव पवंदियम्मिं (बृ ६०७३)।
२. नि ३०५।
३. एह (नि ३०६)।
४. वट्टइ संखडी उ (ता, ब)।
५. बृ ६०७४।
६. ते (बृ ६०७५, नि ३०७)।
७. करणे (ब)।
८. वयंतऽदिट्ठेसु (बृ ६०७६), दिट्ठेसु (नि ३०८)।
९. नि ३०९, बृ ६०७७।
१०. नि ३१०, तु. बृ ६०७८, इस गाथा के बाद बृ (६०७९) में निम्न गाथा अतिरिक्त मिलती है—
किं छागलेण जंपह, किं मं होप्पेह एवऽज्जाणंता।
बहुएहिं को विरोहो, सलभेहि व नागपोतस्स॥
११. किं मणु (नि ३११), माणुस सव्वे एगे (बृ ६०८०)।
१२. बृ ६०८१, नि ३१२।
१३. किं खु ण जासि त्ति (बृ ६०८४, नि ३१३)।
१४. ण ताव (बृ, नि)।
१५. दिसं (बृ ६०८५), कतरं दिसं (नि ३१४)।

८९९. अहमेगकुलं गच्छं, वच्चह बहुकुलपवेसणे पुट्ठो।
भणति कहं दोण्णि कुले, एगसरीरेण पविसिस्सं[1]॥

९००. वच्चह एगं दव्वं, घेच्छं णेगगह पुच्छितो भणति।
गहणं तु लक्खणं पोग्गलाण 'णऽण्णेसि'[2] तेणेगं[3]॥

९०१. पयलादी तु पदा खलु, एमेते वण्णिता समासेणं।
लहु-गुरुगा जाव मुसं, लहुसगमेतं मुणेतव्वं॥

९०२. तण-डगल-छार-मल्लग, उग्गहमणणुण्णवेत्तु जो गिण्हे।
लहुसग अदत्तमेतं, अहवा रुक्खादिसू[4] लहुसं॥

९०३. मुहणंत पायकेसरि, पत्तट्ठवणं च गोच्छगो[5] चेव।
लहुसपरिग्गहमेसो, मुच्छ करेंतस्स साहुस्स॥

९०४. अहवा वि इमो अण्णो, सेज्जातर-गोण-साण-कागादी।
धारण कप्पट्ठस्स[6] व, रक्ख-ममत्तादि 'कुज्जा तु[7]'॥

९०५. बितियवय-ततिय-पंचम, लहुस्सगा एते होंति णातव्वा।
गाहेसा तु समत्ता, नवमा दसमं अतो वोच्छं॥

**अविहीय कास-जंभिय-खुय[8] वाया[9]ऽसंकिलिट्ठकम्मेसु।**
**कंदप्प-हास - विकहा - कसाय - विसयाणुसंगेसु॥१०॥**

९०६. अविही हत्थमदातुं, अहवा मुहणंतगं अदाऊणं।
जंभाइए वि एवं, खुइए वी एव वत्तव्वं॥

९०७. खु त्ति कतं तं सुइतं[10], छीयं वा होति इह उ खुइतं तु।
वातणिसग्गो दुविधो, उड्ढे य अहे य णातव्वो॥

९०८. उड्ढं उड्डोयादी, वातणिसग्गो अहे मुणेतव्वो।
मुहणंतग हत्थं वा, उड्डोए तत्थ जतणाए॥

---

१. बृ ६०८६, नि ३१५।
२. णिण्णेसि (ता)।
३. बृ ६०८७, नि ३१६।
४. लुक्खा° (ता)।
५. गोच्छतो (ता)।
६. × (ला)।
७. कुज्जासु (ता)।
८. खुह (ता)।
९. वाय त्ति पयं कम्मसद्देण सम्बज्झइ (चू)।
१०. खुइतं (मु)।

९०९. पुयकड्डणा उ हेट्ठे, वातणिसग्गस्स होति जतणेसा।
इय वतिरित्तो जो खलु, अविहीए सो णिसग्गो तु॥

९१०. छेदण-भेदणमादी, असंकिलिट्ठे य होति कम्मं तु।
कंदप्पो वायाए, काएण व होति णातव्वो॥

९११. हासं तु हासमेव तु, विकहा पुण इत्थिमाइया चउहा।
कोहादी उ कसाया, विसया सद्दादिया णेया॥

९१२. जा तेसिं तु पसज्जण, सहसाऽणाभोगतो व[1] साधूणं।
सो होति विसयसंगो, अविहीगाहा समत्ता उ॥

**खलितस्स य[2] सव्वत्थ वि, हिंसमणावज्जगो जयंतस्स।**
**सहसाऽणाभोगेण व, मिच्छाकारो[3] पडिक्कमणं॥ ११॥**

९१३. खलणा दुविहा भणिता, सहसाऽणाभोगतो व होज्जाहि।
सा कत्थ पुणो दुविहा, सव्वत्थ इमं पवक्खामि॥

९१४. सव्ववतेसुं गुत्तिसु, समिती णाणादिएसु व हवेज्जा।
सव्वत्थ वि एतेसुं, खलणेसा होति णातव्वा॥

९१५. सहसाऽणाभोगेण व, हिंसमणावज्जगो जयंतस्स[4]।
सहसाऽणाभोगेणं, को णु विसेसो? त्ति चोदेति॥

९१६. आउत्तो वि य होउं, कारेंतो वि[5] ण याणतीयारं।
जह हं करेमि एतं, कते य नाऽयं अणाभोगो॥

९१७. आउत्त पुव्वभासा, पडिसेवण सहस एव जा तु भवे।
ण य तरति णियत्तेउं, सहसक्कारो भवे एसो॥

९१८. सहसाऽणाभोगा तू, सव्वत्थ उ वण्णिता समासेणं।
एस विसोहिट्ठाणं, मिच्छक्कारो पडिक्कमणं॥

**आभोगेण वि तणुगेसु णेह-भय-सोग-बाउसादीसु।**
**कंदप्प-हास-विगहादिगेसु णेयं पडिक्कमणं॥१२॥**

---

१. वा (पा, ब, ला)।
२. च सद्दो पडिक्कमणारोवणं समुच्चिणइ (चू)।
३. मिच्छक्का (मु, पा)।
४. जवंत (पा, ला)।
५. प्रतियों में 'वि' पाठ है लेकिन छंद की दृष्टि से 'वी' अथवा 'वि य' पाठ होना चाहिए।

९१९. आभोगे जाणंतो, तणुगो थोवे तु होति णातव्वो।
तं पुण करेज्ज कप्पट्ठ-सेज्जतर-सण्णिमादिसु[1] वा॥

९२०. एमादी णेहाऊ, जं कत कप्पट्ठगादि आभोगा।
तस्स तु पायच्छित्तं, मिच्छक्कारो पडिक्कमणं॥

९२१. तणुगो णेहो भणितो, भय[2] सत्तविहं इमं तु वोच्छामि।
इह परलोगाऽऽदाणे, अकम्ह आजीवियऽसिलोगे॥

९२२. मरणभयं सत्तमगं, एतेसि समासतो विभागो[3] इमो।
मणुओ मणुयस्सेव तु, देवो देवस्स तिरि तिरिए॥

९२३. बीभेति सजातीए, इहलोगभए य होति बोद्धव्वं।
परलोगभयं विसरिस, जह मणुओ बीभे तिरिदेवे॥

९२४. धणमादाणं भण्णति, तब्भय चोरादियाण जं बीभे।
तस्सेव य[4] रक्खट्ठा, वइ-पागारादि जं कुणति॥

९२५. अणिमित्त अकम्हभयं, ण वि किंची पासती तह वि बीभे।
अडवीए रातीय व, आजीवभयं जहा अहणो॥

९२६. दुक्कालो आदेसो, कह जीवी हं ति एस चिंतेति।
मरणभयं सिद्धं चिय, मरणमिति महब्भयं जह तु॥

९२७. असिलोगो त्ति इ[5] अयसो, जइ एव करिस्स होहिती अयसो।
असिलोगभयं एतं, वेदणभय होति सीतादी॥

९२८. सत्तविधं भयमेतं, एतेसु तु[6] वट्टितं तु जं तणुगे।
तस्स विमोहिट्ठाणं, मिच्छक्कारो पडिक्कमणं॥

९२९. सोगं आभोगेण वि, चिंतादि करेंति[7] विप्पयोगम्मि।
तस्स तु पायच्छित्तं, मिच्छक्कारो पडिक्कमणं॥

९३०. आभोगमणाभोगे, संवुडमस्संवुडे य अहसुहुमे।
पंचविधो बाउसिओ, सुहुमाभोगेण पगतेत्थं॥

---

१. °माइ (ता, ब)।
२. भइ (पा, मु)।
३. इणमो (ता)।
४. × (पा, ब, ला)।
५. ई (ता, पा, ब, ला)।
६. यु (ता, पा, ब)।
७. करंते (ब)।

९३१. कंदप्पादी तु पदा, पुव्वुत्तकमा तु दसमगाहाए।
एव जहुद्दिट्ठेसु, तणुगे सोधी पडिक्कमणं॥

९३२. बितियद्दार समत्तं, पडिक्कमणारिहमहुण ततियं तु।
तदुभयदारं वोच्छं, तत्थ इमा होति गाहा तु॥

**संभमभयातुरावतिसहसाणाभोगऽणप्पवसओ[1] वा।**
**सव्वव्वयातियारे[2], तदुभयमासंकिते चेव॥ १३॥**

९३३. संभमऽणेगविधो खलु, हत्थी अगणी व उदगमादी उ।
भय दसुग मिलक्खू वा, मालवतेणादिओ[3] बहुहा॥

९३४. पढमबितियादिएहिं[4], परीसहेहाऽऽतुरो तु बहुहा तु।
आवइ चउहा इणमो, समासतोऽहं पवक्खामि॥

९३५. दव्वावति खेत्तावइ, कालावइ भावआवई चेव।
दव्वावती तु दव्वं, जं दुलभं होति साहुस्स॥

९३६. विच्छिण्णमडंबादी, खेत्तावति एस होति णातव्वा।
कालावती तु ओमे, भावे तु गुरू-गिलाणादी॥

९३७. सहसाऽणाभोगा तू[5], पुव्वुत्ता अहुण वोच्छऽणप्पवसो।
णप्पवसो उ[6] परवसो[7], सो होति इमेहि कज्जेहिं॥

९३८. वाइय-पित्तिय-सिंभिय[8], अहवा वी होज्ज सण्णिवाएणं।
एतेहिं[9] अणप्पवसो, अहवा होज्जा इमेहिं तु॥

९३९. जक्खाइट्ठसरीरो, मोहणिए[10] अहव होज्ज कम्मुदए।
एतेहि अणप्पवसो, होज्जाही कारणेहिं तु॥

९४०. एव जहुद्दिट्ठेसुं, संभममादीसु कारणेसुं तु।
सव्वव्वयातियारं, णासं तु 'करेज्जऽणप्पवसो'[11]॥

---

१. संभमो° (ब) °भोगाऽणप्प° (ला)।
२. °यातीयारे (मु)।
३. °णाईओ (पा, ब, ला)।
४. °बितीया (पा)।
५. तु (ता)।
६. × (पा)।
७. °रव्वसो (ता, ब)।
८. सिंब्भिय (ब)।
९. एतेसिं (ता, पा, ला)।
१०. मोहणीए (ला, ब)।
११. °ज्जाण° (पा, ला)।

९४१. पुढवि जल अगणि[1] मारुत, वणस्सती कुज्ज रुक्खरुहणं वा।
बिय तिय चउरो पंचिंदियं च साहू विराहेज्जा॥

९४२. एव मुसावादादी, अणपज्झो आयरेज्ज साहू तु।
पिंडविसोहादीणि व, सेवेज्ज व उत्तरगुणाणि॥

९४३. एमादी[2] आवण्णे, अतियारविसोहि तदुभयं होति।
तदुभय गुरुमालोइय, मिच्छामी दुक्कडं बेति॥

९४४. आसंकिते तदुभयं, मूलगुणे उत्तरे य णातव्वं।
परिछिंदितु ण वि सक्के, कतमकतं एस आसंका॥

**दुच्चिंतिय[3] दुब्भासिय, दुच्चिट्ठिय एवमादियं[4] बहुहा[5]।**
**उवउत्तो वि ण याणति, जं देवसियातियारादी॥१४॥**

९४५. दु त्ति दुगुंछा[6] धातू, संजमउवरोधि कुच्छितं होति।
तं मणसा जदि चिंतित, दुच्चिंतित एव णातव्वं॥

९४६. एवं तू दुब्भासित, दुच्चेट्ठिय एवमेव णातव्वं।
दुप्पडिलेहियमादी, आदीसद्देण बोद्धव्वं॥

९४७. एमादियं[7] तु बहुसो, अणेगसो होति हू मुणेतव्वं।
उवउत्तो वि ण जाणति, ण वि संभरती ति[8] जं[9] भणितं[10]॥

९४८. आदिग्गहणेणं पुण, राइय पक्खिय तहेव चउमासे[11]।
संवच्छरिए य तहा, अतियारा होंति बोद्धव्वा॥

**सव्वेसु 'य बितियपदे'[12], दंसण-णाण-चरणावराहेसु[13]।**
**आउत्तस्स तदुभयं, सहसक्कारादिणा चेव॥१५॥**

९४९. पढमं उस्सग्गपदं, अववादपदं तु बितियं होति।
सव्वग्गहणेणं पुण, 'सव्वऽवराहा'[14] मुणेतव्वा॥

---

१. जलण (ब)।
२. एवमादी (पा)।
३. दुसद्दो कुच्छाभिहाणे (चू)।
४. °मादीयं (पा, ब, ला)।
५. बहुसो (ला)।
६. दुगुच्छा (पा, ब, ला)।
७. °मादीयं (पा, ब, ला)।
८. उ (ता, मु)।
९. जो (ला)।
१०. × (ब)।
११. चउम्मासे (पा)।
१२. वि बीय° (ला)।
१३. °राहेह (ला, पा)।
१४. सव्वं अव° (पा), सव्वावराहा (ब)।

९५०. दंसण-णाण-चरित्ते, जे अवराहा तु होंति गीतत्थे।
कारणजतणाजुत्ते, एव जयंतस्स जे उ भवे॥

९५१. 'जह तिक्खउदगवेगे, विसमम्मि[1] व[2] विज्जलम्मि वच्चंतो।
कुणमाणो वि पयत्तं, अवसो जह पावते[3] पडणं॥

९५२. तह समणसुविहिताणं, सव्वपयत्तेण वी जयंताणं।
कम्मोदयपच्चइया, विराधणा कस्सइ[4] हवेज्जा[5]॥

९५३. एरिसजतणाजुत्ता[6], तस्स विसोहीय तदुभयं होति।
सहसा वि होति तदुभय, आवण्णे दंसणादीसु॥

९५४. तदुभयदारसमत्तं, विवेगदारं अओ पवक्खामि।
कस्स पुण विवेगो ऊ, तत्थ इमा होति गाहा तु॥

**पिंडोवहिसेज्जादी, गहितं कडजोगिणोवउत्तेणं।**
**पच्छा णातमसुद्धं, सुद्धो विधिणा विगिंचंतो॥१६॥**

९५५. पिंडि संघाते धातू, पिंडो संघाउ भण्णते तम्हा।
सो इह सच्चित्तादी, णव-णवभेदो पुणेक्केक्को॥

९५६. पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणस्सती[7] चेव।
बेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिया चेव॥

९५७. एक्केक्को पुण तिविधो, पुढवीमादी सचित्तमादी उ।
सत्तावीसपभेदो, पिंडेस समासतो होति॥

९५८. ओहिय ओवग्गहिओ, उवधी दुविधो समासतो होति।
होति विभागेणं पुण, जह भणितो ओहजुत्तीए[8]॥

९५९. भण्णति सेज्जा[9] वसही, आदीसद्देण होंति[10] डगलादी।
ओसधभेसज्जाणि य, आदीसद्देण लहियाणि[11]॥

---

१. °तिक्खम्मि उद° (व्य २२३, नि), वडपादव उम्मूलण तिक्खम्मि (बृ)।
२. वि (नि ६३०५)।
३. पावती (नि ५७६, बृ ४९२९)।
४. किस्सइ (ता), कासति (बृ ४९३०)।
५. नि ५७७, ६३०६, व्य २२४।
६. °जुत्ते (ता, ब, ला)।
७. वणसती (पा)।
८. °जुत्तीण (पां)।
९. सेया (ब)।
१०. होति (ता, मु)।
११. लदियाणि (ता, पा, ब)।

९६०. कडजोगी गीतत्थो, जं वुत्तं होति जो[1] व[2] गहितत्थो।
पिंडेसण - पाणेसण - वत्थेसण - सेज्जमादीणं॥

९६१. अहवा छेदसुतादी, सुत्तत्थाहिज्जितो तु गीतत्थो।
गहितं[3] तेणुवउत्तेण, णात पच्छा असुद्धं तु॥

९६२. केण असुद्धं? भण्णति, उग्गम-उप्पायणेसणादीहिं।
अहवा वि संकितादी, सो सुज्झति विहिविगिंचंतो॥

**'कालद्धाणाऽतिच्छियमणुग्गयत्थमियगहितमसढो'[4] उ।**
**कारणगहिउव्वरिते[5], भत्तादिविगिंचणे[6] सुद्धो॥१७॥**

९६३. पढमाएँ पोरिसीए, पडिगाहेत्ताण असण-पाणादी।
जो ततियमइक्कामे, कालातीतं इमं होति॥

९६४. अद्धोयणा परेणं, आणित णीतं व[7] असण-पाणादी।
एयऽद्धाणातीतं, सो सढ असढो वइक्कामो[8]॥

९६५. विगहा-किड्डादीहिं, होति सढो एस होति असढो तु।
गेलण्णवावडत्ता[9], होज्ज व सागारिया तत्थ॥

९६६. थंडिल्लअभावा वा, तेणाहिभयं व तत्थ होज्जाहि।
एमादीकज्जेहिं, असढो तू होति णातव्वो॥

९६७. एमादी असढो जं, विधी विगिंचंतो होति सुद्धो तु।
अणुदित अत्थमितो वा, गहितं असढेणिमं वोच्छं॥

९६८. गिरि[10] राहु-मेह-महिया-पंसु-रयावरिय होज्ज वा सविता।
उग्गयबुद्धी साहू, एमेव य होतऽणत्थमिते॥

९६९. पच्छ णातमणुग्गत, अहव अत्थमित[11] तु एस एण्हिं तु।
एयण्णातम्मि सढो[12], सुद्धो तु विही विगिंचंतो॥

९७०. आयरिए य गिलाणे, पाहुणगे खमग-बाल-वुड्ढे य।
एतेसऽट्ठा गहितं, तं होती कारणग्गहितं॥

---

१. × (ला)।
२. उ (पा, ब, ला, मु)।
३. गहितुं (मु)।
४. कालाद्धा° (पा, ब, ला), °द्धाण अति° (ता)।
५. °रियं (ला)।
६. °गिंचियं (ला)।
७. व्व (पा, ब, ला)।
८. यह गाथा ता प्रति में नहीं है।
९. °ण्णं वाव° (पा)।
१०. गिरिं (ला, पा)।
११. °मियं (ता, ब, ला)।
१२. असढो (ब)।

९७१. विहिपरिभुत्तुव्वरितं, विधी विगिंचंत होति सुद्धं तु।
एतं विवेगदारं, एत्तो वोच्छामि वोसग्गं॥

**'गमणागमणविहारे, सुतम्मि सावज्जसुविणयादिसु[1] य।'[2]**
**णावा-णदिसंतारे, पायच्छित्तं वियोसग्गो[3]॥१८॥**

९७२. वसही गुरुमूला वा, गमणं[4] अण्णत्थ पुणरवागमणं।
एतं गमणागमणं, विहार सज्झायभूमी तु॥

९७३. तो सज्झायणिमित्तं, गमणं अन्नत्थ होज्ज साहुस्स।
गमणागमणविहारं, णातव्वं होति एतं तु॥

९७४. समितिविसुद्धिणिमित्तं, एत्थं पच्छित्त होति उस्सग्गो[5]।
होति सुतं सुतणाणं, उद्देसगमादि णातव्वं॥

९७५. पट्ठवणुद्दिसणे या, समुदिसणे तह य होतऽणुण्णाए।
कालपडिक्कमणम्मि य, सुतस्स एत्थं तु उस्सग्गो॥

९७६. पाणतिवायादीओ, सावज्जो सुमिणओ तु णातव्वो।
आदीगहणेणं[6] पुण, अणवज्जपसत्थएसुं पि॥

९७७. चस्सद्दग्गहणाओ, दुस्सउणा दुण्णिमित्त[7] गहिता उ।
पढमवयादीएसु य, सव्वेसु विसोहि उस्सग्गो॥

९७८. णावा चउव्विहा तू, समुद्दणाविक्क तिण्णि उ णदीए।
उज्जाणी ओयाणी, तिरिच्छगामी भवे तइया[8]॥

९७९. जंघद्धा संघट्टो, णाभीलेवोवरिं[9] तु लेवुवरिं।
बाहोडुपाइओ खलु, णदिसंतारेवमादीओ[10]॥

---

१. 'सुमिणयाई (ला)।
२. 'वियारे सुत्ते वा सुमिण-दंसणे राओ (व्य ११०), च सद्देण दुन्निमित्त दुस्सउण-पडिहणणनिमित्तं (चू)।
३. विउस्सग्गो (व्य)।
४. गमण (पा)।
५. उवसग्गो (ला, ब, ला, पा)।
६. आदिग्ग' (मु)।
७. दुणिमित्त (ला)।
८. नि (१८३) में इस गाथा की संवादी निम्न गाथा मिलती है—
णावातारिम चतुरो, एग समुद्दम्मि तिण्णि य जलम्मि।
ओयाणे उज्जाणे, तिरिच्छ संपातिमे चेव॥
९. 'लेवो परेण (ओभा)।
१०. ओभा (३४) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
एगो जले थलेगो, निप्पग्गले तीरमुस्सग्गो।

९८०. णावादीहि पदेहिं, जाव तु उडुपादिसंतरंतो तु।
सव्वत्थ तु पच्छित्तं, जतणाजुत्तस्स उस्सग्गो॥

**भत्ते पाणे सयणासणे[1] य, 'अरहंत-समणसेज्जासु'[2]।**
**उच्चारे पासवणे, पणवीसं[3] होंति उस्सासा[4]॥ १९॥**

९८१. भत्तं पाणं असणं, सयणं सेज्जा उ होति णातव्वा।
आस उवेसण धातू, उवविसणं[5] आसणं होति॥

९८२. अरह पूयाएँ धातू, पूयामरिहं[6] ति तेण अरहंता।
अरहं[7] ति वंदण-णमंसणं च तम्हा तु अरहंता[8]॥

९८३. कोधादी उ अरी ऊ, अहव रयं कम्म होति अट्ठविधं।
अरिणो व रयं हंता, तम्हा उ हवंति अरिहंता॥

९८४. सयणं सेज्ज पडिस्सय, भत्तादी जाव होति सेज्जा ऊ।
हत्थसयाउ परेणं, गमणागमणम्मि[9] सव्वत्थ[10]॥

९८५. समितिविसुद्धिणिमित्तं, जतणाजुत्तस्स होति उस्सग्गो।
पणुवीसं उस्सासा, उच्चारमतो तु वोच्छामि॥

९८६. उच्चरती उच्चारं, पस्सवती तेण होति पस्सवणं।
सण्णा काइय कमसो, अहव इमो होति सद्दत्थो[11]॥

९८७. उच्चरति काइयं तू, जम्हा तेणं तु होति उच्चारो।
पायं सवती जम्हा, तम्हा तू[12] होति पासवणं॥

९८८. परिठविएसेतेसुं, हत्थसया आरतो व परतो वा।
सोही काउस्सग्गो, पणुवीसं होंति ऊसासा॥

**हत्थसतबाहिरातो, गमणागमणादिगेसु पणुवीसं[13]।**
**पाणिवधादिसुमिणए[14], सतमट्ठसतं चउत्थम्मि॥२०॥**

---

१. सयणं जत्थ सुप्पइ, आसणं जत्थ निविसिज्जइ (चू)।
२. अरहंतसेज्जा चेइयघरं, समणसेज्जा पडिस्सओ (चू)।
३. पणु° (ब)।
४. ऊसासा (व्य १११), उस्सासं (ला)।
५. उवेसणं (मु)।
६. पूया अरिहं (पा)।
७. अरिहं (मु)।
८. तु. आवनि ५८३/३।
९. °गमणं पि (ता)।
१०. °त्था (ला)।
११. सद्देत्थो (पा, ब, ला)।
१२. × (ता)।
१३. × (ला)।
१४. पाणवधादीसुमिणे (ला)।

९८९. गाहद्ध पढम कंठं, पाणवहे सुमिणदंसणे रातो।
कतकारितादिगेसुं, विसोहि ऊसास सतमेगं॥

९९०. एव मुसावादादिसु, उस्सग्गो जाव होति णिसिभत्तं।
सतमुस्सासाण भवे, अट्ठसतं पुण चउत्थम्मि॥

**देसिय[1] राइय पक्खिय, 'चाउम्मास वरिसे सुपरिमाणं'[2]।**
**सतमद्धं तिण्णि सता, पंच 'सतऽट्ठुत्तर'[3] सहस्सं॥ २१॥**

९९१. देसियमादिपदाणं, कमसो ऊसासमाणमेतं तु।
ते पुण कह विण्णेया, उस्सासा? तमिह[4] वोच्छामि॥

९९२. लोगस्सुज्जोयगरा, चउरो एगं सतं मुणेतव्वं।
पंचासा दोहि भवे, तिण्णि सता होंति बारसहिं[5]॥

९९३. पंच सता वीसाए, अट्ठसहस्सं च होति चत्ताए।
देसियमाउस्सग्गे, होई[6] एतं तु परिमाणं॥

९९४. पणुवीस अद्धतेरस, सिलोग पण्णत्तरिं च बोधव्वा।
सतमेगं पणवीसं[7], दो बावण्णा य वरिसेणं॥

**उद्देस समुद्देसे, सत्तावीसं 'तहेवऽणुण्णाए'[8]।**
**अट्ठेव य ऊसासा[9], 'पट्ठवणा-पडिकमणमादी'[10]॥ २२॥**

९९५. उद्देसग अज्झयणे, सुतखंधे चेव होति अंगे य।
उद्दिसणादिपदाणं, सत्तावीसं तु उस्सासा॥

९९६. पट्ठवणपडिक्कमणे, अट्ठुस्सासा तु होति उस्सग्गो।
आदिग्गहणेणं पुण, पट्ठवयंते वि अणुओगो[11]॥

९९७. कालपडिक्कमणे वि य, अवसउणे चेव होति सव्वत्थ।
उस्सासा अट्ठ भवे, काउस्सग्गो मुणेतव्वो॥

**उद्देसग अज्झयणे, सुतखंधंगेसु कमसो पमादिस्स।**
**कालाइक्कमणादिसु, णाणायाराइयारेसु॥ २३॥**

---

१. देवसिय (ला)।
२. °मासे तहेव वरिसे य (पा, ब, मु)।
३. सत अट्ठु° (ब)।
४. तहिं मिह (ला)।
५. बारस उ (ता)।
६. होइ (ता, पा, ब, ला)।
७. पणु° (ब)।
८. तहा अणु° (व्य ११४), अणुण्णवणियाए (ला)।
९. उस्सासा (पा, ब, ला)।
१०. °वण पडिक्क° (मु, ता, ब)।
११. °ओगं (पा, ब, ला, मु)।

९९८. णाणायारो दुविहो, ओहेण विभागतो य णातव्वो।
उद्देसग अज्झयणे, सुतखंधंगे विभागो तु॥

९९९. उद्देसादिचतुण्ह[1] वि, अतियारो अट्ठहा मुणेतव्वो।
पत्तेयं पत्तेयं, कालादि इहं पवयणम्मि॥

१०००. काले विणए बहुमाणे, उवधाणे तहा अणिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्ठविधो णाणमायारो[2]॥

१००१. जो तु करेति अकाले, सज्झायं[3] कुणति वा असज्झाए।
सज्झाए वा ण कुणति, कालतियारो भवे एस॥

१००२. जच्चादिमदुम्मत्तो, थद्धो विणयं ण कुव्वति गुरूणं।
हीलयति व जो तु गुरुं, विणयइयारो भवे एस॥

१००३. सुतणाणम्मि गुरुम्मि व, भत्ती बहुमाण[4] जो तु ण करेति।
भत्ती होतुवयारो, बहुमाणो गोरवसिणेहो[5]॥

१००४. बहुमाणे अइयारो, एमेसो वण्णितो समासेणं।
उवहाणं होति तवो, आयंबिलमादिओ सो य॥

१००५. जो तं ण कुणति साहू, अहवा वि ण सद्दहेयमुवहाणं।
सो 'उवहाणऽतियारो'[6], णिण्हवणेत्तो पवक्खामि॥

१००६. णिण्हवणं अवलवणं, अमुगसगासे अहं णऽहिज्जामि[7]।
अण्णं जुगप्पहाणं, आयरियं सो उ उद्दिसति॥

१००७. णिण्हवणे अतियारो, एमेसो वण्णितो समासेणं।
वंजणमादिपदाणं, अतियारमतो पवक्खामि॥

१००८. भणितं वंजणमक्खर, तण्णिप्फण्णं सुतं मुणेतव्वं।
पागतणिबद्धमेतं, सक्कयमादी करेज्जाहि॥

---

१. °ण्हं (ला)।
२. णाणविणओ उ (व्य ६३), दशनि १५८, नि ८, पंचा १५/२३, प्रसा २६७, भआ ११२, मूला २६९।
३. अज्झायं (ता)।
४. °माणं (ता)।
५. मुद्रित पुस्तक तथा प्रतियों में 'गोरवसिणेहो' पाठ है लेकिन चूर्णि में 'ओरससिणेहो' पाठ मानकर व्याख्या की है। यहां चूर्णि का पाठ अधिक संगत लगता है।
६. °हाण अति° (ता, ब, पा)।
७. °ज्जाहि (ता)।

१००९. धम्मो मंगलमुक्कट्ठं, दया संवर णिज्जरा।
तस्सेव य अत्थस्सा, अण्णाणि य वंजणाणि करे[1]॥

१०१०. अहवा मत्ता बिंदू, अण्णभिहाणेण बाधितं अत्थं।
वंजिज्जति जेण अत्थो, वंजणमिति भण्णते सुत्तं॥

१०११. वंजणभेदेण इहं, अत्थविणासो हवेज्ज तु कदाई[2]।
अत्थविणासा चरणं, चरणविणासे अमोक्खो तु॥

१०१२. मोक्खाभावातो पुण, पयत्तदिक्खा निरत्थिगा होति।
जम्हा एते दोसा, तम्हा सुत्तं ण भिंदेज्जा॥

१०१३. वंजणभेदो भणितो, अत्थे भेदं अतो पवक्खामि।
अत्थं तु वियप्पंती, तेहिं चिय वंजणेहऽण्णं॥

१०१४. आयारे सुत्तमिणं, आवंती पंचमम्मि अज्झयणे।
आवंती केआवंती, लोगंसी विपरिमुसंति त्ति॥

१०१५. अट्ठाएँ अणट्ठाए, एतेसुं विप्परामुसंती तु।
एतं सुत्तं आरिस, अत्थ विकप्पेतिमं अण्णं॥

१०१६. आवंति[3] होति देसो, तत्थ तु अरहट्टकूवजा केया।
सा पडिता हेट्ठे तू, तं लोगो विप्परामुसति॥

१०१७. अत्थविसंवादेवं[4], तदुभयदारं इमं पवक्खामि।
जत्थ तु सुत्तत्था खलु, दो वि विणस्संति तं च इमं॥

१०१८. धम्मो मंगलमुक्कत्थो, अहिंसा पव्वतमत्थगे[5]।
देवा[6] वि तस्स णस्संति, जस्स धम्मे सया मसी॥

१०१९. अहाकरेसु[7] रंधंति, कट्ठेसु[8] रहकारओ।
'रत्तो भत्तंसिणो जत्थ, गद्दभो तत्थ दीसति'[9]॥

---

१. गाथा के तीन चरण में अनुष्टुप् तथा चौथे चरण में आर्या छंद है।
२. कयाइं (पा, ब)।
३. आवंती (ब)।
४. °वाएवं (ब)।
५. डुंगरमस्तके (निचू १)।
६. दिवा (ला)।
७. °कडेहिं (निचू)।
८. कट्ठेहिं (निचू)।
९. लोहार समावुट्ठा, जे भवंति अणीसरा (निचू), निचू में इस संदर्भ में निम्न गाथा और मिलती है—
रण्णो भत्तंसिणो जत्थ, गद्दहो तत्थ खज्जति।
सण्णज्झति गिही जत्थ, राया पिंडं किमच्छती॥

१०२०. एसो तदुभयभेदो, दोण्णि वि णासंति एत्थ सुत्तत्था।
एवं तु ण कातव्वं, दोसा तेच्चेव पुव्वुत्ता॥

१०२१. णाणायारो एसो, अट्ठविगप्पो जिणेहिं पण्णत्तो।
उद्देसगमादीणं, पच्छित्तुदितं इमं कमसो॥

**णिव्विगतिय[1] पुरिमड्ढेगभत्त आयंबिलं चऽणागाढे।**
**पुरिमादी खमणंतं, आगाढे एवमत्थे वि[2]॥ २४॥**

१०२२. उद्देसे णिव्विगतिं, पुरिमड्ढं सोहि होति[3] अज्झयणे।
सुतखंधे एगभत्तं, अंगम्मि य होति आयामं॥

१०२३. एवं ताऽणागाढे, आगाढजोगम्मि[4] होति पुरिमादी।
अंतम्मि होति खमणं, एमेव य होति अत्थे वि॥

**सामण्णं पुण सुत्ते, मतमायामं[5] चतुत्थमत्थम्मि।**
**अप्पत्तापत्तावत्तवायणुद्देसणादीसु[6]॥ २५॥**

१०२४. ओहो सामण्णं तू, सव्वम्मी चेव होति सुत्तम्मि।
अविसेसित सुत्तत्थे, आयाम चउत्थ कमसो तु॥

१०२५. अप्पत्तो दुविधो तू, सुतेण अत्थेण चेव बोद्धव्वो।
पुव्विल्ल सुत्त अत्थे, बितिय अपत्तो[7] मुणेतव्वो[8]॥

१०२६. तिंतिणिआदि अपत्तो, अव्वत्तो वय सुते य णातव्वो।
वायंतस्स तु एते, चतुगुरुगा उद्दिसादिसु य॥

१०२७. पत्तमवाएंतस्स वि, उद्दिसणादीसु[9] चेव य पदेसु।
चतुगुरुगा बोद्धव्वा, अववादे कारणा सुद्धो॥

**'कालाऽविसज्जणादिसु[10] मंडलिवसुहापमज्जणादिसु[11] य[12]।**
**णिव्वीतियं[13] अकरणे, अक्खणिसेज्जा अभत्तट्ठो[14]॥ २६॥**

---

१. णिवीतिय (ला)।
२. ति (ब)।
३. होत (ता)।
४. पूर्वार्द्ध के दूसरे चरण में छंदभंग है, यहां 'आगाढ-जोगम्मि' के स्थान पर 'अगाढ जोगम्मि' पाठ होना चाहिए।
५. °याम (पा)
६. °पत्तापत्त (ता), °णादिसु य (ला)।
७. अप्पत्तो (पा, ब, ला)।
८. प्रतियों में इस गाथा के बाद 'अप्पत्ते त्ति गतं' का उल्लेख है।
९. तुद्दि° (पा)।
१०. काल अवि° (ला)।
११. °लिवसहि° (ला)।
१२. चसद्दा वंदण-काउसग्गे ण करेंति तहावि खमणं चेव (चू)।
१३. णिव्वि° (पा, ब), णिव्वीयं च (ला)।
१४. ण भत्तट्ठो (ला, ता)।

१०२८. कालाविसज्जणादी, ण पडिक्कंतं तु जमिह कालस्स।
तिविधा य होति मंडलि, वसुधा भूमी मुणेतव्वा॥

१०२९. भोयण सुत्ते अत्थे, तिविधेसा मंडली मुणेतव्वा।
कालऽविसज्जण मंडलिभूमीअपमज्जणे[1] विगती॥

१०३०. सुत्ते वा अत्थे वा, ण करि णिसेज्जं च[2] अक्ख ण रएति।
चस्सद्देणं वंदण, उस्सग्ग ण कुव्वति चउत्थं॥

**'आगाढऽणागाढम्मि'[3], सव्वभंगे य देसभंगे य।**
**जोगे छट्ठ चउत्थं, चतुत्थमायंबिलं कमसो॥ २७॥**

१०३१. जोगो तु होति दुविधो, आगाढो चेव तह अणागाढो।
दुविधे वि होति भंगो, सव्वे देसे य णातव्वो॥

१०३२. सव्वब्भंगे छट्ठं, होति चतुत्थं तु देसे आगाढे।
णागाढे तु चतुत्थं, सव्वे देसे य आयामं॥

१०३३. कह भंगो सव्वम्मी, कह वा देसम्मि एव चोदेति।
भण्णति फुडविगडाहिं, गाहाहिं इमं पवक्खामि॥

१०३४. विगति अणट्ठा भुंजति, न कुणति आयंबिलं ण सद्दहति।
एसो तु सव्वभंगो, देसे भंगो इमो होति[4]॥

१०३५. काउस्सग्गमकाउं, भुंजति भोत्तूण वा कुणति पच्छा।
संदिसह त्ति ण भणती, एवं देसे भवे भंगो॥

१०३६. णाणायारो भणितो, अट्ठविधो एस तू समासेणं।
अहुणा अट्ठविधो च्चिय, आयारो दंसणे होति॥

१०३७. णिस्संकित[5] णिक्कंखित, णिव्वितिगिच्छा[6] अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल[7] पभावणे अट्ठ[8]॥

१०३८. दंसणयारो अट्ठह[9], एमेसो होति तू समासेणं।
एतेसि विवक्खो ऊ, अतियारो होति सो य इमो॥

---

१. °ज्जणा (पा, ब, ला)।
२. × (ब)।
३. °ढअणा (पा, ता)।
४. तत्थ (नि १५९५)।
५. णीसं° (पा, ला)।
६. °तिगिंछा (ला)।
७. °ल्ले (ला)।
८. नि २३, दशनि १५७, उ २८/३१, प्रज्ञा १/१०१/१४, पंचा १५/२४, मूला २०१।
९. अट्ठहा (पा, मु)।

१०३९. संसयकरणं संका, कंखा अण्णोण्णदंसणग्गाहो।
वितिगिच्छ अप्पणो उ, सोग्गति होज्जा ण वावि त्ति[1]॥

१०४०. अहवा वि दुगुंछा[2] ऊ, विउ त्ति साधू हवंति णातव्वा।
ते उ दुगुंछति[3] निच्चं, मंडलि मोए य जल्लादी॥

१०४१. णेगविधा इड्ढीओ, पूयं परतित्थिगाण[4] दट्ठूणं।
'सोऊणं वा जस्स उ, मतिमोहो होति मूढेसा'[5]॥

१०४२. उववूह होति दुविधा, पसत्थ अपसत्थिगा य णातव्वा।
साऊणं तु पसत्था, चरगादीणऽप्पसत्था तु॥

१०४३. दंसण-णाण-चरित्ते, तव-संजम-विणय-वेयवच्चादी।
अब्भुज्जतस्स उच्छाहवद्धणं होति तु पसत्था॥

१०४४. अपसत्था उववूहा, अण्णाणे अविरतीय मिच्छत्ते।
चरगादी वट्टंते, उववूहति दुविध 'एस गता'[6]॥

१०४५. थिरिकरणा[7] वि य दुविधा, पसत्थ इतरा य होति णातव्वा।
साधूण पसत्था तू, णाणादीएहि सीदंति॥

१०४६. बहुदोसे माणुस्से, मा सीद थिरीकरेति एवं तु।
एस पसत्था भणिता, अपसत्थेत्तो पवक्खामि॥

१०४७. मिच्छादिट्ठीए तू, चरगादी थिरिकरेंत[8] अपसत्था।
पासत्थादी अहवा, थिरीकरेंतम्मि अपसत्था॥

१०४८. वच्छल्ला वि य दुविधा, पसत्थ इतरा य होति णातव्वा।
आयरियादि पसत्था, पासत्थादीण इतरा तु॥

१०४९. आयरिय गिलाणे या, पाहुणगे असहु-बाल-वुड्ढादी।
आहारोवहिमादिण, समाधिकरणं पसत्थं तु॥

---

१. गाथा का उत्तरार्ध नि (२४) में इस प्रकार है—
संतम्मि वि वितिगिच्छा, सिज्झेज्ज ण मे अयं अट्ठो।
२. दुगंछा (ला, ब)।
३. दुगुच्छति (पा, ला), दुगुंच्छति (ब)।
४. परवादिणं च (नि २६)।
५. जस्स ण मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठिं तयं बेंति (नि)।
६. × (पा)।
७. थिर° (मु)।
८. थिर° (ब)।

१०५०. पासत्थोसण्णाणं, कुसील-संसत्त-णीयवासीणं।
अहव[1] गिहत्थादीणं, एमादी अप्पसत्था तु॥

१०५१. दुविधा पहावणा वि य, पसत्थ इतरा य होति णातव्वा।
तित्थगरादि पसत्था, मिच्छत्तऽण्णाण अपसत्था॥

१०५२. तित्थगर पवयणे वा, णाणादीणं च तिण्णि वी लोगे।
मग्गं णेव्वाणस्स उ, पभावयंते पसत्थेसा॥

१०५३. मिच्छत्तऽण्णाणादी, पभावयंतेस होति अपसत्था।
एसो दंसणयारो, पच्छित्तं तेसि वोच्छामि॥

**संकादिगेसु देसे, खमणं मिच्छोववूहणादिसु य।**
**पुरिमादी खमणंतं, भिक्खुप्पभितीण य[2] चतुण्हं॥ २८॥**

१०५४. संकादी अट्ठपदा, देसे सव्वे य होंति णातव्वा।
संकादीण चउण्हं, देसे खमणं तु णातव्वं॥

१०५५. उववूहादि चतुण्ह वि, अपसत्थे देसें होतऽभत्तट्ठं।
सव्वम्मि[3] होति मूलं, एवं संकादिगेसुं पि॥

१०५६. एवं ता ओहेणं, अविसेसो होति एस पच्छित्ते।
पुरिसविभागेणऽहुणा, देसे सोही इमा होति॥

१०५७. संकादी अट्ठसु वी, देसे भिक्खुस्स होति पुरिमड्ढं।
वसभे एक्कासणगं, आयामं होति उज्झाए[4]॥

१०५८. आयरिय अभत्तट्ठो, एस विभागेण होति सोही तु।
अहुणा[5] उववूहादिण, अकरणें सोही इमा जतिणो॥

**एवं चिय पत्तेयं, उववूहादीण अकरणें[6] जतीणं।**
**आयामंतं णिव्वीतिगादि पासत्थसड्ढेसु॥ २९॥**

१०५९. एवं चिय पुरिमड्ढं, अणंतरुद्दिट्ठपुरिसभेदेणं।
पिह पिह जइ ण करेती, उववूह पसत्थसाहूणं॥

---

१. अहवा (पा, ब, ला)।
२. व (ला)।
३. सव्वे त्ति (पा, ला), सव्वे वि (ता)।
४. उवज्झाए (पा, ब, ला)।
५. अहूणा (ता)।
६. मकरणो (ला)।

१०६०. एव थिरीकरणं तू, वच्छल्ल-पभावणा पसत्थेसु।
पवयण-जइमादीणं, अकरेंते तत्थिमा सोधी॥

१०६१. भिक्खुस्स तु पुरिमड्ढं, वसभा भत्तेक्क होति सोधी तु।
अभिसेगे आयामं, आयरिए 'होतऽभत्तट्ठं'[1]॥

१०६२. गाहापच्छद्धस्साऽणंतरगाहाएँ होति संबंधो।
एतस्स वियत्तपदे, संबंधो 'तं चिमं'[2] वोच्छं॥

**परिवारादिणिमित्तं, ममत्तपरिपालणादि वच्छल्लं।**
**साहम्मिउ त्ति संजमहेतुं वा[3] सव्वहिं सुद्धो॥ ३०॥**

१०६३. पासत्थोसण्णाणं, कुसील-संसत्त णीयवासीणं।
जो कुणति ममत्तादी, परिवारणिमित्तहेतुं च॥

१०६४. तस्स इमं पच्छित्तं, निव्वीयादी तु अंत आयामं।
भिक्खूमादीयाणं, चतुण्ह वी होति जहकमसो॥

१०६५. आदीगहणेणं[4] पुण[5], सड्ढा सण्णातगा व सेज्जतरा।
दाहंताऽऽहारादी, तेण ममत्तादि कुज्जा तु॥

१०६६. अह पुण साहम्मि त्ती, संजमहेतुं च उज्जमिस्सति वा।
कुल-गण-संघ-गिलाणे, तप्पिस्सति एव बुद्धी तु॥

१०६७. एव ममत्त करेंते, परिवालण अहव तस्स वच्छल्लं।
दढआलंबणचित्तो, सुज्झति सव्वत्थ साहू तु॥

१०६८. एसो अट्ठविगप्पो, अतियारो दंसणे समक्खातो।
चारित्ते अतियारं, इणमो तु समासतो वोच्छं॥

**एगिंदियाण घट्टणमगाढगाढपरितावणोद्दवणे।**
**णिव्वीयं पुरिमड्ढं, आसणमायामगं कमसो॥ ३१॥**

१०६९. एगिंदिय पुढवादी, जा पत्तेया वणस्सती होति।
एतेसिं पंचण्ह वि, पिह पिह संघट्टणे विगती॥

---

१. होतअभ° (ब)।
२. तेसिमं (ता)।
३. वा सद्देण कुल-गण-संघ-गिलाणकज्जाइएसु पडितप्पिस्सइ त्ति (चू)।
४. आदिग्ग° (ला, मु)।
५. पुणा (पा)।

१०७०. परितावितऽणागाढे, पुरिमड्ढं गाढें होंति भत्तेक्कं।
उद्दवणे आयामं, एत्तो अणंतादीणं[1] वोच्छं॥

**पुरिमादी खमणंतं, अणंतविगलिंदियाण पत्तेयं।**
**पंचिंदियम्मि एक्कासणादि कल्लाणगमहेगं॥ ३२॥**

१०७१. साहारणवणकाए, बिय तिय चउरिंदिए य विगलम्मि।
एतेसि चउण्हं पी, पिह पिह संघट्टणे पुरिमं॥

१०७२. परितावितऽणागाढे, भत्तेक्कं गाढें होंति आयामं।
उद्दवणेऽभत्तट्ठं, पंचिंदिविसोहिमं वोच्छं॥

१०७३. पंचेंदियसंघट्टे, एक्कासणगं तु होंति णातव्वं।
अणगाढे आयामं, परितावित गाढें भत्तट्ठं॥

१०७४. उद्दवणे कल्लाणं, एगं चिय होंति तत्थ णातव्वं।
पढमवए सोहेसा, पमादसहितस्स णातव्वा॥

**मोसादिसु[2] मेहुणवज्जितेसु दव्वादिवत्थुभिण्णेसु।**
**हीणे मज्झुक्कोसे, आसणआयामखमणाइं[3]॥ ३३॥**

१०७५. मोसाऽदत्तादाणं, परिग्गहो चेव होंति णातव्वो।
एते मोसादिऽवता, मेहुणवज्जा मुणेतव्वा॥

१०७६. तत्थ मुसं चउभेदं, दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
तत्थ तिहा दव्वमुसं, जहण्ण मज्झं[4] तहुक्कोसं॥

१०७७. एवं खेत्तमुसं पी, कालमुसं तह य होंति भावमुसं।
हीणं[5] मज्झुक्कोसं, सभेदभिण्णं मुणेतव्वं॥

१०७८. एवमदत्तपरिग्गह, दव्वादी चउह[6] होंति णातव्वा।
हीणा मज्झुक्कोसा, तिविधं पत्तेय[7] पत्तेयं॥

१०७९. मोसम्मि चउब्भेदे, दव्वादी हीण मज्झ उक्कोसे।
दव्वादीणं कमसो, इमं तु सोहिं पवक्खामि॥

---

१. °णाइणं (ब), छंद की दृष्टि से ऽणंतादिणं पाठ होना चाहिए।
२. °दिस (ता, पा, ब, ला)।
३. °णमाया° (ला)।
४. मज्झे (पा, मु)।
५. होण (पा)।
६. चउहा (ब, ला)।
७. × (ला)।

१०८०. दव्वमुसे तु जहण्णे, भत्तेक्कं मज्झे होति आयामं।
उक्कोसेसु चउत्थं, एवं खेत्तादिएसुं पि॥

१०८१. एवमदत्तपरिग्गह[1], दव्वादीसुं[2] तु एस चेव गमो।
हीणे मज्झुक्कोसे, आसण-आयामखमणाइं॥

१०८२. एव मुसावादादिसु, सोही भणिता समासतो एसा।
एत्तो तु राइभत्ते, सोहिं वोच्छं समासेणं॥

**लेवाडगपरिवासे, ऽभत्तट्ठो[3] सुक्कसण्णिहीए य।**
**इतराए[4] छट्ठभत्तं, अट्ठमगं सेस णिसिभत्ते॥ ३४॥**

१०८३. लेवाडय कंठोत्तं, सुंठि-बहेडादि अगयमादी वा।
परिवासेंते एसिं, सोधी साहुस्सऽभत्तट्ठं॥

१०८४. इतरा य गिल्लसण्णिहि, गुलघततेल्लादिया मुणेतव्वा।
परिवासंते तेसिं, सोधी छट्ठं तु साहुस्स॥

१०८५. निसिभत्त सेस तिविधं, दियगहितं राउभुत्त पढमं तु।
राओगह दिवभुत्तं, गहभुंजणमुभयतो राती॥

१०८६. तिविधेवं णिसिभत्तं, सोधी एत्थं तु अट्ठमं होति।
तिविधम्मि वि पत्तेयं, एय समत्तं तु निसिभत्तं॥

**उद्देसिगचरिमतिगे, कम्मे[5] पासंडसघरमीसे य[6]।**
**बादरपाहुडियाए, सपच्चवायाहडे लोभे॥ ३५॥**

१०८७. अच्छउ ता गाहत्थो, एतेसिं उग्गमादिअट्ठण्हं।
लक्खण आवत्ती दाणमेव वोच्छं सवित्थरतो॥

१०८८. सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पादणाएँ दोसा उ।
दस एसणाएँ दोसा, संजोयणमादि पंचेव[7]॥

१०८९. सो उग्गमो चतुद्धा, नामादी तत्थ दव्विमो होति।
जोतिसतणोसहीणं, मेह-रिण-करेवमादीणं[8]॥

---

१. °ग्गहं (पा, ब)।
२. °दीसु (पा)।
३. अभत्तट्ठो (मु)।
४. °राय (ब, मु)।
५. कम्म (ता, पा, ब, ला)।
६. या (पा, ला)।
७. पिनि ३२२।
८. °दीवं (ता)।

१०९०. 'अहवा वि'[1] लड्डुगादी, भावे तिविहुग्गमो मुणेतव्वो।
दंसण णाण 'चरित्तुग्गमेण एत्थं अहीगारो'[2]॥

१०९१. किं कारणं चरित्ते, अहिगारो एत्थ होति भणितो तु?।
चोदग[3]! सुण चारित्ते, जे तु गुणा[4] ते तु होंति इमे[5]॥

१०९२. दंसणणाणप्पभवं, चरणं 'सुद्धे तु तम्मि'[6] तस्सुद्धी।
चरणेण कम्मसुद्धी, उग्गमसुद्धी[7] चरणसुद्धी॥

१०९३. पिंडोवहिसेज्जासू, जेण असुद्धासु चरण ण विसुज्झे।
पिंडोवहिसेज्जासू[8], सुद्धासू चरणसुद्धी तु॥

१०९४. तो चरणसुद्धिहेतुं, पिंडस्स तु उग्गमेण अहिगारो।
तस्स पुण उग्गमस्सा, सोलस दारा इमे होंति॥

१०९५. आहाकम्मुद्देसिय, पूतीकम्मे य मीसजाते य।
ठवणा पाहुडियाए, पायोयर[9] कीत पामिच्चे[10]॥

१०९६. परियट्टिए अभिहडे, उब्भिण्णे मालोहडे तिय।
अच्छेज्जे अणिसट्ठे[11], 'अज्झोयरए य सोलसमे'[12]॥

१०९७. एते सोलसदारा, उद्दिट्ठमिदाणि विवरणं वोच्छं।
एतेसि पढम आहा. तस्स इमे होंति नव दारा॥

१०९८. आहाकम्मियणामा, एगट्ठा कस्स वावि किं वावि।
परपक्खे य सपक्खे, चउरो गहणे य आणादी[13]॥

१०९९. तत्थ इमे णामा खलु, आहाकम्मस्स होंति चत्तारि।
आह-अहेकम्मे या, अहयम्मे[14] अत्तकम्मे य[15]॥

---

१. दव्वम्मि (पिनि ५७)।
२. °मेणित्थ अहि° (पिनि)।
३. चउदग (ब)।
४. गुणो (ला)।
५. इमो (ब, ला)।
६. सुद्धेसु तेसु (पिनि ५७/५)।
७. °सुद्धा (ब, ला)।
८. °ज्जासुं (ब, ला)।
९. पायोर (ता, पा, ब, ला)।
१०. पिनि ५८, नि ३२५०, बृ ४२७५।
११. अणिसिट्ठे (बृ ४२७६, पिनि ५९)।
१२. धोते रत्ते य घट्ठे य (नि ३२५१, बृ)।
१३. पिनि ६०।
१४. अयह° (ता, ब)।
१५. या (ला)।

११००. ओरालसरीराणं, उद्दवणऽतिवायणं तु[1] जस्सट्ठा।
मणमाहित्ता कुव्वति, आहाकम्मं तगं बेंति॥

११०१. ओरालग्गहणेणं, तिरिक्खमणुयाऽहवा सुहुमवज्जा।
उद्दवणं उत्तासण[2], 'अतिवातविवज्जिता पीला'[3]॥

११०२. काय-वइ-मणा तिण्णि उ, अहवा देहायु-इंदिय-प्पाणा।
'सामित्त अवायाणे'[4], होति तिवाओ 'उ करणम्मि'[5]॥

११०३. हिययम्मि समाहेउं, एगमणेगे व गाहगे जो तु।
वहणं करेति दाता, कायाण तमाहकम्मं तु[6]॥

११०४. जस्सट्ठा तं तु कतं, तं जो भुंजति सयं तु कायवधं।
अणुमण्णति आहेति य, स कम्मबंधं तमायाए॥

११०५. अवि य हु विवाहमंगे, भणितं भुंजंतो आहकम्मं तु।
पसिढिलबंधादीया, पगडीओ करेति धणियादी[7]॥

११०६. संजमठाणाणं[8] कंडगाण लेस्साठितीविसेसाणं[9]।
भावं अहे करेती, तम्हा 'तु भाव अहेकम्मं'[10]॥

११०७. सं एगीभावम्मी[11], जम उवरम एगिभावउवरमणं।
सम्म जमो वा संजम, मण-वइ-कायाण जमणं तु॥

११०८. चिट्ठति संजम जहियं, तं होति हु संजमस्स ठाणं तु।
तं पुण चरित्तपज्जव, होति अणंतेक्कठाणं तु॥

११०९. संजमठाणमसंखा, उ कंडगं कंडगा असंखा तु।
हवति हु लेसाठाणं, ते तु असंखेज्ज जवमज्झं॥

१११०. तत्तो परिहायंता, लेसा कंडा य संजमट्ठाणा।
एरिसगाणमसंखा, लोगा उ हवंति ठाणाणं॥

---

१. च (पिनि ६२)।
२. पुण जाणसु (पिभा १६)।
३. °ज्जितं पीडं (पिभा)।
४. °मित्तावा° (पिभा १७)।
५. य करणेसुं (पिभा)।
६. ति (पिभा १८)।
७. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'आहेत्ति गतं' पाठ का उल्लेख है।
८. °मट्ठाणा° (ब)।
९. लेसा° (पिनि ६४)।
१०. तं भावहेकम्मं (पिनि)।
११. °म्मि (मु)।

१११११. एसा संजमसेढी, एत्थ[1] विसुद्धीसु ठाणमादीसु।
वट्टंतुक्कोसाऊसुरठितिजोगेसु[2] होऊणं॥

११११२. तं भुंजमहेकम्मं, हेट्ठिल्लेऽहिट्ठवेति अप्पाणं।
सुत्ते उदितमहे तू, करपकरचिणोवचिणमादी॥

१११३. बंधति अहेभवाउं, पकरेति अहोमुहाइँ कम्माइं।
घणकरणं तिव्वेण उ, भावेण चयो उवचयो तु[3]॥

११११४. तेसिं गुरूण उदएण[4], अप्पगं दुग्गतीएँ पवडंतं।
ण चएति विधारेउं, 'अहकम्मं भण्णते तम्हा'[5]॥

१११५. अट्ठाएँ अणट्ठाए, छक्कायपमद्दणं तु जो कुणति।
अणिदाए य णिदाए, 'बेंति तु दव्वाऽऽयहम्मं ती'[6]॥

१११६. जाणंतमजाणंतो, 'वहेति णिद्दिसिय'[7] ओहतो वावि।
जाणगमजाणगे या[8], 'भणिता णिय अणिय होतेसा'[9]॥

१११७. दव्वायहम्ममेतं[10], भावाया तिण्णि णाणमादीणि।
परपाणपाडणरतो, भावायं[11] अप्पणो हणति॥

११११८. निच्छयणयस्स चरणाऽऽयविघाते णाण-दंसणवधो वि।
ववहारस्स उ चरणे, हतम्मि भयणा उ सेसाणं[12]॥

१११९. आयाहम्मग एतं, एत्तो वोच्छामि अत्तकम्मं तु।
जो परकम्मं अत्तीकरेति तं अत्तकम्मं तु॥

११२०. आहाकम्मपरिणतो, फासुगमवि संकिलिट्ठपरिणामो।
आइयमाणो[13] बज्झति, तं जाणसु अत्तकम्मं[14] तु[15]॥

---

१. तत्थ (मु)।
२. °ठिती° (पा, ला)।
३. य (पिनि ६४/२)।
४. मुद° (पिनि ६४/३)।
५. अधरगतिं णेंति कम्माइं (पिनि), इसके बाद प्रतियों में 'आहकम्मे ति गतं' का उल्लेख है।
६. आयाहम्मं तयं बेंति (पिनि ६५), °तं (पा, ब)।
७. तहेव उद्दिसिय (पिभा २२)।
८. य (ला), वा (पिभा)।
९. वहेति अनिदा निदा एसा (पिभा)।
१०. दव्वाया खलु काया (पिनि ६६)।
११. चरणायं (पिनि)।
१२. पिनि ६६/१।
१३. आतिय° (ता, पा, ब), आयय° (पिनि ६७/१)।
१४. त्तक° (ब)।
१५. ति (पिनि)।

११२१. परकम्ममत्तकम्मीकरेति[1] तं जो उ[2] गिण्हिउं भुंजे।
'चोदेति परक्किरिया[3]', कहण्णु अण्णत्थ संकमति?॥

११२२. भण्णति परप्पउत्तं, जह विसमइयं तु मारगं होति।
तह परकडे वि बंधो, परिणामवसेण जीतस्स॥

११२३. बेती परकडभोयिण[4], तो तुब्भ वि एव होति बंधो तु।
जह अण्णत्थ पउत्ते, कूडे जो पडति सो बज्झे॥

११२४. गुरुराह जो पमत्तो, जो य अदक्खो स बज्झते तत्थ।
अपमत्तो ण वि बज्झति, तहेव दक्खे य जो होति[5]॥

११२५. इय जो उ अप्पमत्तो, मण-वाया-कायजोगकरणेहिं।
सो तु ण बज्झति णियमा, बज्झति इतरो परकडे वि॥

११२६. कामं सयं न कुव्वति, जाणंतो पुण तहावि तग्गाही।
वड्ढेति तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेति[6]॥

११२७. तम्हा उ परकडम्मि वि, अत्तीकरणं तु होतऽसुद्धेहिं।
मणमादीहि कहं पुण, अत्तिकरे? भण्णति इमेहिं॥

११२८. पडिसेवण पडिसुणणा, 'संवासऽणुमोदणा[7]' 'चउण्हं पि[8]'।
एतेहिं पगारेहिं, अत्तिकरे तत्थिमे णाया[9]॥

११२९. पडिसेवणाएँ तेणा, पडिसुणणाए य रायपुत्तो तु।
संवासम्मि य पल्ली, अणुमोदण[10] रायदुट्ठो उ[11]॥

११३०. आहाकम्मियणामा, एते चउरो समासतो भणिता।
एगट्ठिताणि अहुणा, वोच्छामि समासतो चेव॥

११३१. एगट्ठ एगवंजण, एगट्ठं[12] णाणवंजणं चेव।
णाणट्ठ एगवंजण, णाणट्ठा णाणवंजणया[13]॥

---

१. °म्म अत्त° (पिनि ६७/२)।
२. व (पा)।
३. तत्थ भवे परकिरिया (पिनि)।
४. °करभो° (पा)।
५. तु. पिनि ६७/३।
६. पिनि ६७/५।
७. °स अणु° (ब)।
८. य चउरो वि (पिनि ६९)।
९. पिनि में गाथा के उत्तरार्ध में पाठ-भेद है।
१०. °दणे (ब)।
११. य (पिनि ६८/६), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २९-३२।
१२. एगट्ठे (ला)।
१३. वंजणा नाणा (पिनि ७०/१)।

११३२. 'जह खीरं खीरं चिय'[1], एगट्ठं एगवंजणं दिट्ठं।
'एगट्ठ णाणवंजण'[2], दुद्ध पयो वालु[3] खीरं च॥

११३३. णाणट्ठमेगवंजण, गो-महिस-अजादियाण खीरं ति।
णाणट्ठ णाणवंजण, घड-पड-कड-सगड-रहमादी[4]॥

११३४. एवमिहमाहकम्मं, आहाकम्मं ति पढमतो भंगो।
आह अहेकम्मादी, बितिओ सक्किंद इव भंगो॥

११३५. ततिओ भंगो तू आतकम्ममहकम्म पणगमादी य।
आहाकम्म पडुच्चा, नियमा सुण्णो चउत्थो तु॥

११३६. इंदत्थं जह सद्दा, पुरंदरादी तु णातिवत्तंति[5]।
अह-आह-अत्तकम्मा, तहा[6] अहे णातिवत्तंति॥

११३७. आहाकम्मेण अहे, करेति जं हणति पाणभूताइं।
जं तं आइयमाणो[7], परकम्मं अत्तणो कुणति[8]॥

११३८. एगट्ठितदारमिणं, अहुणा कस्स कडमाहकम्म भवे?
भण्णति साहम्मिकडं, सो बारसहा इमो होति॥

११३९. णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य पवयणे लिंगे।
दंसण णाण चरित्ते, अभिग्गहे 'भावणाहिं च'[9]॥

११४०. णामेणं साहम्मी, जाव उ कालेण सव्व बोधव्वा।
पवयण-लिंगेणं वा, साहम्मिय एत्थ चउभंगो॥

११४१. पवयणमणुम्मुयंते, दंसणमादी तु भावणा जाव।
सव्वत्थ तु चतुभंगा, जोएतव्वा जहाकमसो॥

११४२. एवं लिंगेणं पी, तह दंसणमादिएहिँ चउभंगा[10]।
भइएसु उवरिमेसू, हेट्ठिल्लपदं तु छड्डेज्जा[11]॥

---

१. दिट्ठं खीरं खीरं (पिनि ७०/२)।
२. एगट्ठं बहुनामं (पिनि), एगट्ठा णा° (ब)।
३. पीलु (पिनि)।
४. पिनि (७०/३) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—
गो-महिसि-अजाखीरं, णाणट्ठं एगवंजणं णेयं।
घड-पड-कड-सगड-रहा, होति पिहत्थं पिहं नामं॥
५. °वच्चंति (ता)।
६. तह (ब)।
७. आतिय° (ता, पा, ब)।
८. पिनि ७१।
९. °णाओ य (पिनि ७३)।
१०. पिनि (७३/२०) में इस गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
एमेव य लिंगेणं, दंसणमादी उ होति भंगा उ।
११. वज्जेज्जा (पिनि)।

११४३. एवं बुद्धीए तू, सव्वे वि जहक्कमेण जोएज्जा।
चउभंग जाव चरिमो, अभिग्गहे भावणाहिं च॥

११४४. पत्तेयबुद्ध[1] णिण्हग, उवासए केवली य[2] आसज्ज।
खइयादिए य भावे, पडुच्च भंगे तु जोएज्जा॥

११४५. जत्थ तु ततिओ भंगो, ण तत्थ कप्पति तु सेसगे भयणा।
'तित्थगरणिण्हगोवासगादि कप्पे ण'[3] सेसाणं॥

११४६. कस्स त्ति जहुद्दिट्ठं, एरिस साहम्मियाण ण वि कप्पे।
किं ती आहाकम्मं, असणादीयं इमं तं च॥

११४७. सालीमादी अगडे, 'फले य'[4] सुंठी य साइमं होति।
तस्स कडणिट्ठितम्मी[5], सुद्धासुद्धे[6] य चत्तारि॥

११४८. कोद्दवरालगगामे, वसही रमणिज्ज भिक्ख सज्झाए।
खेत्तपडिलेह संजय, सावग पुच्छुज्जुए कहणा[7]॥

११४९. जुज्जति गणस्स खेत्तं, णवर[8] गुरूणं ति[9] णत्थि पाउग्गं।
सालि त्ति कते रुप्पण[10], परिभायण णियगगेहेसु॥

११५०. वोलेंता ते व अण्णे वा, जाव तु किमियं? ति कहित सब्भावे।
वज्जेंति एव णाते, अहवा अण्णं वयंती तु॥

११५१. 'एवऽसणे'[11] कम्मं तू, हवेज्ज कह पाणगे हवेज्जाहि[12]?।
तहविह[13] साहु ण ठंती, सावगपुच्छा दगं लोणं[14]॥

११५२. अह ताव सावगो तू, खणेज्ज 'महुरोदगं तहिं'[15] अगडं।
अच्छति य ढक्किततेणं, जावाऽऽगत साहुणो तत्थ[16]॥

---

१. °बुद्धि (ब)।
२. वि (पिनि ७३/२१)।
३. तित्थंकरकेवलिणो, जहकप्पं नो य (पिनि ७३/२२)।
४. फलादि (पिनि ७५)।
५. °यम्मिं (ला, मु)।
६. सुद्धमसुद्धे (पिनि)।
७. पिनि ७६, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३३।
८. नवरि (पिनि ७६/१)।
९. तु (पा, पिनि)।
१०. रुंपण (पिनि)।
११. एसऽसणे (पा, ला, मु)।
१२. °ज्जाहिं (ब)।
१३. तह वि य (पा, ब, मु)।
१४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३४।
१५. °रोदहिं तगं (पा)।
१६. पिनि (७७) में यह गाथा कुछ अंतर के साथ मिलती है—
लोणागडोदए एवं, खणित्तु महुरोदगं।
ढक्कितेणऽच्छते ताव, जाव साहु त्ति आगता॥

११५३. एत्थ वि तहेव जाणण, वज्जण तह चेव होति णातव्वा।
एवं 'खाइम साइम'[१], णेतव्व जहक्कमेणं तु॥

११५४. कक्कडिग अंबगा वा, दाडिम 'दक्खा व'[२] 'बीयपूरा वा'[३]।
'एमादि खाइमं तू, साइम तह'[४] तिगडुमादीयं[५]॥

११५५. किं आहाकम्मं ती, एतं तं वण्णितं समासेणं।
परपक्ख सपक्खे त्ती, अधुणा दारं अणुप्पत्तं॥

११५६. परपक्खो तु गिहत्थो[६], समणो समणी य होति तु सपक्खो।
'एत्थ कडनिट्ठितेहिं, चउभंगो होति तं वोच्छं[७]॥

११५७. तस्स कड तस्स निट्ठित, तस्स कडऽण्णस्स निट्ठितं चेव।
अण्णकड तस्स निट्ठित, अण्णकडं निट्ठितऽण्णस्स[८]॥

११५८. वाविता लूया मलिता, कंडित 'एगच्छ दुच्छड कडा'[९] तु।
तिच्छड निट्ठिय होंती, तेरद्धा दुगुणमहकम्मं॥

११५९. कडनिट्ठिताण लक्खणमिणमो तु समासतो मुणेतव्वं।
फासुकडं रद्धं वा, निट्ठितमितरं कडं होति॥

११६०. समणट्ठ वावितादी, जा दुछडा एय होति तस्स कडं।
तस्सट्ठ तिछडरद्धं, निट्ठितमेसो पढमभंगो॥

११६१. समणट्ठ जाव दुछडा[१०], नवरि य तुरियऽण्णकारणुप्पण्णं।
तेसऽट्ठ तिछडरद्धा, बितिभंगो एस णातव्वो॥

११६२. जा दुछडा[११] अत्तट्ठा[१२], णवरि य साहू तु पाहुणा आया।
तेसऽट्ठ कया तिछडा[१३], ततिभंगो एस णातव्वो॥

---

१. खातिम सातिम (ता, ब)।
२. दक्खाइ (पिनि ७८)।
३. °रादी (पिनि)।
४. खाइमऽधिकरणकरणं तु साइमं (पिनि)।
५. °डुआदीयं (ब)।
६. गिहत्थे (ता)।
७. फासुकडं रद्धं वा, निट्ठितमितरं कडं सव्वं (पिनि ८१)।
८. पिनि (८१/१) में यह गाथा कुछ अंतर के साथ मिलती है—
तस्स कड-निट्ठितम्मि य, अन्नस्स कडम्मि निट्ठिते तस्स।
चउभंगो एत्थ भवे, चरिमदुगे होति कप्पं तु॥
९. °च्छडकडा जे (मु, ला)।
१०. दुच्छडा (ता, ब)।
११. दुच्छडा (ता, ब) सर्वत्र।
१२. अत्त अट्ठा (ता, ला)।
१३. तिच्छडा (ता, ब, ला)।

११६३. आयट्ठा जा दुछडा, आयट्ठा चेव तिछडरद्धा य।
एस चउत्थो भंगो, कतरे कप्पे ण कप्पति वा?॥

११६४. पढम-ततिए ण कप्पे, बितिय-चउत्था उ दोण्णि वी कप्पे।
एमेव पाणगे वी, खाइम तह साइमे चेव॥

११६५. साहुणिमित्ता रद्धं, जाव ण फासुं कडं तु ताव कडं।
फासुकड णिट्ठितं तू, चाउलधुवणादि पाणम्मि॥

११६६. फलमादि छिण्णछोडित, फासुकडं निट्ठितं मुणेतव्वं।
एमेव साइमे वी, अल्लगमादी मुणेतव्वा॥

११६७. सव्वत्थ तु[1] चतुभंगो, जोएतव्वो जहक्कमं होति।
एत्थं तू परिहरणा, विहि अविही सव्व बोद्धव्वा॥

११६८. छायं पि विवज्जेंती, केयी फलहेतुगादि वुत्तस्स।
तं तु ण जुज्जति जम्हा, फलं पि कप्पं बितियभंगे[2]॥

११६९. परपच्चइया छाया, ण वि सा 'रुक्खो व्व'[3] वड्ढिता कत्ता।
नट्ठच्छाए य[4] दुमे, कप्पति एवं भणंतस्स॥

११७०. वड्ढति[5] हायति[6] छाया, तच्छिक्कं पूइयं पि व ण कप्पे।
ण य आहाय सुविहिते, णिव्वत्तयती रवीछाया[7]॥

११७१. अघणघणचारिगगणे, छाया नट्ठा दिया पुणो होति।
कप्पति णिरातवे णाम, आतवे तं विवज्जंतु[8]॥

११७२. तम्हा ण एस दोसो, 'तु संभवे'[9] कम्मलक्खणविहूणो।
तं पि य हु अतिघिणिल्ला, वज्जेमाणा अदोसिल्ला॥

११७३. परपक्ख सपक्खे त्ती, एमेतं वण्णितं समासेणं।
चउरो त्ति दारमहुणा, वोच्छामि समासतो चेव॥

---

१. मु (ता, ब)।
२. पिनि ८०/१।
३. रुक्खेव (पिनि ८०/२)।
४. उ (पिनि)।
५. वड्ढती (ता, पा, ब)।
६. हायती (ला, ब), हाती (ता, पा)।
७. °च्छायं (पिनि ८०/३), °च्छाया (ता, ब)।
८. °ज्जेउं (पिनि ८०/४)।
९. संभवते (पिनि ८०/५)।

११७४. चउरो अतिक्कम वतिक्कमे य अतियार तह अणायारे।
आहाकम्मे एते, चउरो वि जहक्कमं जोए[1]॥

११७५. तस्स पुण संभवो ऊ, आहाकम्मस्स कह उ होज्जाहि?।
णिदरिसणं जह भरते[2], सङ्घा दट्ठूण मरुपूयं॥

११७६. महसङ्घादीएसुं, तेसु वि सद्धा ततो समुप्पण्णा।
अम्हे वि य साहूणं, करेमि भत्तं तु सविसेसं॥

११७७. साली-घत-गुल-गोरस, नवेसु वल्लीफलेसु जातेसुं।
'दाणे अभिगमसड्ढी'[3], आहाकम्मे[4] निमंतणया॥

११७८. आमंतिय पडिसुणणा, सव्वासु ऽसुभो अतिक्कमो होति।
पदभेदादि वतिक्कम[5], गहिते होती अतीयारो[6]॥

११७९. मुहछूढेऽणायारो, केयी गिलियम्मि बेंति अणायारं[7]।
किं कारण? छूढे वी, पुणरावत्ती कयाइ भवे॥

११८०. तो खेलमल्लगम्मी, णिग्गलति ण एव पत्तऽणायारं।
गिलियम्मि अणायारो, तस्स णियत्ती ततो नत्थि॥

११८१. सेसेहि णियत्तेज्जा, एग दुग तिगे व एत्थ दिट्ठंतो।
जह तिहि आगास ठितो[8], पदेहि विणियत्तिओ[9] हत्थी[10]॥

११८२. चउरो गहणे एवं, अतिक्कमादी तु वण्णिता एते।
आणादी चउरो वि य, दारं एत्तो पवक्खामि॥

११८३. आणं सव्वजिणाणं, गेण्हंतो तं अतिक्कमति लुद्धो।
आणं च अतिक्कमंतो, कस्साऽऽदेसा कुणति सेसं?[11]॥

---

१. पिनि (८२) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
णिद्दरिसणं चउण्ह वि, आहाकम्मे निमंतणया।
२. सरए (ब)।
३. पुण्णट्ठ दाणसङ्घा (नि२६६२), दाणट्ठकरणसङ्घा (पंक १२८५), पुण्णट्ठकरणसङ्घा (बृ ५३४१)।
४. आहायकते (पिनि ८२/१)।
५. °क्कमो (ता, पा)।
६. पिनि ८२/३ में यह गाथा कुछ अंतर के साथ मिलती है—
आहाकम्मामंतण, पडिसुणमाणे अइक्कमो होति।
पदभेदादि वइक्कम, गहिते ततिएतरो गिलिए॥
७. छंद की दृष्टि से ऽणायारं पाठ होना चाहिए।
८. ट्ठितो (ता, पा, ब, ला)।
९. णियत्तओ (ता, पा), णियत्तिउ (ला)।
१०. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३५।
११. पिनि ८३/१।

११८४. एगेण कतमकज्जं, करेति तप्पच्चया पुणो अण्णो।
साताबहुलपरंपर, वोच्छेदो संजम-तवाणं[1]॥

११८५. जो जहवायं ण कुणति, मिच्छद्दिट्ठी[2] तओ हु को अण्णो?।
वड्ढेति य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो[3]॥

११८६. दुविधा विराधणा खलु, संजमतो चेव तह य आयाए।
आहाकम्मग्गहणे, तत्थ इमा संजमे होति[4]॥

११८७. वड्ढेति तप्पसंगं, गेही य परस्स अप्पणो चेव।
सजियं पि भिण्णदाढो, ण मुयति णिद्धंधसो पच्छा[5]॥

११८८. खद्धे णिद्धे य रुया, सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया।
पडियरगाण य हाणी, कुणति किलेसं 'च किस्संतो[6]॥

११८९. पाएण मकिच्चेण[7] य, आहाकम्मं तु भारियं होति।
एसा आतविराधण[8], तम्हा तू तं ण भोत्तव्वं॥

११९०. अब्भोज्जे[9] गमणादी, पुच्छा दव्व-कुल-देस-भावे य।
एव जयंते छलणा, दिट्ठंता तत्थिमे दोण्णि[10]॥

११९१. जह वंतादि अभोज्जं, जाव य चंदो य सूरउदयं च।
उज्जाणा दोण्णि भवे, सवित्थरं सव्व बोद्धव्वं॥

११९२. जह ते दंसणकंखी, अपूरितिच्छा विणासिता रण्णा।
दिट्ठे वितरे मुक्का, एमेव इहं समोतारो[11]॥

११९३. आहाकम्मं भुंजति, ण पडिक्कमते य तस्स ठाणस्स।
एमेव अडति बोडो, लुक्कविलुक्को[12] जह कवोडो[13]॥

११९४. आहाकम्मद्दारं[14], एवमिणं मे समासतो कहितं।
आवत्ती दाणं वा, विसोहिमेतेसिमं वोच्छं॥

---

१. पिनि ८३/२।
२. मिच्छादिट्ठी (ला, मु)।
३. पिनि ८३/३।
४. गाथाओं के क्रम में पिनि में यह गाथा नहीं है।
५. पिनि ८३/४।
६. किलिस्संतो (पिनि ८३/५)।
७. पकि° (मु, ला), यहां मकार अलाक्षणिक है।
८. °हणया (ता, ब, ला)।
९. °ज्जो (पा, ला)।
१०. पिनि ८४/१, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३६, ३७।
११. पिनि ९१/४।
१२. लुक्कणिलु° (ला, पा, मु)।
१३. पिनि ९२।
१४. °कम्मियदारं (ता, पा)।

११९५. आहाकम्मे चतुगुरु, आवत्ती दाण होतऽभत्तट्ठं।
उद्देसियं पि दुविधं, ओहे य विभागतो चेव॥

११९६. ओहे मासलहुं तू, आवत्ती दाण होति पुरिमड्ढं।
होंति विभागुद्देसे, मूलव्वत्थू[1] इमे[2] तिण्णि॥

११९७. उद्देसकडे कम्मे, एक्केक्क चउव्विहो भवे भेदो।
कह होति चउब्भेदो?, इमाहि गाहाहि वोच्छामि॥

११९८. उद्देसियं समुद्देसियं च आदेसियं समादेसं।
एमेव कडे चउरो, कम्मम्मि वि होंति चत्तारि[3]॥

११९९. जावंतिगमुद्देसो, पासंडीणं[4] भवे समुद्देसो।
समणाणं आदेसो, णिग्गंथाणं समादेसो[5]॥

१२००. उद्देसिगम्मि लहुगो, 'पत्तेयं होति चतुसु ठाणेसु'[6]।
एमेव कडे गुरुगो, कम्मादिम लहुग तिसु गुरुगा॥

१२०१. थी लहुमासा गुरुगा[7], चउगुरुगा तिण्णि तू मुणेतव्वा।
तवकालेहि विसिट्ठा, दाणं तु अतो पवक्खामि॥

१२०२. लहुमासे पुरिमड्ढं, गुरुमासे होति एगभत्तं तु।
चउलहुगे आयामं, चउगुरुगे होतऽभत्तट्ठं[8]॥

१२०३. पूतीकम्मं दुविधं, दव्वे भावे य होति णातव्वं।
दव्वम्मि छगणधम्मी[9], 'भावे दुविधं इमं होति'[10]॥

१२०४. सुहुमं व बादरं वा, दुविधेयं होति हू मुणेतव्वं।
बादर पुणरवि दुविधं, उवगरणे भत्त-पाणे य॥

१२०५. इंधण गंधे धूमे, सुहुमेतं एत्थ णत्थि पूइत्तं[11]।
चुल्लुक्खलियादीणं, उवगरणे पूतियं होति॥

---

१. मूलव (ला, मु)।
२. इमि (पा, ला)।
३. तु. नि २०१९, पिनि (९७) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
एवं कडे य कम्मे, एक्केक्क चउव्विहो भेदो।
४. पासंडाणं (ता, पा, ब)।
५. पिनि ९८, नि २०२०।
६. चउसु वि ठाणेसु होइ उ विसिट्ठो (नि २०२२)।
७. गुरुमासा (ता, ब)।
८. हस्तप्रतियों में गा. १२०२ के बाद 'उद्देसिए त्ति गयं' का उल्लेख है।
९. °धम्मिय (पिनि १०७, नि ८०४), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३८।
१०. भावम्मि य बादरं सुहुमं (पिनि, नि)।
११. पच्छित्तं (ता, ब, ला)।

१२०६. एवं[1] मासलहुं तू, आवत्ती दाण होति पुरिमड्ढं।
डाए लोणे हिंगू, संकामण भत्तपूतीयं॥

१२०७. एत्थं मासगुरुं तू, आवत्ती दाणमेगभत्तं तु।
उवगरण भत्तपाणे, पूतिस्स तु लक्खणं वोच्छं॥

१२०८. सिज्झंतस्सुवगारं, 'सिद्धस्स करेति वावि'[2] जं दव्वं।
तं उवगरणं 'भण्णति, चुल्लुक्खलि-दव्वि-डोयादी'[3]॥

१२०९. संघट्टकता चुल्ली, उक्खलि डोए तहेव दव्वी य।
सो होति आहकम्मी, पूतीकम्मं इमं होति॥

१२१०. संघियचिक्खल्लेणं, सयचुल्लीखंडियाइ संठवणं।
एमेव उक्खलीय वि, फड्डगमादी तु जं लाए[4]॥

१२११. एवं सयडोयीए[5], दव्वीए वावि संघदारूणं।
अग्गिलियं जदि लाए, गंडफलं वावि एगतरं॥

१२१२. उवगरणपूति भणितं[6], एत्तो वोच्छामि भत्तपूतिं तु।
डाए लोणे हिंगू, संकामण 'फोड संधूमे'[7]॥

१२१३. अत्तट्ठिय आदाणे, डागं लोणं व[8] कम्म हिंगू[9] वा।
तं भत्तपाणपूतिं[10], फोडणमण्णं व जं छुभति॥

१२१४. संकामेउं कम्मं, तेणेव य भायणेण संकामे।
जं सुद्धं तं पूतिं, अहवा रद्धं तहिं होज्जा॥

१२१५. अंगारभूइ थाली, वेसण हेट्ठामुहीए जं धूमे।
संघट्टकडे तम्मि उ, अत्तट्ठ करेंत पूतीयं[11]॥

१२१६. मीसज्जातं तिविधं, जावंतिगमीस बितिय पासंडे।
साहूमीसं ततियं, पच्छित्तं तेसि वोच्छामि॥

---

१. एव (ला)।
२. दिज्जंतस्स व करेति (पिनि ११३)।
३. चुल्ली उक्खा दव्वी य डोयादी (पिनि)।
४. लोए (ब)।
५. सतडोतीए (ता, पा, ब)।
६. एयं (ता, ब)।
७. फोडणं धूमे (मु)।
८. च (पा, ला, पिनि)।
९. हिंगुं (पा, ब, ला, मु)।
१०. °पूती (पिनि ११३/४)।
११. इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में 'पूति त्ति गयं' का उल्लेख है।

१२१७. पढमे चउलहुगा तू, बिति 'ततिए चउगुरू'[1] मुणेतव्वा।
तवकालेहि विसिट्ठा, चउगुरुगा होंति णातव्वा॥

१२१८. चतुलहुगे आयामं, चउगुरुगे होति तू[2] चउत्थं तु।
मीसज्जातं भणितं, ठवणाभत्तं अतो वोच्छं॥

१२१९. ठवणाभत्तं दुविधं, इत्तरठवितं तहेव चिरठवितं।
इत्तरठविते पणगं, चिरठविते होति मासलहुं॥

१२२०. पणगे णिव्विगती तू, लहुमासे दाण होति पुरिमड्ढं।
इत्तर चिरठविते या, समासतो लक्खणं वोच्छं॥

१२२१. संघाडग हिंडंते, परिवाडिठितेसु तिसु तु गेहेसु।
एक्को दोसुवयोगं, करेति भिक्खाएँ गेहेसु॥

१२२२. बितिओ साणादीणं, देयुवओगं घरं तहेक्कम्मि।
तेण परेण चउत्थे, उक्खित्ता इत्तरट्ठविता॥

१२२३. चतुथघरा तु परेणं, चिरठविता जाव पुव्वकोडी उ।
एतं ठविताऽभिहितं, एत्तो वोच्छामि पाहुडियं॥

१२२४. 'सा पाहुडिया'[3] दुविधा, 'सुहुमा तह बादरा य बोद्धव्वा'[4]।
ओसक्कण उस्सक्के[5], 'एक्केक्का सा भवे दुविधा'[6]॥

१२२५. सुहुमाए लहुपणगं, आवत्ती दाण होति णिव्विगतिं।
चउगुरुग बादराए, आवत्ती दाणऽभत्तट्ठं॥

१२२६. एत्थं सुहुमा तु इमा, जह काइ अगारि कंतमाणी उ।
भणिता तु चेडरूवेण, देहि अम्मो! महं[7] भत्तं॥

१२२७. भणितोट्ठितो त्ति होही, जाया! कंतामि ता इमं पेलुं।
जइ तं सुणेति साहू, ण गच्छते तत्थ आरंभो॥

१२२८. 'अस्सुट्ठिता भणंती, तुज्झ मि[8] देमि त्ति किं ति परिहरति।
किह दाणि ण उट्ठिस्से[9]?, साधुपभावेण लब्भामो॥

---

१. तति चेव गुरू (ता)।
२. तु (पा, ला), जु (ब)।
३. पाहुडिया वि य (पिनि १३१)।
४. बादर सुहुमा य होति नातव्वा (पिनि)।
५. उस्सक्कण (पिनि)।
६. कप्पट्ठीए समोसरणे (पिनि)।
७. सहुं (पा)।
८. अन्नट्ठ उट्ठिया वा तुब्भ वि (पिभा २७)।
९. उट्ठिहिसी (पिभा)।

१२२९. एवं णाऊण ततो, परिहरती एस होति ओसक्का।
उस्सक्कण कंतंती[1], भणिता चेडेण दे भत्तं॥

१२३०. कंतामि भणति[2] पेलुं, तो ते दाहामि पुत्त! मा रोव।
सा य समत्ता पेलू, देही एत्ताहें सो भणति[3]॥

१२३१. मा ताव झंख पुत्तय! परिवाडीए इहेहिही साहू।
एतट्ठमुट्ठिताए, दाहं सोउं विवज्जेति[4]॥

१२३२. अंगुलिए चालेउं[5], कड्ढति कप्पट्ठओ घरं जत्तो[6]।
किं ति? कहिते ण वच्चति[7], पाहुडिया एय सुहुमा तु॥

१२३३. बादरपाहुडिया वि य, ओसक्कऽहिसक्कणे य दुविधा उ।
कप्पट्ठगसंघाडग, ओसरणेणं च निद्देसो॥

१२३४. 'जह पुत्तविवाहदिणे, ओसरणातिच्छिते[8] मुणिय सड्ढो।
'ओसक्के ओसरणं'[9], संखडिपाहेणगदवट्ठा॥

१२३५. अप्पत्तम्मी ठवितं, ओसरणे 'होहिइ त्ति'[10] उस्सक्के[11]।
संपागडमितरं[12] वा, करेति उज्जूमणुज्जू वा॥

१२३६. मंगलहेतुं पुण्णट्ठया व[13] ओसक्कितं[14] 'च उस्सक्के'[15]।
'किं कारणं? ति पुट्ठो, सिट्ठे ताहे'[16] विवज्जेंति॥

१२३७. पाहुडिभत्तं भुंजति, ण पडिक्कमते य तस्स ठाणस्स।
एमेव अडति बोडो, लुक्कविलुक्को[17] जह कमेडो[18]॥

---

१. कंतंतं (ला)।
२. ताव (पिभा)।
३. पिभा (२६) में इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—
जइ तं सुणेति साहू , न गच्छते तत्थ आरंभो।
४. पिनि १३२।
५. वा घेत्तुं (पिनि १३३)।
६. जुत्तो (ब), तेण (पिनि)।
७. गच्छति (पिनि)।
८. पुत्तस्स विवाहदिणं ओसरण अइच्छिते (पिनि १३४)।
९. °क्कंतोसरणे (पिनि)।
१०. होति (पा, ला)।
११. °सक्कणं (पिनि १३५)।
१२. तं पाग° (पिनि)।
१३. व्व (ता), च (ला, ब, पा)।
१४. उस्सक्केतं (ब)।
१५. दुहा पगतं (पिनि)।
१६. उस्सक्कितं पि किं ति य पुट्ठे सिट्ठे (पिनि १३५/१)।
१७. लुक्कणिलु° (मु)।
१८. कवोडो (पिनि १३६)।

१२३८. पाहुडिया भणितेसा[1], एत्तो पायोवगरण वोच्छामि।
पादू पगासणम्मी, अपगासपगासणं जं तु॥

१२३९. पायोकरणं दुविधं,पागडकरणं पगासकरणं च।
पागड[2] मासलहुं तू, पगासकरणे उ चतुलहुगा[3]॥

१२४०. लघुमासे पुरिमड्ढं, चतुलहुगे दाण होति आयामं।
पायोकरणं भणितं, कीतकडमतो तु वोच्छामि॥

१२४१. कीतकडं पि य दुविधं, दव्वे भावे य दुविधमेक्केक्के।
आयपरकीयमेवं, पच्छित्तं तेसि वोच्छामि[4]॥

१२४२. दव्वाय-परक्कीए, दुविधे वि चउल्लहू मुणेतव्वं।
दाणं आयामं तू, भावम्मि अतो परं वोच्छं॥

१२४३. भावे तु आयकीतं, चउलहुगा एत्थ वी मुणेतव्वा।
दाणं आयामं तू, भावे परकीय[5] वोच्छामि॥

१२४४. मासलहुमिहावत्ती, दाणं पुण एत्थ होति पुरिमड्ढं।
कीतकडेतं भणितं, पामिच्चमतो तु वोच्छामि॥

१२४५. पामिच्चं पि य दुविधं, लोइग लोगुत्तरं समासेणं।
लोइय चतुलहुगा तू, आवत्ती दाणमायामं॥

१२४६. लोगुत्तरें मासलहुं, दाणं पुण एत्थ होति पुरिमड्ढं।
पामिच्चेयं भणितं, परियट्टियमिणमों वोच्छामि॥

१२४७. परियट्टियं पि दुविधं, लोइग लोगुत्तरं समासेणं।
लोइग चउलहुगा तू, आवत्ती दाणमायामं॥

१२४८. लोगुत्तरें मासलहुं, आवत्ती दाण होति पुरिमड्ढं।
परियट्टिय भणितेयं, अभिहडदारं अतो वोच्छं॥

१२४९. तं होति दुहाऽभिहडं, आइण्णं[6] चेव तह अणाइण्णं।
आइण्ण णोणिसीहं, होति णिसीहं च दुविधं तु॥

---

१. तेमा (पा)।
२. पागडे (ता, ब, ला)।
३. पिनि (१३७) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है–
पागड संकामण कुड्डदारपाते य छिन्नेणं।
४. तु. पिनि १३९, तु. नि ४४७५।
५. परत्तीय (ता, पा, ब, ला)।
६. आतिण्णं (ता, ब)।

१२५०. छण्ण णिसीहं भण्णति, पगडं पुण होति णोणिसीहं ति।
एक्केक्कं परगामे, सग्गामे चेव बोद्धव्वं॥

१२५१. सग्गामाहड दुविधं, आइण्णं चेव होतऽणाइण्णं।
अणइण्णे मासलहुं, दाणेत्थं होति पुरिमड्ढं॥

१२५२. परगामाहड दुविधं, सदेस परदेसतो व णातव्वं।
एक्केक्कं पुण दुविधं, जलेण तह थलपहेणं च॥

१२५३. सप्पच्चवाय णिरपच्चवाय[1] पुण होति दुविधमेक्केक्कं।
संजमआतविराधण, सपच्चवायम्मि जोएज्जा॥

१२५४. परदेसआहडम्मी, सपच्चवायम्मि होंति चउगुरुगा।
णिप्पच्चवाएँ लहुगा, दाणं एतेसि[2] वोच्छामि॥

१२५५. चउगुरुगे ऽभत्तट्ठं[3], दाणमिहं होति तू मुणेतव्वं।
चउलहुगे आयामं, एमेव य होति सदेसे॥

१२५६. उब्भिण्ण होति दुविधं, पिहितुब्भिण्णं कवाडउब्भिण्णं।
जं तं पिहितुब्भिण्णं, तं दुविधं फासुगमफासुं॥

१२५७. फासुग छगणेणं तू, दद्दरएणं च एत्थ मासलहुं।
तहियं पवहणदोसा, दाणं पुण एत्थ पुरिमड्ढं॥

१२५८. अप्फासुपुढविमादी, सच्चित्तेणं तु जं भवे लित्तं।
तहियं उब्भिज्जंते, कायाण विराधणा इणमो॥

१२५९. सच्चित्तपुढविलित्तं, लेलु सिलं वावि दाउमोलित्तं।
सच्चित्तपुढविलेवो, चिरं पि उदगं अचिरलित्ते[4]॥

१२६०. चिरलित्तपुढविकायो, तिम्मेतुं लिप्पमाण आउवहो।
जतुमुद्दतावणम्मी, तेऊ वाऊ[5] वि तत्थेव॥

१२६१. पणगबियाइ-वणस्सति, तस-कुंथु-पिपीलि एवमादीहिं।
एते ऊ लिप्पंते, इमे तु दोसा तु उल्लित्ते॥

---

१. णिप्प° (मु)।
२. एतेसिं (पा)।
३. अभ° (ब, मु)।
४. °लित्तं (पिनि १६३/१)।
५. वाते (ब)।

१२६२. परस्स तं देति सए व गेहे, तेल्लं[१] व लोणं व घतं गुलं वा।
उग्घाडितं तं तु 'करेयऽवस्सं'[२], स विक्कयं तेण किणाति वऽण्णं॥

१२६३. दाण-कय-'विक्कयादी, अहिगरणं होति'[३] अजतभावस्स।
णिवडंति[४] जे य तहियं, जीवा मूइंगमूसादी[५]॥

१२६४. जहेव कुंभादिसु पुव्वलित्ते, 'उब्भिज्जमाणम्मि वि कायघातो'[६]।
ओलिप्पमाणे वि तहेव घातो, उब्भिण्णमेतं पिहितं पि वुत्तं[७]॥

१२६५. आवत्ति दाणमेत्थं, ओहेणं चउलहू मुणेतव्वा।
दाणं आयामं तू, विभागतो कायणिप्फण्णं[८]॥

१२६६. एमेव कवाडम्मि वि, कायवहो होति ऊ मुणेतव्वो।
उप्पिहित पिहिज्जंते, सविसेसा जंतमादीसु॥

१२६७. घरकोइलसंचारा, आवत्तण पेढियाएँ हेट्ठुवरिं।
णिंते 'ठिते य'[९] अंतो, डिंभादीपेल्लणे दोसा॥

१२६८. एत्थ वि चउलहुगा तू, ओहेणं दाणमेत्थमायामं।
होति विभागेणं पुण, पुढवादीकायणिप्फण्णं॥

१२६९. उब्भिण्णेतं भणितं, अहुणा मालोहडं पवक्खामि।
तं तिविधं उड्ढमहे, तिरियं मालोहडं चेव॥

१२७०. उड्ढ दुभूमादीयं, अह उड्ढियकोट्ठियाइयं[१०] होति।
तिरि अद्धमालगादी, हत्थपसाराउ जं गिण्हे॥

१२७१. 'सव्वं पि य तं'[११] दुविधं, जहण्ण उक्कोसगं च बोद्धव्वं।
अग्गपदेहि जहण्णं, तव्विवरीतं ति उक्कोसं॥

१२७२. मालोहड उक्कोसे, आवत्ती चउलहू[१२] मुणेतव्वा।
दाणं आयामं तू, जहण्णमालोहडमिदाणिं॥

---

१. तेलं (ब)।
२. करेति ऽवः (पिनि १६३/४)।
३. विक्कए वा होई अधिगरण (पिनि १६३/५)।
४. निवतंति (पिनि)।
५. मूइयंग° (मु)।
६. °माणे वि हवंति काया (पिनि)।
७. पिनि (१६३/६) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है— उल्लिंपमाणे वि तहा तहेव, काया कवाडम्मि विभासितव्वा।
८. मूइंगणि° (ता)।
९. वि एय (पिनि १६३/७)।
१०. °इहं (ता)।
११. मालोहडं पि (पिनि १६५)।
१२. °लहु (ता, ला)।

१२७३. एत्थ तु मासलहुं तू, आवत्ती दाण[1] होति पुरिमड्ढं।
इय मालोहड भणितं, अच्छेज्जं अहुण वोच्छामि॥

१२७४. 'तिविधं पुण अच्छेज्जं'[2], पभू य सामी य तेणए चेव।
'एक्केक्के चतुलहुगा, दाणं पुण एत्थमायामं'[3]॥

१२७५. अणिसिट्ठं पि य तिविधं, साधारण चोल्लगे य जड्डु य।
तिविधे वि य अणिसट्ठे, चतुलहुगा दाणमायामं॥

१२७६. साहारणमणिसट्ठं, दाइयमादीण जं तु होज्जाहि।
खीरे आपण संखडि, दिट्ठंतो गोट्ठिभत्तेणं[4]॥

१२७७. सो चोल्लगो वि दुविधो, छिण्णमछिण्णो समासतो होति।
परिछिण्णं चिय दिज्जति, एसो छिण्णो मुणेतव्वो॥

१२७८. अच्छिण्णपरीमाणो, सो वि णिसट्ठो तहेव अणिसट्ठो।
णीसट्ठो तेसिं चिय, णेतूण समप्पितो जो तु॥

१२७९. आणेति भुत्तसेसं, जं गहितं एय होति अणिसट्ठं।
छिण्णम्मि चोल्लगम्मी, कप्पति घेत्तुं णिसट्ठेतं[5]॥

१२८०. अणिसट्ठमणुण्णातं, कप्पति घेत्तुं तहेव अदिट्ठं।
चोल्लग अणिसट्ठेयं, जड्डुणिसट्ठं अतो वोच्छं[6]॥

१२८१. रायकुलातो भत्तं, णीतं जड्डुस्स तं ण कप्पति तु।
णिवपिंडमंतरायं[7], अदिण्णगहणादिदोसा य॥

१२८२. जड्डो व पदोसगतो, परिपाडे वसहिमादि भंजेज्जा।
डोंबस्स संतिओ वि हु, अदिट्ठो कप्पती घेत्तुं॥

१२८३. अणिसट्ठ भणितमेतं, एत्तो अज्झोयरं पवक्खामि।
अहियं उदरं अज्झोयरो तु जं सगिहमेगम्मि॥

१२८४. अहिगं तु तंदुलादी, छुब्भति अज्झोयरो उ सो तिविधो।
जावंतिग पासंडे, साधू अज्झोयरे चेव॥

---

१. दाणे (ला)।
२. अच्छेज्जं पि य तिविधं (पिनि १७२)।
३. अच्छिज्जं पडिकुट्ठं, समणाण ण कप्पते घेत्तुं (पिनि)।
४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३९।
५. °ट्ठे य (ब)।
६. तु. पिनि १८४।
७. °राइय (ब), °राया (मु)।

१२८५. जावंतिगम्मि लहुगो, आवत्ती दाणमेत्थ पुरिमड्ढं।
पासंडी साहूण य, मासगुरू दाण भत्तेक्कं॥

१२८६. एसो अज्झोयरओ, सोलस वी उग्गमस्स दोसेते।
णवकोडीउ भवंतिह, किं भणितं होति कोडि[1]? त्ति॥

१२८७. कोडिज्जंते जम्हा, बहवो दोसा उ सहियए गच्छं।
कोडि त्ति तेण भण्णति, णवकोडीओ इमा ताओ॥

१२८८. हणण हणावण अणुमोदणं 'च पयणं'[2] पयावणऽणुमोया।
किणण किणावण अणुमोदणं च कोडीउ णव एता॥

१२८९. णव चेवऽट्ठारसगं, सत्तावीसा तहेव चउपण्णा।
णउती दो चेव सया, 'तु सत्तरा'[3] होंति कोडीणं॥

१२९०. ता चेव य णवकोडी, रागद्दोसेहिं गुणित अट्ठरस।
अण्णाण मिच्छ अविरति, तिहिं[4] गुणिते सत्तवीसा तु॥

१२९१. पुढवादी छसु संजय, छहिं[5] गुणिता होंति एस चतुपण्णा।
खंतीमादी दसहि उ, गुणिता णउती तु बोद्धव्वा॥

१२९२. णउती तिहि गुणिता तू, दंसण-णाणेहि तह चरित्तेणं।
सय दोन्नि होंति सयरा, कोडीणं एस वित्थारो॥

१२९३. 'संखेवेण[6] दुहा ऊ[7], उग्गमकोडी विसोधिकोडी य।
उग्गमकोडी छव्विध[8], विसोधिकोडी अणेगविहा॥

१२९४. हणणतिगं पयणतिगं, उग्गमकोडी तु छव्विधा एसा।
अहवा वि इमा छव्विध, उग्गमकोडी मुणेतव्वा॥

१२९५. आहाकम्मुद्देसिय, चरिमतिगं पूति मीसजातं च।
बादरपाहुडिया वि य, अज्झोयरए य चरिमदुगे[9]॥

---

१. क्कोडि (ता, ब)।
२. × (ला)।
३. उ सत्तरी (पिनि १९२/७)।
४. तिहं (ता, पा, ब, ला)।
५. च्छहिं (पा, ब, ला)।
६. °वेण य (पा, ब, ला)।
७. कोडीकरणं दुविधं (पिनि १९२/६)।
८. छक्कं (पिनि)।
९. °दुगं (पिनि १९०)।

१२९६. एसा विसोधिकोडी, छव्विहभेदा समासतोऽभिहिता।
एत्तो छद्धा[1] सुद्धं, वोच्छामी आणुपुव्वीए॥

१२९७. उग्गमकोडी अवयव, लेवालेवे य 'अकतकप्पे या'[2]।
कंजिय आयामे चाउलोदसंसट्ठपूती य॥

१२९८. सुक्केण वि जं छिक्कं[3], 'असुइण तं'[4] धोव्वए जहा लोओ।
इय सुक्केण वि छिक्कं, धोव्वति कम्मेण भाणं तु॥

१२९९. लेवालेवे त्ति जं वुत्तं, जं पि दव्वमलेवडं।
तं पि 'घेत्तुं ण'[5] कप्पेति, तक्कादी किमु लेवडं[6]?॥

१३००. कंजियमादीगहणं, कम्हा उ कतं तु? भण्णती सुणसु।
साहुस्स तु आहेतुं, जं कीरति आहकम्मं तं॥

१३०१. इय णाउमाह कोयी, साहुणिमित्ता य ओदणो उ कतो।
ण तु कंजियमादीणिं, तो वज्जो ओदणो एगो॥

१३०२. ण तु[7] कंजियमादीणिं, तो तग्गहणे कते तमेवं तु।
जदि वि ण दिट्ठा आहा, ओदणमट्ठा तह वि वज्जे॥

१३०३. सेसा विसोधिकोडी, ठवितगमादी तु जइ वऽणाभोगा।
गहिता हवेज्ज छुद्धा[8], अण्णम्मी भत्तपाणम्मि॥

१३०४. ताहे तु जहासत्तिं, विगिंचितव्वं तमण्णपाणं तु।
दव्वादिकमेणं तू, इमेण वोच्छं समासेणं॥

१३०५. दव्वे तं चिय दव्वं, खेत्त[9] पदेसेसु जेसु तं पडितं।
काले अकालहीणं, जावऽण्णा भिक्ख णऽक्कमति॥

१३०६. भावे अरत्तदुट्ठो, असढो जं पासती[10] तगं छड्डे[11]।
अणलखियमीसदव्वे[12], सव्वविवेगोऽवयवसुद्धो॥

---

१. सुद्धा (ता), × (पा, ला)।
२. अकयए कप्पे (पिनि १९१)।
३. छक्कं (ता)।
४. तु असुइणा (पिभा २८)।
५. घेत्तूण (ता, ब, ला)।
६. पिभा २९।
७. य (ब)।
८. वुद्धो (ला), वुद्धा (पा, ब)।
९. खेत्ते (पा, ब, ला)।
१०. पावती (ब)।
११. पिनि (१९२) में इस गाथा के पूर्वार्द्ध में पाठभेद है।
१२. °लक्खियमीसदवे (पिनि)।

१३०७. अह पुण ण संथरेज्जा, ताहे परिठावणा तु तम्मत्तं।
इत्थं[1] चउभंगो तू, सुक्खोल्लणिवायगो इणमो॥

१३०८. सुक्खे सुक्खं पडितं, सुक्खे उल्लं तु उल्लें सुक्खं तु।
उल्ले उल्लं च[2] तहा, एस चउत्थो भवे भंगो॥

१३०९. 'सुक्खे सुक्खं पडितं, पढमगभंगो[3] विगिंचति सुहं तु[4]'।
बितियम्मि दवं छोढुं, गालेंति दवं करं दाउं॥

१३१०. ततियम्मि करं छोढुं, उल्लिंचति[5] ओदणादि जं तरति।
'चरिमे सव्वविवेगो, दुलभदवे वावि तम्मत्तं'[6]॥

१३११. एव विगिंचिंतऽसढो, जेसु पदेसुं तु सुज्झते साधू।
मायावी ण विसुज्झे, तम्हा असढेण होतव्वं॥

१३१२. एवं गवेसणाए, उग्गमदारं समासतो भणितं।
उप्पायणमहुणा तू, समासतो हं पवक्खामि॥

१३१३. सोलस उग्गमदोसे, गिहिणो[7] तु समुट्ठिते वियाणाहि।
उप्पादणाएँ दोसे, साहूउ समुट्ठिते जाण[8]॥

१३१४. णामं ठवणा दविए, भावे उप्पादणा मुणेतव्वा।
'दव्वे सचित्तादिविहाण', चित्ते दुपयादि तिविध इमा'[10]॥

१३१५. आसूयमादिएहिं[11], वालचिय-तुरंगबीयमादीसु[12]।
सुत-आस-दुमादीणं, उप्पादणया तु सच्चित्ता॥

---

१. एत्थं (ब)।
२. × (ब)।
३. °मभंगो (ब)।
४. सुक्के सुक्कं पडितं, विगिंचिउं होति तं सुहं पढमो (पिनि १९२/३)।
५. उत्तिंपइ (ला)।
६. दुल्लभदवम्मि चरिमे, ततियमेत्तं विगिंचंति (पिनि १९२/४)।
७. गिहिणा (पा, ला)।
८. जाणं (पा, ब), पिनि १९३।
९. छंद की दृष्टि से 'दव्वे सच्चित्तादी' पाठ होना चाहिए। विहाण शब्द उत्पादना के भेद के लिए संकेत रूप में लिखा गया था, वह मूल पाठ के साथ जुड़ गया।
१०. दव्वम्मि होति तिविधा, भावम्मि य सोलसपदा उ (पिनि १९४)।
११. प्रतियों में तथा मुद्रित पुस्तक में 'आयासुयमादीहिं' पाठ मिलता है लेकिन हमने यहां मूल में पिण्ड-निर्युक्ति का पाठ स्वीकृत किया है।
१२. °मादीहिं (पिनि १९४/१)।

१३१६. कणग-रययादियाणं, जहेट्ठधातुविहिता[1] तु अच्चित्ता।
मीसा उ सभंडाणं, 'दुपया तुप्पादणा दव्वे'[2]॥

१३१७. भावे पसत्थ इतरा, कोहादुप्पादणा[3] तु अपसत्था।
कोधादिजुता धायादिणं च णाणादि 'तु पसत्था'[4]॥

१३१८. अपसत्थियभावुप्पादणाएँ एत्थं तु होति अहिगारो।
सा सोलसहा तु इमा, धायादीया मुणेतव्वा॥

१३१९. धाती दूती णिमित्तें, आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोधे माणे माया, लोभे य हवंति दस एते[5]॥

१३२०. पुव्विं-पच्छासंथव, विज्जा मंते य चुण्ण-जोगे य।
उप्पादणाएँ दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य[6]॥

१३२१. धारयति धीयते वा, धयंति वा[7] तमिति तेण धाती तु।
जहविभवं आसि पुरा, खीरादी पंच धातीओ[8]॥

१३२२. खीरे य मज्जणे मंडणे य कीलावणंकधाती य।
धाइत्तं कुणमाणो, एगतरं धातिपिंडो तु[9]॥

१३२३. तं दुविधं धातित्तं, करणे कारावणे य बोद्धव्वं।
तं पुण दारगमादी, पडुच्च धाति व्व कुज्जाहि[10]॥

१३२४. पंचविध धातिपिंडे, आवत्ती चउलहू मुणेतव्वा।
दाणं आयामं तू, दूतीपिंडं अतो वोच्छं॥

१३२५. सग्गाम[11] परग्गामे, दुविधा दूती तु होति णातव्वा।
एक्केक्का वि य दुविहा, पागड छण्णा य णातव्वा॥

१३२६. पागड णिस्संको च्चिय, अप्पाहेंतो व भणति इतरो वा।
सेज्जातरखंतिया तु, धूया वा अण्णगामम्मि॥

---

१. °तुभिहि° (ता, पा, ब, ला), यहां हमने पिण्डनिर्युक्ति का पाठ स्वीकृत किया है।
२. °यादि कया उ उप्पत्ती (पिनि १९४/२)।
३. °प्पायणे (ब)।
४. सप° (पा, ला), पिनि १९४/३।
५. पिनि १९५, पंव ७५४, प्रसा ५६७, पंचा १३/१८।
६. पिनि १९६, पंव ७५५, प्रसा ५६८, पंचा १३/१९।
७. व (ला)।
८. धाई यु (ब), नि ४३७६, पिनि १९८।
९. पिनि (१९७) में इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—
एक्केक्का वि य दुविधा, करणे कारावणे चेव।
१०. °ज्जाहिं (ब)।
११. °गामे (ला)।

१३२७. भिक्खादी वच्चंते, अप्पाहणि णेति खंतिगादीणं।
सा ते अमुगं माता, सो व पिता पागडं[1] भणति[2]॥

१३२८. छण्णा पुणाइ दुविधा, दूती एत्थं तु होति णातव्वा।
लोगुत्तर तत्थेगा, बितिया पुण उभयपक्खे वि॥

१३२९. लोगुत्तर संघाडग, संकंतो सावछण्णवयणेहिं।
कह पुण छण्णं? सेज्जातरीय अप्पाहिओ गंतुं[3]॥

१३३०. संघाडपच्चयट्ठा[4], बेती दूति त्ति अम्ह ण वि कप्पे।
अविकोविया सुता ते, जा बेति इमं भणसु खंती॥

१३३१. सा वि य भणती होतू, वारिज्जिहिती अयाणिया सा उ।
लोउत्तरछण्णेसा, उभयच्छण्णं अतो वोच्छं॥

१३३२. जामाइतित्थजत्तागतस्स उवाइपोक्कडेण कतं।
सो आगतो त्ति धूता, उभयच्छण्णं इमं भणति॥

१३३३. एव भणेज्जहि खंती, तं किर तह चेव चिंतितं जं तु।
जह ण वि संघाडो से, अण्णा व वियाणती कोई[5]॥

१३३४. उभयच्छण्णा एसा, सग्गामे अभिहिता भवे दूती।
एमेव परग्गामे, दुह दूती कह पुण करेज्जा?॥

१३३५. गामाण दोण्ह वेरं, सेज्जातरिधूय तत्थ परगामे[6]।
सामत्थं गामस्स य, जह एतं हणिमु परगामं[7]॥

१३३६. खंतो तु तत्थ पच्छा, भिक्खायरियाएँ तो तु सेज्जतरी।
अप्पाहेती खंतं, मम धूय भणेज्जसू एवं[8]॥

१३३७. जह गामो पडिउक्कमो, सा उ भणेज्जासु मा कुण पमादं।
तीय कहितं तु तस्सा, तेण वि गामस्स तं कहितं॥

---

१. ते इमं (पिनि २०१/१)।
२. नि ४३९९।
३. गंतु (ला)।
४. 'डगप' (ब)।
५. कोति (ब)।
६. खंतस्स (पिनि २०२)।
७. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४०।
८. एयं (पा, ब, ला)।

१३३८. ते य ठित[1] एगपासे, इतरे पडिता कतं तहिं जुद्धं।
सेज्जातरिपति-पुत्ता, जामाता चेव वहिओ उ॥

१३३९. बेति जणो केणेयं, कहितं? रोयंति बेति सेज्जतरी।
जामाति-पुत्त-पतिमारएण खंतेण मे सिट्ठं[2]॥

१३४०. जम्हा[3] एते दोसा, दूतित्तं खू ण कप्पती तम्हा।
दूतीपिंडे चउलहु, आवत्ती दाणमायामं॥

१३४१. नियमा 'तिकालविसयम्मि णिमित्ते[4] छव्विधे भवे दोसा।
सज्जं तु वट्टमाणो, आउभए तत्थिमं णातं॥

१३४२. आकंपिया[5] णिमित्तेण, भोइणी केणई तु लिंगीणं।
भोइगचिरगतपुच्छा, केवतिकालेण एज्जाहि?॥

१३४३. कल्लं चिय एति त्ती, इतरी पडिभणति पच्चयो को उ?।
तुह गुज्झदेस तिलगो, सुविणादी पच्चए कहए॥

१३४४. तीय कतं आउत्तं, पेसवितो परिजणो य पच्चोणी।
इतरो वि अविदितो च्चिय, पविसिस्सं भोइओ चिंते॥

१३४५. घरवित्तंतनिमित्तं, दिट्ठो उवणिग्गतो य परिवग्गो।
कह तुब्भे णातं? ती, पेसविता भोइणीए तु॥

१३४६. पुट्ठा य दियत्तेणं[6], तीए[7] सिट्ठं सलाहमाणीए।
समणो तीय भविस्सं, जाणति तिलगो य णे सिट्ठो॥

१३४७. कोवो वलवागब्भं, च पुच्छितो पंचपुंडगाहंसु[8]।
फालण दिट्ठो जदि णेव तो तुहं अवितह कतेवं[9]॥

१३४८. तम्हा ण वागरेज्जा, णिमित्तपिंडेस वण्णितो तु मए।
तीतणिमित्ते चउलहु, आवत्ती दाणमायामं॥

---

१. ट्ठिय (ता, ब, ला)।
२. तु. पिनि २०३।
३. तम्हा (ला)।
४. °सए विणि (पिनि २०४), °विसए नै (नि ४४०५)।
५. °पिय (पा, ला)।
६. प्रतियों में 'आदियत्तेणं' पाठ मिलता है लेकिन छंद एवं अर्थ की दृष्टि से 'दियत्तेणं' पाठ होना चाहिए।
७. तीय य (मु, ला)।
८. °डमाहंसु (पिभा ३४)।
९. कइ वा (पिभा), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४१।

१३४९. पडुपण्णऽणागते या, चउगुरुगा दाण होतऽभत्तट्ठं।
आजीवपिंडमेत्तो[1], समासतो हं पवक्खामि॥

१३५०. जाती कुल गण कम्मे, सिप्पे आजीवणा तु पंचविधा।
सूयाएँ असूयाएँ व, 'कहेति अप्पाणमेक्केक्के'[2]॥

१३५१. जाती कुल गण कम्मे, सिप्पे आजीवणा तु पंचविधा।
एक्केक्के चतुलहुगा, आवत्ती दाणमायामं॥

१३५२. जाती माहणमादी, मातिसमुत्था व होति बोधव्वा।
तहियं सूयाए तू, जाणावेमेहि अप्पाणं॥

१३५३. होमादिऽवितहकरणे, णज्जति जह सोत्तियस्स पुत्तो त्ति।
वसितो वेस गुरुकुले, आयरियगुणे व सूएति[3]॥

१३५४. सम्ममसम्मा किरिया, 'अणेण ऊणाहिगा'[4] व विवरीता।
समिधा-मंताऽऽहुति-ठाण-जाग[5]-काले य घोसादी[6]॥

१३५५. बेति फुडं चिय सुकतं, असोहणं वावि ते कतमियं ति।
तहियं भद्दगपंता, दोसा इणमो भवंती तु॥

१३५६. भद्दो अम्ह सपक्खो, एस त्ती भिक्खु देज्जहेतस्स।
पंतो ओभामेती, मुहमंगलि कुणति भिक्खट्ठा॥

१३५७. उग्गादीयं तु कुलं, पितुवंसादि व्व तत्थ[7] वि तहेव।
मल्लसरस्स तमादिण, जाएई[8] मंडलपवेसं॥

१३५८. देउलदरिसण-भासाउवणयणे मंडवादि सूएति।
जंतुप्पीलणमादि तु, कम्मं तुण्णादियं[9] सिप्पं॥

१३५९. अहवा जं सिक्खिज्जति, आयरिउवदेसतो तगं सिप्पं।
जं कीरती सयं तू, तं कम्मे तेसु सव्वेसु॥

---

१. °मेत्था (पा, ला)।
२. अप्पाण कहेहि एक्केक्को (पिनि २०६, नि ४४११)।
३. पिनि २०७/१, नि ४४१३।
४. अण्णेणं साहिया (ता, पा, ब, ला)।
५. जाव (ता, पा, ब, ला)।
६. पिनि २०७/२, नि ४४१४।
७. तित्थ (ता)।
८. जंपई (ता, ब, ला)।
९. तुम्हा (ता, ला), तुम्हासियं (ब)।

१३६०. कत्तरिपयोयणट्ठा[1], वत्थू बहुवित्थरेसु 'तह चेव'[2]।
कम्मेसु य सिप्पेसु य, सम्ममसम्मेसु सूइतरा[3]॥

१३६१. सव्वेसु भद्दपंता, नियमा दोसा हवंति विण्णेया।
आजीवगपिंडेसो, एत्तो तु वणीमगं वोच्छं॥

१३६२. किं भणितं वणीमे त्ति, भण्णति वणि जायणम्मि धातू तु।
वणिमग पायप्पाणं, वणिमो त्ती भण्णते तम्हा॥

१३६३. ते पंचहा वणीमग, जायणवित्ती तु होंति बोद्धव्वा।
समणा माहण किवणे, अतिही साणे य पंचमगा॥

१३६४. समणे माहण किवणे, अतिही साणे य जाण पंचसु वि।
पत्तेगं चतुलहुगा, आवत्ती दाणमायामं॥

१३६५. मयमातिवच्छगं पिव, वणेति आहारमादिलोभेणं।
अप्पाण समण-माहण-किमिणा-ऽतिहि-साणभत्तेसु[4]॥

१३६६. निग्गंथ सक्क तावस, गेरुय आजीव पंचहा समणा।
तेसि परिवेसणाएँ, लोभेण वणेइ[5] को अप्पं?॥

१३६७. तच्चण्णियादि दट्ठुं, भुंजंते दातु पीतिअणुकूलं।
साहु तुमे विप्प[6]! कयं, दाउं जं देसि एतेसिं॥

१३६८. भुंजंति चित्तकम्मट्ठित व्व कारुणिय[7] दाणरुइणो वा।
अवि कामगद्दभेसु वि, ण वि णासति[8] किं पुण जतीसु?॥

१३६९. मिच्छत्तथिरीकरणं, उग्गमदोसा 'व ते पुण करेज्जा'[9]।
चडुकारऽदिण्णदाणा, पच्चत्थिग मा 'पुणो एंतु'[10]॥

१३७०. एमेव माहणेसु वि, दिज्जंतं दिस्स वेति अणुकूलं।
दोण्हं भणितं दाणं, समणाणं माहणाणं च॥

---

१. °यणावेक्ख (पिनि २०७/४, नि ४४१६)।
२. एमेव (पिनि, नि)।
३. सूतियतरा (ता, पा, ब), सूइय (ला)।
४. पिनि (२०८/१ तथा नि ४४१९) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
समणेसु माहणेसु य, किविणाऽतिहिसाणभत्तेसु।
५. वणेज्ज (नि ४४२०), वणिज्ज (पिनि २०९)।
६. विप्पयं (ता)।
७. कारुणीय (ला, पा)।
८. नस्सए (पिनि २०९/१), णासए (नि ४४२१)।
९. य तेसु वा गच्छे (पिनि २१०, नि ४४२२)।
१०. पुण एवं तु (पा, ला)।

१३७१. लोगाणुग्गहकारिसु, भूमीदेवेसु बहुफलं दाणं।
अवि णाम बंभबंधुसु, किं पुण छक्कम्मणिरतेसु?[1]॥

१३७२. किमणा उ कुट्ठि-कर-पाद-अच्छिमादीसु[2] जुंगिता जे तु।
दट्ठूण तेसि देंतं, 'तस्स अणुकूलं'[3] इमं भणति॥

१३७३. 'किमणेसु दुब्बलेसु'[4] य, अबंधवा-ऽऽतंक-जुंगितंगेसु।
पूयाहज्जे लोगे, दाणपडागं हरति देंतो[5]॥

१३७४. ते च्चिय एत्थ वि दोसा, कोई पुण देति दाणमतिहीणं।
तत्थ वि अणुप्पयं तू, दाणपतिस्सा इमं भणति॥

१३७५. पाएण देति लोगो, उवगारी 'परिचिते व'[6] झुसिते[7] वा।
जो पुण अद्धाखिण्णं, अतिहिं पूएति तं दाणं॥

१३७६. कोइ पुण साणभत्तो, भत्तं साणादियाण दिज्जंतं।
तस्स य पियं ति भासति, तुममेगो जाणसी दाउं॥

१३७७. अवि णाम होज्ज[8] सुलभो, गोणादीणं तणादिआहारो।
छिच्छिक्कारहताणं, ण य सुलभो होति सुणगाणं[9]॥

१३७८. केलासभवणा एते, आगता गुज्झगा महिं।
चरंति[10] जक्खरूवेणं, पूयाऽपूय हिताऽहिता[11]॥

१३७९. पूयंति पूयणिज्जा, पूयाएँ हिताय आगता इहइं।
लोगस्स हिता एते, पूइय अहवाऽहिता होंति॥

१३८०. अहवा वि पूयपूया, हिताहिता पूइता[12] हिता होंति।
अपूइता य अहिता[13], तम्हा खलु पूयणिज्जेते॥

१३८१. एमादी अणुकूले, भणिते सव्वेसि माहणादीणं।
दाता चिंतेति ततो, मज्झत्थो एस समणो त्ति॥

---

१. पिनि २१०/१, नि ४४२३।
२. °दीसुं (पा, ला)।
३. छंद की दृष्टि से यहां 'तस्सऽणुकूलं' पाठ होना चाहिए।
४. किवणेसु दुम्मणेसु (पिनि २१०/२)।
५. नि ४४२४।
६. परिजितेव (पा, ला), °जितेसु (नि ४४२५)।
७. जुसिए (पिनि २१०/३)।
८. होति (नि ४४२६)।
९. साणाणं (पिनि २१०/४)।
१०. चरिंति (ला)।
११. पिनि २१०/५, नि ४४२७।
१२. पूतिता (ता, पा)।
१३. गाथा के तीसरे चरण में अनुष्टुप् छंद है।

१३८२. एतेण मज्झ भावो, विद्धो लोगे पणायहज्जम्मि[1]।
एक्केक्के पुव्वुत्ता, भद्दग-पंतादिया[2] दोसा॥

१३८३. दाणं ण होति अफलं, 'पत्तमपत्ते य'[3] सण्णिजुज्जंतं।
'ईय विभणिते'[4] दोसा, पसंसिमो[5] किं पुण अपत्ते[6]?॥

१३८४. वणिमगपिंडो भणितो, एत्तो वोच्छं तिगिच्छपिंडं तु।
सा दुविधा तु तिगिच्छा, सुहुमा तह बादरा चेव॥

१३८५ सुहुमाए मासलहुं[7], आवत्ती दाण होति पुरिमड्ढं।
बादरतेगिच्छाए, चउलहुगा दाणमायामं॥

१३८६. भिक्खादिगतं संतं, पुच्छति रोगी तु ओसधं किंची।
भणती किमहं वेज्जो?, पढमतिगिच्छा भवे एसा॥

१३८७. वेज्जो त्ति पुच्छितव्वो, अत्थावत्तीय[8] सूइतं[9] एतं।
अबुहाण बोहणं वा, अयाणमाणाण कतमेतं॥

१३८८. 'बेति व एरिस दुक्खं, अमुगेणं ओसहेण'[10] पउणं मे।
सहसुप्पइयं च रुयं, वारेमो अट्टमादीहिं॥

१३८९. एसा बितिय तिगिच्छा, दो वेयाओ तु सुहुमतेगिच्छं।
बादरतेगिच्छं पुण, सयमेव करेति वेज्जत्तं॥

१३९०. संसोधण संसमणं, णिदाणपरिवज्जणं च जं जत्थ।
आगंतुधातुखोभे, व आमए कुणति किरियं तु[11]॥

१३९१. अस्संजयतेगिच्छे, कीरंते तह य सुहुमकरणम्मि।
तहियं तु अणेगविधा, दोसा इणमो पसज्जंति॥

१३९२. अस्संजमजोगाणं, पसंधणं[12] कायघात अयगोलो।
दुब्बलवग्घाहरणं[13], अच्चुदए गिण्हणुड्डाहो[14]॥

---

१. पणामह° (मु, पिनि)।
२. पंताइणो (पिनि २११, नि ४४२८)।
३. °त्तेसु (पिनि २१३)।
४. इय वि भणिते वि (पिनि, मु)।
५. पसंसतो (पिनि, नि ४४३०)।
६. अपत्तं (नि)।
७. °लहु (ला)।
८. °त्तीइ (ला)।
९. सूतियं (पा)।
१०. एरिसगं वा दुक्खं, भेसज्जेण अमुगेण (पिनि २१४/२, नि ४४३५)।
११. पिनि २१४/३, नि ४४३६।
१२. पसंजणं (मु, पा)।
१३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४२।
१४. पिनि २१५, नि ४४३७।

१३९३. जम्हा एते दोसा, तम्हा कायव्विया ण हु तिगिच्छा।
भणितो तिगिच्छपिंडो[1], एत्तो कोधादि वोच्छामि॥

१३९४. कोधादीणं कमसो, आहरणा होंतिमे समासेणं।
हत्थप्पं गिरिफुल्लित, रायगिहं चेव चंपा य॥

१३९५. नगरम्मि हत्थकप्पे, करडुगभत्ते[2] उ खमग दिट्ठंतो[3]।
कोसलदेसे गिरिफुल्लिगामें वणकोट्ठकारम्मि॥

१३९६. साहूण समुल्लावो, को णु हु अज्जं पगे तु साहूणं।
आणेज्ज इट्ठगाओ?, खुड्डाऽऽह तहिं अहं[4] आणे[5]॥

१३९७. घत-गुलसंजुत्ता वि य, जह आणित इट्ठगा तु खुड्डेणं।
सेडंगुलिमादीहिं, णातेहिं एत्थ भत्तट्ठं॥

१३९८. रायगिहे धम्मरुई, असाढभूती तु खुड्डगो तस्स।
रायणडगेहपविसण, संभोइय[6] मोदगे लंभो[7]॥

१३९९. आयरिय उवज्झाए, संघाडग अप्पयस्स अट्ठाए।
भुज्जो भुज्जो पविसति, काण-कुणी-खुज्जरूवेहिं॥

१४००. उवरितलत्थो य णडो, पासति चिंतेति बुद्धिमं सुट्ठु।
होज्ज णडो सारिक्खो, उवाययो एस घेत्तव्वो॥

१४०१. चिंतित उवायमेतं, वाहरिता[8] देमि मोदगे बहवे।
भणितो य तओ एज्जसु, दिणे दिणे जाहे[9] कज्जं तु॥

१४०२. धूयदुगं संदिसती, हासक्खेड्ड-परिहास-संफासे।
एतेण समं कुव्वह, जह भज्जति एस अचिरेणं॥

१४०३. जदि णामं गिण्हेज्जा, तो बे जह मुयसु एय पव्वज्जं।
ताहिं तहक्कय खुभितो, रयहरणं लिंग मुयसु त्ति॥

१४०४. गुरु सिट्ठ मोत्तुमातो, दिण्णा बीयाय भणित णेणं च।
एसुत्तमपगतीओ, जत्तेणं उवयरेज्जाह॥

---

१. तिगिंच्छ (मु, ब)।
२. करदुग (ता)।
३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४३।
४. अह (पा)।
५. तु. पिनि २१९/१, तु. नि ४४४६, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४४।
६. संहोइय (पा)।
७. पिनि २१९/९, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४५।
८. वाहिरिया (ब)।
९. ज्जाहे (पा)।

१४०५. रायगिहे य कयाई, णिम्महिलं णाडगं[1] णडाऽगच्छी।
ताय[2] विरहम्मि मत्ता, उवरिगिहे दो वि पासुत्ता[3]॥

१४०६. वाघातेण 'पविट्ठो, दिट्ठ'[4] विचेला विरागमावण्णो[5]।
आयरियगुरुसमीवं, पट्ठित दिट्ठो णडेणं च[6]॥

१४०७. इंगितणाते धूया, खरंट पेसियय जीवणं देहि[7]।
देमि त्ति रट्ठपालं, णाडग णच्चीय कुसुमपुरे॥

१४०८. कडगादिअत्थदाणं, बहुपडितं नच्चगम्मि[8] णच्चंते।
*भरहो य वणादीया, भरहिड्ढी तत्थ य णिबद्धा॥*

१४०९. इक्खागवंस भरहो, आदंसघरे य केवलालोओ[9]।
हत्थे गहितो मा कुण, किं भरहो णियत्त? पच्चाह[10]॥

१४१०. ण हु तं पऽक्खउ एवं, वेलंबो होति जइ णियत्तामि।
पंच सता तेण समं, पव्वइता नाडगे डहणं॥

१४११. एमादि मायपिंडो, ण कप्पती णवरि कारणे कप्पे।
गेलण्ण-खमग पाहुण, थेरादट्ठेवमादीसु॥

१४१२. मायापिंडो भणितो, एत्तो वोच्छामि लोभपिंडं तु।
सो कोहपिंडमादिसु, सव्वत्थऽणुपाति अहव इमो॥

१४१३. लब्भंतं पि ण गिण्हति[11], अण्णं[12] अमुगं ति अज्ज घेच्छामि[13]।
भद्दरसं ति व काउं, गिण्हति खद्धं सिणिद्धादी[14]॥

१४१४. तत्थोदाहरणमिणं, चंपाएँ छणम्मि को वि खमगो तु।
गेण्हति अभिग्गहं तू, सीहेसरमोदगे घेच्छं[15]॥

---

१. × (पा)।
२. ताव (ता, मु)।
३. पिनि २१९/१२।
४. नियत्तो दिस्स (पिनि २१९/१३)।
५. °गसंबोधी (पिनि)।
६. वा (ला), पिनि में गाथा के उत्तरार्ध में पाठभेद है।
७. देहिं (ब)।
८. तत्थगम्मि (पा, ला)।
९. केवलं लोओ (ता, पा, ब, ला)।
१०. पिनि (२१९/१४) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
हारादिखिवण गमणं, उवसग्ग न सो नियत्तो त्ति।
११. गिण्हेति (ला)।
१२. अण्णे (पा)।
१३. लब्भामो (पिनि २२०)।
१४. णिसिद्धादी (ता)।
१५. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४६।

१४१५. भिक्ख पविट्ठो य तओ, पडिसेहे अण्ण लब्भमाणं पि।
सीहेसरमलहंतो, संकिस्सति भावतो अह सो॥

१४१६. सीहेसरगतचित्तो, विसरिसचित्तो य धम्मलाभो त्ति।
बेती सीहेसरए, सूरत्थमिते वि हिंडति तु॥

१४१७. सङ्घऽङ्घरत्त केसरभायणभरणं च पुच्छ पुरिमड्ढे।
उवओग चंदजोयण[1], साहु त्ति विगिंचणे[2] णाणं॥

१४१८. कोहादीणं कमसो, एमेते वण्णिता तु आहरणा।
एतेसिं चिय कमसो, आवत्ती दाण वोच्छामि॥

१४१९. कोधे माणे चतुलहु, आवत्ती दाण होति आयामं।
मायाए मासगुरू, आवत्ती दाण भत्तेक्कं॥

१४२०. लोभे चउगुरुगा तू, आवत्ती दाण होतऽभत्तट्ठं।
संथुणण संथवो तू, थुणणा[3] वंदणगमेगट्ठं॥

१४२१. दुविहो य[4] 'संथवो खलु'[5], संबंधी वयणसंथवो चेव।
एक्केक्को पुण[6] दुविहो, पुव्विं पच्छा य णातव्वो॥

१४२२. संबंध पुव्व दुविधो, इत्थी पुरिसे य होति णातव्वो।
एमेव य पच्छा वी, आवत्ती दाण वोच्छामि॥

१४२३. इत्थीए चतुगुरुगा, पुरिसेसू चतुलहू मुणेतव्वा।
चतुगुरुए तु[7] चतुत्थं, चतुलहुगे दाणमायामं॥

१४२४. वयणे वि पुव्व दुविधो, इत्थी पुरिसे य होति णातव्वो।
एमेव य पच्छा वी, आवत्ती दाण वोच्छामि॥

१४२५. इत्थीए मासगुरुं, आवत्ती दाण होति भत्तेक्कं।
पुरिसे मासलहुं तू, आवत्ती दाण पुरिमड्ढं॥

१४२६. संबंधपुव्वसंथवो, माय-पियादी तु होति णातव्वो।
सासुय[8]-ससुरादीओ, संबंधीसंथवो पच्छा॥

---

१. संत चोदण (पिनि २२०/२)।
२. 'चणा (पिनि)।
३. थुणणो (पा, ला)।
४. उ (पिनि २२१, नि )।
५. भावसंथवो (नि १०४०)।
६. वि य (पिनि, नि)।
७. × (पा, ला)।
८. सासुर (ला)।

१४२७. आयवयं च परवयं, णाउं संबंधती[1] तदणुरूवं।
मम 'माता एरिसिया'[2], ससा व धूता[3] व णत्तादी॥

१४२८. अद्धिति[4] दिट्ठीपण्हय[5], पुच्छा कहणं ममेरिसी जणणी।
थणखेवो संबंधो, 'विहवासुण्हाय दाणं'[6] च[7]॥

१४२९. एमेव[8] य पुरिसेसु वि, पियभातादीहिं होति संबंधो।
एमेव पच्छसंथव, अद्धिति दिट्ठादि पुच्छादी॥

१४३०. पच्छासंथवदोसा, सासुय[9]-विहवादिधूतदाणं च।
भज्जा 'मम एरिसिया, सज्जं'[10] घातो व संगो[11] वा॥

१४३१. संबंधसंथवेसो, एत्तो वोच्छामि संथवं वयणे।
पुव्विं पच्छा व तहा, संथुणणे कुणति दाताए॥

१४३२. गुणसंथवेण पुव्वं, संतासंतेण जो थुणेज्जाहि।
दातारमदिण्णम्मिं[12], सो 'वयणे संथवो पुव्विं'[13]॥

१४३३. सो एसो जस्स गुणा, पयरंति[14] अवारिता दसदिसासु।
इहरा कहासु सुव्वति[15], पच्चक्खं अज्ज दिट्ठो त्ति[16]॥

१४३४. गुणसंथवेण[17] पच्छा, संतासंतेण जो थुणेज्जाहि।
दातारं दिण्णम्मी, सो पच्छासंथवो वयणे[18]॥

१४३५. 'विमलीकत णे'[19] चक्खू, जहत्थतो वियरिता[20] गुणा तुब्भं[21]।
आसि पुरा णे संका, 'इदाणि णीसंकितं'[22] जातं॥

---

१. °धते (पिनि २२२/१)।
२. एरिसिया माया (नि १०४२)।
३. सुण्हा (नि)।
४. अद्धी (ता, पा, ब)।
५. °पम्हय (पा, ब, ला)।
६. °सुण्हापदाणं (पिनि २२२/२)।
७. नि १०४३।
८. एतेव (पा)।
९. सासू (पिनि २२३)।
१०. ममेरिसिच्चिय सज्जो (पिनि), ममेरिसि त्ति य (नि १०४४)।
११. भंगो (मु, पिनि, नि)।
१२. °म्मि उ (पिनि २२५), °म्मि (पा, ब, ला), °म्मी (नि)।
१३. पुव्विं संथवो होति (पिनि, नि १०४६)।
१४. विय° (पिनि २२५/१, नि)।
१५. सुणिमो (पिनि, नि १०४७)।
१६. सि (पिनि, नि)।
१७. °वेस (मु, ला, ब)।
१८. होति (पिनि २२६, नि १०४८)।
१९. °कयम्ह (पिनि २२६/१, नि १०४९)।
२०. विसरिता (नि), विचरिया (पिनि)।
२१. तुज्झं (पा, ला, नि, मु)।
२२. संपइ णिस्संकियं (पिनि, नि)।

१४३६. तत्थ वि भद्दग-पंता, दोसा तह चेव होंति णातव्वा।
भणितेस संथवो तू, विज्जा-मंते अतो वोच्छं॥

१४३७. विज्जा-मंते चतुलहु, आवत्ती दाण होति आयामं।
विज्जा-मंतविसेसं, उल्लिंगेऽहं समासेणं॥

१४३८. विज्जा-मंतविसेसो, विज्जित्थी पुरिस होति मंतो तु।
अहव ससाहण विज्जा, मंतो पुण पढितसिद्धो तु॥

१४३९. विज्जाएँ उ णिदरिसणं, जह कोई[1] भिच्छुवासगो पत्तो।
साहूण पिंडिताणं, अह उल्लावो[2] इमो तत्थ[3]॥

१४४०. इय[4] पंतभिच्छुवासो, साहूण ण देति तत्थ भणएक्को।
जइ इच्छह विज्जाए, घत-गुल-वत्थाणि दावेमि॥

१४४१. पेच्छामो त्ति य भणिते, गंतुं विज्जाभिमंतिओ बेति।
किं देमि? त्ती घत-गुल-वत्थाणिं दिण्ण साहरणं॥

१४४२. अण्णेहि य सो भणितो, कह[5] ते दिण्णं ति भत्त-पाणादी?।
तो बेति तगो रुट्ठो, केण हितं? केण मुट्ठो मि?॥

१४४३. पडिविज्जथंभणादी, सो वा अण्णो व से करेज्जाहि।
पावाजीवो[6] मायी, कम्मणकारी 'य गहणादी'[7]॥

१४४४. मंतम्मि उदाहरणं, पाडलिपुत्ते मुरुंडराइस्स।
उप्पण्ण सीसवेदण, पालित्तयकहण ओमज्जे[8]॥

१४४५. जह जह पदेसिणिं[9] जाणुगम्मि पालित्तओ भमाडेति।
तह तह सीसे वियणा, पणस्सति[10] मुरुंडरायस्स[11]॥

१४४६. मंतेणं अभिमंतिय, तह चेव दवाव दिज्ज कोयिं तु।
तत्थ वि तेच्चिय दोसा, पडिमंतादी इमे होंति॥

---

१. कोयिं (ता, ब)।
२. उल्लावा॰ (ला)।
३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४७।
४. इयं (ता, ला)।
५. किह (मु, पा, ब)।
६. पावजीवी (ला)।
७. भवे बितिए (नि ४४५९), पिनि २२८।
८. ओमग्गे (ब), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४८।
९. °सिणी (मु, ला)।
१०. णस्सती (ता), य णस्सति (पा)।
११. °डयाणस्स (ता), °स्सा (ला), पिनि २२८/१, नि ४४६०।

१४४७. पडिमंतथंभणादी, सो वा अण्णो व से करेज्जाहि।
पावाजीवी मायी, कम्मणकारी 'य गहणादी'[1]॥

१४४८. विज्जा-मंताभिहिता, अहुणा वोच्छामि चुण्ण-जोगादी।
वसिकरणादी चुण्णा, अंतद्धाणंजणादीया॥

१४४९. चुण्णे जोगे चउलहु, आवत्ती दाणमेत्थ आयामं।
णिदरिसणं दोण्हं पी, उल्लिंगेऽहं समासेणं॥

१४५०. दिट्ठंत चुण्ण-जोगे, जह कुसुमपुरम्मि केइ आयरिया।
जंघाबलपरिहीणा, ओमे सीसस्स तु रहम्मि[2]॥

१४५१. कहयंति चुण्णजोगा, अंतद्धाणादि तत्थ दो खुड्डा।
पच्छण्णठित णिसामे, अवधारे अंजणं एक्कं॥

१४५२. वीसज्जिता वि साहू, गुरूहि देसंत[3] खुड्डग णियत्ता।
आयरिएहिँ य भणिता, दुट्ठु[4] कतं जं णियत्ता[5] भे॥

१४५३. भिक्खे परिहायंते, थेराणं 'ओमे तेसि'[6] देंताणं।
किं ओम गुरूणं तू[7], कुव्वामो? खुड्डु सामत्थे[8]॥

१४५४. कुणिमो अंतद्धाणं, दव्वे मेलित्तु अच्छियंजणया।
सह भोज्ज चंदगुत्ते, ओमोदरियाएँ दोब्बल्लं॥

१४५५. चाणक्क पुच्छ इट्टालचुण्ण 'दारपिहणं तु धूमो'[9] य।
दट्ठुं[10] कुच्छ-पसंसा, थेरसमीवे उवालंभो[11]॥

१४५६. एवं वसिकरणादिसु, चुण्णेसु वसीकरेत्तु जो तु परं।
उप्पाएती पिंडं, सो होती चुण्णपिंडो तु॥

१४५७. जे विज्ज-मंतदोसा, ते च्चिय वसिकरणमादिचुण्णेहिं।
एगमणेगपदोसं, कुज्जा पत्थारओ वावि[12]॥

---

१. भवे बीयं (पिनि २२९, नि ४४६१)।
२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४९।
३. दिसंत (ला)।
४. दुट्ठ (पा)।
५. भणित्ता (ता)।
६. तेसि ओमें (पिभा)।
७. × (पा, ला)।
८. पिभा ३६ तथा नि ४४६४ में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
सहभुज्ज चंदगुत्ते, ओमोदरियाएँ दोब्बल्लं।
९. दारं पिहित्तु धूमे (पिभा ३७),
दारं पिहेउ धूमो (नि ४४६५)
१०. दिस्सा (नि)।
११. तुवा° (ब)।
१२. पिनि २३१, नि ४४६६।

१४५८. भणितेस चुण्णपिंडो, अहुणा वोच्छामि जोगपिंडं तु।
तहियं जोग अणेगा, इणमो तू संपवक्खामि॥

१४५९. सूभग-दोभग्गकरा, 'जोगा आहारिमा'[१] य इतरे य।
आघंस धूववासो[२], पादपलेवाइणो इतरे[३]॥

१४६०. तत्थाहरणं इणमो, अणहारिमपादलेवजोगम्मि।
आभीरगविसयम्मी, जह कत सुण तावसेहिं तु॥

१४६१. नदिकण्ह वेण्णदीवे, पंचसया तावसाण णिवसंति।
पव्वदिवसेसु कुलवति, 'पालेवे लिंप पादे तु'[४]॥

१४६२. पाउगदुरूढ सलिलुप्परेण उत्तरिउ एति णगरं ति।
आउट्ट लोग पूया, पच्चक्खा एतें देव त्ति॥

१४६३. जणसावगाण 'खिंसण, तहियं'[५] तू वइरसामिमाउलया।
आयरियअज्जसमिता, तेसिं च णिवेदितं तेहिं॥

१४६४. तेहि भणिता य वच्चह, ते मातिट्ठाणि[६] पादलेवेणं।
णदिमुत्तरंति[७] सगिहे, णेउसिणोदेण धोव्वह णं॥

१४६५. तेहि य सगिहे णेउं, पाय बला धोयऽणिच्छमाणाणं।
किं जाणति लोगो? त्ती, दिण्णं विणएण बहुफलयं॥

१४६६. पडिलाभित वच्चंता, णिबुड्ड णदिकूल मिलिय[८] समियाए।
विम्हय[९] पंचसता तावसाण पव्वज्ज साहा य[१०]॥

१४६७. एमादीजोगेहिं, आउट्टावेत्तु एसती पिंडं।
सो ण वि कप्पे एत्तो, वोच्छामी मूलकम्मं तु॥

१४६८. दुविधं तु मूलकम्मं, गब्भादाणे तहेव परिसाडे।
दुविधे वि मूलकम्मे, पच्छित्तं होति मूलं तु॥

---

१. जे जोगाऽऽहारिमे (नि ४४६९)।
२. वास धूवा (नि)।
३. पिनि २३१/१।
४. पालेवुत्तारसक्कारो (पिनि २३१/२), पादलेवुत्तारसक्कारो (नि ४४७०)।
५. खिंसणा तहिं (ला)।
६. °ट्ठाणिं (ता)।
७. णति° (पा, ला)।
८. मिलण (पिनि २३१/४, नि ४४७२)।
९. विम्हिय (मु, ब)।
१०. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५०।

१४६९. आदाणे अहिगरणं, पडिबंधो छोभगादिदोसा य।
पाणवध-साडणम्मी[1], छोभग-पडिणीय उड्डाहो॥

१४७०. इय मूलक्कम्मेणं, पिंडो उप्पादितो ण कप्पति तु।
उप्पादणेस भणिता, गवेसणा चेव य समत्ता॥

१४७१. एवं तु गविट्ठस्सा[2], उग्गम-उप्पादणाविसुद्धस्स।
गहणविसोधिविसुद्धस्स होति गहणं तु पिंडस्स[3]॥

१४७२. उग्गमदोस गिहीतो, उप्पादण होति समणउत्थाणा[4]।
गहणेसणाइ दोसे, आय-परसमुट्ठिते वोच्छं॥

१४७३. दोण्णि वि[5] समणसमुत्था, संकित तह[6] भावतोऽपरिणतं च।
सेसा अट्ठ वि णियमा, गिहिणो तु समुट्ठिते जाण॥

१४७४. सा गहणेसण चतुहा, णामं ठवणा य दव्व भावे य।
दव्वे वाणरजूहं, सव्वं वत्तव्व वित्थरतो[7]॥

१४७५. दव्वम्मि एस भणिता, भावे गहणेसणं तु वोच्छामि।
दसहि पदेहिं सुद्धं, संकितमादी इमेहिं तु॥

१४७६. संकित मक्खित णिक्खित्त, पिहित साहरण[8] दायगुम्मीसे।
अपरिणत लित्त छड्डित, एसणदोसा दस हवंति[9]॥

१४७७. संकाए चउभंगो, पढमो गहणे य भोयणे चेव।
'बितिओ गहण ण भोयण'[10], ततिओ पुण संकितो भोगे॥

१४७८. णीसंकितो तु चरिमे, किह पुण संका हवेज्ज? जह कोई।
भिक्ख पविट्ठो लद्धम्मि, हिरिमं भिक्खं विगिंचेति॥

१४७९. किण्णु हु खद्धा भिक्खा, 'लद्धा? ण य तरति पुच्छिउं तहियं।'[11]
'हिरिमं इति संकाए, भुंजति इइ'[12] संकितो चेव॥

---

१. °णम्मि (मु, ता)।
२. °स्स (पा, ला)।
३. × (ता, पा), पिनि २३३।
४. पिनि (२३४) में गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
उप्पादणाएँ दोसा, साहूउ समुट्ठिते वियाणाहि।
५. उ (पिनि २३५)।
६. × (ला)।
७. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५१।
८. साहरिय (पिनि २३७, प्रसा)।
९. प्रसा ५६८, पंव ७६२, पंचा १३/२६, तु. मूला ४६२।
१०. × (ब)।
११. दिज्जति न य तरह पुच्छिउं हिरिमं (पिनि २४०/१)।
१२. इति संकाए घेतुं तं भुंजति (पिनि)।

१४८०. बीएण गहित संकित, विगडंतऽन्ने य णवरि संघाडे[1]।
पगतं पहेणगं वा, सोउं णिस्संकितो भुंजे॥

१४८१. णीसंकगाहि ततिओ, विगडेंत णिसम्ममण्णसंघाडं[2]।
संका पुणाइ[3] जारिस, लद्धं[4] मए अमुगगेहम्मि॥

१४८२. महती भिक्खा तारिस, एतेहि वि लद्ध किण्ण[5] होज्जाहि?।
णीसंकित काऊणं, भुंजति तं संकितो चेव॥

१४८३. पढमो दोसु वि लग्गो, बितिओ पुण गहण भोयणे ततिओ।
जं संकितमावण्णो, पणुवीसा चरिमए सुद्धो॥

१४८४. छउमत्थो सुतणाणी, गवेसती उज्जुगं[6] पयत्तेणं।
आवण्णो पणुवीसं, सुतणाणपमाणतो सुद्धो॥

१४८५. साहू[7] सुतोवउत्तो, सुतणाणी जइ वि गिण्हति असुद्धं।
तं केवली वि भुंजति, अपमाण सुतं भवे इहरा॥

१४८६. सुत्तस्स अप्पमाणे, चरणाभावो ततो य[8] मोक्खस्स।
'मोक्खाभावाओ चिय, पयत्तदिक्खा'[9] णिरत्था उ॥

१४८७. 'सोलस उग्गमदोसा'[10], णव एसणदोस संक मोत्तूणं।
पणुवीसेते दोसा, संकितमासंकितो[11] वोच्छं॥

१४८८. जदि संका दोसकरी, एवं सुद्धं पि होति तु असुद्धं।
णीसंकमेसितं[12] ति व, अणेसणिज्जं पि निद्दोसं॥

१४८९. भण्णति संकितभावो, अविसुद्धो अवडितेकतरपक्खे[13]।
एसिं पि कुणय[14]ऽणेसिं, अणेसिमेसिं विसुद्धो तु॥

---

१. पिनि (२४०/२) में गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
हियएण संकितेणं, गहिता अन्नेण सोहिता सा य।
२. णिस्सम्म (ता, ला)।
३. पुणाइं (पा, ला)।
४. लद्धं (पा)।
५. × (ला)।
६. उज्जुओ (पिनि २३९)।
७. ओहो (पिनि २३९/१)।
८. तु (पिनि २४०)।
९. मोक्खस्स वि य अभावे दिक्खपवित्ती (पिनि)।
१०. उग्गमदोसा सोलस (पिनि २३८/२)।
११. °त निस्संकिते (पिनि)।
१२. निस्संक° (पिनि २४०/४)।
१३. पिनि (२४१) में गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—
अविसुद्धो परिणामो, एगतरे अवडितो उ पक्खम्मि।
१४. कुणति (पिनि)।

१४९०. णिस्संक काउ तम्हा, भोत्तव्वं संकितं भणितमेतं।
मक्खितमिदाणि वोच्छं, मक्खित जं होति संसत्तं[1]॥

१४९१. दुविधं च मक्खितं खलु, सच्चित्तं चेव होति अच्चित्तं।
सच्चित्तं तत्थ तिधा, पुढवी आऊ य वणकाए[2]॥

१४९२. पुढवीससरक्खेणं, हत्थे मत्ते व सुक्ख पणगं तु।
आवत्ती दाणं पुण, णिव्वितियं[3] होति दातव्वं॥

१४९३. कद्दममक्खितमीसे, लहुगो णिम्मीस होंति लहुगा तु।
लहुमासे पुरिमड्ढं, चतुलहुगे होति आयामं॥

१४९४. ससणिद्धुदउल्ले या, 'पुर-पच्छाकम्म'[4] मक्खितं चतुहा।
उक्कुट्ठ-पिट्ठ-कुक्कुसमक्खितमेवादि वणकाए॥

१४९५. ससणिद्ध हत्थमत्ते, पणगं आवत्ति दाण[5] णिव्विगतिं।
उदउल्ले मासलहुं, आवत्ती दाण पुरिमड्ढं[6]॥

१४९६. पुरकम्म पच्छकम्मे, आवत्ती चतुलहू[7] मुणेतव्वा।
दाणं आयामं तू, वणकाय अतो तु वोच्छामि॥

१४९७. उक्कुट्ठ-पिट्ठ-मक्खित,परित्तहत्थे य मत्त सच्चित्ते।
मासलहू आवत्ती, दाणं पुण होति पुरिमड्ढं॥

१४९८. एते चेव उ मक्खित, हत्थे मत्ते य होंतऽणंतेसु।
आवत्ती मासगुरुं, दाणं पुण होति भत्तेक्कं॥

१४९९. छिंदंति एव सागं, छिंदंती एव जं रसालित्तं[8]।
उक्कुट्ठमक्खितेतं, परित्तऽणंतेण वा होज्जा॥

१५००. सेसेहि तु काएहिं, तीहि वि तेऊ-समीरण-तसेहिं।
सच्चित्तमीसगेण व, मक्खित ण विवज्जते किंची[9]॥

---

१. संसट्ठं (ता, ब, ला)।
२. पिनि (२४२) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
तिविधं पुण सच्चित्तं, अच्चित्तं होति दुविधं तु।
३. णिव्वी° (पा, ला)।
४. °पच्छा अओ (ता, ला)।
५. दाणे (ला)।
६. °मद्धं (ला)।
७. °लहुं (ब)।
८. रसो° (ब)।
९. पिनि (२४३/३) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
सच्चित्तं मीसं वा, न मक्खितं अत्थि उल्लं वा।

१५०१. सच्चित्तमक्खितम्मि उ, हत्थे मत्ते य होति चउभंगो।
पढमम्मि दो वि मक्खित, हत्थो बितियम्मि ण वि मत्तो[1]॥

१५०२. ततिए मत्तो मक्खित, ण वि हत्थो चरिमए ण एक्को वि।
आदितिगे पडिसेधो, चरिमो भंगो अणुण्णातो॥

१५०३. अच्चित्तमक्खित दुहा, गरहितदव्वेण वावि इतरेणं।
गरहित होति दुहा तू, लोगे तह उभयतो वावि॥

१५०४. मंस-वस-सोणियाऽऽसव-लसुणादी गरहितेस लोगम्मि।
मुत्तपुरीसादीहिं, गरहितमेतं भवे उभए॥

१५०५. दुविधे तु 'गरहिते तू'[2], आवत्ती चउलहू[3] मुणेतव्वा।
दाणं आयामं तू, अगरहितेत्तो पवक्खामि॥

१५०६. अगरहित कूरकुसणं, गोरस-घत-तेल्लमादिहिं[4] जं तु।
संसत्तमसंसत्तं, दुविहं पी[5] होति णातव्वं॥

१५०७. अच्चित्तमक्खितम्मी, चउसु वि भंगेसु होति भयणा तु।
अगरहितेण तु गहणं, पडिसेधो गरहिते होति[6]॥

१५०८. संसज्जिमेहिं वज्जं, अगरहितेहिं पि गोरसदवेहिं[7]।
मधु-घत-तेल्ल-'गुलेहि य'[8], मा मच्छि-पिवीलियाघातो॥

१५०९. गोरससंसत्ते या, घत-तेल्ल-गुलादि-कीडिसंसत्ते।
चतुलहुगा आवत्ती, दाणं पुण होति आयामं॥

१५१०. लोइयगरहित मज्जा-मंस-वसादीहिँ मक्खितं जं तु।
नवरं पुराण भावित, देसिं व पडुच्च गहणं तु॥

१५११. दोहिं पि गरहितेहिं, मुत्तुच्चाराइ होति अग्गहणं।
मक्खित भणितं एतं, एत्तो वोच्छामि णिक्खित्तं॥

---

१. १५०१ और १५०२ गाथा के स्थान पर पिनि (२४४) में निम्न गाथा प्राप्त होती है—
सच्चित्तमक्खितम्मी, हत्थे मत्ते य होति चउभंगो।
आदितिगे पडिसेधो, चरिमे भंगे अणुण्णातो॥

२. °हितेए (ला)।

३. °लहु (ला)।

४. °मादीहिं (मु)।

५. × (ब, ला), पि य (पा, मु)।

६. पिनि २४५।

७. °दव्वेहिं (पा, ला)।

८. गुलेहिं (पिनि २४५/१)।

१५१२. णिक्खित्तं ठवितं ति य, एगट्ठं ठाणमग्गणा एत्थं।
तं तिविह होति ठाणं, सच्चित्तं मीस अच्चित्तं॥

१५१३. एत्थं चतुभंग भवे, सच्चित्तादी[1] अणेगह इमो तु।
सच्चित्तं सच्चित्ते, सचित्त[2] मीसे वऽचित्ते वा॥

१५१४. मीसं वा ससचित्ते, मीसं मीसे व होति णिक्खित्तं।
चित्तेणं मीसेण य[3], एवेक्को होति चतुभंगो॥

१५१५. अहुणा चित्ताचित्ते[4], चित्तं चित्तम्मि होति णिक्खेवो।
चित्तं वा अच्चित्ते[5], अचित्त चित्तोभयमचित्ते॥

१५१६. अहुणा मीसं मीसे, मीसमचित्ते अचित्त मीसम्मि।
अच्चित्तं अच्चित्ते, ततिएसो होति चउभंगो॥

१५१७. चतुभंगेसेतेसुं, संजोगाऽणेगहा मुणेतव्वा।
पुढवादिएसु छस्सु[6] वि, कएसु सठाण परठाणे॥

१५१८. सच्चित्तपुढविकाए, सच्चित्तो चेव पुढविनिक्खेवो[7]।
सच्चित्ते अच्चित्तो, अच्चित्ते वावि सच्चित्तो॥

१५१९. अच्चित्ते अच्चित्तो, सट्ठाणे एस होति चउभंगो।
परठाणे पंचऽण्णे, आऊमादीसिमे होंति॥

१५२०. सच्चित्तपुढविकाओ, सच्चित्ताउम्मि होति णिक्खित्तो।
सच्चित्तो अच्चित्ते, अच्चित्तो चेव सच्चित्ते॥

१५२१. अच्चित्तो अच्चित्ते, एवं सेसेसु तेउमादीसुं[8]।
संजोगा णेतव्वा, पंचसु परठाणे चउभंगो॥

१५२२. एमेव आउ-तेऊ-वाउ-वणस्सति-तसाण चतुभंगा।
एक्केक्के विण्णेया, छच्चतुभंगाण संजोगा॥

१५२३. चित्ते सच्चित्तेणं, ते छत्तीसं हवंति संजोगा।
अच्चित्तमीसएण वि, एवतिया चेव संजोगा॥

१५२४. मीसे अच्चित्तेण वि, एवतिय च्चिय हवंति संजोगा।
तिण्णि वि छत्तीसा तू, मिलिता अट्ठुत्तरसयं तु॥

---

१. सचित्ता (ता, पा, ला)।
२. सचित्तं (ता, पा, ला)।
३. या (ला)।
४. °च्चित्ते (पा)।
५. × (ला)।
६. छसु (ब)।
७. °णिक्खित्तो (मु)।
८. °दीसु (पा, ला, ब)।

१५२५. अहव ण[1] सचित्तमीसो, य[2] एगओ एगओ य अच्चित्तो।
'एत्थं चतुभंगो तू'[3], 'तत्थाऽऽदितिगे'[4] कहा णत्थि॥

१५२६. जं पुण अचित्तदव्वं, णिक्खिप्पति चेतणेसु कायेसु[5]।
तहिं मग्गणा तु इणमो, अणंतर[6] परंपरा होति॥

१५२७. चित्तपुढविइ अणंतर, ओगाहिमगाइ होति निक्खित्तं।
होती परंपरं पुण, पिहडगतं[7] जं तु पुढविठितं॥

१५२८. उदगमणंतर णवणीतमादि पारंपरं[8] तु णावादी।
ते उ अणंतर पारंपरे य दुयगा इमे सत्त॥

१५२९. विज्झातमुम्मुरिंगालमेव अप्पत्त-पत्त-समजाले।
वोलीणे सत्तदुगा, 'एते तु अणंतर परे य'[9]॥

१५३०. विज्झाउ त्ति ण दीसति, 'अग्गी दीसति'[10] य इंधणे छूढे।
छारुम्मीसा पिंगल, अगणिकणा मुम्मुरो होति[11]॥

१५३१. णिज्जाला हिलिहलया[12], इंगाला ते भवे मुणेतव्वा।
होति चउत्थो भंगो, ते 'जालाऽपत्तपिहडं'[13] तु॥

१५३२. पंचम पत्ता पिहुडं, छट्ठम्मि य होति कण्णसमजाला।
सत्तमगे समतीता, अणंतरा होंति सत्तसु वी॥

१५३३. पारंपर पिहुडादिसु, अगणीघट्टादि तत्थ दोसा तु।
भयणा तु जंतचुल्लिसु, इणमो तु तहिं मुणेतव्वा॥

१५३४. पासोलित्त कडाहे, परिसाडी[14] णत्थि तं पि य विसालं।
सो वि य अचिरच्छूढो, उच्छुरसो णातिउसिणो य[15]॥

१५३५. गहणमघट्टित कण्णे, घट्टित छारादिपडण अग्गिवहो।
उसिणोदगस्स गुलरसपरिणामित गहणऽणच्चुसिणो॥

---

१. णेति वाक्यालंकारे (पिनिमटी)।
२. उ (पिनि २५१/१)।
३. एत्थ तु चउक्कभंगो (पिनि)।
४. °दिदुए (ता, पा, ब, ला)।
५. मीसेसु (पिनि २५१/२)।
६. अणंत (पा, ला)।
७. पिहुड° (ब)।
८. °पर (पा)।
९. जंतोलित्ते य जतणाए (पिनि २५२)।
१०. × (ला)।
११. पिनि (२५२/१) में इसके उत्तरार्ध में पाठभेद है—
आपिंगलमगणिकणा, मुम्मुर निज्जाल इंगाला।
१२. हिलहिलया (ब)।
१३. °पियडं (ता), °पिहुडं (ब)।
१४. पडिसाडी (पा, ला, ब)।
१५. पिनि २५३।

१५३६. दुविध 'विराधण उसिणे'[1], छड्डुण हाणी य भाणभेदो य।
अच्चुसिणातों ण घेप्पति, जंतोलित्तेस जतणा तु[2]॥

१५३७. वाउक्खित्ताणंतर, पप्पडिगादी तु होति णातव्वा।
वत्थि-दतिपूरितोवरि, पतिट्ठित परंपरं होति॥

१५३८. हरितादि अणंतर पूवितादि पारंपरे पिहुडमादी।
गोणादिपिट्ठ[3] पूवादणंतरे भरगकुतिगितरं॥

१५३९. सव्वं ण कप्पएतं, णिक्खित्त समासतो समक्खातं।
पुढवादीणं एत्तो, आवत्ती दाण वोच्छामि॥

१५४०. पुढवादी जाव[4] तसे, अणंतवणकाय मोत्तु णिक्खित्ते।
संति अणंतर . लहुगा, परंपरे होति मासलहुं॥

१५४१. चतुलहुगे आयामं, मासलहू दाण होति पुरिमड्ढं।
एती सच्चित्तम्मी, भणितं मीसे अतो वोच्छं॥

१५४२. एतेसु चेव पुढवादिएसु मीसे अणंतरे लहुगो।
होति परंपर[5] पणगं, दाणं एत्तो तु वोच्छामि॥

१५४३. लघुमासे पुरिमड्ढं, पणगे पुण दाण होति णिव्विगतिं।
वणकायमणंतेसुं, आवत्ती दाण वोच्छामि॥

१५४४ वणकायअणंतेसुं, णिक्खित्त अणंतरे तु चतुगुरुगा।
होति परंपरि गुरुगो, दाणं तु अतो तु वोच्छामि॥

१५४५. चतुगुरुगे तु चउत्थं, गुरुमासे दाणमेगभत्तं तु।
आवत्ती दाणं पि य, पिहितम्मि अतो उ वोच्छामि॥

१५४६. आवत्ती दाणे वा, पुढवादीणिक्खिवंत भणितं तु[6]।
एत्तो समासतो च्चिय, पिहितद्दारं[7] पवक्खामि[8]॥

---

१. °हणा उसिणो (पा, ला)।
२. तु. पिनि २५४।
३. °दिपट्ठ (ता, ब, ला)।
४. जाण (पा, ला)।
५. °परे (पा, ला)।
६. व्व (ला)।
७. °तदारं (पा, ब)।
८. हस्तप्रतियों में गा. १५४५ के बाद पिहिताणंता (१५४७) गाथा मिलती है लेकिन विषय की दृष्टि से 'आवत्ती दाणे वा' गाथा १५४६ की होनी चाहिए क्योंकि ग्रंथकार पिहितद्वार की व्याख्या का संकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं उसके बाद ही पिहिताणंता.....गाथा होनी चाहिए।

१५४७. पिहिताणंताऽणंतर, परंपरे चेव होति गुरुपणगं।
लहुपणगं तु परित्ते, दोसु वि दाणं तु णिव्विगती॥

१५४८. सच्चित्तादिसु अच्चित्तपिहित चतुभंग तह य संजोगा।
जह भणिता णिक्खित्ते, तह चेव य होंति पिहिते वि॥

१५४९. सच्चित्त मीस एक्को, एक्कं तोऽचित्त एत्थ चउभंगो।
आदिदुवे पडिसेधो, ततिए भंगम्मि मग्गणया॥

१५५०. अच्चित्त सचित्तेणं, अतिरं सतिरं च जं भवे पिहितं।
पुढवादिएसु छस्सु[1] वि, लोट्टादी अतिर पुढवीए॥

१५५१. पच्छिय[2]-पिहुडादिऽतिरं, ओगाहिमगादिऽणंतरं होति।
वद्धणियादि परंपर, अगणिक्काए इमं होति॥

१५५२. अतिरं अंगारादी, तहियं पुण संतरो सरावादी।
तत्थेव अतिर वायू, परंपरो वत्थिणा पिहितं[3]॥

१५५३. अइरं फलादिपिहितं, वणम्मि इतरं तु पच्छि-पिहुडादी।
कच्छवसंचारादी, अतिरतिरं पच्छियादीहिं॥

१५५४. ततिए भंगे मग्गण, भणितेस चउत्थभंगभयणा तु।
अच्चित्त अचित्तेणं, पिहिते का भयण? सुणसु इमा॥

१५५५. चतुभंगो पिहितेणं, गुरुगं गुरुगेण लहुग लहुगेणं।
लहुगं गुरुगेण तहा, लहुगं लहुगेण तहिं गेज्झो॥

१५५६. पुढवादीणं कमसो, आवत्ती दाण जह तु णिक्खित्ते।
आतविराधण गुरुगं, ति कातु णवरं तु चतुगुरुगा॥

१५५७. एत्थ उ दाण चतुत्थं, एत्तो वोच्छामि साहरणदारं।
साहरणं उक्किरणं, विरेयणं चेव एगट्ठं॥

१५५८. मत्तेण जेण दाहिति, तत्थ 'अदेज्जं तु होज्ज तं[4] दव्वं[5]'।
तं साहरितुं अण्णहिं, मत्तेणं देति साहरणा[6]॥

---

१. छसु (पा, ब)।
२. पिच्छिय (ला)।
३. पिहिते (मु)।
४. जं (मु)।
५. अदेज्जा व होज्ज असणादी (पिनि २६२)।
६. पिनि में गाथा के उत्तरार्ध में पाठभेद है।

१५५९. सा पुण छसु[1] णातव्वा, सचित्तमीसा तहेव अच्चित्ता।
एत्थ वि जह णिक्खित्ते, भंगा संजोग तह चेव॥

१५६०. सच्चित्तमीस आदिल्लगेसु दुसु णत्थि मग्गण विवेगो[2]।
ततियम्मि मग्गणा तू, छसु भोमादीसु साहरणे॥

१५६१. चरिमे भंगे भयणा, जं दुहमच्चित्त का तहिं भयणा?।
भण्णति सुणसू तहियं, चउभंगो होति इणमो तू॥

१५६२. सुक्के सुक्कं पढमं, सुक्के उल्लं तु 'बितियओ भंगो'[3]।
उल्ले सुक्खं ततिओ, उल्ले उल्लं चतुत्थो तु॥

१५६३. एक्केक्के चउभंगो, सुक्कादीएसु चउसु भंगेसु।
थोवे थोवं थोवे, बहुयं 'बहु थोव बहु बहुगं'[4]॥

१५६४. जत्थ तु थोवे थोवं, सुक्खे[5] उल्लं च छुभति तं गेज्झं।
जइ तं तु समुक्खित्तुं, थोवाहारं दलति मन्नं[6]॥

१५६५. सेसेसू तीसुं पी, दाता भंगेसु होति णातव्वो।
थोव बहु[7] बहुग थोवो, बहु बहुगो चेव इणमो तु॥

१५६६. उक्खेवे णिक्खेवे, महल्लभाणम्मि लुद्ध वध डाहो।
छक्कायवधो 'य तहा'[8], अचियत्तं चेव वोच्छेदो[9]॥

१५६७. थोवे थोवं छूढं, सुक्खे उल्लं 'तु उल्लें सुक्खं तु'[10]।
बहुगं तु अणाइण्णं, कडदोसो सो त्ति काऊणं॥

१५६८. साहरणेतं भणितं, आवत्ती दाण जह तु णिक्खित्ते।
दायगदारं अहुणा, समासतो हं पवक्खामि॥

१५६९. बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविते य जरिते य।
अंधेल्लए पगलिते, आरूढे पाउयाहिं च[11]॥

---

१. च्छसु (ता, पा)।
२. तहेव (ता, ब)।
३. बितिय चउभंगो (पिनि २६३/१)।
४. विवरीत दो अन्ने (पिनि २६३/२)।
५. सुक्खं (पा, ब, ता), सुक्के (पिनि)।
६. अन्नं (पिनि २६३/३)।
७. बहुं (मु)।
८. × (ला)।
९. पिनि (२६४) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
अचियत्तं वोच्छेदो छक्कायवहो य गुरुमत्ते।
१०. च तं तु आइन्नं (पिनि २६४/१)।
११. पिनि २६५।

१५७०. हत्थंदु-णिगलबद्धे, विवज्जिते चेव हत्थ-पादेहिं।
तेरासि गुव्विणी बालवच्छ भुंजंति घुसुलेंती[1] ॥

१५७१. भज्जेंती य[2] दलेंती, कंडेंती चेव तह य पीसेंती।
पिंज्जंती रुंचंती, कत्तंती पमद्दमाणी य॥

१५७२. छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा णिक्खिवित्तु ते चेव।
ते चेवोगाहेंती, संघट्टेंताऽऽरभंती य[3] ॥

१५७३. संसत्तेण तु दव्वेण, लित्तहत्था य लित्तमत्ता य।
ओयत्तेंती[4] साधारणं च देंती य चोरियगं॥

१५७४. पाहुडियं च ठवेंती, सपच्चवाया परं च उद्दिस्स।
आभोग अणाभोगेण[5], दलंती वज्जणिज्जा तु॥

१५७५. एतेसि दायगाणं, गहणं केसिंचि होति भइयव्वं।
केसिंची अग्गहणं, तप्पडिवक्खे[6] भवे गहणं॥

१५७६. एते दायगदोसा, एतेहिं दिज्जमाण ण वि कप्पे।
जे तु अकारण गेण्हे, पच्छित्तं तेसि[7] वोच्छामि॥

१५७७. बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविते य जरिते य।
एतेसिं मासलहुं, आवत्ती दाण पुरिमड्ढं[8] ॥

१५७८. अंधेल्ल-पगलितादी, जाव तु दारं तु बालवच्छ त्ति।
पत्तेयं चतुगुरुगा, दाणं पुण होतऽभत्तट्ठं॥

१५७९. भुंजण घुसुलेंतीए, आवत्ती चतुलहू मुणेतव्वा।
दाणं आयामं ती, भज्जणमादी अतो वोच्छं॥

१५८०. भज्जेंती य दलेंती, जाव तु छक्कायवग्गहत्थ त्ति।
समणट्ठा ते चेव तु, णिक्खिव आगाह घट्टेंती॥

१५८१. एत्थ तु विसरिसदाणं, पच्छित्तं होति[9] कायणिप्फण्णं।
सेसेसुं[10] दारेसुं, चतुलहुगा दाणमायामं॥

---

१. पिनि २६६।
२. ब (पिनि २६७)।
३. पिनि २६८।
४. उव्वत्तंतो (पिनि २६९)।
५. मणा° (पिनि २७०)।
६. तव्विवरीते (पिनि २७१), °डियक्खे (ब)।
७. तस्स (ता, ब)।
८. °मड्ढे (पा, ब, ला)।
९. चेव होति (ता)।
१०. सेसेसु तु (ता, ब)।

१५८२. एते दायग भणिता, एत्तो उम्मीसगं पवक्खामि।
तं तिह सचित्त मीसग, अच्चित्तेणं च उम्मीसं॥

१५८३. जह चेव य संजोगो, कायाणं हेट्ठओ तु साहरणे।
तह चेव य उम्मीसे, होति विभागो णिरवसेसो॥

१५८४. चोदेति को विसेसो, साहरणुम्मीसगाण दोण्हं पि?।
भण्णति साहरणं तू, भिक्खट्ठा भत्तयं रेये॥

१५८५. उम्मीसं पुण दायव्वयं च दो वेतें मीसितुं देज्जा।
बीय हरितादिएहिं, जह ओदण-कुसणमादीणिं॥

१५८६. तं पि य 'सुक्खे सुक्खं'[1], भंगा चत्तारि जह तु साहरणे।
अप्पबहुगे वि चउरो, तहेव चाइण्णऽणाइण्णं॥

१५८७. उम्मीस भणितमेतं, एत्तो वोच्छामि परिणतं दुविधं।
दव्वे भावे य तहा, दव्वे पुढवादि छक्कं तु॥

१५८८. जीवत्तम्मि अविगते, अपरिणतं परिणतं गते जीवे।
दिट्ठंतो दुद्ध दही, 'इय अपरिणतं परिणतं चेव'[2]॥

१५८९. दव्वे अपरिणतम्मी, पच्छित्तं होति कायणिप्फण्णं।
भावे अपरिणतं पुण, एत्तो वोच्छं समासेणं॥

१५९०. सज्झिल्लगादिणं तू, अहवा अण्णेहिं होति सामण्णं।
तत्थेगस्स परिणतो, भावो देमि त्ति साहुस्स॥

१५९१. सेसाण[3] ण वि परिणतो, अपरिणतं भावतो भवे एयं।
अहवा वि दाणमण्णं, अपरिणतं भावतो होति॥

१५९२. संघाडग हिंडंतो, एगस्स मणम्मि[4] परिणतं एसी।
बितिएण तु परिणमती, तं पि अधेत्तव्व मा कलहो॥

१५९३. पढमिल्लुग भावम्मी, अप्परिणयगेण्हणे तु लहुमासो।
तस्सावत्ती भवती, दाणं पुण होति पुरिमड्ढं॥

---

१. सुक्कं सुक्कं (पिनि २९१/१)।
२. अपरिणतं परिणतं तं च (पिनि २९३), छंद की दृष्टि से 'चेव' के स्थान पर 'च' पाठ होना चाहिए।
३. सेसाणं (ता, पा, ब)।
४. गणम्मि (ब)।

१५९४. भणित अपरिणतमेतं, एत्तो वोच्छामि लित्तदारं तु।
लित्तम्मि जत्थ लेवो, लब्भति[1] कुसणादिदव्वस्स॥

१५९५. तं खलु ण गेण्हितव्वं, मा तहियं होज्ज पच्छकम्मं तु।
तम्हा तु अलेवकडं, णिप्फावादी गहेतव्वं॥

१५९६. इति उदिते चोदेती, जदि पच्छाकम्मदोस एवं तु।
तो ण वि भोत्तव्वं चिय, जावज्जीवाएँ भणति गुरू॥

१५९७. को कल्लाणं नेच्छति, आवस्सगजोग जदि ण हायंति।
तो अच्छतु मा भुंजतु, अह ण तरे तत्थ भंगऽट्ठा॥

१५९८. संसट्ठहत्थ-मत्ते, सव्वम्मी सावसेस भंगऽट्ठा।
गहणं तु सावसेसे, सेसयभंगेसु भयणा तु॥

१५९९. संसत्तहत्थ-मत्ते, लित्ते लहुगा तु दाणमायामं।
अवसेस लित्त लहुगो, दाणं पुण होति पुरिमड्ढं॥

१६००. लित्तं ति गतं एतं, एत्तो वोच्छामि छड्डितं अहुणा।
तं पि तिह छड्डितं तू, सचित्त मीसं च अच्चित्तं॥

१६०१. छड्डित चउलहुगा तू, आवत्ती दाण होति आयामं।
अहव सचित्तादीणं[2], आवत्ती कायणिप्फण्णं[3]॥

१६०२. सच्चित्त मीसगे या, चउभंगो छड्डणम्मि एत्थ भवे।
चउभंगे पडिसेधो, गहणे आणादिणो दोसा॥

१६०३. उसिणस्स छड्डणे देंतओ व डज्झेज्ज कायडाहो वा।
सीतपडणम्मि काया, पडिते मधुबिंदुआहरणं[4]॥

१६०४. छड्डित भणितं एतं, गहणेसण एस परिसमत्ता तु।
गहितस्स अतो विहिणा, घासेसण पत्तमहुणा तु॥

१६०५. सा चतुहा नामादी, सव्वं वण्णेत्तु एत्थ दारम्मि।
एतस्सेवोवणयं, वोच्छामि इमं समासेणं॥

---

१. लज्जति (ता, पा, ब, ला)।
२. °च्चित्ता° (ब)।
३. °णिप्पण्णं (ब)।
४. °दुदाह° (पिनि ३०१), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५२।

१६०६. मच्छत्थाणी साहू, मंसत्थाणी य भत्तपाणं तु।
रागादीण समुदयो, मच्छियथाणी मुणेतव्वो॥

१६०७. जह ण छलितो तु मच्छो, उवायगहणेण एव साधू वि।
अप्पाणमप्पण च्चिय, अणुसासे भुंजमाणो उ॥

१६०८. बायालीसेसणसंकडम्मि गेण्हंतो[1] जीव! ण सि[2] छलितो।
एण्हिं जह ण छलिज्जसि, भुंजंतो राग-दोसेहिं[3]॥

१६०९. घासेसणा तु भावे, होति पसत्था य अप्पसत्था य।
अपसत्था पंचविधा, तव्विवरीता पसत्था तु[4]॥

१६१०. संजोइय अतिबहुयं, संगाल[5] सधूमगं अणट्ठाए।
पंचविधा अपसत्था, तव्विवरीता पसत्था तु॥

१६११. संजोयणेत्थ दुविधा, दव्वे भावे य दव्वें बहिअंतो।
भिक्खं चिय हिंडंता, संजोए बाहिरेसा तु॥

१६१२. खीर-दहि-कट्टरादिण, लंभे गुड-सालि-कूर-घतमादी।
जाइत्ता संजोगे, हिंडंतंतो अतो वोच्छं॥

१६१३. अंतो तिह पायम्मी[6], लंबण वयणे य होति बोद्धव्वं।
जं जं रसोवकारिं, संजोययए तु तं पाए॥

१६१४. वालुंक[7]-वडग-वाइंगणादि संजोएँ लंबणेण[8] समं।
वयणम्मि छोहु[9] लंबण, तो सालणगं छुभे पच्छा॥

१६१५. दव्वम्मि एस संजोयणा तु संजोएँ जं तु दव्वाइं।
रसहेतुं तेहिं पुण, संजोयण होति भावम्मि॥

१६१६. संजोएंतो दव्वे, राग-द्दोसेहिँ अप्पगं जोए।
राग-द्दोसणिमित्तं, संजोययए तु तो कम्मं॥

१६१७. कम्मेहिंतो य भवं, संजोययए[10] भवा तु दुक्खेणं।
संजोययए अप्पं, एसा संजोयणा भावे॥

---

१. गहणम्मि (पिनि ३०२/५, पंव ३५४, ओनि ५४५)।
२. × (ता), हु (पिनि, पंव, ओनि)।
३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५३।
४. पिनि ३०३।
५. सेंगाल (ब), इंगाल (पिनि ३०३/१)।
६. पादम्मि (पा, ता)।
७. वालंक (ब)।
८. °णेणं (ला)।
९. छोहुं (ला)।
१०. संजोए य (ता)।

१६१८. रसहेतुं पडिकुट्ठो[1], संजोगो कप्पते गिलाणट्ठा।
जस्स व अभत्तछंदो, सुहोचितोऽभावितो जो य॥

१६१९. अहव ण जाती दव्वं, पत्ते य घतादिगा वि मेलंति।
सत्तुगमादीहि समं, मा होतु विगिंचणीयं ति[2]॥

१६२०. अंतो बहि चतुगुरुगा, बितियादेसेण बाहि चतुलहुगा।
चतुगुरुगेऽभत्तट्ठं, चतुलहुगे होति आयामं॥

१६२१. संजोयण भणितेसा, अहुण पमाणं भणामि आहारे।
जावतियं भोत्तव्वं, साहूहिं जावणट्ठाए॥

१६२२. बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणितो।
पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला[3]॥

१६२३. चउवीस पंडगस्सा, ते ण गहित जेण पुरिस-इत्थीणं।
पव्वज्ज ण पंडस्स उ[4], तम्हा ते ण गहिता एत्थं॥

१६२४. एत्तो किणावि हीणं, अद्धं अद्धद्धगं च आहारं।
साहुस्स बेंति धीरा, जायामायं च ओमं च[5]॥

१६२५. पकामं च निकामं च, जो पणियं[6] भत्त-पाणमाहारे।
अतिबहुयं अतिबहुसो, पमाणदोसो मुणेतव्वो॥

१६२६. बत्तीसाउ परेणं, पकाम णिच्चं तमेव तु णिकामं।
जं पुण गलंतणेहं, पणीतमिति तं बुहा बेंति[7]॥

१६२७. अतिबहुयं अतिबहुसो, अतिप्पमाणेण भोयणं भुत्तं।
हादेज्ज व वामेज्ज[8] व, मारेज्ज व तं अजीरंतं[9]॥

१६२८. नियगाहारादीयं, अतिबहुयं अइबहुसो तिण्णि वारा उ।
तिण्ह परेण[10] तु जं तू, तं चेव अतिप्पमाणं तु॥

१६२९. अहवा अतिप्पमाणो, आतुरभूतो तु भुंजते जं तु।
तं होति अतिपमाणं[11], हादणदोसा[12] उ पुव्वुत्ता॥

---

१. पडिसिद्धो (पिनि ३०९)।
२. त्ति (पा, ब, ला)।
३. पिनि ३१०, प्रसा ८६६।
४. × (ब)।
५. पिनि ३११।
६. पणीतं (पिनि ३१२)।
७. पिनि ३१२/१।
८. × (ला)।
९. पिनि ३१२/२।
१०. × (ब, ला)।
११. अतिप्प° (पा, ब, ला)।
१२. हावण° (पा, ब, ला)।

१६३०. जम्हा एते दोसा, अतिरित्ते तेण होति चतुलहुगा।
आवत्ती दाणं पुण, आयामं होति णातव्वं॥

१६३१. दोसा अतिप्पमाणे, तम्हा भोत्तव्व होति केरिसगं?।
भण्णति सुणसू जारिस, भोत्तव्वं होति साहूहिं॥

१६३२. हिताहारा मिताहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
ण ते विज्जा तिगिच्छंति[1], अप्पाणं ते तिगिच्छगा[2]॥

१६३३. हितमहितं होति दुहा, इह परलोगे य होति चउभंगो।
इहलोग हितं ण परे, किंचि परे णेय इहलोगे॥

१६३४. किंचि हितमुभयलोगे, णोभयलोगे[3] चतुत्थओ भंगो।
पढमगभंगो तहियं, जे दव्वा होंति अविरुद्धा॥

१६३५. जह खीर-दहि-गुलादी, अणेसणिज्जा व रत्तदुट्ठे वा।
भुंजंते होति हितं, इहइं ण पुणाइँ परलोगे॥

१६३६. अमणुण्णेसणसुद्धं, परलोगहितं ण होति इहलोगे।
पत्थं[4] एसणसुद्धं, उभयहितं होति णातव्वं॥

१६३७. अहितोभयलोगम्मी, अपत्थदव्वं अणेसणिज्जं च।
अहवा वि रत्तदुट्ठो, भुंजति एत्तो मितं वोच्छं॥

१६३८. अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे।
वायुपवियारणट्ठा[5], छब्भागं ऊणगं कुज्जा॥

१६३९. सीतो उसिणो साहारणो य कालो तिधा मुणेतव्वो।
एतेसुं तीसुं[6] पी, आहारे होतिमा मत्ता[7]॥

१६४०. एगो दवस्स भागो, अवट्ठितो भोयणस्स दो भागा।
वड्ढंति व हायंति व, दो दो भागा तु एक्केक्के[8]॥

---

१. चिगि° (ला, ब, मु)।
२. चिगि° (मु, ला), पिनि ३१३, ओनि ५७८।
३. × (ता)।
४. एत्थं (ला, ब)।
५. वातप° (पिनि ३१३/२, व्य ३७०१)।
६. × (ता, ब)।
७. पिनि (३१३/३) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
साहारणम्मि काले, तत्थाहारे इमा मत्ता।
८. पिनि ३१३/५।

१६४१. एत्थ तु ततियचतुत्था, दोण्णि वि[1] अणवट्ठिता भवे भागा।
पंचम छट्ठो पढमो, बितिओ य अवट्ठिता भागा॥

१६४२. एतं[2] तु मितं भणितं, एत्तो वी हीणगं भवे अप्पं।
एय पमाणाऽभिहितं, संगालादी अतो वोच्छं॥

१६४३. संगाले चतुगुरुगा, आवत्ती दाण होतऽभत्तट्ठं।
चतुलहुगा तु सधूमे, आवत्ती दाणमायामं॥

१६४४. णिक्कारण भुंजंते, एत्थ वि लहुगा तु दाणमायामं।
बितियादेसे लहुगो, आवत्ती दाण पुरिमड्ढं॥

१६४५. ण वि भुंजति कारणतो, एत्थ वि लहुगा तु दाणमायामं।
सेंगालादिण कमसो, सरूवमिणमो पवक्खामि॥

१६४६. जह इंगाला जलिता, डहंति जं तत्थ इंधणं पडितं।
इह चिय रागिंगाला, डहंति चरणिंधणं णियमा॥

१६४७. रागेण सइंगालं[3], जं आहारेति मुच्छितो साहू।
सुट्ठु सुसंभित णिद्धं, सुपक्क सुरसं अहो सुरहिं॥

१६४८. 'रागग्गीय पजलितो'[4], भुंजंतो फासुगं पि आहारं।
णिद्दड्ढिंगालणिभं, करेति चरणिंधणं खिप्पं॥

१६४९. भणितं संगालेतं, अहुणा वोच्छं सधूमगं पगते।
केवलवियणं तं तू, धूमायंतं तहा छगणं॥

१६५०. जह वावि चित्तकम्मं, धूमेणोरत्तयं ण सोभति उ।
तह धूमदोसरत्तं, चरणं पि ण सोभते मइलं॥

१६५१. दोसेण सधूमं तू[5], जं आहारेति साहु णिंदंतो।
विरसमलोणं कुहितं, रोरो भोक्खेति[6] णं एतं॥

१६५२. दोसग्गी वि जलंतो[7], अप्पत्तियधूमधूमियं चरणं।
अंगारमेत्तसरिसं, जा ण भवति णिड्डहति[8] ताव॥

---

१. य (पिनि ३१३/६)।
२. एत्थं (पा)।
३. सयंगालं (ब)।
४. °ग्गिसंपलित्तो (पिनि ३१४/२), °ग्गीपज्जलिओ (मु, ता)।
५. तं (पा, ला)।
६. भोक्खंति (पा, ब, ला)।
७. × (पा)।
८. निद्दहति (पिनि ३१४/३)।

१६५३. रागेण सइंगालं, दोसेण सधूमगं मुणेतव्वं।
राग-दोससहगतं, तम्हा तु ण होति भोत्तव्वं[1]॥

१६५४. आहारेंति तवस्सी, विगतिंगालं[2] च विगतधूमं च।
'झाण-ऽज्झयणणिमित्तं'[3], एसुवदेसो पवयणस्स॥

१६५५. भणितं सधूममेतं, एत्तो वोच्छामि कारणद्दारं।
तं पुण पडिक्कमंतो, चरिमुस्सग्गे विचिंतेति॥

१६५६. भोत्तव्व कारणम्मी, किं अत्थी[4] अहव नत्थि[5] जइ अत्थी।
तो भुंजेज्जा साहू, के पुण ते कारणा? सुणसु॥

१६५७. छहिं कारणेहिं साहू, आहारंतो उ[6] आयरति धम्मं।
छहिं चेव कारणेहिं, णिज्जूहंतो उ आयरति॥

१६५८. वेदण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए[7]॥

१६५९. नत्थि छुहाएँ सरिसिया, वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा।
छादो[8] वेयावच्चं, ण तरति काउं अओ भुंजे[9]॥

१६६०. इरियं च[10] ण सोहेती, खुहितो भमलीय पेच्छ अंधारं।
थामो वा परिहायति, पेहादी संजमं ण तरे[11]॥

१६६१. आयु-सरीरप्पाणादि छव्विधे पाण ण तरती मोत्तुं।
तद्धारणट्ठतेणं, भुंजेज्जा पाणवत्तीयं॥

१६६२. धम्मज्झाणं ण तरति, चिंतेउं पुव्वरत्तकालम्मि।
अहवा वी पंचविधं, ण तरति सज्झाय काउं जे॥

१६६३. एतेहिं कारणेहिं, छहिं आहारेति संजतो णियमा।
छहिं चेव कारणेहिं, णाहारेती इमेहिं तु॥

---

१. पिनि (३१५) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है–
छायालीसं दोसा, बोधव्वा भोयणविधीए।
२. वीतंगालं (पिनि ३१६), वीतिंगालं (ला)।
३. झाणाज्झ° (पा, ब)।
४. अत्थि (पा, ला)।
५. नत्थिं (पा), वित्थिं (ला)।
६. वि (पिनि ३१७)।
७. ठाणं ६/४१, पिनि ३१८, उ २६/३२, प्रसा ७३७, ओनि ५८०, तु. मूला ४७९, पंक ८९१, प्रकी ७८५, पंव ३६५।
८. छुहिओ (पंव ३६६)।
९. पिनि ३१८/१, ओभा २९०।
१०. वि (ला)।
११. तु. पिनि ३१८/२।

१६६४. आतंके उवसग्गे, तितिक्खया बंभचेरगुत्तीए[1]।
पाणिदया-तवहेतू[2], सरीरवोच्छेदणट्ठाए[3]॥

१६६५. आतंको जरमादी, तम्मुप्पण्णे ण भुंजें भणितं च।
सहसुप्पइया वाही, वारेज्जा अट्टमादीहिं॥

१६६६. राया सण्णायादी, उवसग्गो तम्मि वी ण भुंजेज्जा।
सहणट्ठा तु तितिक्खा, वाहिज्जंते तु विसएहिं॥

१६६७. भणितं च जिणिंदेहिं, अवि आहारं जती हु वोच्छिंदे।
लोगे वि भणित विसया, विणिवत्तंते अणाहारे॥

१६६८. तो बंभरक्खणट्ठा, ण वि भुंजेज्जा हि एवमाहारं।
पाणदय वास महिया, पाउसकाले व ण वि भुंजे॥

१६६९. तवहेतु चतुत्थादी, जाव तु छम्मासिगो तवो होति।
छट्ठं 'णिच्छिण्णभरो, छड्डेतुमणो सरीरं तु'[4]॥

१६७०. असमत्थों संजमस्स उ, कतकिच्चोवक्खरं व तो देहं।
छड्डेमि त्ति न भुंजति, सव्वह वोच्छेद आहारं[5]॥

१६७१. सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पादणाएँ दोसा तु।
दस एसणाएँ दोसा, संजोयणमादि पंचेव[6]॥

१६७२. सीयालीसं एते, सव्वे वी पिंडिता भवे दोसा।
जेहिं अविसुद्ध पिंडे, चरणुवघातो जतीण भवे॥

१६७३. एतद्दोसविमुक्को, 'भणिताऽऽहारो'[7] जिणेहिं साधूणं।
धम्मावस्सगजोगा, जेण ण हायंति तं कुज्जा॥

१६७४. उग्गममादीणं तू, कारणपज्जंतपत्थडो एस।
लक्खण आवत्ती दाणमेव कमसो समक्खातं[8]॥

---

१. °त्तीसु (पिनि ३२०, प्रसा ७३८)।
२. °हेउं (पिनि, ओभा २९२)।
३. ठाणं ६/४२, उ २६/३४, मूला ४८०, प्रकी ७८८।
४. सरीरवोच्छेदणट्ठया होतऽणाहारे (पिनि ३२०/२)।
५. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'घासेसणा सम्मत्ता' का उल्लेख है।
६. पिनि ३२२।
७. °हारं (पा, ला)।
८. प्रतियों में इस गाथा के बाद 'पिंडपत्थारो सम्मत्तो अहुणा गाहत्थो' का उल्लेख है।

१६७५. अहुणा गाहाणं तू, वोच्छामी अक्खरत्थमिणमो तू।
उद्देस कम्म मोत्तुं, चरमतिगं होति सेसं तु[1]॥

१६७६. पासंडाणं पढमं, बितियं समणाण ततिय साधूणं।
चरिमतिगं एवं तू, कम्मं ती आहकम्मं तु[2]॥

१६७७. पासंड मीसजाते, साहूमीसे य सघरमीसे य।
बादरपाहुडिया तू, विवाह उस्सक्क ओसक्का॥

१६७८. आहड सपच्चवायं, विराधणा जत्थ होति आयाए।
लोभेण जो उ एसति, सो होती लोभपिंडो तु॥

१६७९. सव्वेसु वि एतेसुं[3], उद्देसिगमादिलोभपज्जंते।
पत्तेयं पत्तेयं, सोधी एत्थं तु ऽभत्तट्ठं॥

**अतिरं अणंतणिक्खित्त-पिहित-साहरित-मीसिगादीसुं।**
**संजोग सइंगाले, दुविध णिमित्ते य खमणं तु॥ ३६॥**

१६८०. अतिर[4] णिरंतर भण्णति, अणंतकायो तु होति वणकायो।
पूवलिमादी किंची, णिक्खित्तं होति एत्थं तु॥

१६८१. पिहितं अणंतकाए, साहरियमणंतमीसियं वावि।
आदिग्गहणेणं पुण, 'अपरिणतेऽणंतकाए'[5] वि॥

१६८२. संजोए रसहेतुं, सेंगालं रागसहित णेतव्वं।
पडुपण्ण ऽणागतं वा, दुविध निमित्तं च णातव्वं[6]॥

१६८३. सव्व जहुद्दिट्ठेसुं, दुविध निमित्तादि पज्जयंतेसु।
पत्तेयं पत्तेयं, सोधी एत्थं तु ऽभत्तट्ठं[7]॥

**कम्मुद्देसिय-मीसे, धायादि-पगासणादिएसुं च।**
**पुर-पच्छकम्म-कुच्छित संसत्तालित्तकरमत्ते॥ ३७॥**

---

१. जीतकल्प की मूल ३५ वीं गाथा भाष्य की १०८६ वीं गाथा के बाद है लेकिन उसकी व्याख्या गा. १६७५ से १६७९ में की गई है।
२. तू (ता), पा प्रति में १६७५ एवं १६७६ ये दोनों गाथाएं नहीं है।
३. एतेसू (ला)।
४. अतिरं (पा, ला)।
५. 'अणंत' (ब)।
६. णेयव्वं (पा)।
७. १६८२ एवं १६८३-ये दोनों गाथाएं मुद्रित पुस्तक में नहीं हैं। ये गाथाएं मूलतः जीतकल्प भाष्य की हैं क्योंकि इनमें जीतकल्प भाष्य गाथा ३६ के उत्तरार्ध की व्याख्या है।

१६८४. जावंतिकम्म पढमे, जावंतिगमीसजातमादिल्ले।
पंचविध धातिपिंडे, खीरादी अंकपज्जंते॥

१६८५. आदिग्गहणेणं पुण, दूतीपिंडे णिमित्तऽतीते य।
आजीव वणिमपिंडो, बादरतेगिच्छणाहिं च॥

१६८६. कोधे माणे य तहा, संबंधी वयणसंथवे थीसु[1]।
विज्जा मंते चुण्णे, जोगे एमेतें आदिपदा॥

१६८७. पादोकरण पगासे, दव्वे कीते य आयपरकीते।
भावे तु आयकीते, लोइयपामिच्चिएसुं च॥

१६८८. लोइयपरियट्टे वी, परगामे आहडम्मि णिरवाए।
पिहिउब्भिण्णसचित्ते, तह य कवाडे य णातव्वे॥

१६८९. मालोहडमुक्कोसे, अच्छेज्जे तह य होति अणिसट्ठे।
एमेते तु पगासणमादिपदा होंति णातव्वा॥

१६९०. पुरकम्म[2] पच्छकम्मे, कुच्छितदव्वेण मक्खितं जं तु।
संसत्तदव्वलित्ते, हत्थे मत्ते व णातव्वं॥

१६९१. एतेसु जहुद्दिट्ठो, कम्मादिसु लित्तपज्जवसितेसु।
पतेयं पतेयं, सोधी एत्थं तु आयामं॥

**अतिरं परित्तणिक्खित्त[3]-पिहित-साहरित-मीसियादीसु।**
**अइमाण-धूम-कारण विवज्जते विहियमायामं॥ ३८॥**

१६९२. अतिर णिरंतर भणितं, परित्तकाए उ होति णिक्खित्तं।
परितेण य जं पिहितं[4], 'साहरितं वा परित्तेणं'[5]॥

१६९३. मीस परित्तेणं चिय, आदिग्गहणा परित्तलित्ते वि[6]।
परितेसु[7] छड्डितम्मि वि, आदिग्गहणा तु एमेते॥

१६९४. अइमाण सधूमे या, आहारे कारणे विवच्चासे।
कारणविवज्जओ तू, केरिसओ होतिमं वोच्छं॥

---

१. त्थीसु (ब)।
२. °कम्मे (ला)।
३. परित्ति° (ला)।
४. निहितं (ता, ला)।
५. × (पा)।
६. × (ला)।
७. परित्तेसु (पा)।

१६९५. आहारेति अकज्जे, ण 'समुद्दिसे व'[1] कारणे जो तु।
एस विवज्जो भणितो, सव्वत्थ वि सोधि आयामं॥

**अज्झोतर-कड-पूतिय-मायाणंते परंपरगते य।**
**मीसाणंताणंतरगतादिए चेगमासणगं॥ ३९॥**

१६९६. पासंडऽज्झोयरओ, साहूअज्झोतरो य णातव्वो।
होति कडो चउधा तू, जावंतिगमादि विण्णेयो॥

१६९७. आहारें पूतियम्मी, मायापिंडे य होति णातव्वे।
सच्चित्तऽणंतकाए, परंपरे जं तु णिक्खित्तं[2]॥

१६९८. मीसाणंतअणंतरणिक्खित्ते चेव होति णातव्वे।
आदिग्गहणे पिहिते, साहरिते मीसगे चेव॥

१६९९. गहिताणंतपरंपरमीस[3]ऽतिरं पिहितमादि बोद्धव्वं।
एव जहुद्दिट्ठेसू, सव्वत्थ[4] वि सोधि भत्तेक्कं॥

**ओह-विभागुद्देसोवकरण-पूतीय-ठवित-पागडिए।**
**लोगुत्तर-परियट्टिय, पमेय[5]-परभावकीते य॥ ४०॥**

१७००. ओहुद्देसविभागे, उद्देस चउव्विधे तु णातव्वे।
उवगरणपूतिए या, चिरठविते पागडे चेव॥

१७०१. लोउत्तरपामिच्चे, परियट्टिय उत्तरे य णातव्वे।
परभावकीय मंखादिगेसु सव्वेसु उद्दिट्ठे॥

१७०२. पत्तेयं पत्तेयं, सोधी एत्थं तु होति पुरिमड्ढं।
सग्गामाहडमादी, एत्तो[6] एयं पवक्खामि॥

**सग्गामाहड-दद्दर-जहण्णमालोहडोतरे पढमे।**
**सुहुमतिगिच्छा - संथवतिग - मक्खित - दायगोवहते॥४१॥**

१७०३. सग्गामाहड-दद्दर, उब्भिण्णे अहव गंठिसहिते[7] तु।
मालोहडे जहण्णे, उयरो अज्झोयरो होति॥

---

१. °द्दिसेए (पा), °द्दिसे एवं (ला, मु)।
२. °क्खित्ते (मु, ता)।
३. महि° (ता, पा, ला)।
४. सव्वट्ठ (ब)।
५. पामिच्च (मु)।
६. पत्ते (मु, पा, ला)।
७. गट्ठि° (ता, पा)।

१७०४. पढमो जावंतज्झोयरो तु एसो यहो मुणेतव्वो।
सुहुमतिगिच्छा संथव, वयणे तू होति णातव्वो॥

१७०५. कद्दममक्खित पुढवी-आऊ-उदउल्लमक्खिते जं तु।
वणकायपरित्तेणं, उक्कुट्ठे मक्खिततिगेणं॥

१७०६. दायगउवहत एत्तो, दायग बालादियऽप्पभू जे य।
एतेसेत्थऽहिगारो, ते य इमे[1] होंति बालादी॥

१७०७. बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविते य जरिते य।
एते देंति तु जं तू, तं होती दायगोवहतं॥

१७०८. एतेसु जहुद्दिट्ठेसाऽऽहडमादीसु जरितयंतेसु।
पत्तेयं पत्तेयं, सोधी एत्थं तु पुरिमड्ढं॥

**पत्तेयपरंपरठवित-पिहित-मीसे अणंतरादीसु।**
**पुरिमड्ढं संकाए, जं संकति तं समावज्जे॥ ४२॥**

१७०९. वणकायपरित्तेणं, सच्चित्तपरंपरं तु णिक्खित्ते।
तेणेव य पिहितं तू, परंपरं होति विण्णेयं॥

१७१०. एमेव य साहरिते, सच्चित्तपरंपरे परित्तम्मि।
मीसपरित्त अणंतर, णिक्खित्ते होंति[2] णातव्वं॥

१७११. आदिग्गहणेणं तू, पिहिते उ अणंतरे तु मीसम्मि।
एमेव य साहरणे, मीसेसु अणंतरे होति॥

१७१२. सव्वेसु जहुद्दिट्ठेसु, सोधि[3] पुरिमड्ढमेत्थ पत्तेयं।
संकाए जं संकति, तस्सेव य होति पच्छित्तं॥

**इत्तरठविते[4] सुहुमे[5], ससणिद्ध सरक्ख मक्खिते चेव।**
**मीसपरंपरठवियादिगेसु बितिएसु[6] वा विगती॥ ४३॥**

१७१३. इत्तरठवणा भत्ते, पाहुडिया सुहुम तह य ससिणिद्धे[7]।
आऊ मक्खितमेतं, ससरक्खं पुढविए होति॥

---

१. इमो (ला)।
२. होति (मु)।
३. सोहिं (ब)।
४. इतरट्ठ (पा)।
५. सुहुमं (ला, ब)।
६. बीएसु (ला)।
७. ससिणद्धे (ब)।

१७१४. पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ परित्तवणकाए।
बेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिएसुं च॥

१७१५. एतेसुं पुढवादिसु, मीसे उ परंपरे उ णिक्खित्ते।
पत्तेयं पत्तेयं, लघुपणगं दाण णिव्विगती॥

१७१६. वणकायऽणंतमीसे, णिक्खित्तें परंपरं[1] तु सोहीमा।
गुरुपणगं आवत्ती, दाणं पुण होति णिव्विगतिं॥

१७१७. बितियाणंताऽणंतरणिक्खित्ते गुरुगपणग[2] आवत्ती।
दाणं णिव्विगती तू, परंपरे होति एमेव॥

१७१८. 'बितियपरित्ताणंतरणिक्खित्ते लहुगपणगमावत्ती'[3]।
दाणं णिव्विगतिं[4] तू, परंपरे होति एमेव॥

**सहसाऽणाभोगेण व, जेसु पडिक्कमणमादियं[5] तेसु।**
**आभोगओ वि बहुसो, अतिप्पमाणे व[6] निव्विगती॥ ४४॥**

१७१९. सहसा-अणभोगा तू, पुव्वुत्ता जेसु जेसु ठाणेसु।
सव्वेसु वि तेसु भवे, पडिक्कमण[7] पुव्वविहितं तु॥

१७२०. तेसु त्ति कारणेसुं, आभोगे एत्थ जाणमाणो उ।
बहुसो होति पुणो पुणों, अतिप्पमाणे वि एमेव॥

१७२१. सव्वत्थ तु णिव्विगतिं, सोधी आभोगतो मुणेतव्वा।
बहुसो वि सोहि एसा, अतिप्पमाणे वि णातव्वा॥

**धावण-डेवण-संघरिस-गमण[8]-किड्डा-कुहावणादीसु।**
**उक्कुट्ठि[9]-गीत-छेलिय-जीवरुयादीसु य चउत्थं॥ ४५॥**

१७२२. धावण गतिमतिरित्ता, वाडि त्ति व डेवणं तु उड्डवणं[10]।
संघरिस जमलिओ तू, को सिग्घगति त्ति वच्चति तु॥

---

१. °परे (ब), °पर (पा, ला)।
२. गुरुप° (ता, पा, ब, ला)।
३. °णंतरपरंपरे तु लहुग° (ता)।
४. °गयं (ला, पा)।
५. °णमभिहियं (ला)।
६. य (ला)।
७. पडिकमणं (पा, ब, ला)।
८. गमणि (पा, ला)।
९. उक्कुट्ठी (ता, ला)।
१०. डवणं (ला)।

१७२३. किड्डा होतऽट्ठावय, चउरंगा[1] जूतमादि णातव्वा।
वट्टादि इंदजालं, खेड्डा उ कुहावणा एसा॥

१७२४. आदिग्गहणेणं[2] तू, समासतो पहेलिया कुहेडादी।
उक्कुट्टी पुक्कारो, गीतं पुण होति कंठं तु॥

१७२५. छेलिय सेण्टा भण्णति, संगारो कीरती तु सासण्णा।
जीवरुत मयूरादी, कोइलमादी व णातव्वं॥

१७२६. धावणमादिपदेसुं[3], सव्वेसु जहक्कमेण[4] विण्णेयं।
पत्तेयं पत्तेयं, सोधी साहुस्सऽभत्तट्ठं॥

**तिविहोवहिणो विच्चुत-विस्सरितापेहिताणिवेदणए।**
**णिव्वितियं[5] पुरिमेक्कासणाइ[6] सव्वम्मि [7]यायामं॥ ४६॥**

१७२७. तिविधो तु होति उवधी, जहण्णगो मज्झिमो य उक्कोसो।
चतुविध छव्विध चतुभेदओ य कमसो मुणेतव्वो॥

१७२८. मुहपोत्ति पायकेसरि, पत्तट्ठवणं तु गोच्छगो चेव।
एसो जहण्णगो तू, मज्झिमगमतो पवक्खामि॥

१७२९. पडलय रयहरणं वा, पत्ताबंधो य चोलपट्टो य।
मत्तग रयहरणं वा, मज्झिमगो एस णातव्वो॥

१७३०. पच्छादतिग पडिग्गह, एसो उक्कोसगो चतुब्भेदो।
ओहोवही उ[8] एसो, तिविधो तु समासतो होति॥

१७३१. ओवग्गहिओ तिविधो, जहण्ण मज्झो तहेव उक्कोसो।
सव्वो वण्णेतव्वो, जह भणितो कप्पअज्झयणे॥

१७३२. विच्चुत पडितं भण्णति, पुणरवि लद्धे जहण्णमादीसु।
सोधी पमादमूला, णिव्वियमादी य इणमो तु॥

१७३३. णिव्विगति जहण्णम्मी[4], मज्झिमगे सोहि होति पुरिमड्ढं।
एक्कासणमुक्कोसे, सव्वम्मि य होति आयामं॥

---

१. चउभंगा (ब)।
२. आदीग° (ता, ब)।
३. °देसूं (ता, ला), °देसू (ब)।
४. अह° (पा, ला, मु)।
५. णिव्वीयं (ला)।
६. °मेका° (पा, ब, ला)।
७. व (ला)।
८. °म्मिं (मु)।

१७३४. तिविधोवधि विस्सरिते, ण वि पडिलेहेति तत्थ सोधि इमा।
णिव्वितिगं पुरिमेक्कासणं तु सव्वम्मि चायामं॥

१७३५. तिविधोवधि विस्सरिते, आयरियादीण जो तु ण णिवेदे।
सोधी णिव्वितिगादी, आयामंता मुणेतव्वा॥

**हारितधोतुग्गमियाणिवेदणादिण्णभोगदाणेसु।**
**आसणमायामचतुत्थयाइ[1] सव्वम्मि छट्ठं तु॥ ४७॥**

१७३६. जहण्णुवधि हारेती, सोधी एक्कासणं तु दातव्वं।
मज्झिमगे आयामं, उक्कोसे होतऽभत्तट्ठं॥

१७३७. सव्वोवधि हारेती, सोधी छट्ठं तु होति णातव्वं।
एत्तो धोए[2] वोच्छं, सोधी उ जहण्णमादीणं॥

१७३८. धोतें जहण्णेक्कासण, मज्झिमगे सोधि होति आयामं।
उक्कोसेऽभत्तट्ठं, धोते सव्वम्मि छट्ठं तु॥

१७३९. तिविहोवधिमुग्गमितुं, आयरियाणं तु जो ण णिव्वेदे।
आसणमायामचतुत्थाइं सव्वम्मि छट्ठं तु॥

१७४०. उवधी जहण्णमादी, गुरुहिं अविदिण्ण जो तु परिभुंजे।
सोहिक्कासणमादी, छट्ठंता होति सव्वम्मि॥

१७४१. अणणुण्णात गुरूहिं, उवधि जहण्णादि देंति[3] अण्णस्स।
सोहिक्कासणमादी, छट्ठंतो होति जीतेणं॥

**मुहणंतग रयहरणे, फिडिते णिव्विगतियं[4] चतुत्थं तु[5]।**
**नासित हारविते वा, जीतेण चतुत्थछट्ठाइं॥ ४८॥**

१७४२. मुहणंत फिडित उग्गह, सोधी णिव्विगतियं तु दातव्वं।
रयहरणे तु चतुत्थं, फिडिते सोहेस लद्धम्मि॥

१७४३. मुहणंत पमादेणं, हारविते नासिते वऽभत्तट्ठं।
रयहरणे छट्ठं तू, सोहेस पमादिणो जीते॥

---

१. °चतुत्थाइं (पा)।
२. सोए (ता, ब, ला)।
३. देंति (पा, ला)।
४. णिव्वीतयं (ला)।
५. च (ला)।

**कालऽद्धाणातीए, णिव्विगती[1] खमणमेव[2] परिभोगे।**
**अविहिविगिंचणियाए, भत्तादीणं तु पुरिमड्ढं॥ ४९॥**

१७४४. विकहादिपमादेणं, कालाईयं करेंत भत्तादी।
सोधी णिव्विगती तू, परिभोगे होतऽभत्तट्ठं॥

१७४५. एवऽद्धाणाईए[3], अप्परिभोगे वि सोहि णिव्विगतिं।
परिभोगेऽभत्तट्ठो, अविधीय विगिंचणे पुरिमं॥

**पाणस्सासंवरणे, भूमितिगापेहणे य णिव्विगती।**
**सव्वस्सासंवरणे, अगहणभंगे[4] य पुरिमड्ढं॥ ५०॥**

१७४६. पाणस्सासंवरणे, सोधी साहुस्स होति णिव्विगतिं।
भूमीतिगं इमं तू, वोच्छामि समासतो इणमो॥

१७४७. उच्चारभूमि पढमा, बितिया पुण होति पासवणभूमी।
'ततिया तु कालभूमी'[5], सोहेत्थ अपेहणे ऽविगतिं॥

१७४८. असणादी चतुभेदो, सव्वो वि य एत्थ होति आहारो।
तस्स असंवरणम्मी, सोधी साहुस्स पुरिमड्ढं॥

१७४९. अहव णमुक्कारादी, पच्चक्खाणं ण गेण्हते सव्वं।
गहितं वा जो भंजति, सोधी सव्वत्थ पुरिमड्ढं॥

**एयं चिय सामण्णं, तव-पडिमा-ऽभिग्गहादियाणं पि।**
**णिव्विइयादी[6] पक्खिय-पुरिसादिविभागतो णेयं॥ ५१॥**

१७५०. एतं चिय पुरिमड्ढं, सामण्ण विसेसितं मुणेतव्वं।
तव पडिम अभिग्गहें या, अगहणभंगे इमं वोच्छं॥

१७५१. तवो बारसहा होति, पडिमा तू एगराइगा।
दव्वादी तु अभिग्गह, अगहणभंगे तु पुरिमड्ढं॥

१७५२. गाहापच्छद्धस्स तु, इमा विभासा तु होति णातव्वा।
खुड्डादी पंचण्ह वि, णिव्विगतिं अंतऽभत्तट्ठो॥

---

१. 'गतिं (ला)।
२. खवण (ला)।
३. 'णातीए (पा)।
४. गह (ता)।
५. × (ता)।
६. णिव्वीतिगाइ (ला)।

१७५३. चाउम्मासिग खुड्डग, भिक्खू थेरो 'उवज्झ आयरिए'[11]।
पुरिमड्ढ एगभत्तं, आयाम चतुत्थ छट्ठंता॥

१७५४. पतिदिणपच्चक्खाणं, जहसत्ति अगेण्हणे[2] तु मब्भहितं।
खुड्डादी पंचण्ह वि, एक्कासणमट्ठमं अंतो॥

**फिडिते सतमुस्सारित, भग्गे[3] वेगादि ऽवंदणुस्सग्गे[4]।**
**णिव्विगती[5]-पुरिमेगासणादि सव्वेसु चायामं॥५२॥**

१७५५. फिडितुस्सग्गे एक्के, पमादिणो सोहि होति णिव्विगतिं।
दोहिं पुरिमड्ढ भवे, तिहि फिडिते सोहि भत्तेक्कं॥

१७५६. सव्वे काउस्सग्गे, फिडिते जुयओ पडिक्कमे जो तु।
सोधी पच्छाऽऽयामं, उस्सारंते इमं वोच्छं॥

१७५७. सतमुस्सारे एक्कं, काउस्सग्गं ति एत्थ णिव्विगतिं।
दोसु तु पुरिमड्ढ[6] भवे, एक्कासणगं भवे तीहिं॥

१७५८. सव्वे सयमुस्सारे, आयंबिल एत्थ होति सोधी तु।
भग्गे वि य[7] एस च्चिय, सोधी तह वंदणमदेंति॥

**अकतेसु तु[8] पुरिमा-ऽऽसणमायामं सव्वसो चउत्थं तु।**
**पुव्वमपेहितथंडिल[9], निसिवोसिरणे दियासुवणे[10]॥५३॥**

१७५९. ण करेंतस्सुस्सग्गं, सोधी एत्थं तु होति पुरिमड्ढं।
दोहि य एक्कासणगं, तिहि अकरणे सोधि आयामं॥

१७६०. सव्वं चिय आवसयं, अकरेंते सोधि होतऽभत्तट्ठो।
काउस्सग्गे तह वंदणस्स सोधी तहा ऽकरणे॥

१७६१. गाहापच्छद्धेण तु, पुव्वं तु अपेहिते 'उ थंडिल्ले'[11]।
णिसिवोसिरणे सोधी, साहुस्स भवे अभत्तट्ठं॥

१७६२. दियसुवणे णिक्कारण, सोधी साहुस्स होतऽभत्तट्ठं।
कोहं परिवसमाणे, कक्कोल्लादीमतो वोच्छं॥

---

१. °ज्झाय° (पा, ब, ला)।
२. मगे° (ता)।
३. भंगे (ब, मु)।
४. वंदणादीसु (पा, मु)।
५. °गतिय (मु), णिव्वीतिय (ला)।
६. °मड्ढे (ता)।
७. × (ता)।
८. × (ला)।
९. °डिलि (ला)।
१०. °सुयणे (ला)।
११. त्थंडि° (ता, ब)।

**कोहे बहुदेवसिए, आसव-कक्कोलगादिगेसुं[1] च।**
**लसुणादिसु[2] पुरिमड्ढं, 'तण्णादीबंधमुयणे य'[3]॥ ५४॥**

१७६३. पक्खियमतिकामेंतो, बहुदेवसिओ त्ति एस कोधो तु।
अहवा बहुदेवसिए, 'चाउम्मासादिरित्ते तु'[4]॥

१७६४. एतं बहुदेवसियं, एत्थ उ सोधी तु होतऽभत्तट्ठं।
आसव वियडं भण्णति, तमाइयंते अभत्तट्ठं॥

१७६५. कक्कोलग सेवंते, सोधी साधुस्स होतऽभत्तट्ठं।
पूगप्फल-जातीफल[5]-लवंग-तंबोलमादिसु य॥

१७६६. आदिग्गहणे णेयो, पत्तेयं एत्थ सोधऽभत्तट्ठं।
लसुणाचित्ते पुरिमं, आदिग्गहणा पलंडुम्मि॥

१७६७. तण्णगबंधणमुयणे, सोधी एत्थं तु होति पुरिमड्ढं।
आदिग्गहणेणं पुण, हंस-मयूरादिएसुं पि॥

**अज्झुसिरतणेसु निव्विगतियं[6] तु सेसपणगेसु पुरिमड्ढं।**
**अप्पडिलेहितपणगे, एगासण तसवहे जं च॥ ५५॥**

१७६८. अज्झुसिरं तु कुसादी, परिभोगाकारणे तु णिव्विगतिं।
सेसपणगं तु पंचह, सपंचभेदं पुणेक्केक्कं॥

१७६९. पोत्थग-तणपणगं वा, दूसे पणगं च दुप्पडिल्लेहे।
अप्पडिलेहियदूसे, पंचमगं चम्मपणगं च॥

१७७०. गंडी कच्छवि मुट्ठी, 'छिवाडि संपुडगपोत्थगे चेव'[7]।
'साली बीही कोद्दव, रालग ऽरण्णे तणाइं च'[8]॥

१७७१. अप्पडिलेहितदूसे, तूली उवहाणगे य णातव्वे।
गंडुवहाणाऽऽलिंगिणि, मसूरगे चेव पोत्तमगे[9]॥

१७७२. पल्हवि कोयवि पावार, णवतए तह य दाढिगाली[10] य[11]।
दुप्पडिलेहितदूसे, एतं बितियं भवे पणगं[12]॥

---

१. 'लमादि' (ला)।
२. 'णादी (पा, मु)।
३. 'धणुम्मुयणे (ला)।
४. 'रित्तेसु (ता)।
५. फलजाई (ब)।
६. णिव्वीतियं (ला)।
७. संपुड फलए तहा छिवाडी य (नि ४०००), 'पोत्थगा पंच (बृ)।
८. तिण-सालि-वीहि-कोद्दव-रालग-आरण्णगतणं च (बृ ३८२२)।
९. 'त्तणए (मु), 'मए (प्रसा ६७७), नि ४००१।
१०. दाढीयाली (ता, पा, ब, ला)।
११. उ (नि ४००२)।
१२. प्रसा ६७८।

१७७३. गो-महिस-अया-एलग-मिगचम्मं पंचगं[1] मुणेतव्वं।
अहवा वि चम्मपणगं, एतं बितियं तु विण्णेयं[2]॥

१७७४. तलिगा खल्लग वज्झे, कोसग कत्ती य पंचगं[3] पणगं।
एते पंच उ पणगा, सयं च भेदा समक्खाता॥

**ठवणमणापुच्छाए, णिव्विसणे विरियगूहणाए य।**
**जीतेणोक्कासणगं, सेसगमायासु खमणं[4] तु॥ ५६॥**

१७७५. ठवणकुल-दाणसड्ढादियाइ ताइं तु गुरुमणापुच्छा।
पविसति णिव्विसणा तू, पडिगाहे[5] जं तु भत्तादी॥

१७७६. विरियं सामत्थं वा, परक्कमो चेव होंति एगट्ठा।
गूहण गोवण णूमण, पलियंचणमेव एगट्ठं॥

१७७७. एरिसमायासहिते, जीतेणं देज्ज एगभत्तं तु।
सुतववहारे अण्णह, सेसं मायं अतो वोच्छं॥

१७७८. भद्दगं भद्दगं भोच्चा, विवण्णं विरसमाहरे[6]।
आयरियाण सगासे, जसोत्थी एव चिंतए॥

१७७९. लूहवित्ती महाभागो, एस साधू जितिंदिओ।
रसचागं करेइ त्ती, अंतपंतेहिं लाढए[7]॥

**दप्पेणं पंचिंदियवोरमणे संकिलिट्ठकम्मे य।**
**दीहद्धाणासेवी[8] गिलाणकप्पावसाणेसु[9]॥ ५७॥**

१७८०. दप्पो वग्गण-धावण-डेवणमादी तु होति णातव्वो।
पंचिंदियवोरमणं, उद्दवण विराहणेगट्ठं॥

१७८१. कम्मं तु संकिलिट्ठं, करकम्मं कुणति अंगदाणे[10] तु।
दीहेणऽद्धाणेणं, कम्म पलंबादि बहु सेवे॥

---

१. पंचमं (मु)।
२. गा १७७३ और १७७४ के स्थान पर नि (४००३) में निम्न गाथा है-
अय-एलि-गावि-महिसी, मिगाणमजिणं च पंचमं होति।
तलिगा-खल्लग-वज्झे, कोसग कत्ती य बितिएणं॥
३. पंचमं (ला, मु)।
४. खवणं (ता, मु)।
५. पडिग्गहे (ता, ब, ला)।
६. °माहारे (ता, पा, ब, ला)।
७. गाथा में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है।
८. °सेविय (मु, ब)।
९. °साणे य (ला)।
१०. अंगा° (ला, पा)।

१७८२. गेलण्णम्मि तु दीहे, आहाकम्मादि सण्णिहीमादी।
बहुअतियारणिसेवी, सोधी एत्थं तु अवसाणे॥

१७८३. एतम्मि जहुद्दिट्ठे, वोरमणादी गिलाणपज्जंते।
पत्तेयं पत्तेयं, सोधी तू पंचकल्लाणं॥

**सव्वोवहिकप्पम्मि य, पुरिमत्तापेहणे य चरिमाए।**
**चाउम्मासे वरिसे, य सोधणं पंचकल्लाणं॥ ५८॥**

१७८४. पाउसकाले सव्वोवहिम्मि जतणा वि कप्पिए सोधी।
पुरिमत्ताएँ पमादा, चरिमाएँ अपेहिते चेव॥

१७८५. उवधी धोतऽवसाणे, पुरिमत्तापेहणाएँ चरिमाए।
पत्तेयं पत्तेयं[1], सोहेत्थं पंचकल्लाणं॥

१७८६. चाउम्मासिग वरिसे, णिरतीयारे यऽवस्स दातव्वं।
आलोइयम्मि सोधी, णियमेणं पंचकल्लाणं॥

१७८७. किं कारणमिह सोधी, णिरतीयारे वि दिज्जते एवं?।
चोदग! 'सुहुमऽतियारे'[2], कते वि ण वि जाणति कयाई[3]॥

१७८८. अहव ण संभरती तू, जह पादोसीय अड्ढरत्तीए[4]।
वेरत्तिय[5] पाभातिय, अग्गहणा काल अतियारं॥

१७८९. सुत्तत्थपोरिसीअकरणम्मि दुप्पेह दुप्पमज्जासु।
एतेण कारणेणं, सोधी तू पंचकल्लाणं॥

**छेदादिमसद्दहओ, मिउणो परियायगव्वितस्स वि य।**
**छेदादीए[6] वि तवो, जीतेण गणाहिवतिणो य॥ ५९॥**

१७९०. विपुलं तवमकरेंतो, किह सुज्झति छेदमूलमेत्तेणं?।
गुरुआणामेत्तेणं, असद्दहंते तवो देयो॥

१७९१. मउओ वि छेद मूले, व दिज्जमाणम्मि होति परितुट्ठो।
इहरा वि वंदणिज्जो, तिक्खुत्तो तस्स देह तवं॥

---

१. × (ला)।
२. 'अति' (ता, पा, ब, ला)।
३. कयावि (पा, ब, ला)।
४. 'त्तीय (ब)।
५. 'त्तीय (ता, ब)।
६. छेदातीए (पा, ब, ला)।

१७९२. दुविधो य गव्वितो खलु, चिरपरियाओ तहेव तवबलिओ।
छेदम्मि दिज्जमाणे, परियादी गव्वितो होति॥

१७९३. केत्तियमेत्तं छिंदह[1]?, तह वि य हं तुब्भ होमि रइणिओ।
एसो तु गव्वितो खलु, चिरपरियादी मुणेतव्वो॥

१७९४. तवबलिओ देह तवं, अहं समत्थो त्ति गव्वितो होति।
तम्हा तद्दोसहरं, विवरीतं तेसि दातव्वं॥

१७९५. गणअहिवति आयरियो, तस्स वि छेदादि होति पत्तस्स।
अप्परिणतसेहादिसु, मा होज्जा हीलणिज्जो त्ति॥

१७९६. धीबलसंघयणं वा, णातुं कालं च तिविध गिम्हादी।
तम्हा तद्दोसहरं, तवारिहं दिज्जते तस्स॥

**जं जं[2] ण भणितमिहइं[3], तस्सावत्तीय[4] दाणसंखेवं।**
**भिण्णादिया य वोच्छं, छम्मासंता य जीतेणं॥ ६०॥**

१७९७. जं जं ति होति मिच्छा, ण वि भणितमिहं ति जीतववहारे।
पच्छित्तविसोधी तू, तस्सावत्ती पणगमादी॥

१७९८. दाणं णिव्वितिगादी, से य विसेसेणमेत्थ भणिहामि।
संखेवो तु समासो, किह ण वि जीतेण भणितमिहं?॥

१७९९. कम्ही वा भणितं? ती, गुरुराह णिसीह-कप्प-ववहारे।
सुत्तत्थओ य भणितं, आणादि सवित्थरेणं तू॥

१८००. पणगादी छम्मासावसाण आवत्तिविरयणाओ य।
णेगविहा भणिताओ, णिसिहादिसु वित्थरेणं तु॥

१८०१. इह पुण[5] जीतेणं तू, णिवणावत्तिदाणसंखेवं।
भिण्णादी छम्मासा, णेदाणजिएणिमं वोच्छं॥

**भिण्णो अविसिट्ठे च्चिय[6], मासो चउरो य छच्च लहुगुरुगा।**
**णिव्वितियादी[7] अट्ठमभत्तंतं दाणमेतेसिं॥ ६१॥**

---

१. छिंदिह (पा)।
२. जे (पा, ला)।
३. °यमिहियं (ला)।
४. आवत्ती पायच्छित्तट्ठाणसंपत्ती (चू)।
५. × (ता, ला)।
६. चिय (ला)।
७. णिव्वीयगादि (ला)।

१८०२. पणुवीसदिणा भिण्णो, अविसिट्ठो एस गुरु लहू वावि।
अविसेसिओ विसिट्ठो, एसो तू होति णातव्वो॥

१८०३. मासो 'लहुगो गुरुगो'[1] 'चतुरो मासा य होंति लहुगुरुगा'[2]।
छम्मासा लहुगुरुगा, 'दाणं एतेसि वोच्छामि'[3]॥

१८०४. पणगं दस पण्णरसं, वीसा पणुवीस जाव णिव्विगती।
लहुमासे पुरिमड्ढं, गुरुमासे दाण भत्तेक्कं॥

१८०५. चतुलहुगे आयामं, चतुगुरुगे होति दाणऽभत्तट्ठं।
छल्लहुगे छट्ठं तू, छग्गुरुगे दाणमट्ठमगं॥

१८०६. णिव्विगतिगमादीयं, अट्ठमभत्तंतमेय दाणं ति।
भिण्णादीणं[4] कमसो, छम्मासंताऽवसाणाणं॥

**इय सव्वावत्तीओ, तवसो णाउं जहक्कमं[5] समए।**
**जीतेण देज्ज णिव्वीतिगादि[6] दाणं जहाभिहितं[7]॥६२॥**

१८०७. इय एतेण कमेणं, एव पगारेण अहव इतिसद्दो।
'सव्वा आवत्ती'[8] पणगादिया तु छम्मासपज्जंता॥

१८०८. णिव्वीतियमादीओ, अट्ठमपज्जंत होति सव्वतवो।
जीतेण देज्ज दाणं, णिव्वीतिगमादिगं कमसो॥

१८०९. जहभिहितं जह भणितं, तह तह देज्जाहिऽभिहितमेतं ति।
सामण्णेणं एतं, समासतो होति णातव्वं॥

**एतं पुण सव्वं चिय, पायं सामण्णतो विणिद्दिट्ठं।**
**दाणं विभागतो पुण, दव्वादिविसेसितं णेयं[9]॥ ६३॥**

१८१०. एतं ति जहुद्दिट्ठं, पुणसद्दो विसेसणे तु णातव्वो।
सव्वं पायच्छित्तं, दाणं पाएण बाहुल्ला॥

१८११. सामण्णं अविसेसित, णिद्दिट्ठ विसेसितं विणिद्दिट्ठं।
दाणं णिव्वितिगादी, विभागतो देज्ज वित्थरतो॥

---

१. गुरुगो लहुगो (ता)।
२. चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य (व्य)।
३. छेदो मूलं तह दुगं च (व्य ६२१, नि ३२७९)।
४. °दीयं (ब), °दीणि (ला)।
५. अह° (मु)।
६. णिव्वितियगादि (ला)।
७. जहा भणितं (ला)।
८. 'सव्वा आवत्ती' के स्थान पर छंद की दृष्टि से 'सव्वावत्ती' पाठ होना चाहिए।
९. जाण (पा, मु)।

१८१२. दव्वादीया पडिसेवणा तु लतिया तु आदिसद्देणं।
होति विसेसेणाऽवेक्खिऊण देज्जाहि ऊणं पि॥

१८१३. अहवा वि समतिरित्तं, दाणं णाऊण देज्ज जीतेणं।
अहवा वि तत्तियं[1] चिय, देज्जाहि सुतोवदेसेणं॥

**दव्वं खेत्तं कालं, भावं पुरिस पडिसेवणाओ य।**
**णातुमियं चिय देज्जा, तम्मत्तं हीणमहिगं वा[2]॥ ६४॥**

१८१४. आहारादी दव्वं, खेत्तं लुक्खादि काल गिम्हादी।
हिट्ठादी भावं तू, पुरिसं गीतादि जाणित्ता॥

१८१५. आउट्टिगमादीया, पडिसेवण होति तू मुणेतव्वा।
णाऊण जाणितूणं, इति मि त्ति जए य जीतेणं॥

१८१६. देज्जाही तम्मत्तं, हीणं अहिगं व णातु दव्वादी।
हीणे दव्वादीए, हीणं देज्जाऽहिगे अहिगं॥

१८१७. एसो तु अक्खरत्थो, दव्वादीणं तु वण्णितो कमसो।
पुणरवि दव्वादीहिं[3], विभागतो सूरिमाहंसु[4]॥

**आहारादी दव्वं, बलियं सुलभं च णातुमहिगं पि।**
**देज्जाहि दुब्बलं दुल्लभं च णाऊण हीणं पि॥ ६५॥**

१८१८. आहारो जेसिमादी[5], दव्वाणं ताइँ होंति दव्वाइं।
आहारादीयाइं, बलियाइं जम्मि देसम्मि॥

१८१९. जह अणुवदेस[6] सालीकूरो सभावेण होति बलिओ तु।
सुलभो य सो तु णिच्चं, सेसा वट्टंति एमेव॥

१८२०. एतं णाऊण तहिं, जं भणितं दाण जीतववहारे[7]।
तं देज्ज समब्भहियं, जहिं[8] पुण चण-वल्ल-कलमादी॥

१८२१. कंजियरुक्खाहारो, दुब्बल दुलभो य एव णाऊणं।
'देज्ज से तत्थ हीणं'[9], जीतव्ववहारभणिता उ॥

---

१. तच्चियं (ता)।
२. व (मु)।
३. °दीणं (पा, ब, ला)।
४. °माईसु (ता)।
५. जिसिं° (ब), °सियादी (पा, ला, ब)।
६. अणू° (ता, पा)।
७. °हारं (ला)।
८. जेहिं (ता)।
९. प्रतियों में 'देज्ज से त्थ हीणं' पाठ मिलता है लेकिन यहां 'देज्ज से तत्थ हीणं' पाठ होना चाहिए।

**लुक्खं सीतल साहारणं च खेत्तमहिगं पि सीतम्मि।**
**लुक्खम्मि य हीणतरं, एवं काले वि तिविधम्मि॥ ६६॥**

१८२२. लुक्खं तु णेहरहितं, जं खेत्तं वातपित्तलं वावि।
सीतं बलियं भण्णति, अहव[1] अणूवं भवे सीतं॥

१८२३. साहारणं समं तू, जं ण वि निद्धं ण चेव लुक्खं पि।
एतं तिविधं खेत्तं, दाणं एतेसि वोच्छामि॥

१८२४. इय मेव[2] जीतदाणं, णिद्धे खेत्तेऽहिगं पि देज्जाहि[3]।
साहारण तम्मत्तं, लुक्खे खेत्ते तु हीणतरं॥

१८२५. लुक्खादी तिह खेत्तं, एवेतं वण्णितं समासेणं।
अहुणा तु तिविधकालं, गिम्हादि समासतो वोच्छं॥

**गिम्ह-सिसिर-वासासू[4], देज्जऽट्ठम-दसम[5]-बारसंताइं।**
**णातुं विधिणा णवविहसुतववहारोवदेसेणं॥ ६७॥**

१८२६. गिम्हासु चतुत्थं देज्जा, छट्ठं च हिमागमे।
वासासु अट्ठमं देज्जा, तवो एस जहण्णगो॥

१८२७. गिम्हासु छट्ठं देज्जा, अट्ठमं च हिमागमे।
वासासु दसमं देज्जा, एस मज्झिमगो तवो॥

१८२८. गिम्हासु अट्ठमं देज्जा, दसमं च हिमागमे।
वासासु दुवालसमं, एस उक्कोसतो तवो॥

१८२९. जहासंखेणेसो[6], गिम्हादितवो समासतो होति।
एतं पुण कह देज्जा?, णवविहसुत्तोवदेसेणं॥

१८३०. सुतववहारेणऽहवा, नवभेदविगप्प सुहुम जाणित्ता।
देज्जाहि तिविधकाले, ववहारो सो इमो णवधा॥

१८३१. अहलहुसग लहुसतरो, लहुसो त्ती होति लहुसपक्खम्मि।
अहलहुगो लहुगतरो, लहुगो त्ती लहुगपक्खम्मि॥

---

१. अहवा (पा, ला)।
२. एव (मु), यहां मकार अलाक्षणिक है।
३. देज्जाहिं (पा, ब, ला)।
४. °सासुं (ला)
५. दसमा (ला)।
६. °खेण्णेसो (ला)।

१८३२. गुरुगो गुरुगतरागो, अहगुरुगो एस होति गुरुपक्खे।
णवविधववहारेसो, आवत्ती तेसि वोच्छामि॥

१८३३. पण दस पण्णरसं वा, तिविधेसो होति लहुसपक्खम्मि[1]।
वीसा य पण्णवीसा[2], तीसा वि य लहुगपक्खम्मि[3]॥

१८३४. गुरुमासो चतुमासो[4], छम्मासो चेव होति गुरुपक्खे।
णवविह आवत्तेसा, णवविहदाणं अतो वोच्छं॥

१८३५. णिव्विगतिं पुरिमड्ढं, एक्कासणगं च लहुसपक्खम्मि।
आयंबिलऽभत्तट्ठं, छट्ठं वा होति लहुपक्खे॥

१८३६. अट्ठम दसम दुवालस, गुरुपक्खे एय होति दाणं तु।
आवत्ती तवो एसो, समासतो णवहमक्खातो॥

१८३७. णवविहववहारेसो, लहुसादि समासतो समक्खातो।
पुणरवि ओहेण[5] विभागतो य गुरुमादि वोच्छामि॥

१८३८. गुरुगो गुरुगतरागो, अहागुरूगो व होति ववहारो।
लहुगो लहुगतरागो, 'अहालहू चेव'[6] ववहारो॥

१८३९. लहुसो लहुसतरागो, अहालहूसो य होति ववहारो।
एतेसिं पच्छित्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए[7]॥

१८४०. गुरुगो य होति मासो, गुरुगतरागो 'य होति चतुमासो'[8]।
अहगुरुगो छम्मासो, 'गुरुपक्खे एस'[9] पडिवत्ती॥

१८४१. तीसा[10] य पण्णवीसा[11], वीसा 'वि य होति लहुगपक्खम्मि'[12]।
'पण्णरस[13] दस य पंच य'[14], 'लहुसगपक्खम्मि पडिवत्ती'[15]॥

---

१. °खम्मी (ता, पा, ब, ला)।
२. पणुवी° (पा, ब, ला)।
३. लहुस° (पा, ब, ला)।
४. × (पा)।
५. × (ला)।
६. °लहू होइ (बृ ६०३९), °हूसो य (व्य १०६५)।
७. बृ ६०४०, ६२३६, व्य १०६६, १११८।
८. भवे चउम्मासो (बृ ६०४१, व्य १०६७, १११९)।
९. गुरुगे पक्खम्मि (बृ ६२३७, व्य)।
१०. पा प्रति में इसके संदर्भ में निम्न उल्लेख संस्कृत भाषा में मिलता है–अत्र तीसा य त्ति थूलतायैवोक्तं अन्यथा लघुमासे सार्द्धं सप्तविंशतिरेव दिनानि भवंति (पा)।
११. पण्णु° (ता, पा, ला)।
१२. पण्णरसेव य (व्य १०६८, ११२०)।
१३. पण्णरस (पा, ब, ला)।
१४. दस पंच य दिवसाइं (व्य)।
१५. अहालहुसगम्मि सुद्धो वा (बृ ६०४२)।

१८४२. गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुगतरागं च होति दसमं तु[1]।
अहगुरुगं 'बारसमं, गुरुपक्खे एस'[2] पडिवत्ती॥

१८४३. छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिल एगठाण पुरिमड्ढं।
णिव्वितिगं दातव्वं, 'अहलहुसे अहव'[3] सुद्धो वा॥

१८४४. ववहारो आरोवण, सोधी पच्छित्तमेयमेगट्ठं।
थोवो तु अहालहुसो, पट्ठवणा होति दाणं तु॥

१८४५. ओहेण एस भणितो, एत्तो वोच्छं पुणो विभागेणं।
तिग नव सत्तावीसग[4], एक्कासीती च भेदेणं॥

१८४६. गुरुपक्खो लहुपक्खो, लहुसगपक्खो य तिविध एस भवे।
एक्केक्को पुण[5] तिविधो, उक्कोसादी इमं वोच्छं॥

१८४७. गुरुपक्खे उक्कोसा, मज्झ जहण्णो य एव लहुगे वि।
एमेव लहुसगे वी, उक्कोसो मज्झिम जहण्णो॥

१८४८. गुरुपक्खे छम्मासो, पणमासो चेव होति उक्कोसो।
मज्झिम[6] चतु[7] तेमासो, दुमास गुरुमासिग जहण्णो॥

१८४९. लघुमास भिण्णमासो, वीसा वि य तिविधमेग लहुपक्खे।
पण्णरस दसम पंचग, लहुसुक्कोसादि तिविधेसो॥

१८५०. आवत्तितवो एसो, नवभेदो वण्णितो समासेणं।
अहुणा तु सत्तवीसो, दाणतवो तस्सिमो होति॥

१८५१. गुरु-लहु-लहुसगपक्खे, एक्केक्को नवविधो मुणेतव्वो।
उक्कोसुक्कोसो या, उक्कोसगमज्झिम जहण्णो॥

१८५२. मज्झिमउक्कोसो या, मज्झिममज्झो तहा जहण्णो य।
होति जहण्णुक्कोसो, जहण्णमज्झो दुहजहण्णो[8]॥

१८५३. उक्कोसुक्कोसो या, उक्कोसगमज्झिमो जहण्णो य।
मज्झिमउक्कोसो तू, मज्झिममज्झो जहण्णो य॥

---

१. च (ब)।
२. दुवालसमं, गुरुगे पक्खम्मि (बृ ६०४३, व्य १०६९, ११२१)।
३. अहालहुसगम्मि (बृ ६०४४, ६२४०, व्य १०७०, ११२२)।
४. °वीसा (ला)।
५. पुणो (पा, ला)।
६. मज्झम (पा, ला)।
७. तू (ब, ला, मु)।
८. प्रतियों में इस गाथा के बाद 'गुरुपक्खो' का उल्लेख है।

१८५४. होति जहण्णुक्कोसो, जहण्णमज्झो जहण्णगजहण्णो।
नवविधववहारेसो, लघुपक्खे होति णातव्वो॥

१८५५. उक्कोसुक्कोसो तू, उक्कोसगमज्झिमो जहण्णो य।
मज्झिमउक्कोसो तू, मज्झिममज्झो जहण्णो य॥

१८५६. होति जहण्णुक्कोसो, जहण्णमज्झो जहण्णगजहण्णो।
नवविधववहारेसो, लहुसगपक्खे मुणेतव्वो॥

१८५७. बारसम दसम अट्ठम, छप्पणमासेसु तिविध दाणेदं।
चउ-तेमासे दसमऽट्ठ, छट्ठ उक्कोसगादि तिहा॥

१८५८. एमेवुक्कोसादी, दुमास गुरुमासिगे तिहा दाणं।
अट्ठम छट्ठ चउत्थं, नवविधमेतं तु गुरुपक्खो॥

१८५९. दसमं अट्ठम छट्ठं, लहुमासुक्कोसगादि तिह दाणं।
अट्ठम छट्ठ चउत्थं, उक्कोसादेय तिह भिण्णे॥

१८६०. छट्ठ चउत्थाऽऽयामं, उक्कोसादेय दाण वीसाए।
लहुपक्खम्मी नवगो, बीओ एसो मुणेतव्वो॥

१८६१. अट्ठम छट्ठ चउत्थं, एवुक्कोसादि दाण पण्णरसे।
छट्ठ चउत्थाऽऽयामं, दससू तिविहेत दाण भवे॥

१८६२. खमणाऽऽयामेक्कासण, तिविहोक्कोसादि दाण पणगेतं।
लघुसेस ततियणवगो[1], सत्तावीसेस वासासु॥

१८६३. सिसिरे दसमादी पुण, चारणभेदेण सत्तवीसे य।
ठायति पुरिमड्ढम्मी, अड्ढोक्कंती य तह चेव॥

१८६४. अट्ठममादी गिम्हे, चारणभेदेण सत्तवीसेण[2]।
तह चेव अड्ढक्कंति[3], ठायति णिव्वीतिगे नवरिं॥

१८६५. अहुणा उ चारणा तू, उक्कोसुक्कोसगादि गुरुगादी।
वासासू सिसिरे या, गिम्हे य समासतो वोच्छं॥

---

१. °वगा (ता, पा, ब, ला)।
२. सत्तावी° (ला)।
३. अड्ढोक्कंती (पा, मु)।

१८६६. अहगुरुगे वासासू, उक्कोसुक्कोसगे य बारसमं।
उक्कोसमज्झ दसमं[1], उक्कोसजहण्णमट्ठमगं॥

१८६७. अहगुरुगे सिसिरेसुं, उक्कोसुक्कोसगे य दसमं तु।
उक्कोसमज्झिमऽट्ठम[2], उक्कोसजहण्णगे छट्ठं॥

१८६८. *अहगुरुगे गिम्हासुं, उक्कोसुक्कोसमट्ठमं देज्जा।*
उक्कोसमज्झ छट्ठं, उक्कोसजहण्णग चउत्थं[3]॥

१८६९. गुरुगतरा वासासुं, मज्झिमउक्कोसगे य दसमं तु।
मज्झिममज्झे अट्ठम, मज्झजहण्णेण छट्ठं तु॥

१८७०. गुरुगतरा सिसिरेसुं, मज्झिमउक्कोसमट्ठमं देज्जा।
मज्झिममज्झे छट्ठं, मज्झजहण्णे चउत्थं तु॥

१८७१. गुरुगतरा गिम्हेसुं, मज्झिमउक्कोस देज्ज छट्ठं तु।
मज्झिममज्झ चउत्थं, मज्झजहण्णेण आयामं[4]॥

१८७२. गुरुगे वास जहण्णे, उक्कोसे अट्ठमं तु देज्जाहि।
छट्ठं जहण्णमज्झे, होति चउत्थं दुहजहण्णे॥

१८७३. गुरु 'सिसिरेऽत्थ'[5] जहण्णे, उक्कोसं देज्ज छट्ठभत्तं तु।
जहणगमज्झ चउत्थं, दुहओं जहण्णेण आयामं॥

१८७४. गुरुगे गिम्ह जहण्णे, उक्कोसा देज्ज तू चउत्थं तु।
जहण्णमज्झाऽऽयामं, एक्कासणगं दुहजहण्णे[6]॥

१८७५. लहुगे वासारत्ते, उक्कोसुक्कोसगम्मि दसमं तु।
उक्कोसमज्झिमऽट्ठम, उक्कोसजहण्णगे छट्ठं॥

१८७६. लहुगे उक्कोसुक्कोसगम्मि[7] सिसिरम्मि अट्ठमं देज्जा।
उक्कोसमज्झ छट्ठं, उक्कोसजहण्णग चउत्थं॥

---

१. × (ला)।
२. °अट्ठम (मु)।
३. प्रतियों में इस गाथा के बाद 'अहागुरुपक्खे' का उल्लेख है।
४. छट्ठं तु (पा, ला, मु), इस गाथा के बाद प्रतियों में 'गुरुअतरपक्खे' का उल्लेख है।
५. °सिरत्थ (पा, ला)।
६. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'गुरुपक्खे' शब्द का उल्लेख है।
७. °सतम्मि (पा, ब, ला)।

१८७७. लहुपक्खे उक्कोसे, गिम्हम्मी देज्ज छट्ठभत्तं तु।
मज्झिमगं तु चउत्थं, उक्कोसजहण्णमायामं[1]॥

१८७८. लहुगतरे वासासुं, 'मज्झिमउक्कोसमट्ठमं देज्जा'[2]।
मज्झिममज्झे छट्ठं, मज्झजहण्णेणऽभत्तट्ठं॥

१८७९. लहुगतरा सिसिरेसुं, मज्झिमउक्कोस देज्ज छट्ठं तु।
मज्झिममज्झ चउत्थं, मज्झजहण्णेणमायामं॥

१८८०. लहुगतरा गिम्हेसुं, मज्झिमउक्कोस देज्जऽभत्तट्ठं।
मज्झिममज्झायामं, मज्झजहण्णेण भत्तेक्कं[3]॥

१८८१. अहलहुगा वासासुं, जहण्णउक्कोस छट्ठ देज्जाहि।
मज्झिमगम्मि चउत्थं, जहण्णगजहण्णमायामं॥

१८८२. अहलहुयग सिसिरेसुं, जहण्णउक्कोस देज्जऽभत्तट्ठं।
मज्झिमगे आयामं, जहण्णगजहण्ण भत्तेक्कं॥

१८८३. अहलहुगे गिम्हासुं, जहण्णमुक्कोस[4] देज्ज आयामं।
एक्कासणगं मज्झे, पुरिमड्ढं दुहजहण्णम्मि[5]॥

१८८४. लहुसग वासासुक्कोसगम्मि उक्कोसमट्ठमं देज्जा।
उक्कोसमज्झ छट्ठं, उक्कोसजहण्णगे चउत्थं॥

१८८५. लहुसग सिसिरासुक्कोसगं तु उक्कोस छट्ठ देज्जाहि।
मज्झिमगं तु चउत्थं, उक्कोसजहण्णमायामं॥

१८८६. लहुसग गिम्हासुक्कोसगम्मि उक्कोस देज्जऽभत्तट्ठं।
मज्झिमगं आयामं, उक्कोसजहण्ण भत्तेक्कं[6]॥

१८८७. लहुसतरा वासासुं, मज्झुक्कोसेण छट्ठभत्तं तु।
मज्झिममज्झ चउत्थं, मज्झजहण्णेण आयामं॥

१८८८. लहुसतरा सिसिरासुं, मज्झुक्कोसेण देज्जऽभत्तट्ठं।
मज्झिममज्झायामं, मज्झजहण्णेण भत्तेक्कं॥

---

१. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'लहुयपक्खे' का उल्लेख है।
२. × (पा)।
३. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'लहुयतरपक्खे' का उल्लेख है।
४. °ण्णुक्कोस (पा, ला)।
५. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'अहालहुयपक्खे' का उल्लेख है।
६. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'लहुसपक्खे' का उल्लेख है।

१८८९. लहुसतरा गिम्हेसुं, मज्झुक्कोसेण देज्ज आयामं।
मज्झिममज्झेक्कासण, मज्झजहण्णेण पुरिमड्ढं[1] ॥

१८९०. अहलहुसग वासासुं, जहण्णमुक्कोस देज्जऽभत्तट्ठं।
मज्झिमगं आयामं, भत्तेक्कं दुहजहण्णेणं ॥

१८९१. अहलहुसग सिसिरासुं, जहण्णमुक्कोस देज्ज आयामं।
जहण्णमज्झेक्कासण, जहणजहण्णेण पुरिमड्ढं ॥

१८९२. अहलहुसग गिम्हासुं, जहण्णमुक्कोस देज्ज भत्तेक्कं।
मज्झिमगं पुरिमड्ढं, दुहयो जहण्णेण णिव्विगतिं[2] ॥

१८९३. एतेहिं ठाणेहिं[3], आवत्तीओ सदा.... णियमा[4]।
वोढव्वा सव्वाओ, असहुस्सेक्केक्कहासणया ॥

१८९४. जाव ठितं एक्केक्कं, तं पि य हावेज्ज असहुणो ताहे।
दाउं सट्ठाणेवं, परठाणं देज्ज एमेव ॥

१८९५. एवं ठाणे ठाणे, हेट्ठाहुत्तो कमेण हासेत्ता।
णेतव्वं जाव ठितं, णियमा णिव्वीगियं[5] एक्कं ॥

१८९६. णवविहववहारेसो, आवत्तीदाणसहितकालजुतो।
बुद्धीओ विण्णेओ, विभागतो एसमक्खातो ॥

१८९७. अहव तिमो लहुसादी, तिविधादि समास वित्थरे वोच्छं।
हीणो मज्झुक्कोसो, तिविधेसो होति णातव्वो ॥

१८९८. लहुसगपक्खे पणगं, दस पण्णर तिविध एय णातव्वं।
वीसा य भिण्णमासो, लहुमासो तिविध लहुपक्खे ॥

१८९९. गुरुमासो चतुमासो, छम्मासो चेव एस[6] गुरुपक्खे।
णवविहआवत्तेसा, दाणं णवहा तिमं वोच्छं ॥

१९००. णिव्विगतिय पुरिमड्ढं, एक्कासण लहुसगे य दाणं ति।
आयाम चतुत्थं 'वा, छट्ठं[7]' तू लहुगपक्खम्मि ॥

---

१. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'लहुसतरपक्खे' का उल्लेख है।
२. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'अहालहुसपक्खे' का उल्लेख है।
३. प्रतियों में 'ठाणेहिं' दो बार लिखा हुआ है।
४. गाथा के दूसरे चरण में छंदभंग है। यहां कुछ पाठ का लोप हो गया है, ऐसा संभव लगता है।
५. णिव्विगिय (पा, ब, ला)।
६. एसु (पा, ब, ला)।
७. × (ला)।

१९०१. अट्ठम दसम दुवालस, गुरुपक्खे एय होति दाणं तु।
नवविहदाणं एसो, अहवाऽऽवत्ती इमा णवधा॥

१९०२. पण दस पण्णरसं वा, लहुगुरुगा लहुसगे तु पक्खम्मि।
वीसा य भिण्णमासो, लहु-गुरु लहुगे य मासेक्को॥

१९०३. गुरुमासों दुण्णि मासा, लहुगुरुगा तिग चतुक्क लहुगुरुगा।
पंचग छम्मासा या, लहुगुरुगा एस णवधा तु॥

१९०४. आवत्तितवो एसो, नवभेदो वण्णितो समासेणं।
अहुणा तु सत्तवीसो, दाणतवो तस्सिमो होति॥

१९०५. लहुसग लहुगुरुपक्खो[1], एक्केक्को नवविधो मुणेतव्वो।
दुहओ जहण्ण जहणगमज्झो य[2] जहण्णगुक्कोसो॥

१९०६. मज्झिमजहण्णगं तू, मज्झिममज्झं तु मज्झिमुक्कोसं।
उक्कोसगे जहण्णं, उक्कोसगमज्झ उक्कोसं॥

१९०७. लहुसगपक्खे चेयं, नवभेद समासतो समक्खातं।
लहुपक्खे वि नवविधं, गुरुपक्खे वी मुणेतव्वं॥

१९०८. वासासु अहालहुसो, दुहओ जहणेण देज्ज भत्तेक्कं।
जहणगमज्झायामं, जहण्णगुक्कोसगे चउत्थं॥

१९०९. लहुसतर मज्झिमजहण्णगम्मि वासासु देज्ज[3] आयामं।
मज्झिममज्झे चउत्थं, मज्झिमउक्कोसगे छट्ठं॥

१९१०. लहुसग उक्कोसजहण्णगम्मि वासासु देज्जऽभत्तट्ठं।
उक्कोसमज्झ छट्ठं, उक्कोसुक्कोसमट्ठमगं॥

१९११. अहलहुगे वासासुं, जहणजहण्णे तु देज्ज आयामं।
जहण्णमज्झ चउत्थं, जहण्णउक्कोसगे छट्ठं॥

१९१२. लहुगतरा वासासुं, मज्झजहण्णम्मि हवयऽभत्तट्ठं।
मज्झिममज्झे छट्ठं, मज्झिमउक्कोसमट्ठमगं॥

---

१. °पक्खा (पा)।
२. × (पा, ला)।
३. देज्जा (पा, ला)।

१९१३. लहुगे वासासुक्कोसगम्मि जहणे तु देज्ज छट्ठं तु।
उक्कोसमज्झमट्ठम, उक्कोसुक्कोसगे दसमं॥

१९१४. गुरुपक्खे जहण्णम्मि[1], जहण्ण होती चतुत्थभत्तं तु।
हीणगमज्झे छट्ठं, जहण्णउक्कोसमट्ठमगं॥

१९१५. गुरुगतरा वासासुं, मज्झजहण्णेण देज्ज छट्ठं तु।
मज्झिममज्झं अट्ठम, मज्झिमउक्कोसगे दसमं॥

१९१६. अहगुरुगे वासासुं, उक्कोसजहण्णमट्ठमं देज्जा।
उक्कोसमज्झ दसमं, उक्कोसुक्कोस बारसमं॥

१९१७. अहलहुसग सिसिरेसुं, जहण्णजहण्णेण होति पुरिमड्ढं।
हीणगमज्झेक्कासण, जहण्णउक्कोस आयामं॥

१९१८. लहुसतरा सिसिरेसुं, मज्झजहण्णेण भत्तमेक्कं तू।
मज्झिममज्झाऽऽयामं, मज्झिमउक्कोसगें चतुत्थं॥

१९१९. लहुसग सिसिरुक्कोसे, जहण्ण एतं तु देज्ज आयामं।
मज्झिमगं तु चतुत्थं, उक्कोसुक्कोस छट्ठं तु॥

१९२०. अहलहुसग सिसिरेसुं, दुहा जहण्णेण देज्ज भत्तेक्कं।
जहणगमज्झाऽऽयामं, जहण्णमुक्कोसगें[2] चतुत्थं॥

१९२१. लहुसतरा सिसिरेसुं, मज्झजहण्णेण देज्ज आयामं।
मज्झिममज्झ चतुत्थं, मज्झिम उक्कोसगे छट्ठं॥

१९२२. लहुगे सिसिरुक्कोसे, होति जहण्णं चतुत्थभत्तं तु।
'उक्कोसमज्झ छट्ठं'[3], उक्कोसुक्कोसमट्ठमगं॥

१९२३. गुरुगे सिसिर जहण्णे, जहण्णगेणं तु देज्ज आयामं।
जहणगमज्झ चउत्थं, जहण्णउक्कोसगे छट्ठं॥

१९२४. गुरुगतरा सिसिरेसुं, मज्झजहण्णेण देज्जऽभत्तट्ठं।
मज्झिममज्झे छट्ठं, मज्झिमउक्कोसमट्ठमगं॥

---

१. 'णम्मी (ला)।
२. 'ण्णुक्को' (ब)।
३. × (ला)।

१९२५. अहगुरुगे सिसिरेसुं, उक्कोसजहण्णगेण छट्ठं तु।
उक्कोसमज्झिमऽट्ठम, उक्कोसुक्कोसगे दसमं॥

१९२६. अहलहुसग गिम्हासुं, जहण्णजहणेण होति णिव्विगतिं।
हीणगमज्झे पुरिमं, जहण्णउक्कोस भत्तेक्कं॥

१९२७. लहुसतरा गिम्हेसुं, मज्झजहण्णेण होति पुरिमड्ढं।
मज्झिममज्झेक्कासण, मज्झिमउक्कोसमायामं[1]॥

१९२८. लहुसग गिम्हुक्कोसे[2], जहण्णगे होति भत्तमेक्कं तु।
उक्कोसमज्झ आयंबिलं तु उक्कोसगें चतुत्थं॥

१९२९. अहलहुयग गिम्हेसुं, पुरिमड्ढं होति दुहजहण्णेणं।
मज्झजहण्णेक्कासण, जहण्णउक्कोसमायामं॥

१९३०. लहुगतरा गिम्हेसुं, मज्झजहण्णेण भत्तमेक्कं तु।
मज्झिममज्झाऽऽयामं, मज्झिमउक्कोसगें चतुत्थं॥

१९३१. लहुयग गिम्हुक्कोसे[3], जहण्णगेणं तु होति आयामं।
मज्झिमगं तु चतुत्थं, उक्कोसुक्कोसगे छट्ठं॥

१९३२. गुरुगे गिम्ह जहण्णे, जहण्णगं होति भत्तमेक्कं तु।
हीणगमज्झाऽऽयामं, जहण्णउक्कोसगें[4] चतुत्थं॥

१९३३. गुरुगतरा गिम्हेसुं, मज्झजहण्णेण होति आयामं।
मज्झिममज्झ चतुत्थं, मज्झिमउक्कोसगे छट्ठं॥

१९३४. अहगुरुगे गिम्हासुं, उक्कोसजहण्णगे चतुत्थं तु।
उक्कोसमज्झ छट्ठं, उक्कोसुक्कोसमट्ठमगं॥

१९३५. नवविहववहारेसो, आवत्ती-दाणसहितकालजुतो।
बुद्धीए विण्णेयो, विभागतो एसमक्खातो॥

**हट्ठगिलाणा भावम्मि, देज्ज हट्ठस्स ण तु गिलाणस्स।**
**जावतियं वावि सहति, तं देज्ज सहेज्ज[5] वा कालं॥ ६८॥**

---

१. °कोसेणायामं (पा, ब, ला)।
२, ३. गिम्ह उक्कोसे (ब)।
४. °ण्णुक्को° (ब, ला)।
५. × (ब)।

१९३६. भावं पडुच्च अहिगं, देज्जाही हट्ठ-बलिय-णिरुयस्स।
गिलाणस्स तु ऊणतरं, ण व देज्ज सहेज्ज वा कालं॥

१९३७. असुभ सुभो वा भावो[1], लेस्साभेदेण होति णातव्वो।
तिव्वो 'तिव्वतरो वा'[2], तिव्वतमो एव मंदो वि॥

१९३८. पणगे वि सेवितम्मी, चरिमं भाओ उ केइ पावंति।
चरिमाओ वा पणगं, एवमिणं भावणिप्फण्णं[3]॥

१९३९. पुरिसं पडुच्च अहिगं, ऊणं वा देज्ज अहव तम्मत्तं।
ते पुण पुरिसादीया, इमे समासेण णातव्वा॥

**पुरिसा गीतागीता, सहासहा तह सढासढा केई।**
**परिणामाऽपरिणामा, अतिपरिणामा य वत्थूणं॥ ६९॥**

१९४०. केई पुरिसा गीता, केइ अगीतत्थ होंति णातव्वा।
धिति-संघयणादीहिं, केइ सहा केइ तू असहा॥

१९४१. मायावी होंति सढा, असढा पुण उज्जुपण्ण णेतव्वा।
परिणामादी इणमो, समासतो हं पवक्खामि॥

१९४२. परिणामा ऽपरिणामा[4], अतिपरिणामा य वत्थु चरिमदुगे।
अंबादीदिट्ठंता, होति विभागो इमो तेसिं[5]॥

१९४३. जो दव्वखेत्तकतकालभावओ जं जहा जिणक्खातं।
तं तह सद्दहमाणं, जाणसु परिणामगं साधुं[6]॥

१९४४. जाणति दव्व जहट्ठिय, सच्चित्ताचित्त मीसगं चेव।
कप्पाकप्पं च तहा, जोगं वा जस्स जं होति॥

१९४५. खेत्ते[7] जं कायव्वं, अद्धाणे जतण एव सद्दहति।
काले सुभिक्ख-दुब्भिक्खमादिसू जो जहा कप्पो॥

१९४६. भावे हट्ठगिलाणं, आगाढे जं जहा[8] व कातव्वं।
तं सद्दहति करेति य, एसो परिणामगो साधू॥

---

१. × (पा, ला)।
२. × (ला)।
३. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'भावे त्ति गतं' का उल्लेख है।
४. अप' (ब, मु)।
५. बृ (७९२) में यह गाथा पाठभेद के साथ मिलती है।
६. बृ ७९३।
७. खेत्तं (ब)।
८. × (पा, ला)।

१९४७. जो दव्वखेत्तकतकालभावओ जं जहा जिणक्खातं।
तं तह असद्दहंतं, 'अप्परिणामं वियाणाहि'[1]॥

१९४८. जो दव्वखेत्तकतकालभावओ जं[2] जहा[3] जिणक्खातं।
तल्लेसुस्सुत्तमती, अतिपरिणामं वियाणाहि॥

१९४९. परिणमति[4] जहत्थेणं, मती तु परिणामगस्स कज्जेसु।
बितिए ण तु परिणमती, अहिगमती परिणमे ततिए[5]॥

१९५०. दोसु तु[6] परिणमति मती, उस्सग्गऽववायतो तु पढमस्स।
बितियस्स तु उस्सग्गे, अतिअववाए तु ततियस्स॥

१९५१. अंबादीदिट्ठंतेहिँ, परिक्खा तेसि होति कातव्वा।
जह कोई गुरुहिं तू, भणितो अंबाणि आणेहि[7]॥

१९५२. परिणामगोऽत्थ भणती, किं 'सच्चित्ते अचित्ते वाणेमि?'[8]।
भावियं[9] केवइए वा?, किं टाले? भिण्णऽभिण्णे वा?॥

१९५३. बेति गुरू लद्ध च्चिय, पुणो व वोच्छिसु अहव वीमंसा।
भणितो सि त्ती एवं, अप्परिणामो इमं बेति॥

१९५४. किं ते पित्तपलावो?, मा बितियं एरिसाइँ[10] जंपाहि।
मा णं परे[11] वि सोच्छिंति[12], अहं[13] पि णेच्छामि एयस्स॥

१९५५. अतिपरिणामो भणती[14], कालो सिं अतिच्छए अहो ताव।
किं एच्चिरस्स वुत्तं?, इत्थऽम्ह वि ण तरिमो भणितुं[15]॥

१९५६. घेत्तूण भारमागतो, भणती अण्णे वि किं नु आणेमि?।
तो दो वि गुरू भणती, उवालभंतो इमं तहियं॥

१९५७. णाभिप्पायं गिण्हसि, असमत्ते चेव भाससी[16] वयणे।
सुक्कंबिललोणकए[17], भिण्णे अहवा वि दोच्चंगे[18]॥

---

१. जाण अपरिणामयं साहुं (बृ ७९४)।
२. × (पा)।
३. जहिं (बृ ७९५)।
४. परिणामति (पा, ब)।
५. तितिए (ला), तइओ (बृ ७९६)।
६. वि (बृ ७९७)।
७. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५४।
८. °त्ते चित्ते व आणेमि (मु)।
९. भावतो (मु, ब)।
१०. एरिस्सइं (पा, ला)।
११. पुरो (ब)।
१२. सोच्छिहि (बृ ७९९)।
१३. कहं (पा, बृ)।
१४. भणति (मु, ब)।
१५. तु. बृ ८००।
१६. भाससि (मु, पा)।
१७. सुत्तंबि° (ब, ला)।
१८. बृ ८०१।

१९५८. एमेव य[1] रुक्खे वी, भंजितु आणेह बेति अपरिणतो।
णिप्फावादी रुक्खे, भणामि ण दुमे अहं हरिते॥

१९५९. एमेव य बीयाइं, आणेती आणिते गुरू भणति।
अंबिलि विद्धत्थाणि व, भणामि न वि रोहणि समत्थे[2]॥

**तह धितिसंघयणोभयसंपण्णा तदुभएण हीणा य।**
**आतपरोभयणोभयतरगा 'तह अण्णतरगा'[3] य॥ ७०॥**

१९६०. धितिदुब्बल देहें बली, धितिबलिओ[4] देहदुब्बलो कोइ।
कोई[5] दोहि वि बलिओ, दोहिं पी दुब्बलो कोइ॥

१९६१. दोहि वि बलिए सव्वं, धितिहीणे जत्थ चिट्ठति धिती से।
आसज्ज व देहबलं, देज्जा लहुगं उभयहीणे॥

१९६२. केयी पुरिसा पंचह, आयतरादी इमे उ णातव्वा।
पढमो आयतरो तू, णो परओ परतरे बितिओ[6]॥

१९६३. उभयतरो तू ततिओ, णोभयह चउत्थगो उ णातव्वो।
अण्णतरो परओ तू, पंचमगो होति णातव्वो॥

१९६४. आयतर-परतराणं, को णु विसेसो? त्ति एत्थ चोदेति।
आततरो-चउत्थादी, जं दिज्जति तं तु नित्थरति॥

१९६५. वेयावच्चकरो तू, गच्छस्स उवग्गहम्मि वट्टति तु।
एसो तु होति परतरो, चतुभंगो एव णातव्वो॥

१९६६. वेयावच्चतराणं, एक्कं सक्केति दो न णित्थरति।
पंचमगो तू पुरिसो, अण्णतरो एस णातव्वो॥

**कप्पट्ठियादयो वि य, चतुरो जे सेतरा समक्खाता।**
**सावेक्खेतरभेदादयो य जे ताण पुरिसाणं॥ ७१॥**

---

१. × (पा, ला)।
२. गा. १९५८ और १९५९ के स्थान पर बृ (८०२) में निम्न गाथा मिलती है-
निप्फाव-कोद्दवाईणि बेमि रुक्खाणि न हरिए रुक्खे।
अंबिल विद्धत्थाणि अ, भणामि न विरोहण समत्थे॥
३. अण्णयरतरगा (ता, ब)।
४. °बलीओ (ला)।
५. कोयी (ब)।
६. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'अहवा पंच विकप्पा' का उल्लेख है।

१९६७. कप्पट्ठिता परिणता, कडजोगी चेव होंति तरमाणा।
पडिपक्खेण वि चतुरो, ऽकप्पट्ठियमादि नातव्वा॥

१९६८. पतिट्ठा 'ठवणा ठवणी'[1], ववत्था[2] संठिती ठिती।
अवत्थाणं अवत्था य[3], एगट्ठा चिट्ठणा ति य॥

१९६९. सामाइए य छेदे, णिव्विसमाणे तहेव णिव्विट्ठे।
जिणकप्पे थेरेसु य, छव्विध कप्पट्ठिती होति[4]॥

१९७०. सो पुण ठिति मज्जाया, णासो कप्पो य होति कतिहा उ?।
भण्णति सो दसभेदो, इणमो वोच्छं समासेणं॥

१९७१. आचेलक्कुद्देसिय, सेज्जातर रायपिंड कितिकम्मे।
वत-जेट्ठ पडिक्कमणे, मासं पज्जोसवणकप्पे[5]॥

१९७२. कतिहिं ठिता अठिता वा, सामाइयकप्पसंठिती णियमा?।
कतिठाणपतिट्ठो वा, छेदोवट्ठाणकप्पो उ?॥

१९७३. चतुहिँ ठिता छहिँ अठिता, सामाइयसंजता मुणेतव्वा।
दससु वि णियमा तु ठिता, छेदोवट्ठा मुणेतव्वा॥

१९७४. सेज्जातरपिंडे या, 'कितिकम्मे चेव चाउज्जामे[6] य।
'पुरिसज्जेट्ठे य तहा'[7], चत्तारि अवट्ठिता कप्पा[8]॥

१९७५. आचेलक्कुद्देसिय, 'रायपिंडे तहा पडिक्कमणे'[9]।
मासं पज्जोसवणा, छप्पेतऽणवट्ठिता कप्पा॥

१९७६. दसठाणठितो कप्पो, पुरिमस्स य 'पच्छिमस्स य'[10] जिणस्स।
आचेलक्कादीसुं, तेसिं तु परूवणा इणमो[11]॥

---

१. ठावणा ठाणं (बृ ६३५६)।
२. अवत्था (ब)।
३. या (मु, पा)।
४. बृ ६३५७।
५. बृ ६३६४, पंक १२७१।
६. चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे (बृ ६३६१)।
७. कितिकम्मस्स य करणे (बृ)।
८. राइणिय पुरिसजेट्ठो, चउसु वि एतेसु होति ठितो (पंक १२७३)।
९. सपडिक्कमणे य रायपिंडे य (बृ ६३६२)।
१०. × (पा)।
११. बृ (६३६३) तथा पंक (१२७०) में गाथा का उत्तरार्ध क्रमशः इस प्रकार है—
• एसो धुतरतकप्पो, दसठाणपतिट्ठितो होति।
• कतरे दसठाणा तू, भण्णति आचेलगाइ इमे।

१९७७. दुविधा होंति अचेला, संताचेला असंतचेला य[1]।
तित्थगरऽसंतचेला, संताचेला भवे सेसा॥

१९७८. संतेहिँ वि चेलेहिं, किह पुण समणा अचेलगा होंति?।
भण्णति सुणसू चोदग!, जह संतेहिं अचेला तु॥

१९७९. सीसावेढियपोत्तिं[2], णदिसंतरणम्मि[3] णग्गयं बेंति।
जुण्णेहिं णग्गिय म्हिं, तुर सालिय! देहि मे पोत्तिं[4]॥

१९८०. जुण्णेहिं खंडिएहि य, असव्वतणुपाउएहिं ण य णिच्चं।
संतेहिं वि[5] णिग्गंथा, अचेलगा होंति चेलेहिं[6]॥

१९८१. एवं दुग्गतपहिया, 'वऽचेलगा'[7] होंति ते भवे बुद्धी।
ते खलु असंततीए, धरंति ण तु धम्मसद्धाए[8]॥

१९८२. सति लाभम्मिं साधू, गेण्हंतऽसहट्टणाइँ ताइं तु।
ताणि वि खंडियमादी[9], धरेंति तह धम्मबुद्धीए॥

१९८३. आचेलक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स[10]।
मज्झिमगाण जिणाणं, होति 'सचेलो अचेलो'[11] वा॥

१९८४. पडिमाएँ पाउया वा, णऽतिक्कमंते तु मज्झिमा समणा।
पुरिमचरिमाण अमहद्धणा तु भिण्णाणिमो[12] मोत्तुं॥

१९८५. णिरुवहतलिंगभेदे, णिक्कारणतो ण कप्पते कातुं।
किं पुण तं णिरुवहतं?, भण्णति अहजातलिंगं तु॥

१९८६. जम्मं दुविधं होती, मातूकुच्छिम्मि पढम जं जम्मं।
भवसंसारचउक्के, निप्फिडितो बितिय पव्वज्जं॥

---

१. बृ (६३६५) में इस गाथा का पूर्वार्द्ध एक वचन में है—
दुविहो होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य।
२. सिस्सा° (मु), °यपुत्तं (बृ ६३६६)।
३. णदिउत्तर° (बृ)।
४. पोत्ती (पा, ला, मु)।
५. मि (पा, ला)।
६. बृ ६३६७।
७. अचे° (बृ ६३६८)।
८. धम्मबुद्धीए (बृ)।
९. खंडय° (ब)।
१०. °स्सा (मु)।
११. अचेलो सचेलो (बृ ६३६९)।
१२. भिण्णा इमे (बृ ६३७०)।

१९८७. तस्स इमे भेदा खलु, खंधदुवारे य समण पाउरणे।
गरुलद्धंसे पट्टे, लिंगदुवे या इमा भयणा[1]॥

१९८८. लहुगो लहुगो लहुगा, तिसु चतुगुरुगा य होंति बोद्धव्वा।
गिहिलिंग-अण्णलिंगे, दोसु वि मूलं तु बोद्धव्वं॥

१९८९. कुव्विज्ज कारणे पुण, भेदं लिंगस्सिमेहि कज्जेहिं।
गेलण्ण रोग लोए, सरीरवेयावडियमादी[2]॥

१९९०. आसज्ज खेत्तकप्पं, वासावासे[3] अभाविते असहू।
काले अद्धाणम्मि य, सागरि तेणे य पंगुरणं[4]॥

१९९१. असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे पवादिदुट्ठे[5] वा।
आगाढे अण्णलिंगं, कालक्खेवो व गमणं वा[6]॥

१९९२. संघस्सोह-विभागे, समणा 'समणी य कुल-गणस्सेव'[7]।
कडमिह ठिते ण कप्पति, अट्ठितकप्पे जमुद्दिस्स[8]॥

१९९३. आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि भयणा उ।
'तिक्खुत्तऽडविपवेसे'[9], तियपरियट्टे[10] ततो गहणं[11]॥

१९९४. तित्थंगरपडिकुट्ठो[12], आणा अण्णात उग्गमो ण सुज्झे।
अविमुत्ति अलाघवता, दुल्लभसेज्जा विउच्छेदो[13]॥

१९९५. पुरपच्छिमवज्जेहिं, अवि कम्मं जिणवरेहिं लेसेणं।
वुत्तं[14] विदेहगेहिं, ण य सागरियस्स पिंडो तु[15]॥

---

१. १९८७ एवं १९८८–इन दो गाथाओं के स्थान पर बृ (६३७३) में निम्न गाथा मिलती है—
खंधे दुवार संजति, गरुलद्धंसे य पट्ट लिंगदुवे।
लहुगो लहुगो लहुगा, तिसु चउगुरु दोसु मूलं तु॥
२. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'अहवा इमेहिं कारणेहिं' का उल्लेख है।
३. वासाठाई (मु)।
४. पाउरणं (बृ ६३७१)।
५. व वादि° (बृ ६३७४)।
६. पंकभा १२८४, इस गाथा के बाद प्रतियों में 'अचेल त्ति गतं' का उल्लेख है।
७. °णीण कुल गणे संघे (बृ ६३७६)।
८. पंक १२९६।
९. अडविपवेसे असती (पंक १२९७)।
१०. चउप° (बृ ६३७७)।
११. प्रतियों में इस गाथा के बाद 'उद्देसिय त्ति गतं' का उल्लेख है।
१२. तित्थगरप्प° (ला), तित्थगरपडिक्कुट्ठो (ता)।
१३. य वोच्छेदो (नि ११५९, बृ ३५४०), बृ ६३७८, पंक १२९८, प्रसा ८०६।
१४. भुत्तं (मु, नि ११६०, प्रसा ८०७)।
१५. बृ ३५४१।

१९९६. दुविधे गेलण्णम्मी[1], निमंतणा[2] दव्वदुल्लभे असिवे।
ओमोदरिय-पदोसे, भए व गहणं अणुण्णातं[3]॥

१९९७. तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, चउदिसिं मग्गिऊण[4] कडजोगी।
दव्वस्स य दुल्लभता, 'सागारियसेवणा दव्वे'[5]॥

१९९८. 'केरिसगो तू[6] राया?, भेदा पिंडस्स के व? सिं[7] दोसा?।
केरिसगम्मि व कज्जे, कप्पति काए व जतणाए?॥

१९९९. मुदिते मुद्धऽभिसित्ते, मुदितो जो होति 'जोणिसुद्धो तु'[8]।
अभिसित्तो व परेहिं, सयं व भरहो जहा राया[9]॥

२०००. पढमगभंगे वज्जो, होतुवमा वावि जे भणित[10] दोसा।
सेसेसु 'होतऽपिंडो'[11], जहिं दोसा 'तं विवज्जेज्जा'[12]॥

२००१. असणादीया चतुरो, वत्थे पादे य कंबले चेव।
पाउंछणगे य तधा, अट्ठविधो रायपिंडो तु[13]॥

२००२. अट्ठविधरायपिंडं, अण्णतरागं तु जो पडिग्गाहे।
सो आणा-अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे[14]॥

२००३. ईसर-तलवर-माडंबिएहिं सेट्ठीहिँ सत्थवाहेहिं।
णिंतेहिं अइंतेहि य, वाघातो होति साहुस्स[15]॥

२००४. ईसर भोइयमादी, तलवरपट्टेण तलवरो होति।
वेंटुणबद्धो[16] सेट्ठी, पच्चंतणिवो[17] तु माडंबी॥

२००५. जा णिंतिऽइंति 'ता अच्छतो'[18] तु सुत्तादि-भिक्खपरिहाणी[19]।
इरिया अमंगलं ति य, पेल्लाहणणा इहरहा तु॥

---

१. °णम्मि वि (पंक १३०५), °णम्मिं (बृ ६३७९)।
२. °तणे (बृ)।
३. नि २५३२, पंक १२९९।
४. जोयणम्मि (बृ ६३८०, पंक १३००)।
५. °तिणिसेवणा ताहे (बृ), नि ११७४, इस गाथा के बाद प्रतियों में 'सेज्जायरे त्ति गयं' का उल्लेख है।
६. °सगु ति व (बृ ६३८१)।
७. से (बृ)।
८. जोणितो सुद्धो (नि २४९८)।
९. बृ ६३८२, पंक १३०१।
१०. तहिं (बृ ६३८३, नि)।
११. होति पिंडो (नि २४९९)।
१२. °ज्जंति (नि), ते विवज्जंति (बृ)।
१३. बृ ६३८४, नि २५००।
१४. बृ ६३८५, नि २५०१।
१५. भिक्खुस्स (बृ ६३८६, नि २५०२)।
१६. वेंटण° (नि २५०३), °णवट्टो (मु)।
१७. °तऽहिवो (बृ ६३८७)।
१८. तावऽच्छणे (नि २५०४)।
१९. भिक्खहाणी य (बृ ६३८८)।

२००६. लोभे एसणघातो, संका तेणे 'नपुंस इत्थी य'[१]।
इच्छंतमणिच्छंते, चातुम्मासा भवे गुरुगा[२]॥

२००७. अण्णत्थ एरिसं दुल्लभं, ति गेण्हेज्जऽणेसणिज्जं पि।
अण्णेण वि अवहरिते, संकिज्जति एस तेणो त्ति[३]॥

२००८. संका चारिग चोरे, मूलं 'णिस्संकिते य'[४] अणवट्ठो।
परदारि अहिमरे वा, नवमं णीसंकिते[५] दसमं॥

२००९. अलभंता 'य वियारं'[६], इत्थि-णपुंसा बला वि गेण्हेज्जा।
आयरिय-कुल-गणे वा, संघे 'वा कुज्ज'[७] पत्थारं॥

२०१०. अण्णे वि अत्थि[८] दोसा, 'गोम्मियआइण्णरतणमादी य'[९]।
तण्णीसाएँ पविसे[१०], तिरिक्ख-मणुया भवे दुट्ठा॥

२०११. गोम्मियगहणा हणणा, रण्णो य णिवेइयम्मि जं पावे।
आइण्णरतणमादी[११], सय गेण्हेतरो व तण्णीसा[१२]॥

२०१२. चारियचोराभिमरा, कामी व विसंति तत्थ तण्णीसा।
वारण[१३]-तरच्छ-वग्घा, 'मेच्छा य'[१४] नरा व घातेज्जा॥

२०१३. दुविधे गेलण्णम्मी, निमंतणा दव्वदुल्लभे असिवे।
ओमोदरिय पदोसे, भए व गहणं अणुण्णातं[१५]॥

२०१४. तिक्खुत्तो सक्खेत्ते, चउद्दिसिं मग्गितूण कडजोगी।
दव्वस्स य दुल्लभता, 'जतणाए कप्पती ताहे'[१६]॥

---

१. चरित्तभेदे य (नि २५२३)।
२. बृ ६३८९, नि २५०५।
३. बृ ६३९०, नि २५०६।
४. °कियम्मि (बृ ६३९१)।
५. णिस्सं° (बृ)।
६. पवियारं (बृ ६३९२)।
७. व करेज्ज (बृ)।
८. होंति (बृ ६३९३)।
९. आइण्णे गुम्म रतणमोदीया (बृ)।
१०. पवेसो (बृ)।
११. आदीणर° (पा, ब, ला)।
१२. बृ (६३९४) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—
आइण्णे रतणादी, गेण्हेज्ज सयं परो व तन्निस्सा।
गोम्मियगहणा-ऽऽहणणं, रण्णो व णिवेदिए जं तु॥
१३. वाणर (बृ)।
१४. मिच्छादि (बृ ६३९५, नि २५११)।
१५. पंक १३०५, बृ ६३९६, नि २५३२।
१६. सागारियसेवणा दव्वे (बृ ३५५५), बृ ६३९७, इस गाथा के बाद प्रतियों में 'रायपिंडे त्ति गतं' का उल्लेख है।

२०१५. किंतिकम्मं 'पि य'[1] दुविधं, अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणगं।
समणेहि य समणीहि य, जहारिहं होंति कातव्वं[2]॥

२०१६. सव्वाहिं संजतीहिं, किंतिकम्मं संजताण कातव्वं।
पुरिसुत्तरिओ धम्मो, सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि[3]॥

२०१७. तुच्छत्तणेण गव्वो, जायति ण य संकते परिभवेणं।
अण्णो वि होज्ज दोसो, धियासु[4] माहुज्जहज्जासु[5]॥

२०१८. अवि य हु पुरिसपणीतो, धम्मो पुरिसो य रक्खितुं सत्तो।
लोगविरुद्धं चेयं, तम्हा समणाण कातव्वं[6]॥

२०१९. पंचज्जामो[7] धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं, चातुज्जामो भवे धम्मो[8]॥

२०२०. पुरिमाण दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो।
मज्झिमगाण जिणाणं, सुविसोज्झो सुरणुपालो[9] य[10]॥

२०२१. जड्डत्तणेण हंदी[11], आइक्ख-विभागउवणता दुक्खं।
सुहसम्मुयदंताण[12] य, तितिक्ख अणुसासणा दुक्खं॥

२०२२. मिच्छत्तभावियाणं[13], दुवियड्ढमतीण वामसीलाणं।
'आइक्खितु अतिदुक्खं'[14], उवणेउं वावि दुक्खं तु॥

२०२३. दुक्खेहिं भच्छियाणं[15], तणुधितिअबलत्तयो[16] य दुतितिक्खं।
एमेव दुरणुसासं, माणुक्कडयाय[17] चरिमाणं॥

२०२४. एते चेव य ठाणा, सुपण्णउज्जुत्तणेण[18] मज्झाणं।
सुह-दुहउभयबलाण य, विमिस्सभावा भवे सुगमा[19]॥

---

१. × (ला)।
२. बृ ६३९८, पंक १३३८।
३. बृ ६३९९, पंक १३३९।
४. धियासु (पा, ब, मु)।
५. बृ ६४००।
६. बृ ६४०१, सभी प्रतियों में इस गाथा के बाद 'किइकम्मो त्ति गयं' का उल्लेख है।
७. पंचायामो (बृ ६४०२)।
८. पंक १३४०।
९. सुहणु (पंचा १७/४२)।
१०. तु. उ २३/२७, बृ ६४०३, पंक १३४१।
११. हंदिं (बृ ६४०४)।
१२. °समुदिय° (बृ)।
१३. °त्तगोवि° (मु)।
१४. °क्खिउं विभइउं (बृ ६४०५)।
१५. भत्थिताणं (बृ ६४०६)।
१६. °धितीअ° (पा, ब, ला)।
१७. °डओ य (बृ)।
१८. सुप्पण्णुज्जु° (बृ ६४०७)।
१९. सुहुमा (पा, ब, मु), इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'वए त्ति गयं' पाठ का उल्लेख है।

२०२५. पुव्वतरं सामइयं, जस्स कतं जो वतेसु वा ठवितो।
एस कितिकम्मजेट्ठो, न जाति-सुततो दुपक्खे वि[1]॥

२०२६. सा जेसि तुवट्टवणा[2], जेहि य ठाणेहिं पुरिम-चरिमाणं।
पंचायामे धम्मे, आदेसतिगं चिमं[3] सुणसु[4]॥

२०२७. दस चेव छच्च चतुरो, एते खलु तिण्णि होंति आदेसा।
कतरे हवंति दस तू?, भण्णति सुणसू इमे ते तू[5]॥

२०२८. तओ पारंचिया वुत्ता, 'अणवट्ठा य'[6] तिण्णि तु।
दंसणम्मि य वंतम्मि[7], चरित्तम्मि य केवले॥

२०२९. अदुवा[8] चियत्तकिच्चे, जीवकायं समारभे।
सेहे य दसमे वुत्ते, 'जस्सोवट्ठावणा भवे'[9]॥

२०३०. एते दस तू वुत्ता, अण्णादेसेण होंति छत्तु इमे।
तिण्णि वि पारंचेक्कं, अणवट्ठप्पा[10] वि तिण्णेक्कं॥

२०३१. दंसणवंते ततिए, चरित्तवंते भवे चतुत्थं तु।
पंचम चियत्तकिच्चो, छट्ठो सो होउवट्ठप्पो॥

२०३२. एसो बितियादेसो, ततियादेसो इमो मुणेतव्वो।
चत्तारि[11] उवट्ठप्पा, कतरे तु? इमे मुणेतव्वा॥

२०३३. पारंची अणवट्ठा, दंसण चरणे सुतोपदिट्ठा[12] तु।
दंसण-चरित्तवंता, तो दोण्णेते भवंती तु॥

२०३४. चियत्तकिच्चो सेहो य, चत्तारेते हवंतुवट्ठप्पा।
एते तिण्णादेसा, उवठवणाए मुणेतव्वा॥

२०३५. केवलगहणं[13] कसिणं, जइ वमती दंसणं चरित्तं वा।
तो तस्स उवट्ठवणा, देसे वंतम्मि भयणा तु॥

---

१. वी (बृ ६४०८)।
२. उव° (बृ ६४०९)।
३. च मे (बृ)।
४. सुणह (ब)।
५. गाथाओं के क्रम में बृ में यह गाथा नहीं है।
६. °वट्ठप्पाति (पंक १३४४)।
७. °म्मिं (बृ ६४१०)।
८. अहवा (मु)।
९. जस्स उवट्ठावणा भणिया (बृ ६४११), जस्सुवठावणा भणिता (पंक १३४५)।
१०. °वट्ठा (पा, ला)।
११. चत्तारि व (मु), °रि य (ब)।
१२. °पहिट्ठा (ता, पा, ब, ला)।
१३. °हणा (बृ ६४१५)।

२०३६. एमेव य किंचि पदं, सुतं च असुतं च अप्पदोसेणं।
अविकोविओ कहेंतो, चोदिय *आउट्ट* सुद्धो तु[1]॥

२०३७. सो पुण दंसणवंतो, अणभोगेणं व अहव आभोगा।
अणभोगेणं तहियं, कोयी सड्ढो तु संवेगा॥

२०३८. दट्ठूण णिण्हगे तू, एते साहू जहुत्तकारि त्ति।
णिक्खंतो अणभोगा, दिट्ठो अण्णेहिं साधूहिं॥

२०३९. भणितो य णिण्हगाणं, कीस सगासे तुमं सि निक्खंतो।
तो बेति ण याणामि, एय विसेसं अहं भंते!॥

२०४०. एवमणाभोगेणं, मिच्छत्तगतो पुणो वि सम्मत्तं।
जो पडिवण्णो सो तू, आलोइयणिंदितो सुद्धो॥

२०४१. सो चेव य परियाओ, नत्थि उवट्ठावणा पुणो तस्स।
तं चिय पच्छित्तं से, जं चिय सम्मं तु पडिवज्जे॥

२०४२. जो पुण जाणंतो च्चिय, गतो तु होज्जाहि णिण्हगेसुं तु।
पुणरागतो य सम्मं, तस्स उवट्ठावणा भणिता॥

२०४३. छण्हं जीवनिकायाणं, अणपज्झो तु विराधओ।
आलोइयपडिक्कंतो, सुद्धो हवति संजतो[2]॥

२०४४. छण्हं जीवनिकायाणं, अप्पज्झो तू विराधओ।
आलोइयपडिक्कंतो[3], मूलच्छेज्जं तु कारए[4]॥

२०४५. खेत्तादिअणप्पज्झो, अणभोगेणं व[5] जो गतो मिच्छं।
सो तु अपायच्छित्तो, विराधती तस्स देंतो तु॥

२०४६. जं जो तु समावण्णो, जं पाउग्गं व्व जस्स वत्थुस्स।
तं तस्स तु दातव्वं, 'असरिसदाणा इमं होति'[6]॥

२०४७. अप्पच्छित्ते[7] य पच्छित्तं, पच्छित्ते अतिमत्तया।
धम्मस्साऽऽसायणा तिव्वा, मग्गस्स य विराधणा[8]॥

---

१. बृ ६४१६।
२. बृ ६४१९, पंक १३५४।
३. तिविहेण पडिक्कंते (पंक १३५३)।
४. बृ ६४२०।
५. व्व (ला, पा, ब)।
६. °दाणे इमे दोसा (बृ ६४२१)।
७. अपायच्छित्ते (पंक १३५६)।
८. बृ ६४२२, निभा २८६४।

२०४८. उस्सुत्तं ववहरेंतो, कम्मं बंधति चिक्कणं।
संसारं च पवड्ढेति, मोहणिज्जं व कुव्वती[1]॥

२०४९. 'उम्मग्गदेसए मग्गदूसए मग्गविप्पडीवाए'[2]।
परं मोहेण रंजेंतो, महामोहं पकुव्वती॥

२०५०. एवं तु उवट्ठवितो, जो पढमतरं तु अहव सामइए।
ठवितो सो जेट्ठयरो, कप्पपकप्पट्ठिताणं च[3]॥

२०५१. सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य[4] पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं, कारणजाते पडिक्कमणं[5]॥

२०५२. गमणागमणविहारे[6], सायं पाओ य पुरिम-चरिमाणं।
नियमेण पडिक्कमणं, अतियारो होउ वा मा वा[7]॥

२०५३. अतियारस्स तु असती, नणु होति णिरत्थगं पडिक्कमणं।
भण्णति[8] एवं चोदग!, तत्थ इमं होति णातं तु॥

२०५४. जह कोइ डंडिगो तू, रसायणं कारवेति पुत्तस्स।
तत्थेगो तेगिच्छी, बेती मज्झं तु एरिसगं[9]॥

२०५५. जति[10] दोसे 'होअगतं, अह'[11] दोसो नत्थि तो गतो होति।
बितियस्स हरति[12] दोसं, न गुणं दोसं व तदभावा॥

२०५६. दोसं हंतूण गुणं, करेति गुणमेव दोसरहिते वि[13]।
ततियसमाहिकरस्स तु, रसायणं डंडियसुतस्स[14]॥

२०५७. 'इय सइ दोसं छिंदति'[15], असती दोसम्मि निज्जरं कुणति।
कुसलतिगिच्छरसायण, उवणीतमिणं[16] पडिक्कमणं[17]॥

---

१. बृ ६४२३, पंक १३५७।
२. °सणाए य, मग्गं विप्पडिवातए (बृ ६४२४, पंक १३५८)।
३. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'पुरिसजेट्ठे त्ति गतं' का उल्लेख है।
४. इ (बृ ६४२५)।
५. आवनि ८३६, पंक १३५९, प्रकी ३९८९, प्रसा ६५४, पंचा १७/३२।
६. °वियारे (बृ ६४२६)।
७. पंचा १७/३३।
८. ण भवति (बृ ६४२७)।
९. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५५।
१०. सति (बृ ६४२८)।
११. °गतो जति (बृ)।
१२. हणति (बृ)।
१३. त्ति (पा, मु, ला)।
१४. बृ ६४२९।
१५. जति दोसो तं छिंदति (बृ ६४३०)।
१६. मुवणीयमिदं (बृ)।
१७. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'पडिक्कमणे त्ति गतं' का उल्लेख है।

२०५८. जिणथेरअहालंदे, परिहारिग अज्ज मासकप्पो तु।
खेत्ते कालमुवस्सयपिंडग्गहणे य नाणत्तं[1]॥

२०५९. एतेसिं 'पंचण्ह वि'[2], अण्णोण्णस्सा[3] चतुप्पएहिं तु।
खेत्तादीहि विसेसो, जह तह वोच्छं समासेणं॥

२०६०. नत्थि तु खेत्तं, जिणकप्पियाण उडुबद्ध मासकालो तु।
वासासुं चउमासा, वसधी अममत्तऽपरिकम्मा[4]॥

२०६१. पिंडो तु अलेवकडो, गहणं तू एसणाहुवरिमाहिं।
तत्थ वि कातुमभिग्गह, पंचण्हं अण्णयरियाए[5]॥

२०६२. थेराण अत्थि खेत्तं, तु उग्गहो जाण[6] जोयण सकोसं।
नगरे पुण वसहीए, कालो उडुबद्ध मासो तु॥

२०६३. 'उस्सग्गेण य'[7] भणितो, अववाएणं तु होज्ज अहिगो वि।
एमेव य वासासु वि, चतुमासो होज्ज अहिगो वा[8]॥

२०६४. अममत्त-अपरिकम्मो, उवस्सओ एत्थ 'भंगया चतुरो'[9]।
उस्सग्गेणं पढमो, तिण्णि तु 'अववायओ भंगा'[10]॥

२०६५. भत्तं लेवकडं वा, ऽलेवकडं[11] वा वि ते तु गेण्हंति।
सत्तहि वि[12] एसणाहिं, सावेक्खो गच्छवासो त्ति[13]॥

२०६६. अहलंदियाण गच्छे, अप्पडिबद्धाण जह जिणाणं तु।
नवरं कालविसेसो, उदुमासो[14] पणग चतुमासो॥

२०६७. गच्छे पडिबद्धाणं, अहलंदीणं तु अह पुण विसेसो।
'जो तेसि उग्गहो खलु, सोमोऽऽयरियाण'[15] आहवति॥

---

१. पंक २५५०।
२. °ण्हं (ला)।
३. °स्स उ (पंक २५५१)।
४. पंक २५५२।
५. पंक २५५३।
६. जाव (पंक २५५४)।
७. °गेणं (पंक २५५५)।
८. वि (पंक)।
९. भंग चउरो उ (पंक २५५६)।
१०. सेसाववादेणं (पंक)।
११. अले° (पा, ला, मु)।
१२. व (पा, मु)।
१३. पंक २५५७।
१४. उडुवासे (पंक २५५८), उउवासे (प्रसा ६१५)।
१५. उग्गहो जो तेसिं तू सो° (पंक २५५९), उग्गह जो तेसिं तु सो आयरि° (प्रसा ६१६)।

२०६८. एगवसहीएँ पणगं, छव्वीहीओ य[1] गामें कुव्वंति।
दिवसे दिवसे अण्णं, अडंति 'वीहिं तु'[2] नियमेणं॥

२०६९. परिहारविसुद्धीणं, जहेव जिणकप्पियाण नवरं तु।
आयंबिलं तु भत्तं, 'बोद्धव्वो थेरकप्पो तु'[3]॥

२०७०. अज्जाण परिग्गहिताण उग्गहो जो तु सो हु[4] आयरिए।
काले[5] दो दो मासा, उदुबद्धे तासि कप्पो तु[6]॥

२०७१. सेसं जह थेराणं, पिंडो य उवस्सयो य तह तासिं।
सो सव्वो वि य दुविधो[7], जिणकप्पो थेरकप्पो य[8]॥

२०७२. जिणकप्पियऽहालंदी, परिहारविसुद्धियाण जिणकप्पो।
थेराण अज्जियाण[9] य, बोद्धव्वो थेरकप्पो तु॥

२०७३. दुविहो उ[10] मासकप्पो, जिणकप्पो चेव थेरकप्पो य।
णिरणुग्गहो जिणाणं, थेराण अणुग्गहपवत्तो[11]॥

२०७४. उदुवासकाल[12]ऽतीते, जिणकप्पीणं तु गुरुग गुरुगा य।
होंति दिणम्मि दिणम्मी, थेराणं ते च्चिय लहू तु॥

२०७५. तीसं पदाऽवराहे, पुट्ठो अणुवासियं अणुवसंतो।
जे जत्थ[13] पदे दोसा, ते तत्थ ततो समावण्णो[14]॥

२०७६. पण्णरसुग्गमदोसा, दस एसणदोस एते[15] पणुवीसं।
संजोयणाइ पंच य, एते तीसं तु अवराहा[16]॥

२०७७. एतेहिं दोसेहिं, 'ऽसंपत्तीए वि लग्गती नियमा'[17]।
दिवसे दिवसे सो ऊ[18], कालातीते[19] वसंतो तु॥

---

१. व (पंक)।
२. वीहीं (मु), वीहीइ (पंक २५६०), वीहीसु (प्रसा ६१७)।
३. गेण्हंती वासकप्पं च (पंक २५६१)।
४. तु (पंक)।
५. कालतो (मु, ब)।
६. पंक २५६२।
७. × (ला)।
८. यं (ला), पंक २५६३।
९. अज्जाण (पंक २५६४)।
१०. य (ब, पंक २५६५)।
११. बृ (६४३१) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
एक्केक्को वि य दुविहो,अट्ठियकप्पो य ठियकप्पो।
१२. उडुवा° (पंक २५६६)।
१३. तत्थ (मु)।
१४. पंक २५६७।
१५. एय (ला)।
१६. पंक २५६८।
१७. जदि असंपत्ति लग्गती तह वि (पंक २५६९)।
१८. खलु (पंक)।
१९. काल अतीते (पा, ला)।

२०७८. वासावासपमाणं, आयारउदुप्पमाणितं[1] कप्पं।
एतं अणुम्मुयंतो, जाणसु अणुवासकप्पो[2] तु॥

२०७९. आयारपकप्पम्मी, जह भणितं तीय संवसंतो वि।
होति अणुवासकप्पो, तह संवसमाण दोसा तु[3]॥

२०८०. दुविधे विहारकाले, वासावासे तहेव उदुबद्धे[4]।
'मासातीतेऽणुवधी'[5], वासातीते भवे उवधी॥

२०८१. उडुबद्धिगेसु[6] अट्ठसु, 'तीतेसुं वास तत्थ ण वि'[7] कप्पे।
घेत्तूणं उवहिं खलु, वासातीतेसु[8] कप्पति तु[9]॥

२०८२. वासउदुअहालंदे, इत्तिरिसाहारणोग्गहपुहत्ते[10]।
संकमणट्ठा दव्वे, गच्छे पुप्फावकिण्णा तु[11]॥

२०८३. वासासु चउम्मासो, उदुबद्धे मासो लंद पंच दिणा।
इत्तिरिओ रुक्खमूलें, वीसमणट्ठा ठिताणं तु[12]॥

२०८४. साहारणा तु एते, समट्ठिताणं[13] बहूण गच्छाणं।
एक्केण परिग्गहिता, सव्वे वोहत्तिया[14] होंति॥

२०८५. 'संकमणऽण्णोण्णस्सा'[15], सगासे जइ तु ते अहीयंते।
सुत्तत्थतदुभयाइं, सव्वो[16] अहवा वि पडिपुच्छे॥

२०८६. ते पुण मंडलियाए, आवलियाए व तं तु गिण्हेज्जा।
मंडलियमहिज्जंते, सच्चित्तादी तु जो लाभो[17]॥

---

१. आयारे उ प्पमा' (पंक २५७०), आयारे से भाष्यकार का तात्पर्य निशीथ अथवा निशीथभाष्य से है।
२. °कप्पं (पंक)।
३. पंक २५७१।
४. उडु° (पंक २५७२)।
५. मास अती° (पा, ला), °ते अणुवहि (ब, पंक)।
६. उव्वट्टिएसु (ता, पा, ला)।
७. मासातीतेसुं तत्थ वास ण तु (पंक २५७३)।
८. वासासु तु तीते (मु, पा)।
९. त्ति (ब)।
१०. °रणे पुहुत्ते य (पंक)।
११. पंक (२५७४) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है — उग्गह संकमणं वा, अण्णोण्णसकासऽहिज्जंते।
१२. पंक २५७५।
१३. समगठि° (मु, ब)।
१४. वोहित्तिया (पंक २५७६)।
१५. °णण्णमण्णस्स (पंक २५७७)।
१६. संघे (पंक)।
१७. पंक २५७८।

२०८७. सो तु परंपरएणं, संकमती[1] ताव जाव सट्ठाणं।
जहियं पुण आवलिया, तहियं पुण 'ठाति अंतम्मि'[2]॥

२०८८. ते पुण 'जहा तु'[3] एक्काए, वसहीए अहव पुप्फकिण्णा तु।
अहवा वि तु संकमणे, दव्वस्सिणमो विधी अण्णो॥

२०८९. सुत्तत्थतदुभयविसारयाण थोवे य संततीभेदे।
'संकमणट्ठा दव्वे, जोगे कप्पे य आवलिया'[4]॥

२०९०. पुव्वट्ठिताण खेत्ते, जदि आगच्छेज्ज अण्ण आयरिओ।
बहुसुत बहुआगमितो, तस्स सगासम्मि जइ खेत्ती[5]॥

२०९१. किंचि अहिज्जेज्जाही, थोवं खेत्तं च तं जदि[6] हवेज्जा।
ताहे असंथरंता[7], दोण्णि वि साधू विवज्जेंति[8]॥

२०९२. अण्णोण्णस्स सगासे, तेसिं पि य तत्थऽहिज्जमाणाणं।
आभवणा तह चेव य, जह भणितमणंतरे सुत्ते[9]॥

२०९३. एवं णिव्वाघाते, मास चतुम्मासिओ तु थेराणं।
कप्पो[10] कारणतो पुण, अणुवासो कारणं जाव[11]॥

२०९४. एसो तु मासकप्पो, थेरकप्पो य वण्णिओघेणं।
अहुणा ठितमठितं तू, थेराणं इणमु वोच्छामि॥

२०९५. सो थेरकप्पों दुविहो, अट्ठितकप्पो य होति ठितकप्पो।
एमेव जिणाणं पी, ठितमठितो होति कप्पो तु[12]॥

२०९६. पज्जोसवणाकप्पो, होति ठितो अट्ठितो य थेराणं।
एमेव जिणाणं पी, 'दुह ठितमठितो य णातव्वो'[13]॥

२०९७. चातुम्मासुक्कोसे, सत्तरि राइंदिया जहण्णेणं।
ठितमट्ठितमेगतरे[14], कारणवच्चासितऽण्णतरे[15]॥

---

१. संकामति (पंक २५७९)।
२. अंतरे ठाति (पंक)।
३. ठित (पंक २५८०)।
४. संकमणदव्व मंडलि, आवलिया कप्पअणुवासा (पंक २५८१)।
५. पंक २५८२।
६. तह ति (ब)।
७. असंवरंता (पा, ब, ला)।
८. विसज्जेंति (पंक २५८३)।
९. पंक २५८४।
१०. कप्पा (ता)।
११. पंक २५८५।
१२. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'मासकप्पे त्ति गतं' का उल्लेख है।
१३. कप्पो ठितमट्ठितो होति (बृ ६४३२, पंक १३६१)।
१४. 'एग' (पा, ला, मु)।
१५. बृ ६४३३, पंक १३६२।

२०९८. थेराण सत्तरी खलु, वासासु ठितो उडुम्मि मासो तु।
वच्चासितो तु कज्जे, जिणाण णियमट्ठ चतुरो वा[1]॥

२०९९. दोसासति[2] मज्झिमगा, अच्छंती जाव पुव्वकोडी तु[3]।
विहरंति[4] य वासासु वि, अकद्दमे पाणरहिते य॥

२१००. भिण्णं पि मासकप्पं, करेंति तणुगं पि कारणं पप्प।
जिणकप्पिया वि एवं, एमेव 'महाविदेहे वि'[5]॥

२१०१. एतं[6] ठितम्मि मेरं, अट्ठितकप्पे य जो पमादेति।
सो वट्टति पासत्थे, ठाणम्मि 'तगम्मि वज्जेज्जा'[7]॥

२१०२. पासत्थसंकिलिट्ठं, ठाणं जिणवुत्तं थेरेहि य।
तारिसं तु गवेसंतो, सो विहारे ण सुज्झति[8]॥

२१०३. पासत्थसंकिलिट्ठं, ठाणं जिणवुत्तं थेरेहि य।
तारिसं तु विवज्जंतो, सो विहारे 'तु सुज्झति'[9]॥

२१०४. जो कप्पठितीमेतं[10], सद्दहमाणो करेति सद्धाणे।
तारिसं तु गवेसेज्जा, जतो गुणाणं अपरिहाणी[11]॥

२१०५. ठितमठितम्मि[12] दसविधे, ठवणाकप्पे य दुविधमण्णतरे।
उत्तरगुणकप्पम्मि[13] य, जो सरिकप्पो स संभोगो[14]॥

२१०६. ठवणाकप्पो दुविधो, अकप्पठवणा य सेहठवणा य।
पढमो अकप्पिएणं[15], आहारादी ण गिण्हावे[16]॥

२१०७. अट्ठारसेव पुरिसे, वीसं इत्थीउ[17] दस नपुंसे य।
दिक्खेति जो न एते, सेहट्ठवणाएँ सो कप्पो[18]॥

---

१. य (बृ ६४३४)।
२. दोसा असति (ता, ब, ला)।
३. वि (बृ ६४३५)।
४. विचरंति (बृ)।
५. °हेसु (बृ ६४३६)।
६. एवं (बृ ६४३७)।
७. तगं विव° (बृ)।
८. बृ ६४३८।
९. विसु° (बृ ६४३९)।
१०. °ठितिं एयं (बृ ६४४०)।
११. ण परि° (बृ)।
१२. ठियकप्पम्मि (बृ ६४४१), ठितिकप्पम्मि (नि २१४९)।
१३. °प्पं ति (ब)।
१४. सरिसो उ (नि ५९३२)।
१५. अकल्पिकेन अनधीतपिण्डैषणादिसूत्रार्थेन (बृभाटी)।
१६. बृ ६४४२।
१७. इत्थीण (मु, पा)।
१८. बृ ६४४३।

२१०८. आहार-उवधि-सेज्जा, उग्गमउप्पादणेसणासुद्धं।
जो परिगिण्हति णियतं, उत्तरगुणकप्पिओ स खलु[1]॥

२१०९. सरिकप्पे सरिछंदे, तुल्लचरित्ते विसिट्ठतरगे वा।
'साधूहिं संथवं कुज्जा'[2], णाणीहिं चरित्तगुत्तेहिं[3]॥

२११०. सरिकप्पे सरिछंदे, तुल्लचरित्ते विसिट्ठतरगे वा।
आदेज्ज भत्तपाणं, सएण लाभेण वा तुस्से[4]॥

२१११. इय सामाइयछेदे, जिणथेराणं ठिती समक्खाता।
एत्तो णिव्विसमाणे, णिव्विट्ठे यावि वोच्छामि॥

२११२. परिहारकप्पं वोच्छामि[5], परिहरंति[6] जहा विदू।
आदी मज्झऽवसाणे य, आणुपुव्विं जहक्कमं॥

२११३. भरहेरवयवासेसु, जदा तित्थगरा भवे।
पुरिमा पच्छिमा चेव, 'परिहारी तेसु होंति तु'[7]॥

२११४. मज्झिमाण न संती तु, तित्थेसुं परिहारिया।
न यावि य विदेहेसु, विज्जंती परिहारिया[8]॥

२११५. केवतियकालसंजोगो[9], गच्छो तु[10] अणुसज्जती।
तित्थंकरेसु पुरिमेसु, तहा पच्छिमगेसु य॥

२११६. पुव्वसतसहस्साइं, पुरिमस्सऽणुसज्जती।
जम्हा ण पडिवज्जंति, दोण्ह गच्छा परेण तु[11]॥

२११७. देसूणपुव्वकोडीओ, दो सा दोण्ह भवंति तु।
दो सा एगूणतीसा तु, तेण ऊणा ततो भवे॥

२११८. वीसग्गसो य वासाइं, चरिमस्सऽणुसज्जते।
जाव देसूणगा दोण्णि[12], सया वासाण होंति तु॥

---

१. बृ ६४४४।
२. कुव्वे संथव तेहिं (नि २१४७)।
३. बृ ६४४५, पंक १५१०।
४. बृ ६४४६, पंक १५०९, नि २१४८।
५. पवक्खामि (बृ ६४४७)।
६. °हरितव्वं (पा, ला, मु)।
७. कप्पं देसेंति ते इमं (बृ ६४४८)।
८. °हारीया (ता, पा, ला)।
९. °इयं कालसंजोगं (बृ ६४४९)।
१०. तू (मु, ब)।
११. बृ (६४५०) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
वीसग्गसो य वासाइं, पच्छिमस्साणुसज्जती।
१२. दोण्णिं (मु)।

२११९. पव्वज्जा अट्ठवासस्स, उवट्ठा नवमम्मि उ।
एगूणवीसपरियाए, दिट्ठिवादो य तस्स तु[1]॥

२१२०. उद्दिस्सति वरिसेण य, तस्स य सो तु समप्पती।
नव वीसा य मेलीणा, ऊणतीसा भवंति तु॥

२१२१. इति एगूणतीसाए, सयमूणं तु पच्छिमे।
एसो दोसु तु एतेणं, ऊणाइं दो सताणि य[2]॥

२१२२. पालइत्ता सयं ऊणं, ठाणं ते तु पच्छिमे।
काले देसेंति अण्णेसिं, इति ऊणा उ बे सता॥

२१२३. पडिवज्जंति[3] जिणिंदस्स, पादमूलम्मि जे विदू।
ठावयंती[4] उ ते अण्णे, नो तु ठावितठावगा॥

२१२४. सव्वे चरित्तमंता य, दंसणे परिणिट्ठिता।
नवपुव्वी[5] जहण्णेणं, उक्कोस दसपुव्विगा॥

२१२५. पंचविधे ववहारे, कप्पे ते दुविधम्मि य।
दसविधे य पच्छित्ते, सव्वे ते परिणिट्ठिता[6]॥

२१२६. अत्तणो[7] आउगं सेसं, जाणित्ता ते महामुणी।
परक्कमं बलं[8] विरियं, पच्चवाए तहेव य॥

२१२७. जइ जीतपच्चवाया, ण होंति तेसिं तु अण्णतरा।
तो तं पडिवज्जंती, वाघातेणं तु तेण वी[9]॥

---

१. गा. २११९ से लेकर २१२२ तक की चार गाथाओं के स्थान पर बृ (६४५१, ६४५२) में दो गाथाएं हैं।
२. उ (पा, ला, मु)।
३. पडिवण्णा (बृ ६४५३)।
४. °यंते (ता, ब, ला), °यंति (बृ)।
५. °पुव्विया (बृ ६४५४)।
६. बृ ६४५५; ता प्रति में यह गाथा नहीं है।
७. अप्पणो (बृ ६४५६)।
८. घ बल (ता, बृ)।
९. इस गाथा के बाद प्रतियों में निम्न गद्यांश मिलता है—
पडिवज्जंते वीसग्गसो कहं देसूणा दो सया भवंति? वीसाए पेरेण वि एयमग्गं, पव्वज्जा सिलोगा ३ वाससयाउगा मणुस्सा जम्मातो, सेसं तहेव सव्वं तत्थ जे उसभसामिस्स तित्थे पुव्वसतसहस्सा ते देसूणा दो पुव्वकोडी भवंति। कहं? अट्ठवासपरियातो, सिलोगा ३। ते पुव्वकोडिआऊगा मणुस्सा जम्माओ ८ पव्वइता, २९ वासाए दिट्ठिवाओ व समप्पति, सो उसभसामिकालपडिवण्णो, एसा एगा पुव्वकोडी देसूणा। एयस्स मूले एवं च अण्णो पडिवज्जति तस्स वि समप्पती णव वीसा य मेलीणा कुणती सा भवे देसूणाओ दो पुव्वकोडीओ। एतस्स अण्णा मूले ण पडिवज्जंति। उसभसामिस्स आउयं ८४ (लक्खपुव्वाणि)।

२१२८. आपुच्छिऊण अरहंते, मग्गं देसेंति ते इमं।
पमाणाणि य सव्वाणि, 'ऽभिग्गहे'[१] य बहूविहे'[२]॥

२१२९. गणोवहिपमाणाइं[३], पुरिसाणं च जाणि तु।
दव्वं खेत्तं च कालं च, 'भावं अण्णे'[४] य पज्जवे॥

२१३०. संसट्ठमाइयाणं, सत्तण्हं एसणाण तु।
आदिल्लाहिं दोहिं तु, अग्गहो गह पंचहिं॥

२१३१. तत्थ वि अण्णतरीए, एगीएँ अभिग्गहं तु काऊणं।
उवहिणो[५] अग्गहो दोसुं, इतरो एगतरीय तु॥

२१३२. अइरुग्गयम्मि सूरे[६], कप्पं देसेंति ते इमं।
आलोइय-पडिक्कंता, ठावयंति तओ गणे[७]॥

२१३३. सत्तावीसं जहण्णेणं, उक्कोसेणं सहस्ससो।
णिग्गंथसूरा भगवंतो, सव्वग्गेणं वियाहिया[८]॥

२१३४. सयग्गसो य उक्कोसा, जहण्णेण तओ गणा।
गणो य नवगो वुत्तो, एमेता पडिवत्तिओ[९]॥

२१३५. एगं कप्पट्ठियं कुज्जा, चत्तारि पारिहारिगा।
अणुपारिहारिगा चेव, चतुरो तेसि[१०] ठावए[११]॥

२१३६. ण तेसिं जायते[१२] विग्घं, जा मासा दस अट्ठ य।
ण वेदणा ण वाऽऽतंको, 'ण वा'[१३] अण्णे उवद्दवा॥

२१३७. अट्ठारससु पुण्णेसु, होज्ज एते उवद्दवा।
ऊणिए ऊणिए यावि, गणे मेरा इमा[१४] भवे[१५]॥

---

१. मग्गहे (पा, ला)।
२. अभिग्गहे य बहुविहे (बृ ६४५७)।
३. उवहीगणपमाणाणि (ता, पा, ब, ला), यहां हमने बृहत्कल्पभाष्य के पाठ को मूल में रखा है।
४. भावमण्णे (बृ ६४५८)।
५. °हिणा (ला)।
६. सूरम्मि (ता, पा, ब)।
७. बृ ६४६०।
८. बृ ६४६१।
९. °वत्तीओ (पा, ला, मु), बृ ६४६२।
१०. एतेसि (मु, ब), तेसिं (बृ)।
११. बृ ६४६३।
१२. जायती (बृ ६४६४)।
१३. णेव (बृ)।
१४. इमे (ता, ला, ब)।
१५. बृ ६४६५।

२१३८. जत्तिएण गणो ऊणो, तत्तिए तत्थ पक्खिवे।
एगं दुवे अणेगा वा, एस कप्पे तु ऊणिए॥

२१३९. एते अणूणिए कप्पे, उवसंपज्जति जो तहिं।
एगे दुवे अणेगा वा, तेसिं कप्पो इमो भवे॥

२१४०. अच्छंति ता उ दिक्खंता, जाव पुण्णा तु ते नव।
पच्छा तु पडिवज्जंति, जं कप्पं तेसि अंतिए॥

२१४१. पमाण कप्पट्ठितो तत्थ, ववहारं ववहरित्तए।
अणुपरिहारियाणं पि, पमाणं होति 'सेव तु'[1]॥

२१४२. आलोयण कप्पठिते, पच्चक्खाणं तहेव वंदणगं।
तं च वहंते ते तू, उज्जाणी एव मण्णंति॥

२१४३. अणुपरिहारी गोवालगव्व गावीण णिच्चमुज्जुत्ता।
परिहारियाण मग्गतो, हिंडंती णिच्चमुज्जुत्ता॥

२१४४. पडिपुच्छं वायणं चेव, मोत्तूणं नत्थि संकहा।
आलावो अत्तणिद्देसो, परिहारिस्स कारणे[2]॥

२१४५. परिहारियाण उ तवो, वासासुक्कोस मज्झिम जहण्णो।
बारसम दसम अट्ठम, दसमऽट्ठम छट्ठ सिसिरेसु[3]॥

२१४६. अट्ठम छट्ठ[4] चउत्थं, गिम्हे उक्कोस मज्झिम जहण्णो।
आयंबिलपारणगं, अभिगहिता[5] एसणाए तु॥

२१४७. अणुपरिहारीया पुण, निच्चं पारिंति ते उ आयामे।
कप्पट्ठिते वि ते च्चिय, आणिंति अभिग्गहीताहिं॥

२१४८. परिहारिय पत्तेयं, अणुपरिहारीण तह य कप्पठिते।
पंचण्ह वि तेसिं तू, संभोगेक्को मुणेतव्वो॥

२१४९. परिहारिएसु वूढे, अणुपरिहारी ततो वहंती तु।
कप्पट्ठितो य पच्छा, वहती वूढेसु तेसुं तु॥

---

१. से विऊ (बृ ६४६९)।
२. बृ ६४७१।
३. गा. २१४५ और २१४६ के स्थान पर बृ (६४७२) में निम्न गाथा मिलती है-
बारस दसऽट्ठ दस अट्ठ छच्च अट्ठेव छच्च चउरो य।
उक्कोस-मज्झिम-जहण्णगा उ वासा सिसिर गिम्हे॥
४. छच्च (ला)।
५. अभिग्ग° (ला, पा)।

२१५०. परिहारिगा वि छम्मासे, अणुपरिहारिगा वि छम्मासे।
कप्पट्ठितो वि छम्मासे, एते अट्ठारस तु मासा[1]॥

२१५१. अणुपरिहारिगा चेव, जे य ते परिहारिगा।
अण्णमण्णेसु ठाणेसु, अविरुद्धा भवंति ते[2]॥

२१५२. गतेहिं छहिँ मासेहिं, णिव्विट्ठा भवंति ते।
अणुपरिहारिगा पच्छा, परिहारं परिहरंति तु[3]॥

२१५३. गतेहिं छहिं मासेहिं, णिव्विट्ठा भवंति ते।
वहती कप्पट्ठितो पच्छा, परिहारं अहाविहिं[4]॥

२१५४. एतेसिं जे वहंती, णिव्विसमाणा हवंति ते नियमा।
जेहिं वूढं पुण तेसिं, हवंति[5] णिव्विट्ठकाइया॥

२१५५. अट्ठारसेहिं मासेहिं, कप्पो होति समाणितो।
मूलट्ठवणा एसा, समासेण वियाहिता[6]॥

२१५६. एवं समाणिए कप्पे, जे तेसिं जिणकप्पिया।
तमेव कप्पं ऊणा वि, पालए जावजीवियं[7]॥

२१५७. अट्ठारसेहिं पुण्णेहिं, मासेहिं थेरकप्पिया।
पुणो[8] गच्छं णियच्छंति, एसा तेसिं जहाविधी[9]॥

२१५८. ततिय चउत्था कप्पा, समोयरंते[10] तु बितियकप्पम्मि।
पंचमछट्ठितीसुं, हेट्ठिल्लाणं समोतारे[11]॥

२१५९. अहुणा जिणकप्पठिती, सा पुव्वं मासकप्पसुत्तम्मि।
भणिता स च्चेव इहं, नवरमसुण्णत्थ भणित[12] इमं॥

---

१. बृ ६४७४।
२. बृ ६४७५।
३. गाथा का उत्तरार्ध बृ (६४७६) में इस प्रकार है—
ततो पच्छा ववहारं, पट्ठवंति अणुपरिहारिया।
४. तहाविहं (बृ ६४७७)।
५. गाथा के उत्तरार्ध में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है। छंद के अनुसार 'हवंति' के स्थान पर 'होंति' पाठ होना चाहिए।
६. गाथा का उत्तरार्ध बृ (६४७८) में इस प्रकार है—
मूलट्ठवणाएँ समं, छम्मासा तु अणूणगा।
७. बृ ६४७९।
८. पुण (मु, ब)।
९. अहाठिती (बृ ६४८०)।
१०. °रंति (बृ ६४८१)।
११. इस गाथा के बाद प्रतियों में निम्न गद्यांश मिलता है—
सामा छेदो णिव्विस, णिव्विट्ठ एते जिण-थेरे ओयरंति।
१२. भणति (पा, ब)।

२१६०. *गच्छम्मि य णिम्माया, 'धीरा जाहे य मुणितपरमत्था'*[१]।
अग्गह 'अभिग्गहे या'[२], उवेंति जिणकप्पिगविहारं[३]॥

२१६१. नवपुव्वि जहण्णेणं, उक्कोसेणं तु दस असंपुण्णा।
चोद्दसपुव्वी तित्थं, तेण तु जिणकप्प ण पवज्जे[४]॥

२१६२. वइरोसभसंघतणा, सुत्तस्सऽत्थो तु होति परमत्थो।
संसारसभावो[५] वा, णातो तो मुणितपरमत्थो[६]॥

२१६३. 'अग्गहो ततियादीया'[७], पडिमाहिं गहण भत्तपाणस्स।
दोहिं तु उवरिमाहिं, गेण्हंती वत्थपायाइं॥

२१६४. 'दव्वं अभिग्गहा'[८] पुण, रतणावलिमादिगादि बोद्धव्वा।
एतेसु विदितभावो, उवेंति जिणकप्पियविहारं॥

२१६५. दुविधा अतिसेसा वि य, तेसि इमे वण्णिता समासेणं।
बाहिर अब्भिंतरगा, तेसि विसेसं पवक्खामि[९]॥

२१६६. बाहिरओं सरीरस्सा, अतिसेसो तेसिमो तु बोद्धव्वो।
अच्छिद्दपाणिपादा, वइरोसभसंघतण धीरा[१०]॥

२१६७. वग्गुलिपक्खसरिसगं, पाणितलं तेसि धीरपुरिसाणं।
होति खओवसमेणं, लद्धी तेसिं इमाऽऽहंसु॥

२१६८. माएज्ज घडसहस्सं, धारेज्ज व सो तु सागरा सव्वे।
जो एरिसलद्धीए, सो पाणिपडिग्गही होति॥

२१६९. अब्भिंतरअतिसेसो[११], इमो उ तेसिं समासतो भणितो।
उदही विव अक्खोभा, सूरो इव तेयसा जुत्ता॥

२१७०. अव्वावण्णसरीरा, व[१२] गंधा ण होति से सरीरस्स।
खतमवि ण कुच्छ तेसिं[१३], परिकम्मं ण वि य कुव्वंति॥

---

१. थेरा जे मुणितसव्वप° (पंक १३६४)।
२. जोग अभिग्गहे (बृ ६४८३)।
३. °वियारं (ला), °प्पियचरित्तं (बृ)।
४. पंक १३६५।
५. °रसंभओ (पा, ब, ला)।
६. पंक १३६६।
७. दोहग्गह ततियादी (पंक १३६७)।
८. दव्वादभि° (पंक १३६८)।
९. पंक १४४५।
१०. धीरो (ला); पंक १४४६।
११. °तरमति° (पंक १४४७)।
१२. वइ (ब, पंक १४४८)।
१३. तेसि (ला)।

२१७१. 'पाणिपडिग्गहिता तू'[1], एरिसगा णियमसो मुणेतव्वा।
अतिसेसे वोच्छामि, अण्णे वि विसेसतो[2] तेसिं॥

२१७२. दुविहो 'तेसऽतिसेसो'[3], णाणातिसयो तहेव सारीरो।
णाणातिसयो ओही, मणपज्जव तदुभयं चेव॥

२१७३. 'अहवाऽऽभिणिबोहीयं'[4], सुतणाणं चेव णाणअतिसेसो।
तिवलीअभिण्णवच्चा, एसो सारीरअतिसेसो[5]॥

२१७४. रयहरणं मुहपोत्ती, जहण्णमुक्गरण पाणिपत्तस्स।
उक्कोसं कप्पतिगं, सव्वो वि य एस पंचविधो[6]॥

२१७५. 'पडिगहधारि जहण्णो, नवधा उक्कोस बारसविकप्पो'[7]।
तेसिं 'एताणिं च्चिय'[8], अतिरेगे पायणिज्जोगो॥

२१७६. रूढणह णियणमुंडो, दुविधो उवधी जहण्णगो तेसिं।
एसो लिंगो तेसिं, णिव्वाघातेण णेतव्वो॥

२१७७. रयहरणं मुहपोत्ती, संखेवेणं तु दुविध उवधी तु।
वाघात विगतलिंगे, 'अरिसासु व होति'[9] कडिपट्टो॥

२१७८. सत्त य पडिग्गहम्मी, रयहरणं चेव होति मुहपोत्ती।
एसो तु नवविकप्पो, उवधी पत्तेयबुद्धाणं[10]॥

२१७९. एगो तित्थगराणं, णिक्खममाणाण होति उवधी तु।
तेण पर णिरुवधी तू, जावज्जीवाएँ तित्थगरा[11]॥

२१८०. एसा जिणकप्पठिती, ठाणासुण्णत्थया समक्खाता।
वित्थरतो पुण णेया, जह भणितं मासकप्पम्मि[12]॥

२१८१. अहुणा थेरठिती[13] तू, सा वि य भणिता तु पुव्वमेवं तु।
दारमसुण्णत्थमियं, नवरं संखेवतो वोच्छं॥

---

१. °ग्गहधारी (पंक १४४९)।
२. समासतो (पंक)।
३. अतिसेस तेसिं (पंक १४५०)।
४. आभिणिबोहियणाणं (पंक १४५१)।
५. °रीरमति° (पंक)।
६. तु. पंक १४५२।
७. णवहा पडिग्गहीणं, जहण्णमुक्कोस होति बारसहा (पंक १४५३)।
८. वेयाणिं दिय (पंक)।
९. अरिस पमेहे (पंक १४४४)।
१०. पंक १४८३।
११. पंक १४८४।
१२. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'णिज्जुत्तीए' शब्द का उल्लेख है।
१३. थेरथिती (मु)।

२१८२. संजमकरणुज्जोया[1], णिप्फादग णाण-दंसण-चरित्ते।
'दीहो य'[2] वुड्ढवासो, वसहीदोसेहि य विमुक्को॥

२१८३. दीहो त्ति वुड्ढवासो, थेरा ण तरंति जाहे कातुं जे।
अब्भुज्जतमरणं वा, अहवा अब्भुज्जतविहारं॥

२१८४. दीहं च आउगं तू, वुड्ढावासं[3] तयो वसे।
उग्गमादीहिं दोसेहिं, विप्पमुक्काएँ वसहीए॥

२१८५. मोत्तुं जिणकप्पठितिं, जा मेरा एस वण्णिता हेट्ठा।
एसा तु दुपदजुत्ता, होति ठिती थेरकप्पम्मि[4]॥

२१८६. दुपदं ती उस्सग्गो, अववादो चेव होंति दोण्णेते।
एतेहिं[5] होति जुत्तो, नियमा खलु थेरकप्पो तु॥

२१८७. पलंबाउ[6] जाव ठिती, उस्सग्गऽववाइयं करेमाणो।
अववादे उस्सग्गं, आसायण दीहसंसारो॥

२१८८. अह उस्सग्गेऽववायं, आयरमाणो विराधगो होति।
अववादे पुण पत्ते, उस्सग्गणिसेवगो भइओ॥

२१८९. कह होती भइयव्वो?, संघतणधितीजुतो[7] समग्गो तु।
एरिसगो अववाए, उस्सग्गणिसेवगो सुद्धो॥

२१९०. इतरो उ[8] विराहेती, असमत्थो जेण परिसहे सहितुं।
धितिसंघतणेहिं तू, एगतरेणं व सो हीणो॥

२१९१. इति सामाइयमादी, छव्विह कप्पट्ठिती समक्खाता।
विरियं दारं अहुणा, इणमो वोच्छं समासेणं॥

२१९२. परिणत गीतत्था तू, विपक्खभूता अपरिणता होंति।
कडजोगी ऽकयजोगी, चतुत्थमादीहिं णातव्वा॥

२१९३. अकडज्जोगा ऽजोग्गवियचतुत्थादीहिं होंति णातव्वा।
धितिसंघयणादीहिं, तरमाणा होंति णातव्वा॥

---

१. °ज्जोवा (बृ ६४८५, ता, ब)।
२. दीहाउ (बृ)।
३. वूढावा° (ता, ब, ला)।
४. °कप्पस्स (बृ ६४८६)।
५. एतेण (ब)।
६. °बादी (बृ ६४८७)।
७. °धितिजुत्तो (पा)।
८. अ (ब)।

२१९४. धितिसंघयणेणं तू, एगतरजुता उ होंति अतरा उ।
अहवा दोहि विजुत्ता, अतरगपुरिसा मुणेतव्वा॥

**जो जह सत्तो बहुतरगुणो व[1] तस्साहियं पि देज्जाहि।**
**'हीणस्स हीणतरगं'[2], झोसेज्ज व सव्वहीणस्स॥७२॥**

२१९५. कप्पट्ठितमादीणं, पुरिसाणं जाव उभयहा अतरो।
जो जह सत्तो उ भवे[3], तस्स तहा होति दातव्वं॥

२१९६. बहुतरगुणसमगो तू, धितिसंघतणादि जो तु संपण्णो।
परिणत कडजोगी वा, अहवा वि हवेज्ज उभयतरो॥

२१९७. एयगुणसमग्गस्स तु, जीयमया अहियगं पि देज्जाहि।
हीणस्स तु हीणतरं, मुंचेज्ज व सव्वहीणस्स॥

**'एत्थ पुण बहुतरा'[4] भिक्खुणो त्ति अकयकरणाणभिगता य।**
**जंतेण जीतमट्ठमभत्तंतमविगतिमादीयं[5]॥७३॥**

२१९८. एत्थं इमम्मि जीते, बहुतरगा भिक्खुणो भवंती तु।
अकतकरणा उ जे तू, अणभिगता चेव णातव्वा॥

२१९९. चस्सद्देण थिराथिर, गहिता तू एत्थ तू समासेणं।
जंतयविधीकमेणं, जीताभिमतेण देज्जाहि॥

२२००. **'कतकरण अकतकरणा'[6]**, कतकरणा गच्छवासि इतरे य।
अकतकरणा तु नियमा, णातव्वा गच्छवासी तु॥

२२०१. ते अभिगत अणभिगता, अणभिगता थिरऽथिरा व होज्जाहि।
कत अभिगत जं सेवे, अणभिगते अत्थिरे इच्छा॥

२२०२. अहवा णिरवेक्खितरा, दुविधा पुरिसा समासतो होंति।
निरवेक्खा जिणमादी, ते णियमा होंति कतकरणा॥

२२०३. सावेक्खा होंति तिहा, आयरिय उवज्झ[7] भिक्खुणो चेव।
कतकरणमकतकरणा, आयरिया चेवुवज्झाया[8]॥

---

१. व्व (पा, मु)।
२. हीणतरे हीणतरं (ता, पा, मु)।
३. भवं (ता, पा, ब)।
४. एत्थं पुण बहुतर (ला)।
५. °त्तं णिव्विगादीयं (ला)।
६. °रणाकत° (ला)।
७. उवज्झि (ला)।
८. चेव उव° (ब)।

२२०४. भिक्खू गीताऽगीता, गीतत्थ थिराऽथिरा य बोद्धव्वा।
कतकरण अकतकरणा, एक्केक्का होंति ते दुविधा॥

२२०५. अगीता वि थिराऽथिर, कताऽकता चेव होंति एक्केक्का।
कतकरण अकतकरणा, केरिसगा होंति? सुणसु इमे॥

२२०६. छट्ठऽट्ठमादिएहिं, कतकरणा ते तु उभयपरियाए[1]।
अभिगतकतकरणत्तं, 'जं जोग तवारिहा'[2] केई॥

२२०७. निरवेक्खा एगविहा, सावेक्खाणं तु किं निमित्तेणं।
तिविधो भेदो तु कतो, आयरियादी? इमं सुणसु॥

२२०८. भण्णति जुवरायादी, वत्थुविसेसेण दंडो जह लोगे।
तह वत्थुविसेसेणं, आयरियादीण आरुवणा॥

२२०९. आयरिय-उवज्झाया, दोण्णि वि णियमेण होंति गीतत्था।
गीतत्थमगीतत्था, भिक्खू पुण होंति णातव्वा॥

२२१०. कारणमकारणं वा, जतणाऽजतणा व 'णत्थऽगीतत्थे'[3]।
एतेण कारणेणं, आयरियादी 'तिविध भेदो'[4]॥

२२११. कज्जाऽकज्ज[5] जताऽजत, अविजाणंतो अगीतो जं सेवे।
सो होति तस्स दप्पो, गीते[6] दप्पाऽजते दोसा[7]॥

२२१२. अविसिट्ठा आवत्ती, चरिमं सव्वेसि तेण सावेक्खो।
चरिमं चिय कतकरणे, आयरिए अकत अणवट्ठो॥

२२१३. कतकरणउवज्झाए, अणवट्ठो होति मूलमकतम्मि।
भिक्खूगीतथिरम्मी, कतकरणे मूलमेव भवे॥

२२१४. अकतथिरम्मी छेदो, अत्थिरकतकरणे होति सो च्चेव।
अत्थिरअकते छग्गुरु, अगीतथिरकरण ते चेव॥

२२१५. अग्गीत थिरे[8] अकते, छल्लहुगा होंति तू[9] मुणेतव्वा।
अग्गीतअथिरकतकरण छल्लहू[10] चउगुरू अकते॥

---

१. °रियारा (नि)।
२. जोगा य तवारिहा (नि ६६५२), जोगायतगारिहा (व्य १६२, ६०७)।
३. नत्थि गी° (व्य ६१३)।
४. भवे तिविहा (नि ६६५३, व्य १७०)।
५. कज्जमकज्ज (नि ६६५४)।
६. गीत (ला)।
७. व्य १७१, ६१४।
८. थेर (ता)।
९. तु (ला)।
१०. °लहु (ला)।

२२१६. एसाऽऽदेसो एक्को, अयमण्णो बितियओ तु आदेसो।
चरिमं चिय आवण्णे, कतकरणगुरुम्मि अणवट्ठो॥

२२१७. अकतकरणम्मि मूलं, मूलमुवज्झाएँ होति कतकरणे।
अकतकरणम्मि छेदो, इय[1] णेयं अड्ढुकंतीए[2]॥

२२१८. एमेव य अणवट्ठं, आवण्णे होंति दोण्णि आदेसा।
निरवेक्खो ण भणितेत्थ[3], जं दोण्णि ण होंति तस्सेते॥

२२१९. अहुणा मूलावण्णो, सव्वे मूलं तु होति निरवेक्खे।
मूलं चेव गुरुस्स वि, कतकरणे अकत छेदो तु॥

२२२०. कतकरणउवज्झाए, छेदे अकतम्मि होंति छग्गुरुगा।
इय अड्ढोक्कंतीए, णेयं अयमण्ण आदेसो॥

२२२१. सावेक्खो त्ति व काउं, गुरुस्स कडजोगिणो भवे छेदो।
अकतकरणम्मि छग्गुरु, 'कतकरण उवज्झे छग्गुरुगा'[4]॥

२२२२. अकते छल्लहुगा तू, इय अड्ढोकंतिए तु णातव्वं।
अहुणा छग्गुरुगे तू, आढत्तं ठाति गुरु भिण्णे॥

२२२३. छल्लहुगाढत्तम्मी, ठायति लहुगो तु भिण्णमासम्मि।
चतुगुरुआढत्तम्मी, अन्नम्मी ठाति गुरुवीसे[5]॥

२२२४. चतुलहुगे वीसाए, 'गुरुमासे ठाति पण्णरसहिं तु'[6]।
लहुगे लहुपण्णरसे, गुरुभिण्णे ठाति गुरुदसहिं॥

२२२५. लहुभिण्णे दसलहुगे, गुरुवीसा अंतें ठाति गुरुपणगे।
लहुवीसा आढत्तं, अंतम्मी ठाति लहुपणगे॥

२२२६. पण्णरसहिं गुरुगेहिं, अंतम्मी अट्ठमम्मि ठायति तु।
पण्णरसहिं लहुगेहिं, अंतम्मी ठति छट्ठम्मि॥

२२२७. दसगुरुगे आढत्तं, अंतम्मी ठायती चतुत्थम्मि।
दसलहुगे आढत्ते, ठायति तू अंतें आयामे॥

---

१. अयं (ला)।
२. अड्ढ (ब)।
३. भणिएत्थं (पा, ब, ला)।
४. इति अड्ढोकंतिए नेयं (व्य १६७)।
अड्ढोक्कंतीए णेयव्वं (नि ६६५७)।
५. गुरुमीसे (ता)।
६. इस पाठ के स्थान पर सभी प्रतियों में 'गुरुमासे ठाति गुरुग पण्णरसे' इति प्रत्यन्तरे का उल्लेख है।

२२२८. गुरुपणगे आढत्ते, एक्कासणगम्मि अंतें ठायति तू।
लहुपणगे आढत्ते, अंतम्मी[1] ठाति पुरिमड्ढे॥

२२२९. अट्ठमभत्ताऽऽढत्तं, अंतम्मी ठायती य निव्विगती।
जंतविहीपत्थारो, समासतो एसमक्खातो॥

२२३०. एतं तु अजतणाए, सावेक्खाणं तु होति पच्छित्तं।
अह गीतत्थो सेवे, कारण जतणाएँ तो सुद्धो॥

२२३१. एतं[2] तु कारणम्मी, जतणासेविस्स वण्णितं दाणं।
अहवा वि इमं अण्णं, आयरियादी जहाकमसो॥

२२३२. आयरिय उवज्झाए, कतकरणे अकतकरण दुविधा तु।
भिक्खुम्मि अभिगते या, अणभिगते चेव दुविधो तु॥

२२३३. अभिगत कत अकते या, अणभिगतें थिरे तहेव अथिरे य।
थिर कतकरणे अकते, अथिरे कतकरणमकते य॥

२२३४. एते सव्वेऽवेगं, आवत्ती पंचराइगाऽऽवण्णा।
तं पणगं अविसिट्ठं, चतुत्थमादीहिं विण्णेयं॥

२२३५. आयरिए कतकरणे, तं चिय पणगं तु होति दातव्वं।
अकतकरणे चउत्थं, कतकरणे उवज्झि तं चेव॥

२२३६. अकतम्मी आयामं, भिक्खुम्मी अभिगतम्मि कतकरणे।
आयामं दातव्वं, अकतकरणे[3] उ भत्तेक्कं॥

२२३७. भिक्खुम्मी[4] अणभिगते, थिरकतकरणे य एगभत्तं तु।
अकतम्मी पुरिमड्ढं, अणभिगते अत्थिरें कतम्मि॥

२२३८. पुरिमड्ढो च्चिय नियमा, अत्थिरअकतम्मि[5] होति निव्विगतिं।
अहवाऽणभिगत अथिरे[6], इच्छाए तं च अण्णं वा॥

२२३९. एमेव य दसरायं, सव्वे आवण्णमेगमावत्ति[7]।
कतकरणे आयरिए, दसरायं चेव दातव्वं॥

---

१. अंतम्मिं (पा, ला)।
२. एवं (ला)।
३. छंद की दृष्टि से यहां 'अकतक्करणे' पाठ होना चाहिए।
४. °म्मिं (पा, ब, ला)।
५. अथिर° (ब)।
६. अत्थिरे (पा, ब, ला)।
७. °वत्ती (ला)।

२२४०. अकतकरणम्मि पणगं, कतकरणे पणगमेवुवज्झाए।
अकतकरणे चतुत्थं, एवं तू अड्डुकंतीए[1] ॥

२२४१. ता णेतव्व कमेणं, जाव उ अंतम्मि होति पुरिमड्ढं।
इय पण्णरसाऽऽरद्धं, ठायति एक्कासणगमंते ॥

२२४२. वीसाऽऽरद्धं ठायति, आयामे भिण्णमासऽभत्तट्ठे[2]।
मासाऽऽरद्धं पणगे, दुमास दसराएँ ठायति तु ॥

२२४३. तेमासे पण्णरसे, चतुमासे ठाति वीसरायम्मि।
पणमासे पणुवीसे, छम्मासे मासिगे ठाति ॥

२२४४. छेदो दोमासीए, मूलो तेमासियम्मि ठायति तु।
अणवट्ठे चतुमासे, 'पारंचिइए तु पणमासे'[3] ॥

२२४५. एते भणिता लहुगा, सव्वे वि तवारिहा समासेणं।
एमेव य गुरुगा वी, णेतव्वा अड्डुकंतीए ॥

२२४६. एमेव य मीसा वी, अड्डुक्कंतीएँ होंति णेतव्वा।
एमेव पंचपंचहिँ, मासादी सातिरेगादी ॥

२२४७. जा छम्मासा णेया, तत्थ वि उग्घात तह अणुग्घाता।
मीसा वि य णेतव्वा, अड्डोक्कंतीएँ सव्वत्थ ॥

२२४८. अहवा वी णिव्विगती, पुरिमेक्कासण तहेव आयामं।
तत्तो चतुत्थ पणगं, दस पण्णर वीस पणुवीसा ॥

२२४९. मासो लघु गुरु चतु छच्च, लघु गुरु च्छेद मूल अणवट्ठो।
पारंचिए य तत्तो, पणगादीहासण तहेव ॥

२२५०. लहु गुरुग मीसगा वि य, तहेव एत्थं पि होंति णातव्वा।
एवं एयं दाणं, बुद्धीए होति विण्णेयं ॥

२२५१. एमेव य समणीणं, नवरं दुगवज्जितं तु कातव्वं।
अणवट्ठो पारंची, एय दुगं नत्थि समणीणं ॥

२२५२. अहवा पुरिसा दुविधा, समासतो होंतिमे तु णातव्वा।
एगविहारी य तहा, गणबद्धविहारिणो चेव ॥

---

१. अड्डं (ब)।
२. °त्तट्ठे (ता)।
३. × (पा)।

२२५३. गच्छाहि णिग्गता जे, पडिमापडिवण्णगा य जिणकप्पी।
जे यावि सयंबुद्धा, इय एगविहारिणो तिविधा॥

२२५४. ते णिच्चमप्पमत्ता, जइ आवज्जे कहंचि कम्मुदया।
तक्खणमेव तु तं पट्ठवेंति णियमा य सक्खी वा॥

२२५५. संघतणधितिसमग्गा[1], सत्ताहिट्ठियमहंतजोगधरा।
सुबहुं पि हु आवण्णा, वहंति णिरणुग्गहं सव्वं[2]॥

२२५६. आलोयणोवयुत्ता[3], ते तू आलोयणाएँ सुज्झंति।
तेसिं जाव तु मूलं, करेंति सयमेव सुज्झंति॥

२२५७. अणिगूहितबल-विरिया, जहवादीकारगा य ते धीरा।
उत्तमसद्धसमण्णागता य सुज्झंति[4] ते नियमा॥

२२५८. गणपडिबद्धा दुविधा, जिणपडिरूवी य होंति थेरा य।
जिणपडिरूवी दुविधा, 'विसुद्धपरिहारऽहालंदी'[5]॥

२२५९. ते णिच्चमप्पमत्ता, जइ आवज्जे कहंचि कम्मुदया।
तक्खणमेव हु तं पट्ठवेंति कप्पट्ठियसगासे॥

२२६०. संघतणधितिसमग्गा, सत्ताहिट्ठियमहंतजोगधरा।
सुबहुं पि हु आवण्णा, वहंति णिरणुग्गहं धीरा॥

२२६१. अट्ठविधा पट्ठवणा, तेसिं आलोयणाइ मूलंता।
तं पट्ठवेत्तु धीरा, सुज्झंति विसुज्झचारित्ता॥

२२६२. थेरा वि विसुद्धतरा, तेसु वि जइ केइ किंचि आवज्जे।
तक्खणमेव हु तं पट्ठवेंति नियमा गुरुसगासे॥

२२६३. एत्थ य पट्ठवणं पति, आयरिओ विहिमिणं अजाणंतो।
लंछेति य अप्पाणं, तं पि य सीसं ण सोधेति॥

२२६४. पुरिसे त्ति गतं दारं, इमं तु पडिसेवणं पवक्खामि।
सा पुण चतुहा सेवण[6], आउट्टियमादिमाहंसु॥

---

१. संघयण (पा)।
२. गा. २२५५ से २२५७ तक की गाथाएं ता प्रति में नहीं हैं।
३. 'लोवणो' (पा, ब, ला)।
४. सुज्झति (ला)।
५. 'र अहा' (ता)।
६. सेवणा (ता, मु)।

**आउट्टियाय दप्पप्पमादकप्पेहिं वा निसेवेज्जा।**
**दव्वं खेत्तं कालं, भावं वाऽऽसेवगो पुरिसो॥ ७४॥**

२२६५. आउट्टिया उवेच्चा, दप्पो पुण होति वग्गणादीओ।
कंदप्पादि पमादो, अहव कसायादिओ णेओ॥

२२६६. कसाय विकहा वियडे, इंदिय णिद्दप्पमाद पंचविधे।
एस पमादो भणितो, कप्पं तु इमं पवक्खामि॥

२२६७. गीतत्थो कडजोगी, उवउत्तो जयणजुत्तो सेवेज्जा।
गाहापच्छद्धस्स तु, इणमो तु समासतो वोच्छं॥

२२६८. दव्वं आहारादी, खेत्तं अद्धाणमादि णातव्वं।
कालो ओमादीओ, हट्ठगिलाणादि भावो तु॥

**जं जीतदाणमुत्तं, एयं पायं पमायसहितस्स।**
**एत्तो च्चिय ठाणंतरमेगं वड्ढेज्ज दप्पवओ॥ ७५॥**

२२६९. जं जीतदाण भणितं, णिव्वीतियमादि[1] अट्ठमं अंते।
ततियपडिसेवणाए, पमादसहितस्स एतं तु॥

२२७०. दप्पपडिसेवणाए, पुरिमड्ढादी तु होति दातव्वं।
अंते दसमं देज्जा, आउट्टीए तु वोच्छामि॥

**आउट्टियाएँ ठाणंतरं व सट्ठाणमेव वा देज्जा।**
**'कप्पेण पडिक्कमणं'[2], तदुभयमहवा विणिद्दिट्ठं॥ ७६॥**

२२७१. आउट्टियावराहे, एक्कासणमादि अंतें बारसमं।
पाणतिवातऽवराहे, सट्ठाणं होति मूलं तु[3]॥

२२७२. कप्पेण उ सेवाए, तह सुद्धो अहव[4] मिच्छकारं तु।
अहवा तदुभयमुत्तं, आलोय पडिक्कमाहि त्ति[5]॥

**आलोयणकालम्मि व[6], संकेस विसोहि भावतो णातुं।**
**हीणं वा अहिगं वा, तम्मत्तं वावि देज्जाहि॥ ७७॥**

---

१. णिव्विति (ता, पा, ब, ला)।
२. कप्पेणं पडिक (पा, ला)।
३. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'आउट्टिय त्ति गतं' का उल्लेख है।
४. अहवा (पा, ला)।
५. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'कप्पपडिसेवणा गता' का उल्लेख है।
६. वि (ला, पा)।

२२७३. आलोयणकालम्मि व, गूहति अहवा वि कुंचती किंची।
सो संकिलिट्ठचित्तो, तस्सऽहिगं देज्ज ऊणं वा॥

२२७४. जो पुण आलोएंतो, काले संवेगमुवगतो जो उ।
णिंदण-गरहादीहिं, विसुद्धचित्तो तु तस्सऽप्पं॥

२२७५. जो पुण आलोएंतो, न वि गूहति ण वि य निंदते जो तु।
सो मज्झिमपरिणामो, तस्स उ देज्जाहि तम्मत्तं॥

**७८. इति[1] दव्वादिबहुगुणे, गुरुसेवाए य बहुतरं देज्जा।**
**हीणतरे हीणतरं, हीणतरे जाव 'झोसो त्ति'[2]॥ ७८॥**

२२७६. इति एस दव्व खेत्ते, काले भावेसु बहुगुणेसू[3] तु।
गुरुसेवा तु पहाणा, एतेसुं बहुतरं देज्जा॥

२२७७. हीणतरे हीणतरं, ति देज्ज[4] दव्वादिमादिहीणेहिं।
तह तह हीणं देज्जा, झोसेज्ज व सव्वहीणस्स॥

**झोसिज्जति सुबहुं पि हु, जीतेणऽण्णं तवारिहं[5] वहओ।**
**वेयावच्चकरस्स य, दिज्जति साणुग्गहतरं वा॥ ७९॥**

२२७८. झोसण[6] खवणा मुंचण, एगट्ठा तं तु मुच्चते कस्स?।
अण्ण वच्चंतु वहंतें, जह पट्ठविते उ छम्मासे॥

२२७९. पंचदिणेहिं गतेहिं, पुणरवि जइ सो उ अण्णमावज्जे।
तो से तं तहिँ छुब्भति, एवं झवणा तु तस्स भवे॥

२२८०. वेयावच्च करेंतो, जइ आवज्जति तु किंचि अण्णतरं।
तावइयं से दिज्जति, जं णित्थरती तु सो वोढुं॥

२२८१. कालं ठावितु दिक्खे, णित्थिण्णे तं तु[7] काहिती[8] सो तुं[9]।
एय तवारिह भणितं, अहुणा छेदारिहं वोच्छं॥

**तवगव्वितो तवस्स य, असमत्थो तवमसहहंतो य।**
**तवसा य जो ण दम्मति, अतिपरिणामप्पसंगी य[10]॥ ८०॥**

---

१. इय (ला)।
२. झोसो ति (ता, ब)।
३. णेसु (ला)।
४. देज्जा (पा, ब, ला)।
५. तदारिहं (पा, ला)।
६. सोसण (ता, ब, ला)।
७. × (ता)।
८. काहीति (ला)।
९. तुं (पा, ला), तू (ता, ब)।
१०. या (ला)।

**सुबहुत्तरगुणभंसी[1], छेदावत्तिसु पसज्जमाणो य।**
**पासत्थादी जो वि य, जतीण पडितप्पितो बहुसो॥८१॥**

**उक्कोसं तवभूमिं[2], समतीतो सावसेसचरणो य।**
**छेदं पणगादीयं, पावति जा धरति परियाओ॥८२॥**

२२८२. तवबलिओ देह तवं, अहं समत्थो त्ति गव्वितो एस।
तवअसमत्थ गिलाणो, बालादी अहव असमत्थो॥

२२८३. जो उ ण सद्दहति तवं, अहवा वी जो तवेण ण वि दम्मे।
अतिपरिणामो जो तू, पुणो पुणो सेवति पसंगी॥

२२८४. उत्तरगुण बहुगा तू, पिंडविसोहादिगा उ णेगविधा।
भंसेति विणासेती, पुणो पुणो जो तु ताइं तु॥

२२८५. छेदावत्तीओ वा, पकरेति पसज्जती य जो तेसुं।
अहुणा पासत्थादी, आदीसद्देणिमाहंसु॥

२२८६. पासत्थोसण्णो वा, कुसील-संसत्त अहव णीओ वा।
वेयावच्चकराइण, जतीण पडितप्पितो बहुसो॥

२२८७. उक्कोसा तवभूमी, आदिजिणिंदस्स होति वरिसं तु।
मज्झिमगाण जिणाणं, अट्ठ उ मासा भवे भूमी॥

२२८८. चरिमस्स जिणिंदस्सा, उक्कोसा भूमि होति छम्मासा।
एतं तू उक्कोसं, समतीओ चरणसेसो य॥

२२८९. एव जहुद्दिट्ठाणं, तवगव्वितमादियाण सव्वेसिं।
छेदं पणगादीयं, देज्जा जा धरति परियाओ[3]॥

**आउट्टियाय पंचिंदियघाते मेहुणे य दप्पेणं।**
**सेसेसुक्कोसाभिक्खसेवणादीसु[4] तीसुं पि॥८३॥**

२२९०. आउट्टि उवेच्चा तू, पंचिंदि वहेति मिहुण दप्पेणं।
सेस वय मुसाऽदिन्नं[5], परिग्गहो चेव णातव्वो॥

---

१. °हुतरगुणब्भंसी (मु), सुबहुउत्त° (ला)।
२. °भूमी (पा), °भूमीं (मु)।
३. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'छेदारिहं गयं' का उल्लेख है।
४. °कोस अभि° (ब)।
५. दत्तं (ला, ब)।

२२९१. एतेसुक्कोसाणिं[1], पडिसेवयऽभिक्खणं तु मिच्छा तु।
एतेसिं सव्वेसिं, मूलं तू होति दातव्वं॥

**तवगव्वितादिगेसु य, मूलुत्तरदोसवतियरगतेसुं।**
**दंसण-चरित्तवंते, चियत्तकिच्चे य सेहे य॥ ८४॥**

२२९२. तवगव्वितमादीया, जावऽतिपरिणाम अतिपसंगि त्ति।
एत जहुद्दिट्ठाणं, मूलं तू होति णातव्वं॥

२२९३. मूलगुण उत्तरगुणे, बहुविध बहुसो य दूसें भंजति वा।
वतिकरमेतं होती, एरिसजुत्तस्स मूलं तु॥

२२९४. णिच्छयनयस्स चरणातविघाते णाणदंसणवहो वि।
ववहारस्स तु चरणे, हतम्मि भयणा तु सेसाणं[2]॥

२२९५. चत्तं जेण दरिसणं, चारित्तं वावि सो तु णातव्वो।
चत्तकिच्चो[3] वेसो, चियत्तकिच्चो मुणेतव्वो॥

२२९६. संजम सकलं किच्चं, जेणं चत्तं स चत्तकिच्चो तु।
सेहो अणुवट्ठविओ, मूलं एतेसि सव्वेसिं॥

**अच्चंतोसण्णेसु य, परलिंगदुवे[4] य मूलकम्मे य।**
**भिक्खुम्मि य विहिततवे, ऽणवट्ठपारंचियं[5] पत्ते॥ ८५॥**

२२९७. ओसण्णे पव्वावित, संविग्गेहिं व जप्पभीतिं तु।
ओसण्णाए[6] विहरिओ, सो भणितऽच्चंतयोसण्णो॥

२२९८. गिहिलिंग अण्णउत्थिय, परलिंगदुवे[7] य कुणति दप्पेणं।
गब्भादाणे साडण, दुविधमिहं मूलकम्मं तु॥

२२९९. भिक्खणसीला भिक्खू, विहिततवं उवणयं तु णातव्वं।
तवअणवट्ठं उवणय, पारंचितवं च णातव्वं॥

२३००. अतियारसेवणाए, पत्ते एतं तु होति दुविधतवं।
एतेसिं सव्वेसिं, दातव्वं होति मूलं तु॥

---

१. °साणि (ता, ब, ला)।
२. पंचा ११/४५।
३. चित्ताकि° (ला)।
४. परिलिं° (ता, ब, ला)।
५. अण° (पा, ला, मु)।
६. °ण्णयाए (मु)।
७. परिलिं° (ता), सर्वत्र।

**'छेदेणापरियाए ऽणवट्ठपारंचियावसाणे य'[1]।**
**मूलं मूलावत्तिसु, बहुसो य पसज्जणे भणितं॥८६॥**

२३०१. छिज्जंते परियाए, जस्स तु छिण्णो हु णिरवसेसो तु।
तवअणवट्ठे वूढे, पारंचित वावसाणेसु॥

२३०२. मूलावत्तिसु एसू, पुणो पुणो सज्जते तु जो सगणे।
सव्वेसु वि एतेसुं, मूलं तू होति दातव्वं[2]॥

**उक्कोसं बहुसो वा, पदुट्ठचित्तो तु तेणियं कुणति।**
**पहरति जो य सपक्खे, णिरवेक्खो घोरपरिणामो[3]॥ ८७॥**

२३०३. अणवट्ठप्पो दुविधो, आसायण तह य होति पडिसेवी।
आसायणअणवट्ठं, समासतोऽहं इमं वोच्छं॥

२३०४. 'तित्थकरं संघ सुतं, आयरियं गणधरं महिड्ढीयं[4]।
एते आसाएंते, पच्छित्ते मग्गणा इणमो[5]॥

२३०५. पढम बिति देस सव्वे, नवमं सेसेसु चउगुरू देसे।
पडिसेवणअणवट्ठं, अहुणा तु इमं पवक्खामि॥

२३०६. उक्कोसं तु विसिट्ठं, पुणो पुणो एय होति बहुगं तु।
कोहादी व अतीव तु, पदुट्ठचित्तो मुणेतव्वो॥

२३०७. पडिसेवणअणवट्ठो, 'होती तिविधो इमो समासेणं[6]।
'साहम्मिअण्णधम्मियतेण्णे तह हत्थताले य[7]॥

२३०८. साहम्मितेण्ण दुविधं, सच्चित्तं तह य होति अच्चित्तं।
अच्चित्तोवधि भत्ते, सचित्त[8] सेहावहारो तु॥

२३०९. साहम्मिउवधिहरणं, 'वावारण झामणा'[9] य पत्थवणा।
तं पुण सेहमसेहो, हरेज्ज अद्दिट्ठ दिट्ठं वा॥

---

१. °साणेसु (ला)।
२. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'मूलारिहं गतं' का उल्लेख है।
३. प्रतियों एवं मु में जीसू ८७ की गाथा २३०५ वीं भाष्य गाथा के बाद है लेकिन यह गा. २३०२ के बाद होनी चाहिए क्योंकि गा. २३०२ तक मूल प्रायश्चित्त का वर्णन है, उसके बाद अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का वर्णन है।
४. °यर पवयण सुते, आयरिए गणहरे महिड्ढीए (बृ)।
५. होइ (बृ ४९७५, ५०६०)।
६. तिविधो सो होइ आणुपुव्वीए (बृ ५०६२)।
७. °धम्मिय हत्थादालं व दलमाणे (बृ)।
८. × (ला)।
९. वावाण सारवणा (ब, ला), °झावणा (मु)।

२३१०. सेहो त्ति अगीतत्थो, जो वा गीतो अणिड्ढिसंपण्णो।
उवधी पुण वत्थादी, अपरिग्गह[1] एतरो तिविधो॥

२३११. अपरिग्गहितो तहियं, साहम्मी मोत्तु पवसितो जस्स।
अवहरमाणे[2] सोधी, होति इमा खेत्तणिप्फण्णा॥

२३१२. अण्णोवस्सयबाहिं, णिवेस वाडे य गाममुज्जाणे।
सीमाए जा णेयं, सव्वत्थ वि अंत बहिया या[3]॥

२३१३. एतेसुं तेण्णेते[4] मासलघुं आइकाउ जा छेदो।
अड्ढोक्कंती णेयं, अद्दिट्ठेसा भवे सोधी॥

२३१४. मासगुरुगादि दिट्ठे, मूलं सेहस्स[5] एयणिट्ठाइं।
अभिसेगाऽऽयरियाणं, एक्केक्कं ठाणगं वड्ढे॥

२३१५. एवं[6] तुवस्सयाओ, साहम्मीणुवहिमवहरंतस्स।
वावारिते इदाणिं[7], वोच्छं सयमेव गेण्हंते॥

२३१६. वावारिता गुरूहिं, वच्चह आणेह 'तिविधमुवहि त्ति'[8]।
तं लद्धं तत्तो च्चिय, तुज्झं[9] मज्झे य अत्तट्ठी॥

२३१७. लहुगो अत्तट्ठंते, जइ पुण आणेत्तु गुरुण न णिवेदे।
तो होंती चतुलहुगा, अणवट्ठप्पो व आदेसा॥

२३१८. वावारिततेण्णेतं, अण्णो पुण सावए णिमंतेंते।
पडिसिद्धाऽऽयरिएणं, दट्ठूणं तत्थ गंतूणं॥

२३१९. बेती झामित उवधी, अहगं च गुरूहिँ पेसितो देह।
तो दिण्णो तेहुवधी, किह[10] पुण सड्ढेहिँ सो णातो?॥

२३२०. सो तं घेत्तूण गतो, णवरं ते आगता गुरुसगासं।
पुच्छंति य ते सड्ढा, उवधिं पहुत्तों व[11] ण पहुत्तो?॥

---

१. सपरि° (बृ ५०६५)।
२. आह° (मु)।
३. वा (मु)।
४. तेण्णेत्ते (ता, ला)।
५. सेहस्सा (ला)।
६. एव (पा)।
७. इदाणि (ला)।
८. °वहिं ति (ला, पा, मु)।
९. तुब्भं (ता)।
१०. किं (पा, ला)।
११. × (ता, पा, ब, ला)।

२३२१. केवइयं वा दट्ठुं?, ता बेंति ण डज्झते हु उवहि त्ति।
केण व णीतो उवधी?, इति सोच्चा पत्तिमप्पत्ति॥

२३२२. लहुगा अणुग्गहम्मी, गुरुगा 'अप्पत्तिए मुणेतव्वा'[1]।
मूलं च तेणसद्दे, वोच्छेदपसज्जणा सेसे॥

२३२३. एवं ताव अडज्झंते, अह सव्वं झामितो भवे उवधी।
पेसवितो य गुरूहिं[2], लद्धे तहिं अंतरा जो तु[3]॥

२३२४. लद्धे अत्तट्ठेती, चतुलहुगा अह गुरूण ण णिवेदे[4]।
तो चतुगुरुगा तहियं, अणवट्ठप्पो व आदेसा॥

२३२५. एवं[5] झामणहेतुं, अवहारो[6] अह इदाणि पत्थवितं।
आयरियादिण केणति, आयरियाणं तु अण्णेसिं॥

२३२६. 'उक्कोसो सणिजोगो[7], पडिग्गहो अंतरा तहिं[8] लुद्धो।
'अत्तट्ठंते लहुगा, गुरुगा अदत्ते[9]ऽणवट्ठो वा[10]॥

२३२७. एवं ता उवधिम्मी, अहुणा भत्तम्मि तेण्ण वोच्छामि।
जइ पविसे असंदिट्ठो[11], ठवणकुले तो भवे लहुगा॥

२३२८. अज्ज अहं संदिट्ठो, पुट्ठोऽपुट्ठो व[12] साहते[13] एवं।
पाहुणगिलाणगट्ठा, तं च पलोट्टंति तो बितियं॥

२३२९. मायाणिप्फण्णं तू, एव भणंतस्स होति मासगुरू[14]।
अहवा आगंतूणं, णालोए तह वि मासगुरू[15]॥

२३३०. कह पुण हवेज्ज णातं, साहूहिं तह य तेहिं सड्ढेहिं।
जह खलु पविट्ठो अण्णो, ठवणकुलाइं असंदिट्ठो?॥

२३३१. गुरुसंघाडम्मि गते, भणंति गुरुजोग्ग णीयमेत्ताहे।
णत्थि 'तूऽणुग्गहम्मी'[16], लहुगा अप्पत्तिए गुरुगा॥

---

१. °त्तियम्मि कायव्वा (बृ ५०७०)।
२. गुरुणं (ब)।
३. गाथा के प्रथम चरण में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है।
४. णिविदे (पा, मु)।
५. एव (ला)।
६. वहारो (पा, ब)।
७. उक्कोस सनिज्जोगो (बृ ५०७२)।
८. गहण (बृ)।
९. प्रतियों में 'अदत्ते' पाठ मिलता है लेकिन छंद की दृष्टि से 'ऽदत्ते' पाठ होना चाहिए।
१०. लहुगा अदेंतें गुरुगा, अणवट्ठप्पो व आदेसा (बृ)।
११. प्रतियों में 'असंदिट्ठो' पाठ मिलता है लेकिन छंद की दृष्टि से 'ऽसंदिट्ठो' पाठ होना चाहिए।
१२. वा (ला)।
१३. साहती (बृ ५०८६)।
१४. °गुरुं (ब)।
१५. °गुरुं (ता, पा, ब, ला)।
१६. तू ण उग्ग° (ब)।

२३३२. वोच्छेद गुरुगिलाणे, गुरुगा लहुगा य खमगपाहुणगे।
गुरुगो य बालवुड्ढे, सेहे य महोदरे लहुगो॥

२३३३. भत्तम्मि भणितमेतं, तेण्णं भणितं च मेयमच्चित्ते।
अहुणा सच्चित्तम्मी, सेहे सेहीय वोच्छामि॥

२३३४. तं पुण णिज्जंतो वा, अभिहारेंतो व आसियाडेज्जा।
भिक्खादि पविट्ठे वा, गाम बहि ठवेत्तु णिज्जंतो॥

२३३५. तं पुण सण्णादिगतो, अद्धाणीओ व कोइ पासेज्जा।
वंदितपुट्ठो कोई[1], भणे अहं पव्वतिउकामो॥

२३३६. ससहाओ असहाओ?, त्ति पुच्छतो भणति ताहें ससहायो।
सो कत्थ? मज्झ कज्जे, छात पिवासस्स वा अडति॥

२३३७. तो बेति अण्णपासं, इम भुंजऽणुकंपयाएँ सुद्धो तु।
धम्मं च 'पुट्ठऽपुट्ठो'[2], कहेति सुद्धो असढभावो॥

२३३८. सढयाए पुण दोसो, भत्तं देंतस्स अहव कहयंते।
आसीआवणहेतुं, सोहि इमेहिं तु ठाणेहिं॥

२३३९. भत्ते पण्णवण णिगूहणा य वावार झंपणा चेव।
पत्थवण[3] सयंहरणे, सेहे अव्वत्त वत्ते य[4]॥

२३४०. गुरुगो चतुलहु चतुगुरु, छल्लहु 'छग्गुरुग छेदमव्वत्ते[5]।
'वत्ते भिक्खुणों मूलं, दुगं तु अभिसेग आयरिए'[6]॥

२३४१. एवं ता जो णिज्जति, अभिधारेंतो[7] पुणोति[8] जो जाति।
सो वि य तहेव पुट्ठो, भणाति वच्चामऽमुगमूलं॥

२३४२. तह चेव भत्तपाणं, पण्णवणा चेव होति एत्थं पि।
सेसा णिगूहणादी, सव्वे वि पदा ण संति इहं॥

२३४३. एमेव य इत्थीए, णिज्जंतऽभिधारयंति एमेव।
वत्तऽव्वत्ताएँ गमो, दोसा य इमे हरंतस्स[9]॥

---

१. कोती (पा, ब, ला)।
२. पुट्ठ अपुट्ठो (ता, ब)।
३. पट्ठवण (नि २७०३)।
४. बृ ५०७६।
५. 'रुगमेव छेदो य (बृ ५०७७, नि २७०४)।
६. भिक्खु-गणा-ऽऽयरियाणं, मूलं अणवट्ठ पारंची (बृ, नि)।
७. अहिहारेंतो (पा, ब, मु)।
८. पुणोतिं (पा, ला)।
९. तु. बृ ५०८०।

२३४४. आणादऽणंतसंसारियत्त बोहीय दुल्लभत्तं च।
साहम्मियतेण्णम्मी[1], पमत्तछलणाऽधिकरणं च॥

२३४५. 'बितियपदं वोच्छेदे'[2], पुव्वगते कालियाणुजोगे य।
'एतेहिं कारणेहिं'[3], कप्पति[4] सेहाऽवहारो तु॥

२३४६. एवं तु सो अवहितो, जाहे जातो सयं तु पावयणी।
कारणजाते य जया, होज्जाही अवहितो तेणं[5]॥

२३४७. सो तं चिय धरति गणं, कालगत गुरुम्मि तं विहारेंते।
जावेक्को णिप्फण्णो, ताहे से अप्पणो इच्छा॥

२३४८. अह हरिते णिक्कारण, ताहे पुरिमाण चेव सो जाति।
अह अब्भुज्जतमरणं, पडिवण्णो गुरुविहारं वा॥

२३४९. अण्णम्मि अविज्जंते, आयरियपदारुहे तमेव गणं।
धारेति जाव अण्णो, णिम्मातो तम्मि गच्छम्मि॥

२३५०. सच्चित्ततेण्णमेतं[6], साहम्मीणं तु एवमक्खातं।
आभवणं दोसा या, परधम्मियतेण्ण वोच्छामि॥

२३५१. परधम्मिया वि दुविधा, लिंगपविट्ठा तहा गिहत्था य।
तेसिं 'तिविधं तेण्णं'[7], आहारे उवधि सच्चित्ते॥

२३५२. भिक्खूमादी संखडि, तं लिंगं काउ भुंजते लुद्धो।
आभोगम्मि उ लहुगा, गुरुगा उद्धंसणे होंति॥

२३५३. कूरणिमित्तं चेव उ, अजियंता एतें एत्थ पव्वइता।
अविदिण्णदाणगा खलु, पवयणहीला दुरप्प त्ति[8]॥

२३५४. गिहवासे वि वरागा[9], धुवं खु एतें अदिट्ठकल्लाणा।
गलओ णवर[10] ण बलिओ, एतेसिं सत्थुणा चेव॥

---

१. °म्मिं (बृ ५०७९)।
२. णाऊण य वोच्छेदं (बृ ५०८३)।
३. अज्जाकारणजाते (बृ)।
४. कप्पेति (पा)।
५. बृ (५०८१) और नि (२७०७) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है–
निक्कारणे य गहितो, वच्चति ताहे पुरिल्लाणं।
६. °ण्णगेयं (ब)।
७. तिण्णं तिविहं (बृ ५०८८)।
८. ति (ता, ला)।
९. वरागो (ला)।
१०. णवरि (बृ ५०९०)।

२३५५. एवं ता आहारे, उवधीतेण्णं पुणो इहं होज्जा।
जह 'कोइ भिक्खुगादी'[1], उवस्सए मोत्तु उवगरणं॥

२३५६. भिक्खादिगतो तं तू, जइ गिण्हति चतुलहू भवे तत्थ।
गिण्हण कड्ढण ववहार, पच्छकड तह य णिव्विसए॥

२३५७. गिण्हणे गुरुगा छम्मास, कड्ढणे छेद होति ववहारे।
पच्छाकडम्मि मूलं, 'णिव्विसयोद्दावणे चरिमं'[2]॥

२३५८. जम्हा एते दोसा, तम्हा अविदिण्णगं ण घेत्तव्वं।
उवधीतेण्णं एतं, एत्तो वोच्छामि सच्चित्ते॥

२३५९. खुड्डं व खुड्डियं वा, 'तेणेति अवत्त ऽपुच्छितुं गुरुगा'[3]।
वत्तम्मि नत्थि पुच्छा, खेत्तं थामं च णातूणं॥

२३६०. 'लिंगपविट्ठाणेवं, एमेव तिधा अदिण्ण गिहियाणं'[4]।
गहणादीया[5] दोसा, सविसेसतरा भवे तेसु॥

२३६१. आहारे पिट्ठादी, विरल्लियं दट्ठु खुड्डिया गेण्हे।
गेण्हंती दिट्ठा वि य, ता कुसलपरंपरा छुभणा॥

२३६२. तहियं होति चतुलहू, अणवट्ठप्पो व होति आदेसा।
एमेव य उवधिम्मि वि, सुत्तट्ठी वत्थमादीया॥

२३६३. णीएहिं तु अविदिण्णं, अप्पत्तवयं पुमं ण दिक्खेंति।
'अपरिग्गहमव्वत्तो, कप्पति तु जढो सदोसेहिं'[6]॥

२३६४. अपरिग्गह णारी पुण, ण भवति तो सा ण कप्पति अदिण्णा।
सा वि य हु काइ[7] कप्पइ, जह पउमा[8] खुड्डमाता वा[9]॥

२३६५. बितियपदं पाऽऽहारे[10], अद्धाणोमादिगेसु कज्जेसु।
उवधीविचित्तमादिसु, आगाढे गहणमविदिण्णे॥

---

१. कोदि भिच्छु° (पा, ला, मु)।
२. उड्डहण विरंगणे नवमं (बृ ५०९३), उड्डहण विरुंगणे नवमं (बृ २५००)।
३. णेति अवत्तं अपुच्छियं तेणे (बृ ५०९५)।
४. एमेव होति तेण्णं, तिविहं गारत्थियाण जं वुत्तं (बृ ५०९६)।
५. °णादिगा य (बृ)।
६. अपरिग्गहो उ कप्पति,
विजढो जो सेसदोसेहिं (बृ ५०९८)।
७. काय (बृ ५०९९)।
८. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५६।
९. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५७।
१०. माहारे (ला)।

२३६६. सथलीसु[1] ताव पुव्वं, बला व गेण्हंति तत्थ अदलेंते।
बलवंतें दुट्ठेसुं पुण, छण्णं पी ताहें गेण्हंति॥

२३६७. ताहे परलिंगीण वि, जाति य पुव्वं अदत्त छण्णम्मि[2]।
गारत्थीसु वि एवं, आगाढे होति गहणं तु॥

२३६८. आहारे उवधिम्मि य, बितियपदे गहणमेतमक्खातं।
एत्तो सचित्तगहणं, वोच्छामि अदिण्ण बितियपदे॥

२३६९. णाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे य।
उवउज्जिऊण पुव्वं, होहिंति जुगप्पहाण त्ति[3]॥

२३७०. ताहे खुड्डग खुड्डी, हरेज्ज गिहि-अण्णतित्थिगाणं वा।
साहम्मि-अण्णधम्मिय, एतं तेण्णं समक्खातं॥

२३७१. गाहापुव्वद्धस्स तु, इति एसा अभिहिता इहं तेण्णा।
अहुणा पच्छद्धस्स तु, गाहासुत्तं इमाऽऽहंसु॥

२३७२. अह एत्तो वोच्छामी[4], हत्थातालं जहक्कमेणं तु।
किं पुण हत्थातालं?, भण्णति इणमो णिसामेहि[5]॥

२३७३. हत्थाताले हत्थालंबे, अत्थादाणे[6] य होति बोद्धव्वे।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि जहाणुपुव्वीए[7]॥

२३७४. हत्थेणं जं तालण, हत्थायालं तगं मुणेतव्वं।
तहियं हवति य डंडो[8], लोइय लोउत्तरो. इणमो॥

२३७५. उग्गिण्णम्मि य गुरुगो, डंडो पडितम्मि होति भयणा तू।
एवं खु लोइयाणं, 'लोउत्तरियं अतो वोच्छं'[9]॥

२३७६. हत्थेण व पादेण व, अणवट्ठप्पो तु होति उग्गिण्णे।
पडितम्मि होति भयणा, उद्दवणे होति पारंची[10]॥

---

१. सघलीसु (ता)।
२. ठवणम्मि (ता)।
३. गाथा का उत्तरार्ध बृ (५१०२) में इस प्रकार है—
गिहि अण्णतित्थियं वा, हरिज्ज एतेहिं हेतूहिं।
४. °छामिं (पा, ब)।
५. °मेहिं (पा, ब, ला)।
६. हत्थायाणे (ला, मु)।
७. बृ ५१०३।
८. दंडो (ला, मु)।
९. °रियाण वोच्छामि (बृ ५१०४)।
१०. चरिमपदं (बृ ५१०५)।

२३७७. बितियपद खुड्डु विणयं[1], गाहेंते अहव बोहिगादीसु।
सावग-भये व घोरे, देज्जाही हत्थतालं तु॥

२३७८. 'विणयग्गाहण खुड्डे'[2], कण्णामोड-खडुहा[3]-चवेडादी।
सावेक्ख हत्थतालं, दलाति मम्माणि रक्खंतो[4]॥

२३७९. परपरितावणकरणं, चोदेति असातवंधहेतु त्ति।
तं कह तस्साणुण्णा, तुब्भेहिँ कता? इमं सुणसु॥

२३८०. कामं परपरितावो, असातहेतू जिणेहिं पण्णत्तो।
आतपरहितकरो तू[5], इच्छिज्जति दुस्सीले[6] स खलु॥

२३८१. सिप्पंणेउणियट्ठा[7], 'घाते वि'[8] सहंति लोइगा गुरुणो।
'ते इहलोगफलाणं, महुरविवागेस उवमा तु'[9]॥

२३८२. अहवा वि रोगियस्सा, ओसह[10] चाडूहि दिज्जते पुव्वं।
पच्छा 'ताडेतुं पी'[11], देहहितट्ठाएँ दिज्जति से[12]॥

२३८३. इय भवरोगत्तस्स वि, अणुकूलेणं तु सारणा पुव्वं।
पच्छा पडिकूलेण वि, परलोगहितट्ठ कातव्वा॥

२३८४. इहपरलोगे य फलं, विणीतविणयो अणुत्तरं लभति।
संविग्गादिगुणेहिं, इमेहिं जुत्तो महाभागी॥

२३८५. संविग्गो मद्दवितो, अमुई[13] अणुयत्तओ विसेसण्णू।
उज्जुत्तमपरितंतो, इच्छितमत्थं लभति[14] साधू॥

२३८६. बोहिभयसावगादिसु[15], गणस्स[16] गणिणो व अच्चए पत्ते।
इच्छंति हत्थतालं, कालाइचरं[17] व सज्जं वा॥

---

१. विणयणं (ब)।
२. °यस्स उ गाहणया (बृ ५१०७)।
३. खडुगा (बृ), खदुहा (ता, पा)।
४. फेडिंतो (बृ)।
५. पुण (बृ ५१०८)।
६. दुस्सले (बृ), छंद की दृष्टि से 'दुस्सिले' पाठ होना चाहिए।
७. सिप्पं ति मकारोऽलाक्षणिकः (बृभाटी)।
८. आघाते (मु, पा, ला)।
९. ण य मधुरणिच्छया ते, ण होंति एसेविहं उवमा (बृ ५१०९)।
१०. ओसह त्ति विभक्तिलोपादौषधमिति मंतव्यम् (बृटी पृ. १३६१)।
११. तालेत्तुमवी (बृटी)।
१२. २३८२ एवं २३८३–ये दोनों गाथाएं बृहत्कल्पभाष्य की टीका में 'अत्रायं बृहद्भाष्योक्तः' उल्लेख के साथ (पृ. १३६१) उद्धृत हैं।
१३. अमुदी (ला, पा, ब), अमुती (पंक १२४१)।
१४. लभई (ता), लहइ (बृ ५११०)।
१५. बोहिकतेणभयादिसु (बृ ५१११)।
१६. × (ला)।
१७. °इवरं (मु)।

२३८७. एरिसगे आगाढे, बोहिगमादीसु जीतसंदेहे।
जं जस्स तु सामत्थं, सो तु ण हावेति एत्थं तु॥

२३८८. कुणमाणो वि हु करणं[1], कतकरणो णेव दोसमब्भेति।
अप्पेण बहुं[2] इच्छति, विसुद्धमालंबणो समणो॥

२३८९. आयरियस्स विणासे, गच्छे अहवा वि कुल गणे संघे।
पंचिंदियवोरमणं, पि कातु नित्थारणं कुज्जा॥

२३९०. एवं तु करेंतेणं, अव्वोच्छित्ती कता तु तित्थम्मि।
जइ वि सरीरावायो, तह वि य आराधगो सो उ॥

२३९१. जो पुण सइ सामत्थे, विज्जातिसती व अहव सारीरे।
एरिसगे आगाढे, हावेंतों विराधगो[3] भणितो॥

२३९२. एतं हत्थायालं, हत्थालंबं इमं मुणेतव्वं।
दुक्खेण अभिदुताणं, जं सत्ताणं परित्ताणं॥

२३९३. असिवे पुरोवरोधे, एमादी वइससेसु अभिभूता।
संजातपच्चया खलु, अण्णेसु य एवमादीसु[4]॥

२३९४. मरणभएणऽभिभूते, ते णातुं 'तेहिं वावि भणिता तु[5]'।
पडिमं काउं मज्झे, चिट्ठति मंते परिजवेंतो॥

२३९५. एतं हत्थालंबं, हत्थादाणं अओ परं वोच्छं।
जो अत्थं उप्पाए, णिमित्तमादी इमं णातं॥

२३९६. उज्जेणी उस्सण्णं, दो वणिया पुच्छिऊण[6] आयरियं।
'ववहारं ववहरंति'[7], तं ताहे तेसि सो साहे[8]॥

२३९७. तस्स य भगिणीपुत्तो, भोगहिलासी[9] तु मुंचते लिंगं।
तो अणुकंपा भणती, किं काहिसि तं विणऽत्थेणं॥

---

१. कडणं (ला, मु)।
२. बहू (ब)।
३. राहगो (ब)।
४. बृ ५११२।
५. देक्तं वुत्तासंते (बृ ५११३), °वावि भणियत्थे (ता)।
६. पुच्छियं (ला)।
७. जं जाहे भंडमग्घति (ता, ब, ला)।
८. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५८।
९. भोग अहि° (ता, ब, ला)।

२३९८. तो वच्च ते वणीए, भणाहि अत्थं पयच्छहा मज्झं।
तेणाऽऽगंतुं भणितो, तो तेसिं बेंति अह एक्को॥

२३९९. कत्तो अत्थो अम्हं?, किं सउणी रूवए इहं हगती?।
बीओ चंगेरि भरेत्तु, णिग्गतो णउलयाणं[1] तु॥

२४००. गिण्हसु जावइएहिं, कज्जं ती[2] गहित तेण जावऽट्ठो।
बितियम्मि हायणम्मी, किं गिण्हामो? त्ति ते बेंति[3]॥

२४०१. भणितो सउणि हगंतो, तण-कट्ठं वत्थ-रूत[4]-कप्पासे।
णेह-गुल-धण्णमादी, अंतो णगरस्स ठावेहि॥

२४०२. बितिओ य तहिं भणितो, सव्वादाणेण गिण्ह तणकट्ठं।
णगरबहिद्धा ठावय, गहिते णवरिं[5] च वासासुं॥

२४०३. छइएसुं[6] गेहेसुं, पलित्तें दड्ढं ततो उ तं णगरं।
तणकट्ठाणं पुंजो, रूवयपुंजो[7] तु सो[8] जातो॥

२४०४. दड्ढमितरस्स सव्वं, ताहे सो गंतु भणति[9] आयरियं।
उच्छाइओ अहोऽहं, किह व ण णातं समं तुब्भे?॥

२४०५. किं सउणिगा निमित्तं, हगंति अम्हं? ति भणति णेमित्ती।
होति कयाइ[10] 'तहऽण्णह'[11], रुट्ठं णातुं तओ खामे॥

२४०६. एमादिणिमित्तेहिं, उप्पाए ऽत्थम्मि अत्थदाण भवे।
सो एरिसगो पुरिसो, अब्भुट्ठेज्जा जइ कयाइ॥

२४०७. तस्स तु ण उवट्ठवणा[12], तम्मिं[13] खेत्तम्मि जाव संचिक्खे[14]।
एस च्चिय अणवट्ठो, जऽणुवट्ठवणा तहिं खेत्ते॥

---

१. णतुल (ता, ब)।
२. तो (मु), वी (ला)।
३. बेंमि (ब)।
४. रूतं (पा), रूव (ता, ला)।
५. णवरि (ला)।
६. ठइएसुं (ब, मु)।
७. अइबमहग्घो (पा, मु)।
८. जो (ब, ला)।
९. भणित (ला)।
१०. कइयाइ (ता, ला)।
११. तह अण्णह (ब)।
१२. हु उवठवणा (ला, पा)।
१३. तम्मि (ब)।
१४. °क्खं (ता, ब, ला)।

२४०८. णेतूण अण्णखेत्तं, तस्स उवट्ठावणा तु कातव्वा।
तहिँ णोवट्ठा खेत्ते, किं कारण? भण्णती सुणसु[1]॥

२४०९. पुव्वब्भासा भासेज्ज, किंचि गोरव सिणेह भयतो वा।
ण सहति परिस्सहं पि य, णाणे कंडुव्व कच्छुल्लो[2]॥

२४१०. तेण तु तहियं थाणे, ण हु देंती तस्स भावलिंगं तु[3]।
देज्जा व कारणम्मी, असिवोमादीसु तप्पिहिति॥

२४११. ण य मुच्चति असहाओ, तहियं पुट्ठो तु भणति वीसरियं।
अहवा वि उत्तिमट्ठे, देज्जाही लिंग तत्थेव॥

२४१२. एवं ता ओसण्णे, गिहत्थे पुण दव्वभावलिंगाइं।
दोण्णि वि 'ण वि'[4] दिज्जंती, दिज्जेज्ज व उत्तिमट्ठम्मि॥

२४१३. एवं अत्थादाणे, जे पुण सेसा हवंति अणवट्ठा।
साहम्मि-अण्णधम्मियतेणादी ते उ भयणिज्जा॥

२४१४. का पुण भयणा एत्थं?, आहारे उवहितेण अच्चित्ते।
लहुगो लहुगा गुरुगा, अणवट्ठप्पो व आदेसा॥

२४१५. कह पुण आदेसेणं, अणवट्ठो होतिमं णिसामेह।
अणुवरमंतो कीरति, अहवा उस्सण्णदोसो तु॥

२४१६. अहवा भिक्खू पावति, एतेसु पदेसु तिविध पच्छित्तं।
णवमं[5] पुण बोद्धव्वं, अभिसेगे सूरिणो दसमं॥

२४१७. तुल्लम्मि वि अवराधे, तुल्लमतुल्लं च दिज्जते दोण्हं।
पारंचिए वि नवमं, 'अभिसेग गुरुस्स पारंची'[6]॥

२४१८. अहवा अभिक्खसेवी, अणुवरमं पावती गणी नवमं।
पावंति मूलमेव तु, अभिक्खपडिसेविणो[7] सेसा[8]॥

---

१. २४०६-०८ तक की तीन गाथाओं के स्थान पर बृ (५११८) में निम्न गाथा है—
एयारिसो उ पुरिसो, अणवट्ठप्पो उ सो सदेसम्मि।
णेतूण अण्णदेसं, चिट्ठउवट्ठावणा तस्स॥

२. बृ ५११९, इस गाथा का पा प्रति में केवल 'पुव्वब्भासा' इतना ही संकेत मात्र है।

३. ता और पा प्रति में गाथा का पूर्वार्द्ध नहीं है।

४. × (ला)।

५. × (पा)।

६. गणिस्स गुरुणो उ तं चेव (बृ ५१२६)।

७. °सेवणा (ता, ला)।

८. बृ ५१२७।

२४१९. अत्थादाणे ततिओ, अणवट्ठो खेत्तओ समक्खातो।
गच्छे चेव वसंता, निज्जूहिज्जंति अवसेसा[1]॥

**अभिसेगो सव्वेसु य[2], बहुसो पारंचियावराधेसु।**
**अणवट्ठप्पावत्तिसु, पसज्जमाणो अणेगासु॥ ८८॥**

२४२०. अभिसेगो उज्झाओ[3], पुणो पुणो होति बहुससद्दो ऊ।
पारंचियावराहे, आवज्जति सव्वसद्दो तु॥

२४२१. अणवट्ठप्पावत्ती, उ सेवते णेगसो त्ति बहुसो तु।
णंतरगाधाए सो, अणवट्ठप्पो त्ति कीरति तु॥

२४२२. जुत्तं तावऽणवट्ठे, दिज्जति अणवट्ठमेव अभिसेगे।
पारंचियावराधे, पत्ते किह पावती नवमं?॥

२४२३. भण्णति जह णवदसमे, आवण्णस्सावि भिक्खुणो मूलं।
दिज्जति तहाऽभिसेगे, परं पदं होति णवमं तु॥

**कीरति अणवट्ठप्पो, सो लिंगक्खेत्तकालतो तवओ।**
**लिंगेण दव्व भावे, भणितो पव्वावणाऽणरिहो॥ ८९॥**

**अप्पडिविरयोसण्णो, ण भावलिंगारिहोऽणवट्ठप्पो।**
**जो जेण जत्थ दूसति, पडिसिद्धो तत्थ सो खेत्ते॥ ९०॥**

**जत्तियमेत्तं कालं, तवसा उ जहण्णगेण छम्मासा।**
**संवच्छरमुक्कोसं, आसायइ[4] जो जिणादीणं॥ ९१॥**

**वासं बारसवासा, पडिसेवी 'कारणेण सव्वे'[5] वि।**
**थोवं थोवतरं वा, वहेज्ज मुंचेज्ज[6] वा सव्वं॥ ९२॥**

**वंदति ण य वंदिज्जति, परिहारतवं सुदुच्चरं चरति।**
**संवासो से कप्पति, णालवणादीणि सेसाणि॥ ९३॥**

२४२४. परपक्ख सपक्खे वा, ण वि विरतो तेणगादिदोसेहिं।
अप्पडिविरतो अहवा, हत्थायालादिसु पदेसु॥

---

१. सेसा उ (बृ ५१२८)।
२. वि (ला)।
३. उवज्झाओ (मु, ब)।
४. आसाती (ब)।
५. कारणे तु सव्वे (पा, मु)।
६. मुच्चेज्ज (मु, पा)।

२४२५. ओसण्णमादिया तू, अणुवरता दोस लिंगसहिता ऊ।
अणवट्ठप्पा ते ऊ, कातव्वा भावलिंगेणं[1]॥

२४२६. कालतों अणवट्ठप्पो, अणउवरतदोस जत्तियं कालं।
सो अणवट्ठो कीरति, जत्तियमेत्तं तगं[2] कालं[3]॥

२४२७. तवअणवट्ठो दुविधो, आसायणयाय[4] होति पडिसेवी।
एक्केक्को वि य दुविधो, जहण्णगो चेव उक्कोसो॥

२४२८. तवअणवट्ठोऽऽसायण, जहण्ण छम्मास वरिसमुक्कोसं।
के पुण आसाएंती?, जिणमादी जा महिड्ढीयं॥

२४२९. पडिसेवी अणवट्ठो, जहण्ण वरिसं तु बारसुक्कोसा।
किं पुण पडिसेवति तू?, तेण्णादीया पदा सव्वे॥

२४३०. कारणमादिपदा तू, उवरिं वोच्छिंसु अहुण परिहारं।
वंदणमादी य पदा, समासतो हं इमं वोच्छं॥

२४३१. परिहरणं परिहारो, आलावणमादि दसहि तु पदेहिं।
सेहादिए वि वंदति, सो पुण ण वि वंदणिज्जो तु॥

२४३२. केरिसगुणसंजुत्तो, अणवट्ठो कीरती? इमं सुणसु।
संघतण-विरिय-आगम-सुत्तत्थ-विधीय[5] उववेतो॥

२४३३. उवरिमतिगसंघतणो, सव्वगुणो केवलं अजितणिद्दो।
देज्जा से सव्वतवं, अणवट्ठं वावि पारंची॥

२४३४. नवदसपुव्वकतत्थो, सट्ठो इव उग्गमधितिकतकरणो।
परिणामसमग्गो त्ति य, अणवट्ठप्पं स दातव्वं॥

२४३५. एवं तु गुणसमग्गो, चरित्तसेढिं तु णट्ठ भिण्णं वा।
पोराणियगुणसेढिं, निरवयवं सो तु पूरेति॥

२४३६. 'सो वंदति सेहादि वि, पग्गहिततवो जहा[6] जिणो चेव।
विहरति बारसवरिसे[7], अणवट्ठप्पो गणे चेव॥

---

१. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'खेत्ततो गतं' का उल्लेख है।
२. गतं (ब)।
३. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'काले त्ति गतं' का उल्लेख है।
४. °यणाय (ला)।
५. धितीय (ब, ला, मु)।
६. सेहाई वंदंतो पग्गहियमहातवो (बृ ५१३५)।
७. °वरासे (ब)।

२४३७. तस्स य परिहारतवं, पडिवज्जंतस्स कीरउस्सग्गो।
संघाडठवणभीते, आससय समत्थकरणं च॥

२४३८. किं कारणमुस्सग्गो?, भण्णति सेहाण जाणणट्ठाए।
भयजणणट्ठाय तहा, णिरुवस्सग्गट्ठया चेव[1]॥

२४३९. कप्पट्ठितो[2] अहं ते, अणुपरिहारी य एस 'गीतो ते'[2]।
पुव्वं कतपरिहारो, 'तस्सऽसतिऽण्णो'[3] वि दढदेहो[4]॥

२४४०. एस तवं पडिवज्जति, ण किंचि आलवति मा प[5] आलवह[6]।
अत्तट्ठचिंतगस्सा, वाघातो भे ण कातव्वो॥

२४४१. ताहे य परिहरिज्जति, गच्छेणं सो य परिहरति गच्छं।
अपरिहरंताऽऽरोवण, दसहिं पदेहिं इमेहिं तु[7]॥

२४४२. आलावण पडिपुच्छण, परियट्टट्ठाण वंदणग मत्ते।
पडिलेहण संघाडग, भत्तदाण संभुंजणा चेव[8]॥

२४४३. 'जा संघाडो ताव[9] तु, लहुगो मासो 'तु होति गच्छस्स[10]'।
लहुगा य भत्तदाणे, संभुंजण होंतऽणुग्घाता॥

२४४४. संघाडगो तु जाव उ, गुरुगो मासो दसण्ह तु पदाणं।
'भत्तस्स दाण'[11] संभुंजणे य परिहारिगे गुरुगा॥

२४४५. किरितिकम्मं च पडिच्छति, परिण 'पडिपुच्छ देति य गुरू से'[12]।
सो वि य गुरुमुवचिट्ठति, उदंतमवि पुच्छितो कहते[13]॥

२४४६. एवं तू ठवणाए, ठवियाएँ भयं तु कस्सतुववज्जे।
किह नु मए एक्केणं, णित्थरियव्वेत्तिओ कालो?॥

---

१. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'उस्सग्गो त्ति' का उल्लेख है।
२. ते गीओ (नि)।
३. °तितरो (व्य ५४८), °सयण्णो (नि २८७९)।
४. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'संघाडे त्ति गतं' का उल्लेख है।
५. प (व्य ५४९), यहां 'ण' वाक्यालंकार के अर्थ में प्रयुक्त है।
६. °वह (व्य, नि २८८०)।
७. बृ ५५९७।
८. व्य ५५०, बृ ५१३७, ५५९८, नि २८८१।
९. संघाडगो उ जाव (बृ ५५९९), संघाडगाओ जाव (नि २८८२)।
१०. दसण्ह उ पदाणं (बृ, व्य ५५१)।
११. भत्तपयाणे (व्य ५५२, नि २८८३)।
१२. °च्छणं पि से देति (व्य ५५३, नि २८८४)।
१३. कहतो (ता, पा, ब, ला), सभी प्रतियों में इस गाथा के बाद 'ठवणे त्ति गतं' का उल्लेख है।

२४४७. ताहे आसासेती, आयरिओ मा हु एव तं बीभे।
अणुपरिहारी एस य, अहवा[1] 'कप्पट्ठितो एसो'[2]॥

२४४८. जं किंचि पाडिपुच्छं, तं सव्व मए समं करेज्जाहि।
हिंडिहिसी भिक्खं पि य, अणुपरिहारीण तं सद्धिं॥

२४४९. एव भणितो तु संतो, आसासति[3] तं च ताहें णित्थरति।
किह[4] पुण होआसासो?, भण्णति इणमो णिसामेहि[5]॥

२४५०. जह कोइ अगडपडितो, जइ भण्णति एस हा! मतोवरतो।
तो मुंचति अंगाइं, पच्छा मरती य सो ताहे॥

२४५१. अह पुण भण्णति एवं, मा बीहसु एस आणिया रज्जू।
उत्तारिज्जसि[6] एवं, आसासो से हवति ताहे॥

२४५२. एवं णदिवुब्भंते, राया रुट्ठो व कासती होज्जा।
सो वि जइ विणट्ठो सि त्ति[7] भण्णते तो विराएज्जा॥

२४५३. अह भण्णति मा बीभे, राया असमिक्खितें अकज्जे वा।
ण वि किंचि करेइ त्ती, मोइज्जेहिसि व आससति[8]॥

२४५४. एवासासो तस्स वि, होती आसासियस्स संतस्स।
इय पडिवण्णो सो ऊ, वहति हु उग्गं तवोकम्मं[9]॥

२४५५. तो उग्गेण तवेणं, सो जाहे खामदुब्बलसरीरो।
ण तरेज्जुट्ठाणादी, काउं ताहे इमं भणति॥

२४५६. उट्ठेज्ज णिसीएज्जा[10], भिक्खं हिंडेज्ज[11] भंडगं पेहे।
'कुवितपियबंधवो विय, तुसिणी संघाडों तो कारे'[12]॥

२४५७. बितियपद अण्णगच्छा, पेसेज्जा वंदणं अयाणंतो।
गेलण्णे उभयस्स व, कुज्जा करणिज्ज जतणाए॥

---

१. अहव (पा, ला)।
२. कप्पट्ठिती एसा (मु)।
३. आससती (ता, ला)।
४. किं (ला, पा)।
५. °मेहिं (मु, पा)।
६. उत्तरेज्जसि (ता)।
७. ति (पा, ला)।
८. आसास° (ब), आसती (ता, ला)।
९. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'आसासो त्ति गतं' का उल्लेख है।
१०. °एज्जं (मु)।
११. गेण्हेज्ज (नि २८८५)।
१२. °धवस्स व करोति इतरो च तुसिणीओ (नि)।

२४५८. गच्छिल्लया 'गुरुस्स उ'[1], गुरु अणुपरिहारिगे समप्पेंति।
अणुपरिहारी परिहारियस्स देंतेस[2] जतणा तु॥

२४५९. सो वा करेज्ज तेसिं, आगाढ परंपरेण एमेव।
गुरुणो एगागिस्स व, अण्णऽसतीए करेज्जाहि[3]॥

२४६०. ताहे णित्थिण्णतवो, कुलादिकज्जे व तप्पितो जो तु।
उवठावण तस्स भवे, केई[4] गिहिवेस काऊणं॥

२४६१. गिहिवेसमकाऊणं, उवट्ठवेंते उ होंति चउगुरुगा।
आणादिणो य दोसा, पावति अहवा इमे दोसे॥

२४६२. वरणेवत्थं एगे, ण्हाणविवज्जमवरे जुवलमेत्तं[5]।
परिसामज्झे धम्मं, सुणेज्ज कहणा पुणो दिक्खा॥

२४६३. किं तस्स तु गिहिवेसं?, किं वरणेवत्थ? किं व जुयलं तु?।
किं वा परिसामज्झे, धम्मो सें कहिज्जते तस्स?॥

२४६४. ओभामितो ण कुव्वति, पुणो वि सो तारिसं अतीयारं।
होति भयं 'सेहाण य'[6], 'गिहिभूते ऽधम्मया'[7] चेव॥

**तित्थगर[8] पवयण सुतं, आयरियं गणधरं महिड्ढीयं।**
**आसाएंतो बहुसो, आभिणिवेसेण पारंची॥ ९४॥**

२४६५. किह पुण आसाएती?, अवण्णवायाइ वयति जं तेसिं।
केरिसओ तु अवण्णो?, भण्णइ इणमो णिसामेहि॥

२४६६. पाहुडियं उवजीवति[9], जाणंतो किं व्व[10] भुंजते भोगं?।
'अजुतं च इत्थितित्थं'[11], अतिकक्खड 'देसिता चरिया'[12]॥

---

१. × (ला)।
२. देंतेसु (ब)।
३. °ज्जाहिं (ला)।
४. केयी (पा)।
५. जुगल° (व्य १२०७)।
६. सेसाणं (व्य १२०८)।
७. गिहिरूवे धम्मता (व्य), इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'अणवट्ठप्पे ति गतं' का उल्लेख है।
८. तित्थं° (पा)।
९. अणुमण्णति (बृ ४९७६)।
१०. व (मु, बृ)।
११. थीतित्थं पि य वुच्चति (बृ)।
१२. देसणा यावि (बृ)।

२४६७. अण्णं व एवमादी, अवि पडिमासु वि तिलोगमहिताणं।
जइ भणति[1] कीस कीरति, मल्लालंकारमादीयं?[2] ॥

२४६८. जो वि[3] पडिरूवविणयो, तं सव्वं अवितहं अकुव्वंतो।
वंदण-थुतिमादीयं, तित्थगरासायणा एसा[4] ॥

२४६९. अक्कोसतज्जणादिसु[5], संघमहिक्खिवति संघपडिणीए[6]।
अण्णे वि अत्थि संघा, सियाल-णंतिक्क-ढंकादी[7] ॥

२४७०. काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमाद अप्पमादा[8] य।
मोक्खाहिकारियाणं, जोतिसविज्जाहि[9] किं च पुणो?[10] ॥

२४७१. इड्ढि-रस-सातगुरुगा, परोवदेसुज्जता जहा मंखा।
अत्तट्ठपोसणरता, 'आयरिया जह दिया चेव'[11] ॥

२४७२. अब्भुज्जतं विहारं, देसेंति परेसि सयमुदासीणा।
उवजीवंति य 'इड्ढि, णीसंगा'[12] मो त्ति य भणंति[13] ॥

२४७३. गणहर एव महिड्ढी, महातवस्सी व वादिमादी वा।
तित्थगरपढमसीसा[14], आदिग्गहणेण गहिता वा ॥

२४७४. सा दुह देसे सव्वे, देसम्मी एगदेसमादीया।
जं वयति सव्व देसो, सव्वेसिं वावि सव्वेसो ॥

२४७५. तित्थकरं संघं वा, देसेणं वावि अहव सव्वेणं।
आसाएंते चरिमं, सेसेसुं चतुगुरू देसे ॥

---

१. भण्णति (पा)।
२. बृ (४९७७) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
पडिरूवमकुव्वंतो, पावति पारंचियं ठाणं।
३. व (ला)।
४. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'तित्थगरे त्ति गतं' का उल्लेख है।
५. अक्कोस-तज्जणाइसु त्ति विभक्ति व्यत्ययाद् आक्रोश-तर्जनादिभिः (बृभाटी)।
६. °णीतो (बृ ४९७८)।
७. ढंकाणं (बृ), इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'पवयणे त्ति गतं' का उल्लेख है।
८. मप्प° (बृ ४९७९)।
९. °ज्जासु (बृ), °सजोणीहिं (बृ १३०३)।
१०. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'सुते त्ति गतं' का उल्लेख है।
११. पोसेंति दिया व अप्पाणं (बृ ४९८०)।
१२. रिद्धिं निस्संगा (बृ ४९८१)।
१३. इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'आयरिए त्ति गतं' का उल्लेख है।
१४. °सिस्सा (बृ ४९८२)।

२४७६. सव्वे वाऽऽसाएंतो, पावति पारंचितं तु सो ठाणं।
एत्थं पुण सचरित्ती, देसे सव्वे य अचरित्ती॥

२४७७. तित्थगरपढमसीसं[1], एक्कं 'वी सादयंतों'[2] पारंची।
अत्थस्सेव जिणिंदो, पभवो 'सुत्तस्स सो जेणं'[3]॥

२४७८. आसायणपारंची, एमेसो वण्णितो समासेणं।
पडिसेवणपारंची, एत्तो वोच्छं समासेणं॥

**जो य सलिंगे[4] दुट्ठो, कसायविसएहिं रायवहगो य।**
**रायग्गमहिसिपडिसेवगो य बहुसो पगासो य॥ ९५॥**

२४७९. पडिसेवणपारंची, तिविहेसो वण्णितो तु सुत्तम्मि।
दुट्ठादीहिं पदेहिं, समासतो हं पवक्खामि[5]॥

२४८०. दुट्ठो य पमत्तो या[6], अण्णोण्णासेवणापसत्तो उ।
एतेसि विभागं तू, वोच्छामि जहक्कमेणेव॥

२४८१. दुविधो य होति दुट्ठो, कसायदुट्ठो य विसयदुट्ठो य।
दुविधो कसायदुट्ठो, सपक्ख-परपक्ख-चतुभंगो[7]॥

२४८२. सासवणाले मुहणंतगे य उलुगच्छि सिहरिणी चेव।
एते[8] सपक्खदुट्ठा, 'एतेसि परूवणा इणमो'[9]॥

२४८३. सासवणाले 'लद्धुं, गुरु छंदिय खइय सव्वितर कोधो'[10]।
खामण अणुवसमंते, गणी[11] ठवेत्तऽण्णहि परिण्णा[12]॥

२४८४. पुच्छंतमणक्खाते, सोच्चऽण्णतों गंतु कत्थ सें सरीरं[13]?।
'गुरु पुव्वकहित'[14] ऽदाइय[15], 'पडियरणं दंतभंजणया'[16]॥

---

१. °सिस्सं (बृ ४९८४)।
२. पाऽऽसादयंतु (बृ)।
३. सो जेण सुत्तस्स (बृ)।
४. × (ता, ला)।
५. तु. बृ ४९८५।
६. य (ता), × (पा)।
७. बृ ४९८६, पंक ४५१, नि ३६८१।
८. एसो (बृ ४९८७)।
९. परपक्खे होति णेगविधो (बृ)।
१०. छंदण गुरु सव्वं भुंजें एतें कोवो (बृ ४९८८, नि ३६८३)।
११. गणिं (बृ)।
१२. तु. पंक ४५३, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५९।
१३. देहं (पंक ४५४)।
१४. गुरुणा पुव्वं कहिते (पंक ४५४, नि ३६८४)।
१५. ऽदातण (बृ ४९८९)।
१६. °चरण दंतवहो (पंक, नि)।

२४८५. मुहणंतगमालोयण, आणियमुक्कोस गहित गुरुणा य।
कुवितेण णिसी गंतुं, गलए लइओ य पासुत्तो[1]॥

२४८६. सम्मूढेणितरेण वि, गलए लइओ उ तो मता दो वि।
अण्णो पुण सिव्वंतो, अत्थमिते गुरुहिँ अह भणितो॥

२४८७. अत्थमितम्मि वि सिव्वसि, उलुगसरिच्छच्छि तो वदे रुसितो।
तुह उक्खणामि[2] अच्छी, खामिज्जंतो वि ण वि पसिए[3]॥

२४८८. तो ठवित गणिं गच्छे, भत्तपरिण्णं करेति अण्णगणे।
जह पढमो णवरि इहं, उलुगच्छीउ त्ति ढोकेंति[4]॥

२४८९. अवरो वि सिहरिणीए, छंदिय सव्वाइयं तों उग्गिरणा।
तत्थेव तू परिण्णा, ण गच्छती णवर अण्णत्थ[5]॥

२४९०. जम्हा एते दोसा, तम्हा ण वि गेण्हितव्वगं गुरुणा।
एगस्सेव तु सव्वं, अण्णायायारसीलस्स॥

२४९१. गहणम्मि विधी इणमो, जइ गहिता मत्तगा तु सव्वेहिं।
तेसि णिमंतेंताणं, अलाहि पज्जंतमो बेंति॥

२४९२. णिब्बंधे थोवथोवं, सव्वेसिं गेण्हते ण[6] एगस्स।
सव्वेसिं पि ण गेण्हति, बितियादेसेण गहितं पि॥

२४९३. गुरुभत्तिमं जो 'य मणाणुकूलो'[7], सो गिण्हती णिस्समणिस्सयो वा।
तस्सेव सो गेण्हति णेतरेसिं, अलब्भमाणम्मि व थोब[8] थोवं॥

२४९४. सति 'लाभम्मि व'[9] गेण्हति, इतरेसिं जाणिऊण णिब्बंधं।
मुंचति य[10] सावसेसं, जाणति उवयारभणितं च॥

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६०।
२. अक्खणामि (ता)।
३. यहां छंद की दृष्टि से 'पसीए' के स्थान पर 'पसिए' पाठ है, गा. २४८७ तथा २४८८ —इन दोनों गाथाओं के स्थान पर बृ (४९९१) तथा पंक (४५६) में निम्न गाथा मिलती है—
अत्थंगए वि सिव्वसि, उलुगच्छी! उक्खणामि ते अच्छी।
पढमगमो नवरि इहं, उलुगच्छीउ त्ति ढोक्केति॥
४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६१।
५. तु. पंक ४५७, तु. बृ ४९९२, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६२।
६. वा (ब)।
७. हिययाणु° (बृ ५०००)।
८. थोवा (ला)।
९. लंभम्मि वि (बृ ५००१)।
१०. व (ता)।

२४९५. गुरुसंसट्ठुव्वरितं[1], बालादसतीय मंडलिं जाति।
'जो अण्णायरमत्तग, गिलाणभुत्तुव्वरित्ते वि'[2]॥

२४९६. सेसाणं[3] संसट्ठं, न छुब्भती मंडलीपडिग्गहए[4]।
'पत्तेग गहित[5] छुब्भति, उब्भासण[6] लंभ मोत्तूणं॥

२४९७. पाहुणगट्ठा व तगं[7], धरेत्तु अतिबाहडं विगिंचंति।
इति[8] गहणभुंजणविधी, 'अविधीगहणेण दोसेते'[9]॥

२४९८. एते सपक्खदुट्ठा, परपक्खे उदायिमारगादीया[10]।
परपक्खसपक्खम्मि य, पालक्कादी मुणेतव्वा॥

२४९९. पालक्को तु पुरोहित, खंदगपमुहाण जेण पंच सता।
पुव्विं विराहितेणं, जंते पीलाविता जतिणो[11]॥

२५००. मुणिसुव्वयतित्थम्मी, वादेण पराइतो स पुव्विं तु।
खंदग रण्णो ताहे, पावो स पदोसमावण्णो॥

२५०१. परपक्खो परपक्खे, रायादी अभिमरा जहा केई।
वधपरिणता व वहगा, भणिता चत्तारि दुट्ठेते॥

२५०२. एतेसि चतुण्हं पी, पच्छित्तमहाविधिं पवक्खामि।
जे सासवणालादी, लिंगविवेगो भवे तेसिं॥

२५०३. 'जो वि सपक्खो रायादियाण वधपरिणतो व वहगो वा'[12]।
सो लिंगतों पारंची, जो वि य परिवड्ढते[13] तं तु॥

२५०४. सण्णी व असण्णी वा, जो 'परपक्खे सपक्खें दुट्ठो तु'[14]।
तस्स णिसिद्धं लिंगं, अतिसेसी वावि 'से देज्जा'[15]॥

---

१. गुरुणो भुत्तुव्व° (बृ ५००२)।
२. जं पुण सेसगगहितं गिलाणमादीण तं दिंति (बृ)।
३. सेसाण (पा, ला)।
४. °हतं (ला)।
५. पत्ते गहितं (ब, मु)।
६. ओभा° (बृ ५००३)।
७. वयं (ता)।
८. इह (बृ ५००४)।
९. अविधीएँ इमे भवे दोसा (बृ)।
१०. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६३।
११. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६४।
१२. रायवधादिपरिणतो, अहवा वि हवेज्ज रायवहओ तु (बृ ४९९४)।
१३. परिकड्ढती (बृ)।
१४. दुट्ठो होति तू सपक्खम्मि (बृ ४९९५)।
१५. दिज्जाहि (बृ)।

२५०५. परपक्खो परपक्खे, रायामादीपदुट्ठो जो वि भवे।
तस्स सदेसे ण कप्पति, कप्पति अण्णम्मि उवसंते॥

२५०६. एसो कसायदुट्ठो, विसयपदुट्ठं इदाणि वोच्छामि।
तस्स वि सपक्खपरपक्खतो य चतुभंग तह चेव॥

२५०७. संजति कप्पठिते पढमो, सेज्जातरि अण्णतित्थिणी बीओ।
परपक्खे संजतीए, उभयपरो होति उ चतुत्थो॥

२५०८. लिंगेण लिंगिणीए, संपत्तिं[1] जइ निगच्छती पावो[2]।
निरयाउगं णिबंधति, 'आसायणओ अबोही य'[3]॥

२५०९. लिंगेण लिंगिणीए, संपत्तिं जो निगच्छती[4] पावो।
सव्वजिणाणऽज्जाओ, संघो आसादितो तेणं॥

२५१०. पावाणं पावतरो, 'दट्ठूण ण वट्टए हु साहूणं[5]।
जो जिणपुंगवमुद्दं, णमिऊण तमेव धरिसेति॥

२५११. संसारभमणवयग्गं, जाति-जरा-मरण-वेदणापउरं।
पावमलपडलछन्ना, भमंति मुद्दाधरिसणेणं[6]॥

२५१२. एसो पढमगभंगो, पारंचियमेत्थ होति पच्छित्तं।
बितियगभंगम्मि तहा, अणुवरयम्मी भवे चरिमं॥

२५१३. जत्थुप्पज्जति दोसो, कीरति पारंचिओ स तम्हा तु।
सो पुण 'सेवि असेवी'[7], गीतमगीतो व एमेव॥

२५१४. 'वसहि-णिवेसण-वाडग, साही तह[8] गाम देस रज्जे य।
कुल गण संघे णिज्जूहणाए पारंचिओ होति॥

२५१५. उवसंतो वि समाणो, वारिज्जति तेसु तेसु ठाणेसु।
हंदि हु पुणो वि दोसं, तट्ठाणाऽऽसेवणा कुणति[9]॥

२५१६. जेसु विहरंति ताओ, वारिज्जति णवर तेसु ठाणेसु।
पढमगभंगे ताइं[10], सेसेसु वि ताइँ ठाणाइं॥

---

१. संपत्ती (नि १६९०)।
२. मूढो (नि)।
३. °यण दीहसंसारी (नि)।
४. णियच्छती (बृ ५००८)।
५. दिट्ठिऽब्भासे वि सो ण वट्टति हु (बृ ५००९)।
६. बृ ५०१०।
७. सेवीमसेवी (बृ ५०११)।
८. उवस्सय कुले निवेसण वाडग साहि (बृ ५०१२)।
९. बृ ५०१३।
१०. एवं (बृ ५०१४)।

२५१७. एत्थं पुण अधिगारो, पढमगभंगेण उभयदुट्ठेण[1]।
उच्चारितसरिसाइं, सेसाइं विकोवणट्ठाए॥

२५१८. इति एस अभिहितो तू, उभयपदुट्ठो य रायवधगो य।
रायग्गमहिसिपडिसेवगो उ अहुणा इमो होति॥

२५१९. रायस्स महादेवी, अहवा जा जस्स होति इट्ठा तु।
सा तस्स होति अग्गा, अग्ग पहाण त्ति एगट्ठा॥

२५२०. तं पडिसेवति जो तू, पुणो पुणो होति बहुससद्दो तु।
लोगपगासो अहवा, सो पावति चरिमठाणं[2] तु॥

२५२१. चस्सद्दा अण्णाण वि, जा इट्ठा सा हु[3] तेसि होअग्गा।
जुवरायादीयाणं, तेसिं पि जहेव राइस्स॥

२५२२. इतरमहिलासु चरिमं, ण विज्जती कीस? एव चोदेति।
भण्णति बहुयाऽवाया, इतरासुं अप्पणो चेव॥

२५२३. रायस्स अग्गमहिसीएँ अप्पणो कुल गणे व संघे वा।
पत्थारादी दोसा, पागतमहिलासु तस्सेव॥

२५२४. वतलोवों सरीरे वा, दोसा[4] ण हु कुल-गणादिपत्थारो।
एतेण कारणेणं, इतरासुं ण होति चरिमपदं[5]॥

२५२५. दुट्ठेसो पारंची, भणितो अहुणा पमत्त वोच्छामि।
सो कलुस विकह वियडे, इंदिय-णिद्दा य पंचविधे॥

२५२६. कोधादि चउह कलुसा, विकहा पुण इत्थिमादिया चतुहा।
पुव्वब्भासा वियडं, इंदिय सोयादिए पणगं॥

२५२७. पोग्गल मोदग 'फरुसग[6], दंते'[7] वडसालभंजणे चेव[8]।
'थीणद्धीआहरणा, वोच्छामि विभागमेतेसिं'[9]॥

---

१. दुविह दुट्ठे वी (बृ ५०१५)।
२. °णं (ता, पा, ला)।
३. इ (ला)।
४. × (ब)।
५. इस गाथा के बाद प्रतियों में 'दुट्ठपारंचिए त्ति गतं' का उल्लेख है।
६. फरुसगशब्देन समयप्रसिद्धया कुम्भकारोऽभिधीयते (विभामहेटी)।
७. °भंते (ता, ब, ला), दंते फरुसग (नि १३५, विभा २३५)।
८. सुत्ते (बृ ५०१७)
९. एतेहिं पुणो तस्सा विविंचणा होति जतणाए (बृ), णिद्दप्पमादे एते, आहरणा एवमादीया (नि १३५), °गमो तेसिं (ता, ला)।

**थीणद्धिमहादोसो[1], अण्णोण्णासेवणापसत्तो य।**
**चरिमट्ठाणावत्तिसु, बहुसो य पसज्जते जो उ॥९६॥**

२५२८. जह उदगम्मि घते वा, थीणम्मी णोवलब्भते किंची।
इद्धं चित्तं भण्णति, तं थीणं तेण थीणद्धी॥

२५२९. पिसितासि पुव्वमहिसं, विगिंचितं[2] दिस्स[3] तत्थ णिसि गंतुं।
अण्णं हंतुं खायति[4], उवस्सयं सेसगं णेति[5]॥

२५३०. मोदगभत्तमलद्धुं, भंतु[6] कवाडे घरस्स णिसि खाति।
भाणं च भरेऊणं, आगतो आवासए वियडे[7]॥

२५३१. अवरो 'वि फरुसमुंडो'[8], मट्टियपिंडे व छिंदिउं सीसे।
एगंते पव्विंधति[9], पासुत्ताणं विगडणा य[10]॥

२५३२. अवरो विवाडितो[11] मत्तहत्थिणा पुरकवाड भंतूणं[12]।
तस्सुक्खणित्तु दंते, वसहीबाहिं विगडणा य[13]॥

२५३३. उब्भामग वडसालेण घट्टितो केइ पुव्व[14] वणहत्थी।
वडसालभंजणाऽऽणण[15], 'उस्सग्गाऽऽलोयण पभाते'[16]॥

२५३४. तस्सोदयकालम्मी[17], हवती जं केसवस्स अद्धबलं।
ण वि देति अणतिसेसी, लिंगं अवि केवली होज्जा॥

२५३५. णातम्मि पण्णविज्जति, मुय लिंगं णत्थि तुज्झ चारित्तं।
देसवत दंसणं वा, गिण्हसु इच्छंत रमणिज्जं॥

---

१. °दोसा (ब, मु)।
२. विविंचियं (ता, मु), विगच्चियं (बृ ५०१८)।
३. दट्ठु (नि १३६)।
४. खइतं (नि)।
५. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६५।
६. भेत्तु (नि १३७)।
७. बृ ५०१९, कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६६।
८. फरुसग मुंडो (बृ ५०२०, नि १३८)।
९. अवयज्झइ (बृ), पाडेति (नि)।
१०. या (पा), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६७।
११. वि घाडिओ (बृ ५०२१)।
१२. भेत्तूण (नि १३९)।
१३. तु (नि), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६८।
१४. पुण (पा, ब, ला)।
१५. °णय (नि १४०)।
१६. °यणा गोसे (बृ ५०२२), उवस्सयालोयण पभाते (नि १४०), कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६९।
१७. °लम्मि (ता, मु)।

२५३६. अह णेच्छति तो संघो, लिंगं हरती[1] ण[2] हरति सिं एगो।
मा गच्छेज्ज पदोसं, छड्डेत्तऽसतीएँ पासुत्तं॥

२५३७. णिद्दपमत्तो एसो, पारंची लिंगतो समक्खातो।
कुणमाण अण्णमण्णं, पारंचीयं अतो वोच्छं॥

२५३८. करणं तु अण्णमण्णे, समणाण ण कप्पती सुविहिताणं।
किह करण अण्णमण्णे?, भण्णति इणमो णिसामेहि॥

२५३९. आसयपोसयसेवी, केई पुरिसा दुवेदगा होंति।
तेसिं लिंगविवेगो, 'कातव्वो होति णियमेणं'[3]॥

२५४०. चरिमं अंतं भण्णति, तं पुण पारंचियं ति णातव्वं।
पारंचियावराहे, पुणो पुणो सज्जते जो तु॥

२५४१. थीणद्धिमादियाणं, सोहिं वोच्छं पुणो वि सव्वेसिं।
लिंगादीणं कमसो, एत्थ इमा होंति गाहाओ॥

**सो कीरति पारंची, लिंगाओ खेत्तकालतो तवतो।**
**संपाडगपडिसेवी, लिंगाओ थीणगिद्धी य॥ ९७॥**

**वसहि-णिवेसण-वाडग[4]-साहि-णियोग-पुर-देसरज्जाओ।**
**खेत्ताओ पारंची, कुल-गण-संघालयाओ वा[5]॥ ९८॥**

**जत्थुप्पण्णो दोसो, उप्पज्जिस्सति व जत्थ णाऊणं।**
**तत्तो तत्तो कीरति, खेत्ताओ खेत्तपारंची॥ ९९॥**

**जत्तियमेत्तं कालं, तवसा पारंचियस्स उ[6] स एव।**
**कालो दुविगप्पस्स वि[7], अणवट्ठप्पस्स जोऽभिहितो॥ १००॥**

२५४२. आसातण पडिसेवण, दुह अणवट्ठम्मि जो भवे कालो।
पारंचिए वि सो चेव, होति 'उक्कोसग जहण्णो'[8]॥

---

१. हरति (ब, ला)।
२. णे (ला)।
३. बितियपदं रायपव्वइते (बृ ५०२६), इस गाथा के बाद प्रतियों में 'अण्णोण्णसेवणे त्ति गतं' का उल्लेख है।
४. पाडग (ला)।
५. य (ब)।
६. वि (ला)।
७. ति (ला)।
८. °समजह° (ला), पा प्रति में गाथा का उत्तरार्ध नहीं है।

२५४३. पारंचिया उ एते, तिण्णि वि सामण्णतो विणिद्दिट्ठा।
एत्तो जो[1] जारिसओ, विसेसमेतेसिँ वोच्छामि॥

२५४४. दुट्ठे य पमत्ते या, अण्णोण्णासेवणापसत्ते य।
एतेसिं तिण्हं पी, विसेसमेत्तो[2] पवक्खामि॥

२५४५. तहियं तु विसयदुट्ठो, सपक्खपरपक्खतो व जो होज्जा।
सो कीरति पारंची, खेत्तेणं तू ण लिंगेणं॥

२५४६. अणुवरमंतो कीरति, सेसो णियमेण लिंगपारंची।
खेत्तेण य लिंगेण य, पारंची अभिहिता एते॥

२५४७. किं एते च्चिय भेदा, पारंचीए उदाहु अण्णे वि?।
भण्णति तवपारंची, अण्णो वि हु केरिसो स खलु?॥

२५४८. इंदियपमाददोसा, जो तू[3] अवराहमुत्तमं पत्तो।
सब्भावसंमाउट्टो, जइ य गुणा[4] से इमे होंति॥

२५४९. वइरोसहसंघतणो, धितीय जो वज्जकुड्डसामाणो।
णवमस्स ततियवत्थुं, सुत्तऽत्थेहिं च जोऽहीतो[5]॥

२५५०. खुड्डगसीहतवादीहिँ भावितो जो य इंदियकसाए।
निग्घेत्तूण समत्थो, पवयणसारं[6] अभिगतत्थो॥

२५५१. 'निज्जूहितस्स असुभो, तिलतुसमेत्तो वि जस्स ण य भावो'[7]।
निज्जूहणाएँ अरिहो, सेसे णिज्जूहणा णत्थि॥

२५५२. एयगुणसंपउत्तो, पावति 'पारंचियं तु सो'[8] ठाणं।
एयगुणविप्पमुक्के, तारिसगम्मी भवे मूलं॥

२५५३. पारंचियं तु पावति, आसाएंतो तहेव पडिसेवी।
एक्केक्को होति दुहा, जहण्ण उक्कोसगो चेव॥

---

१. × (ला)।
२. व सेस° (ता, ला)।
३. पुण (बृ ५०२८)।
४. पुणो (ता, ब, ला)।
५. गा. २५४९ और २५५० के स्थान पर बृ (५०२९) में निम्न गाथा मिलती है–
संघयण-विरिय-आगम-सुत्तत्थ-विहीए जो समग्गो तु।
तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारे अभिगतत्थो॥
६. °सारे (पा, ब)।
७. तिलतुसतिभागमित्तो वि जस्स असुभो ण विज्जती भावो। (बृ ५०३०)।
८. °चियारिहं (बृ ५०३१)।

२५५४. आसायणा जहण्णो, छम्मासुक्कोस बारस तु मासा।
वासं बारसवासा, पडिसेवी[1] कारणे भइओ[2]॥

२५५५. जइ होज्जा आयरिओ, तो गणणिक्खेवमित्तिरिं कातुं।
गंतूणं अण्णगणे, दव्वादिसुभे विगडणा तू॥

**एगागी खेत्तबहिं, कुणति[3] तवं सुविपुलं महासत्तो।**
**अवलोयणमायरिओ[4], पतिदिणमेगो कुणति तस्स॥ १०१॥**

२५५६. ओलोयणं गवेसणमायरिओ कुणति निच्चकालं[5] पि।
'खेत्तबहिचिट्ठियस्सा, इमेण विधिणा पवक्खामि'[6]॥

२५५७. 'उभयं पि'[7] दाऊण स पाडिपुच्छं, वोढुं सरीरस्स य वट्टमाणिं।
आसासइत्ताण तवोकिलंतं, तमेव 'गच्छं पुणरेंति'[8] थेरा॥

२५५८. असहू सुत्तं दातुं, दो वि अदाउं व गच्छति पगे वि।
संघाडो[9] से भत्तं, पाणं चाऽऽणेति मग्गेणं॥

२५५९. पारंचितस्स तहियं, तं वहमाणस्स होज्ज गेलण्णं।
ताहे से पडिकम्मं, तेहि पयत्तेण कातव्वं॥

२५६०. आहरति भत्तपाणं, उव्वत्तणमादियं पि से कुणति।
सयमेव गणाधिवती, 'वेयावच्चं जहत्थामं'[10]॥

२५६१. जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमादेणं।
'आरोवण तस्स भवे, गिलाणसुत्तम्मि जा भणिता'[11]॥

२५६२. अह पुण ण तरेज्ज गुरू, गंतुं गेलण्णमादीहिँ तहियं।
कालुण्हे दुब्बलो वा, कुलादिकज्जेण वऽण्णेण॥

२५६३. 'अभिसेगं तो पेसे'[12], अण्णं गीतं व[13] जो तहिं जोग्गो।
पुट्ठो व अपुट्ठो वा, 'सो वि य'[14] दीवेति तं कज्जं॥

---

१. 'सेवओ (बृ ५०३२)।
२. भतिओ (बृ)।
३. कुणते (ता)।
४. आलोयण' (ता)।
५. सव्वकालं (बृ ५०३६, व्य १२११)।
६. उप्पण्णे कारणम्मिं, सव्वपयत्तेण कायव्वं (बृ, व्य)।
७. 'यम्मि (ता, ला, मु)।
८. खेत्तं समुवेंति (बृ ५०३९, व्य १२१४)।
९. संघाडओ (बृ ५०४०)।
१०. अह अगिलाणो सयं कुणति (बृ ५०३८, व्य १२१३)।
११. आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा (बृ १९८३, ५०३७, व्य १०७५, १२१२, नि ३०८४)।
१२. पेसेइ उवज्झायं (बृ ५०४३)।
१३. व्व (ब, ला)।
१४. स चावि (बृ)।

२५६४. सो य समत्थो होज्जा, संपाडेतुमिह तस्स कज्जस्स।
खीरादिलद्धिजुत्तो, विज्जादिगअतिसएहिं च॥

२५६५. जाणंता माहप्पं, सयमेव 'गुरू वदंति तं जोगं'[1]।
अत्थि मम एत्थ विसओ, अजाणए 'ते व सो'[2] बेंति॥

२५६६. अच्छउ महाणुभावो[3], जहासुहं गुणसयागरो संघो।
गुरुगं पि इमं कज्जं, मं पप्प भविस्सते लहुगं॥

२५६७. अभिधाणहेतुकुसलो, बहूसु णीराइतो[4] विदुसभासु।
गंतूण रायभवणं, 'भणाइमं रायदारिट्ठं'[5]॥

२५६८. पडिहाररूवी! भण रायरूवी[6], तमिच्छते[7] संजतरूवि दट्ठुं।
णिवेदइत्ताण[8] स पत्थिवस्स, जहिं णिवो तत्थ तगं पवेसे॥

२५६९. तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं, पुच्छिंसु राया गतकोउहल्लो।
पण्हे उग्गले असुए कदाई, स यावि आइक्खति पत्थिवस्स[9]॥

२५७०. जारिसगा 'सक्कादीण आयरक्खा'[11] ण तारिसो एसो।
तुह राय! दारपालो, तं पि य चक्कीण पडिरूवी॥

२५७१. अट्ठारससीलसहस्सधारगा होंति साधुणो अहयं।
तं[12] पति पडिरूवित्तं, अतियारणिसेवणापत्तो॥

२५७२. णिज्जूढो मि णरीसर!, खेत्ते वि जतीण अच्छितुं[13] ण लभे।
अतियारस्स विसोधिं, पकरेमि पमादमूलस्स[14]॥

२५७३. 'धम्मकहा आउट्टाण पुच्छणं'[15] दीवणा य कज्जस्स।
'किं पुण हवेज्ज कज्जं?, इमेहिं होज्जाहि एगतरं'[16]॥

---

१. भणंति एत्थ तं जोग्गो (बृ ५०४४, व्य १२१७)।
२. सो व ते (बृ, व्य)।
३. °भागो (बृ ५०४५, व्य १२१८)।
४. अणिरा° (मु)।
५. भणाति तं रायदारट्ठं (बृ ५०४६),
भणाति तं रायदारिट्ठं (व्य १२१९)।
६. °रूविं (बृ ५०४७, व्य १२२०)।
७. तं इच्छते (व्य)।
८. °त्ता य (बृ, व्य)।
९. कयाइ (ब)।
१०. बृ ५०४८, व्य १२२१।
११. आयरक्खा सक्कादीणं (बृ ५०४९, व्य १२२२)।
१२. ते (ब, ला)।
१३. अच्छितं (ता, ब, ला)।
१४. व्य १२२४, बृ ५०५१।
१५. कहणाऽऽउट्टण आगमणपुच्छणं (बृ ५०५२, व्य १२२५)।
१६. वीसज्जियं ति य मए, हासुस्सलितो भणति राया (बृ, व्य)।

२५७४. वादपरायणकुवितो, चेतियतद्दव्व संजतीगहणे।
'णिव्विसयादि चतुण्ह वि, कज्जाण हवेज्ज एगतरं'[१]॥

२५७५. संघो ण लभति कज्जं, लद्धं कज्जं महाणुभावेणं।
तुब्भं ति विसज्जेमी, सो[२] वि य संघो त्ति पूएति[३]॥

२५७६. भणति य राया संघं, तुब्भं कज्जं करेमि अहमेतं।
तुब्भे वि कुणह मज्झं, एयस्सेतं विसज्जेह॥

२५७७. अब्भत्थितो 'सयं वा, रण्णा'[४] संघो विसज्जते[५] तुट्ठो।
आदी मज्झऽवसाणे, सो यावि 'हवेज्ज सोहीए'[६]॥

२५७८. देसं व देसदेसं, सव्वं व वहेज्ज अहव मुंचेज्जा।
छब्भागो से देसो, दसभागो देसदेसो तु॥

२५७९. छम्मास परे बारसमासाणं बारसण्ह य समाणं।
एक्के दो दो मासा, चउवीसा होति छब्भागो॥

२५८०. अट्ठारस छत्तीसा, दिवसा छत्तीसमेव वरिसं च।
बावत्तरिं च दिवसा, 'दसभागेणं हवेज्जा वा'[७]॥

२५८१. आसायणपारंची, जहण्ण छम्मास मास छब्भागो।
छब्भागेणं वरिसे, दो मासा होंति णातव्वा॥

२५८२. पडिसेवणपारंची, वरिसे दो मास होंति छब्भागे।
वरिसाण बारसण्हं, मासा चतुवीस छब्भागे॥

२५८३. दसभागेणऽट्ठारस, दिवसा छण्हं हवंति मासाणं।
वरिसस्स तु दसभागे, दिवसा छत्तीसइं होंति[८]॥

२५८४. वरिसाण बारसण्हं, वरिसं बावत्तरिं 'चऽहोरत्ता'[९]।
दसभागेण हवंति हु, एसो खलु देसदेसो तु॥

२५८५. एवं तस्स तु संघो, तुट्ठो देसं व देसदेसं वा[१०]।
मुंचेज्ज वहेज्जा वा[११], अहवा सव्वं व झोसेज्जा॥

---

१. पुव्वद्धाण चउण्ह वि, कज्जाण हवेज्ज अण्णतरं (व्य १२२६)।
२. से (ता, ला, पा)।
३. बृ ५०५३, व्य १२२७।
४. व रण्णा सयं वि (व्य १२२८, बृ ५०५४)।
५. °ज्जति तु (बृ)।
६. दोसो धुओ होइ (बृ)।
७. दसभाग वहेज्ज बितिओ तु (बृ ५०५६)।
८. होति (पा, ला)।
९. होज्ज व ऽहो° (ता)।
१०. व्व (पा, ब, ला)।
११. × (ला)।

२५८६. अहव अगीतणिमित्तं, अप्परिणामे[1] य तस्स ववहारं।
नवविह पत्थारेत्ता, गेण्हसु एतं लहुसभत्ते॥

२५८७. हत्थं तु भमाडेतुं, दरिसेतुं णवविहं पि ववहारं।
ताहे भण्णति एवं, सो गेण्हसु लहुसगं एतं॥

**अणवट्ठप्पो तवसा, तवपारंची य दो वि वोच्छिण्णा।**
**चोद्दसपुव्वधरम्मी, धरेंति सेसा तु जा तित्थं॥ १०२॥**

२५८८. पारंचिय अणवट्ठा, तवसा आरेण भद्दबाहूओ।
वोच्छिण्णा दो तेसिं, सेसा तु धरेंति जा तित्थं॥

२५८९. लिंगेण खेत्त काले, धरेंति पारंचियाऽणवट्ठा जे[2]।
लिंगेणं अणुसज्जति, दव्वे भावे य जा तित्थं॥

**इति[3] एस जीतकप्पो, समासतो सुविहिताणुकंपाए।**
**कहितो देयोऽयं पुण[4], पत्तेसु परिच्छितगुणेसु[5]॥ १०३॥**

२५९०. इति एस अणंतरतो, उद्दिट्ठो होति जीतकप्पो तु।
जीतं आयरणिज्जं, कप्पो पुण छव्विधो इणमो॥

२५९१. आजीवियधरणाओ[6], व अहव जीतं इमं मुणेतव्वं।
जीतस्स तस्स कप्पो, एत्थं जो जीतकप्पो सो॥

२५९२. सामत्थे वण्णणाए य, छेदणे करणे तहा।
ओवम्मे अहिवासे य, कप्पसद्दो तु वण्णितो॥

२५९३. छेदणे वण्णणे चेव, कप्पसद्दो इहं कतो।
जीतस्स वण्णणा जीतकप्पो तह छेदणं चेव॥

२५९४. एतस्स जीतकप्पस्स, समासो इति इहं मुणेतव्वो।
संखेवो य समासो, ओहो त्ति व होंति एगट्ठा॥

२५९५. सोभणविही तु जेसिं, सोभणविहिता व सुविहिता ते तु।
तेसिं अणुकंपाए, कहितो देयो य पत्तेसु॥

---

१. अपरि° (ला)।
२. जो (ला)।
३. इय (ला)।
४. पुणो (ला)।
५. °तगुणम्मि (ला)।
६. °यचर° (ला)।

२५९६. सुत्तेण वि अत्थेण वि, जो पत्तो स खलु जीतकप्पस्स।
जोग्गो भणितो इतरो, होति अजोगो त्ति णातव्वो॥

२५९७. पुणसद्दो तु विसेसणे, किन्नु विसेसेति? तिंतिणादीयं।
एते तु विसेसेती, विवरीता होंति पत्ता तु॥

२५९८. संविग्गऽवज्जभीरू, परिणामो जो य होति गीतत्थो।
आयरियवण्णमादी, संगहसीलो अपरितंतो॥

२५९९. मेहावी य बहुसुतो, गुरुअणुयी णिच्चमप्पमत्तो य।
एमादिगुणसमग्गो, जीतस्स स होति पत्तो त्ति॥

२६००. जह ताव छेज्ज[1] णिहसे, अविकोवि सुवण्णगं मुणेतव्वं।
तह अविकारी जो खलु, आदी मज्झे य अवसाणे॥

२६०१. एवं देज्जा सुपरिक्खितस्स णऽन्नस्स जीतववहारं।
अणरिहदेंताऽऽरोवण, आणादी जं च पाविहिती॥

२६०२. पंचमहव्वयभेदो, छक्कायवधो य तेणऽणुण्णातो।
सुहसीलणीयगाणं[2], कहयति जो पवयणरहस्सं॥

२६०३. आमे घडे णिहित्तं, जहा[3] जलं तं घडं विणासेति।
इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेति॥

२६०४. मरेज्ज सह विज्जाए, काले णं आगते विदू।
अपत्तं तु[4] ण वाएज्जा, पत्तं च ण विमाणए॥

२६०५. बितियपदे वाएज्जा, अद्धाणादीहिँ कारणज्जाते।
बहुसो तप्पिस्सति वा, वेयावच्चादिणा अम्हं॥

२६०६. अप्पग्गंथ महत्थो, इति एसो वण्णितो समासेणं।
पंचमओ ववहारो, नामेणं जीतकप्पो त्ति॥

२६०७. कप्प-ववहाराणं, उदधिसरिच्छाण तह णिसीहस्स।
सुतरतणबिंदुणवणीतभूतसारेस णातव्वो॥

२६०८. कप्पादीए तिण्णि वि, जो सुत्तत्थेहि णाहिती णिउणं।
णिगदिस्सति सो एयं, सीसपसीसाण ण हु अण्णो॥

---

१. छेज्ज (पा, ला)।
२. °णऽवियताणं (बृ ७७०, नि ६२०९)।
३. जम्हा (पा)।
४. च (नि ६२३०)।

हिताहारा मिताहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
ण ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा॥

जीभा १६३२

# अनुवाद

**१. प्रवचन[1] को प्रणाम करके मैं संक्षेप में प्रायश्चित्त-दान के बारे में कहूंगा। वह प्रायश्चित्त जीतव्यवहार के अन्तर्गत है तथा जीव की परम विशोधि[2] करने वाला है।**

१. द्वादशांगी प्रवचन है। वह सामायिक से लेकर बिंदुसार पर्यन्त है अथवा संघ चार प्रकार का है, जहां ज्ञान प्रतिष्ठित रहता है।

२. स्वाभाविक रूप से प्रशस्त अथवा प्रधान वचन वाला अथवा जो ज्ञानादि का प्रवर्तन करता है, वह प्रवचन कहलाता है।

३. जीव आदि पदार्थ जहां सम्पूर्ण रूप से उपदिष्ट होते हैं, वह उपदेश प्रवचन है। उसको नमस्कार करके (मैं प्रायश्चित्त-विधि कहूंगा।)

४. मैं आगे विस्तार से दस प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन करूंगा। प्रायश्चित्त किसे कहते हैं?

५. जिससे पाप का छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त कहलाता है अथवा जिससे चित्त का शोधन होता है, वह प्रायश्चित्त[3] है।

६. पणग (पांच दिन-रात) आदि प्रायश्चित्त में तप रूप निर्विकृतिक (निर्विगय) आदि का प्रायश्चित्त

---

१. यहां संघ[1] एवं द्वादशांगी श्रुत[2] के लिए प्रवचन शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रुतोपयोग कभी निराश्रय नहीं होता, वह *हमेशा संघ के आश्रय से होता है अतः संघ के लिए प्रवचन शब्द का प्रयोग हुआ है। पंचवस्तु में गण, समुदाय,* संघ, प्रवचन और तीर्थ को एकार्थक कहा है।[3]

१. जीचूवि. पृ. ३२; संघ एव प्रवचनशब्द वाच्यः यतः प्रवचनं श्रुतमुच्यते।

२. उचू पृ. १; प्रवचनं द्वादशांगं, तदुपयोगानन्यत्वाद् वा संघः।

३. पंव ११३५; गण-समुदाओ संघो, पवयण तित्थं ति होंति एगट्ठा।

२. चूर्णिकार 'विसोहणं परमं' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण आदि भी जीवघात होने पर सामान्य रूप से प्रायश्चित्त देते हैं। वे एकेन्द्रिय तथा त्रसजीवों के संघट्टन, परितापन, अपद्रावण आदि के बारे में नहीं जानते लेकिन निर्ग्रन्थ-प्रवचन में इसका सूक्ष्म विवेचन है अतः ग्रंथकार ने सलक्ष्य 'विसोहणं परमं' शब्द का प्रयोग किया है।[1]

१. जीचू पृ. २।

३. आवश्यक चूर्णि के अनुसार असत्य आचरण का अनुस्मरण करना प्रायश्चित्त है।[1] प्रायश्चित्त करने का प्रयोजन है—अपराध से मलिन आत्मा की विशोधि तथा शल्य के उद्धरण हेतु प्रयत्न। उत्तराध्ययन के अनुसार सम्यक् प्रायश्चित्त करने वाला निरतिचार हो जाता है। वह मार्ग (सम्यक्त्व), मार्गफल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचारफल (मुक्ति) की आराधना करता है।[2] छेदपिण्ड ग्रंथ में छेद, मलहरण, पापनाशन, शोधि, पुण्य, पवित्र और पावन—ये सात प्रायश्चित्त के एकार्थक हैं।[3]

१. आवचू २ पृ. २५१; चिती-संज्ञाने प्रायशः वितथमाचरितमर्थमनुस्मरतीति वा प्रायश्चित्तं।

२. उ २९/१७।

३. छेदपिण्ड ३।

दिया जाता है। संक्षेप, समास और ओघ—ये एकार्थक शब्द हैं।

७. शिष्य प्रश्न पूछता है कि जीत के अलावा क्या और भी व्यवहार हैं, जिसके कारण जीत व्यवहार का विशेष उल्लेख किया गया है? आचार्य कहते हैं कि आगम आदि चार व्यवहार और हैं, उनके बारे में सुनो।

८. दुर्गति रूप संसार का दलन करने वाले तीर्थंकरों ने पांच प्रकार के व्यवहारों का वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं—१. आगम २. श्रुत ३. आज्ञा ४. धारणा ५. जीत।

९. धीर पुरुष द्वारा प्रज्ञप्त आगम व्यवहार को सुनो, वह दो प्रकार का जानना चाहिए—प्रत्यक्ष और परोक्ष।[1]

१०. प्रत्यक्ष आगम व्यवहार भी दो प्रकार का है—इंद्रियज और नोइंद्रियज।[2] इंद्रिय प्रत्यक्ष[3] भी पांच इंद्रिय-विषयों से सम्बन्धित जानना चाहिए।

११. जीव अक्ष कहलाता है। उसके प्रति या उसके द्वारा जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष[4] कहलाता है। अक्ष

---

१. जीतकल्प भाष्य में आगम व्यवहार के दो भेद प्राप्त होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जबकि नंदी में प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो ज्ञान के भेद हैं।[1] आचार्य कुंदकुंद ने भी ज्ञान के दो भेद किए हैं।[2] आचार्य सिद्धसेन प्रत्यक्ष और परोक्ष को प्रमाण का भेद मानते हैं।[3] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार उमास्वाति का यह नया प्रस्थान है कि उन्होंने प्रमाण के दो विभाग करके उनका सम्बन्ध ज्ञान पंचक के साथ स्थापित किया है।[4] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो विभाग उत्तरकालीन हैं। प्राचीन साहित्य में ज्ञान के पांच भेद ही उपलब्ध होते हैं। वहां प्रत्यक्ष या परोक्ष जैसा कोई भेद उल्लिखित नहीं है। दर्शन युग में जब प्रमाण की चर्चा प्रबल हुई, तब जैन आचार्यों ने भी ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष के साथ जोड़ दिया। परोक्ष शब्द का प्रयोग केवल जैन ज्ञान-मीमांसा में मिलता है।

**१. नंदी ३। २. प्रव १/५८। ३. न्यायावतार। ४. नंदी का टिप्पण पृ. ५१, ५२।**

२. अतीन्द्रिय ज्ञान नोइंद्रिय प्रत्यक्ष है।[1] यहां 'नो' शब्द सर्वथा निषेधवाचक है। मन भी किसी अपेक्षा से इंद्रियरूप में स्वीकृत है इसलिए उसके माध्यम से होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं होता।[2]

**१. नंदीचू पृ. १५; णोइंदियपच्चक्खं ति इंदियातिरित्तं।**

**२. नंदीमवृ प. ७६; नोशब्दः सर्वनिषेधवाची, तेन मनसोऽपि कथञ्चिदिन्द्रियत्वाभ्युपगमात्तदाश्रितं ज्ञानं प्रत्यक्षं न भवतीति।**

३. नंदीचूर्णि में इंद्रियप्रत्यक्ष ज्ञान होने की प्रक्रिया का वर्णन प्राप्त है। पुद्गलों से इंद्रिय-संस्थान निर्मित होता है, वह द्रव्येन्द्रिय है। सर्व आत्मप्रदेशों में श्रोत्र आदि इंद्रियों के आवरण का क्षयोपशम होने से शब्द आदि का ज्ञान कराने की क्षमता को भावेन्द्रिय कहते हैं। जो ज्ञान भावेन्द्रिय के प्रत्यक्ष है, वह इंद्रियप्रत्यक्ष है।[1]

विशेषावश्यक भाष्य में इंद्रिय प्रत्यक्ष के स्थान पर सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने उपचार से इंद्रियप्रत्यक्ष को प्रत्यक्षज्ञान के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। इसका हेतु बताते हुए उन्होंने कहा है कि इस ज्ञान में धूम आदि अन्य लिंग या निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती।[3]

**१. नंदीचू पृ. १४।**

**२. विभा ९५; एगंतेण परोक्खं, लिंगियमोहाइयं, च पच्चक्खं। इंदियमणोभवं जं, तं संववहारपच्चक्खं॥**

**३. विभा ४७१; इंदिय-मणोनिमित्तं, पि नाणुमाणाहि भिज्जए किंतु। नाविक्खइ लिंगंतरमिइ पच्चक्खोवयारो त्थ॥**

४. इंद्रियों की सहायता के बिना आत्मा स्वयं जिसके द्वारा ज्ञेय को जानती है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।[1]

**१. आवचू १ पृ. ७; जं सयं चेव जीवो इंदिएण विणा जाणति, तं पच्चक्खं भण्णति।**

से परे जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष[१] कहलाता है।

१२. असु—अशूङ्त्—व्याप्तौ धातु से अक्ष शब्द बना है। अक्ष नियमत: जीव कहलाता है, जो ज्ञान से सभी भावों—पदार्थों में व्याप्त रहता है, वह अक्ष कहलाता है।

१३. अशश् धातु भोजन के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अक्ष के लिए सब द्रव्य भोग में आते हैं तथा जो पालन/रक्षण करता है, वह अक्ष कहलाता है।

१४. कुछ दार्शनिक (वैशेषिक आदि) इंद्रियों को अक्ष मानते हैं, उनके द्वारा उपलब्ध ज्ञान प्रत्यक्ष[१] है लेकिन उनकी यह मान्यता युक्ति संगत नहीं है क्योंकि इंद्रियां विषय की अग्राहक हैं।

१५. जीव रूप आदि विषयों का इंद्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है इसीलिए मृत जीव की इंद्रियां विषय-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकतीं।

१६. इसलिए यह सिद्ध है कि इंद्रियां विषय की अग्राहक हैं। जो इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है, वह लैंगिक ज्ञान है।

---

१. इंद्रिय और मन के द्वारा आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है।[१] विशेषावश्यक भाष्य में इंद्रिय और मन से होने वाले ज्ञान की परोक्षता का हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि आत्मा अमूर्त्त और अपौद्गलिक है तथा द्रव्येन्द्रियां पौद्गलिक होने से आत्मा से भिन्न हैं अत: इंद्रिय और मन से होने वाला ज्ञान धूम से अग्निज्ञान की भांति परनिमित्त होने के कारण परोक्ष है।[२] इसके अतिरिक्त इंद्रिय और मन से होने वाला ज्ञान संशय आदि दोषों से युक्त हो सकता है।[३] इसका अन्य हेतु बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे पूर्व उपलब्ध सम्बन्ध की स्मृति से उत्पन्न अनुमान ज्ञान परोक्ष होता है, वैसे ही इंद्रिय और मन से होने वाला मतिश्रुत ज्ञान भी परोक्ष है।[४]

**१. बृभापीटी पृ. १२ ; इंद्रियद्वारेण मनोद्वारेण वात्मनो ज्ञानमुपजायते तत् परोक्षम्।**

**२. विभा ९० ; अक्खस्स पोग्गलकया, जं दव्विंदियमणा परा तेणं। तेहिं तो जं नाणं, परोक्खमिह तमणुमाणं व॥**

**३. विभा ९३; इंदिय-मणोनिमित्तं, परोक्खमिह संसयादिभावाओ। तक्कारण पारोक्खं, जहेह साभासमणुमाणं॥**

**४. विभा ९४ ; होंति परोक्खाइं मइ-सुयाइं जीवस्स परनिमित्ताओ। पुव्वोवलद्धसंबंधसरणाओं वाणुमाणं व॥**

ग्रंथकार ने इस गाथा में वैशेषिक आदि दर्शन का मत प्रस्तुत किया है। वैशेषिक लोग अक्ष का अर्थ इंद्रिय करते हैं। उससे जो ज्ञान की उपलब्धि होती है, वह प्रत्यक्ष होती है इसीलिए वे प्रत्यक्ष की 'चाक्षुषादिविज्ञानं प्रत्यक्षम्' परिभाषा करते हैं। गाथा के उत्तरार्ध में ग्रंथकार ने उनके मत का खंडन किया है। चक्षु आदि इंद्रियां घट की भांति पौद्गलिक और अचेतन होने के कारण रूप आदि विषय की अग्राहक होती हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि जैसे घर के गवाक्ष से पुरुष बाहर की वस्तु देखता है फिर गवाक्ष के न होने पर वह पुरुष उस वस्तु को याद रखता है। इसी प्रकार इंद्रियां न होने पर भी पुरुष उस विषय की स्मृति रखता है अत: इंद्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह लैंगिक ज्ञान है, जैसे—धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान।[१] लैंगिक ज्ञान इन्द्रिय और मन से होने के कारण परोक्ष है। कुछ दार्शनिक इंद्रियों से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं लेकिन जैन आचार्यों ने इसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष की कोटि में रखा है।[२] जीतकल्पभाष्य में इसे इंद्रिय प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार किया है।

१. बृभा २७, २८ टी पृ. १२, १३, विभा ९१, ९२।

२. विभा ९५।

१७. लिंग, चिह्न, निमित्त और कारण—ये सब एकार्थक शब्द हैं। इंद्रियों के द्वारा धूम को देखकर जीव अग्नि को जानता है।

१८. इस प्रकार इंद्रियों के द्वारा जो जाना जाता है, वह लैङ्गिक ज्ञान[1] है इसलिए यह सिद्ध है कि जीव जानता है, श्रोत्र आदि पांच इंद्रियां नहीं जानतीं।

१९. यह सारा वर्णन प्रसंग के अनुसार किया गया है क्योंकि कहीं-कहीं कोई (दार्शनिक) इंद्रियों को प्रत्यक्ष मानते हैं। इंद्रियों के द्वारा जानकर इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए।

२०-२२. श्रोत्रेन्द्रिय से किसी अन्य की प्रतिसेवना को सुनकर, चक्षुरिन्द्रिय से किसी को अनाचार का सेवन करते हुए देखकर, धूप आदि सुगंधित द्रव्यों में पिपीलिका आदि की हिंसा देखकर, किसी के द्वारा सचित्त कंद आदि फल खाने से गंध और रस का अनुभव होने पर, अंधकार में स्पर्श से अभ्यङ्गन आदि को जानकर—इन सब बातों को इंद्रिय-प्रत्यक्ष से जानकर व्यवहार किया जाता है।

२३. नोइंद्रिय प्रत्यक्ष व्यवहार संक्षेप में तीन प्रकार का है—१. अवधि प्रत्यक्ष २. मन:पर्यव प्रत्यक्ष ३. केवल प्रत्यक्ष।

२४. व्यवहार को एक बार रहने दें। अवधिज्ञान आदि तीनों के लक्षण संक्षेप में अशून्यार्थ के लिए कहूंगा।

२५. नोइंद्रिय प्रत्यक्ष का प्रथम भेद अवधिज्ञान है। उसके स्वामित्व, क्रम और विशुद्धि को मैं अनेक प्रकार से कहूंगा। अवधिज्ञान के कितने भेद हैं?

२६. अवधिज्ञान की सर्व प्रकृतियां संख्यातीत[2] हैं। इनमें कुछ भवप्रत्ययिक तथा कुछ क्षायोपशमिक[3] हैं।

२७-२९. अवधिज्ञान की प्रकृतियां संख्यातीत क्यों कही गई हैं? क्षेत्रप्रमाण की दृष्टि से अवधिज्ञान जघन्य रूप से अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर प्रदेशवृद्धि के कारण उत्कृष्टत: लोकप्रमाण असंख्यात खंडों

---

१. न्याय वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को आत्मा का लिंग माना गया है।[1]

१. न्या.—१/१/१०; इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दु:ख-ज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।

२. ज्ञेयभेद से ज्ञानभेद हो जाता है अत: अवधिज्ञान की संख्यातीत प्रकृतियां कही गई हैं।[1]

१. आवनि २३ हाटी १ पृ. १८; ज्ञेयभेदाच्च ज्ञानभेद इत्यत: संख्यातीता: तत्प्रकृतय: इति।

३. व्रत, सम्यक्त्व आदि के कारण क्षयोपशमजन्य आत्मविशुद्धि होने से गुणों के कारण जो ज्ञान प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान है। इसे गुणप्रत्ययिक भी कहा जाता है। आचार्य वीरसेन ने इसके लिए गुणहेतुक शब्द का प्रयोग भी किया है।

क्षायोपशमिक ज्ञान गुण-प्रतिपत्ति के बिना भी होता है। जैसे लकड़ी में घुणाक्षरन्याय से स्वत: अक्षरों की रचना प्रकट हो जाती है, वैसे ही जन्म-जन्मान्तर में परिभ्रमण करते हुए अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से यथाप्रवृत्त अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है।

को जानता है इसलिए अवधिज्ञान की प्रकृतियां संख्यातीत कही गई हैं।[१] काल की दृष्टि से अवधिज्ञान जघन्यतः आवलिका के असंख्य भाग से प्रारम्भ होकर समय की उत्तरोत्तर वृद्धि होने से उत्कृष्टतः असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रमाण काल को जानता है।

३०, ३१. इस प्रकार अवधिज्ञान की सर्व प्रकृतियां असंख्य होती हैं। 'संख्यातीत' शब्द के ग्रहण से केवल असंख्य का ही ग्रहण नहीं हुआ है, पुद्गलास्तिकाय की पर्यायों की अपेक्षा से अवधिज्ञान की प्रकृतियां अनंत भी होती हैं। संख्यातीत शब्द से 'असंख्य' और 'अनंत' दोनों का ग्रहण हो जाता है।[२]

३२. अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है—भवप्रत्ययिक[३] और क्षायोपशमिक।[४] देवता और नारक के नियम

---

१. अवधिज्ञान के असंख्य स्थान होते हैं, इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का टिप्पण पठनीय है—'अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। कोई भावितात्मा अनगार वैक्रिय समुद्घात से समवहत वैक्रिय विमान में बैठकर जाते हुए देव को देखता है, विमान को नहीं देखता। कोई अनगार विमान को देखता है, देव को नहीं देखता। कोई अनगार देव को भी देखता है और विमान को भी देखता है। कोई अनगार न देव को देखता है और न विमान को देखता है। कोई भावितात्मा अनगार वृक्ष के अन्तर्वर्ती भाग को देखता है, बहिर्वर्ती भाग को नहीं देखता। कोई अनगार वृक्ष के बहिर्वर्ती भाग को देखता है, अन्तर्वर्ती भाग को नहीं देखता। कोई अनगार वृक्ष के मूल को देखता है, कंद को नहीं देखता। कोई अनगार वृक्ष के कंद को देखता है, मूल को नहीं देखता। इसी प्रकार बीजपर्यंत अनेक विकल्प हैं।'[१]

**१. भभा. २, ३/१५४-१६३ का टिप्पण पृ. ७३, ७४।**

२. आचार्य हरिभद्र सूरि के अनुसार क्षेत्र और काल की अपेक्षा से अवधिज्ञान की प्रकृतियां असंख्य तथा द्रव्य और भाव रूप ज्ञेय की अपेक्षा से अवधिज्ञान की प्रकृतियां अनंत हैं।[१]

**१. आवहाटी १ पृ. १८ ; द्रव्यभावाख्यज्ञेयापेक्षया चानन्ता इति।**

३. जिस अवधिज्ञान के क्षयोपशम में भव—जन्म कारण बनता है, वह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान है, जैसे पक्षियों में उड़ने की क्षमता जन्मजात होती है।[१] इस प्रसंग में विशेषावश्यक भाष्य में एक प्रश्न उपस्थित किया है कि अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव है, जबकि देवगति और नरकगति औदयिक भाव, फिर वह ज्ञान भवप्रत्ययिक कैसे हो सकता है? आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि देव और नारकों को अवधिज्ञान क्षयोपशम से ही मिलता है लेकिन वह उस भव में अवश्य होता है इसलिए इसे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहा गया है।[२]

**१. आवहाटी १ पृ. १८।**

**२. विभा ५७३, ५७४ ;**

**ओही खओवसमिए, भावे भणिओ भवो तहोदईए। तो किह भवपच्चइओ, वोत्तुं जुत्तोऽवही दोण्हं॥**
**सो वि हु खओवसमओ, किंतु स एव खओवसमलाभो। तम्मि सइ होयवस्सं, भण्णइ भवपच्चओ तो सो॥**

४. नंदी चूर्णिकार ने क्षयोपशम जन्य अवधिज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है—गुण के बिना होने वाला क्षयोपशम, गुण की प्रतिपत्ति से होने वाला क्षयोपशम। बिना गुण के होने वाले अवधिज्ञान को नंदी चूर्णिकार ने बादल की उपमा से समझाया है। जैसे बादलों से आच्छन्न आकाश में कोई छिद्र रह जाता है तो उसमें से सूर्य की किरणें निकलकर द्रव्य को प्रकाशित करती हैं, वैसे ही अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर बिना गुण के अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है। क्षयोपशम जन्य अवधि का दूसरा हेतु है—गुण की प्रतिपत्ति। यहां गुण का अर्थ है—चारित्र। चारित्र गुण की विशुद्धि होने से अवधिज्ञान की उत्पत्ति के योग्य क्षयोपशम होता है। यह गुण-प्रतिपत्ति से होने वाला क्षयोपशम है।[१]

**१. नंदीचू पृ. १५।**

से भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान होता है।

**३३.** उत्पन्न होता हुआ भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान जितने विषय को जानता है, भव-पर्यन्त उतना ही जानता है। न उसमें वृद्धि होती है और न ही हानि।

**३४.** गुणप्रत्ययिक अवधिज्ञान संख्यात आयुष्य वाले गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों के तदावरणीय (अवधि ज्ञानावरणीय) कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है।

**३५.** अवधि[1] का अर्थ है—मर्यादा। यह परिमित द्रव्यों को जानता है इसलिए इसका नाम अवधि है। यह केवल मूर्त्त द्रव्यों को जानता है, अरूपी द्रव्य इसका विषय नहीं है।

**३६.** अत्यन्त अनुपलब्ध[2] द्रव्य अवधिज्ञान के प्रत्यक्ष होते हैं। अवधिज्ञान में परिणत द्रव्य समस्त पर्यायों को प्रकट करने में समर्थ नहीं होते।[3]

---

१. जिसके द्वारा मर्यादापूर्वक ज्ञान होता है, वह अवधि है। दिगम्बर आचार्य अकलंक ने अवधि शब्द को अव उपसर्ग पूर्वक धा धातु से निष्पन्न माना है। उनके अनुसार अव उपसर्ग अधोवाचक है। जो ज्ञान अधोवर्ती वस्तुओं को जानता है, वह अवधिज्ञान है।[4] विशेषावश्यक भाष्य में अवधि का अर्थ अवधान किया है। जो अवधान से जानता है, वह अवधिज्ञान है।[2] तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी के रचयिता सिद्धसेनगणी ने अव को विषयबहुलता का द्योतक माना है। उनके अनुसार अवधिज्ञान केवल नीचे ही देखे, यह युक्तिसंगत नहीं है, वह ऊर्ध्व और तिर्यक् दिशा में स्थित मूर्त्त पदार्थों को भी साक्षात् जानता है।[3] धवला के टीकाकार वीरसेन के अनुसार जो अवाङ् — पुद्गल को धारण करता है, वह अवधिज्ञान है।[4]

**१. तत्त्वा १/९/३ पृ. ४४ ; अवशब्दोऽधःपर्यायवचनः, यथा अधः क्षेपणम् अवक्षेपणमिति। अधोगतभूयोद्रव्य विषयो ह्यवधिः।**

**२. विभा ८२; तेणावहीयए तम्मि वावहाणं तओऽवही सो य मज्जाया। जं तीए दव्वाइं, परोप्परं मुणइ तओ ऽवहि त्ति॥**

**३. त १/९ भाटी पृ. ७०।**

**४. षट्ध पु. १३, ५/५/२१ पृ. २१०, २११।**

२. बृहत्कल्पभाष्य में अवधिज्ञान के प्रसंग में अत्यन्त अनुपलब्ध पदार्थों के उदाहरण दिए हैं—कपड़े बदलने से, गुटिका-प्रयोग से, स्वर या वर्ण परिवर्तन से, विपरीत वेश धारण करने से, विद्यासिद्ध, अञ्जनसिद्ध अथवा देवता के द्वारा छिपाए हुए अत्यन्त अनुपलब्ध पदार्थ अवधिज्ञान के प्रत्यक्ष होते हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वी, वृक्ष, पहाड़ में अथवा शरीर के अंदर जो द्रव्य हैं, वे तथा इंद्रिय और मन से सम्बन्धित सुख-दुःख अवधिज्ञान के प्रत्यक्ष होते हैं।[1]

**१. बृभा ३१, ३२ ; विवरीयवेसधारी, विज्जंजणसिद्धदेवताए वा। छाइयसेवियसेवी, बीयादीओ वि पच्चक्खा॥**
**पुढवीइ तरुगिरीया, सरीरादिगया य जे भवे दव्वा। परमाणू सुहदुक्खादओ य ओहिस्स पच्चक्खा॥**

३. अवधिज्ञानी जघन्यतः प्रत्येक द्रव्य के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप चार पर्यायों को जानता है, मध्यम अवधिज्ञानी संख्येय पर्यायों को तथा उत्कृष्ट अवधिज्ञानी असंख्येय पर्यायों को जानता है। अवधिज्ञानी द्रव्य की अनंत पर्यायों को कभी नहीं जानता।[1]

**१. (क) आवनि ६२; दव्वाओ असंखेज्जे, संखेज्जे यावि पज्जवे लभति। दो पज्जवे दुगुणिते, लभति य एगाउ दव्वाओ॥**
**(ख) विभा ७६१, ७६२; एगं दव्वं पेच्छं, खंधमणुं वा स पज्जवे तस्स। उक्कोसमसंखिज्जे, संखिज्जे पेच्छए कोइ॥**
**दो पज्जवे दुगुणिए, सव्वजहण्णेण पेच्छए ते य। वण्णाईया चउरो, नाणंते पेच्छइ कयाइ॥**

**३७, ३८.** अवधिज्ञान संक्षेप में छह प्रकार का जानना चाहिए[1]—१. आनुगामिक[2] २. अनानुगामिक ३. वर्धमान ४. हीयमान ५. प्रतिपाती ६. अप्रतिपाती। आनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है—अंतगत[3] और मध्यगत[4]।

---

१. षट्खण्डागम में अवधिज्ञान के तेरह भेद उल्लिखित हैं—१. देशावधि २. परमावधि ३. सर्वावधि ४. हीयमान ५. वर्धमान ६. अवस्थित ७. अनवस्थित ८. अनुगामी ९. अननुगामी १०. सप्रतिपाति ११. अप्रतिपाति १२. एकक्षेत्र १३. अनेक क्षेत्र।[1] तत्त्वार्थ वार्तिक में प्रकारान्तर से अवधिज्ञान के तीन भेद मिलते हैं—१. देशावधि २. परमावधि ३. सर्वावधि।[2] आचार्य महाप्रज्ञ ने नंदी सूत्र में इसका विस्तार से वर्णन किया है।[3]

१. षट्ध पु. १३, ५/५, ५६। २. तवा १/२२ पृ. ८१ ३. नंदी पृ. ५५, ५६।

२. आनुगामिक अवधि का अर्थ है—जिस क्षेत्र में यह ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उस क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी अनुगमन करता है। तत्त्वार्थ भाष्य में इसे सूर्य के प्रकाश एवं पाक के समय घट जनित रक्तता से समझाया गया है।[1] जैसे सूर्य का प्रकाश तथा घट की रक्तता सर्वत्र व्याप्त होती है, वैसे ही इस अवधिज्ञान में आत्मप्रदेशों की विशेष विशुद्धि होती है। नंदी चूर्णि के अनुसार आंख की भांति जो साथ-साथ अनुगमन करता है, वह आनुगामिक अवधिज्ञान है।[2] धवला में आनुगामिक अवधि के तीन भेद निर्दिष्ट हैं—

१. क्षेत्रानुगामी—एक क्षेत्र में उत्पन्न होकर अन्य क्षेत्र में भी साथ जाने वाला।
२. भवानुगामी—एक भव में उत्पन्न होकर अन्य भव में भी साथ जाने वाला।
३. क्षेत्रभवानुगामी—क्षेत्र और भव—दोनों में अनुगमन करने वाला, यह संयोग जनित विकल्प है।[3] इस सम्बन्ध में विस्तार हेतु देखें नंदी पृ. ५६-५८।

१. तत्त्वोभा १/२३ ; आनुगामिकं यत्र क्वचिदुत्पन्नं क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रतिपतति भास्करप्रकाशवत्, घटरक्तभाववच्च।
२. नंदीचू पृ. १५; अणुगमणसीलो अणुगामितो तदावरणखयोवसमाऽऽतप्पदेसविसुद्धगमणत्तातो लोयणं व॥
३. षट्ध पु. १३, ५/५/५६, पृ. २१४।

३. नंदी के टीकाकार ने अंतगत अवधिज्ञान की व्याख्या तीन प्रकार से की है—१. जो पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों से साक्षात् जानता है। २. जो औदारिक शरीर के अंत—किसी एक भाग से जानता है। ३. सब आत्मप्रदेशों का क्षयोपशम होने पर भी जो ज्ञान औदारिक शरीर के एक भाग से एक दिशागत वस्तुओं को जानता है, वह अंतगत अवधिज्ञान है।[1]

१. नंदीमटी प. ८३।

४. अवधिज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम से जब सारे स्पर्धक विशुद्ध हो जाते हैं, सम्पूर्ण स्थूलशरीर जब ज्ञान का करण बन जाता है, तब व्यक्ति को दाएं-बाएं और आगे-पीछे सब ओर से ज्ञान होने लगता है। वह सभी दिशाओं में संख्यात-असंख्यात योजन क्षेत्र एवं तत्रस्थ ज्ञेय पदार्थों को जान लेता है। नंदी चूर्णिकार के अनुसार मध्यगत अवधि के तीन अर्थ हैं—१. जिसके मध्यवर्ती आत्मप्रदेश अवधिज्ञान के स्पर्धक बनते हैं, वह सब दिशाओं को जानता है। २. जिस अवधिज्ञान का क्षयोपशम सारे आत्मप्रदेशों में होता है तथा करण औदारिक शरीर के मध्यवर्ती अवयव बनते हैं। औदारिक शरीर के मध्य में स्थित होने वाला ज्ञान मध्यगत अवधि है। ३. मध्यगत अवधि के द्वारा पुरोवर्ती, पश्चाद्वर्ती और उभयपार्श्ववर्ती क्षेत्र के ज्ञेय जाने जाते हैं। अवधिज्ञानी अपने ज्ञेय क्षेत्र के मध्य में रहता है, पर्यन्तभाग में नहीं अतः यह मध्यगत अवधिज्ञान है। टीकाकार ने भी इसकी तीन रूपों में व्याख्या की है।[1]

१. नंदीमटी प. ८३, ८४, द्र. श्रीभिक्षु आगम भा. १ पृ. ५०।

**३९.** अंतगत अवधिज्ञान भी तीन प्रकार का होता है—१. पुरतः[1] २. पृष्ठतः[2] ३. पार्श्वतः। पुरतः अंतगत अवधिज्ञान को मैं संक्षेप में कहूंगा।

**४०.** जैसे कोई मनुष्य उल्का, दीपिका, चुडुलि—मशाल, दीप या मणि आदि को आगे प्रेरित करके चलता है, वह पुरतः अंतगत अवधिज्ञान है।[3]

**४१.** इसी प्रकार कोई पुरुष उल्का आदि को पृष्ठभाग में रखता हुआ चलता है, वह पृष्ठतः अंतगत अवधिज्ञान है।

**४२.** जो कोई पुरुष मशाल यावत् मणि आदि को पार्श्व भाग में करके दायीं अथवा बायीं ओर रखता हुआ चलता है, वह पार्श्वतः अंतगत अवधिज्ञान है।[4] इस प्रकार अंतगत के ये तीन भेद कहे गए हैं।

**४३.** *मध्यगत अवधिज्ञान क्या होता है? जैसे कोई पुरुष मशाल आदि को सिर पर रखकर चलता है, वह* मध्यगत अवधिज्ञान है।[5]

---

१. सामने के संख्यात और असंख्यात योजन क्षेत्र में स्थित पौद्गलिक पदार्थों को इंद्रिय और मन की सहायता के बिना जानने वाला ज्ञान पुरतः अंतगत अवधिज्ञान है।[1] इस अवधिज्ञान में शरीर के सामने के वक्षस्थल आदि अवयव अवधिज्ञान के करण बनते हैं।

**१. नंदीमटी प ८४ ; तत्र पुरतः अवधिज्ञानिनः स्वव्यपेक्षया अग्रभागेऽन्तगतं पुरतोऽन्तगतम्।**

२. पृष्ठतः अर्थात् पीछे के संख्यात-असंख्यात योजन क्षेत्र में विद्यमान पदार्थों का अतीन्द्रियज्ञान पृष्ठतः अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। आवश्यक चूर्णि में पृष्ठतः अवधिज्ञान के लिए स्पर्शन इंद्रिय का उदाहरण दिया गया है।[1]

**१. आवचू १ पृ. ५६ ; जत्थ जत्थ सो ओहिणाणी गच्छति, तत्थ तत्थ सोइंदिएणमिव पासतो अवट्ठिता रूवावबद्धा अत्था ओहिणा जाणति पासति य।**

३. ग्रंथकार ने आनुगामिक अवधि की तुलना दीपिका, चुडुलिका आदि प्रकाशक द्रव्यों से की है। ये प्रकाश के ऐसे साधन हैं, जिन्हें व्यक्ति जहां चाहे, वहां ले जा सकता है। इनसे आगे-पीछे, दाएं-बाएं किसी भी दिशा को प्रकाशित किया जा सकता है। ये जिस दिशा को प्रकाशित करते हैं, आंखें उसी दिशा के पदार्थों को जानती हैं, उसी प्रकार इस अवधिज्ञान में ज्ञानी के शरीर का जो भाग प्रभावित होता है, उसी दिशा से अवधिज्ञान की रश्मियां बाहर निकलती हैं और ज्ञेय पदार्थ को प्रकाशित करके अतीन्द्रिय ज्ञान करवाती हैं।

४. दाएं और बाएं पार्श्व की ओर संख्यात-असंख्यात योजन क्षेत्रवर्ती पदार्थों को साक्षात् करने वाला अवधिज्ञान पार्श्वतः अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। इससे कांख आदि पार्श्वस्थ चैतन्यकेन्द्र के जागृत होने पर पार्श्ववर्ती ज्ञेयों का ज्ञान होता है। ग्रंथकार ने पुरतः अंतगत के लिए पणुल्लयंत, मार्गतः अंतगत के लिए अणुकड्ढमाण तथा पार्श्वतः अंतगत के लिए परिकड्ढमाण शब्द का प्रयोग किया है।

५. नारक, देव और तीर्थंकरों के नियमतः अबाह्य अवधिज्ञान होता है। इनका भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान मध्यगत होता है। मध्यगत अवधिज्ञान में ही सर्वतः देखने की शक्ति होती है। शेष मनुष्य और तिर्यञ्च अंतगत अवधिज्ञान वाले होते हैं, वे एक देश से देखते हैं।[1] चूर्णिकार ने मध्यगत अवधिज्ञान की स्पर्शन इंद्रिय से तुलना की है।[2]

**१. नंदी २२/२, आवनि ६४।**

**२. आवचू १ पृ ५६, ५७; जहा फरिसिंदिएणं, समंतओ फरिसिए जीवो अत्थे उवलभति, एवं सो वि, ओहिणाणी जत्थ जत्थ गच्छति॥ तत्थ तत्थ समंतओ रूवावबद्धे अत्थे ओहिणा जाणति पासति य, से तं मज्झगयं ओहिणाणं॥**

४४, ४५. *अंतगत और मध्यगत अवधिज्ञान में क्या भेद है? पुरतः अंतगत अवधिज्ञान पुरोवर्ती संख्येय या असंख्येय योजन प्रमाण क्षेत्र को जानता-देखता है, जबकि मध्यगत अवधिज्ञान चारों ओर संख्येय-असंख्येय योजन तक के पदार्थों को जानता-देखता है। इसी प्रकार पृष्ठतः और पार्श्वगत को जानना* चाहिए।

४६. इस प्रकार आनुगामिक अवधिज्ञान का मैंने संक्षेप में वर्णन कर दिया, अब अनानुगामिक[1] अवधिज्ञान को कहूंगा।

४७-४९. जैसे कोई पुरुष एक विशाल ज्योतिकुंड को बनाकर उसी के आसपास चारों ओर चक्कर लगाता हुआ उस ज्योति-स्थान को देखता है, अन्यत्र जाने पर वह उसे नहीं देखता, वैसे ही अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र से सम्बद्ध संख्येय अथवा असंख्येय योजन प्रमाण क्षेत्र को जानता देखता है, अन्यत्र जाने पर वह उसे नहीं देखता। यह मैंने संक्षेप में अनानुगामिक[2] अवधिज्ञान का वर्णन किया है।

५०. जो प्रशस्त अध्यवसाय[3] तथा शुद्ध चारित्र में वर्तमान है, आगे से आगे विशुद्ध्यमान चारित्र वाला है,

---

१. जो अवधिज्ञान जहां उत्पन्न होता है, उस क्षेत्र से या भव से अन्यत्र जाने पर साथ नहीं जाता, वह अनानुगामिक अवधिज्ञान कहलाता है। इसकी तुलना ग्रंथकार ने स्थिर ज्योतिकुण्ड से की है। व्यक्ति उस ज्योतिकुण्ड के चारों ओर की क्षेत्रगत वस्तुओं को जान लेता है किन्तु अन्यत्र जाने पर प्रकाश साथ न चलने से वह जान-देख नहीं पाता। नंदीचूर्णि में ज्योतिकुंड या ज्योतिस्थान के स्थान पर सांकल से बंधे दीपक का उदाहरण दिया है। आकारभेद और शब्दभेद होने पर भी दोनों का भावार्थ एक ही है। चूर्णिकार के अनुसार अनानुगामिक अवधिज्ञान क्षेत्र सापेक्ष क्षयोपशम से उत्पन्न होता है।[1] आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में प्रश्नादेशिक पुरुष के उदाहरण से अनानुगामिक अवधिज्ञान को स्पष्ट किया है। जैसे—प्रश्नादेशिक पुरुष (प्रश्नकुंडली के आधार पर उत्तर देने वाला) अपने नियत स्थान में प्रश्न का उत्तर सम्यक् रूप से दे सकता है, वैसे ही क्षेत्र प्रतिबद्ध अवधिज्ञान अपने क्षेत्र में ही साक्षात् जान सकता है।[2]

**१. नंदीचू पृ. १७ ; संकलापडिबद्धद्वितप्पदीवो व्व, तस्स य खेत्तावेक्खखयोवसमलाभत्तणतो अणाणुगामित्तं।**

**२. तस्सोभा १/२३ ; तत्रानानुगामिकं यत्र क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्नं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपतति प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत्।**

२. नारक और देवों का अवधिज्ञान अनानुगामिक होता है। मनुष्य और तिर्यञ्चों का अवधिज्ञान आनुगामिक, अनानुगामिक और मिश्र अर्थात् एक देश में अनुगमनशील—तीनों प्रकार का होता है।[1]

**१. आवनि ५४ ; अणुगामिओ उ ओधी, नेरइयाणं तधेव देवाणं। अणुगामि अणणुगामी, मीसो य मणुस्सतेरिच्छे।**

३. नंदी चूर्णिकार के अनुसार तैजस, पद्म और शुक्ल—इन तीन प्रशस्त लेश्याओं से अनुरंजित चित्त वाला प्रशस्त अध्यवसाय वाला कहलाता है।[1]

**१. नंदीचू पृ. १८; पसत्थज्झवसाणट्ठाणा तेआदिएसत्थलेसाणुगता भवंति, पसत्थदव्वलेसाहि अणुरंजितं चित्तं पसत्थ-ज्झवसाणो भण्णति।**

उसका अवधिज्ञान सब ओर से बढ़ता जाता है[1] (यह वर्धमान अवधिज्ञान है।)।

**५१.** वर्धमान[2] परिणामों से होने वाले जघन्य से लेकर उत्कृष्ट अवधिज्ञान को मैं इन गाथाओं में कहूंगा।

**५२.** तीन समय के आहारक सूक्ष्म पनक जीव (वनस्पति विशेष) के शरीर की जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना ही अवधि ज्ञान का जघन्य क्षेत्र परिमाण होता है।[3]

---

१. नंदीचूर्णि के अनुसार पूर्व अवस्था की अपेक्षा जो उत्तरोत्तर बढ़ता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान कहलाता है।[1] यह वृद्धि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चारों में होती है। वर्धमान अवधि को आचार्य मलयगिरि ने एक उपमा से समझाया है। जैसे प्रचुर शुष्क ईंधन डालने से अग्नि बढ़ती जाती है, वैसे ही प्रशस्त प्रशस्ततर अध्यवसायों के कारण उत्तरोत्तर बढ़ने वाला वर्धमान अवधिज्ञान कहलाता है। इसकी वृद्धि गुण-विशुद्धि सापेक्ष होती है। आवश्यक चूर्णि के अनुसार प्रशस्त अध्यवसाय से वर्धमान अवधिज्ञानी अधिक से अधिक अचित्तमहास्कंध तथा कम से कम परमाणु पुद्गल तक देखता है।[2] भाष्यकार ने अवधिज्ञान की वृद्धि के दो कारण बताए हैं—
अध्यवसायों की शुद्धि तथा चारित्र की विशुद्धि।

**१. नंदीचू पृ. १८; पुव्वावत्थातो उवरुवरि वड्ढमाणं ति।**

**२. आवचू १ पृ. ४८; विसुद्धपरिणामगो ओहिणा परिवड्ढमाणेण उवरिं जाव अचित्तमहाखंधो ताव पासति, हेट्ठा वि जाव परमाणू पोग्गला ताव पासति।**

२. षट्खण्डागम में वर्धमान अवधि को शुक्लपक्ष के चन्द्रमण्डल से उपमित किया गया है। टीकाकार वीरसेन के अनुसार वर्धमान अवधिज्ञान बढ़ता हुआ केवलज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व क्षण तक जा सकता है।[1]

१. षट्ध पु. १३, ५/५/५६, पृ. २९३, २९४।

३. यह गाथा मूलतः आवश्यक निर्युक्ति (२८) की है। इसमें अवधिज्ञान के जघन्य क्षेत्र का परिमाण बताया गया है। अंगुल का असंख्यातवां भाग कितना सूक्ष्म होता है, इसे पनक के उदाहरण से बताया गया है। प्रथम और द्वितीय समय में पनक जीव की अवगाहना अत्यन्त सूक्ष्म होती है। चतुर्थ और पंचम आदि समयों में वह स्थूल हो जाती है इसलिए तृतीय समय में उसकी जितनी अवगाहना होती है, उतना क्षेत्र जघन्य अवधिज्ञान का विषय बनता है।[1] षट्खण्डागम के अनुसार लब्धि से अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद जीव की अवगाहना अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र है।

इस प्रसंग में आचार्य महाप्रज्ञ ने आचार्य हरिभद्रसूरि और मलयगिरि द्वारा उल्लिखित सम्प्रदाय-भेद का वर्णन किया है—' हजार योजन लम्बा मत्स्य, जो अपने ही शरीर के बाह्य भाग के एक देश में उत्पन्न होने वाला है, वह प्रथम समय में अपने शरीर में व्याप्त सब आत्म-प्रदेशों की मोटाई को संकुचित करके प्रतर बनाता है। उस प्रतर की मोटाई अंगुल के असंख्येय भाग प्रमाण तथा लम्बाई-चौड़ाई अपने देह प्रमाण होती है। दूसरे समय में उस प्रतर को संकुचित कर वह मत्स्य अपने देहप्रमाण लम्बाई-चौड़ाई वाले आत्म-प्रदेशों की सूची बनाता है। उस सूची की मोटाई-चौड़ाई अंगुल के असंख्येय भाग प्रमाण होती है। तीसरे समय में उस सूची को संकुचित कर अंगुल के असंख्येय भाग प्रमाण अपने शरीर के बाहरी प्रदेश में सूक्ष्म परिणति वाले पनक के रूप में उत्पन्न होता है। उत्पत्ति के तीसरे समय में पनक के शरीर का जितना प्रमाण होता है, उतने प्रमाण वाला क्षेत्र अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र है। इतने क्षेत्र में अवस्थित वस्तु जघन्य अवधिज्ञान का विषय बनती है।'[1,2]

आचार्य जिनभद्रगणि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि महामत्स्य तीन समयों में आत्म-प्रदेशों का संकुचन करके अपने प्रयत्न विशेष से सूक्ष्म अवगाहना वाला होता है इसलिए महामत्स्य का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[3]

**१. विभा ५९५; पढम-बिईए अतिसण्हो जमइत्थूलो चउत्थयाईसु। तईयसमयम्मि जोग्गो, गहिओ तो तिसमयाहारो॥**

२. नंदी का टिप्पण पृ. ६०, नंदीहाटी पृ. २६, नंदीमटी प. ९१, ९२।

३. विभा ५९२-९५।

५३. (भगवान् अजितनाथ के समय उत्कृष्ट परिमाण में अग्निकायिक जीवों की उत्पत्ति हुई थी) उन सर्वाधिक अग्नि जीवों ने निरन्तर जितने क्षेत्र को व्याप्त किया था, सब दिशाओं में उतना परमावधि का क्षेत्र होता है।[१]

५४. अंगुल के असंख्येय भाग जितने क्षेत्र को देखने वाला अवधिज्ञान काल की दृष्टि से आवलिका के असंख्येय भाग तक देखता है।[२] अंगुल के संख्येय भाग जितने क्षेत्र को देखने वाला आवलिका के संख्येय भाग तक देखता है। अंगुल जितने क्षेत्र को देखने वाला भिन्न आवलिका तक देखता है। काल की दृष्टि से एक आवलिका तक देखने वाला क्षेत्र की दृष्टि से अंगुलपृथक्त्व (दो से नौ अंगुल) क्षेत्र को देखता है।

५५. एक हाथ जितने क्षेत्र को देखने वाला अंतर्मुहूर्त्त जितने काल तक देखता है। एक गव्यूत क्षेत्र को देखने वाला अंतर्दिवस काल (एक दिन से कुछ न्यून) तक देखता है। एक योजन जितने क्षेत्र को देखने वाला दिवसपृथक्त्व (दो से नौ दिवस) काल तक देखता है। पच्चीस योजन जितने क्षेत्र को देखने वाला अंतः पक्षकाल (कुछ कम एक पक्ष) तक देखता है।

५६. भरत जितने क्षेत्र को देखने वाला अर्द्धमास काल तक देखता है। जंबूद्वीप जितने क्षेत्र को देखने वाला साधिक मास (एक महीने से कुछ अधिक) काल तक देखता है। मनुष्य लोक जितने क्षेत्र को देखने वाला एक वर्ष तक देखता है। रुचकद्वीप जितने क्षेत्र को देखने वाला वर्षपृथक्त्व (दो से नौ वर्ष) तक देखता है।

५७. संख्येय द्वीप-समुद्र जितने क्षेत्र को देखने वाला संख्येय काल तक देखता है। असंख्येय काल तक देखने वाला असंख्येय द्वीप समुद्र जितने क्षेत्र को देख सकता है, पर इसमें भजना है।[३]

५८. (अवधिज्ञान के प्रसंग में) कालवृद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव की वृद्धि निश्चित होती है।

---

१. इस गाथा में परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र-परिमाण का निरूपण है। जब पांच भरत और पांच ऐरवत में मनुष्यों की संख्या पराकाष्ठा पर होती है, तब सबसे अधिक अग्नि के जीव होते हैं क्योंकि लोगों की बहुलता होने पर पचन-पाचन आदि क्रियाएं भी प्रचुर होती हैं। तीर्थंकर अजित के समय में अग्नि के जीव पराकाष्ठा प्राप्त थे क्योंकि उस समय मनुष्यों की संख्या अत्यधिक थी। मनुष्यों का आयुष्य लम्बा था। पुत्र-पौत्रों की संख्या अधिक थी। उस समय अग्निजीवों की उत्पत्ति में महावृष्टि आदि का व्याघात नहीं था।[१] इस प्रकार सर्वबहु अग्निकाय के जीव सब दिशाओं में जितने क्षेत्र को व्याप्त करते हैं, वह परमावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र है। विशेषावश्यक भाष्य में अवधिज्ञान के इस सामर्थ्य को एक कल्पना द्वारा समझाया गया है।[२]

**१. आवचू १ पृ. ३९।**

**२. विस्तार हेतु देखें विभा ६०२-०४ एवं उसकी टीका, नंदी का टिप्पण पृ. ६०, ६१ तथा श्रीभिक्षु भा. १ पृ. ५४, ५५।**

२. काल और क्षेत्र की वृद्धि के सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में कुछ मतभेद है। इस संदर्भ में विस्तार हेतु देखें ज्ञान मीमांसा पृ. २७३-७५।

३. गा. ५४ से ५७ तक की चार गाथाओं में अवधिज्ञान का ज्ञेय क्षेत्र और उससे सम्बन्धित काल के बारे में विवेचन किया गया है। नंदी सूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट निरूपण किया है कि क्षेत्र और काल का वर्णन उपचार की दृष्टि से प्रतिपादित है। इसका तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान क्षेत्र में स्थित दर्शन योग्य द्रव्यों एवं विवक्षित कालान्तरवर्ती पर्यायों को जानता-देखता है।[१] आचार्य महाप्रज्ञ ने नंदी सूत्र में षट्खण्डागम में वर्णित समय-अवधि और क्षेत्र परिमाण का तुलनात्मक चार्ट प्रस्तुत किया है।[२]

**१. नंदीहाटी पृ. २७।** **२. देखें नंदी का टिप्पण पृ. ६१।**

क्षेत्रवृद्धि में कालवृद्धि की भजना है। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल की वृद्धि में भजना होती है।[1]

५९. काल सूक्ष्म होता है लेकिन क्षेत्र उससे भी सूक्ष्मतर होता है। अंगुलश्रेणिमात्र आकाश-प्रदेश का परिमाण असंख्येय अवसर्पिणी की समय-राशि जितना होता है।

६०. त्रिसमयआहारक आदि आठ गाथाओं (गाथा ५२-५९) के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करना चाहिए, जैसा आवश्यक (विशेषावश्यक भाष्य) में कहा गया है।

६१. इस प्रकार वर्धमान अवधिज्ञान संक्षिप्त में कहा गया। हीयमान[2] अवधिज्ञान का स्वरूप इस प्रकार है।

६२. जो अप्रशस्त अध्यवसायों और अशुद्ध चारित्र में वर्तमान है तथा जो संक्लिश्यमान चित्त[3] से युक्त है, उसका अवधिज्ञान सब ओर से घटता जाता है।

६३, ६४. जो अवधिज्ञान अंगुल के संख्येय भाग, असंख्येय भाग, अंगुल पृथक्त्व, हस्त, धनु, योजन, सौ योजन, सहस्र योजन, संख्येय योजन, असंख्येय योजन यावत् सर्वलोक को देखकर प्रतिपतित हो जाता है, वह प्रतिपाती[4] अवधिज्ञान है।

---

१. क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म है। उसकी अपेक्षा काल स्थूल है। यदि अवधिज्ञान की क्षेत्रवृद्धि होती है तो कालवृद्धि भी होती है। द्रव्य क्षेत्र से भी अधिक सूक्ष्म होता है क्योंकि एक आकाश प्रदेश में भी अनंत स्कंधों का अवगाहन हो सकता है। पर्याय द्रव्य से भी सूक्ष्म है क्योंकि एक ही द्रव्य में अनंत पर्याय होती हैं। द्रव्य की वृद्धि होने पर पर्याय-वृद्धि निश्चित है लेकिन क्षेत्र और काल की वृद्धि में भजना है। अवधिज्ञानी प्रत्येक द्रव्य की संख्येय और असंख्येय पर्यायों को जानता है। पर्यायवृद्धि होने पर द्रव्यवृद्धि की भजना है—वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती।[1] अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र और काल की वृद्धि चार प्रकार की होती है। द्रव्यों की वृद्धि-हानि दो प्रकार की तथा पर्यायों में वृद्धि-हानि छह प्रकार की होती है। विस्तार हेतु देखें विभा ७२९-३३, श्रीभिक्षु भा. १ पृ. ५२, ५३

१. नंदीमटी प. ९५।

२. धवला में हीयमान अवधि को कृष्ण पक्ष के चन्द्रमण्डल से उपमित किया है। इसका अन्तर्भाव देशावधि में होता है।[1] आचार्य हरिभद्र के अनुसार जो उत्पत्तिकाल के साथ ही बुझती हुई अग्निज्वाला के समान क्षीण होने लगता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है।[2]

१. षट्ख पु. १३, ५/५/५६, पृ. २९३।

२. नंदीहाटी पृ.२३; उदयसमयसमनन्तरमेव हीयमानं दग्धेन्धनप्रायधूमध्वजार्चिर्व्रतिवदित्यर्थः।

३. नंदी चूर्णि के अनुसार अप्रशस्त लेश्या से रंजित चित्त तथा अनेक अशुभ विषयों का चिन्तन करने वाला संक्लिष्ट चित्त कहलाता है।[1] भाष्यकार ने वर्धमान अवधि की भांति हीयमान अवधि के ह्रास के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है।

१. नंदीचू पृ. १९; अप्पसत्थलेस्सोवरंजितं चित्तं अणेगासुभत्थचिंतणपरं चित्तं संकिलिट्ठं भण्णति।

४. जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद क्षयोपशम के अनुरूप कुछ समय अवस्थित रहकर बाद में प्रदीप की भांति पूर्णतः बुझ जाता है, वह प्रतिपाती अवधिज्ञान है।[1] आचार्य हरिभद्र ने प्रतिपाती अवधि को जात्यमणि के दृष्टान्त से समझाया है, जिसकी प्रभा किसी कारण से नष्ट हो गई है।[2] नंदीसूत्र में प्रतिपाती अवधि का विषय विस्तार से वर्णित है।[3]

१. नंदीमटी प. ८२; यत्पुनः प्रदीप इव निर्मूलमेककालमपगच्छति तत्प्रतिपाति।

२. नंदीहाटी पृ. २३; कथञ्चिदापादितजात्यमणिप्रभाजालवत्। ३. नंदी २०।

६५. अप्रतिपाती[1] अवधिज्ञान क्या है? जो अलोक के एक आकाश प्रदेश यावत् उससे अधिक देखने की क्षमता रखता है, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

६६. जो अलोक में लोक-प्रमाण असंख्येय खंडों को जानता-देखता है (देखने की क्षमता रखता है), वह क्षेत्रत: अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।[2]

६७. यह अप्रतिपाती अवधिज्ञान संक्षिप्त में कहा गया। वह संक्षेप में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार का होता है, उसे मैं कहूंगा।

६८. द्रव्य से अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है।[3] क्षेत्र से जघन्यत: अंगुल के असंख्यातवें भाग को जानता है, उत्कृष्ट क्षेत्र-प्रमाण इस प्रकार कहूंगा।

६९. जो अलोक[4] में लोक प्रमाण असंख्येय खंडों को जानता-देखता है (देखने की क्षमता रखता है), वह क्षेत्रत: अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

७०. काल से अवधिज्ञानी जघन्य रूप से नियमत: आवलिका के असंख्यातवें भाग को जानता-देखता है।

७१. उत्कृष्टत: वह (असंख्य) उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण अतीत और भविष्य के काल को जानता-देखता है।

७२. भाव से जो अनंत पर्यायों तथा समस्त पर्यायों के अनंतभाग को जानता-देखता है, वह भावत: अवधिज्ञान[5] कहा गया है।

---

१. जो ज्ञान उत्पन्न होने के बाद विनष्ट नहीं होता, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान कहलाता है। आचार्य हरिभद्र ने इसको उस निर्मल जात्यमणि से उपमित किया है, जिस पर पुन: मलिनता नहीं जमती।[1] परमावधि और सर्वावधि ज्ञान नियमत: अप्रतिपाती होते हैं।

**१. नंदीहाटी पृ. २३; क्षार-मृत्पुटपाकाद्यापाद्यमानजात्यमणिकिरणनिकरवदित्यभिप्राय:।**

२. आवश्यक निर्युक्ति और विशेषावश्यक भाष्य में परमावधि का विस्तृत वर्णन है लेकिन जीतकल्पभाष्य में इसका उल्लेख नहीं है। यह शोध का विषय है कि उन्होंने यहां इसका वर्णन क्यों नहीं किया? परमावधि के विस्तार हेतु देखें श्रीभिक्षु भा. १ पृ. ५५, ५६।

३. द्रव्य से अवधिज्ञानी जघन्यत: अनंत रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है तथा उत्कृष्टत: सभी रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है। इस विषय में आवश्यक निर्युक्ति में विस्तार से वर्णन मिलता है।[1]

**१. द्र. आवनि ३६-४२।**

४. इस गाथा में अवधिज्ञान के विषय-निरूपण के सामर्थ्य का वर्णन है। इसका तात्पर्य यह है कि अप्रतिपाती अवधिज्ञान लोकाकाश में स्थित पुद्गल-पर्यायों को और अधिक सूक्ष्मता से जानता है।

५. अवधिज्ञानी भाव की दृष्टि से जघन्य और उत्कृष्ट रूप से अनंत भावों को जानता है, यह सापेक्ष कथन है। टीकाकार हरिभद्र ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि आधारभूत ज्ञेय द्रव्य अनंत हैं अत: इस कारण वह अनंत पर्यायों को जानता है लेकिन प्रतिद्रव्य की अनंत पर्यायों को नहीं जान सकता।[1] सब पदार्थों की सम्पूर्ण पर्यायों को केवलज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है अत: अवधिज्ञानी सब भावों के अनंतवें भाग को जानता है।[2] मलयगिरि के अनुसार अवधिज्ञानी प्रतिद्रव्य की संख्येय और असंख्येय पर्यायों को जानता है।

**१. नंदीहाटी पृ. ३०; भावतोऽवधिज्ञानी जघन्येनानन्तानन्तान् भावान् पर्यायान् आधारद्रव्यानन्तत्वाद् न तु प्रतिद्रव्यमिति।**

**२. नंदीमटी पृ. ९८; प्रतिद्रव्यं संख्येयानामसंख्येयानाम् वा पर्यायाणां दर्शनात्।**

७३. अवधिज्ञान दो प्रकार का कहा गया है—भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से उसके बहुत विकल्प हो जाते हैं।

७४. मन:पर्यव ज्ञान संक्षेप में दो प्रकार का है—ऋजुमति[1] २. विमलमति।[2] दोनों द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार-चार प्रकार के होते हैं।

७५. द्रव्य से ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान मनोवर्गणा के अनंतप्रदेशी अनंत स्कन्धों को जानता-देखता है। विपुलमति मन:पर्यव ज्ञान उसी को और अधिक उज्ज्वलतर और विशुद्धतर जानता-देखता है।

७६, ७७. क्षेत्र से ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊर्ध्ववर्ती क्षुल्लकप्रतर से अधोवर्ती क्षुल्लकप्रतर तक वर्तमान समनस्क जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है। विपुलमति अवधिज्ञानी इससे अधिक विपुल, विशुद्ध और उज्ज्वलतर क्षेत्र को जानता-देखता है।

७८. ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान ऊर्ध्वलोक में ज्योतिष्चक्र के ऊपरी भाग तक जानता-देखता है, विपुलमति उसी क्षेत्र को अधिक उज्ज्वलतर, विशुद्धतर जानता-देखता है।

७९, ८०. तिर्यक् लोक में ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी दो समुद्र (लवणोदधि तथा कालोदधि) तथा ढ़ाई द्वीप (जंबूद्वीप, धातकीखंड तथा पुष्करार्ध) में वर्तमान पर्याप्तक समनस्क पंचेन्द्रिय जीवों के मन्यमान मनोगत भावों को जानता-देखता है। विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी उन्हीं को अधिक विमल और उज्ज्वलतर जानता-देखता है।[3]

८१. विपुलमति मन:पर्यव ज्ञानी की यह विशेषता है कि वह तिर्यक्, ऊर्ध्व और अध:लोक में ऋजुमति मन:पर्यव ज्ञानी की अपेक्षा अढ़ाई अंगुल अधिक क्षेत्र को उज्ज्वलतर और शुद्ध रूप में जानता-देखता है।

---

१. ऋजुमति की व्याख्या करते हुए जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते हैं कि ऋजु का अर्थ है—सामान्य। जो सामान्य रूप से मनोद्रव्य को जानता है, वह ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान है। यह विशेष पर्याय को नहीं जानता। ऋजुमति मन: पर्यवज्ञानी इतना ही जानता है कि अमुक व्यक्ति ने घट का चिन्तन किया है। वह देश, काल आदि से सम्बद्ध घट की अन्य अनेक पर्यायों को नहीं जानता।[1]

**१. विभा ७८४; रिजु सामण्णं तम्मत्तगाहिणी रिजुमई मणोनाणं। पायं विसेसविमुहं, घडमेत्तं चिंतियं मुणए॥**

२. यहां विपुलमति के स्थान पर विमलमति शब्द का प्रयोग हुआ है। विशेषग्राहिणी मति विपुलमति है। किसी व्यक्ति ने घट का चिन्तन किया। वह घड़ा स्वर्णनिर्मित है, पाटलिपुत्र में बना है, आज ही बना है, आकार में बृहद् है, कक्ष में स्थित है, फल से आच्छादित है—इस प्रकार के अध्यवसायों के हेतुभूत अनेक विशिष्ट मानसिक पर्यायों का ज्ञान विपुलमति मन:पर्यवज्ञान है।[1]

**१. नंदीमटी प. १०८; घटोऽनेन चिन्तितः, स च सौवर्णः पाडलिपुत्रकोऽद्यतनो महान् अपवरकस्थितः फलपिहित इत्याद्यध्यवसायहेतुभूता प्रभूतविशेषविशिष्टमनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः।**

३. दिगम्बर आचार्य मन:पर्यव ज्ञान की उत्पत्ति में दो कर्मों के क्षयोपशम को मुख्य मानते हैं—१. वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम २. मन:पर्यव ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम।[1]

**१. ससि १/२३/२१८, तवा १/२३ पृ. ८४।**

*८२. काल की दृष्टि से ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी जघन्यत: और उत्कृष्टत: भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग अतीत और भविष्य —दोनों कालों को जानता-देखता है।*

८३. ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी संज्ञी जीवों के मन्यमान भावों को जानता-देखता है। विपुलमति उसी को अधिक विशुद्ध और निर्मल रूप में जानता-देखता है।

८४, ८५. भाव से ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी अनंत भावों को जानता-देखता[1] है। वह उन सब भावों के अनन्तवें भाग को ही जानता-देखता है। विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी उन भावों को अधिक विशुद्धतर और उज्ज्वलतर जानता-देखता है। मन:पर्यव ज्ञान के ये चार भेद हैं।

८६. मन:पर्यव ज्ञान संज्ञी जीवों के मन्यमान मनोवर्गणा के पुद्गलों से मानसिक भावों को जानता-देखता है।[2]

---

१. आचार्य हरिभद्र ने नंदी टीका में एक प्रश्न उठाया है कि मन:पर्यव दर्शन स्वतंत्र रूप से प्रतिपादित नहीं है फिर 'पश्यति' का प्रयोग क्यों हुआ है? इस प्रश्न का समाधान देते हुए टीकाकार कहते हैं कि कोई व्यक्ति घट का चिन्तन कर रहा है तो मन:पर्यवज्ञानी उसके मनोद्रव्य को साक्षात् जानता है और मानस अचक्षुदर्शन से उन्हीं का विकल्प करता है अत: मानस अचक्षुदर्शन की अपेक्षा 'पासइ' शब्द का प्रयोग हुआ है। विशेष उपयोग की अपेक्षा से वह जानता है और सामान्य अर्थोपयोग की अपेक्षा से देखता है।[1] इस ज्ञान की विशेषता यह है कि इसमें क्षयोपशम की पटुता होती है अत: वह मन:द्रव्य के विशेष पर्यायों को ग्रहण करता है। विशेष का ग्राहक ज्ञान होता है, दर्शन नहीं अत: मन:पर्यव दर्शन नहीं होता।[2] कुछ आधुनिक विद्वान् 'जाणइ पासइ' इन दो क्रियापदों को भाषा शैली का प्रतीक मानते हैं, जैसे —पण्णवेमि परूवेमि.....आदि क्रियापद समानार्थ के रूप में प्रयुक्त होते हैं, वैसे ही 'जाणइ पासइ' समानार्थक क्रियाएं हैं, ज्ञान और दर्शन के वाचक नहीं।[3]

१. नंदीहाटी पृ. १२२ ; **परस्य घटादिकमर्थं चिन्तयत: साक्षादेव मन:पर्यायज्ञानी मनोद्रव्याणि तावज्जानाति, तान्येव च मानसेनाचक्षुर्दर्शनेन विकल्पयति अतो मानसाचक्षुर्दर्शनापेक्षया पश्यतीत्युच्यते।**

२. *आवमटी प. ८२।*

३. ***इस विषय में विस्तार हेतु देखें ज्ञान-मीमांसा पृ. ३३८, ३३९।***

२. मन:पर्यवज्ञानी तिर्यक् लोक में संज्ञी जीवों द्वारा गृहीत मन रूप में परिणत द्रव्य मन की अनंत पर्यायों तथा तद्गत वर्ण आदि भावों को जानता-देखता है। वह द्रव्य मन से प्रकाशित वस्तु घट-पट आदि को अनुमान से जानता है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि मन:पर्यवज्ञानी चिन्तित पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं देखता अपितु अनुमान से देखता है इसीलिए उसकी पश्यत्ता बताई गई है। यद्यपि मन का आलम्बन मूर्त्त-अमूर्त्त दोनों पदार्थ होते हैं लेकिन छद्मस्थ अमूर्त्त को साक्षात् नहीं देख सकता।[2] मन:पर्यवज्ञान का विषय मन द्वारा चिन्त्यमान वस्तु है या चिन्तनप्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएं, इस विषय में जैन परम्परा में मत-विभेद है। निर्युक्तिकार ने प्रथम पक्ष मान्य किया है। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ ने विस्तार से चिन्तन प्रस्तुत किया है। देखे नंदी सूत्र २३ का टिप्पण पृ. २४।

१. विभा ८१३, ८१४; **मुणइ मणोदव्वाइं, नरलोए सो मणिज्जमाणाइं। काले भूय-भविस्से, पलियाऽसंखिज्जभागम्मि॥**
**दव्वमणोपज्जाए, जाणइ पासइ य तग्गएणंते। तेणावभासिए उण, जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं॥**

२. नंदीचू पृ. २४; **मणितमत्थं पुण पच्चक्खं ण पेक्खति, जेण मणालंबणं मुत्तममुत्तं वा सो य छदुमत्थो तं अणुमाणतो पेक्खति त्ति अतो पासणता भणिता।**

८७. जैसे साधारण व्यक्ति भी स्पष्ट रूप से चेहरे के संकेत आदि से मानसिक भावों को जान लेता है, वैसे ही मन:पर्यवज्ञान मनोवर्गणा के पुद्गलों से मानसिक भावों को प्रकाशित करता है।[1]

८८. मन:पर्यवज्ञान जन अर्थात् पर्याप्तक संज्ञी जीवों के मन द्वारा चिन्तित अर्थ को प्रकट करता है। यह मनुष्य क्षेत्र तक सीमित होता है। यह चारित्र सम्पन्न साधु के गुण प्रत्ययिक होता है[2] (अर्थात् इसकी उपलब्धि साधना जन्य गुणों के कारण होती है)।

८९. जो श्रुतांगविद् (द्वादशांगविद्) और धीर मुनि ऋजुमति अथवा विपुलमति मन:पर्यवज्ञान में वर्तमान हैं, उन मन:पर्यवज्ञानी मुनियों को व्यवहार शोधिकर जानना चाहिए।

९०. जिस प्रकार पंकिल जल क्रमश: स्वच्छ होता है, वैसे ही जीव भी आवरण के क्षय होने पर क्रमश: केवलज्ञान तक की विशोधि को प्राप्त करता है।

९१. जो सम्पूर्ण रूप से लोक और अलोक को नियमत: देखता है, वह केवलज्ञान[3] है। भूत, भविष्य या वर्तमान का ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसे वह न जानता हो।

९२, ९३. जैसे सूर्य आकाशगत कृत (निर्मित) पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करता है, वैसे ही

---

१. व्यक्ति जब चिन्तन करता है तो मनोवर्गणा के पुद्गल उसी रूप में आकार ग्रहण कर लेते हैं। उसके आधार पर मन:पर्यवज्ञानी दूसरों के मानसिक चिन्तन को जान लेता है।

२. नंदी सूत्र में मन:पर्यव ज्ञानी की नौ योग्यताओं का उल्लेख है[1]—१. ऋद्धिप्राप्त २. अप्रमत्त संयत ३. संयत ४. सम्यग्दृष्टि ५. पर्याप्तक ६. संख्येयवर्षायुष्क ७. कर्मभूमिज ८. गर्भज मनुष्य ९. मनुष्य। इन विशेषताओं का तात्पर्य है कि अवधिज्ञान ऋद्धिप्राप्त, अप्रमत्त संयत, सम्यग् दृष्टि, पर्याप्तक, संख्यात वर्ष आयुष्य वाले कर्मभूमि में उत्पन्न गर्भज मनुष्य को होता है।

१. नंदी २३।

३. नंदी की हारिभद्रीय टीका में केवलज्ञान के लिए पांच विशेषणों का प्रयोग किया गया है—

१. एक—केवलज्ञान मति, श्रुत आदि ज्ञानों से निरपेक्ष होता है।

२. शुद्ध—आवरण एवं मल से रहित।

३. सकल—केवलज्ञान अखण्ड और विभाग रहित होता है। आवरण के कारण ज्ञान विकल होता है, आवरण क्षीण होने पर वह स्वभावत: सकल होता है।

४. असाधारण—दूसरे ज्ञानों से विशिष्ट।

५. अनन्त—अनन्त ज्ञेय को जानने के कारण अनन्त। अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद कभी लुप्त नहीं होता इसलिए वह अनन्त है।[1]

बृभा में केवलज्ञान के ये लक्षण प्राप्त हैं—एक, अनिवारित व्यापार, अनंत, अविकल्पित और नियत।[2]

१. नंदीहाटी पृ. ११; केवलम्—असहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम्। शुद्धं वा केवलम् आवरणमलकलंङ्काकरहितम्। सकलं वा केवलम्, तत्प्रथमतयैवाशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णोत्पत्तेः। असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशमिति हृदयम्। ज्ञेयानन्तत्वादनन्तं वा केवलम्।

२. बृभा ३८ टी पृ. १५; दव्वादिकसिणविसयं, केवलमेगं तु केवलन्नाणं।
अणिवारियवावारं, अणंतमविकप्पियं नियतं॥

*केवलज्ञानी सब आत्मप्रदेशों से आकाशगत सत् पदार्थों को युगपत्*[1] *(एक साथ) जानता-देखता है।* यह निष्कर्ष प्राप्त कथन है। जो 'संभिण्ण' विशेषण कहा गया है, उसकी व्याख्या आगे है।

१४. केवलज्ञान लोक और अलोक को तथा पूर्व आदि सब दिशाओं में द्रव्य, क्षेत्र और काल से सब पदार्थों को सर्व आत्म-प्रदेशों से पूर्णत: जानता-देखता है।

१५. भाव से जो पदार्थ नहीं हैं, उनको वह नहीं देखता। जिनका अभाव नहीं है, उन पदार्थों को जानता-देखता है।

१६. जो सभी द्रव्यों, द्रव्य के परिणामों और उनके भावों की विज्ञप्ति का कारण है, अनंत[2], शाश्वत, अव्याबाध और एक ही प्रकार का है, वह केवलज्ञान है।

---

१. प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त जुगवं—युगपद् शब्द कुछ विमर्श की अपेक्षा रखता है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आगमिक परम्परा के अनुसार केवली के ज्ञान एवं दर्शन में क्रमवाद के पक्षधर हैं। विशेषणवती ग्रंथ (गा. १५३-२४९) में उन्होंने विस्तार से अनेक हेतुओं के द्वारा इस विषय पर चर्चा की है। उन्होंने अनेक पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष भी प्रस्तुत किए हैं। यहां ग्रंथकार द्वारा प्रयुक्त युगपद् शब्द का प्रयोग केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपद् होता है, इस अर्थ में नहीं है। डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार यहां इसका अर्थ सभी आत्मप्रदेशों से एक साथ जानना और देखना होना चाहिए क्योंकि केवली का ज्ञान इंद्रिय-सापेक्ष न होकर सभी आत्मप्रदेश सापेक्ष होता है अर्थात् सभी आत्म-प्रदेशों से एक साथ होता है। केवली में जानने और देखने की क्षमता का प्रकटीकरण एक साथ होता है क्योंकि ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षय एक साथ ही होता है किन्तु ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक साथ नहीं होता, यह आगमिक परम्परा है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि केवली में सत्ता या अस्तित्व की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन अभिन्न अर्थात् युगपद् हैं लेकिन उपयोग की अपेक्षा एक समय में एक ही उपयोग सम्भव है। केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में तीन अभिमत मिलते हैं—१. क्रमवाद २. युगपद्वाद ३. अभेदवाद। आवश्यक निर्युक्ति में केवलज्ञान और केवलदर्शन को युगपद् स्वीकार नहीं किया है। युगपद्वाद के प्रवक्ता मल्लवादी तथा अभेदवाद के प्रवक्ता सिद्धसेन दिवाकर हैं। अभेदवाद के माध्यम से आचार्य सिद्धसेन एक ओर केवलज्ञान के सादि-अनंत होने के आगमिक वचन की तार्किक सिद्धि करना चाहते थे तो दूसरी ओर क्रमवाद और युगपद्वाद की विरोधी धारणाओं का समन्वय भी करना चाहते थे।[1] उपाध्याय यशोविजयजी ने इन तीनों वादों का नय की दृष्टि से समन्वय किया है। इस विषय में आचार्य महाप्रज्ञ ने विस्तार से विशद चिन्तन प्रस्तुत किया है।[2]

**१. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ. २३४। २. देखें नंदी का टिप्पण पृ. ७५, ७६।**

२. पर्याय अनंत होने से केवलज्ञान अनंत है। सदा उपयोगयुक्त होने से वह शाश्वत है। इसका व्यय नहीं होता इसलिए अप्रतिपाती है। आवरण की पूर्ण शुद्धि के कारण वह एक प्रकार का है।[1] बृहत्कल्पभाष्य की टीका में ज्ञान की अनंत पर्यायों को सहेतुक स्पष्ट किया है। एक-एक आकाशप्रदेश पर अनंत अगुरुलघु पर्याय हैं। भिन्न-भिन्न स्वभाव (ज्ञान-भेद) से भिन्न-भिन्न पर्यायों को जाना जाता है। इसलिए सर्व आकाशप्रदेशों से ज्ञान के पर्यव अनंत गुणा हैं। केवलज्ञान उन सबको जानता है इसलिए वह अनंत है।[2]

**१. विभा ८२८; पज्जायओ अणंतं, सासयमिट्ठं सदोवओगाओ। अव्वयओऽपडिवाई, एगविहं सव्वसुद्धीए॥**

**२. बृभा ६४ टी प. २२।**

९७. ज्ञेय चार प्रकार (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) का जानना चाहिए। उसकी प्ररूपणा के लिए केवलज्ञान के चार प्रकार हैं। गा. ९६ में जो अह (अथ) सर्वद्रव्य आदि शब्द कहे गए हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

९८. भिन्न (संभिन्न) शब्द का ग्रहण इसलिए किया गया है कि एक ही काल में वह द्रव्य, क्षेत्र आदि चारों के परिणमन से होने वाली पर्यायों को एक साथ जानता है।

९९. जीव और अजीव की उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यत्व की पर्यायों को केवलज्ञान जानता-देखता है। धर्म-अधर्म और आकाश—इन तीनों का परिणमन परप्रत्ययिक होता है।

१००. गति, स्थिति, अवगाहना तथा जीव-अजीव के संयोग और वियोग से धर्मास्तिकाय आदि में परिणमन होता है। जीव के औदयिक आदि भावों का भी परिणमन होता है।

१०१. इन द्रव्य आदि के परिणमन का हेतु काल है। काल के कारण ही प्रत्येक पदार्थों के वर्ण आदि में सूक्ष्म और स्थूल परिणमन होता है।

१०२. द्रव्य आदि के परिणामों को केवली सम्पूर्ण रूप से जानता है। परिणाम क्या होता है? उसका कारण यह है।

१०३. परिणमन दो कारणों से होता है—विस्रसा (स्वाभाविक) और प्रयोगजन्य। बादल आदि स्कन्धों का उत्पाद और परिणमन विस्रसा—स्वाभाविक है। प्रयोगजन्य परिणमन १५ प्रकार का होता है।[1] यह परिणमन तीनों कालों में होता है।

१०४. जो मनुष्य केवली होता है, वह अन्य प्राणियों को बाधा उत्पन्न नहीं करता। वह नियमतः शेष कर्मों का क्षय करके अनाबाध मोक्ष को प्राप्त करता है।

१०५. जो छद्मस्थों का ज्ञान होता है, वह केवलियों में नहीं होता इसलिए छद्मस्थ क्षायोपशमिक ज्ञान में रहते हैं।

१०६. केवलज्ञान नियमतः क्षायिकभाव में वर्तमान रहता है। तदावरणीय कर्मों के क्षीण हुए बिना अथवा क्षयोपशमभाव (मति आदि ज्ञान) में क्षायिकभाव की उत्पत्ति नहीं होती।

१०७. इसलिए केवलज्ञान को एकविध स्वीकार किया गया है क्योंकि केवलज्ञान होने पर छद्मस्थ को होने वाले चारों ज्ञान (मतिज्ञान आदि) व्यर्थ हो जाते हैं।

१०८. जो धर्म के आदिकर्ता हैं, श्रेष्ठ दर्शन, ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न हैं, वे जिनेश्वर भगवान् सर्वत्रकज्ञान—केवलज्ञान से व्यवहार का प्रयोग करते हैं। (वे आगम व्यवहारी होते हैं।)

---

१. प्रयोगज परिणमन के पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं—चार मन के, चार वचन के तथा सात काया के। समवायांग में प्रयोग के १३ भेद मिलते हैं। यहां काया के पांच ही प्रयोग उल्लिखित हैं। आहारक काय प्रयोग और आहारक मिश्र कायप्रयोग गृहीत नहीं है।

१०९. प्रत्यक्ष आगम व्यवहारी दो प्रकार के होते हैं—इंद्रिय प्रत्यक्ष और नोइंद्रिय प्रत्यक्ष। अब मैं परोक्ष आगम व्यवहारी को इस प्रकार कहूंगा।

११०. जिसका आगम (चतुर्दशपूर्व का ज्ञान) परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष आगम के समान होता है, वह भी आगम व्यवहारी होता है। जैसे चन्द्र के समान मुख वाली कन्या को चन्द्रमुखी कहा जाता है।

१११, ११२. ज्ञात और आगमिक (ज्ञान और आगम)—ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। जिसका आगम ज्ञान परायत्त—पराधीन होता है, उसे परोक्ष कहा जाता है। श्रुतधर परोक्ष आगम से व्यवहार करते हैं। उसके ये भेद हैं—चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, नवपूर्वी अथवा गंधहस्ती के समान आचार्य।

११३. श्रुतज्ञान से व्यवहार करने वाले आगम व्यवहारी कैसे हैं? (आचार्य उत्तर देते हैं—)उन चतुर्दशपूर्वधर आदि आचार्यों ने जीव आदि नवपदार्थों को सभी नय-विकल्पों से प्राप्त कर लिया है अर्थात् ज्ञात कर लिया है।

११४. जैसे केवली केवलज्ञान के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता है, वैसे ही श्रुतज्ञानी भी श्रुतबल से चतुर्लक्षण (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) को जानता है।

११५, ११६. प्रत्यक्ष आगम व्यवहारी प्रतिसेवक की राग-द्वेष की हानि-वृद्धि के आधार पर न्यून या अधिक प्रायश्चित्त देते हैं। वे पांच दिन की प्रतिसेवना करने वाले को पांच दिन या मासिक प्रायश्चित्त तथा दूसरे को मासिक जितनी प्रतिसेवना करने पर पच्चीस दिन या पांच दिन का प्रायश्चित्त भी दे सकते हैं। वे एक उपवास जितनी प्रतिसेवना करने वाले को पांच उपवास तथा दूसरे को पांच उपवास जितनी प्रतिसेवना करने पर एक उपवास जितना प्रायश्चित्त देते हैं। इसी प्रकार चतुर्दशपूर्वी आदि भी आलोचक की राग-द्वेष की हानि-वृद्धि के आधार पर न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देते हैं।

११७. चोदक प्रश्न करता है कि प्रत्यक्षज्ञानी अल्प अपराध में बहुत और अधिक अपराध में थोड़ा प्रायश्चित्त कैसे देते हैं? आचार्य कहते हैं कि यहां वणिक् का दृष्टान्त सुनो।

११८. जैसे निपुण रत्नवणिक् जिस रत्न का जो मूल्य है, उसको जानता है। वह बड़े रत्न का थोड़ा मूल्य तथा किसी छोटे रत्न का भी बहुत मूल्य करता है।

११९. अथवा बहुत बड़े काचमणि का भी काकिणी जितना मूल्य होता है और छोटे से वज्रमणि का भी शतसहस्र—लाख जितना मूल्य होता है।

१२०. इसी प्रकार जिनेश्वर भगवान् अनेक मास प्रायश्चित्त के योग्य अपराध में भी राग-द्वेष की अल्पता के कारण स्तोक प्रायश्चित्त देते हैं और राग द्वेष की वृद्धि से पंचक—पांच दिन जितने अपराध में भी बहुत प्रायश्चित्त देते हैं।

१२१. प्रत्यक्षज्ञानी प्रतिसेवक के भाव को प्रत्यक्ष रूप से देखता है। परोक्ष चतुर्दशपूर्वी आदि उसे कैसे जानते हैं? इस प्रसंग में धमक (शंख बजाने वाले) का दृष्टान्त है।

१२२. जैसे नाली (पानी की घड़ी) से गिरते हुए पानी के परिमाण के आधार पर धमक शंख बजाकर समय की सूचना देता है, वैसे ही परोक्षज्ञान की स्थिति में चतुर्दशपूर्वी भी आलोचना को सुनकर श्रुत से

व्यक्ति के यथावस्थित भावों को जानकर शोधि करते हैं।

१२३. जिस श्रुतज्ञान से जीव-अजीव आदि सब पदार्थों के पर्यायों को जाना जाता हैं, उसी श्रुतोपदेश से पूर्वधर शोधि को करते हैं।

१२४. वह श्रुतज्ञान किसके द्वारा कृत है, जिससे जीव आदि सब पदार्थ जाने जाते हैं। (आचार्य उत्तर देते हैं) केवलज्ञानियों ने वह श्रुतज्ञान प्रस्तुत किया है।

१२५, १२६. आगम व्यवहारी के होने पर भी जब अपराधकर्ता आलोचनीय की सम्यक् आलोचना नहीं करता, तब आलोचनीय की स्मृति कराने पर वह अपराध को स्वीकार कर लेता है, आगमव्यवहारी जितने प्रायश्चित्त से उसकी विशुद्धि होती है, उतना प्रायश्चित्त देते हैं। छहों प्रकार के आगम व्यवहारी माया करने या दोष छिपाने पर प्रायश्चित्त नहीं देते।

१२७. जो अपराध की आलोचना करता है, उसका प्रतिक्रमण कर लेता है, उसके नियमतः आलोचना (आराधना) होती है। आलोचना न करने पर आराधना की भजना रहती है (शिष्य प्रश्न पूछता है) उसके भजना कैसे होती है?

१२८, १२९. आलोचना में उद्यत परिणाम वाला मुनि आलोचना के लिए गुरु की दिशा में प्रस्थित होने पर बीच में ही कालगत हो जाए अथवा आचार्य कालगत हो जाए और वह आलोचना न कर पाए तो भी वह आराधक होता है क्योंकि वह सम्यक् आलोचना के भाव में परिणत है।[1] आलोचना के परिणाम में अपरिणत मुनि आराधना नहीं कर पाता। इस प्रकार आलोचना न करने पर भजना कही गई है।

१३०. यद्यपि आगम व्यवहारी आलोचक के अपराध को तथा उसकी शोधि—प्रायश्चित्त को जानते हैं, फिर भी भगवान् ने आचार्य के समक्ष आलोचना करने की बात कही है। आलोचना करने वाले में बहुत गुण निष्पन्न होते हैं।

१३१. द्रव्य[2], उसकी पर्याय[3]-अवस्था विशेष, क्रमबद्ध, क्षेत्र[4], काल[5] और भाव से परिशुद्ध आलोचना को सुनकर आगम व्यवहारी प्रायश्चित्त का प्रयोग करते हैं।

---

१. व्यवहारभाष्य में एक अन्य कारण और बताया गया है कि आलोचना में परिणत मुनि यदि मार्ग में ही रोग के कारण अमुख—मुंह का लकवा या बोलने में असमर्थ हो जाए अथवा आचार्य बोलने में समर्थ न रहे तो आलोचना न करने पर भी वह आराधक होता है।

**१. व्यभा ४०५३ ; कालं कुव्वेज्ज सयं, अमुहो वा होज्ज अहव आयरिओ। अप्पत्ते पत्ते वा, आराधण तह वि भयणेवं॥**

२. जब प्रतिसेवक सचित्त का सेवन करके सचित्त की आलोचना करता है तो वह द्रव्यतः शुद्ध आलोचना है। जब वह सचित्त की प्रतिसेवना करके अचित्त की आलोचना करता है तो वह द्रव्यतः अशुद्ध आलोचना है।

३. जिस अवस्था में प्रतिसेवना की, उसी अवस्था की आलोचना करे तो वह पर्याय शुद्ध आलोचना है। यदि अन्य अवस्था में प्रतिसेवना करके अन्य अवस्था की आलोचना करता है तो वह पर्याय से अशुद्ध आलोचना है।

४. जनपद या मार्ग में जहां प्रतिसेवना की, उसी रूप में आलोचना करता है तो क्षेत्र से शुद्ध आलोचना है। जनपद में प्रतिसेवना करके अटवीगत मार्ग की आलोचना करने से वह क्षेत्रतः अशुद्ध आलोचना है।

५. सुभिक्ष-दुर्भिक्ष अथवा रात्रि या दिन में प्रतिसेवना करने पर उसी रूप में आलोचना करना काल से शुद्ध आलोचना है। सुभिक्ष में प्रतिसेवना करके दुर्भिक्ष का कहना रात्रि में प्रतिसेवना करके दिन का कहना कालतः अशुद्ध आलोचना है।

१३२, १३३. द्रव्य से सचित्त आदि, पर्याय से द्रव्य के बहुविध विकल्प, क्रम से पूर्वानुपूर्वी क्रम[1], क्षेत्र से मार्ग या जनपद में, काल से सुभिक्ष अथवा दुर्भिक्ष में, भाव से स्वस्थ अवस्था में या ग्लान अवस्था में, जिस रूप में प्रतिसेवना की है, उसकी उसी प्रकार आलोचना करे।

१३४. अथवा सहसा, अज्ञानवश, भय से, दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर, व्यसन-द्यूत आदि से, प्रमाद से, मूढ़ता से अथवा राग-द्वेष से (इन कारणों से प्रतिसेवना करने पर उसी रूप में आलोचना करने पर आगम व्यवहारी प्रायश्चित्त देते हैं, अन्यथा नहीं।)

१३५. पहले भूमि पर जीव दिखाई नहीं दिया अतः आगे रखने के लिए पैर उठा लिया, बाद में देखने पर ज्ञात हुआ कि वहां जीव हैं किन्तु पैर को पुनः पीछे करना शक्य नहीं है, उससे जो जीव का व्याघात होता है, वह सहसाकरण है।

१३६. पांच प्रकार के प्रमाद में से जो किसी एक भी प्रमाद में संप्रयुक्त नहीं है फिर भी भूतार्थ क्रियाओं[2] में अनुपयुक्त है, वह अज्ञान[3] है।

१३७. अभियोग के भय से भयभीत होकर भागने वाला व्यक्ति जीव-हिंसा करता है। दूसरे के द्वारा प्रेरित होकर व्यक्ति गिरे अथवा न गिरे पर वह अन्य जीवों को पीड़ा पहुंचाता है।

१३८. द्यूत आदि व्यसन हैं। प्रमाद पांच प्रकार का होता है। मिथ्यात्व भावना से मोह होता है। राग और द्वेष सहज गम्य हैं।

१३९. इन कारणों में किसी भी कारण के उत्पन्न होने पर आगम व्यवहारी आलोचना देते समय सूत्र और अर्थ—दोनों से आगम-विमर्श करते हैं।

१४०. यदि आगम और आलोचना दोनों सम रूप में अर्थात् अविसंवादी रूप में प्रस्तुत होते हैं तो वह आगम-विमर्श कहलाता है अथवा यह आलोचक इस प्रायश्चित्त को सहन कर सकता है अथवा नहीं, किस प्रायश्चित्त से इसकी विशोधि होगी, यह विमर्श आगम-विमर्श है।

१४१. जिन्होंने ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्राप्त कर लिया है, राग-द्वेष को क्षीण कर दिया है अथवा जो शोधि—प्रायश्चित्त के लिए इष्ट हैं, वे आप्त कहलाते हैं।

१४२. जो तदुभय कहा गया है, उसकी यह परिभाषा है—सूत्र और अर्थ उभय तथा आलोचना और आगम उभय।

१४३. यदि आलोचना करने वाला प्रतिसेवना के सभी अतिचारों की यथाक्रम से आलोचना नहीं करता है

---

१. प्रतिसेवक को क्रमबद्ध आलोचना करनी चाहिए। आगे-पीछे या अक्रमपूर्वक करने से सम्यक् आलोचना नहीं हो सकती।

२. निशीथ चूर्णि में भूतार्थ क्रिया का अर्थ है—विचार, विहार, संस्तारक तथा भिक्षा आदि संयम-साधिका क्रिया।[1]

१. निभा ९६ चू पृ. ४४ ; भूयत्थो णाम विआर-विहार-संथार-भिक्खादिसंजमसाहिका किरिया भूतत्थो।

३. अज्ञान को अनाभोग प्रतिसेवना भी कहा जा सकता है। इसमें हिंसा की प्रवृत्ति नहीं होने पर भी उपयोग का अभाव होने से प्रतिसेवना होती है।

तो आगम व्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नहीं देते हैं।

**१४४.** यदि आलोचना करने वाला प्रतिसेवना के सभी अतिचारों की यथाक्रम से आलोचना करता है तो आगम व्यवहारी उसे प्रायश्चित्त देते हैं।

**१४५.** आगम व्यवहारी आलोचक को कहते हैं कि सारे अतिचारों को कह दो। इतना कहने पर वह यदि जानता हुआ भी अतिचारों को छिपाता है तो आगम-व्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नहीं देते। वे उसे कहते हैं कि तुम अन्यत्र शोधि—प्रायश्चित्त करो।

**१४६.** जो माया से नहीं अपितु सहजभाव से दोषों की स्मृति नहीं करता, उसे प्रत्यक्षज्ञानी उस दोष के बारे में बताते हैं अथवा याद दिलाते हैं लेकिन मायावी को कुछ नहीं बताते।

**१४७.** यदि आगम और आलोचना दोनों विषम—विसंवादी होते हैं तो आगम व्यवहारी उसको प्रायश्चित्त नहीं देते।

**१४८.** यदि आगम और आलोचना दोनों संवादी होते हैं तो आगम व्यवहारी उसको प्रायश्चित्त देते हैं।

**१४९.** प्रायश्चित्त देने में कौन योग्य या अयोग्य होता है, इसके बारे में कहा जा रहा है, उसे तुम सुनो।

**१५०, १५१.** जो मुनि अठारह स्थानों में अपरिनिष्ठित अर्थात् सम्यक् ज्ञाता नहीं होता, वह व्यवहार का प्रयोग करने योग्य नहीं होता। इसी प्रकार जो मुनि अठारह स्थानों में परिनिष्ठित—सम्यक् ज्ञाता होता है, वह व्यवहार का प्रयोग करने के योग्य होता है।

**१५२, १५३.** जो मुनि अठारह स्थानों में अप्रतिष्ठित—सम्यक् स्थित नहीं होता, वह व्यवहार का प्रयोग करने के योग्य नहीं होता। जो मुनि अठारह स्थानों में सुप्रतिष्ठित—सम्यक् स्थित होता है, वह व्यवहार का प्रयोग करने के योग्य होता है।

**१५४.** अठारह स्थान इस प्रकार हैं—छहव्रत (प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रिभोजन से विरति), छहकाय (पृथ्वी, अप्, तैजस, वायु, वनस्पति और त्रसकाय का संयम), अकल्प[1], गृहि-पात्र, पर्यंक, गोचर-निषद्या[2], स्नान[3] और विभूषा का वर्जन।

---

१. चूर्णि की विषमपद व्याख्या के अनुसार अकल्प दो प्रकार का होता है—१. शैक्षस्थापना अकल्प २. अकल्प्यस्थापना अकल्प। पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रंथों को नहीं पढ़ने वाले साधु के द्वारा आनीत आहार अकल्प्य होता है तथा उद्गम उत्पादन दोष से युक्त आहार अकल्प्यस्थापना अकल्प होता है।[1]

१. **जीचूवि पृ. ३५; तत्राकल्पो द्विविधः—शिक्षकस्थापनाकल्पः अकल्प्यस्थापनाकल्पश्च तत्राद्यः—अनधीतपिण्ड-निर्युक्त्यादिशास्त्रसाधुना आनीतमाहारादि साधुभ्यो न कल्पते.....।**

२. भिक्षार्थ गए साधु को सामान्यतः गृहस्थ के घर बैठना कल्पनीय नहीं है। दशवैकालिक सूत्र के अनुसार अपवाद स्वरूप तीन प्रकार के साधु गृहस्थ के घर बैठ सकते हैं—१. वृद्ध साधु २. रोगी साधु ३. तपस्वी साधु। यद्यपि ये तीनों भिक्षार्थ नहीं जाते हैं लेकिन आत्मलब्धि से प्राप्त भिक्षा-ग्रहण का अभिग्रह करने वाले साधुओं की अपेक्षा से इन तीन प्रकार के साधुओं को गृहस्थ के घर बैठना कल्पनीय है।[1]

१. **दश ६/५९।**

३. निशीथभाष्य में स्नान करने के निम्न दोषों का उल्लेख है—१. षड्जीवनिकाय की विराधना २. पुनः-पुनः स्नान करने की इच्छा होना ३. गौरव की भावना ४. विभूषा ५. परीषहभीरुता ६. अविश्वास।[1]

१. निभा ९११ ; **छक्कायाण विराधण, तप्पडिबंधो य गारव-विभूसा। परिसहभीरुत्तं पि य, अविस्सासो चेव ण्हाणम्मि॥**

१५५. परिनिष्ठित का अर्थ है—सम्यक् परिज्ञाता तथा प्रतिष्ठित का अर्थ है—अठारह स्थानों में सम्यक् स्थित। ऐसा व्यक्ति ही आलोचना देने के योग्य होता है। जो अजानकार है, वह शोधि को नहीं जानता तथा जो अठारह स्थानों में स्थित नहीं है, वह अन्यथा प्रायश्चित्त देता है।

१५६. जो आलोचनार्ह बत्तीस स्थानों में अपरिनिष्ठित होता है, वह प्रायश्चित्त का व्यवहरण करने में योग्य नहीं होता।

१५७. जो आलोचनार्ह बत्तीस स्थानों में परिनिष्ठित होता है, वह प्रायश्चित्त का व्यवहरण करने में योग्य होता है।

१५८. जो आलोचनार्ह बत्तीस स्थानों में अप्रतिष्ठित होता है, वह प्रायश्चित्त का व्यवहरण करने में योग्य नहीं होता है।

१५९. जो आलोचनार्ह बत्तीस स्थानों में सम्यक् प्रतिष्ठित होता है, वह प्रायश्चित्त का व्यवहरण करने में योग्य होता है।

१६०. आचार्य की आठ प्रकार की संपदाएं होती हैं। प्रत्येक संपदा चार-चार प्रकार की होती है। इनके बत्तीस स्थान इस प्रकार हैं—

१६१. आचारसंपदा, श्रुतसंपदा, शरीरसंपदा, वचनसंपदा, वाचनासंपदा, मतिसंपदा, प्रयोगमतिसंपदा और आठवीं संपदा है—संग्रहपरिज्ञा।

१६२. ये आठ प्रकार की गणिसंपदाएं हैं। एक-एक संपदा के चार-चार भेद हैं। अब मैं इनको संक्षेप में क्रमशः कहूंगा।

१६३, १६४. आचार-संपदा का प्रथम भेद है—संयमध्रुवयोगयुक्तता, दूसरा भेद है—असम्प्रग्रहीता, तीसरा है—अनियतवृत्तिता और चौथा है—वृद्धशीलता—ये आचार-संपदा के चार भेद हैं।[1] संयम का अर्थ है—चरण, उसके ध्रुवयोग में नित्य उपयुक्त होना संयमध्रुवयोगयुक्तता है।

१६५. मैं आचार्य हूं, बहुश्रुत हूं, तपस्वी हूं, आभिजात्य हूं, इस प्रकार के मदों से जो रहित है, वह असंप्रग्रहीत कहलाता है।

१६६. जो अनियतचारी, अनियतवृत्ति[2], अगृह—अनिकेत और अनिश्रित है तथा जो शान्तस्वभाव वाला

---

१. प्रवचनसारोद्धार में आचार-सम्पदा के निम्न चार भेद मिलते हैं—१. चरणयुक्त २. मदरहित ३. अनियतवृत्ति ४. अचंचल। इनमें शाब्दिक भिन्नता है, फलितार्थ समान है।[1]

१. प्रसा ५४३ ; **चरणजुओ मयरहिओ, अनिययवित्ती अचंचलो चेव।**

२. दशाश्रुतस्कंध में अनियतवृत्ति की व्याख्या मिलती है। वहां अनियतवृत्ति के अनेक अर्थ किए हैं—
- ग्राम में एक दिन तथा नगर में पांच दिन का प्रवास करना, अन्य-अन्य वीथियों में भिक्षा करना।
- अगृही—अनिकेत होना।
- उपवास आदि तपस्या करना तथा एषणा सम्बन्धी अभिग्रह विशेष धारण करना।[1]

१. दशु ४/४, चू प. २१।

और अचंचल है, उसे वृद्धशील[1] जानना चाहिए।

**१६७.** श्रुतसंपदा[2] चार प्रकार की होती है—१. बहुश्रुत २. परिचितश्रुत ३. विचित्रश्रुत ४. घोषविशुद्धिकर।

**१६८.** जिसको आभ्यन्तर और बाह्य—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत अनेक प्रकार से ज्ञात होता है तथा इस गाथा के पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त 'च' शब्द के ग्रहण से जिसका चारित्र सुबहुक[3] होता है, वह युगप्रधान बहुश्रुत कहलाता है।

**१६९.** जिसका श्रुत उत्क्रम से तथा क्रम से बहुत विकल्पों के साथ अपने नाम की भांति परिचित होता है, वह परिचितश्रुत कहलाता है। जो स्वसमय-परसमय से युक्त तथा उपसर्ग और अपवाद की विचित्रता का ज्ञाता होता है, वह विचित्रश्रुत कहलाता है।

**१७०.** उदात्त-अनुदात्त आदि घोषों से जिसका घोष विशुद्ध होता है, वह घोषविशुद्धकर कहलाता है, ये श्रुत की संपदाएं हैं। अब मैं शरीर-संपदा को कहूंगा।

**१७१.** शरीर-संपदा के चार भेद हैं[4]—१. आरोह-परिणाह[5] २. अनपत्रपता—अलज्जनीयता ३. प्रतिपूर्ण इंद्रिय ४. स्थिर (सुदृढ़) संहनन।

**१७२.** आरोह का अर्थ है—दीर्घता या लम्बाई तथा विष्कम्भ का अर्थ है—विशालता-चौड़ाई। लम्बाई के अनुरूप चौड़ाई का होना आरोह-परिणाह सम्पदा है।

---

१. दशाश्रुतस्कंध में वृद्धशील के निम्न गुण बताए हैं—१. विशुद्धशीलता २. निभृतशीलता—शान्त स्वभाव ३. अबालशीलता ४. अचंचलशीलता ५. मध्यस्थशीलता।[1]

**१. दशा ४/४ चू प. २१ ; विसुद्धसीलो निहुतसीलो अबालसीलो अचंचलसीलो मज्झत्थसील इत्यर्थः।**

२. प्रवचनसारोद्धार में श्रुतसम्पदा के चार भेद इस प्रकार हैं—१. युग (युगप्रधानता) २. परिचितसूत्र ३. उत्सर्ग ४. उदात्तघोष। प्रवचनसारोद्धार की टीका की व्याख्या के अनुसार इनमें केवल शाब्दिक भिन्नता है, अर्थ की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है।[1]

**१. प्रसा ५४३ ; जुग परिचिय उस्सग्गी, उदत्तघोसाइ विन्नेओ।**

३. आचार्य मलयगिरि ने सुबहुक का अर्थ किया है, जिसके चारित्र के पर्यव अत्यधिक निर्मल होते हैं।[1]

**१. व्यभा ४०८८ मटी प. ३८।**

४. प्रवचनसारोद्धार में शरीरसम्पदा के भेद इस प्रकार हैं[1]—१. चतुरस्र २. अकुंटादि—परिपूर्ण कर्मेन्द्रिय वाला ३. बधिरत्ववर्जित—अविकल इंद्रिय वाला ४. तपः समर्थ। इसमें प्रथम, तृतीय और चतुर्थ भेद में शब्द-भेद होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से समानता है लेकिन अनपत्रपता के स्थान पर अकुण्टादि में कुछ अर्थभेद माना जा सकता है।

**१. प्रसा ५४४ ; चउरंसोऽकुंटाई, बहिरत्तणवज्जिओ तवे सत्तो।**

५. बृहत्कल्पभाष्य की टीका में आरोह का अर्थ न अधिक दीर्घता और न अधिक बौनापन किया है अर्थात् शरीर की लम्बाई प्रमाणोपेत होनी चाहिए। परिणाह का अर्थ किया है—न अधिक स्थूलता और न अधिक दुर्बलता। इसका वैकल्पिक अर्थ किया है—आरोह अर्थात् शरीर की लम्बाई और परिणाह—भुजाओं की मोटाई—ये दोनों तुल्य प्रमाण में हों, हीन या अधिक न हों।[1]

**१. बृभाटी पृ. ५९३ ; आरोहो नाम—शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिह्रस्वता, परिणाहो नाम नातिस्थौल्यं नातिदुर्बलता ; अथवा आरोहः—शरीरोच्छ्रायः, परिणाहः—बाह्वोर्विष्कम्भः, एतौ द्वावपि तुल्यौ, न हीनाधिकप्रमाणौ।**

१७३. 'त्रपू' धातु लज्जा के अर्थ में प्रयुक्त होती है, जो सर्वांग प्रतिपूर्ण होता है, वह अलज्जनीय होता है, यह अनपत्रपता है। पांचों इंद्रियों से युक्त प्रतिपूर्ण इंद्रिय होता है।[१]

१७४. वज्रऋषभनाराच आदि संहनन से युक्त बलिष्ठ शरीर वाला स्थिर संहननी होता है।[२] यह शरीर-संपदा है। अब मैं वचन-सम्पदा के विषय में कहूंगा।

१७५-७७. वचन-सम्पदा[३] के चार भेद हैं—१. आदेय वचन २. मधुर वचन ३. अनिश्रित वचन ४. असंदिग्ध वचन। जिसके वचन को सब स्वीकार करते हैं, वह आदेय वाक्य होता है। मधुर वचन का अर्थ है—अर्थ से युक्त वचन अथवा अपरुष वचन या क्षीराश्रव आदि लब्धियों से युक्त वचन अथवा सुस्वर, सुभग और गाम्भीर्य गुण से युक्त वचन। जो क्रोध आदि से तथा राग-द्वेष से युक्त बोलता है, वह निश्रित वचन होता है। जो इनसे रहित बोलता है, वह अनिश्रित वचन कहलाता है।

१७८. संदिग्ध वचन का अर्थ है—अव्यक्त वचन, अस्पष्ट वचन अथवा अनेक अर्थों वाला वचन। इसके विपरीत जो व्यक्त, स्फुट और अर्थगाम्भीर्य से युक्त होता है, वह असंदिग्ध वचन कहलाता है। यह चार प्रकार की वचन-सम्पदा है।

---

१. बृहत्कल्प भाष्य में आचार्य के शरीर-वैशिष्ट्य का वर्णन मिलता है—जो आरोह-परिणाह से युक्त, उपचित और सुगठित शरीर वाला तथा प्रतिपूर्ण इंद्रिय वाला होता है, वह ओजस्वी कहलाता है। जिसका शरीर अलज्जनीय तथा दीप्ति युक्त होने के कारण अनभिभवनीय हो, वह तेजस्वी होता है। इस प्रकार के शारीरिक वैशिष्ट्य से युक्त व्यक्ति ही गणधर बनने योग्य होता है।[१]

१. बृभा २०५१ ; आरोह-परीणाहा, चियमंसो इंदिया य पडिपुण्णा। अह ओओ तेओ पुण, होइ अणोतप्पया देहे॥

२. निशीथ भाष्य में प्रकारान्तर से आचार्य के शरीर के कुछ लक्षणों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

- मान-उन्मान—प्रमाण युक्त शरीर।
- रेखा—मणिबंध से अंगुष्ठपर्यंत रेखा, जो गण और ज्ञान आदि की समृद्धि में हेतुभूत होती है। उससे आचार्य को सुयश प्राप्त होता है, वे लोकमान्य पुरुष बन जाते हैं।
- सत्त्व—महान् संकटकाल में भी अदीन।
- वपु—तेजस्वी आभा वाला शरीर।
- अंगोपांग—सुसंस्थित अवयव।
- लक्षण—श्रीवत्स, स्वस्तिक आदि लक्षणों और तिल आदि व्यंजनों से युक्त शरीर।[१]

१. निभा ५९७७, ५९८०, ५९८१ चू पृ. ११७, ११८।

३. प्रवचनसारोद्धार में वचनसम्पदा के चार भेदों में कुछ शाब्दिक भिन्नता है[१]—१. वादी २. मधुरवचन ३. अनिश्रित वचन ४. स्फुट वचन। इसमें आदेयवचन के स्थान पर वादी[२] तथा असंदिग्धवचन के स्थान पर स्फुटवचन का प्रयोग अर्थ-साम्य का द्योतक है।

१. प्रसा ५४४ ; वाई महुरत्त अनिस्सिय, फुडवयणो संपया वयणे त्ति।

२. प्रसाटी प. १२९ ; वादी आदेयवचन इत्यर्थः।

१७९. वाचना-सम्पदा[1] के चार भेद हैं—१. विदित्वा उद्देशना २. विचिन्त्य समुद्देशना[2] ३. परिनिर्वाप्य वाचना ४. अर्थ-निर्यापना।

१८०. यह शिष्य इस वाचना के योग्य है, यह अयोग्य है—वाचना विषयक गुणों की परीक्षा करके जो जिसके योग्य हो, उसको वैसी ही उद्देशना देना विदित्वा उद्देशना है।

१८१, १८२. अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्य को अपात्र समझकर वाचना नहीं देनी चाहिए। जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े में अथवा खटाई से युक्त घड़े में दूध नहीं डाला जाता। यदि डाल दिया जाए तो वह नष्ट हो जाता है, वैसे ही अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्य को छेदसूत्र की वाचना नहीं देनी चाहिए। समुद्देशना को भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

१८३. परिनिर्वाप्य वाचना का अर्थ है—आचार्य शिष्य को उतनी ही वाचना दे, जितनी वह ग्रहण कर सके तथा परिचित कर सके, यहां जाहक[3]—कांटों वाले चूहे का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

१८४. अर्थ-निर्यापक का तात्पर्य है, जो सूत्र का अर्थ जानता है, जो अर्थ का निर्वहन करता है तथा जो कुछ कहता है, उसका अर्थ भी करता है।

१८५, १८६. मति-सम्पदा के चार भेद हैं—१. अवग्रह २. ईहा ३. अवाय ४. और धारणा। अवग्रह मति के छह भेद ज्ञातव्य हैं, वे इस प्रकार हैं—१. क्षिप्र २. बहु ३. बहुविध[4] ४. ध्रुव ५. अनिश्रित ६. असंदिग्ध।

---

१. प्रवचनसारोद्धार में वाचनासम्पदा के चार भेदों के नाम इस प्रकार हैं—१. योग्य वाचना २. परिणत वाचना ३. निर्यापयिता ४. निर्वहन।

इन चार भेदों में परिणत वाचना का टीकाकार ने अर्थ किया है कि पूर्व प्रदत्त वाचना को शिष्य सम्यक् रूप से ग्रहण कर ले, तब अगली वाचना दे। यह जीतकल्पभाष्य के तीसरे भेद परिनिर्वाप्य वाचना का संवादी है। निर्यापयिता का तात्पर्य है शिष्य के उत्साह से शीघ्र ही ग्रंथ को समाप्त करने वाला, बीच में नहीं छोड़ने वाला। इसमें कुछ अर्थ-भेद है क्योंकि जीतकल्पभाष्य में दूसरा भेद विचिन्त्य समुद्देशना है। निर्वाहक का अर्थ है—पूर्वापर संगति से सम्यक् अर्थ का निर्वहन करने वाला।[1]

१. प्रसा ५४५ ; जोगो परिणयवायण, निज्जविया वायणाएँ निव्वहणे।

२. दशाश्रुतस्कंध (४/८) में विजयं वाएति—विदित्वा वाचना शब्द का प्रयोग हुआ है।

३. जैसे कांटों वाला चूहा दुग्धपात्र से थोड़ा दूध पीकर पात्र के पार्श्व को चाट लेता है। फिर दूध पीता है और पात्र चाटता है, यह क्रम निरन्तर चलता है, वैसे ही बुद्धिमान् आचार्य शिष्य को पहले उतना ही पाठ पढ़ाए, जिससे वह उसे चिरपरिचित कर सके। इस प्रकार धीरे-धीरे वह शिष्य को सम्पूर्ण श्रुत ग्रहण करवा देता है।[1]

१. विभा १४७२; पाउं थोवं थोवं, खीरं पासाइं जाहगो जह लिहइ। एमेव जियं काउं, पुच्छइ मइमं न खेएइ॥

४. आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने इस प्रसंग में एक प्रश्न उपस्थित किया है कि बहु-बहुविध आदि विशेषण स्पष्ट अर्थ के द्योतक हैं लेकिन व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह और ईहा में तो अव्यक्त ज्ञान होता है, उसमें ध्रुव, अनिश्रित आदि भेदों का समाहार कैसे संभव है? टीकाकार स्वयं इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि व्यञ्जनावग्रह आदि अवाय के कारण हैं। इनके अभाव में अवाय की स्थिति होना असंभव है। विशिष्ट कारण के बिना विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अवायगत बहु-बहुविध आदि का कारण व्यञ्जनावग्रह में भी है अतः अवग्रह आदि के भी छह-छह भेद कर दिए गए हैं।[1] विस्तार हेतु देखें तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी १/१६ पृ. ८४

१. विभामहेटी पृ. ९२।

इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणा के भी भेद जानने चाहिए।[1]

१८७. शिष्य अथवा परतीर्थी द्वारा उच्चारित मात्र का तत्काल अवग्रहण कर लेना क्षिप्र अवग्रह है। इसी प्रकार पांच सौ, छह सौ अथवा सात सौ श्लोकों का अवग्रहण बहु[2] अवग्रह है।

१८८. एक साथ अनेक प्रकार का अवग्रहण बहुविध[3] अवग्रह है, जैसे—लेखन, दूसरे के वचनों का अवधारण, वस्तुओं की गणना, आख्यानक-कथन आदि क्रियाओं को एक साथ ग्रहण करना अथवा एक साथ अनेक प्रकार के शब्द-समूह का श्रवण करना बहुविध अवग्रहण है।

१८९. (अधीत पाठ का) चिरकाल तक विस्मरण नहीं करना ध्रुव अवग्रहण है। जो पुस्तकों में लिखा हुआ नहीं है तथा जो अभाषित है, उसको ग्रहण करना अनिश्रित[4] अवग्रह है। जो निःशंकित है, वह असंदिग्ध[5] अवग्रह है।

१९०. अवगृहीत अर्थ की ईहा होती है, ईहित करने के पश्चात् अवाय होता है। अवगत या अवाय होने के

---

१. भाष्यकार ने अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—मतिज्ञान के इन चारों भेदों के छह-छह भेद किए हैं—क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, अनिश्रित और असंदिग्ध। आवश्यक निर्युक्ति और नंदी में जहां भी मतिज्ञान की चर्चा है, वहां इन भेदों का उल्लेख नहीं है। विशेषावश्यक भाष्य में इनका क्रम और नाम इस प्रकार हैं—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, निश्चित और ध्रुव तथा इन छह के प्रतिपक्ष।[1]

यहां आचार्य की मति-सम्पदा का वर्णन है अतः बहु, बहुविध के प्रतिपक्ष अबहु, अबहुविध आदि छह भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है। भाष्यकार ने मतिज्ञान के २८ भेदों के साथ इन १२ भेदों का गुणा करके मतिज्ञान के ३३६ भेद स्वीकृत किए हैं।

**१. विभा ३०७ ; जं बहु-बहुविह-खिप्पाऽनिस्सिय-निच्छिय-धुवेयरविभिन्ना। पुणरुग्गहादओ तो, तं छत्तीसत्तिसयभेयं॥**

२. विशेषावश्यक भाष्य में 'बहु' की परिभाषा इस प्रकार की गई है—भिन्नजातीय अनेक शब्दों के समूह को अलग-अलग रूप से एक साथ ग्रहण करना बहु ग्रहण है, जैसे—यह पटह का शब्द है, यह भेरी का शब्द है, यह शंख का शब्द है आदि।[1]

**१. विभा ३०८ ; नाणासद्दसमूहं, बहुं पिहं मुणइ भिन्नजाईयं।**

३. बहुविध का अर्थ है—अनेक पदार्थों की अनेक पर्यायों को जानना। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार शंख, भेरी आदि के एक-एक शब्द के स्निग्धत्व, मधुरत्व आदि धर्मों को एक साथ ग्रहण करना बहुविध ग्रहण है।[1]

**१. विभा ३०८ ; बहुविहमणेगभेयं, एक्केक्कं निद्ध-महुराइं।**

४. भाष्यकार के अनुसार बिना हेतु का सहारा लिए स्वरूप को जानना अनिश्रित है[1] अथवा गाय और अश्व में जो विपर्यास है, उसे अलग करना और दोनों को सही-सही जानना अनिश्रित है।

**१. विभा ३०९ ; अणिस्सियमलिंगं।**

५. विशेषावश्यक भाष्य में असंदिग्ध के स्थान पर निश्चित शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बरीय परम्परा में असंदिग्ध के स्थान पर 'अनुक्त' तथा संदिग्ध के स्थान पर 'उक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2]

**१. विभा ३०९ ; निच्छियमसंसयं।**

**२. त १/१६ ; बहुबहुविधक्षिप्रानिःश्रितानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्।**

पश्चात् धारणा होती है। धारणा के विषय में यह विशेष है।

१९१. धारणा[1] के छह भेद इस प्रकार हैं—१. बहु[2] २. बहुविध ३. पोराण ४. दुर्धर ५. अनिश्रित ६. असंदिग्ध। पुराण का अर्थ है—जिसकी चिरकाल पहले वाचना दी हो। दुर्धर का अर्थ है—नय और भंगों के द्वारा गहन होने के कारण जिसको धारण करना कष्टप्रद हो।

१९२. अब आगे प्रयोगमति[3] के चार भेद आनुपूर्वी से कहे जा रहे हैं—आत्मा (स्वयं), पुरुष, क्षेत्र और वस्तु—इन चारों को जानकर वाद का प्रयोग करना चाहिए।

१९३. जैसे प्रायोगिक वैद्य रोगी की व्याधि जिस उपाय से ठीक होती है, वह प्रयोग जानता है, वैसे ही अपनी शक्ति को जानकर वाद अथवा धर्मकथा करनी चाहिए।

१९४. प्रतिवादी उपासक आदि पुरुष अथवा ज्ञा—जानकार आदि परिषद्[4] को जानकर फिर वाद का प्रयोग करना चाहिए।

१९५. क्षेत्र मालव आदि है अथवा साधुभावित, यह विधिपूर्वक जानकर फिर वाद का प्रयोग करना चाहिए।

१९६. वस्तु अर्थात् परवादी बहुत आगमों का ज्ञाता है अथवा नहीं तथा राजा और अमात्य दारुण स्वभाव वाले हैं अथवा भद्र स्वभाव वाले, यह जानकर वाद का प्रयोग करना चाहिए।

१९७. यह प्रयोगमति है, अब मैं संग्रहपरिज्ञा के बारे में कहूंगा। संग्रहपरिज्ञा भी चार प्रकार की है, उसके विभाग इस प्रकार हैं—

---

१. विशेषावश्यक भाष्य में धारणा के अलग भेदों का उल्लेख नहीं है। अवग्रह की भांति ही धारणा के भेद हैं।

२. जीतकल्प भाष्य में धारणा के बहु, बहुविध, अनिश्रित और असंदिग्ध भेदों की व्याख्या नहीं की गई है लेकिन दशाश्रुतस्कन्ध में इनकी व्याख्या मिलती है—
बहुधारण—विपुलश्रुत को धारण करना।
बहुविधधारण—अनेकविध श्रुतपाठ का एक साथ अवधारण करना।
अनिश्रितधारण—बिना किसी दूसरे आलम्बन के स्वयं अवधारण करना।
असंदिग्धधारण—पाठ को असंदिग्ध रूप से धारण करना।[5]
१. दशा ४/११।

३. वाद आदि के प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया जाने वाला व्यापार प्रयोग है तथा उस समय पदार्थ को जानने की मति प्रयोग मति संपदा कहलाती है।[6]
१. प्रसाटी प. १३० ; वादादिप्रयोजनसिद्धये व्यापारः तत्काले मतिः—वस्तुपरिच्छित्तिः प्रयोगमतिः।

४. नंदी सूत्र में परिषद् के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं–ज्ञा, अज्ञा और दुर्विदग्धा।[7]
१. नंदी १/४४/१ ; सा समासओ तिविहा पण्णत्ता, तं जहा–जाणिया अजाणिया दुव्वियड्ढा।

१९८, १९९. संग्रह-परिज्ञा[1] सम्पदा (संघ व्यवस्था-कौशल)के चार प्रकार हैं[2]—

१. वर्षाकाल में बहुजन योग्य क्षेत्र की प्रेक्षा करना।

२. पीठ और फलक का अवग्रहण क्योंकि ये दोनों वर्षाऋतु में आचीर्ण हैं।

३. समय का समानयन करना।

४. रत्नाधिक की पूजा करना।

इन भेदों की व्याख्या इस प्रकार जाननी चाहिए।

२००. वर्षाकाल में बहुजनयोग्य क्षेत्र का तात्पर्य यह है कि वह क्षेत्र विस्तीर्ण और समस्त गच्छ के प्रायोग्य हो तथा बाल, दुर्बल, ग्लान और अतिथि आदि के प्रायोग्य हो, ऐसी प्रतिलेखना करनी चाहिए।

२०१. योग्य क्षेत्र के अभाव में साधु अगृहीत हो जाते हैं, वे अन्यत्र चले जाते हैं। पीठ और फलक आदि के ग्रहण करने से निषद्या मलिन नहीं होती है।

२०२. वर्षाकाल के अतिरिक्त काल में अन्यत्र जाया जा सकता है। वर्षाकाल में विशेष रूप से भूमि की शीतलता से कुंथु आदि प्राणी सम्मूर्च्छित हो जाते हैं अत: वर्षाकाल में पीठ और फलक का ग्रहण करना चाहिए।

---

१. ठाणं सूत्र में आचार्य और उपाध्याय के लिए सात संग्रह-स्थानों का उल्लेख मिलता है[1]—

१. गण में आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करें।

२. बड़े-छोटे के क्रम से कृतिकर्म का सम्यक् प्रयोग करें।

३. जिन-जिन सूत्र पर्यवजातों को धारण किया, उनकी उचित समय पर वाचना दें।

४. ग्लान एवं शैक्ष की यथोचित सेवा हेतु जागरूक रहें।

५. गण को पूछकर अन्य प्रदेश में विहार करें, पूछे बिना विहार न करें।

६. अनुपलब्ध उपकरणों को यथाविधि उपलब्ध करवाएं।

७. गण में प्राप्त उपकरणों का सम्यक् संरक्षण व संगोपन करें। विधि का अतिक्रमण करके संरक्षण और संगोपन न करें।[2]

१. ठाणं ७/६।

प्रवचनसारोद्धार में संग्रह-परिज्ञा के चार भेदों के नाम इस प्रकार हैं—१. गणयोग्य उपग्रह २. संसक्त संपद् ३. स्वाध्याय संपद् ४. शिक्षा उपसंग्रह संपद्।[1]

इसमें दूसरे भेद के अतिरिक्त शेष तीन भेदों में केवल शाब्दिक अन्तर है। अर्थ की दृष्टि से प्राय: समान हैं। दूसरे संसक्त संपद् का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं कि भद्रपुरुष के अनुरूप देशना देकर उन्हें संघ के प्रति आकृष्ट करना संसक्त संपद् है लेकिन जीतकल्पभाष्य में पीठ और फलक का अवग्रहण है। प्रवचनसारोद्धार में जीतकल्पभाष्य के प्रथम और द्वितीय भेद का प्रथम भेद में समाहार करके संसक्तसंपद् नामक नया भेद प्रस्तुत किया गया है।[2]

१. प्रसा ५४६; गणजोग्गं संसत्तं, सज्झाए सिक्खणं जाणे।

२. प्रसाटी प. १३०।

**२०३.** स्वाध्याय, प्रतिलेखना, उपधि का उत्पादन तथा भिक्षाचर्या आदि—ये सब जिस काल में जो क्रिया करने योग्य हों, उसको उसी काल में करना चाहिए।

**२०४, २०५.** जिसके द्वारा प्रव्रजित हुआ है तथा जिसकी सन्निधि में अध्ययन किया है, वे यथागुरु होते हैं अथवा जो उससे रत्नाधिक हैं, वे भी यथागुरु हैं। उनके आने पर अभ्युत्थान करना, दंड ग्रहण करना, उचित आहार की व्यवस्था करना, उनकी उपधि को वहन करना तथा उनकी विश्रामणा—पैर दबाना आदि वैयावृत्त्य करना, यह उनकी पूजा है।

**२०६.** इन बत्तीस स्थानों को जानकर जो इनमें स्थित होता है, वह व्यवहार का प्रयोग करने के योग्य होता है अथवा जो निम्न छत्तीस स्थानों का ज्ञाता है, वह व्यवहार करने में समर्थ होता है।

**२०७, २०८.** जो आलोचनार्ह छत्तीस स्थानों में अपरिनिष्ठित होता है, वह मुनि व्यवहार का प्रयोग करने में समर्थ नहीं होता तथा जो इन स्थानों में परिनिष्ठित होता है, वह व्यवहार का प्रयोग करने में समर्थ होता है।

**२०९, २१०.** जो आलोचनार्ह इन छत्तीस स्थानों में अप्रतिष्ठित होता है, वह मुनि व्यवहार का प्रयोग करने में समर्थ नहीं होता तथा जो इन स्थानों में सुप्रतिष्ठित होता है, वह व्यवहार का प्रयोग करने में समर्थ होता है।

**२११.** जिन बत्तीस स्थानों का कथन किया था, उनमें विनय-प्रतिपत्ति के चार भेद मिलाने से छत्तीस स्थान होते हैं।

**२१२.** बत्तीस स्थानों का वर्णन किया जा चुका है। अब मैं विनय-प्रतिपत्ति[1] के चार भेद कहूंगा, जिससे आचार्य अपने अंतेवासी शिष्यों को विनीत बनाकर उऋण हो जाते हैं।

**२१३.** विनय की चार प्रतिपत्तियां इस प्रकार हैं—१. आचार विनय २. श्रुत विनय ३. विक्षेपणा विनय ४. दोष-निर्घातन विनय।

**२१४, २१५.** आचारविनय आनुपूर्वी से चार प्रकार का होता है—१. संयम-सामाचारी २. तपः-सामाचारी ३. गणविहरण-सामाचारी ४. एकलविहार-सामाचारी। इनके विभाग-विस्तार को मैं यथानुपूर्वी कहूंगा।

**२१६.**
- स्वयं संयम का आचरण करता है।
- दूसरे को नियमतः संयम ग्रहण करवाता है।
- संयम में विषण्ण को स्थिर करता है।
- उद्यतचारित्र वाले का उपबृंहण करता है।

---

१. यहां आचार्य से सम्बन्धित विनय-प्रतिपत्ति का उल्लेख है, जिसमें आचार्य शिष्यों को विनीत बनाकर संघ से उऋण हो जाते हैं लेकिन दशाश्रुतस्कंध में अंतेवासी शिष्य की चार विनय-प्रतिपत्तियों का उल्लेख है। इसके द्वारा विनीत शिष्य आचार्य के भार को हल्का करता है। देखें दश्रु ४/१९-२३। दशाश्रुतस्कन्ध में विनय-प्रतिपत्तियों का विस्तार से वर्णन है। देखें दश्रु ४/१४-१८ चू. पृ. २३, २४

२१७. सतरह प्रकार के संयम में पृथ्वी आदि छह कायों का घट्टन, परितापन और अपद्रावण का नियमत: परिहार करना संयम सामाचारी है।

२१८-२०. जो पाक्षिक पौषध में दूसरों को तप करवाता है तथा स्वयं तप करता है, इसी प्रकार भिक्षाचर्या में दूसरों को नियुक्त करता है तथा स्वयं भी भिक्षाचर्या में उद्यत रहता है। बारह प्रकार के तप में दूसरों को नियुक्त करता है तथा स्वयं को भी नियोजित करता है, (यह तप: सामाचारी है।) गण सामाचारी के अन्तर्गत वह विषाद प्राप्त गण को प्रेरित करता है। प्रतिलेखना में प्रस्फोटन आदि प्रमाद से शिष्यों को दूर करता है, बाल और ग्लान के वैयावृत्त्य में विषण्ण मुनियों को सेवा में नियुक्त करता है तथा स्वयं भी इन क्रियाओं में उद्यत रहता है। (यह गण-विहरण सामाचारी है।)

२२१, २२२. एकलविहार आदि[1] प्रतिमा को वह स्वयं स्वीकार करता है तथा दूसरों को भी स्वीकार करवाता है। यह आचारविनय यथाक्रम से संक्षेप में वर्णित किया गया है, अब मैं यथानुपूर्वी श्रुतविनय को कहूंगा।

२२३. सूत्र की वाचना देना, अर्थ की वाचना देना, हितकर वाचना देना तथा नि:शेष वाचना देना—यह चार प्रकार का श्रुतविनय है।

२२४, २२५. उद्युक्त होकर शिष्य को सूत्र ग्रहण करवाना सूत्रग्रहण विनय है। प्रयत्नपूर्वक शिष्य को अर्थ सुनाना अर्थ विनय है। परिणामक आदि शिष्यों के लिए जो जिसके योग्य—हितकर है, उसको वही वाचना देना हितकर[2] वाचना हैं। नि:शेष अर्थात सम्पूर्ण रूप से जब तक वाचना समाप्त नहीं होती, तब तक सूत्र और अर्थ की वाचना देना नि:शेष वाचना विनय है। यह चार प्रकार का श्रुतविनय है, अब मैं विक्षेपणा विनय के विषय में कहूंगा।

२२६. विक्षेपणा विनय के चार प्रकार हैं—

- अदृष्टधर्मा व्यक्ति को दृष्टधर्मा बनाना।
- दृष्टधर्मा श्रावक को साधर्मिकत्व विनय से प्रव्रजित करना।
- च्युतधर्मा को पुन: धर्म में स्थापित करना।
- उसके चारित्रधर्म की वृद्धि हेतु प्रयत्न करना।

२२७. वि उपसर्ग नाना भाव के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वि उपसर्ग के साथ क्षिप्—प्रेरणे धातु से विक्षेपणा शब्द बनता है। अदृष्टधर्मा तथा दृष्टधर्मा को परसमय से विमुख करके स्वसमय के अभिमुख करना विक्षेपणा विनय का प्रथम प्रकार है।

---

१. यहां आदि शब्द से प्रतिमागत विशेष अनुष्ठान का ग्रहण है।[1]

१. व्यभा ४१३९ मटी प. ४३ ; आदिशब्दात् प्रतिमागतविशेषानुष्ठानपरिग्रहः।

२. दशाश्रुतस्कंध में 'हितवाचना' को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि परिणामक शिष्य को वाचना देने से इहलोक और परलोक में हित होता है। अपरिणामी और अतिपरिणामी को वाचना देने से उभयलोक में अहित होता है।[1]

१. दशु ४/१६ चू प. २३।

२२८. धर्म और स्वभाव का एकार्थक है—सम्यग्दर्शन। जिसने पहले कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया, वह अदृष्टपूर्वधर्मा कहलाता है। उसको पूर्वदृष्ट की भांति धर्म ग्रहण करवाना।

२२९. जैसे मिथ्यादृष्टि भाई या पिता को सम्यक्त्व की प्राप्ति करवाना अथवा दृष्टपूर्व श्रावक को साधर्मिकत्व की दीक्षा देना विक्षेपणा विनय का दूसरा प्रकार है।

२३०. चारित्रधर्म अथवा दर्शनधर्म से जो च्युत हो गया है, उसको पुनः यथोद्दिष्ट धर्म में स्थापित करना विक्षेपणा विनय का तीसरा प्रकार है।

२३१, २३२. उसी के चारित्रधर्म की वृद्धि हेतु अनेषणा आदि से रोकना तथा स्वयं के हित के लिए अनेषणीय वस्तु आदि ग्रहण नहीं करना, इहलोक और परलोक में जो हित, शुभ/सुख, क्षेम, निःश्रेयस, मोक्ष और आनुगामिक[1] हो, उसके लिए उद्यत रहना (यह विक्षेपणा विनय का चौथा प्रकार है।)

२३३. यह विक्षेपणा विनय यथाक्रम से संक्षेप में वर्णित है। अब मैं दोष-निर्घातन विनय कहूंगा।

२३४. कषाय आदि अथवा आठ कर्म प्रकृतियों का बंध दोष है। इनका नियत और निश्चित विनाश दोष-निर्घातना विनय है। नियत और निश्चित तथा घात और विनाश—ये दोनों एकार्थक हैं।

२३५. दोषनिर्घातन विनय चार प्रकार का है—

- रुष्ट व्यक्ति के क्रोध का विनयन करना।
- दुष्ट व्यक्ति के दोष का विनयन करना।
- कांक्षित व्यक्ति की कांक्षा का छेदन करना।
- आत्म-प्रणिधान करना।

२३६. जैसे शीतगृह—जलयन्त्रगृह दाह का अपनयन करता है, वंजुल वृक्ष सर्प के विष को दूर करता है, वैसे ही रुष्ट व्यक्ति के क्रोध का विनयन या उपशमन दोष-निर्घातन विनय का प्रथम भेद है।

२३७. जो कषाय, विषय, मान, माया आदि से तथा स्वभाव से दुष्ट है, उसके दोष का प्रविनयन करना, ध्वंस या नाश करना दोषनिर्घातन विनय का दूसरा भेद है।

२३८. जिस शिष्य को भक्तपान, परसमय अथवा संखडि आदि की कांक्षा है, उसकी कांक्षा का प्रविनयन

---

१. हित, शुभ (सुख), क्षेम, निःश्रेयस, मोक्ष और आनुगामिक—ये पांचों शब्द हितकारी अर्थ को ही ध्वनित करते हैं लेकिन आचार्य मलयगिरि ने इनकी अर्थ-भिन्नता को इस प्रकार प्रकट किया है—

हित—जिस कारण से इहलोक में अभ्युत्थान आदि हो।
शुभ/सुख—जिससे परलोक में सुख अथवा शुभ हो।
क्षेम—दोनों लोकों के प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ।
निःश्रेयस—निश्चित कल्याणकारी।
आनुगामिक—जो मोक्ष का अनुगमन करवाए।[2]

**१. व्यभा ४१४९ मटी प. ४४ ; यद् यस्मात्कारणात् तदभ्युत्थानमिह लोके वा हितं तेन हितमित्युच्यते। सुखं इह परलोके सुखकरणात्। क्षेममैहिकपारत्रिकप्रयोजनक्षमत्वात्। निःश्रेयसं कल्याणकारिकत्वात्।**

करना। संखडि की कांक्षा का अन्यापदेश—अन्योक्ति से अपनयन करना। (यह दोष-निर्घातन विनय का तीसरा भेद है।)

२३९. चरक आदि में अहिंसा कही गई है, शिष्य की ऐसी कांक्षा होने पर हेतु और कारण से उसका विनयन करना, जिससे वह कांक्षारहित हो जाए।

२४०. जो क्रोध, द्वेष और कांक्षा में वर्तमान नहीं है, वह सुप्रणिहित अथवा श्रेष्ठ परिणाम से युक्त होता है।

२४१. ये छत्तीस स्थान क्रमशः कहे गए हैं। जो इन स्थानों के प्रति कुशल है, वह व्यवहारी व्यवहार करने के योग्य कहा गया है।

२४२, २४३. जो आचारवान् आदि आठ स्थानों[1], व्रतषट्क आदि अठारह स्थानों[2], दश प्रायश्चित्त, दश आलोचना के दोष[3], छह स्थान—छह काय, छह व्रत आदि, दश आलोचना के गुण, षट्स्थान पतित स्थान, पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ तथा पांच प्रकार के चारित्र में प्रत्यक्षज्ञानी होता है, वह आगमव्यवहारी होता है।

---

१. आलोचनार्ह आचारवान् आदि आठ गुणों से युक्त होता है, वे इस प्रकार हैं—
१. आचारवान्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पांच आचारों से युक्त।
२. आधारवान्—आलोचक द्वारा आलोच्यमान सभी अतिचारों को धारण करने में समर्थ।
३. व्यवहारवान्—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पांच व्यवहारों का सम्यक् प्रयोक्ता।
४. अपव्रीडक—मधुर वचनों से आलोचक में अतिचारों को कहने का साहस उत्पन्न करने में समर्थ, जिससे आलोचना करते समय वह उसके समक्ष लज्जा का अनुभव न करे।
५. प्रकुर्वी—सम्यक् प्रायश्चित्त देकर विशोधि करने वाला।
६. अपरिस्रावी—आलोचक के द्वारा प्रकट किए गए दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला।[1] व्यवहारभाष्य में पिछले तीनों गुणों में क्रमव्यत्यय है।
७. निर्यापक—आलोचक बड़े प्रायश्चित्त का भी वहन कर सके, इस प्रकार सहयोग देने वाला।
८. अपायदर्शी—सम्यक् आलोचना न करने पर उत्पन्न दोषों को बताने वाला।[2]
१. स्था ८/१८, २. व्यभा ५२०।

२. देखें जीभा गा. १५४ का अनुवाद।

३. आलोचना के दश दोष इस प्रकार हैं—
१. आकम्प्य—सेवा आदि से आकृष्ट करके आलोचना करना।
२. अनुमान्य—'मैं कमजोर हूं' अतः मुझे कम प्रायश्चित्त देना, इस प्रकार अनुनय करके आलोचना करना।
३. यदृष्ट—आचार्य आदि के द्वारा जो दोष देखा गया है, केवल उसी की आलोचना करना, शेष को छुपा लेना।
४. बादर—केवल बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करना।
५. सूक्ष्म—केवल छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना।
६. छन्न—आचार्य पूरा सुन न पाए, वैसे आलोचना करना।
७. शब्दाकुल—दूसरे अगीतार्थ मुनि भी सुने, ऐसे जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना।
८. बहुजन—एक के पास आलोचना करके फिर उसी दोष की दूसरे के पास आलोचना करना।
९. अव्यक्त—अगीतार्थ के पास दोषों की आलोचना करना।
१०. तत्सेवी—आलोचना देने वाले स्वयं जिन दोषों का सेवन करते हैं, उनके पास दोषों की आलोचना करना।[1]
१. स्था १०/७०, व्यभा ५२३।

२४४, २४५. जो आचारवान् आदि आठ स्थानों, व्रतषट्क आदि अठारह स्थानों, आलोचना आदि दश प्रकार के प्रायश्चित्त (गा. २७४), आकम्प्य आदि आलोचना के दश दोष, व्रतषट्क, कायषट्क, आलोचना के दश गुणों (गा. २४६) तथा षट्स्थान पतित के छहों स्थानों के प्रत्यक्षज्ञानी होते हैं, वे आगम व्यवहारी कहलाते हैं।

२४६. आचार, विनयगुण, कल्पदीपना[१], आत्मशोधि, ऋजुभाव, आर्जव, मार्दव, लाघव, तुष्टि और प्रह्लादकरण—ये आलोचना के दश गुण हैं।

२४७. मिथ्यात्व आदि पांच आश्रव को दूर करके तप आदि आचार में स्थित होना आलोचना का प्रथम गुण है। विनय का अर्थ है—विनाश। माया का विनाश करना विनय गुण है।

२४८. आलोचना करने से चारित्र के कल्प तथा नियमों में निरतिचार प्रवृत्ति होती है। दीपित, प्रभासित और प्रकाशित—ये तीनों एकार्थक शब्द हैं।

२४९. अतिचार पंक से पंकिल आत्मा की विशोधि करना आत्मशोधि है। आलोचना करने पर आत्मा ऋजुभाव में स्थित होती है।

२५०. ऋजुभाव में रहकर सरल मुनि स्वयं ही अतिचारों की आलोचना करता है। मार्दवभाव से अभिमान रहित होकर आलोचना होती है।

२५१. अतिचार की गुरुता (भारीपन) के भय से आक्रान्त मुनि आलोचना करके लघु हो जाता है। 'मैं शुद्ध हो गया हूं' ऐसा सोचकर वह तुष्टि—तोष का अनुभव करता है तथा अतिचार के नष्ट होने पर वह प्रह्लाद का अनुभव करता है।

२५२. आलोचना के गुणों से सम्पन्न छहों प्रत्यक्षव्यवहारी षट्स्थानपतित होते हैं।

२५३. षट्स्थानपतित[२] के असंख्यात स्थान होते हैं। जो सराग संयमी हैं, उनमें ये स्थान पाए जाते हैं। वीतराग संयमी में एक ही स्थान पाया जाता है।

२५४. जो जिनदेव की आज्ञा से व्यवहार का प्रयोग करते हैं, वे आगम व्यवहारी राग-द्वेष से रहित होते हैं।

२५५. ऐसा कहने पर शिष्य जिज्ञासा करता है कि आगम व्यवहारी वर्तमान में यहां (भरतक्षेत्र में) व्युच्छिन्न हैं अतः उनका विच्छेद होने से चारित्र की विशुद्धि नहीं होगी।

२५६. केवली का व्यवच्छेद होने पर (कुछ समय बाद) चतुर्दश पूर्वधरों का भी व्यवच्छेद हो गया। कुछ आचार्यों का यह अभिमत है कि उनका व्यवच्छेद होने पर प्रायश्चित्त भी व्युच्छिन्न हो गया।

---

१. भगवती आराधना में 'आयारजीदकप्प गुणदीवणा' पाठ मिलता है। वहां विजयोदया टीका में आचार, जीत और कल्प—इन तीनों को ग्रंथ रूप में व्याख्यायित किया है लेकिन मूलाचार (३८७) में टीकाकार ने भिन्न व्याख्या की है।

२. षट्स्थानपतित संयम-स्थान का परिमाण असंख्येय लोकाकाश के प्रदेश के परिमाण जितना होता है। सराग संयत वीतराग के कभी संयमस्थान बढ़ते हैं, कभी घटते हैं लेकिन वीतराग संयत के चारित्र का एक ही स्थान अर्थात् समान चारित्र होता है। कषाय के अभाव में उनके संयम-स्थान न घटते हैं और न बढ़ते हैं, अवस्थित रहते हैं।

२५७. जितने प्रायश्चित्त से जिसका पाप शुद्ध होता है, उसको जिनेश्वर भगवान् तथा चतुर्दश पूर्वधर उतना ही प्रायश्चित्त देते हैं। इसके विपरीत जो आगम व्यवहारी नहीं हैं, वे अपनी इच्छा के अनुसार प्रायश्चित्त देते हैं।

२५८. प्रत्यक्षज्ञानी—आगमव्यवहारी यह जानते हैं कि यह मुनि प्रायश्चित्त को वहन करने में समर्थ होगा या असमर्थ। जिसके लिए जितना प्रायश्चित्त करणीय है, उसको जानकर वे उतना ही प्रायश्चित्त देते हैं। परोक्ष व्यवहारी घुणाक्षर न्याय से प्रायश्चित्त देते हैं।

२५९. न्यून या अधिक प्रायश्चित्त देने से मोक्षमार्ग की विराधना होती है, ऐसा सूत्र में प्रतिपादित है। प्रायश्चित्त देने पर भी उसकी शुद्धि नहीं होती। जो स्वयं अशुद्ध है, वह दूसरों को कैसे शुद्ध कर सकता है?

२६०. वर्तमान में मासिक और चातुर्मासिक प्रायश्चित्त देने वाले भी दिखाई नहीं देते और न ही प्रायश्चित्त के द्वारा शोधि करने वाले देखे जाते हैं।

२६१. शोधि के अभाव में प्रायश्चित्त देने वाले और प्रायश्चित्त करने वाले के अभाव में वर्तमान में तीर्थ सम्यक्त्व (दर्शन) और ज्ञान वाला ही है (अर्थात् चारित्र का अभाव है)।

२६२. महापुरुषों (प्रत्यक्ष व्यवहारी) का व्यवच्छेद होने पर वर्तमान में निर्यापक भी नहीं हैं इसलिए वर्तमान में सुविहित मुनियों की विशुद्धि संभव नहीं है।

२६३. शिष्य के द्वारा इस प्रकार जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर आचार्य उसको कहते हैं कि तुम यह नहीं जानते कि प्रायश्चित्त कहां (किस ग्रंथ में) कहा गया है और वह कितना व्युच्छिन्न हो गया है?

२६४. अर्थ की अपेक्षा से कुछ सूत्र अनागत होते हैं। (अर्थात् उन सूत्रों का अर्थ ज्ञातव्य नहीं होता) कुछ सूत्र अर्थ का पूरा स्पर्श करते हैं। कुछ अर्थ भी अनागत सूत्र का स्पर्श करते हैं। (चतुर्दश पूर्वधर इसके पूर्ण ज्ञाता होते हैं।)

२६५. सारा प्रायश्चित्त नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु में निबद्ध है। प्रकल्प—निशीथ, कल्प और व्यवहार उसी पूर्व से निर्यूढ़ हैं।

२६६. उन ग्रंथों (निशीथ, व्यवहार और कल्प) को धारण करने वाले मुनि आज भी हैं। तुम यह कैसे कह सकते हो कि प्रायश्चित्त का विच्छेद हो गया? यहां यह प्ररूपणा ज्ञातव्य है।

२६७. स्वपदप्ररूपणा, दश प्रायश्चित्त चौदहपूर्वी तक, आठ प्रायश्चित्त दु:प्रसभ आचार्य तक, प्रायश्चित्त हैं, प्रायश्चित्त देने वाले नहीं देखे जाते, धनिक का दृष्टांत, तीर्थ और निर्यापक[1]।

२६८. प्रज्ञापक का स्वपद है—प्रायश्चित्त। उसकी व्याख्या चोदक को अभीष्ट नहीं है। वर्तमान में वह जिस रूप में विद्यमान है, उस रूप में मुझसे सुनो।

२६९. चक्रवर्ती शिल्पी रत्न द्वारा निर्मित प्रासाद में भोगों को भोगता है। उसको देखकर अन्य राजाओं के मन में भी वैसे प्रासाद में रहने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

२७०, २७१. हम भी ऐसे ही प्रासाद करवाएंगे, ऐसा सोचकर उन्होंने चित्रकारों को संदेश भेजा कि अच्छी

---

१. यह द्वारगाथा है, इसके द्वारों की व्याख्या आगे अनेक गाथाओं में की गई है।

तरह फलक पर प्रासाद को चित्रित करके लाओ। चित्रकार मनोहारी प्रासाद को फलक पर चित्रित करके लाए। वैसा ही प्रासाद वर्धकि ने बनाया। उस प्रासाद का आकार चक्रवर्ती के प्रासाद जैसा होने पर भी वह लीलाविहीन होता है।

२७२. जैसे सामान्य लोगों के प्रासाद आकार और रूप आदि में विशिष्ट नहीं होते लेकिन क्या वे घर नहीं कहलाते? उसमें भी वे लोग भोगों को भोगते हैं।

२७३. इसी प्रकार परोक्षव्यवहारी आचार्य प्रत्यक्षव्यवहारी के अनुरूप व्यवहार का प्रयोग करता है। व्यवहर्तव्य क्या है? दश प्रकार के प्रायश्चित्त व्यवहर्तव्य हैं।

२७४. १. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. मिश्र—आलोचना प्रतिक्रमण दोनों ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थाप्य १०. पारांचित—ये दस प्रायश्चित्त[1] हैं।

२७५. इसके बाद अनुक्रम से इन प्रायश्चित्तों को जैसे और जहां धारण करता है, उसको विस्तारपूर्वक यथानुपूर्वी कहा जाएगा।

२७६. जब तक चतुर्दशपूर्वी और प्रथम संहनन का अस्तित्व रहता है, तब तक दश प्रायश्चित्तों का अनुवर्तन होता है। उसके बाद दुःप्रसभ[2] आचार्य तक तीर्थ में आठ प्रकार के प्रायश्चित्तों का प्रयोग होगा।

२७७. चतुर्दशपूर्वी तथा प्रथम संहनन—इन दोनों के विच्छेद होने पर नवां—अनवस्थाप्य और दशवां पारांचित—ये दोनों प्रायश्चित्त विच्छिन्न हो गए।

२७८. जब तक नवपूर्वी, दशपूर्वी, लिंगधारी साधु और तीर्थ रहेगा, तब तक आठ प्रायश्चित्तों का अनुवर्तन होगा, शिष्य प्रश्न करता है कि आज यह भी दिखाई नहीं देता, ऐसा कहने पर आचार्य कहते हैं—

२७९. दो प्रकार के प्रायश्चित्तों (नवमां, दसवां) का विच्छेद होने पर आठ प्रायश्चित्तों को देने वाले और पालन करने वाले दिखाई नहीं देते, इस प्रकार कहने वाले को चतुर्गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।

२८०. दो प्रकार के प्रायश्चित्तों का विच्छेद होने पर आठ प्रायश्चित्तों को देने वाले और पालन करने वाले प्रत्यक्ष कैसे दिखाई देते हैं, उसे मुझसे सुनो।

२८१. पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। इनके प्रायश्चित्तों का यथाक्रम से वर्णन करूंगा।

२८२. पुलाक निर्ग्रन्थ के छह प्रायश्चित्त ज्ञातव्य हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग और तप।

---

१. दोषों की लघुता और गुरुता के आधार पर दशविध प्रायश्चित्तों की कल्पना की गई है। यद्यपि प्रायश्चित्त-स्थान और भी हो सकते हैं लेकिन यहां पिण्डरूप में सबका समाहार दश प्रायश्चित्तों में हुआ है। आचार्य अकलंक के अनुसार असंख्य लोक जितने जीव के परिणाम हैं। परिणाम के अनुसार अपराध होते हैं। जितने अपराध होते हैं, उनके उतने ही प्रायश्चित्त होने चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता। व्यवहार नय की दृष्टि से प्रायश्चित्त के दश भेद हैं। तत्त्वार्थसूत्र में प्रायश्चित्त के नौ प्रकार हैं। वहां नवां भेद उपस्थापना है, दशवें पारांचित प्रायश्चित्त का वहां उल्लेख नहीं है।[1]

१. तवा ९/२२ पृ. ६२२।

२. दुःप्रसभ आचार्य के कालगत होने पर तीर्थ और चारित्र का विच्छेद हो जाएगा।

२८३. बकुश और प्रतिसेवना कुशील के सभी (दश) प्रायश्चित्त होते हैं। उनके स्थविर जो जिनकल्प[1] कल्प में स्थित हैं, उनके आठ प्रायश्चित्त होते हैं।

२८४. निर्ग्रन्थ[2] के दो प्रायश्चित्त होते हैं—आलोचना और विवेक। स्नातक निर्ग्रन्थ के केवल एक विवेक प्रायश्चित्त होता है। ये पुलाक आदि निर्ग्रन्थों की प्रतिपत्तियां हैं।

२८५. ज्ञातपुत्र जिनेश्वर महावीर ने सामायिक संयत आदि पांच प्रकार के संयत बताए हैं। अब मैं सामायिक संयत के प्रायश्चित्तों को कहूंगा।

२८६. स्थविरकल्पी सामायिक संयतों के छेद और मूल को छोड़कर आठ प्रायश्चित्त होते हैं। जिनकल्पिक सामायिक संयतों के तप पर्यन्त छह प्रायश्चित्त होते हैं।

२८७. छेदोपस्थापनीय स्थविरकल्पी मुनियों के सभी प्रायश्चित्त होते हैं। छेदोपस्थापनीय जिनकल्पिक के मूल पर्यन्त आठ प्रायश्चित्त होते हैं।

२८८. परिहारविशुद्धि चारित्र में वर्तमान स्थविरों के मूल पर्यन्त आठ प्रायश्चित्त तथा जिनकल्पिक परिहारविशुद्धि के तप पर्यन्त छह प्रायश्चित्त होते हैं।

२८९. सूक्ष्मसम्पराय तथा यथाख्यात चारित्र में आलोचना और विवेक—ये दो ही प्रायश्चित्त होते हैं, तीसरा नहीं होता।

२९०. बकुश और प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ तथा सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयत—ये चारों तीर्थ पर्यन्त विद्यमान रहते हैं इसलिए वर्तमान में भी प्रायश्चित्त हैं।

२९१. (शिष्य पूछता है—) यदि प्रायश्चित्त हैं तो उन्हें करने वाले कोई दिखाई नहीं देते। (आचार्य उत्तर देते हैं—) आचार्य उपाय से प्रायश्चित्त देते हैं, इस संदर्भ में तुम यह उदाहरण सुनो।

२९२. जैसे धनिक दो प्रकार के होते हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष, वैसे ही धारणक भी दो प्रकार के होते हैं—१. वैभवयुक्त और २. वैभवरहित।

२९३. जो वैभवयुक्त धारणक होता है, उससे जब भी धन मांगा जाता है, वह उसी समय सारा ऋण चुका देता है। जो वैभव रहित होता है, उसके लिए यह विशेष विधि है।

२९४. निरपेक्ष धनिक तीनों की हानि कर देता है—१. स्वयं की २. धन की तथा ३. धारणक की। सापेक्ष धनिक तीनों की रक्षा करता है—१. स्वयं की २. धन की ३. तथा धारणक की।

२९५. निरपेक्ष धनिक के पास जब वैभव रहित धारणक तृण लेकर आता है तो वह उसके पैरों को पकड़कर

---

१. जिनकल्प के साथ यहां उपलक्षण से यथालंद कल्प का भी ग्रहण है।[1]

१. व्यभा ४१८६ मटी प. ४९।

२. जो पापयुक्त बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथ से मुक्त है, वह निर्ग्रन्थ है।[1] आभ्यन्तर ग्रंथ से सर्वथा मुक्त न होने पर भी जो अपने क्रोध आदि दोषों को जानता है तथा उस पर विजय पाने का प्रयत्न करता है, वह भी निर्ग्रन्थ है।[2]

१. बृभा ८३२; सावज्जेण विमुक्का, सब्भिंतर-बाहिरेण गंथेण। निग्गहपरमा य विदू, तेणेव य होंति निग्गंथा॥

२. बृभा ८३६।

अपने पैरों से मिलाकर उसे नीचे गिरा देता है। वह धनिक स्वयं धन तथा धारणक—तीनों की हानि कर देता है।

**२९६.** जो धनिक ऋणधारक से ऋणप्राप्ति के काल को सहन करता है अर्थात् कुछ समय प्रतीक्षा करता है, वह समय पर अर्थ को प्राप्त कर लेता है। वह धारणक की रक्षा भी कर लेता है तथा स्वयं भी क्लेश का अनुभव नहीं करता इसलिए यह उपाय सर्वत्र करना चाहिए।

**२९७, २९८.** जो वैभव रहित व्यक्ति आधे ब्याज[1] में ऋण को धारण करता है, वह उसके घर में काम करते हुए, कार्षापण का निवेश करते हुए अल्पकाल में ही उस ऋण से मुक्त हो जाता है। यह दृष्टान्त कहा गया है, इसका उपनय इस प्रकार है—

**२९९.** जो धृति और संहनन से युक्त हैं, वे वैभवयुक्त व्यक्ति के समान हैं। वे धीर पुरुष प्राप्त सारे प्रायश्चित्त को अनुग्रह रहित होकर वहन करते हैं।

**३००.** जो मुनि धृति और संहनन से हीन हैं, वे वैभव रहित व्यक्ति के समान हैं। यदि निरपेक्ष होकर उनको कोई प्रायश्चित्त देता है तो वे शुद्ध नहीं हो सकते।

**३०१.** वे प्रायश्चित्त से विमुख होकर साधु-वेश को छोड़कर चले जाते हैं। एक-एक के जाने से तीर्थ का विच्छेद हो जाता है और स्वयं आचार्य भी त्यक्त हो जाते हैं।

**३०२.** शिष्य विमुख होकर पलायन कर जाते हैं। प्रायश्चित्तदाता पीछे अकेला रह जाता है, इस प्रकार स्वयं परित्यक्त होकर वह अकेला क्या करेगा?

**३०३.** जो आचार्य प्रवचन के प्रति सापेक्ष होता है, वह अनवस्था दोष के निवारण में कुशल होता है, वह चारित्र की रक्षा एवं तीर्थ की अविच्छिन्न परम्परा चलाकर उसे शुद्ध बनाए रखने में समर्थ होता है।

**३०४, ३०५.** जिस मुनि को अपराध के प्रायश्चित्त स्वरूप पंच कल्याणक (पांच उपवास, पांच आयम्बिल, पांच एकाशन, पांच पुरिमार्ध तथा पांच निर्विकृतिक) प्राप्त हैं, वह यदि उनकी क्रमशः अनुपालना में समर्थ नहीं होता तो आचार्य उसके बदले में उससे दस उपवास करवाते हैं। यह भी करने में समर्थ नहीं हो तो दुगुने आचाम्ल अर्थात् बीस आयम्बिल करवाते हैं। इसके असामर्थ्य में दुगुने से दुगुना अर्थात् चालीस एकासन, उससे दुगुने अस्सी पुरिमार्ध तथा उससे दुगुने एक सौ साठ निर्विकृतिक करवाते हैं। जो पंच कल्याण (प्रायश्चित्त विशेष) के प्रायश्चित्त को क्रमशः करने में समर्थ नहीं होता, उससे उसके सदृश दूसरा प्रायश्चित्त करवाते हैं।[2]

**३०६.** जो पंच कल्याणक को यथाक्रम से करने में असमर्थ होता है, उसको चार, तीन, दो अथवा एक कल्याणक ही करवाते हैं, जो प्रायश्चित्त वहन करने में समर्थ होता है, उसे प्रायश्चित्त देते हैं, जो एक

---

१. व्यवहारभाष्य (४१९९) में 'वड्ढंतं' पाठ मिलता है। वहां टीकाकार ने 'सौ रूप्यक पर एक कार्षापण के ब्याज से उधार लेता है', ऐसी व्याख्या की है।

२. आचार्य मलयगिरि की व्याख्या के अनुसार सदृश प्रायश्चित्त का तात्पर्य यह है कि पांच कल्याणक प्रायश्चित्त प्राप्तकर्ता को आचार्य प्रथम, दूसरा और तीसरा कल्याणक क्रमशः करवाकर शेष कल्याणकों को विच्छिन्न क्रम से करवाते हैं।[1]

१. व्यभा ४२०६ मटी प. ५१।

कल्याणक को करने में भी समर्थ नहीं होता, उसका प्रायश्चित्त कम कर देते हैं।[1]

३०७. इस प्रकार प्रायश्चित्तदाता सदय होकर प्रायश्चित्त देता है, जिससे मुनि संयम में स्थिर रह सके। ऐसा नहीं हो सकता कि बिल्कुल प्रायश्चित्त न दे क्योंकि इससे अनवस्था दोष उत्पन्न होता है।

३०८. अनवस्था दोष के प्रसंग में तिलहारक चोर का दृष्टान्त है, जो प्रसंग-दोष के कारण वध को प्राप्त हो गया। दोष-प्रसंग का निवारण नहीं करने से माता का स्तनछेद किया गया।[2]

३०९. चोरी करने पर दूसरे बालक की मां ने भर्त्सना की और उसे चोरी करने से निवारित किया। वह जीवित रहकर सुखों का उपभोक्ता बन गया। उसकी मां भी स्तनछेद आदि के दुःख को प्राप्त नहीं हुई।

३१०. दोषों का निवारण न करने पर जीव दुःख-सागर को प्राप्त करते हैं और दोषों के प्रसंग का निवारण करने पर जीव भव-परम्परा का विच्छेद कर देते हैं।

३११. इस प्रकार तीर्थ शोधि—प्रायश्चित्त को धारण करता है। तीर्थ में प्रायश्चित्त देने वाले और करने वाले भी देखे जाते हैं। जो कहा गया कि तीर्थ ज्ञान-दर्शन से ही सुशोभित है, इस विषय में सुनो।

३१२. इस प्रकार कहते हुए तुमने श्रेणिक आदि को भी श्रमण के रूप में स्थापित कर दिया। सूत्र में उल्लेख है कि श्रमण का नरक में उपपात नहीं होता।

३१३. सूत्रों में वर्णन मिलता है कि तीर्थ का अस्तित्व २१ हजार वर्षों तक होगा। तुम्हारे इस कथन से यह बात भी मिथ्या हो जाएगी। सभी गतियों में ज्ञान और दर्शन रहता है अतः सिद्धि भी सभी गतियों में प्राप्त हो जाएगी।[3] (अतः तीर्थ केवलज्ञान और दर्शन युक्त है, यह बात सिद्ध नहीं होती।)

३१४. प्रायश्चित्त के अभाव में यह दोष और पाया जाता है। जो कहते हैं कि चारित्र[4] नहीं है, उनको यह गाथा कहनी चाहिए।

---

१. व्यवहारभाष्य में भी यह गाथा प्राप्त होती है। वहां 'झोसेंति' के स्थान पर 'भासंति' पाठ मिलता है—इसकी व्याख्या में टीकाकार मलयगिरि ने अंत में एक विकल्प और प्रस्तुत किया है कि उलाहने के पश्चात् आचार्य उसे एक आयम्बिल अथवा एक एकासन अथवा एक पुरिमार्ध अथवा एक निर्विगय का प्रायश्चित्त देते हैं। आचार्य यदि उसे प्रायश्चित्त न दें अथवा कुछ नहीं कहें तो दोषों की अनवस्था का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।[1]

१. व्यभा ४२०७, ४२०८ मटी. प. ५१।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १।

३. सम्यग्दर्शन और ज्ञान से युक्त तथा चारित्र से रहित जीव सभी गतियों में मिलते हैं। यदि ज्ञान और दर्शन को ही मुख्य मानेंगे तो टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि अनुत्तरौपपातिक देव नियमतः तद्भव सिद्धिगतिगामी हो जाएंगे क्योंकि उनके अनुत्तर ज्ञान और दर्शन होता है अतः यह स्पष्ट है कि जब तक चारित्र है, तब तक ही तीर्थ का अस्तित्व रहता है।[1]

१. व्यभा ४२१४ मटी. प. ५२।

४. निशीथभाष्य में उल्लेख मिलता है कि जो यह कहते हैं कि वर्तमान में चारित्र नहीं है, वे विद्यमान चारित्र-गुणों का नाश करते हैं। प्रवचन का परिभव करते हैं, असत्य बोलते हैं। इससे चारित्रधर्म की अवमानना होती है, साधुओं से प्रद्वेष होता है तथा संसार—जन्म-मरण की वृद्धि होती है। तीर्थंकर के समय में भी क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा औपशमिक चारित्र होता था। क्षायोपशमिक चारित्र से ही क्षायिक और औपशमिक चारित्र प्राप्त होता है। क्षायोपशमिक चारित्र के अनेक स्तर होते हैं। उसमें दोष लगाने वाले भी होते हैं पर प्रायश्चित्त से चारित्र की विशोधि होती है।[1]

१. निभा ५४२९-३१ चू पृ. ६९, ७०।

**३१५.** प्रायश्चित्त के अभाव में चारित्र[1] का अस्तित्व भी नहीं रहता। चारित्र के अभाव में तीर्थ की सचारित्रता नहीं रहती।

**३१६.** तीर्थ में चारित्र के अभाव से साधु निर्वाण को प्राप्त नहीं करता। निर्वाण के अभाव में सारी दीक्षा निरर्थक हो जाती है।

**३१७.** निर्ग्रन्थों के बिना तीर्थ नहीं होता। तीर्थ के बिना निर्ग्रन्थ भी अतीर्थिक हो जाते हैं। जब तक षट्काय संयम है, तब तक तीर्थ और निर्ग्रन्थ की अनुवर्तना है।

**३१८.** सर्वज्ञों ने षट्काय-संयम, महाव्रत और समितियों की जैसी प्ररूपणा की, वैसी ही प्ररूपणा वर्तमान काल में भी साधुओं के लिए है।

**३१९.** इसीलिए यह सिद्ध नहीं होता कि ज्ञान और दर्शन से ही तीर्थ चलता है। जो यह कहा गया कि निर्यापक विच्छिन्न हो गए, यह बात भी तथ्यपूर्ण नहीं है।

**३२०.** निर्यापक तथा निर्याप्यमान जिस रूप में रहते हैं, उसे तुम सुनो। निर्यापक दो प्रकार के होते हैं—१. आत्मनिर्यापक २. परनिर्यापक।

**३२१.** प्रायोपगमन और इंगिनीमरण—इन दो अनशनों में आत्मनिर्यापक होते हैं। भक्तपरिज्ञा में परनिर्यापक होते हैं।

**३२२.** प्रायोपगमन[2] और इंगिणी—इन दोनों मरणों का वर्णन अभी रहने दो। अब मैं यथाक्रम से भक्तपरिज्ञा की विधि कहूंगा।

**३२३.** प्रव्रज्या[3] से लेकर जीवन के अंतिम समय तक पांच तुलाओं से अपनी आत्मा को तोलकर मुनि को भक्तपरिज्ञा अनशन के प्रति परिणत होना चाहिए।

**३२४.** भक्तपरिज्ञा के दो प्रकार हैं—सपराक्रम और अपराक्रम। सपराक्रम के दो भेद हैं—१. व्याघातिम और निर्व्याघातिम। सूत्रार्थ के ज्ञाता मुनि को समाधिपूर्वक मरण करना चाहिए।

---

१. निशीथ भाष्य में भी एक प्रश्न उठाया गया है कि अतिशयज्ञानी के अभाव में चारित्र की शुद्धि और अशुद्धि का ज्ञान कैसे संभव है? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य कहते हैं कि जैसे दूसरों के मुख की आकृति को देखकर सामान्यज्ञानी उसके अन्तर्भाव को जान लेता है, वैसे ही परोक्षज्ञानी आचार्य आलोचना को सुनते समय पूर्वापर सम्बद्धता तथा वाणी और आकार से चारित्र की शुद्धाशुद्धि को जान लेते हैं।[1] परोक्षज्ञानी आगम के आधार पर चारित्रशुद्धि करते हैं।

१. निभा ५४३३ चू पृ. ७०।

२. टीका में 'पाओवगमण' की संस्कृत छाया पादोपगमन तथा पादपोपगमन मिलती है लेकिन आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार इसकी संस्कृत छाया प्रायोपगमन होनी चाहिए। प्राय: का अर्थ है मृत्यु तथा उपगमन का अर्थ है समीप जाना।[1]

१. भभा १, २/४९ पृ. २३०।

३. टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि प्रव्रज्या के पश्चात् साधु ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा, तत्पश्चात् महाव्रतों की साधना, तदनंतर सूत्र के अर्थ का ग्रहण, अनियतवास तथा गच्छ की निष्पत्ति करके फिर तप, सत्त्व आदि भावना से स्वयं को तोलकर भक्तपरिज्ञा अनशन से मृत्यु को प्राप्त करे।[1]

१. व्यभा ४२२३ मटी प. ५३।

३२५. जो भिक्षा करने एवं विचारभूमि जाने में समर्थ होता है तथा अन्य गण में जाकर वाचना दे सकता है, उसके सपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान अनशन होता है, इसके विपरीत जो इन कार्यों को करने में समर्थ नहीं होता है, उसके अपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान अनशन होता है।

३२६. प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—१. निर्व्याघात तथा २. व्याघात।[१] व्याघात के भी दो प्रकार हैं—काल को धारण करने वाला तथा काल को धारण नहीं करने वाला।[२]

३२७. सपराक्रम के दो भेद हैं—निर्व्याघात और व्याघात, उन्हें मैं संक्षेप में कहूंगा। द्विविध अपराक्रम मरण स्थाप्य हैं।

३२८. उनको गण-निःसरण आदि द्वारों से क्रमशः जानना चाहिए। गण-निःसरण आदि विभागों को मैं कहूंगा।

३२९-३१. गण-निःसरण, परगण, सिति—निःश्रेणी, संलेखना, अगीतार्थ, असंविग्न, एक निर्यापक, आभोजन, अन्य, अनापृच्छा, परीक्षा, आलोचना, प्रशस्त स्थान, प्रशस्त वसति, निर्यापक, द्रव्य-दर्शन, चरमकाल, हानि, अपरिश्रान्त, निर्जरा, संस्तारक, उद्वर्तना आदि, स्मारणा, कवच, निर्व्याघात, चिह्नकरण, व्याघात (आंतरिक और बाह्य) में यतना—ये उपाय भक्त-परिज्ञा में करने चाहिए।

३३२. गण-निःसरण की सप्तधा विधि जिस रूप में बृहत्कल्पभाष्य में वर्णित है, वही निरवशेष रूप में यहां भक्तपरिज्ञा में भी जाननी चाहिए।[३]

३३३. भक्तपरिज्ञा में परिणत वीर गण से निकलकर परगण में जाकर दृढ़ निश्चय करता है।

३३४,३३५. परगण के आचार्य पूछते हैं—आप स्थविर हैं, संलेखना तप से क्लान्त हैं, फिर अपने गण से अपक्रमण[४] करने का क्या कारण है? (स्थविर भक्तप्रत्याख्याता उत्तर देते हैं—अभ्युद्यत मरण स्वीकृत

१. व्याघात मरण का अर्थ है—भालू, रीछ आदि के द्वारा आक्रमण करने पर होने वाला मरण।

२. कालधर का अर्थ है, जो काल को धारण करता है, तत्काल भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार करने की इच्छा नहीं करता। इसके विपरीत दूसरा जो काल को धारण नहीं करता, वह कालसह नहीं होता, तत्काल मरण की इच्छा करता है। व्यवहार भाष्य में 'कालऽतिचारो' पाठ है, जिसका तात्पर्य है कि जो काल का अतिक्रमण कर देता है अर्थात् काल को सहता है। टीकाकार मलयगिरि के अनुसार पूति सर्प के द्वारा काटे हुए व्यक्ति का २० दिन-रात बीतने पर भी मरण हो सकता है। दूसरा काल अनतिचार अर्थात् जो काल को नहीं सहता। उसी दिन मरने की इच्छा से भक्तप्रत्याख्यान कर लेता है।[१]

१. व्यभा ४२२६ मटी. प. ५४।

३. निशीथ भाष्य[१] में 'इहइं पि' के स्थान पर 'दसमम्मि' पाठ मिलता है, जिसका अर्थ है व्यवहार भाष्य के दशवें उद्देशक में भी निरवशेष रूप से यह वर्णन प्राप्त है।

१. निभा ३८१९।

४. स्थानांग[१] में गण से अपक्रमण के पांच कारणों का उल्लेख मिलता है। सातवें स्थान में सात कारणों का उल्लेख भी मिलता है।[२] निशीथभाष्य में गण से अपक्रमण के आठ हेतुओं का उल्लेख मिलता है—१. अभ्युद्यत मरण, २. अभ्युद्यत विहार ३. विहार—अवधावन ४.लिंग-अवधावन ५. ज्ञान ६. दर्शन ७. चारित्र ८. कलह-उपशमन। इनमें तीसरा, चौथा और आठवां अप्रशस्त कारण है।[३]

१. स्था ५/१६७।

२. स्था ७/१।

३. निभा ५५९४, ५५९५ चू. पृ. १०१।

करने से शिष्यों का रुदन और अश्रुपात देखकर) मेरे मन में करुणा उत्पन्न होती है, इससे मेरे ध्यान में व्याघात होता है इसलिए मैंने परगण में अपक्रमण किया है। दूसरी बात मेरे गण में आचार्य-आज्ञा की अवहेलना तथा मुनियों में अप्रीति आदि कारणों को देखकर मैंने गण से अपक्रमण किया है, परगण का गुरुकुलवास अप्रीति से रहित होता है।

३३६. उपकरण और गण के कारण व्युद्ग्रह तथा गणभेद को देखकर, बाल और स्थविरों की उचित वैयावृत्त्य की उपेक्षा देखकर अप्रीति होती है, जिससे ध्यान में व्याघात होता है।

३३७. स्वगण से निष्क्रमण कर देने पर आचार्य और गण—दोनों का स्नेह कम हो जाता है। भक्तपरिज्ञा में व्याघात देखकर शैक्ष मुनियों का व्युद्गम या विपरिणमन भी हो सकता है।

३३८, ३३९. श्रिति-नि:श्रेणी दो प्रकार की होती है—द्रव्यश्रिति और भावश्रिति। द्रव्य नि:श्रेणी काष्ठ-निर्मित होती है। भाव नि:श्रेणी संयम है, जिसके भंग इस प्रकार होते हैं—संयम-स्थान, कंडक और लेश्या की स्थिति विशेष। इनको ऊर्ध्व से ऊर्ध्व ले जाते हुए केवलज्ञान तक पहुंचना भावश्रिति है।

३४०. यहां भावश्रिति का अधिकार है, उसमें विशुद्धभाव से स्थित रहना चाहिए। ऊर्ध्वगमन के लिए कोई भी अध:स्थान की प्रशंसा नहीं करता।

३४१. संलेखना[1] तीन प्रकार की होती है[2]—१. जघन्य २. मध्यम ३. उत्कृष्ट। जघन्य संलेखना का काल है—छह मास तथा उत्कृष्ट संलेखना का काल है—बारह वर्ष।

३४२. जघन्य और मध्यम को रहने दो, मैं उत्कृष्ट संलेखना का वर्णन करूंगा। जिस संलेखना को करके मुनि अपने आत्महित के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।

३४३. मुनि चार वर्षों तक विचित्र तप (कभी उपवास, कभी बेला, कभी तेला, कभी चोला, पंचोला आदि) करता है।[3] फिर चार वर्ष विचित्र तप के पारणे में निर्विगय करता है; इसके पश्चात् दो वर्षों तक एकान्तर तप तथा उसके पारणे में आचाम्ल तप करता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह मास में कोई विकृष्ट

---

१. संलेखना का अर्थ है—सम्यक् रूप से शरीर को कृश करना। उत्तराध्ययन सूत्र और उसकी टीका में संलेखना कब करनी चाहिए, इसका सुंदर वर्णन प्राप्त है। जब तक अपूर्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की प्राप्ति हो, तब तक साधक को अन्न-पान आदि के द्वारा जीवन को पोषण देना चाहिए। जब साधक को यह ज्ञान हो जाए कि शरीर ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विशिष्ट गुणों को प्राप्त करने में असमर्थ है, निर्जरा करने में अक्षम है, रोग और बुढ़ापे से आक्रान्त है, धर्माराधना करने में समर्थ नहीं है तो उसको शरीर से निरपेक्ष होकर विधिपूर्वक संलेखना आदि करके अन्त में अनशन द्वारा शरीर का त्याग करना चाहिए।[1] आहार न करने के छह कारणों में भी एक कारण अंतिम मारणान्तिक अनशन है।

१. उ ४/७ शांटी. प. २१७, २१८।

२. व्यवहारभाष्य में संलेखना के दो प्रकार हैं—१. जघन्य और २. उत्कृष्ट।[1]

१. व्यभा ४२३८।

३. उत्तराध्ययन सूत्र में संलेखना के क्रम में कुछ अंतर है। वहां प्रारम्भ के चार वर्षों में विकृति का परित्याग किया जाता है, दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप (उपवास, बेला, तेला) आदि किया जाता है।[1]

१. उ ३६/२५२।

तप नहीं करता, अंतिम छह महीनों में विकृष्ट तप करता है, अतिविकृष्ट तप नहीं करता लेकिन पारणे में आचाम्ल करता है तथा (परिमित खाता है) बारहवें वर्ष में कोटिसहित[1] आचाम्ल करता है।

३४४. संलेखना करने वाला प्रथम चार वर्षों में उपवास आदि विचित्र तप करता है तथा पारणे में उद्गम विशुद्ध तथा सर्व गुणों से युक्त आहार करता है।

३४५. पुनः अगले चार वर्षों में वह महात्मा मुनि विचित्र तप करके पारणे में विगय नहीं लेता। उसमें भी स्निग्ध और प्रणीत आहार का वर्जन करता है।

३४६-५०. अगले दो वर्ष वह उपवास करके आचाम्ल से पारणा करता है, फिर अगले एक वर्ष उपवास का पारणा कांजी के द्वारा करता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह महीनों में उपवास अथवा बेला करके नियमतः आचाम्ल[2] से पारणा करता है। दूसरे छह मास में विकृष्ट तप तेला, चोला या पंचोला करके आचाम्ल से पारणा करता है। अन्तिम एक वर्ष (बारहवें वर्ष) में कोटिसहित तप करके आचाम्ल तथा उष्णोदक से पारणा करता है[3] तथा क्रमशः एक-एक कवल कम करता है। जैसे दीपक में तैल और बाती दोनों साथ-साथ क्षीण होते हैं, वैसे ही शरीर और आयुष्य साथ-साथ क्षीण हो जाते हैं।

३५१-५३. बारहवें वर्ष के अंतिम चार मास के प्रत्येक पारणे में एकान्तरित रूप से वह एक चुल्लू भर तैल मुंह में धारण करे। जब तक वह तैल श्लेष्म जैसा न हो जाए, तब तक धारण करे फिर उसे श्लेष्मपात्र में विसर्जित कर दे। (शिष्य जिज्ञासा करता है) गले में तैल क्यों धारण करना चाहिए? आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि तपस्या जनित रूक्षता से मुखयंत्र क्षुभित न हो तथा व्यक्ति नमस्कार मंत्र का उच्चारण करने में असमर्थ न हो इसलिए मुंह में तैल धारण किया जाता है।

३५४. यह उत्कृष्ट संलेखना का कथन है। मध्यम संलेखना एक वर्ष की तथा जघन्य संलेखना छह मास की होती है। मध्यम और जघन्य संलेखना में मास और पक्षों की स्थापना करके तपोविधि पूर्ववत् करनी चाहिए।

३५५. उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—इन तीन प्रकार की संलेखनाओं में से किसी एक संलेखना से अपने शरीर को क्षीण करके मुनि भक्तपरिज्ञा, इंगिनी अथवा प्रायोपगमन अनशन को स्वीकृत करे।

३५६. जो मुनि अगीतार्थ मुनि के पास भक्तपरिज्ञा अनशन स्वीकार करता है, उसको चतुर्गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है। इसका कारण यह है कि उससे निम्न दोष उत्पन्न होते हैं—

३५७. अगीतार्थ सर्वलोक में सारभूत अंग—चतुरंग का नाश कर देता है। चतुरंग के नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं होती।

---

१. आचाम्ल अथवा उपवास करके बिना पारणा किए पुनः आचाम्ल आदि करने को कोटिसहित तप कहा जाता है।

२. निशीथ चूर्णि में पारणे में कांजी का उल्लेख है।[1]

१. निचू. भा. ३ पृ. २९४ ; एक्कारसमे वरिसे पढमं छम्मास अविकिट्ठं तवं कातुं कंजिएण पारेइ।

३. उत्तराध्ययन के अनुसार बारहवें वर्ष में मुनि कोटि सहित आचाम्ल करके पक्ष या मास का आहार परित्याग करता है।[1]

१. उ ३६/२५५।

३५८. वे चार अंग कौन से हैं, जिनके नष्ट हो जाने पर पुनः उनकी प्राप्ति दुर्लभ होती है। वे चार अंग ये हैं—१. मनुजत्व, २. धर्मश्रुति, ३. श्रद्धा और ४. संयम में पराक्रम।

३५९. अगीतार्थ चतुरंग का नाश कैसे करता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि भक्तप्रत्याख्याता यदि प्रथम और द्वितीय परीषह—भूख और प्यास से पीड़ित होकर रात्रि में भक्तपान की याचना करे तो अगीतार्थ उसे निर्धर्मा—असंयमी समझकर छोड़कर जा सकता है।

३६०. उपाश्रय के बाहर अथवा भीतर, रात में अथवा दिन में भक्तप्रत्याख्याता को अकेला छोड़ने पर वह आर्त्त, दुःखार्त्त और वशार्त्त होकर प्रतिगमन—व्रतभंग आदि कर सकता है।

३६१. आर्त्तध्यान में मरकर वह तिर्यञ्च अथवा व्यन्तर देवों में उत्पन्न होता है। पूर्वभव के वैर का स्मरण करके वह शत्रुता का व्यवहार करता है।

३६२, ३६३. अथवा रात्रि में पानी मांगने पर अगीतार्थ उसे प्रस्रवण देता है। भक्तप्रत्याख्याता यदि दंडिक आदि हो तो रुष्ट होकर राजा को निवेदन कर सकता है। राजा कुल, गण आदि का नाश कर सकता है। वह भक्तप्रत्याख्याता रुष्ट होकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। मिथ्यात्व के कारण वह संसार रूपी अटवी में दीर्घकाल तक भ्रमण कर सकता है।

३६४. अन्य संविग्न मुनियों के द्वारा जब वह एकाकी देखा जाता है तो वे उसे आश्वस्त करके प्रेरणा देते हैं, जिससे वह त्यक्त अभ्युद्यत मरण को पुनः स्वीकृत कर लेता है।

३६५. अगीतार्थ के पास भक्तप्रत्याख्यान करने पर ये अथवा अन्य दोष और अपाय उत्पन्न हो जाते हैं। इन कारणों से अगीतार्थ के पास भक्तपरिज्ञा अनशन करना कल्पनीय नहीं है।

३६६. इसलिए पांच सौ, छह सौ, सात सौ अथवा इससे अधिक योजन तक अपरिश्रान्त होकर जाए और गीतार्थ की सन्निधि प्राप्त करने की अन्वेषणा करे।

३६७. एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्ट रूप से बारह वर्ष तक अपरिश्रान्त होकर गीतार्थ की सन्निधि प्राप्त करने की खोज करे।

३६८. गीतार्थ की दुर्लभता की अपेक्षा से यह क्षेत्रतः और कालतः मार्गणा कही गई है। गीतार्थ को खोजते हुए काल और क्षेत्र विषयक यह उत्कृष्ट परिमाण है।

३६९. प्रवचन के सर्व सार को ग्रहण करने वाला गीतार्थ मुनि निर्यापक के रूप में उत्तमार्थ—भक्तप्रत्याख्यान में समाधि देने का प्रयत्न करे।

३७०. इसी प्रकार असंविग्न के पास भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले को चार गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। इसका कारण क्या है? आचार्य कहते हैं—इसमें ये दोष होते हैं।

३७१. असंविग्न मुनि सर्वलोक के सारभूत चतुरंग का नाश कर देता है। चतुरंग के नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं होती।

३७२. असंविग्न निर्यापक अनेक लोगों को ज्ञात कर देता है। वह भक्तप्रत्याख्याता के लिए आधाकर्मिक

पानक, पुष्प आदि लेकर आ जाता है। शरीर पर चंदन आदि का सेचन करता है। उसके द्वारा लाए गए शय्या, संस्तारक, उपधि आदि भी अशुद्ध होते हैं।

३७३. असंविग्न के पास भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करने पर ये तथा अन्य अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इन कारणों से असंविग्न के पास भक्तपरिज्ञा ग्रहण करना नहीं कल्पता।

३७४. अतः पांच सौ, छह सौ, सात सौ तथा इससे भी अधिक योजन तक अपरिश्रान्त होकर संविग्न की सन्निधि प्राप्त करने की गवेषणा करनी चाहिए।

३७५. मुनि एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्टतः बारह वर्षों तक बिना परिश्रान्त हुए संविग्न की सन्निधि प्राप्त करने की मार्गणा करे।

३७६. संविग्न की दुर्लभता के आधार पर काल की यह *मार्गणा कही गई है। संविग्न की गवेषणा करते* हुए क्षेत्र और काल विषयक यह उत्कृष्ट परिमाण है।

३७७. इसलिए प्रवचन के सर्वसार को ग्रहण करने वाला संविग्न मुनि निर्यापक के रूप में उत्तमार्थ—भक्तप्रत्याख्यान में समाधि उत्पन्न करे।

३७८. एक ही निर्यापक होने से विराधना और कार्यहानि होती है। (किसी कार्यवश निर्यापक के बाहर जाने पर) अनशनी और शैक्ष त्यक्त हो जाते हैं, इससे प्रवचन की अवमानना होती है।

३७९. निर्यापक कभी भक्तप्रत्याख्याता मुनि हेतु पानी आदि के लिए बाहर जाए, उस समय अनशनी अव्यक्त शैक्ष से भक्त की याचना करे और वह न दे तो असमाधि से मृत्यु को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वह भक्तप्रत्याख्याता त्यक्त हो जाता है। शैक्ष उसे भोजन दें अथवा न दें लेकिन उनके मन में प्रत्याख्यान के प्रति अरुचि पैदा हो जाती है इसलिए वे धर्म से विपरीत हो जाते हैं।

३८०. भक्त न देने पर वह अनशनी जोर-जोर से चिल्लाते हुए कहता है कि ये मुझे बलपूर्वक मार रहे हैं। इस प्रकार प्रवचन त्यक्त हो जाता है। शैक्ष के वापस जाने पर वे जनता में प्रवचन की अवज्ञा फैलाते हैं।

३८१. आचार्य स्वयं अपने अतिशायी ज्ञान से अथवा किसी नैमित्तिक से जाने (कि यह भक्तप्रत्याख्यान का पारगामी होगा अथवा नहीं?) अथवा देवता के निवेदन से जाने, जैसे कंचनपुर में आचार्य ने जाना था।

३८२. कंचनपुर नगर में गुरु संज्ञाभूमि—विचारभूमि में गए। वहां क्षेत्र-देवता का रुदन सुनकर उनसे कारण पूछा। देवता ने रुदन का कारण बताया और कहा कि यदि मेरी बात सत्य है तो कल तपस्वी के पारणे में आया हुआ दूध रक्त में बदल जाएगा। गुरु ने संघ को आमंत्रित किया और दूसरे स्थान पर प्रस्थान कर दिया। (संघ के मुनियों ने अनशन स्वीकार कर लिया।[१])

३८३. अथवा आचार्य स्वयं या दूसरे के द्वारा जाने कि यह भक्तप्रत्याख्यान की इच्छा रखने वाला मुनि पारगामी होगा अथवा नहीं? यदि वे अपारगामी को भक्तप्रत्याख्यान करवाते हैं तो उन्हें चार गुरुमास का

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २।

प्रायश्चित्त आता है। यदि क्षेम और सुभिक्ष न हो तो निर्व्याघात रूप से भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार करना चाहिए।

**३८४.** वर्षावास में तपस्वी मुनियों का चिरकाल तक एकस्थान पर निवास होता है इसलिए मुनि को विशेष रूप से वर्षाकाल में भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार करना चाहिए।

**३८५.** अशिव और दुर्भिक्ष आदि के समय में भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार करने के ये दोष हैं—संयम-विराधना, आत्मविराधना तथा आज्ञाभंग आदि।

**३८६.** अशिव आदि कारणों से उपयोग लगाए बिना अनशन करवा दे तो भक्तप्रत्याख्याता तथा उसकी उपधि का वहन करना पड़ता है, (इससे आत्म-विराधना होती है)। यदि कारणवश दोनों-उपधि और भक्तप्रत्याख्याता को छोड़कर चले जाते हैं तो भक्तप्रत्याख्याता त्यक्त होता ही है, प्रवचन की अवहेलना से वह स्वयं भी त्यक्त हो जाता है।

**३८७.** एक मुनि संस्तारकगत भक्तप्रत्याख्याता है, दूसरा मुनि संलेखना कर रहा है तो तीसरे को भक्तप्रत्याख्यान करने का प्रतिषेध करना चाहिए क्योंकि तीनों के लिए निर्यापक नहीं मिलते। इससे उस तीसरे को, प्रथम दोनों को अथवा निर्यापक को असमाधि हो सकती है।

**३८८.** यदि भक्तप्रत्याख्याता के कोई व्याघात हो तो जो दूसरा संलेखना कर रहा है, उसको वहां स्थापित करके बीच में चिलिमिली-पर्दा लगा दिया जाए। जो लोग वंदना करने आएं, उनको बाहर से ही वंदना करवाई जाए।

**३८९.** यदि गच्छ को पूछे बिना गुरु भक्तप्रत्याख्याता मुनि को स्वीकार कर लेता है तो उसे चार गुरुमास का प्रायश्चित्त आता है।[1] गच्छ की अनिच्छा के कारण भक्तप्रत्याख्याता को जो असमाधि होती है, उसका प्रायश्चित्त भी चतुर्गुरु आता है।

**३९०, ३९१.** भक्तप्रत्याख्याता मुनि को समाधि के योग्य पानक आदि की प्राप्ति न होने से उसकी समाधि भंग होती है। योग्य पानक आदि की याचना में मुनियों को क्लेश की अनुभूति होती है। असमर्थ एवं अयोग्य निर्यापकों के कारण क्लेश का अनुभव होता है तथा योगवाही मुनियों को समाधिकारक द्रव्यों की गवेषणा में क्लेश होता है। इन सब कारणों से उस भक्तप्रत्याख्याता मुनि को विराधना होती है (अतः गच्छ से पृच्छा करनी चाहिए।)

**३९२.** भक्तप्रत्याख्याता मुनि एवं गच्छ के साधुओं को एक दूसरे की परीक्षा न करने पर दोनों को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है तथा आत्म-विराधना और संयम-विराधना होती है। अकेला गच्छ अथवा एकाकी भक्तप्रत्याख्याता जो अनर्थ प्राप्त करता है, उसके निमित्त जो प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, वह भी आचार्य को प्राप्त होता है।

---

१. व्यवहारभाष्य की टीका में आचार्य मलयगिरि ने गच्छ को पूछने का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि गच्छ के साधु सब स्थानों में घूमते हैं अतः उन्हें यह ज्ञात रहता है कि किस क्षेत्र में भक्तप्रत्याख्याता के योग्य शय्या-संस्तारक आदि द्रव्य सुलभ या दुर्लभ हैं। यदि द्रव्य सुलभ हों तो आचार्य भक्तप्रत्याख्यान करवाए, अन्यथा प्रतिषेध कर दे।[1]

१. व्यभा ४२८२ मटी प. ६२।

३९३-९५. इसलिए दोनों—भक्तप्रत्याख्याता और गच्छ एक दूसरे की द्रव्य और भाव से परीक्षा करे। द्रव्य रूप परीक्षा इस प्रकार होती है—'मेरे लिए कलमोदन, दूध और कढ़ी आदि द्रव्य लाओ' भक्तप्रत्याख्याता मुनि के ऐसा कहने पर यदि गच्छगत साधु उपहास करते हैं कि देखो यह विगय में आसक्त है या उसे कहते हैं कि तुम भक्त की इच्छा क्यों करते हो? इस प्रकार गच्छगत साधुओं की द्रव्य परीक्षा की जाती है। यदि वे भाव परीक्षा में कषाय करते हैं तो उनके पास भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार नहीं करना चाहिए।

३९६. विकृत आहार लाने पर यदि भक्तप्रत्याख्याता जुगुप्सा करता है तो वे साधु कहते हैं कि हम दूसरा आहार ला देंगे। यदि वे जाने के लिए तत्पर हो जाएं तो उनके पास भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार करना चाहिए।

३९७. इस प्रकार कहकर द्रव्यत: और भावत: विधिपूर्वक मुनियों की परीक्षा करनी चाहिए। वे भी भक्तप्रत्याख्याता मुनि की द्विविध परीक्षा इस प्रकार करें।

३९८. कलम (उत्कृष्ट तण्डुल) को दूध के साथ लाने पर अथवा उसको जो स्वभावत: रुचिकर द्रव्य हैं, वे सम्मुख लाने पर यदि भक्तप्रत्याख्याता मुनि उस भोजन की निंदा करता है तो वह द्रव्य-परीक्षा में शुद्ध (उत्तीर्ण) हो जाता है। (उसको आहार के प्रति अलुब्ध जानकर भक्तप्रत्याख्याता के रूप में स्वीकृत कर लिया जाता है। जो उस भोज्य की प्रशंसा करता है, उसे लोलुप जानकर स्वीकार नहीं किया जाता।)

३९९, ४००. भाव-परीक्षा में उससे पूछा जाता है कि तुमने संलेखना की या नहीं? ऐसा कहने पर यदि वह अंगुलि तोड़कर दिखाता है और कहता है कि देखो, मैंने संलेखना की है या नहीं? भक्तप्रत्याख्याता के ऐसा कहने पर गुरु कहते हैं कि तुमने अभी (भाव) संलेखना नहीं की है।[1]

४०१. आचार्य कहते हैं कि मैं तुम्हारी द्रव्य-संलेखना के बारे में नहीं पूछ रहा हूं। तुम्हारे कृश शरीर को तो मैं देख ही रहा हूं। तुमने अपनी अंगुलि को भग्न क्यों किया? तुम क्रोधातुर मत बनो, भाव-संलेखना करो।

४०२. मुनि को प्रयत्नपूर्वक भाव-संलेखना करनी चाहिए इसलिए मैं तुमको कोंकणक और अमात्य का दृष्टान्त कहता हूं।

४०३, ४०४. राजा ने कोंकण देशवासी व्यक्ति और अमात्य को देश-निष्काशन का आदेश दिया। कोंकणक तुम्बे और कांजी को छोड़कर तत्काल वहां से चला गया। अमात्य भण्डी—गाड़ी, बैल और कापोती आदि में सामान भरने लगा। इतने में पांच दिन बीत गए। घर पर ही उसका वध करवा दिया गया।[2]

४०५. इसी प्रकार जो भाव-संलेखना करते हैं, वे साधक हैं। जो भाव-संलेखना को सिद्ध नहीं करते, वे उस अमात्य की भांति होते हैं।

४०६. (आचार्य कहते हैं)—'शिष्य! तुम इंद्रिय, कषाय एवं गौरव (ऋद्धि, रस, सात) को कृश करो। हम तुम्हारे कृश शरीर की प्रशंसा नहीं करते।'

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं .३।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं .४।

४०७. इस प्रकार परीक्षा करने पर यदि वह शुद्ध—उत्तीर्ण होता है तो आचार्य उसको स्वीकार करते हैं। तब वह भक्तप्रत्याख्याता मुनि इस विधि से आत्मविशुद्धि करता है।

४०८. यदि भक्तप्रत्याख्याता पराक्रम युक्त हो तो उसे आचार्य के पास जाकर दूसरों की साक्षी से पूर्ण रूप से आत्मशुद्धि करनी चाहिए।

४०९, ४१०. जैसे कुशल वैद्य भी अपनी व्याधि किसी दूसरे वैद्य को कहता है। वह वैद्य उसको सुनकर उसका परिकर्म करता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त-विधि को स्वयं भलीभांति जानते हुए भी किसी दूसरे आचार्य आदि के पास स्पष्ट रूप से आलोचना करनी चाहिए।

४११. छत्तीस गुणों से युक्त होने पर भी आचार्य को किसी दूसरे आचार्य के पास आलोचना, निंदा एवं गर्हा अवश्य करनी चाहिए।

४१२. प्रयत्नपूर्वक आलोचना क्यों करनी चाहिए? आचार्य कहते हैं कि तुम आलोचना करने के गुणों को मुझसे सुनो।

४१३. आलोचना करने के निम्न गुण हैं—

- पंचविध आचार की सम्यक् आराधना।
- विनयगुण का विस्तार।
- आलोचना करने की परिपाटी का प्रवर्तन।
- आत्मा की विशोधि।
- ऋजु भाव-संयम का विकास।
- आर्जव, मार्दव, लाघव और संतोष की वृद्धि।
- मैं शल्यमुक्त हो गया हूं, इस प्रकार की तुष्टि।
- आलोचना के संदर्भ में चिन्ता का नाश होने से प्रसन्नता की वृद्धि।

४१४. प्रव्रज्या ग्रहण करने से लेकर भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार करने तक त्रिक-ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लगे अतिचारों की आलोचना कर चतुर्धा—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः विशुद्धि करनी चाहिए। उत्तमार्थ-भक्तप्रत्याख्यान में जैसे स्वयं की आलोचना करे, वैसे ही पर की भी आलोचना करे।

४१५. तीन—ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा चतुष्क में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का समावेश होता है। इनमें जो अतिचार दोष लगता है, वह उन सबकी आलोचना करता है।

४१६. ज्ञान के निमित्त—अकल्पनीय द्रव्य का सेवन करने तथा चेतन-अचेतन से सम्बन्धित मिथ्या प्ररूपणा करने के विषय में आलोचना करना—यह ज्ञान सम्बन्धी द्रव्यतः आलोचना है। क्षेत्र आदि शेष की आलोचना इस प्रकार है—

४१७, ४१८. ज्ञान के निमित्त विहार करना क्षेत्र से सम्बन्धित अतिचार है। दुर्भिक्ष में भी ज्ञान-प्राप्ति हेतु उसी स्थान पर रहना-यह काल सम्बन्धी अतिचार है। भविष्य में ज्ञान होगा इसलिए शरीर का परिकर्म

करना[1], प्रतिदिन विगय का सेवन करना, मेधा बढ़ाने वाले मेध्य द्रव्यों की एषणा तथा उनका पान करना और वाचनाचार्य की पंचक हानि[2] से क्रिया करना—ये ज्ञान से सम्बन्धित अतिचार हैं।

४१९. इसी प्रकार दर्शन में भी द्रव्य आदि से सम्बन्धित अतिचारों की आलोचना होती है लेकिन उसमें भेद यही है कि दर्शन का सम्बन्ध श्रद्धा से होता है। चारित्र के विषय में भी एषणा, स्त्री-दोष युक्त वसति तथा व्रतों से सम्बन्धित अतिचारों की आलोचना होती है।

४२०. अथवा त्रिक-ज्ञान, दर्शन और चारित्र का कभी आलम्बन सहित द्रव्य, क्षेत्र आदि चतुष्क से सम्बन्धित अकल्प्य का आसेवन होता है और कभी निरालम्बन—कारण बिना भी होता है, मुनि उन सबकी आलोचना करे।

४२१. यदि कहीं प्रतिसेवना सम्बन्धी अतिचार विस्मृत हो जाएं तो उनका शल्योद्धरण करने के लिए कैसे वर्तन करना चाहिए? (इस संदर्भ में आचार्य कहते हैं—)

४२२. जिन-जिन स्थानों में मेरे द्वारा अपराध हुए हैं, उन सबको जिन भगवान् जानते हैं। मैं उन सबकी आलोचना करने के लिए सर्वात्मना उपस्थित हुआ हूं।

४२३. इस प्रकार विशुद्ध परिणाम से युक्त होकर आलोचना करता हुआ गौरवत्रिक और माया से रहित होने के कारण वह आराधक होता है।

४२४. भक्तप्रत्याख्याता के लिए प्रशस्त और योग्य स्थान कौन सा होता है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि जहां ध्यान का व्याघात न हो, वह प्रशस्त स्थान है।

४२५, ४२६. ध्यान के व्याघात-स्थल निम्न हैं—१. गंधर्वशाला[3] २. नाट्यशाला ३. हस्तिशाला ४. अश्वशाला ५. चक्रशाला[4] ६. यंत्रशाला[5] ७. अग्निकर्मशाला—लोहकारशाला[6] ८. परुष—कुंभकारशाला[7] ९. णंतिक्क—रंगरेजशाला १०. रजकशाला—वस्त्रधावनशाला, ११. देवड़—चर्मकारशाला, १२. डोंबशाला—नटशाला अथवा चांडाल जाति के गायकों की गायनशाला, १३. वादित्रशाला, १४. राजपथ[8], १५. चारक—

१. टीकाकार मलयगिरि ने शारीरिक परिकर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति या महाकल्पश्रुत जैसे विशालकाय ग्रंथ का योग वहन करने के लिए घी पीना, प्रणीत आहार करना अथवा किसी रोग के होने पर वह वृद्धि को प्राप्त न हो इसलिए भी परिकर्म करना अतिचार है।
**१. व्यभा ४३०४ मटी प. ६५।**

२. शुद्ध आहार-पानी का लाभ न होने पर पांच दिनों के प्रायश्चित्त-स्थान का आसेवन कर उसकी प्राप्ति करना। इतने पर भी प्राप्ति न हो तो दस दिन की यावत् चार गुरुमास के प्रायश्चित्त-स्थान का आसेवन कर उनकी उपलब्धि करना।

३. जहां गान्धर्विक संगीत का अभ्यास करते हैं, वह गन्धर्वशाला कहलाती है।
**१. व्यभा ४३१२ मटी. प. ६६; गन्धर्वशालायां यत्र गान्धर्विका : संगीतं कुर्वन्ति।**

४. तिल पीलने के स्थान को चक्रशाला कहते हैं।
**१. व्यभा ४३१२ मटी. प. ६६; चक्रशालायां तिलपीडनशालायाम्।**

५. इक्षु रस पीलने के स्थान को यंत्रशाला कहते हैं।

६,७. लोहकारशाला में लोहे के कूटने तथा कुंभकारशाला में अग्नि के परिताप से ध्यान में व्याघात उत्पन्न होता है।

८. राजपथ पर राजा की सवारी आने-जाने से उसकी समृद्धि देखकर कोई मुनि निदान कर सकता है इसलिए वह वर्जित है।

बंदीशाला, १६. कौष्ट्रकशाला—बढ़ईशाला, १७. कल्लाल—मद्यपानशाला, १८. क्रकच—काठ चीरने का स्थान, १९. पुष्पवाटिका, २०. उदक अर्थात् सरोवर, तालाब आदि के पास, २१. उद्यान, २२. यथाविकट—असंगुप्त द्वार वाला स्थान, २३. नागगृह तथा पूर्वभणित (बृहत्कल्प) में कथित स्थान भक्तप्रत्याख्याता के लिए उपयुक्त नहीं होते।

४२७. कल्पाध्ययन के प्रथम और द्वितीय उद्देशक में तथा विधिसूत्र (आचारचूला) में जिन उपाश्रयों का निषेध किया गया है, मुनि उनमें न रहे, इसके विपरीत स्थान में रहे।

४२८. उद्यान, वृक्षमूल, शून्यगृह, अननुज्ञात और हरियाली से युक्त मार्ग तथा इस प्रकार के अन्य स्थानों में भक्तप्रत्याख्याता मुनि नहीं रहता क्योंकि वहां समाधि में व्याघात होता है।

४२९. जहां इंद्रियप्रतिसंचार (इष्ट-अनिष्ट शब्द, रूप, गंध आदि) नहीं होता तथा मानसिक क्षोभ पैदा करने वाली स्थितियां नहीं होतीं, वैसी दो चतुःशालाओं[1] की आज्ञा लेकर एक में भक्तप्रत्याख्याता तथा दूसरे में गच्छ के अन्य साधु रहते हैं।

४३०. वृषभ मुनि पानक और योग्य आहार को वहां स्थापित करे, जहां अपरिणत साधु और भक्तप्रत्याख्याता न जाए। अपरिणत मुनियों के वहां जाने से उनके मन में अविश्वास तथा भक्तप्रत्याख्याता के वहां जाने से उसके मन में खाने के प्रति आसक्ति हो सकती है। (अविश्वास और गृद्धि से बचाने के लिए वृषभ मुनि ऐसा करते हैं।)

४३१. गीतार्थ और भावित होने पर भी पहले भुक्तभोगी और आहारधर्मा होने के कारण वह आहार को देखकर शीघ्र ही क्षुब्ध हो सकता है।

४३२. जहां अनुकूल-प्रतिकूल विषय दूर हों, वहां भक्तप्रत्याख्याता को स्थित करके ज्ञानी होने पर भी उसके समक्ष धर्मचर्चा करनी चाहिए।

४३३. पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील आदि स्थानों से परिवर्जित, प्रियधर्मा, पापभीरु, गुणसम्पन्न और अपरिश्रान्त—इन गुणों से युक्त निर्यापक होते हैं।

४३४. भरत और ऐरवत क्षेत्र में जब जिस रूप में जैसा काल होता है, उसी के अनुसार अड़तालीस निर्यापक होते हैं।

४३५. निर्यापक के बारह चतुष्क और उनके कार्य इस प्रकार हैं—एक चतुष्क उद्वर्तन-परावर्तन कराने वाला, दूसरा अभ्यन्तर मूलद्वार में स्थित रहने वाला, तीसरा संस्तारक करने वाला, चौथा धर्म-कथा कहने वाला, पांचवां वाद करने वाला, छठा अग्रद्वार पर स्थित रहने वाला, सातवां योग्य भक्त लाने वाला, आठवां योग्य पानक लाने वाला, नौवां उच्चार का परिष्ठापनकर्ता, दसवां प्रस्रवण का परिष्ठापक, ग्यारहवां आगंतुक लोगों को कथा कहने वाला तथा बारहवां चारों दिशाओं में स्थित चार समर्थ पुरुषों का चतुष्क।

---

१. निशीथ चूर्णि के अनुसार एक ही वसति में रहने से चतुर्गुरु (उपवास) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। एक ही वसति में रहने से अन्न और पानक की गंध से भक्तप्रत्याख्याता का ध्यान विचलित हो सकता है।[1]

१. निचू ३ पृ. २९७।

४३६. इन बारह कार्यों में एक-एक में चार-चार मुनि नियुक्त होते हैं। पूर्व आदि चारों दिशाओं में भी एक-एक निर्यापक रहता है। इस प्रकार निर्यापकों की संख्या १२×४=४८ हो जाती है।

४३७. निर्यापकों की उत्कृष्ट संख्या ४८ है। कम से कम दो[1] निर्यापक होने आवश्यक हैं। दो गीतार्थ क्यों रहने चाहिए? इसका कारण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि एक भिक्षा के लिए जाए तो कम से कम एक निर्यापक भक्तप्रत्याख्याता के पास रहे, भक्तप्रत्याख्याता अकेला न रहे।

४३८. सभी भक्तप्रत्याख्याता को अंतिम काल में अतीव तृष्णा—आहार की आकांक्षा उत्पन्न होती है अत: चरम आहार के रूप में उसे इष्ट आहार देना चाहिए।

४३९. अनुपूर्वीविहारी समाधि का इच्छुक भक्तप्रत्याख्याता मुनि को निर्यापक नौ प्रकार की विगय[2], सात प्रकार के ओदन, अठारह प्रकार के व्यञ्जन तथा प्रशस्त पानक आदि उपहृत करे। (वैसा करने से उसकी तृष्णा का अपनयन हो जाता है।)

४४०. भक्तप्रत्याख्याता ने कालानुमत और स्वभावानुमत (काल के अनुकूल एवं इच्छा के अनुकूल) अमुक प्रकार का आहार पहले सेवन किया है, यह किसी से सुनकर अथवा देखकर निर्यापक उसे वैसा ही चतुर्विध आहार यतनापूर्वक लाकर दे।

४४१. आहार की आकांक्षा का उच्छेद हो जाने पर पुन: आहार के प्रति उसका वैसा भाव उत्पन्न नहीं होता। यदि कदाचित् आकांक्षा उत्पन्न हो भी जाती है तो निम्न चिंतन से उसका निवर्तन कर लेता है।

४४२. भक्तप्रत्याख्याता चिन्तन करता है कि वह कौन सी वस्तु है, जिसका मैंने उपभोग नहीं किया है। शुचि पदार्थ भी शरीर में परिणत होकर अशुचि स्वरूप हो जाते हैं। वह तत्त्वदर्शी मुनि शुभ ध्यान में लीन रहता है। आहार के लिए प्रेरित करने पर वह अवसन्न होता है।

४४३. यह अंतिम आहार कर रहा है, ऐसा सोचकर उभयपक्ष—गृहस्थ और निर्यापक संयत—दोनों के मन में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। भक्तप्रत्याख्याता को इस विधि से चरम आहार दिया जाता है—

४४४. *यह भक्तप्रत्याख्याता त्रिविध[3] आहार—(अशन, खादिम, स्वादिम) छोड़ेगा इसलिए निर्यापक उत्कृष्ट द्रव्यों की यतनापूर्वक याचना करके उसे चरम आहार देते हैं।*

४४५. उसको देखकर कोई तीरप्राप्त (संसार का किनारा पाने वाला) मुनि चिन्तन करता है कि मुझे इन वस्तुओं से अब क्या प्रयोजन? इस प्रकार वैराग्य को प्राप्त करके वह संवेगपरायण हो जाता है।

४४६. कोई भक्तप्रत्याख्याता मनोज्ञ आहार का भोग करके सोचता है कि मुझे धिक्कार है। अब मुझे इस

---

१. व्यवहार और निशीथ भाष्य में कम से कम तीन निर्यापक होने चाहिए, ऐसा उल्लेख मिलता है।[1]

१. व्य ४३२३, नि ३८८६।

२. निभा (३८८७) में 'णवविगति सत्तओदण' के स्थान पर 'णवसत्तए दसमवित्थरे' पाठ मिलता है। इसमें दसमवित्थरे से विस्तृत अवगाहिम विगय को गृहीत किया गया है, जिसमें मिठाई, व्यञ्जन आदि अनेक द्रव्यों का ग्रहण होता है।

३. व्यवहारभाष्य की टीका में त्रिविध का अर्थ मन, वचन और काया किया है।[1]

१. व्यभा ४३२९ मटी प. ६९।

आहार से क्या प्रयोजन? इस प्रकार वह वैराग्य को प्राप्त होकर संवेगपरायण हो जाता है।

४४७. कोई भक्तप्रत्याख्याता सब प्रकार का आहार-भोग करके मनोज्ञ रस में परिणत होकर देशतः या सर्वतः आसक्ति से प्रतिबद्ध हो जाता है।

४४८. चरम आहार में द्रव्यतः एवं परिमाणतः न्यूनता करके विगय अथवा आहार में अनुबंध-आसक्ति का व्यवच्छेद करना चाहिए। आहार के प्रति अनुबंध रखने वाले को तीन कारणों से आहार दिया जाता है—१. गुणवृद्धि अर्थात् कर्मनिर्जरा २. समाधि ३. अनुकम्पा।

४४९. चरम आहार में द्रव्यतः और परिमाणतः तीन दिनों तक प्रतिदिन आहार की न्यूनता करनी चाहिए। (परिमाण में प्रतिदिन द्रव्य की हानि करनी चाहिए, जैसे पहले दिन खीर लाए तो दूसरे दिन दही और तीसरे दिन दूध।) दुर्लभ द्रव्य के विषय में भक्तप्रत्याख्याता को कहना चाहिए कि मुने! यह आहार प्राप्त नहीं होता तथा सुलभ द्रव्य के विषय में यह यतना है।

४५०. मुने! आहार सम्बन्धी आसक्ति का व्यवच्छेद करो। जो तुमने पहले नहीं खाया था, तीरप्राप्त होने पर भी तुम उसकी इच्छा क्यों कर रहे हो?

४५१. कर्म निर्जरा करने वाले श्रेष्ठ निर्यापक मुनि भक्तप्रत्याख्याता मुनि के सब प्रतिकर्म करने में रात-दिन अपरिश्रान्त होकर लगे रहते हैं।

४५२. जो प्रतिचारक जिस प्रतिकर्म में कुशल होता है, शक्ति होते हुए वह उस प्रतिकर्म को नहीं छोड़ता। सभी निर्यापक अपने कर्म में उद्यत रहते हैं और भक्तप्रत्याख्याता की श्रद्धा को उद्दीप्त करते रहते हैं।

४५३. देह का वियोग शीघ्र हो अथवा विलम्ब से, फिर भी भक्तप्रत्याख्याता और निर्यापक—दोनों के प्रवर्धमान निर्जरा होती है। गच्छ इसीलिए होता है कि परस्पर उपकार से दोनों की निर्जरा हो।

४५४. किसी भी संयम-योग में लगा हुआ मुनि प्रतिसमय अर्थात् क्षण-क्षण असंख्य भव में उपार्जित कर्मों का क्षय करता है। स्वाध्याय में लगा हुआ मुनि विशेष रूप से कर्मों का क्षय करता है।

४५५. किसी भी संयम-योग में लगा हुआ मुनि प्रतिसमय अर्थात् क्षण-क्षण असंख्य भव में उपार्जित कर्मों का क्षय करता है। कायोत्सर्ग में लगा हुआ मुनि विशेष रूप से कर्मक्षय करता है।

४५६. किसी भी संयम-योग में लगा हुआ मुनि प्रतिसमय अर्थात् क्षण-क्षण असंख्य भव में उपार्जित कर्मों का क्षय करता है। वैयावृत्त्य में लगा हुआ मुनि विशेष रूप से कर्मक्षय करता है।

४५७. किसी भी संयम-योग में लगा हुआ मुनि प्रतिसमय अर्थात् क्षण-क्षण असंख्य भव में उपार्जित कर्मों का क्षय करता है। उत्तमार्थ (अनशन) में लगा हुआ मुनि विशेष रूप से कर्मक्षय करता है।

४५८. भक्तप्रत्याख्याता मुनि का संस्तारक भूमि-शिला, फलक आदि का हो सकता है। संस्तारक के उत्तरपट्ट[1] एक, दो अथवा अनेक भी हो सकते हैं।

---

१. यदि एक उत्तरपट्ट बिछाने से भक्तप्रत्याख्याता को असमाधि हो तो दो अथवा अनेक उत्तरपट्ट भी हो सकते हैं।

४५९. यदि वह भी पर्याप्त न हो तो अशुषिर तृण आदि के तीन संस्तारक करे। उसके अभाव में यदि असमाधि हो तो शुषिर तृणों का संस्तारक करे।

४६०. यदि तृण-संस्तारक से समाधि न रहे तो भूमि पर कोयव—रुई से भरा वस्त्र (रजाई), उसके प्रावरण, नवय—ऊन का बना आस्तरण, दोनों पार्श्व में तूली अथवा आलिंगिनी रखे। यदि यह भी सहन न होता हो तो पर्यंक पर संस्तारक आदि करे।

४६१. यदि भक्तप्रत्याख्याता समर्थ हो तो वह स्वयं अपने वस्त्र एवं उपकरणों का प्रतिलेखन करता है, संस्तारक बिछाता है, पानक पीता है, उद्वर्तन तथा गमन-निर्गमन आदि क्रियाएं करता है। यदि वह असमर्थ हो तो ये सारी क्रियाएं दूसरे मुनि करते हैं।

४६२. जो निर्यापक शरीर से पुष्ट तथा बलवान् है, वह उस भक्तप्रत्याख्याता को वसति से निष्क्रमण और प्रवेश करवाता है। यदि वह उसे सहन नहीं कर पाता तो संस्तारक में ही सारी क्रियाएं करवाता है।

४६३. उसकी समाधि के लिए मृदु संस्तारक करना चाहिए। उसे भी सहन नहीं करने पर उसकी समाधि के लिए इस उदाहरण को प्रस्तुत करना चाहिए।

४६४. धीर पुरुष द्वारा प्रज्ञप्त, सत्पुरुषों द्वारा सेवित, परम रम्य अभ्युद्यत मरण को स्वीकृत करके जो शिलातल पर स्थित होकर निरपेक्ष रूप से मरण की साधना कर रहे हैं, वे धन्य हैं।

४६५, ४६६. जिनकी धृति अत्यन्त सहायक है, ऐसे अतिशय धीर मुनि श्वापद—जंगली पशुओं से आकुल गिरि-कंदराओं में, विषम कटक तथा दुर्गों में उत्तमार्थ (अनशन) की साधना करते हैं तो फिर अनगारों की सहायता से तथा अन्यान्य बल के संग्रह से पारलौकिक उत्तमार्थ की साधना शक्य क्यों नहीं हो सकती है?

४६७. जिनेश्वर के वचनों का माधुर्य अपरिमित होता है, वे अग्नि में घृताहुति की भांति कानों को तृप्त करते हैं। जो साधुओं के पास उन वचनों को सुनते हैं, वे संसार-समुद्र तर सकते हैं।

४६८, ४६९. सब काल में, सभी कर्मभूमियों में होने वाले सर्वज्ञ, सर्वगुरु, सर्वपूजित, मेरु पर्वत पर अभिषिक्त, सभी लब्धियों से सम्पन्न, सर्व परीषहों को पराजित करके सभी तीर्थंकर प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करके सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

४७०. अतीत, अनागत और वर्तमान के शेष सारे अनगारों में कुछ प्रायोपगमन, कुछ भक्त-प्रत्याख्यान तथा कुछ इंगिनीमरण को प्राप्त हुए।

४७१. सभी आर्याएं (साध्वियां), सभी प्रथम संहनन से रहित मुनि तथा सभी देशविरत श्रावक भक्तप्रत्याख्यान अनशन से मरते हैं।

४७२. सब सुखों को उत्पन्न करने वाला, जीवन का सार तथा सभी का जनक आहार से बढ़कर और कोई उत्तम रत्न इस संसार में नहीं है।

४७३. शैलेशी अवस्था को प्राप्त अयोगी केवली, सिद्ध, विग्रह गति में स्थित जीव तथा केवलि-समुद्घात वाले जीवों को छोड़कर सभी संसारस्थ जीव सभी अवस्थाओं में आहार में उपयुक्त होते हैं।

**४७४.** समस्त लोक के रत्नों में सारभूत ऐसे आहार-रत्न का सर्वथा त्याग करके साधु प्रायोपगमन अनशन में विहरण करते हैं। (वे धन्य हैं।)

**४७५.** इस प्रकार प्रायोपगमन अनशन को जिनेश्वर भगवान् ने निष्प्रतिकर्म प्ररूपित किया है। इसको सुनकर अनशनधारी अध्यवसाय और पराक्रम करता है।

**४७६, ४७७.** कोई अनशनग्रहण कर्ता परीषहों से व्याकुल होकर अथवा वेदना से आर्त्त होकर कदाचित् अशन या पानक की याचना करे तो उसे 'तुम गीतार्थ हो या अगीतार्थ' यह स्मृति कराकर प्रतिबोध देकर छठे रात्रिभोजन विरमण सम्बन्धी बोध देकर पहले अशन तथा फिर पानक प्रस्तुत करे।[1]

**४७८.** भक्तप्रत्याख्याता को परीषह रूप सेना के साथ मन, वचन और काया से युद्ध करना पड़ता है अतः मरण के समय कवचभूत आहार उसे दिया जाता है।

**४७९.** दो संग्राम हुए—महाशिलाकंटक तथा रथमुशल।[2] इनका वर्णन भगवती सूत्र में है। असुरेन्द्र चमर और देवेन्द्र शक्र ने कूणिक के लिए वज्रमय कवच का निर्माण किया। राजा चेटक युद्ध में एक ही बाण चलाते थे।[3]

---

१. अनशन स्वीकार करने के पश्चात् कभी-कभी भक्तप्रत्याख्याता प्रान्त देवता से प्रभावित होकर भी भक्त-पान की याचना कर लेता है। स्पष्टीकरण के लिए उससे प्रश्न पूछना चाहिए। यदि वह सब प्रश्नों के उत्तर सही दे तो जान लेना चाहिए कि यह प्रान्त देवता से अधिष्ठित नहीं अपितु परीषहों से प्रभावित होकर याचना कर रहा है।[1]
१. व्यभा ४३६१ मटी प. ७२।

२. भगवती सूत्र[1] में महाशिलाकंटक और रथमुशल संग्राम का वर्णन मिलता है। युद्ध की पृष्ठभूमि का विस्तृत वर्णन निरयावलिका सूत्र[2] में मिलता है। ये दोनों युद्ध राजा चेटक और कूणिक के मध्य हुए। इनमें असुरेन्द्र चमर और देवेन्द्र शक्र ने कूणिक को पूर्ण सहयोग दिया। देवेन्द्र शक्र ने वज्रमय अभेद्य कवच का निर्माण किया। राजा कूणिक ने दोनों युद्धों में नौ मल्ल और नौ लिच्छवियों को हराया। महाशिलाकंटक संग्राम में अश्व, हाथी या योद्धा आदि पर तृण, काष्ठ या कंकर का भी प्रहार किया जाता तो दिव्य प्रभाव से शत्रु सेना को ऐसा अनुभव होता मानो महाशिला से प्रहार किया जा रहा हो। इस युद्ध में चौरासी लाख मनुष्य मारे गए।

दूसरे रथमुशल संग्राम में भी राजा कूणिक ने नौ मल्ल और नौ लिच्छवियों को जीता। इस युद्ध में एक रथ चल रहा था, जिसमें न घोड़ा जुता हुआ था और न ही कोई सारथी उसे चला रहा था। उसमें कोई योद्धा भी बैठा हुआ नहीं था। उसमें एक मुशल था, जिसके द्वारा फेंका गया एक पत्थर या कंकर भी मुशल जैसा प्रहार करता था। वह प्रलय करता हुआ योद्धाओं का वध कर रहा था अतः उस संग्राम का नाम रथमुशल संग्राम हुआ। इस युद्ध में छियानवें लाख मनुष्य मारे गए। कुल मिलाकर इन दोनों युद्धों में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गए। इस युद्ध में चेटक ने अपने देवप्रदत्त बाण से कूणिक के दस भाइयों को मार दिया। तब कोणिक ने दुःखी होकर त्रिदिवसीय अनुष्ठान किया तथा सौधर्मेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना की। पूर्व मित्रता के कारण चमर ने महाशिलाकंटक और रथमुशल युद्ध प्रदान किया। बौद्ध साहित्य में अजातशत्रु विदेहपुत्र और वज्जी गणराज्य के बीच युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है, वहां चेटक के नाम का उल्लेख नहीं है।

१. भ. ७/१७३-२११। २. निर. १/९४-१४१।

३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५।

४८०, ४८१. महाशिलाकंटक संग्राम में चेटक के रथिक ने वृक्ष पर चढ़कर बाण से कोणिक की पीठ पर प्रहार किया। वह बाण भी कोणिक के वज्रमय कवच के आवरण से टकराकर नीचे गिर गया। तब कोणिक ने क्षुरप्र से चेटक के शिर का छेद कर दिया।

४८२. इस दृष्टान्त का उपनय यह है कि कवच स्थानीय है—आहार, शत्रु है परीषह और राज्यस्थानीय है आराधना।

४८३. जैसे हाथी पर चढ़ने वाला व्यक्ति हाथी के पैरों को मोड़कर उन पर अपना पैर रखकर हाथी पर चढ़ता है, वैसे ही भक्तपरिज्ञा को स्वीकार करने वाला आहार के द्वारा उत्तम ध्यान में आरूढ़ होता है।

४८४. जैसे उपकरण से रहित पुरुष अपने कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता, वैसे ही आहार के बिना भक्तप्रत्याख्याता मुनि परीषहों को नहीं जीत सकता। यहां ये दृष्टान्त हैं—

४८५-८७. जैसे फसल काटने वाला दात्र—दांती के बिना, नदी पार करने वाला नौका के बिना, संग्राम में योद्धा शस्त्रों के बिना, पथिक जूतों के बिना, रोगी औषध के बिना, शिक्षक (संगीत आदि सिखाने वाला) उपकरणों के बिना अपने कार्य को नहीं साध सकते। इसी प्रकार समाधि का इच्छुक व्यक्ति आहार के बिना समाधि को नहीं साध सकता अत: समाधि के लिए उस भक्तप्रत्याख्याता को आहार देना चाहिए।

४८८. धृति और संहनन से हीन तथा परीषहों को सहने में असमर्थ व्यक्ति चन्द्रकवेध्य[1]—पुतली की आंखों को वेधने से चूक जाता है, वैसे ही कवचभूत आहार के बिना भक्तप्रत्याख्याता विचलित हो जाता है।

४८९. (शिष्य पूछता है—) जिसने शरीर को छोड़ दिया, उसके मन में भोजन के प्रति कैसी आसक्ति? (आचार्य उत्तर देते हैं—) समाधि की प्राप्ति के लिए उसे अंत समय में आहार दिया जाता है।

४९०. निर्यापक साधु शुद्ध आहार-पानी की गवेषणा करते हैं। प्रतिदिन आहार की हानि होने पर या शुद्ध आहार की प्राप्ति न होने पर पूर्वोक्त पंचक यतना[2] से गवेषणा कर अन्यत्र गुप्त रूप से उस आहार को स्थापित करते हैं।

४९१. निर्व्याघात रूप से भक्तप्रत्याख्याता के कालगत हो जाने पर उसके शरीर का विधिपूर्वक परिष्ठापन करना चाहिए। उसके शरीर पर चिह्न करना चाहिए। चिह्न न करने पर चार गुरु (उपवास) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

४९२. उपकरण और शरीर पर चिह्न[3] न करने पर शव को देखकर कोई दण्डिक मार्गणा-गवेषणा करता

---

१. चन्द्रकवेध्यक का अर्थ है—आठ अर वाले चक्र के ऊपर पुत्तलिका की अक्षिचन्द्रिका को बींधना।

१. निभा ३४२४ चू पृ. २१२ ; चक्राष्टकमुपरिपुत्तलिकाक्षिचन्द्रिकावेधवत् दुराराध्यमनशनं।

२. पंचकहानि के लिए देखें गा. ४१८ का दूसरा टिप्पण।

३. मृत साधु के शरीर और उपकरण—दोनों पर चिह्न किया जाता है। शिर का लोच किया जाता है। मुख पर मुखवस्त्रिका बांधी जाती है। हाथ-पैर बांधे जाते हैं।

हुआ आसपास के अनेक गांव के लोगों का घात कर सकता है।[1] (अतः भक्तप्रत्याख्याता के शरीर और उपकरणों पर चिह्न करके विधिपूर्वक उसका परिष्ठापन करना चाहिए।)

**४९३.** यदि परीषहों के उदय से भक्तप्रत्याख्याता को व्याघात हो जाए तो निर्यापक साधु उसे प्रकाशित न करे क्योंकि इससे प्रवचन का लघुत्व होता है। व्याघात उत्पन्न होने पर गीतार्थ को उपाय करना चाहिए।

**४९४, ४९५.** गीतार्थ को क्या उपाय करना चाहिए, इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि व्याघात की स्थिति में संलेखनागत किसी अन्य उत्साहित मुनि को भक्तप्रत्याख्याता के संस्तारक पर सुला देना चाहिए तथा भक्तप्रत्याख्याता का एकान्तस्थान में ग्लान-परिकर्म करना चाहिए। अन्य मुनि की अनुपस्थिति में उस संस्तारक पर वृषभ मुनि को स्थापित किया जाए फिर लोगों के सामने यह प्रकाशित किया जाए कि वह भक्तप्रत्याख्याता मुनि कालगत हो गया तथा सन्ध्याकाल में उसे उपाश्रय से बाहर निकाल दिया गया।

**४९६.** यदि दण्डिक आदि को यह बात ज्ञात हो जाए तो यह यतना करनी चाहिए—सभी साधु वहां से चले जाएं अथवा किसी अन्य सहायक के साथ भक्तप्रत्याख्याता को अन्यत्र प्रेषित कर दे। भक्तप्रत्याख्याता की निंदा करने पर चार अनुद्घात—गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**४९७.** सपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान के व्याघातिम और निर्व्याघातिम भेदों के बारे में वर्णन कर दिया, अब मैं दूसरे अपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान के निर्व्याघातिम भेद के बारे में कहूंगा।

**४९८.** पराक्रम तथा बल से हीन भक्तप्रत्याख्याता अन्य गण में नहीं जाता, वह अपने गण में ही अनशन स्वीकार करता है। सपराक्रम भक्तप्रत्याख्यान की भांति अपराक्रम के बारे में भी जानना चाहिए। निर्व्याघात अनशन का वर्णन पूर्ण हो गया।

**४९९.** इस प्रकार आनुपूर्वी व्याघातिम भक्तप्रत्याख्यान के विषय में जानना चाहिए। इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि मुनि रोग और आतंक से अभिभूत होकर अनशन को स्वीकार करता है। यदि निम्न कारणों से मरता है तो वह व्याघातिम भक्तप्रत्याख्यान बालमरण भी हो सकता है।

**५००.** व्याल, भालू, विष, विसूचिका-हैजा, आतंक, कौशलक श्रावक, उच्छ्वास, गृध्रपृष्ठ[2], रज्जू आदि से

---

१. टीकाकार मलयगिरि के अनुसार यदि अनशन स्वीकार करने के बाद भी बाल बढ़ जाएं तो लोच अवश्य कर देना चाहिए तथा उपकरण आदि उसके पास रख देने चाहिए। चिह्न न होने पर कोई मृत शरीर को देखकर यह सोच सकता है कि इस गृहस्थ को किसी ने बलपूर्वक मार दिया है। यदि यह बात दंडिक के पास पहुंचती है तो मार्गणा और गवेषणा के लिए वह पांच-दश गांवों का घात कर सकता है।[1]

**१. व्यभा ४३७५ मटी प. ७४।**

२. गृध्रपृष्ठ मरण में हाथी, ऊंट, गीध आदि बृहत्काय पशुओं के कलेवर में प्रविष्ट होने से उस कलेवर के साथ-साथ उस जीवित शरीर को भी गीध, चील, शृगाल आदि जानवर नोच-नोचकर मार देते हैं। खाल में प्रविष्ट जीवित मनुष्य उनको निवारित नहीं करता है। गृध्रपृष्ठ का अर्थ है—गीध आदि के द्वारा खाए जाने वाले शरीर के पीठ, उदर आदि अवयव। परिस्थिति आने पर संयम की रक्षा हेतु इस मरण को कोई बलशाली व्यक्ति ही स्वीकार कर सकता है, यह कर्मनिर्जरा का प्रधान साधन है।[1]

*१. उशांटी प. २३४।*

फांसी[1], वैहायस मरण, दुर्भिक्ष, अशिव, अभिघात, संबद्ध—जकड़न आदि कारणों से होने वाला मरण बालमरण हो सकता है।

५०१-०७. व्याल अर्थात् सर्प आदि के द्वारा खाने से शरीर सड़ने पर, भालू के द्वारा कान, होठ या नाक आदि काट लेने पर, विष व्याप्त होने पर, विसूचिका रोग उत्पन्न होने पर, तीन बार चिकित्सा-क्रिया करा लेने पर भी रोग शान्त नहीं हो ऐसा क्षय आदि आतंक उत्पन्न होने पर, दुर्भिक्ष में कौशलक श्रावक ने अन्यत्र विहार करके पांच सौ साधुओं को यह कहकर रोका कि मैं आप लोगों को भक्तपान दूंगा। बाद में लाभ को जानकर उस लुब्ध ने धान्य को बेच दिया।[2] वृत्तिछेद—भोजन आदि न मिलने पर उस दुर्भिक्ष काल में क्षुधा वेदना को सहन न कर पाने के कारण कौशल देश में साधुओं ने श्वास-निरोध आदि करके बालमरण को प्राप्त किया। कौशल देश की भांति अन्य देश में भी दुर्भिक्ष होने पर यह स्थिति हो सकती है अथवा जंगल में मार्ग छूटने पर गृध्रपृष्ठ आदि मरण तथा अशिव गृहीत होने पर, विद्युत् का अभिघात होने पर, गिरिभित्ति अथवा पहाड़ के कोने से गिरने पर तथा वायु से हाथ-पैर जकड़ जाने पर होने वाला मरण बालमरण होता है।

५०८. इन कारणों से होने वाले मरण को व्याघातिम मरण जानना चाहिए। परिकर्म किए बिना वह भक्तप्रत्याख्यान स्वीकृत करता है।

५०९. यदि साधु उपर्युक्त पंडित मरण करने में असमर्थ होता है तो श्वासनिरोध, गृध्रपृष्ठ और रज्जु का फंदा लगाकर मरण प्राप्त करते हैं।

५१०. अनुपूर्वी विहारी—ऋतुबद्धकाल में मासकल्प तथा वर्षावास में चार मास के कल्प से विहार करने

---

१. गले में रस्सी बांधकर वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने, प्रपात से झंपा लेने से होने वाले मरण को वैहायस मरण कहा जाता है।[3] भाष्यकार ने यहां वैहायसमरण को बालमरण के अन्तर्गत सम्मिलित किया है लेकिन गृध्रपृष्ठ और वैहायस—ये दोनों मरण दर्शन की मलिनता और चारित्र में अधीरता आदि प्रसंग आने पर तीर्थंकरों द्वारा अनुज्ञात हैं। उदायी राजा के मरने पर आचार्य ने इन दोनों में से किसी एक मरण को स्वीकार किया था।[4]

आचारांग में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हेतु मुनि को वैहायस मरण के प्रयोग की स्वीकृति दी गई है।[5] ठाणं में भी शील रक्षा हेतु ये दोनों मरण अनुज्ञात हैं।[6] टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार गृध्रपृष्ठ मरण का अन्तर्भाव वैहायस मरण में हो जाता है। अल्पशक्ति वाले इस मरण को स्वीकार नहीं कर सकते अतः इसका पृथक्ग्रहण किया गया है।[7] गृध्रपृष्ठ और वैहायस मरण के बारे में आचार्य महाप्रज्ञ की समालोचनात्मक टिप्पणी पठनीय है।[8]

१. उशांटी प. २३४, २३५।
२. उशांटी प. २३४, २३५।
३. आ ८/५८ ; तवस्सिणो हु तं सेयं, जमेगे विहमाइए।
४. स्था २/४१३।
५. उशांटी प. २३४; एवं गृध्रपृष्ठस्याप्यात्मघातरूपत्वाद्वैहायसिकेऽन्तर्भावः, सत्यमेतत्, केवलमल्पसत्त्वैरध्यवसातुमशक्यताख्यापनार्थमस्य भेदेनोपन्यासः।
६. भभा १, २/४९, पृ. २२७-३०।
७. कथा के विस्तार हेतु देखें परि २, कथा सं. ६।

वालों तथा उत्सर्ग में संयम-पालन करने वालों की जो शोधि होती है, वह शोधि व्याल आदि खाए जाने पर विहरण करने वालों की नहीं होती क्योंकि आहार-लोप के कारण उत्तर गुणों की वृद्धि नहीं हो सकती।

५११. भक्तप्रत्याख्यान में स्वयं तथा दूसरे निर्यापकों की विधि कही, अब इंगिनीमरण और प्रायोपगमन में आत्म-निर्यापन-आत्मसेवा के बारे में कहूंगा।

५१२. प्रव्रज्या ग्रहण करके जब तक जीवन का विच्छेद न हो, तब तक मुनि पांच तुलाओं से स्वयं को तोलकर इंगिनीमरण अनशन में प्रवृत्त होता है।

५१३. भक्तपरिज्ञा में आत्म परिकर्म और पर परिकर्म—ये दोनों अनुज्ञात हैं। इंगिनीमरण में चतुर्विध आहार की विरति तथा परपरिकर्म वर्जित होता है।

५१४. उपसर्ग और परीषहों को सहन करता हुआ इंगिनीमरण स्वीकार करने वाला साधु खड़े होना, बैठना, सोना आदि इत्वरिक क्रियाएं यथासमाधि स्वयं करता है।

५१५. संहनन (प्रथम तीन संहनन) और धृति से सम्पन्न, श्रुत में नवपूर्वी, दशपूर्वी अथवा अंगों का धारक मुनि नियम से इंगिनीमरण अनशन स्वीकार करता है।

५१६. प्रव्रज्या आदि स्वीकार करके जब तक जीवन का विच्छेद न हो, तब तक पांच तुलाओं से स्वयं को तोलकर साधु प्रायोपगमन अनशन में परिणत होता है।

५१७. प्रायोपगमन अनशन दो प्रकार का जानना चाहिए—निर्हारी तथा अनिर्हारी। ग्राम आदि के बाहर गिरि-कंदरा में प्रायोपगमन अनशन को स्वीकार करना निर्हारी अनशन है।[१]

५१८. गोकुल आदि के अंदर जब साधु उठने की स्थिति में न हो तो वह अनिर्हारी प्रायोपगमन अनशन है। इसका नाम पादपगमन क्यों है? क्योंकि यहां पादप—वृक्ष की उपमा दी गई है।

५१९. जैसे पादप सम या विषम भूमि पर जिस रूप में भी गिरता है, वह निष्कम्प रहता है। पादप की भांति साधु जब अपने अंगों को निश्चल और निष्प्रतिकर्म रखता है तो वह पादपोपगमन—प्रायोपगमन अनशन कहलाता है।

५२०. जैसे वायु आदि परप्रयोग से वृक्ष चलित होता है, वैसे ही प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करने वाला शत्रु आदि के द्वारा हिलाए जाने पर चलित होता है।

५२१. त्रस प्राणी और बीज आदि से रहित, विस्तीर्ण, विशुद्ध और निर्दोष स्थण्डिल भूमि में निर्दोष साधु अभ्युद्यत मरण स्वीकार करते हैं।

---

१. व्यवहारभाष्य की टीका में निर्हारिम और अनिर्हारिम की व्याख्या में कुछ अंतर है। वहां ग्राम आदि के अंदर स्वीकार किया जाने वाला अनशन, जिसमें दिवंगत होने पर मृत शरीर का निष्काशन किया जाता है, वह निर्हारिम प्रायोपगमन अनशन है तथा जो अनशन ग्राम आदि के बाहर स्वीकार किया जाता है, वह अनिर्हारिम प्रायोपगमन अनशन कहलाता है।[१]

१. व्यभा ४३१४ मटी प. ७६;—**निर्हारिमं नाम यद् ग्रामादीनामन्तः प्रतिपद्यते ततो हि मृतस्य स ततस्तस्य शरीरं निष्काशनीयं भवति, अनिर्हारिमं नाम यद् ग्रामादीनां बहिः प्रतिपद्यते।**

५२२. पूर्वभव के वैर के कारण कोई देवता प्रायोपगमन अनशनी का पाताल में संहरण कर लेता है तो भी चरमशरीरी होने के कारण वह किंचित् भी वेदना को प्राप्त नहीं करता।

५२३. प्रायोपगमन[1] अनशन स्वीकार करने वाले दिव्य, मानुष तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी उपसर्गों को पराजित करके विहरण करते हैं।

५२४. देव या मनुष्य कोई उसके मुख में द्विक या त्रिक प्रक्षिप्त कर दे तो भी वह व्युत्सृष्ट और त्यक्त देह वाला अनशनी जीवन पर्यन्त अपनी प्रतिज्ञा का वहन करता है।

५२५. द्रव्यों का द्विक —अनुलोम और प्रतिलोम द्रव्य, त्रिक—अनुलोम, प्रतिलोम और उभय सहित अथवा सचित्त और अचित्त का द्विक तथा सचित्त, अचित्त और मिश्र—यह त्रिक होता है।

५२६. कोई प्रायोपगमन अनशनी को पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय पर संहृत कर दे तो भी वह व्युत्सृष्ट त्यक्तदेह अनशनी यावज्जीवन प्रतिज्ञा का पालन करता है।

५२७. धृति और बल से युक्त उन धीर पुरुषों के द्वारा जिस रूप में उपसर्ग सहन किए गए हैं, उनके उदाहरणों को मैं संक्षेप में कहूंगा।

५२८, ५२९. कुंभ्रकारकट नगर में दंडकी राजा, पुरंदरयशा रानी तथा पालक नामक पुरोहित था। तीर्थंकर मुनि सुव्रतस्वामी के शिष्य स्कन्दक अनगार को ५०० शिष्यों के साथ रुष्ट पुरोहित ने कोल्हू में पील दिया। सभी मुनि राग-द्वेष के तुलाग्र को सम करते हुए, समभाव का चिंतन करते हुए समाधि-मरण को प्राप्त हुए।[2]

५३०. यंत्र, करवत, शस्त्र और विविध श्वापदों के द्वारा शरीर का विध्वंस होने पर भी प्रायोपगमन अनशनी ध्यान से विचलित नहीं होते।

५३१. शत्रुभाव से प्रेरित होकर अशुभ परिणाम वाला कोई व्यक्ति प्रायोपगमन अनशनी के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर दे तो भी उसका ध्यान विचलित नहीं होता, जैसे कंडों की अग्नि के बीच चाणक्य का ध्यान विचलित नहीं हुआ।[3]

५३२. शत्रुतावश कोई व्यक्ति प्रायोपगमन में स्थित मुनि के शरीर की चमड़ी को कीलों से उधेड़कर शरीर को घृत और मधु से चुपड़कर चींटियों को देदे, तब भी वह मुनि अविचल भाव से उस कष्ट को सहन करता है।

५३३. जैसे व्युत्सृष्ट और निसृष्टदेह वाले चिलातपुत्र के रक्त की गंध से चींटियों ने उसके शरीर को

---

१. प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करने वाला सर्वप्रथम अर्हत् और गुरु को वंदना करके गिरिकंदरा में जाकर दंडायत आदि किसी आसन में स्थिर हो जाता है। वह यावज्जीवन निश्चेष्ट होकर उसी मुद्रा में स्थिर रहता है।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ७।

३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ८।

चलनी जैसा बना दिया, फिर भी वह ध्यान से विचलित नहीं हुआ।[1]

**५३४.** मोद्गल्य शैल शिखर पर जैसे शृगाल रूप में विकुर्वित देव ने प्रायोपगमन में स्थित कालासवैश्य पुत्र मुनि के शरीर को खा लिया।[2]

**५३५.** जैसे व्युत्सृष्ट त्यक्त देह वाले प्रायोपगमन अनशन में स्थित मुनि को किसी शत्रु ने बांस के बने झुरमुट में फेंक दिया। जब बांस के पत्ते और डंडे बाहर निकले तो मुनि उनके द्वारा आकाश में उछाला गया। (उसने समभाव से उस वेदना को सहन किया।[3])

**५३६.** जैसे व्युत्सृष्ट, निसृष्ट, त्यक्तदेह और धीर अवन्तीसुकुमाल मुनि के शरीर को शृगाली ने अपने बच्चों के साथ तीन रात तक भक्षण किया।[4]

५३७. जैसे व्युत्सृष्ट, निसृष्ट और त्यक्तदेह वाले कुछ मुनि गोट्ठस्थान—स्थान विशेष में प्रायोपगमन अनशन में स्थित थे। पानी से बहते हुए वे नदी के गर्त के कचरे में फंस गए। (समभाव से वेदना सहन करते हुए वे कालगत हो गए।[5])

५३८. जैसे बत्तीस धीर युवकों का समूह व्युत्सृष्ट, निसृष्ट और त्यक्त देह होकर अनशन में स्थित था। उन सबको द्वीपान्तरवर्ती एक म्लेच्छ ने वृक्ष की शाखा पर लटका दिया।[6]

५३९. कोई तिर्यञ्च अथवा मनुष्य प्रायोपगमन अनशन में स्थित मुनि को विचलित करने के लिए बाईस परीषहों की आनुपूर्वी (पुर्वानुपूर्वी, पश्चादनुपूर्वी अथवा अनानुपूर्वी) क्रम से उदीरणा करे अथवा अनुकम्पा से प्रेरित होकर इष्ट विषयों की उदीरणा अथवा मुनि की रक्षा करे तो भी मुनि समभाव से उसे सहन करे।

५४०. प्रायोपगमन अनशनकर्ता मानता है कि जिस प्रकार तलवार म्यान में रहती है पर म्यान और तलवार दोनों अलग-अलग हैं, उसी प्रकार मेरा शरीर और जीव दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

५४१. (उपसर्गों को समभाव से सहन करने पर) मुनि के एकान्त निर्जरा होती है तथा दो प्रकार की निश्चित आराधना होती है—अंतक्रिया—सिद्धिगति की प्राप्ति अथवा देवलोक में उत्पत्ति।

५४२. इस प्रकार धृति और बल से युक्त अनशनी प्रतिलोम उपसर्गों को समता से सहन करता है। वह अनुकूल उपसर्ग जिस रूप में सहता है, उसको मैं उसी रूप में कहूंगा।

५४३. कोई व्यक्ति अनशनकर्ता का सत्कार-सम्मान अथवा उसको स्नान आदि कराता है तो भी व्युत्सृष्ट

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ९।
२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १०।
३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ११।
४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १२।
५. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १३।
६. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १४।

और त्यक्त देह वाला वह मुनि जीवन-पर्यन्त अपने नियम का पालन करता है।

५४४. पूर्वभव के प्रेम के कारण कोई देव अनशन में स्थित उस मुनि का संहरण करके देवकुरु अथवा उत्तरकुरु क्षेत्र में ले जाता है, जहां सभी प्रकार के शुभ अनुभाव होते हैं तो भी मुनि जीवन-पर्यन्त अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है।

५४५. पूर्वभविक प्रेम के कारण कोई देव अनशन स्थित मुनि का संहरण करके नागभवन में ले जाता है, जहां सभी प्रकार के इष्ट, कान्त और शुभ अनुभाव होते हैं, (फिर भी मुनि यथायु: प्रतिज्ञा का पालन करता है।)

५४६, ५४७. कोई बत्तीस लक्षणों से युक्त नग्न शरीर वाला मुनि प्रायोपगमन अनशन में स्थित है, तब यदि कोई पुरुषद्वेषिणी राजकन्या राजा की आज्ञा से उसको पकड़कर स्नान तथा गंध द्रव्य का लेप करती है, पुष्पोपचार करके परिचारणा—गले लगाना, चुम्बन आदि करती है, वह श्रेष्ठ राजकन्या इन गुण-समूहों से युक्त होती है—

५४८. श्रोत्र आदि नौ अंग जिसके विकसित हो गए हैं[1], जो अठारह प्रकार की देशीभाषा तथा रति-क्रीड़ा विशेष में कुशल; चौंसठ महिला गुणों तथा बहत्तर कलाओं में निपुण है।

५४९-५२. दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासापुट, जिह्वा, स्पर्शन और मन—ये नौ अंग स्रोत हैं, देशी भाषा अठारह प्रकार की हैं। रति क्रीड़ाएं उन्नीस हैं, कौशल इक्कीस प्रकार का है—इन सभी गुणों से युक्त तथा रूप, यौवन, विलास और लावण्य से युक्त, चतु:कर्ण रहस्य से युक्त राजकन्या रागवश राजा की आज्ञा से प्रायोपगमन में स्थित मुनि को ग्रहण कर लेती है। अनेक प्रकार से मुनि को क्षुब्ध करने पर भी जैसे सागर मछलियों एवं मगरमच्छों से क्षुब्ध नहीं होता, वैसे ही वह मुनि का चित्त क्षुभित नहीं कर पाती। जब वह पराजित हो जाती है, मुनि का शील खंडन करने में समर्थ नहीं होती, तब वह मुनि को पर्वत-शिखर पर ले जाकर नीचे गिराकर उसके ऊपर शिला फेंक देती है।

५५३. समभाव से सहन करने वाले उस मुनि के एकान्त निर्जरा होती है तथा दो प्रकार की आराधना निश्चित होती है—अंतक्रिया—सिद्धिगति की प्राप्ति अथवा देवलोक में उत्पत्ति।

५५४, ५५५. इस प्रकार देव, मनुष्य और तिर्यञ्च के द्वारा उत्पन्न बहुविध अनुलोम और प्रतिलोम घोर उपसर्गों से निर्दयतापूर्वक विचलित करने पर भी प्रायोपगमन अनशन में स्थित मुनि वैसे ही ध्यान से विचलित नहीं होता, जैसे मेरु पर्वत पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—इन चारों दिशाओं से आकर टकराने वाली हवाओं से प्रकम्पित नहीं होता।

५५६. प्रायोपगमन अनशकर्ता वज्रऋषभनाराच संहनन वाला होता है। उसकी धृति शैलकुड्य के समान

---

१. दो आंख, दो कान, दो नासापुट, जिह्वा, स्पर्शन और मन—ये नौ अंग जब तक यौवन न आए, तब तक सुप्त रहते हैं। उस समय आलिङ्गन आदि में वह रति-सुख प्राप्त नहीं होता। यौवन आने पर ये प्रतिबुद्ध—विकसित हो जाते हैं।

होती है। चौदह पूर्वी के विच्छेद के साथ ही प्रथम संहनन और प्रायोपगमन अनशन का विच्छेद हो गया।

५५७. यह निष्प्रतिकर्म प्रायोपगमन अनशन जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित है। तीर्थंकर, गणधर और साधुओं के द्वारा यह उदारभाव से सेवित है।

५५८. इसी प्रकार वर्तमानकाल में भी यथानुरूप जिस प्रकार शोधि होती है तथा शोधिकारक हैं, उन सबका मैंने वर्णन किया है।

५५९. इस आगम व्यवहार को मैंने यथोपदिष्ट यथाक्रम से कहा है। अब मैं श्रुत व्यवहार का यथाक्रम से निरूपण करूंगा। हे वत्स! उसे तुम सुनो।

५६०. चौदहपूर्वी भद्रबाहु ने श्रुत का निर्यूहण किया। पंचविध व्यवहार द्वादशांग का नवनीत है।

५६१. जिसने सूत्र—कल्प और व्यवहार आदि बहुत ग्रंथ पढ़ लिए फिर भी जो सूत्रार्थ में निपुण नहीं है, वह श्रुतधरों के लिए कल्प और व्यवहार में निपुण नहीं होता।

५६२. जो इन सूत्रों को बहुत पढ़ता है और इनके अर्थ में भी निपुण होता है, वह कल्प और व्यवहार में श्रुतधरों के लिए प्रमाणभूत होता है।

५६३, ५६४. जो परम निपुण कल्प (बृहत्कल्प) तथा व्यवहार की निर्युक्ति को अर्थतः नहीं जानता, वह व्यवहारी के रूप में अनुज्ञात नहीं होता। जो परमनिपुण कल्पाध्ययन तथा व्यवहार की निर्युक्ति को अर्थतः जानता है, वह व्यवहारी के रूप में अनुज्ञात होता है।

५६५. यह श्रुतव्यवहार यथोपदिष्ट तथा यथाक्रम से कहा गया है। वत्स! अब मैं आज्ञाव्यवहार का यथाक्रम से वर्णन करूंगा।

५६६. कोई श्रमण उत्तमार्थ अर्थात् भक्तप्रत्याख्यान को करने के लिए तत्पर होकर अपने शल्यों का उद्धरण करने के लिए अभिमुख हो किन्तु छत्तीस गुणों के धारक प्रायश्चित्त व्यवहारी आचार्य वहां से दूर हों तो (वहां आज्ञाव्यवहार का प्रवर्तन होता है।)।

५६७. (आलोचना करने का इच्छुक मुनि सोचता है कि) अब आचार्य के पास जाने का कारण उपस्थित हो गया है लेकिन अब मैं अशक्त हो गया हूं। व्रतषट्क आदि अठारह स्थानों में से किसी एक स्थान में मेरे द्वारा अतिचार का सेवन हुआ है। मैं अतिचार में पड़ा हूं अतः आज्ञाव्यवहार की इच्छा करता हूं।

५६८. अपराक्रमी तपस्वी शोधिकर आचार्य के पास जाने में समर्थ नहीं होता तो वह उनके पास शोधि हेतु अपने शिष्य को भेजकर कहता है—'मैं आपके पास शोधि करना चाहता हूं।'

५६९. गति में असमर्थ शोधिकर आचार्य भी अपने धारणाकुशल शिष्य को उसके पास भेजते हैं। वहां भेजने के योग्य शिष्य की इस विधि से परीक्षा करते हैं।

५७०. गति में असमर्थ वह आलोचनाचार्य आज्ञापरिणामक[1] शिष्य की परीक्षा करता है। वह वृक्ष और बीज के आधार पर उसकी परीक्षा करता है। इस परीक्षा के बाद वह यह देखता है कि वह सूत्र और अर्थ को मोहरहित होकर धारण कर सकता है या नहीं?

५७१, ५७२. एक बड़े वृक्ष को देखकर आचार्य ने परीक्षा हेतु शिष्य से कहा—'वत्स! इस वृक्ष पर चढ़कर कूद जाओ।'[2] इस बात को सुनकर अपरिणत शिष्य कहता है कि वृक्ष पर चढ़ना साधु के लिए कल्प्य नहीं है। क्या आप मुझे मारना चाहते हो जो यह कह रहे हो कि वृक्ष पर चढ़कर नीचे गिर जाओ। अतिपरिणामक शिष्य कहता है कि ऐसा ही होगा, मेरी भी यही इच्छा है।

५७३. यह उत्तर सुनकर अतिपरिणामक शिष्य को आचार्य कहते हैं कि तुम मेरे कथन का तात्पर्य समझे बिना ही ऐसा कह रहे हो कि मेरी भी इच्छा वृक्ष पर चढ़ने की है। अपरिणामक शिष्य को आचार्य कहते हैं कि क्या मैंने तुम्हें सचित्त वृक्ष पर चढ़ने के लिए कहा था?

५७४. आचार्य कहते हैं कि मेरे कथन का तात्पर्य था कि भवार्णव में प्राप्त तप, नियम और ज्ञान रूपी वृक्ष पर चढ़कर संसार रूपी अगड—कूप के मूल का उल्लंघन करो।

५७५, ५७६. परिणामक शिष्य 'वृक्ष पर चढ़ो' इस बात को सुनकर सोचता है कि आचार्य स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करना चाहते तो फिर पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा की बात कैसे संभव है? गुरु के इस वचन के पीछे कुछ कारण होना चाहिए। यह सोचकर शिष्य वृक्ष पर चढ़ने के लिए तत्पर होता है। चढ़ते हुए शिष्य का गुरु निवारण करते हैं।

५७७. इसी प्रकार गुरु के द्वारा ईमली के बीज लाने का कहने पर अपरिणामक शिष्य उसे लाने का निषेध कर देता है लेकिन अतिपरिणामक शिष्य पोटली भरकर बीज लेकर वहां आ जाता है।

५७८. गुरु उनको कहते हैं—'मैंने तुमको उगने में असमर्थ तथा अचित्त अम्लिका के बीज लाने को कहा था।'

५७९. परिणामक शिष्य पूछता है कि मैं किस प्रकार के बीज लेकर आऊं? जो उगने में समर्थ हों अथवा असमर्थ? तथा यह भी बताएं कि कितनी मात्रा में लेकर आऊं?

५८०. गुरु उसको कहते हैं—'अभी बीज का प्रयोजन नहीं है। जब आवश्यकता होगी, तब कहूंगा। मैंने विनोद में बीज लाने को कहा था अथवा तुम्हारा विमर्श—परीक्षण करने के लिए ऐसा कहा था।'

---

१. आज्ञापरिणामक शिष्य को जो कुछ करने के लिए आज्ञा दी जाती है, वह उसका कारण नहीं पूछता कि ऐसा क्यों किया जाए? वह आज्ञा को कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करता है।'

१. व्यभा ४४४३ मटी प. ८२; आज्ञापरिणामको नाम यद् आज्ञाप्यते तत्कारणं न पृच्छति किमर्थमेतदिति किन्त्वाज्ञयैव कर्त्तव्यतया श्रद्दधाति, यदत्र कारणं तत् पूज्या एव जानते एवं यः परिणामयति स आज्ञापरिणामकः।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १५।

५८१. गुरु उस शिष्य को पद, अक्षर, उद्देश, संधि, सूत्र, अर्थ और तदुभय—इन सबको अक्षर और व्यञ्जन से शुद्ध धारण करवाते हैं, जो यथाभणित को पुनः कह सके।

५८२. इस प्रकार शिष्य की परीक्षा करके योग्य समझकर उसको भेजते हुए आचार्य कहें कि तुम आलोचना के इच्छुक उस मुनि के पास जाओ और आलोचना सुनकर लौट आओ।

५८३, ५८४. आलोचनाचार्य द्वारा भेजा गया वह शिष्य आलोचक के पास जाए और वह आलोचक उसके पास इस प्रकार शोधि करे—'द्विक अर्थात् दर्प[1] प्रतिसेवना[2] और कल्प[3] प्रतिसेवना, त्रिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्बन्धित, चतुर्विशुद्ध अर्थात् प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से शुद्ध।

५८५. वह शिष्य त्रिविध काल में—वर्तमान, अतीत और भविष्य के अतिचारों की स्पष्ट रूप से आलोचना करता है।

५८६. वह किस चीज की आलोचना करता है? आचार्य कहते हैं कि वह अतिचार की आलोचना करता है। व्रतषट्क आदि क्रमशः अतिचार हैं।

५८७. अतिचार के १८ स्थान ये हैं—व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प्य[4] पिंड, गृहि-भाजन में भोजन[5], पर्यंक

---

१. बिना कारण दर्प से की जाने वाली प्रतिसेवना दर्प प्रतिसेवना कहलाती है। निशीथ भाष्य में इसे प्रमाद प्रतिसेवना भी कहा है।[1]

१. निभा ११ ; दप्पो तु जो पमादो।

२. प्रतिसेवना के विस्तार हेतु देखें जीभा ५८८ और जी ७४ का टिप्पण।

३. ज्ञान आदि कारण उपस्थित होने पर अकल्प्य का सेवन कल्प प्रतिसेवना है।

४. अकल्प दो प्रकार का होता है—शैक्षस्थापना अकल्प तथा अकल्प स्थापना अकल्प। जिस मुनि ने पिण्डनिर्युक्ति का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा आनीत आहार शैक्षस्थापना अकल्प है[1] तथा सचित्त आदि अकल्प्य भक्तपान, वस्त्र आदि ग्रहण करना अकल्प्य स्थापना अकल्प है। अकल्प्य आदि के वर्जन का प्रयोजन बताते हुए जिनदास चूर्णिकार कहते हैं कि जैसे पांच महाव्रतों की रक्षा के लिए पच्चीस भावनाएं होती हैं, वैसे ही व्रत और छह काय की रक्षा के लिए अकल्प्य आदि षट्क का वर्जन करना चाहिए। जैसे कुड्य और कपाटयुक्त घर के लिए दीपक और जागरण—ये दो रक्षा के हेतु होते हैं, वैसे ही पांच महाव्रत युक्त साधु के लिए ये उत्तरगुण सुरक्षा के हेतु होते हैं।[2]

१. दशजिचू पृ. २२६ ; सेहट्ठवणाकप्पो नाम जेण पिंडणिज्जुत्ती ण सुता, तेसु आणियं न कप्पइ भोत्तुं।

२. दशजिचू पृ. २२६ ; जहा वा गिहस्स कुड्डकवाडजुत्तस्स वि पदीवजागरमाणादि रक्खणाविसेसा भवंति तह पंचमहव्वय-जुत्तस्सवि साहुणो तेसिमणुपालणत्थं इमे उत्तरगुणा भवंति।

५. गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने से पश्चात्कर्म और पुरःकर्म की संभावना रहती है इसलिए निर्ग्रन्थ के लिए यह कल्प्य नहीं है। जो भिक्षु गृहस्थ के पात्र में भोजन करता है और खाने वाले का अनुमोदन करता है, वह चतुर्लघु प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।[1]

१. निसू १२/११।

पर बैठना[१], भिक्षा में गृहस्थ के घर बैठना[२], स्नान[३] और विभूषा-वर्जन।[४] (ये अठारह आचार हैं, इनका लोप करना अतिचार है।)

५८८. दर्प से अथवा कल्प से प्रतिसेवना[५] की हो तो उसकी आलोचना करनी चाहिए। दर्प से दश प्रकार

१. दशवैकालिक सूत्र में साधु के लिए पर्यंक पर बैठना अनाचीर्ण है। पर्यंक आदि में गंभीर छिद्र होते हैं, इनमें प्राणियों की प्रतिलेखना करना कठिन होता है इसलिए पलंग आदि पर बैठना या सोना वर्जित है।[१]

१. दश ६/५३-५५।

२. गृहस्थ के घर में बैठने से निम्न दोष उत्पन्न होते हैं—आचार का विनाश, अवध काल में प्राणियों का वध क्योंकि साधु को घर में बैठा हुआ देखकर गृहस्थ जल्दी-जल्दी खाना बनाता है, भिक्षाचरों के अंतराय, गृहस्थों के मन में अप्रीति, ब्रह्मचर्य की असुरक्षा तथा स्त्री के प्रति शंका उत्पन्न होती है।[१] दशवैकालिक सूत्र के अनुसार तीन प्रकार के व्यक्ति भिक्षा के समय गृहस्थ के घर बैठ सकते हैं—वृद्ध, रोगी और तपस्वी।[२]

१. दश ६/५७, ५८। २. दश ६/५९।

३. स्नान की अभिलाषा रखने वाला साधु आचार का उल्लंघन करता है तथा संयम से च्युत हो जाता है। अप्रासुक जल से स्नान करने पर भी पोली भूमि में उसे डालने से प्राणियों की हिंसा होती है।[१]

१. दश ६/६०, ६१।

४. विभूषा करने वाला भिक्षु सघन कर्मों का बंधन करता है और दुस्तर संसार-सागर में भ्रमण करता रहता है। विभूषा की इच्छा रखना भी चिकने कर्मों के बन्धन का कारण तथा सावद्य बहुल है।[१]

१. दश ६/६५, ६६।

५. प्रतिसेवना जीव का परिणाम है। वह परिणाम कुशल और अकुशल—दोनों प्रकार का हो सकता है। कुशल परिणाम से की गई कल्प प्रतिसेवना तथा अकुशल परिणाम से की गई दर्प प्रतिसेवना[१] कहलाती है।[२] दर्प प्रतिसेवना राग-द्वेष के वशीभूत होकर निष्कारण की जाती है, कल्प प्रतिसेवना में उसका अभाव होता है।[३] प्राणातिपात आदि से सम्बन्धित मूलगुण प्रतिसेवना तथा पिण्डविशोधि आदि से सम्बन्धित उत्तरगुण विषयक प्रतिसेवना कहलाती है। निशीथ भाष्य में मिश्र प्रतिसेवना का भी उल्लेख मिलता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि ज्ञान आदि का प्रशस्त आलम्बन लेकर जो सावद्य आचरण करता है, किन्तु उसका पश्चात्ताप नहीं करता, वह मिश्र प्रतिसेवना है। इसमें सालम्बन पद शुद्ध तथा अननुतापी पद अशुद्ध है। इसी प्रकार प्रमाद से जो प्रतिसेवना की जाती है, वह अशुद्ध और उसका अनुताप करना शुद्ध है। इस प्रकार पश्चात्ताप युक्त प्रमाद प्रतिसेवना भी मिश्र प्रतिसेवना है। इसके दश भेद हैं[४]—१. दर्प—निष्कारण प्रतिसेवना करना। २. प्रमाद—प्रमाद के कारण प्रतिसेवना करना। ३. आतुर—ग्लान अवस्था में क्षुधा आदि से आतुर होने पर की जाने वाली प्रतिसेवना। ४. आपत्ति—आपत्ति की स्थिति में शुद्ध द्रव्य न मिलने पर की जाने वाली प्रतिसेवना। ५. तितिण—पदार्थ की अप्राप्ति पर तिनतिनाहट करके की जाने वाली प्रतिसेवना। ६. सहसाकार—सहसा अयतना से होने वाली प्रतिसेवना। ७. भय—राजा के भय से अथवा सिंह आदि के भय से अकल्प्य कार्य करना। ८. प्रद्वेष—कषाय के वशीभूत होकर की जाने वाली प्रतिसेवना। ९. विमर्श—परीक्षा के निमित्त की जाने वाली प्रतिसेवना। ठाणं में ये प्रतिसेवना के भेद हैं, वहां एक दो नामों में तथा क्रम में अंतर है—दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर, आपत्ति, शंकित, सहसाकरण, भय, प्रद्वेष, विमर्श। ठाणं सूत्र (१०/६९) में दश प्रतिसेवनाओं में कल्पिका प्रतिसेवना का उल्लेख नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अनाभोग और सहसाकरण कल्पिका प्रतिसेवना के वाचक होने चाहिए क्योंकि अनाभोग में प्रमाद नहीं अपितु उपयोग शून्यता की स्थिति है तथा सहसाकरण में उपयुक्तता होने पर भी शारीरिक स्थिति नियंत्रित न होने के कारण हिंसा आदि का समाचरण हो जाता है।

१. दर्प प्रतिसेवना हेतु देखें ५८९-६०० तक की गाथाओं का अनुवाद।
२. व्यभा ३९ ; कुसलेण होति कप्पो, अकुसलपरिणामतो दप्पो।
३. निभा ३६३ ; रागद्दोसाणुगता तु, दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
४. निभा ४७७।

के आसेवन का कथन इस प्रकार कहूंगा।

५८९. १. दर्प अर्थात् निष्कारण धावन आदि करना २. अकल्प्य का उपभोग ३. निरालम्ब प्रतिसेवना ४. चियत्त–बिना प्रयोजन अकृत्य की प्रतिसेवना ५. अप्रशस्त बल, वर्ण आदि के निमित्त प्रतिसेवना ६. विश्वस्त और निर्भय होकर प्राणातिपात आदि की प्रतिसेवना ७. अपरीक्ष्य—युक्तायुक्त के विवेक से विकल होकर की जाने वाली प्रतिसेवना ८. अकृतयोगी–अगीतार्थ ९. अननुतापी १०. निःशंक–इहलोक और परलोक की शंका से रहित।

५९०. निष्कारण व्यायाम[1], वल्गन—कूदना आदि तथा निष्कारण धावन आदि करना दर्प प्रतिसेवना है। षट्काय के जीव अपरिणत–पूर्ण अचित्त न हुए हों, उसे ग्रहण करना तथा अगीतार्थ के द्वारा लाए गए अकल्प्य आहार का भोग अकल्प्य प्रतिसेवना है।

५९१. विषम गर्त में गिरा हुआ व्यक्ति जैसे लता–वितान का सहारा लेकर बाहर आ जाता है, वैसे ही संसार रूपी गर्त में गिरा हुआ व्यक्ति ज्ञान का आलम्बन लेकर मोक्षतट को प्राप्त कर लेता है।

५९२. यदि मैं अपवाद पद का आसेवन नहीं करूंगा तो ज्ञान आदि की वृद्धि नहीं होगी अतः ज्ञान आदि के संधान हेतु जो अपवाद सेवन किया जाता है, वह सालम्ब-प्रतिसेवना है।

५९३. ज्ञान आदि आलम्बन के बिना दोष सेवन करना अथवा अप्रशस्त आलम्बन से दोष सेवन करना, जैसे—अमुक व्यक्ति ने दोष का सेवन किया है फिर मैं भी सेवन करूं तो क्या दोष है, यह निरालम्ब प्रतिसेवना है।

५९४. असाध्य रोग आदि की स्थिति में जिस अपवाद का सेवन किया, स्वस्थ होने पर भी उसी का सेवन करने वाला त्यक्तकृत्य कहलाता है, यह त्यक्त प्रतिसेवना है।

५९५. प्रासुकभोजी मुनि भी यदि बल, वर्ण और रूप के लिए खाता है तो वह भी अप्रशस्त है, फिर जो बल, वर्ण, रूप आदि के लिए अशुद्ध भोजन का सेवन करते हैं, उनका तो कहना ही क्या? (यह पांचवीं अप्रशस्त दर्प प्रतिसेवना है।)

५९६. जो कार्य लोक और लोकोत्तर में विरुद्ध है, ऐसे अकृत्य का सेवन करते हुए भी जो स्वपक्ष—श्रावक तथा परपक्ष–मिथ्यादृष्टि से लज्जित नहीं होता, यह छठी विश्वस्त प्रतिसेवना है।

५९७. लाभ और हानि का विमर्श किए बिना प्रतिसेवना करना अपरीक्ष्य दर्प प्रतिसेवना है। त्रिगुण योग[2] को नहीं करके अपवाद पद का सेवन करने वाला अकृतयोगी होता है।

---

१. लाठी घुमाना तथा पत्थर आदि फेंकना व्यायाम है।[1]

१. निचू १ पृ. १५७ ; वायामो जहा लगुडिभमाडणं, उवलयकड्डणं।

२. निशीथ चूर्णिकार ने त्रिगुण योग की व्याख्या प्रस्तुत की है। असंथरण की स्थिति में तीन बार एषणीय की अन्वेषणा करने पर भी यदि एषणीय की प्राप्ति न हो तो चौथी बार अनेषणीय ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार के त्रिगुण योग को न करके दूसरी बार में अनेषणीय को ग्रहण करके अपवादपद का सेवन करने वाला अकृतयोगी होता है।[1]

१. निचू १ पृ. १५९ ; असंथरातीसु तिण्णिवारा एसणियं अण्णेसिउं जता ततियवाराए वि ण लब्भति तदा चउत्थपरिवाडीए अणेसणियं घेत्तव्वं। एवं तिगुणं जोगमकाऊण'''', बितियवाराए चेव अणेसणीयं गेण्हति जो सो अकडजोगी भण्णति।

५९८. द्वितीय पद (अपवाद स्थिति) में जो दूसरों को परितापित करके बाद में पश्चात्ताप नहीं करता, वह अननुतापी होता है। फिर दर्प से प्रतिसेवना का सेवन करने वाले का तो कहना ही क्या है? (यह नवीं अननुतापी दर्प प्रतिसेवना है।)

५९९. शंका दो प्रकार की होती है—१. करण—क्रिया आदि करते हुए आशंकित होना। २. भय—दोष के प्रति उद्वेग। अकरणीय करते हुए इहलोक और परलोक कहीं से भी भय या शंका नहीं करना, निःशंक नामक दसवीं दर्प प्रतिसेवना है।

६००. यह दर्प सम्बन्धी दशविध प्रतिसेवना संक्षेप में कही गई है। अब कल्प सम्बन्धी चौबीस प्रकार की प्रतिसेवना कहूंगा।[1]

६०१, ६०२. कल्पिका[2] प्रतिसेवना के २४ भेद इस प्रकार हैं—१. दर्शन २. ज्ञान ३. चारित्र ४. तप ५. प्रवचन ६. समिति ७. गुप्ति ८. साधर्मिक वात्सल्य ९. कुल १०. गण ११. संघ १२. आचार्य १३. असह—असमर्थ १४. ग्लान १५. बाल १६. वृद्ध १७. उदक-प्लावन १८. अग्नि—दावाग्नि १९. चोर २०. श्वापद २१. भय २२. कान्तार २३. आपदा और २४. व्यसन—मद्यपान आदि। इनके लिए की जाने वाली प्रतिसेवना कल्प प्रतिसेवना है।

६०३. दर्शन प्रभावक शास्त्रों के ग्रहण हेतु प्रयोजनवश जो प्रतिसेवना की जाती है, वह दर्शन प्रतिसेवना[3] है। सूत्र और अर्थ को धारण करने में समर्थ न होने पर असंथरण की स्थिति में ज्ञान से सम्बन्धित जो आसेवना होती है, वह शुद्ध है।

६०४. चारित्र के अन्तर्गत जिस क्षेत्र में एषणा के दोष और स्त्री सम्बन्धी दोष हों, अनिर्वाह की स्थिति में वहां विहरण करते हुए जो प्रतिसेवना होती है, वह शुद्ध है।

६०५. 'आगे तप करूंगा' यह सोचकर घृत आदि का सेवन करना तथा विकृष्ट तप के पारणे में दोषसहित

---

१. निशीथ भाष्य में दर्प और कल्प के अतिरिक्त मिश्र प्रतिसेवना के भी १० भेदों का विस्तार प्राप्त है, देखें निभा ४७५-८३।

२. कल्पिका प्रतिसेवना के बारे में निशीथ भाष्य में व्याख्या मिलती है। भाष्यकार कहते हैं कि कारण उपस्थित होने पर कल्प प्रतिसेवना की अनुज्ञा है फिर भी सावद्य होने के कारण निश्चय नय से वह अकरणीय ही है। कारण उपस्थित होने पर भी भलीभांति लाभ-हानि का चिन्तन करने के पश्चात् अकरणीय प्रतिसेवना में प्रवृत्त होना चाहिए।[1] भाष्यकार कहते हैं कि कल्पिका प्रतिसेवना अनुज्ञात है, फिर भी इसका वर्जन करने में आज्ञाभंग आदि दोष नहीं हैं। कल्प प्रतिसेवना न करने से दृढ़धर्मिता, बार-बार दोष-सेवन न होना तथा जीवों के प्रति करुणा आदि गुण प्रकट होते है अतः कल्पिका प्रतिसेवना का प्रयोग भी सहसा नहीं करना चाहिए।

१. निभा ४५९, ४६० चू पृ. १५५, १५६ ;

**कारण पडिसेवा वि य, सावज्जा णिच्छए अकरणिज्जा। बहुसो विचारइत्ता, अधारणिज्जेसु अत्थेसु।।**
**जति वि य समणुण्णाता, तह वि य दोसो ण वज्जणे दिट्ठो। दढधम्मता हु एवं, णाभिक्खणिसेवणिहयता।।**

३. निशीथ चूर्णि के अनुसार सिद्धि विनिश्चय तथा सन्मतितर्कप्रकरण आदि दर्शनप्रभावक ग्रंथ हैं। इनको ग्रहण करने हेतु यतनापूर्वक प्रतिसेवना करता हुआ मुनि शुद्ध होता है, प्रायश्चित्त का भागी नहीं होता।[1]

१. निचू १ पृ. १६२।

लागतरण[1]—चावलों की पेया आदि का सेवन करना तप हेतुक प्रतिसेवना है। प्रवचन की प्रभावना या उसके हित के लिए गृहस्थ आदि को अभिवादन[2] करता हुआ मुनि शुद्ध होता है, जैसे–विष्णु मुनि की विकुर्वणा।[3]

**६०६.** मैं ईर्या की शुद्धि नहीं कर सकूंगा इसलिए ईर्या-शोधन के लिए आंख के उपचार हेतु क्रिया[4] करना ईर्या समिति हेतुक कल्पिका प्रतिसेवना है।[5] क्षिप्त चित्त होने पर भाषा से सम्बन्धित प्रलाप के प्रशमन हेतु औषधपान करना द्वितीय—भाषा समिति हेतुक प्रतिसेवना है। तृतीय समिति की प्रतिसेवना इस प्रकार है—

**६०७.** रास्ते में अशिव आदि कारणों से अनेषणीय और शंकित आदि आहार यतनापूर्वक ग्रहण करने वाला शुद्ध होता है।

**६०८.** कम्पमान हाथ (कम्पन वात से पीड़ित) वाला मुनि उपकरणों का ग्रहण तथा प्रमार्जन आदि अन्यथा रूप से करता है, उसके लिए औषध आदि करता हुआ मुनि शुद्ध होता है। (यह आदान-निक्षेप समिति हेतुक प्रतिसेवना है।)

**६०९.** पंचमी समिति में कायिकी भूमि का संधान आदि से सम्बन्धित आरम्भ करता हुआ मुनि शुद्ध होता है। मन से अगुप्त होने पर विकट—मद्यपान करता हुआ मुनि शुद्ध होता है। इसी प्रकार वचन गुप्त तथा क्षिप्तचित्त और दृप्तचित्त होने पर प्रतिसेवना करना जानना चाहिए। (यह गुप्ति हेतुक कल्पिका प्रतिसेवना है।)

**६१०.** साधर्मिक वात्सल्य के लिए प्रतिसेवना करना, जैसे आर्य वज्र[6] ने असित मुंड का उद्धार किया था। कुल, गण और संघ के लिए राजा आदि को अभिचारक[7] मंत्र से वशीकृत करता हुआ मुनि शुद्ध होता है।

---

१. लाया का अर्थ है—चावलों की खील। उसको भट्टी में भूंजकर जो पेया तैयार की जाती है, वह लागतरण कहलाती है।[1]

**१. जीचूवि पृ. ३४ ; लाया नाम वीहिया भुज्जिया भट्टे ताण तंदुलेसु पेया कज्जइ, तं लायातरणं भन्नइ।**

२. मूल पाठ में कथा का संकेत नहीं है लेकिन निशीथ चूर्णि (भा १ पृ. १६३) में इस प्रसंग में कथा का संकेत है। कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १६ तथा राजेन्द्र अभिधान कोश भा. ५ पृ. ८८६, ८८७।

३. विष्णु मुनि ने प्रवचन की प्रभावना हेतु रुष्ट होकर एक लाख योजन प्रमाण शरीर की विकुर्वणा की तथा एक पैर से लवण समुद्र का आलोड़न किया।[1] विशेषावश्यक भाष्य और उसकी चूर्णि में ५०० आदेशों का उल्लेख है, जिनका वर्णन अंग और उपांग में नहीं मिलता। वहां विष्णु मुनि की विकुर्वणा को ५०० आदेशों के अंतर्गत माना है। वहां एक लाख योजन से अधिक विकुर्वणा की, ऐसा उल्लेख है।[2]

**१. निभा ४८७ चू पृ. १६२; जहा विण्हु अणगारो, तेण रुसिएण लक्खजोयणप्पमाणं विगुव्वियं रूवं, लवणो किल आलोडिओ चरणेण तेण।**

**२. विभा ३३५७ महेटी पृ. ६४०।**

४. *क्रिया का अर्थ है—वैद्य के कथनानुसार औषध लेना।*[1]

**१. निचू १ पृ. १६३ ; क्रिया नाम वैद्योपदेशाद् औषधपानम्।**

५. ग्रंथकार ने समिति के अन्तर्गत पांचों समितियों के उदाहरण दिए हैं।

६. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १७।

७. *अभिचारक का अर्थ है—वशीकरण या उच्चाटन आदि करना।*[1]

**१. निचू १ पृ. १६३ ; अभिचारकं णाम वसीकरणं उच्चाटणं वा।**

६११. आचार्य, असमर्थ, रुग्ण, बाल और वृद्ध को जैसे समाधि हो, वैसी पंचक यतना[1] से वस्तु की याचना करके देता हुआ मुनि शुद्ध होता है।

६१२. प्रयोजन होने पर असहिष्णु राजा[2] आदि को दीक्षित करना शुद्ध है, जैसे—कारणवश आर्यवज्र[3] को दीक्षित किया गया। कारण होने पर वृद्ध भी दीक्षित होता है, जैसे आर्यरक्षित[4] ने वृद्ध पिता को दीक्षित किया।

६१३. उदग-प्लावन, अग्नि, चोर, श्वापद आदि भयों में स्तम्भनी विद्या का प्रयोग, पलायन तथा वृक्ष पर आरोहण करना कल्प प्रतिसेवना है। कान्तार में भक्तपान का अभाव होने से प्रलम्ब फल आदि का सेवन करना कान्तार हेतुक प्रतिसेवना है। आपत्ति में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि चार प्रकार की आपदाएं जाननी चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी आपदा में शुद्ध द्रव्य प्राप्त न होने पर की जाने वाली प्रतिसेवना।

६१४. कोई मद्यपान का व्यसनी गायक दीक्षित हो जाए तो वह गीतव्यसनी मुनि यतनापूर्वक मदिरा को ग्रहण करके गाता हुआ शुद्ध होता है। (यह व्यसन सम्बन्धी कल्पिका प्रतिसेवना है।)

६१५. चौबीस कल्पविषयक किसी प्रयोजन के उपस्थित होने पर आगाढ़ ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सालम्ब प्रतिसेवी कदाचित् प्रशस्त प्रयोजन सम्पन्न करने में समर्थ हो सकता, यह कल्पिका प्रतिसेवना है।

६१६. यह चौबीस प्रकार की कल्पिका प्रतिसेवना कही गई। अब मैं संक्षेप में इनकी चारणा के बारे में कहूंगा।

६१७. दर्प और कल्प प्रतिसेवना को स्थापित करके दर्प प्रतिसेवना के दश पद तथा कल्प प्रतिसेवना के चौबीस पदों को यथास्थान उन-उन विभागों के नीचे स्थापित करना चाहिए। तत्पश्चात् उन दस और चौबीस पदों के नीचे अठारह पदों (व्रतषट्क) आदि की स्थापना करनी चाहिए।

६१८, ६१९. प्रथम कार्य अर्थात् दर्प प्रतिसेवना, प्रथम पद अर्थात् निष्कारण दर्प (दशविध दर्प प्रतिसेवना का प्रथम भेद) से तथा प्रथम षट्क के अन्तर्गत प्रथम स्थान प्राणातिपात का आसेवन किया हो। इसी प्रकार

---

१. आचार्य आदि के लिए आहार-पानी का लाभ न होने पर पांच दिनों के प्रायश्चित्त-स्थान का आसेवन करके उनकी प्राप्ति करना। यदि इतने पर भी लाभ न हो तो दस दिन का यावत् चार गुरुमास के प्रायश्चित्त का आसेवन करके उनकी उपलब्धि करना।

२. निशीथ चूर्णि के अनुसार राजा, युवराज, श्रेष्ठी, अमात्य और पुरोहित—ये सब असहिष्णु होते हैं क्योंकि ये अंत-प्रान्त आदि खाने के अभ्यस्त नहीं होते।[1]

१. निभा ४९१ चू १ पृ. १६४; णिवो राया आदिसद्दातो जुवराय-सेट्ठि-अमच्च-पुरोहिया य एते असहू पुरिसा भण्णंति। .....अंतः-पंतादीहिं अभावितत्वात्।

३. आर्य वज्र बहुत छोटी अवस्था में दीक्षित हो गए थे। उस अवस्था में वे मुनिचर्या के अनेक कार्य करने में असमर्थ थे। कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १८।

४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १९।

दूसरे स्थान से यावत् छठे व्रत–रात्रिभोजन विरमण पर्यन्त सभी स्थानों का आसेवन किया हो तो मुनि उसकी आलोचना करे।

**६२०, ६२१.** प्रथम कार्य अर्थात् दर्प प्रतिसेवना, प्रथम पद अर्थात् निष्कारण दर्प से द्वितीय षट्क (काय षट्क) के अन्तर्गत प्रथम स्थान पृथ्वीकाय आदि की विराधना की हो। इसी प्रकार दूसरे स्थान अप्काय आदि से लेकर त्रसकाय आदि पदों में जानना चाहिए।

**६२२, ६२३.** प्रथम कार्य अर्थात् दर्प प्रतिसेवना, प्रथम पद अर्थात् निष्कारण दर्प से तृतीय षट्क (अकल्प्य,गृहिभाजन, पल्यंक, निषद्या, स्नान और विभूषा) के अन्तर्गत प्रथम स्थान अकल्प्य पिंड ग्रहण आदि का आसेवन किया हो, इसी प्रकार दूसरे स्थान गृहिभाजन यावत् विभूषा पर्यन्त सभी स्थानों का आसेवन किया हो तो उसकी आलोचना करे।[1]

**६२४.** प्रथमपद अर्थात् दर्प प्रतिसेवना को नहीं छोड़ता हुआ दूसरे अकल्प्य उपभोग से लेकर दसवीं नि:शंक आदि को प्रथम षट्क आदि १८ स्थानों में पुन: पुन: संचरित करना चाहिए।

**६२५.** दर्प प्रतिसेवना में दर्प आदि दश पदों में अठारह स्थानों का संचरण करना चाहिए। दर्प प्रतिसेवना के १० भेदों से अठारह पदों का गुणा करने पर १८० गाथाएं होती हैं।

**६२६.** इसी प्रकार दूसरी कल्पप्रतिसेवना के दर्शन आदि २४ पदों का १८ से गुणा करने पर ४३२ गाथाएं होती हैं।

**६२७.** द्वितीय कार्य अर्थात् कल्प प्रतिसेवना प्रथम पद अर्थात् दर्शन से सम्बन्धित प्रथम षट्क (प्राणातिपात आदि) के प्रथम षट्क (प्राणातिपात आदि) का आसेवन किया हो तो मुनि उसकी आलोचना करे।

**६२८.** द्वितीय कार्य अर्थात् सकारण कल्प प्रतिसेवना, द्वितीय पद अर्थात् ज्ञान द्वितीय अभिलाप से (प्रथम कार्य एवं प्रथम पद की भांति) सारी गाथाएं कहनी चाहिए।

**६२९.** प्रथम स्थान है दर्प प्रतिसेवना। दर्प में भी प्रथम अर्थात् निष्कारण धावन आदि, प्रथम षट्क का अर्थ है—छह व्रत। उनमें भी प्रथम है प्राणातिपात।

**६३०.** इसी प्रकार मृषावाद, अदत्त, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन के बारे में जानना चाहिए। द्वितीय षट्क में पृथ्वीकाय आदि षट्काय तथा तृतीय षट्क में (अकल्प, गृहिभाजन, पर्यंक, निषद्या, स्नान और विभूषा) का समावेश होता है।

**६३१.** इस प्रकार दर्प पद में अठारह पदों की चारिका तथा दूसरी अकल्प्य प्रतिसेवना आदि के सभी भेदों के साथ भी अठारह पदों की योजना होती है।

---

१. प्रथम कार्य का अर्थ है—दर्प प्रतिसेवना तथा द्वितीय कार्य का तात्पर्य है—कल्प प्रतिसेवना। प्रथम, द्वितीय आदि पद से दर्प प्रतिसेवना के दश भेद तथा कल्प प्रतिसेवना के २४ भेद जानने चाहिए। दोष-सेवन के तीन षट्क हैं—प्रथम षट्क—प्राणातिपात विरमण से रात्रिभोजन विरमण तक, द्वितीय षट्क—पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकाय, तृतीय षट्क—अंतिम छह स्थान (अकल्प, गृहिपात्र, पर्यंक, निषद्या, स्नान और विभूषा।)

६३२. दूसरा कार्य है—कल्प प्रतिसेवना अर्थात् सकारण, उसका प्रथम पद है—दर्शन के निमित्त, प्रथम षट्क है प्राणातिपात आदि तथा उसमें भी प्रथम है प्राणवध।

६३३. दर्शनपद को नहीं छोड़ते हुए पूर्वक्रम के अनुसार अठारह स्थानों को संचरित करना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान आदि प्रत्येक पद के साथ भी इन अठारह स्थानों का संचरण होता है।

६३४. कल्प प्रतिसेवना के चौबीस भेदों के साथ इन अठारह पदों का तथा दर्प के दश भेदों के साथ भी इन अठारह पदों का संचरण करने पर होने वाली संख्या को जानना चाहिए।

६३५. दर्प से १८० तथा कल्प से ४३२ गाथाएं होती हैं। इन दोनों को जोड़ने पर ६१२ गाथाएं होती हैं।

६३६. (वह आने वाला मुनि) आलोचना करने वाले की प्रतिसेवना और आलोचना की क्रमविधि को सुनकर, उसका अवधारण कर, प्रतिसेवक का आगमज्ञान, पुरुषजात अर्थात् वह अष्टम तप से भावित है या नहीं, उसकी व्रतपर्याय और वय-पर्याय, बल—शारीरिक सामर्थ्य और क्षेत्र कैसा है, इन सबकी अवधारणा करके आलोचना देने वाले अपने आचार्य के पास प्रस्थित होता है।

६३७. अपने देश में जाकर वह मुनि आलोचना करने योग्य सब बातों को आचार्य को बताता है, साथ ही आलोचना करने वाले मुनि की पर्याय, बल और क्षेत्र आदि के बारे में भी बताता है।

६३८. वह व्यवहार विधिज्ञ आचार्य गूढ़ पद से आलोचित अतिचार को अनुमान से जानकर श्रुतोपदेश के अनुसार प्रायश्चित्त निर्धारित करके उसी शिष्य को आज्ञा देते हैं कि तुम जाकर उनको यह प्रायश्चित्त दो।

६३९. प्रथम दर्प लक्षण वाले कार्य सम्बन्धी दशविध आलोचना को सुनकर आलोचनाचार्य यह निर्धारित करते हैं कि तुम्हारी आलोचना नक्षत्र[1]—मास प्रायश्चित्त विषयक है अतः शुक्ल[2] अर्थात् उद्घात मास (लघुमास) में पणग पांच दिन का तप करो।

६४०. प्रथम दर्प लक्षण वाले कार्य सम्बन्धी दशविध आलोचना को सुनकर आलोचनाचार्य यह निर्धारित

---

१. यहां नक्षत्र शब्द मास अर्थ का सूचक है। इसका तात्पर्य है कि एक मास जितना प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ है।[1] जीतकल्पचूर्णि की विषमपद व्याख्या में नक्षत्र शब्द की व्याख्या में अन्य आचार्य का मत प्रस्तुत किया है—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा—इन पंचविध ज्योतिष्चक्र में चौथा स्थान नक्षत्र का है अतः यहां तात्पर्य है कि चौथे ब्रह्मचर्य व्रत में पीड़ा—अतिचार का सेवन हुआ है। कुछ आचार्य मानते हैं कि नक्षत्र शब्द से मूलगुण में विराधना का संकेत है।[2]

**१. व्यभा ४४९० मटी. प. ८७; नक्षत्रशब्देनात्र मासः सूचितः, मासे मासप्रमेयप्रायश्चित्तविषयो भवतः।**

**२. जीचूवि पृ. ३६; नक्षत्रे कोऽर्थः—चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकभेदतः पंचविधज्योतिश्चक्रमध्ये नक्षत्रभेदश्चतुर्थस्थानी। अतस्तेन चतुर्थव्रतगोचरा पीडा सूच्यते—इत्येके व्याचक्षते।**

२. यहां शुक्ल शब्द पारिभाषिक है, इसका अर्थ उद्घात मास—लघुमास है तथा कृष्ण का अर्थ अनुद्घात—गुरुमास है।[1] चूर्णि की विषमपद व्याख्या के अनुसार शुक्लमास शब्द से उत्तर गुण की विराधना निर्दिष्ट है तथा कृष्णमास शब्द से मूलगुण की विराधना गृहीत है।[2]

**१. व्यभा ४४९० मटी. प. ८७; शुक्लेति सांकेतिकी संज्ञेति उद्घातं मासं तपः कुर्यात्।**

**२. जीचूवि पृ. ३६।**

करते हैं कि तुम्हारी आलोचना नक्षत्र—मास प्रायश्चित्त विषयक है अतः शुक्ल[1] अर्थात् उद्घात मास में दश दिन का तप करना चाहिए।

६४१. प्रथम दर्प लक्षण वाले कार्य सम्बन्धी दशविध आलोचना को सुनकर आलोचनाचार्य यह निर्धारित करते हैं कि तुम्हारी आलोचना नक्षत्र अर्थात् मास प्रायश्चित्त विषयक है अतः उद्घातमास के अन्तर्गत पाक्षिक तप करना चाहिए।

६४२. प्रथम दर्प लक्षण वाले कार्य सम्बन्धी दशविध आलोचना को सुनकर आलोचनाचार्य यह निर्धारित करते हैं कि तुम्हारी आलोचना नक्षत्र—मास प्रायश्चित्त विषयक है अतः उद्घातमास के अन्तर्गत २० दिन का तप करना चाहिए।

६४३. प्रथम दर्प लक्षण वाले कार्य सम्बन्धी दशविध आलोचना को सुनकर आलोचनाचार्य यह निर्धारित करते हैं कि तुम्हारी आलोचना नक्षत्र—मास प्रायश्चित्त विषयक है अतः उद्घातमास के अन्तर्गत २५ दिन का तप करना चाहिए।

६४४. इस प्रकार उद्घात[2] की गाथाओं की भांति अनुद्घात—लघुमास की गाथाओं को जानना चाहिए। अंतर केवल इतना है कि शुक्ल पंचक के स्थान पर कृष्ण पंचक आदि आलापक वक्तव्य हैं।

६४५. प्रथम दर्प लक्षण वाले कार्य सम्बन्धी दशविध प्रतिसेवना की आलोचना को सुनकर आचार्य प्रायश्चित्त स्वरूप कहे कि तुम्हें नक्षत्र—मास जितने तप का प्रायश्चित्त है। यदि तीनों षट्कों में विराधना हुई हो तो शुक्ल अर्थात् लघु चातुर्मासिक तप करना चाहिए।

६४६. प्रथम कार्य अर्थात् दर्प से हुई दशविध प्रतिसेवना की आलोचना सुनकर आलोचनाचार्य प्रायश्चित्त स्वरूप यह निर्धारित करते हैं कि तुम्हें नक्षत्र—मास जितने तप का प्रायश्चित्त है। यदि तीनों षट्कों में विराधना हुई है तो कृष्ण[3] अर्थात् चार गुरुमास का तप करना चाहिए।

६४७. प्रथम कार्य अर्थात् दर्प से हुई दशविध प्रतिसेवना को सुनकर आलोचनाचार्य प्रायश्चित्त स्वरूप यह निर्धारित करते हैं कि तुम्हें नक्षत्र—मास का प्रायश्चित्त है। यदि तीनों षट्कों में विराधना हुई है तो तुम्हें छह लघुमास का तप करना चाहिए।

६४८. प्रथम कार्य अर्थात् दर्प से हुई दशविध प्रतिसेवना की आलोचना को सुनकर आचार्य प्रायश्चित्त स्वरूप कहे कि तुम्हें नक्षत्र अर्थात् मास का प्रायश्चित्त है। यदि तीनों षट्कों में विराधना हुई हो तो तुम्हें छह गुरुमास का प्रायश्चित्त करना चाहिए।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य की टीका में लघुक, उद्घात और शुक्ल को एकार्थक माना है।[1]

**१. बृभा २९९ टी पृ. ९१ ; लघुकमिति वा उद्घाततमिति वा शुक्लमिति वा लघुकस्य नामानि।**

२. उद्घात का अर्थ लघुमास तथा अनुद्घात का अर्थ गुरुमास है। कृष्णमास से अनुद्घात तथा शुक्ल मास से उद्घात का सम्बन्ध है। उत्तरगुण की विराधना में शुक्लमास तथा मूलगुण की विराधना में कृष्णमास की प्राप्ति होती है।

३. बृभा की टीका में गुरुक, अनुद्घात तथा कालक (कृष्ण) को एकार्थक माना है।[1]

**१. बृभा २९९ टी पृ. ९१ ; गुरुकमिति वा अनुद्घातीति वा कालकमिति वा गुरुकस्य नामानि।**

६४९. यदि प्रतिसेवक को छेद[1] प्रायश्चित्त प्राप्त हो तो (सांकेतिक रूप में) कहे कि भाजन का छेदन कर दो। यदि मूल प्रायश्चित्त प्राप्त हो तो कहे कि आचार्य के मूल—पास जाकर प्रायश्चित्त लो। यदि अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त हो तो कहे कि गच्छ में अव्यापृत होकर रहो। यदि पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त हो तो कहे कि अद्वितीय-एकाकी होकर विचरण करो।

६५०. पांच दिन से लेकर छह माह आदि का छेद आने पर भाजन के छेद का माप कहा जाता है।[2] साधु के मूल—पास में जाने का कहने पर मूल प्रायश्चित्त तथा पहले का सारा छोड़ने का तात्पर्य है—अनवस्थाप्य। पाराञ्चित प्रायश्चित्त में पांच आभवद् व्यवहार से सम्बन्ध नहीं रहता।

६५१. लिंग आदि का योग दो प्रकार का जानना चाहिए—जघन्य उत्कृष्ट तथा उत्कृष्ट जघन्य। इसमें साधु पाराञ्चित प्रायश्चित्त अर्थात् अद्वितीय—एकाकी होकर विचरण करे।

६५२. द्वितीय कार्य अर्थात् कल्प प्रतिसेवना से सम्बन्धित चौबीस प्रकार की आलोचना सुनकर आलोचनाचार्य सांकेतिक शब्दों में कहलवाते हैं कि तुमको नमस्कारसहिता—नवकारसी में आयुक्त होना चाहिए।

६५३. इस प्रकार आचार्य के वचनों को धारण करके वहां जाकर वह मुनि आलोचना करने के इच्छुक मुनि को यथोपदिष्ट रूप में प्रायश्चित्त देता है, धीर पुरुषों ने इसे आज्ञाव्यवहार कहा है।

६५४. आज्ञाव्यवहार का यह यथोपदिष्ट यथाक्रम वर्णन किया गया, अब मैं धारणा व्यवहार के बारे में कहूंगा, वत्स! उसे तुम सुनो।

६५५. धारणा व्यवहार[3] के ये एकार्थक हैं—१. उद्धारणा २. विधारणा ३. संधारणा ४. संप्रधारणा।

६५६-५८. प्रबलता से अथवा अर्थ के निकट पहुंचकर छेदसूत्रों में उद्धृत अर्थपदों को धारण करना उद्धारणा है। विविध प्रकार से अर्थपदों को धारण करना विधारणा, सं उपसर्ग एकीभाव अर्थ में तथा धृ धातु

---

१. *महावीर के तीर्थ में अतिचार-विशुद्धि हेतु उत्कृष्ट छह मास के तप का प्रायश्चित्त मिलता है। छह मास के तप* से भी शुद्धि संभव न हो तो छेद आदि प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

२. व्यवहारभाष्य में पणग से लेकर छह माह तक के छेद का प्रायश्चित्त आने पर उसके गूढार्थ का विस्तार से वर्णन किया है। पांच दिन-रात का छेद आने पर आचार्य संदेश भेजे कि अंगुल के छठे भाग जितने भाजन का छेद करो। दस दिन-रात जितना छेद आने पर संदेश भेजे कि अंगुल के तीसरे भाग जितने भाजन का छेद करो। पन्द्रह दिन-रात जितना छेद आने पर कहे कि अंगुल के आधे भाग जितने भाजन का छेद करो। बीस दिन-रात जितना छेद आने पर कहे कि तीन भाग कम अंगुल जितने भाजन का छेद करो। पच्चीस दिन-रात का छेद आने पर कहे कि छह भाग न्यून अंगुल जितने भाजन का छेद करो। एक मास जितना छेद आने पर कहे कि पूर्ण अंगुल जितने भाजन का छेद करो, दो मास जितना छेद आने पर आचार्य कहे कि दो अंगुल जितने भाजन का छेद करो, चार मास जितना छेद आने पर आचार्य कहे कि चार अंगुल जितने भाजन का छेद करो तथा छह मास जितने छेद का प्रायश्चित्त आने पर कहे कि छह अंगुल जितने भाजन का छेद करो।[4]

१. व्यभा ४४९८, ४४९९ मटी. प. ८८।

३. छेदसूत्र के अर्थ को धारण करके जिस व्यवहार का प्रयोग किया जाता है, वह धारणा व्यवहार है।[5]

१: व्यभा ४५०३ मटी. प. ८८; छेदश्रुतार्थावधारणलक्षणया यः सम्यग् ज्ञात्वा व्यवहारः प्रयुज्यते, तं धारणाव्यवहारं धीरपुरुषा ब्रुवते।

धारण—धारण अर्थ में है, उन अर्थपदों को आत्मा के साथ एकीभाव से धारण करना संधारणा है। सम्यक् प्रकार से प्रकर्ष रूप में अर्थ का अवधारण कर व्यवहार का प्रयोग करना संप्रधारणा है।

**६५९.** धारणा व्यवहार का प्रयोग कैसे पुरुष के प्रति करना चाहिए। जिस प्रकार के गुण से युक्त व्यक्ति के प्रति यह प्रयोग किया जाता है, उसे तुम सुनो।

**६६०.** जो पुरुष प्रवचन[1]-यशस्वी, अनुग्रहविशारद[2], तपस्वी, सुश्रुतबहुश्रुत[3] तथा जिसकी वाणी विनय आदि गुणों के परिपाक से विशुद्ध हो, ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति के प्रति धारणा व्यवहार का प्रयोग किया जाता है।

**६६१.** इस प्रकार के गुणों से युक्त व्यक्ति यदि किञ्चित् स्खलना करते हैं तो धीरपुरुष प्रथम तीन व्यवहारों के न होने पर सूत्र के अर्थपदों को धारण करते हुए यथार्ह प्रायश्चित्त देते हैं।

**६६२, ६६३.** प्रथम तीन व्यवहारों के अभाव होने पर भी सूत्रार्थ को धारण करके, देश और काल की अपेक्षा से विमर्श करके तथा पुरुष के अपराध पर सभी अपेक्षाओं से विचार करके जिसके लिए जो योग्य है, वह प्रायश्चित्त उसे देते हैं। वे किस आधार पर प्रायश्चित्त देते हैं, उसे तुम सुनो।

**६६४.** जिस आचार्य या मुनि ने आलीन, प्रलीन, यतनाशील और दान्त धीरपुरुषों से अनुयोग-विधि से सूत्रार्थ को धारण किया है, वह यह प्रायश्चित्त देता है।

**६६५-६७.** ज्ञान आदि में सम्पूर्ण रूप से लीन आलीन कहलाता है। प्रत्येक पद में लीन होने वाला प्रलीन होता है अथवा जिसका क्रोध आदि नष्ट हो गया हो, वह प्रलीन कहलाता है। यतनायुक्त—सूत्र के अनुसार प्रयत्न करने वाला, पापों से उपरत अथवा इंद्रिय और नोइंद्रिय का दमन करने वाला दान्त होता है। इस प्रकार के गुणों से युक्त अर्थ को धारण करने वाले जो पुरुष होते हैं, वे धारणाकुशल आचार्य धारणा व्यवहार का प्रयोग करने के योग्य होते हैं।

**६६८-७०.** अथवा जिस आचार्य ने अतीत में किसी दूसरे को शोधि करते हुए देखा, उसने उसकी धारणा कर ली। वैसा ही कारण उत्पन्न होने पर उसको यदि वह वैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में वैसा ही प्रायश्चित्त नहीं देता तो वह आराधक नहीं होता। उसी प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में उस दोषयुक्त मुनि को वैसा ही प्रायश्चित्त देता है तो वह आराधक होता है।

---

१. यहां प्रवचन का अर्थ द्वादशांगी तथा संघ दोनों है।[1]

१. व्यभा ४५०८ मटी. प. ८९; प्रवचनं द्वादशांगं श्रमणसंघो वा।

२. जो दिए जाने वाले प्रायश्चित्त को अनुग्रह के रूप में स्वीकार करता है, वह अनुग्रहविशारद कहलाता है।[1]

१. व्यभा ४५०८ मटी प. ८९; यो दीयमानं प्रायश्चित्तं दीयमानव्यवहारं त्वनुग्रहं मन्यते सोऽनुग्रहविशारदः।

३. आचार्य मलयगिरि ने व्यवहारभाष्य की टीका में सुश्रुतबहुश्रुत की द्विविध व्याख्या की है—१. बहुत श्रुत को सुनकर भी उसको विस्मृत नहीं करने वाला २. बहुश्रुत होने पर भी प्रायश्चित्तकर्ता आचार्य दूसरे के उपदेश के अनुसार प्रवृत्ति करता है, वह मार्गानुसारी श्रुत से युक्त होने के कारण सुश्रुतबहुश्रुत होता है।[1]

१. व्यभा ४५०८ मटी प. ८९; यस्य बह्वपि श्रुतं न विस्मृतिपथमुपयाति स श्रुतबहुश्रुतः। अथवा बहुश्रुतोऽपि सन् यस्तस्योपदेशेन वर्तते स मार्गानुसारि श्रुतत्वात् सुश्रुतबहुश्रुतः।

६७१. अथवा इन अन्य योग्यताओं से युक्त आचार्य धारणा व्यवहार से व्यवहार का प्रयोग करते हैं।

६७२, ६७३. वैयावृत्त्यकर तथा देशाटन करने वाला शिष्य अपने बुद्धि-दौर्बल्य के कारण अधिक छेदसूत्रार्थ को धारण नहीं कर सकता, वैसी परिस्थिति में आचार्य कुछ उद्धृत अर्थपदों को देते हैं, उन छेदसूत्रों के आंशिक अर्थपदों को धारण करके व्यवहार का सम्पादन किया जाता है, यह धारणा व्यवहार है।

६७४. वत्स! धारणा व्यवहार का मैंने संक्षेप में यथाक्रम से वर्णन किया, अब मैं जीत व्यवहार को यथाक्रम से कहूंगा, उसे तुम सुनो।

६७५. जो व्यवहार आचार्य अथवा बहुश्रुत के द्वारा वृत्त, अनुवृत्त तथा प्रवृत्त हुआ है, वह पांचवां जीतकल्प नामक व्यवहार है।

६७६. जो महापुरुषों के द्वारा एक बार प्रयुक्त होता है, वह वृत्त, दूसरी बार प्रयुक्त होता है, वह अनुवृत्त तथा अनेक बार प्रयुक्त होता है, वह प्रवृत्त होता है।

६७७. बहुश्रुत आचार्यों के द्वारा अनेक बार प्रयोग किये जाने पर जिसका निवारण नहीं होता, वह वृत्तानुवृत्त जीत से प्रामाणिक हो जाता है। (वह जीतव्यवहार से प्रमाणयुक्त है।)

६७८. जो आचार्य आगम, श्रुत, आज्ञा और धारणा व्यवहार से रहित होता है, वह वृत्तअनुवृत्तप्रमाण से जीत व्यवहार द्वारा व्यवहार करता है।

६७९, ६८०. अमुक व्यक्ति के द्वारा अमुक प्रायश्चित्तार्ह कार्य करने पर अमुक आचार्य ने अमुक प्रायश्चित्त का प्रयोग किया, वह वृत्त है। दूसरे अमुक व्यक्ति के द्वारा वैसा ही कार्य करने पर अमुक आचार्य ने उसी व्यवहार का प्रयोग किया, यह अनुवृत्त है। इस वृत्तानुवृत्त जीत व्यवहार का आश्रय लेता हुआ जो यथोक्त व्यवहार का प्रयोग करता है, उसे धीर पुरुषों ने जीत व्यवहार कहा है।

६८१. धीर पुरुषों द्वारा प्रज्ञप्त तथा श्रुतज्ञानी द्वारा प्रशंसनीय यह पांचवां जीतव्यवहार है। प्रियधर्मा तथा पापभीरु पुरुषों द्वारा यह आचीर्ण है।

६८२. जैसे काल आदि का प्रतिक्रमण न करने पर, मुखवस्त्रिका के इधर-उधर हो जाने पर, पानक का प्रत्याख्यान न करने पर निर्विगय प्रायश्चित्त होता है, यह जीत व्यवहार है।

६८३. अनंतकाय वर्जित एकेन्द्रिय प्राणियों (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, प्रत्येक वनस्पति) के घट्टन में निर्विगय, अनागाढ़ परिताप देने में पुरिमार्ध, आगाढ़ परिताप देने में एकाशन तथा उनका अपद्रावण करने में आयम्बिल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

६८४. विकलेन्द्रिय एवं अनंतकाय जीवों के घट्टन में पुरिमार्ध, अनागाढ़ परिताप देने में एकासन, आगाढ़ परिताप देने में आयम्बिल तथा अपद्रावण में उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

६८५. पञ्चेन्द्रिय जीवों के घट्टन में एकासन, अनागाढ़ परिताप देने में आयम्बिल, आगाढ़ परिताप देने में उपवास तथा अपद्रावण में पंचकल्याणक प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**६८६.** यह सारा जीतव्यवहार जानना चाहिए। यह जीतव्यवहार अनवद्य—पापरहित, विशोधिकर तथा संविग्न मुनियों के द्वारा आचीर्ण है।

**६८७.** जो जीतव्यवहार सावद्य है, उस जीत से व्यवहार नहीं होता। जो जीत निरवद्य है, उस जीत से व्यवहार होता है।

**६८८.** (शिष्य प्रश्न पूछता है—) कौन सा जीत सावद्य होता है और कौन सा निरवद्य? किसको सावद्य दिया जाता है और किसको निरवद्य?

**६८९.** अपराधी के शरीर पर राख लगाना, कारागृह में बंदी बनाना, हड्डियों की माला पहनाना तथा पेट के बल पर रेंगने का दण्ड देना[1]—ये सावद्य जीत हैं। दशविध प्रायश्चित्त निरवद्य जीत हैं।

६९०. प्राय: दोष का सेवन करने वाला, निर्द्धंधस—अकृत्यसेवी तथा प्रवचन के प्रति निरपेक्ष—इन दोषों से युक्त साधु को सावद्य जीत का प्रायश्चित्त दिया जाता है।

६९१. संविग्न, प्रियधर्मा, अप्रमत्त, पापभीरु साधु यदि कदाचित् प्रमाद से स्खलना कर ले तो उस साधु को निरवद्य जीत का प्रायश्चित्त दिया जाता है।

६९२. जो जीत अशोधिकर होता है, उस जीत से व्यवहार नहीं होता। जो जीत शोधिकर होता है, उस जीत से व्यवहार होता है।

६९३. जो जीत अशोधिकर है, पार्श्वस्थ तथा प्रमत्त संयतों के द्वारा आचीर्ण है, महान् व्यक्तियों द्वारा आचरित होने पर भी उस जीत से व्यवहार नहीं करना चाहिए।

६९४. संवेगपरायण और दान्त एक भी आचार्य के द्वारा जिस जीत का प्रयोग किया गया हो, उस जीत से व्यवहार करना चाहिए।

६९५. इस प्रकार जो धीर[2] और विद्वान्[3] श्रुतधरों के द्वारा देशित तथा प्रशंसित है, उस यथोपदिष्ट पंचविध व्यवहार का सार मैंने संक्षेप में कहा है।

६९६, ६९७. जिसके मुख में लाख जिह्वाएं हैं, वह भी व्यवहार के सम्पूर्ण अर्थ को विस्तार से कहने में समर्थ नहीं होता किन्तु विद्वानों द्वारा प्रशंसित इस व्यवहार के गुणों का कथन आप लोगों को कहा गया है, यह द्वादशांगी का नवनीत है।

६९८, ६९९. पांचों व्यवहार के रहते हुए किस व्यवहार का प्रयोग करना चाहिए? शिष्य के पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं—आगम व्यवहार[4] का प्रयोग करना चाहिए, उसके अभाव में श्रुत से, श्रुत व्यवहार के

---

१. आचार्य मलयगिरि के अनुसार गाथा में आए 'तु' शब्द से गधे पर बिठाकर पूरे ग्राम में घुमाना आदि भी सम्मिलित है।[1]

१. व्यभा ४५४४ मटी प. ९३ ; तु शब्दत्वात् खरारूढं कृत्वा ग्रामे सर्वतः पर्यटनम्।

२, ३. टीकाकार मलयगिरि ने धीर का अर्थ तीर्थंकर तथा विदु का अर्थ चतुर्दशपूर्वी किया है।[1]

१. व्यभा ४५५० मटी प. ९३।

४. आगमव्यवहारी आगम से व्यवहार करता है, श्रुत से नहीं, इसे भाष्यकार ने एक उदाहरण से समझाया है। दीपक का प्रकाश सूर्य के प्रकाश को विशिष्ट नहीं बनाता अत: बलीयान् के रहने पर कम शक्ति वाले का प्रयोग उचित नहीं होता अत: आगम व्यवहार के उपस्थित होने पर श्रुत से व्यवहार नहीं किया जाता।

अभाव में आज्ञा व्यवहार से व्यवहार करना चाहिए, जो कुछ अंशों में श्रुतव्यवहार के समान है।

७००. आज्ञा व्यवहार के अभाव में धारणा व्यवहार का प्रयोग करना चाहिए, जो श्रुत व्यवहार के एक देश में प्रवर्तित होता है।

७०१. धारणा व्यवहार के पश्चात् जीत का क्रम है। यहां जीतकल्प का प्रसंग है। यह व्यवहार सापेक्ष है, जब तक तीर्थ का अस्तित्व है, तब तक जीतव्यवहार[1] का प्रयोग होता है।

७०२. जीतव्यवहार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष, प्रतिसेवना, धृतिबल, संहनन आदि की अपेक्षा से दिया जाता है।

७०३. शिष्य की जिज्ञासा पर यह सब मैंने प्रसंगानुसार कहा। अब मैं जीव की शोधि के बारे में कहूंगा, जिसे प्राप्त करके वह परम सुसमाहित बन जाता है।

७०४. 'जीव' धातु प्राण-धारण करने के अर्थ में है। आयु आदि प्राण हैं अथवा जो जीता है, जीएगा या जिसने जीया है, वह जीव है।

७०५. जैसे वस्त्र का शोधन पानी आदि से होता है, वैसे ही कर्म-मल से कलुषित जीव की विशोधि प्रायश्चित्त से होती है।

७०६. यह प्रायश्चित्त उत्कृष्ट है। परम और प्रधान—ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। किसकी परम विशोधि है? प्रायश्चित्त करने वाले जीव की।

**२. संवर और निर्जरा मोक्ष के पथ हैं। इनका भी हेतु तप है, तप का प्रधान अंग प्रायश्चित्त है।[2]**

७०७. संवर, घट्टन और पिधान[3]—ये तीनों शब्द एकार्थक हैं। संवर[4] दो प्रकार का होता है—देश संवर और सर्व संवर। इसी प्रकार निर्जरा भी दो प्रकार की होती है। (देश निर्जरा और सर्व निर्जरा)

७०८. आस्रव द्वार का संवरण करने वाला व्यक्ति नए कर्मों का उपार्जन नहीं करता है, पूर्व अर्जित कर्म के क्षपण को निर्जरा जानना चाहिए।

७०९. शैलेशी दशा को प्राप्त अंतिम दो समय में स्थित जीव के सर्व संवर होता है। शेष समय में देश निर्जरा होती है।

---

१. जीतव्यवहार के संदर्भ में व्यवहारभाष्य की टीका में एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जिस समय गौतम-स्वामी ने 'पंचविध व्यवहार' सूत्र की प्ररूपणा की, तब आगम व्यवहार था, उन्होंने श्रुत, आज्ञा आदि व्यवहारों का प्रवर्त्तन क्यों किया? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि सूत्र का विषय अनागत काल भी होता है। भविष्य में चार व्यवहार नहीं रहेंगे अतः जीतव्यवहार का प्रवर्त्तन किया गया। व्यवहार का प्रयोग काल और क्षेत्र सापेक्ष होता है। तीर्थ की अवस्थिति तक जीत व्यवहार रहता है अतः इसका उपदेश पहले ही दे दिया गया है।[1]

**१. व्यभा ३८८५ ; सुत्तमणागयविसयं, खेत्तं कालं च पप्प ववहारो। होहिंति न आइल्ला, जा तित्थं ताव जीतो तु।**

२. जीसू २ में आए 'जं च णाणस्स' पाठ का सम्बन्ध जीसू गा. ३ से है अतः उसका अनुवाद अगली गाथा में देखें।

३. पिधान का प्राकृत में पिहण रूप बन गया है।

४. चूर्णिकार के अनुसार प्राणवध आदि आस्रवों का निरोध संवर है।[1]

**१. दशजिचू पृ. १६२, १६३; संवरो नाम पाणवहादीण आसवाणं निरोहो भण्णइ।**

७१०. संवर और निर्जरा—ये दोनों मोक्ष के कारण हैं। मोक्षपथ, मोक्ष-हेतु और मोक्ष-कारण—ये तीनों एकार्थक हैं।

७११. संवर और निर्जरा—इन दोनों का पथ, हेतु और कारण तप है। तप का प्रधान अंग प्रायश्चित्त जानना चाहिए।

७१२. बारह प्रकार का तप प्रायश्चित्त के दश भेदों में समाविष्ट होता है इसलिए तप का प्रधान अंग प्रायश्चित्त है।

७१३. दूसरी गाथा के पश्चार्द्ध में जो ज्ञान की बात कही है, उसका सार इस तीसरी गाथा में वर्णित है।

**३. ज्ञान का सार चारित्र है, चारित्र का सार निर्वाण[1] है। चारित्र को साधने के लिए मोक्षार्थी व्यक्ति को अवश्य ही प्रायश्चित्त को जानना चाहिए।**

७१४. सामायिक (आचारांग) आदि ग्रंथ से लेकर बिंदुसार पर्यन्त श्रुत ज्ञान का सार चारित्र है। चारित्र का सार निर्वाण है।

७१५. निर्वाण का अनन्तर चारित्र तथा चारित्र का अनन्तर ज्ञान है, ज्ञान की विशुद्धि से चारित्र की विशुद्धि होती है।

७१६. चारित्र की विशुद्धि से शीघ्र ही निर्वाण का फल प्राप्त होता है। वह चारित्रशुद्धि प्रायश्चित्त के अधीन जाननी चाहिए।

७१७. इसलिए सूत्र में प्रायश्चित्त के ये गुण कहे गए हैं। मोक्षार्थी व्यक्ति को ये दश प्रकार के प्रायश्चित्त जानने चाहिए।

**४. दश प्रकार के प्रायश्चित्त हैं—१. आलोचना २. प्रतिक्रमण[2] ३. उभय ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थाप्य १०. पाराञ्चित।**

७१८. आलोचनार्ह का अर्थ है—जो पाप किए हैं, उनको आ-मर्यादा से गुरु के समक्ष प्रकट करना, जिससे कृत पाप की विशोधि हो, यह प्रायश्चित्त का प्रथम भेद है।

---

१. निर्वाण का अनन्तर कारण चारित्र तथा उसका कारण ज्ञान है। चारित्र के लिए ज्ञान अनन्तर कारण है अतः ज्ञान से चारित्र और चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।[4]

**१. जीचू पृ. ५; निव्वाणस्स अणंतरकारणं चरणं, कारणकारणं नाणं। चरणस्स कारणं नाणमणंतरं। नाणाओ चरणं, चरणाओ निव्वाणं ति।**

२. आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के निम्न पर्याय मिलते हैं—प्रतिक्रमण, प्रतिचरण, परिहरण, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शोधि।[1] प्रतिक्रमण का अर्थ है—भूतकाल के सावद्ययोग से निवृत्ति।[2] आवश्यक चूर्णि के अनुसार प्रतिक्रमण का अर्थ है—दोषों का पुनः सेवन न करने का संकल्प तथा उचित प्रायश्चित्त का स्वीकरण[3] अथवा प्रमादवश असंयमस्थान में चले जाने पर पुनः स्वस्थान (संयम में आना) अथवा औदयिकभाव से क्षायोपशमिक भाव में लौटना।[4]

**१. आवनि ८२४ ; पडिकमणं पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य। निंदा गरिहा सोधी, पडिकमणं अट्ठहा होति॥**

**२. विभा ३५७२; पडिक्कमामि त्ति भूयसावज्जओ निवत्तामि।**

**३. आवचू २ पृ. ४८; पडिक्कमामि नाम अपुणक्करणताए अब्भुट्ठेमि अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जामि।**

**४. आवचू २ पृ. ५२।**

७१९. गुरु के समक्ष जिसकी आलोचना नहीं की जाती, मिथ्या दुष्कृत करने मात्र से जो पाप शुद्ध हो जाता है, वह प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त है।

७२०. जिस प्रकार अजानकारी में श्लेष्म आदि बाहर निकलता है, उससे हिंसा आदि दोष लगता है लेकिन उसमें तप रूप प्रायश्चित्त कुछ नहीं मिलता।

७२१. जिस पाप का सेवन करने के पश्चात् उसकी गुरु के पास सम्यक्आलोचना की जाती है, गुरु द्वारा निर्दिष्ट प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे तदुभयार्ह प्रायश्चित्त जानना चाहिए।

७२२. अधिक या कम अकल्प्य आहार ग्रहण करने पर उसका विधिपूर्वक परिष्ठापन किया जाता है, वह विवेकार्ह प्रायश्चित्त है।

७२३. कायिक चेष्टा के निरोध मात्र से जो पाप शुद्ध हो जाता है, वह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त कहलाता है, जैसे दु:स्वप्न आदि का प्रायश्चित्त।

७२४. निर्विगय से लेकर छह मास पर्यन्त तप से जिस पाप की विशुद्धि होती है, वह तपोर्ह प्रायश्चित्त कहलाता है। अब मैं छेदार्ह प्रायश्चित्त के बारे में कहूंगा।

७२५. जिस पाप के प्रतिसेवन से पूर्वपर्याय दूषित होने के कारण शेष पर्याय की रक्षा के लिए उतने पर्याय का छेद कर दिया जाता है, वह छेदार्ह प्रायश्चित्त है।

७२६. जिस पाप का प्रतिसेवन करने पर पूर्व पर्याय का पूर्ण छेद करके पुन: महाव्रतों का आरोपण किया जाता है, वह मूलार्ह प्रायश्चित्त है।

७२७, ७२८. जिस प्रतिसेवना में कुछ काल तक मुनि को पांचों ही मूल व्रतों में अनवस्थाप्य रखा जाता है अर्थात् पुन: दीक्षा नहीं दी जाती फिर तप का आचरण करने के पश्चात् उस दोष से उपरत होने के बाद महाव्रतों की आरोपणा की जाती है, वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है। अब मैं पाराञ्चित प्रायश्चित्त के बारे में कहूंगा।

७२९. 'अञ्चु' धातु गति और पूजा के अर्थ में है। जिस प्रतिसेवना में तप आदि के द्वारा क्रमश: अपराध का पार पाया जाता है, वह पाराञ्चित[1] प्रायश्चित्त है। वह लिंग, क्षेत्र, काल और तप के भेद से चार प्रकार का है।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य में भी पाराञ्चित तप के निम्न निरुक्त मिलते हैं—

- साधु जिस प्रायश्चित्त का वहन करके संसार-समुद्र के तीर—अनुत्तर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है, वह पाराञ्चित है।
- जो शोधि प्रायश्चित्त के पार को प्राप्त है अर्थात् अंतिम प्रायश्चित्त है।
- प्रायश्चित्त प्राप्त कर्ता जिस तप की पूर्णता पर अपूजित नहीं होता अपितु श्रमण संघ की पूजा प्राप्त करता है, वह पाराञ्चित है, उपचार से साधु भी पाराञ्चित कहलाता है।[2]
- जिसमें लिंग, क्षेत्र, काल एवं तप के द्वारा अपराध का पार पाया जाता है, वह पाराञ्चित है।[3]

१. बृभा ४१७१ ; अंचु गति पूयणम्मि य, पारं पुणऽणुत्तरं बुधा बिंति। सोधीय पारमंचइ, ण यावि तदपूतियं होति॥

२. निरुक्त कोश पृ. १९९;।

७३०. आलोचना आदि दसों प्रायश्चित्तों का यह संक्षेपार्थ है। अपने-अपने स्थान पर मैं विस्तारपूर्वक इनको कहूंगा।

**५. जो अवश्यकरणीय योग हैं, उनमें निरतिचार रूप से उपयुक्त रहने वाले छद्मस्थ की विशोधि[1] को यति लोगों ने आलोचना कहा है।**

७३१. करणीय कार्य कौन से हैं? (आचार्य उत्तर देते हैं—) जो तीर्थंकर और गणधरों द्वारा उपदिष्ट हैं, सूत्रानुसारी हैं, संयम को पुष्ट करने वाले तथा दुःख-क्षय करने के हेतु हैं।

७३२. 'जे' शब्द से जितने निर्दिष्ट हैं। युजृ-योगे धातु से काय (मन, वचन) आदि तीन योग गृहीत हैं। जो जीव को योजित करते हैं, प्रेरित करते हैं, वे योग हैं।

७३३. संक्षेप में ये मुखवस्त्रिका (प्रतिलेखन) से लेकर उत्सर्ग तक तथा सूत्र में दिन-रात सम्बन्धी सामाचारी जो जहां कही गई है, उसे योग जानना चाहिए।

७३४. जब मुनि बिना बाधा के निरतिचार रूप से उन योगों में उपयुक्त रहता है, तब आलोचना मात्र से पाप की शुद्धि हो जाती है।[2]

७३५. कर्म को छद्म कहा गया है, वह चार प्रकार का है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय।

७३६. शिष्य प्रश्न पूछता है कि जब मुनि करणीय योग में निरतिचार रूप से उपयुक्त होता है, तब उसके क्या शुद्धि होती है और क्या अशुद्धि?

७३७. गुरु कहते हैं—जो सूक्ष्म आस्रव क्रिया अथवा सूक्ष्म प्रमाद है, उससे लगने वाला कर्म और अतिचार छद्मस्थ नहीं जान सकता।

७३८. वे सूक्ष्म अतिचार आलोचना करने मात्र से शुद्ध हो जाते हैं अतः तीनों योगों से सम्बन्धित आलोचना करनी चाहिए।

७३९. आलोचना करने वाला कौन होता है? (आचार्य उत्तर देते हैं—) यति आलोचना करता है। यति शब्द से साधु निर्दिष्ट है। पांचवीं गाथा की व्याख्या समाप्त हो गई, अब छठी गाथा को इस प्रकार कहूंगा।

**६. आहार आदि ग्रहण में तथा उच्चारभूमि, विहारभूमि[3], चैत्य-वंदन, यति-वंदन आदि अनेकविध**

---

१. चूर्णिकार के अनुसार विशोधि का अर्थ है—कर्मबंधन से निवृत्ति तथा शल्यरहित होना।[1]

**१. जीचू पृ. ७ ; विसोही कम्मबंधनिवित्ती निसल्लया य।**

२. दशवैकालिक जिनदासचूर्णि में उन योगों का उल्लेख है, जिनकी शुद्धि आलोचना करने मात्र से हो जाती है। परस्पर अध्ययन-अध्यापन, परिवर्तना, केशलुंचन, वस्त्रों का आदान-प्रदान आदि कार्य गुरु की आज्ञा के बिना करने से अविनय होता है, इसकी शुद्धि आलोचना से हो जाती है।[1]

**१. दशअचू पृ. १४ ; परोप्परस्स-वायण-परियट्टण-लोयकरण-वत्थदाणादि अणालोइए गुरुणं अविणयो त्ति आलोयणारिहं।**

३. उपाश्रय में अस्वाध्यायिक के समय जो स्वाध्यायभूमि होती है, उसे विहारभूमि कहा जाता है।[1]

**१. निचू २ पृ. १२० ; असज्झाए सज्झायभूमी जा सा विहारभूमी।**

**कार्यों के लिए उपाश्रय से बाहर निर्गमन होता है।**

७४०. आहार जिसके आदि में है (मूलसूत्र की छठी गाथा में), वह आहार चार प्रकार का होता है–१. भक्त २. पान ३. खाद्य और ४. स्वाद्य।

७४१. मूलसूत्र (जीसू ६) में आए 'आदि' शब्द से शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्र, पादप्रोञ्छन, ओघ उपधि और उपग्रह उपधि आदि गृहीत हैं।

७४२-४५. अथवा ग्लान, आचार्य, बाल, वृद्ध, क्षपक, दुर्बल, शैक्ष, महोदर और प्राघूर्णक के प्रायोग्य आहार, शय्या, औषध, भैषज आदि के लिए गुरु से पूछकर उनकी अनुज्ञा लेकर सूत्रानुसार उपयुक्त विधि से जिस रूप में आहार आदि ग्रहण किया है, उसकी गुरु के समक्ष आलोचना करता है। सूत्र के अनुसार आलोचना करने मात्र से वह शुद्ध हो जाता है।

७४६. शिष्य प्रश्न पूछता है कि विधिपूर्वक ग्रहण करने से भी अशुद्ध होता है, तब फिर आहार आदि को ग्रहण ही नहीं करना चाहिए।

७४७. आचार्य उत्तर देते हैं—'शिष्य! यदि बिना आहार ग्रहण किए ही संयम-योग सध जाएं तो आहार आदि का परिग्रह कौन करेगा'?

७४८. आहार आदि ग्रहण न करने से एक बड़ा दोष यह होता है कि आचार्य आदि परित्यक्त हो जाते हैं तथा ज्ञान आदि का विच्छेद हो जाता है।

७४९. इसलिए आहार आदि को विधिपूर्वक अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार मूल गाथा का 'आहारादीगहणे' एक चरण समाप्त हो गया।

७५०. निर्गम गुरु के पास से तथा अपने स्थान से भी होता है अतः निर्गम अनेक हैं। कुल आदि से सम्बन्धित निर्गम के बारे में कहूंगा।

७५१. कुल[1], गण[2], संघ[3] और चैत्य सम्बन्धी कार्य तथा तत्रस्थ द्रव्य-विनाश का निवारण–इन दो कारणों के उपस्थित होने पर गुरु के पास से निर्गमन करना चाहिए।

७५२. प्रातिहारिक संस्तारक आदि को पुनः लौटाने के लिए गुरु के पास से अथवा वसति से निर्गमन करना चाहिए।

७५३. गाथा (मूलसूत्र की छठी गाथा) के पश्चार्द्ध में जो उच्चार और अवनि शब्द आया है, उसमें अवनि शब्द भूमि का वाचक है इसलिए यहां उच्चारभूमि अर्थ होगा।

७५४. विहार शब्द स्वाध्याय का सूचक है। अवनि सहित विहार शब्द स्वाध्याय-भूमि का वाचक है। चैत्य-वंदन के लिए दूर या निकट निर्गमन होता है।

---

१-३. एक आचार्य के शिष्य-समूह को कुल, तीन आचार्य के शिष्य-समूह को गण तथा अनेक आचार्यों के शिष्य-समूह को संघ कहा जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार एक सामाचारी का पालन करने वाले साधु-समुदाय को गण कहा जाता है।

७५५. अपूर्व आचार्य अथवा अतीव संविग्न साधु को वंदन करने अथवा संशय-निवारण हेतु गच्छ से दूर या पास निर्गमन होता है।

७५६. 'आदि' शब्द के ग्रहण से श्रद्धालु ज्ञातिजन अथवा अवसन्न विहारी को श्रद्धा ग्रहण कराने हेतु अथवा साधर्मिक साधु को संयम में उत्साहित करने के लिए गुरु के पास से निर्गमन करना चाहिए।

७५७. इन प्रयोजनों से साधु को गुरु के पास से निर्गमन करना चाहिए। छठी गाथा समाप्त हो गई, अब मैं सातवीं गाथा कहूंगा।

**७. साधु उपाश्रय से सौ हाथ दूर जो कुछ करता है, उसकी आलोचना न करने पर अशुद्ध तथा आलोचना करते हुए शुद्ध होता है।**

७५८. गाथा (७) में जो 'जं चऽण्णं करणिज्जं' कहा गया है, वह क्षेत्र आदि से सम्बन्धित है। मैं सौ हाथ के भीतर अथवा उससे दूर जाने के कारणों को कहूंगा।

७५९, ७६०. क्षेत्र-प्रतिलेखना, स्थण्डिल भूमि की प्रतिलेखना, शैक्ष का अभिनिष्क्रमण अथवा कोई आचार्य आदि संलेखना करे—इन कारणों से सौ हाथ से दूर जाने पर जो आचरण किया जाता है, उसमें समिति की विशुद्धि के लिए अवश्य आलोचना करनी चाहिए।

७६१, ७६२. यदि सौ हाथ के भीतर कुछ आसेवना की हो तो कुछ की आलोचना की जाती है, कुछ की नहीं की जाती, जैसे—प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक का मल आदि में उपयुक्त होने पर आलोचना नहीं होती। प्रमत्त साधु आलोचना करने पर शुद्ध होता है, आलोचना न करने पर अशुद्ध रहता है।

७६३. सातवीं गाथा की व्याख्या समाप्त हो गई, अब मैं आठवीं गाथा की व्याख्या करूंगा। जहां स्वगण और परगण से कारणपूर्वक निर्गमन और आगमन होता है।

**८. स्वगण से सकारण निर्गमन करने वाले तथा परगण से आने वाले निरतिचार साधु के उपसम्पदा और विहार में आलोचना करने से शुद्धि होती है।**

७६४. गच्छ से निर्गमन सकारण और अकारण—इन दो हेतुओं से होता है। अशिव आदि होने पर सकारण तथा चक्र और स्तूप आदि देखने के लिए होने वाला निर्गमन अकारण कहलाता है।

७६५. समाधि की इच्छा रखने वाले साधु को इन कारणों से निर्गमन करना चाहिए—१. अशिव २. अवमौदर्य ३. राजा का प्रद्वेष ४. भय ५. रोग ६. तथा उत्तमार्थ (अनशन)।

७६६. आचार्य के द्वारा प्रेषित करने पर गच्छ से होने वाला निर्गमन सकारण कहलाता है। मैं निष्कारण

निर्गमन[१] के कारणों को कहूंगा।

**७६७, ७६८.** असमाप्त कल्प वाले साधु का इन कारणों से होने वाला निर्गमन अकारण है—चक्र—धर्मचक्र[२], स्तूप तथा जीवन्त स्वामी की प्रतिमा का दर्शन[३], तीर्थंकरों की जन्मभूमि, निष्क्रमणभूमि, केवलज्ञानभूमि तथा निर्वाणभूमि को देखने, महिमा, समवसरण, ज्ञातिजनों का स्थान, गोकुल आदि स्थान—इन स्थानों में यतनायुक्त गीतार्थ मुनि का निर्गमन अकारण होता है।[४]

**७६९.** कारण से निर्गमन करने पर निरतिचार साधुओं को भी समिति की विशुद्धि के लिए अवश्य आलोचना देनी चाहिए।

**७७०.** आलोचना दो प्रकार की होती है—ओघतः और विभागतः। संक्षिप्त आलोचना को ओघ तथा विस्तृत आलोचना को विभाग आलोचना कहा गया है।

**७७१, ७७२.** ओघ आलोचना इस प्रकार है—कोई मुनि पन्द्रह दिन के भीतर कहीं से आया है, वह ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करके भोजन-वेला में आलोचना करता है। निरतिचार यति यदि भक्तार्थी है तो वह संक्षेप में आलोचना करके भोजन-मंडलि में प्रवेश करे।

**७७३.** मूलगुण और उत्तरगुण की अल्प विराधना होने पर तथा पार्श्वस्थ साधु आदि को देने और लेने में अल्प विराधना होने पर ओघ आलोचना होती है।

**७७४.** अर्धमास से अधिक समय से आने पर भोजन-वेला के अतिरिक्त अन्य समय में समिति की विशुद्धि के लिए विभाग आलोचना होती है। परगण से आया हुआ साधु भी इसी प्रकार आलोचना करता है।

---

१. निशीथ भाष्य में निष्कारण गमन के निम्न हेतु बताए हैं—१. अमुक आचार्य विशिष्ट चारित्र सम्पन्न, श्रुतविशारद या शिष्य-परिवार से युक्त हैं, उनके दर्शन हेतु जाना। २. अमुक साधु निरतिचार चारित्र वाला तथा ज्ञान आदि गुणों से युक्त है, उसके दर्शनार्थ जाना। ३ अपूर्व या अभिनव चैत्य के वंदन हेतु जाना। ४. आत्मीय या श्रावक लोगों को दर्शन दूंगा, उनको आध्यात्मिक सहयोग दूंगा और मुझे भी विशिष्ट आहार आदि की प्राप्ति होगी। ५. नए-नए क्षेत्र देखने को मिलेंगे। ६. गोकुल में जाने से दूध आदि मिलेगा। ये सभी निष्कारण गमन के हेतु है। वहां निष्कारण विहार से होने वाले मार्गश्रम आदि अनेक दोषों की चर्चा भी है।[१]

१. निभा १०५५-६० चू पृ. ११३।

२. जीतकल्पचूर्णि की विषम पद व्याख्या में तक्षशिला नगरी में बाहुबलि द्वारा निर्मित रत्नमय धर्मचक्र का उल्लेख मिलता है।[१] यह बात तर्क संगत प्रतीत नहीं होती क्योंकि इतना समय बीतने के पश्चात् मानव निर्मित वस्तु का अस्तित्व संभव नहीं लगता।

१. जीचूवि पृ. ४० ; चक्कथूभ त्ति—ऋषभजिनपदस्थाने बाहुबलिविनिर्मितं तक्षशिलानगर्यां रत्नमयधर्मचक्रं तद्दर्शनाय व्रजति।

३. धर्मचक्र बनारस में, स्तूप मथुरा में, जीवन्त स्वामी की प्रतिमा पुरिका (पुरी) में है।[१]

१. जीचूवि पृ. ४० ; स्तूपो मथुरायाम्। प्रतिमा जीवन्तस्वामिसम्बन्धिनी पुरिकायाम्।

४. ओघनिर्युक्ति में निष्कारण-गमन के ये हेतु और बताए हैं—१. संखडि—भोज के लिए निर्गमन २. विहार—उस स्थान में मन नहीं लगने से होने वाला निर्गमन ३. जिस देश में स्वभावतः आहार मिलता हो, वहां निर्गमन ४. अमुक देश में उपधि अच्छी मिलती है, उसके लिए गमन ५. दर्शनीय स्थल को देखने के लिए निर्गमन।[१]

१. ओनि ११९ टी. प. ६०।

**७७५.** इस प्रकार अशिव आदि कारण होने पर स्वगण से निर्गत निरतिचार साधु की आलोचना मात्र से शुद्धि हो जाती है।

**७७६.** जो साधु बाहर से आते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं—समनोज्ञ और असमनोज्ञ। समनोज्ञ अपने गच्छ से ही आते हैं।

**७७७.** दूसरे गण में जो असमनोज्ञ साधु होते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं—संविग्न और असंविग्न। पार्श्वस्थ आदि असंविग्न होते हैं।

**७७८.** दूसरे गण से जो संविग्न साधु अन्य गण में आता है, उसे अवश्य ही विभागतः आलोचना देनी चाहिए।

**७७९.** उपसंपदा[1] पांच प्रकार की होती है—१. श्रुत २. सुख-दुःख ३. क्षेत्र ४. मार्ग ५. विनय।

**७८०.** जहां नियमतः पांच प्रकार की या एक प्रकार की उपसम्पदा स्वीकार की जाती है, वहां निरतिचार होने पर भी अवश्य विभागतः आलोचना देनी चाहिए।

**७८१, ७८२.** जो एक गच्छ में हैं, समनुज्ञ हैं, वे एक सांभोजिक, स्पर्धकपति और गीतार्थ साधु उस अथवा अन्य क्षेत्र में विहरण करते हैं, वे यदि एक दिन, पांच दिन, पक्ष या चातुर्मास में जहां भी आपस में मिलते हैं, वहां विभागतः आलोचना देनी चाहिए।

**७८३.** आलोचनार्ह का प्रथम द्वार मैंने कहा, अब मैं प्रतिक्रमणार्ह नामक दूसरा द्वार कहूंगा।

**९. गुप्ति और समिति में प्रमाद, गुरु की आशातना, विनय का भंग, इच्छाकार आदि सामाचारी न करना तथा लघुस्वक मृषा, अदत्त और मूर्च्छा करने पर (प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है।)**

---

१. जीतकल्प भाष्य में श्रुत, सुख-दुःख आदि को पांच उपसम्पदा के रूप में स्वीकार किया है। व्यवहारभाष्य में ये पांच प्रकार के आभवद् व्यवहार के अन्तर्गत समाविष्ट हैं लेकिन शाब्दिक भेद होते हुए भी दोनों में अर्थभेद नहीं है। पांचों उपसम्पदाओं की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

- श्रुत ग्रहण करने के लिए अन्य आचार्य के पास उपसम्पदा स्वीकार करना श्रुत उपसम्पदा है। यह दो प्रकार की होती है—अभिधारण और पठन। इनके भी दो-दो भेद हैं—अनंतर और परम्पर। दो साधुओं के मध्य होने वाली अनंतर श्रुतोपसंपद् तथा तीन आदि के मध्य होने वाली परम्पर श्रुतोपसम्पद् कहलाती है। इसके विस्तार हेतु देखें व्यभा ३९५८-८०
- सुख-दुःख सम्यक् रूप से सहन करना सुख-दुःख उपसम्पदा है। इसके भी दो भेद है—अभिधारण और उपसम्पन्न। इनके विस्तार हेतु देखें व्यभा ३९८१-९२।
- आठ ऋतुमास और चार वर्षाकाल के लिए क्षेत्र की मार्गणा करना क्षेत्र उपसम्पदा है। इसके विस्तार हेतु देखें व्यभा ३९९३-९९।
- क्षेत्र में रहते हुए या मार्ग में जाते हुए यह क्षेत्र किसका है, यह निर्णय करना क्षेत्रोपसम्पदा है।
- वसति में रहने वाले और आगन्तुक मुनियों के विनय-व्यवहार को प्रकट करने वाली विनय उपसम्पदा कहलाती है। विस्तार हेतु देखें व्यभा ४०००-०५।

७८४. 'गुपू' धातु रक्षण अर्थ में है, उससे गुप्ति[1] शब्द निष्पन्न हुआ है। वह मन आदि तीन प्रकार की होती है। उसमें साधु जो कुछ भी प्रमाद करता है, वह इस प्रकार है—

७८५. दुश्चिन्तन, दुर्भाषण और दुश्चेष्टा—यह अगुप्ति होती है। साधु के मन आदि से सम्बन्धित यह प्रमाद होता है।

७८६. साधु मन आदि से नित्य गुप्त कैसे रह सकता है? यहां जिनदास आदि के उदाहरण कहूंगा।

७८७. मन गुप्ति में जिनदास श्रावक का उदाहरण है। जिनदास श्रेष्ठिपुत्र और श्रावक था। उसने यानशाला में सर्वरात्रिकी प्रतिमा स्वीकार की।[2]

७८८, ७८९. उसकी भार्या उद्भ्रामिका—स्वैरिणी थी। वह उसी यानशाला में कील युक्त पलंग लेकर आई। (अंधेरे में दिखाई न देने के कारण) वह जिनदास के पैर के ऊपर मंचक के पाए को स्थिर करके (अपने उपपति के साथ) अनाचार का सेवन करने लगी। पर्यंक की कीलिका से जिनदास का पैर बिंध गया। महान् वेदना होने पर भी उसने उसको समभाव से सहन किया।

७९०. उस निश्चलमति जिनदास के मन में पत्नी को देखकर भी दुश्चिन्तन उत्पन्न नहीं हुआ। इस प्रकार की मनगुप्ति का अभ्यास करना चाहिए।

७९१. वचनगुप्ति में एक साधु का उदाहरण है, जो ज्ञातिजनों की पल्लि में उन्हें देखने गया। चोरों ने उसे पकड़ लिया पर सेनापति ने उसे यह कहकर छोड़ दिया कि इस बारे में किसी से कुछ मत कहना।[3]

७९२. यज्ञयात्रा प्रस्थित हुई। साधु को उसके ज्ञातिजन मार्ग के बीच में ही मिल गए। वह साधु भी माता, पिता और भाई के साथ लौट आया।

७९३-९५. चोरों ने उन्हें पकड़ लिया और धन चुरा लिया। चोरों ने जब साधु को देखा तो कहा कि यह वही साधु है, जो हमारे द्वारा छोड़ा गया था। यह सुनकर उसकी मां ने कहा—'क्या यह तुम्हारे द्वारा पकड़कर छोड़ा गया है?' चोरों ने कहा—'हां, यह वही साधु है।' मां बोली कि छुरी लेकर आओ, मैं अपने स्तन काटती हूं। सेनापति ने पूछा—'स्तन क्यों काटना चाहती हो?' मां ने कहा—'यह कुपुत्र है, इसने चोरों को देखा फिर भी हमें कुछ नहीं कहा, यह मेरा पुत्र कैसे हुआ?' जब साधु से पूछा कि तुमने चोरों के बारे में क्यों नहीं कहा तो मुनि ने धर्म-कथा कही।

---

१. उत्तराध्ययन के अनुसार अशुभ विषयों से निवृत्त होना गुप्ति है।[1] टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार आगमोक्त विधि से प्रवृत्ति करना तथा उन्मार्ग से निवृत्त होना गुप्ति है।[2] उत्तराध्ययन के उनतीसवें अध्ययन में त्रिविध गुप्ति के लाभों का वर्णन मिलता है।[3]

१. उ २४/२६ ; गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो।।

२. उशांटी प ५१४ ; प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गगमननिवारणं गुप्तिः।

३. उ २९/५४-५६।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २०।

३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २१।

७९६. धर्म-कथा से प्रेरित होकर चोर-सेनापति उपशान्त हो गया। उसने माता आदि सबको छोड़ दिया और सारा धन समर्पित कर दिया। साधु को ऐसी ही वचनगुप्ति करनी चाहिए।

७९७. कायगुप्ति में मार्गवर्ती साधु का उदाहरण है। सार्थ के रहने पर उसको कहीं स्थण्डिल भूमि की प्राप्ति नहीं हुई।[1]

७९८, ७९९. किसी भी प्रकार उसको एक पैर टिकाने जितना स्थान मिला। उसने एक पैर पर स्थित होकर सारी रात बिता दी। उसका शरीर अकड़ गया लेकिन अस्थण्डिल भूमि में उसने पैर नहीं रखा। साधु को इसी प्रकार कायगुप्त होना चाहिए। (अथवा कायगुप्ति का दूसरा उदाहरण है) अत्यधिक भय होने पर भी एक साधु ने गति-भेद नहीं किया।[2]

८००. शक्र ने उस साधु की प्रशंसा की। शक्र की बात पर अश्रद्धा करने वाले देवता ने आकर अनेक सूक्ष्म मेंढ़कों की विकुर्वणा कर दी। यतनापूर्वक वह धीरे-धीरे चलने लगा।

८०१, ८०२. देवता ने हाथी की विकुर्वणा की, वह उसके पीछे चिंघाड़ता हुआ आने लगा लेकिन फिर भी साधु की गति में अंतर नहीं आया। हाथी ने साधु को सूंड से ऊपर उठाकर नीचे गिरा दिया। नीचे गिरता हुआ वह साधु बोला—'यदि मेरे द्वारा जीवों की विराधना हुई हो तो मेरे पाप मिथ्या हों।' उसने स्वयं की चिन्ता नहीं की। देव संतुष्ट होकर प्रणाम करके चला गया।

८०३. गुप्तिद्वार का कथन कर दिया। अब प्रसंग से अगुप्त गुप्ति अर्थात् समिति[3] द्वार को कहूंगा। समिति माताएं हैं/समिति में प्रवचन समाया हुआ है।[4]

८०४. गमन क्रिया को समिति कहते हैं। श्रामण्य में परिणत साधु का सम्यक् रूप से गमन करना समिति है। वह ईर्या आदि पांच प्रकार की है।

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २२।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २३।

३. जिन-प्रवचन के अनुरूप सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है।[1] उत्तराध्ययन सूत्र में तीन गुप्तियों का भी समिति में समावेश करके आठ समितियों को स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि गुप्ति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों होती है।[2] गुप्ति के तीन रूप बनते हैं—१. अशुभ योगों की निवृत्ति २. शुभ योगों की प्रवृत्ति तथा ३. शुभ योगों से भी निवृत्ति।

**१. उ २४/३, शांटी प. ५१४ ; समितिः सम्यक् सर्ववित् प्रवचनानुसारितया इतिः, आत्मनः चेष्टा समितिः तान्त्रिकी संज्ञा ईर्यादिचेष्टासु पंचसु।**

**२. उशांटी प. ५१३, ५१४।**

४. मांक्—माने धातु के आधार पर 'मायाओ' का अर्थ है—समाया हुआ है। समिति में द्वादशांग प्रवचन समाया हुआ है। यदि मायाओ की मातरः संस्कृत छाया की जाए तो इसका अर्थ प्रवचन-माता होगा। जिसका तात्पर्य है कि समितियों से प्रवचन की उत्पत्ति होती है।[1] भगवती आराधना में उल्लेख मिलता है कि समिति और गुप्तियां ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वैसे ही रक्षा करती हैं, जैसे माता अपने पुत्र की।[2]

**१. उशांटी प. ५१३, ५१४।**

**२. भआ ११७९ विटी पृ. ५९३ ; यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति।**

८०५. साधु समिति में प्रमाद कैसे करता है, उसे सुनो। साधु ऊंचा मुख करके वार्ता में रत रहकर चलता है तो वह प्रमाद है।

८०६. यदि साधु गृहस्थ सम्बन्धी सावद्य भाषा बोलता है, ऊंची आवाज में बोलता है तो उसे भाषा सम्बन्धी प्रमाद जानना चाहिए।

८०७. भिक्षाचर्या के लिए भ्रमण करते हुए भिक्षा-ग्रहण के समय जो शंका आदि दोषों में उपयुक्त नहीं होता, वहां एषणा समिति में प्रमाद होता है।

८०८. उपकरणों को ग्रहण करने एवं रखने में जो अनुपयुक्त होता है, वह चौथी समिति का प्रमाद है। इस प्रमाद के छह भंग हैं।

८०९. आदान का अर्थ है—ग्रहण, नि उपसर्ग अधिक अर्थ में प्रयुक्त होता है। खिव—क्षिप् धातु फेंकने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अधिक उत्क्षेप को निक्षेप कहते हैं।

८१०. प्रतिलेखन और प्रमार्जन की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

- न प्रतिलेखन, न प्रमार्जन।
- प्रतिलेखन, प्रमार्जन नहीं।
- प्रतिलेखन नहीं, प्रमार्जन।
- प्रतिलेखन और प्रमार्जन दोनों।

८११, ८१२. प्रतिलेखन[1] और प्रमार्जन रूप चतुर्थ भंग की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

| | |
|---|---|
| दुष्प्रतिलेखन | दुष्प्रमार्जन। |
| दुष्प्रतिलेखन | सुप्रमार्जन। |
| सुप्रतिलेखन | दुष्प्रमार्जन। |
| सुप्रतिलेखन | सुप्रमार्जन। |

८१३. प्रथम चतुर्भंगी के प्रथम तीन भंग (न प्रतिलेखन, न प्रमार्जन आदि) तथा द्वितीय चतुर्भंगी के भी प्रथम तीन भंग (दुष्प्रतिलेखन, दुष्प्रमार्जन आदि)—ये छह भंग प्रमादी के होते हैं।

८१४. उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म और नासिकामल आदि के परिष्ठापन में भी प्रमादी साधु के छह भंग होते हैं।

८१५. उच्चार आदि का परिष्ठापन होता है। जो शरीर से तीव्र गति से बाहर निकलता है, वह उच्चार-मल है। प्रस्रवित होने के कारण कायिकी को प्रस्रवण कहा जाता है।

८१६. जो शरीर को उत्सर्ग के लिए प्रेरित करता है, वह उच्चार तथा जो प्रायः स्रवित होता है, उसकी प्रस्रवण संज्ञा है। जो खे—शून्य में घूमता है, वह खेल/श्लेष्म है। नासिका का मल सिंघाण है।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र में प्रतिलेखना के छह दोष बताए हैं[1]—१. आरभटा २. सम्मर्दा ३. मोसली ४. प्रस्फोटना ५. विक्षिप्तता ६. वेदिका। वहां सात दोषों का उल्लेख भी मिलता है। इस संदर्भ में विस्तार हेतु देखें श्री भिक्षु भा. १ पृ. ४४२, ४४३।

८१७. ईर्या आदि पांच समितियों में प्रमाद का वर्णन किया गया। अब प्रसंगवश मैं समिति में अप्रमाद के बारे में कहूंगा।

८१८. ईर्या समिति में अर्हन्नक साधु का उदाहरण है, जो अव्याक्षिप्त और जागरूक चित्त से पग-पग पर दृष्टिपूत युग प्रमाण मात्र भूमि पर दृष्टि टिकाए हुए चलता था।

८१९. अर्हन्नक साधु समिति से समित था। वह गड्ढे में गिर गया। प्रान्त देवता के द्वारा छलित होने से उसका पांव छिन्न हो गया। अन्य देवता ने उसके पैर का संधान कर दिया।[1]

८२०-२३. भाषा समिति से समित साधु भिक्षा के लिए निकला।[2] घूमते हुए नगर पर चढ़ाई करने वाले किसी बाहर के सैनिक ने पूछा—''यहां कितने घोड़े और हाथी हैं? कितनी धन-राशि, कितना काष्ठ तथा धान्य आदि हैं? नगर सुखी है अथवा दुःखी?'' वह भाषा समित साधु इस प्रकार बोला—''मैं इस बारे में कुछ नहीं जानता क्योंकि मैं स्वाध्याय और ध्यान-योग में लीन रहता हूं।'' पुनः मुनि से उसने पूछा—''घूमते हुए तुमने कुछ नहीं देखा या कुछ नहीं सुना, यह कैसे संभव है?'' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने कहा—''मुनि बहुत बातें कानों से सुनता है, अनेक दृश्य आंखों से देखता है लेकिन देखा हुआ या सुना हुआ सब कुछ कह नहीं सकता।''

८२४. जो साधु प्रयोजन होने पर निरवद्य भाषा का प्रयोग करता है, बिना कारण नहीं बोलता, विकथा और विस्रोतसिका-लक्ष्य से प्रतिकूल वार्ता से रहित होता है, वह साधु भाषा समिति से युक्त होता है।

८२५. जो मुनि बायालीस एषणा से सम्बन्धित आहार के दोषों का शोधन करता है, वह एषणासमित कहलाता है, यहां वसुदेव का दृष्टान्त है।

८२६-२७. एषणा समिति में वसुदेव का उदाहरण है।[3] वसुदेव किसी जन्म में मगध के नंदिग्राम में गौतम नामक उपदेष्टा ब्राह्मण था। उसकी भार्या का नाम वारुणि था। एकदा उसके गर्भ उत्पन्न हुआ। जब ब्राह्मणी का गर्भ छह मास का था, तब ब्राह्मण मर गया।

८२८-३०. मामा ने बालक का पालन-पोषण किया। बालक मामा के यहां काम करता था। लोगों ने उसे कहा—'तुम्हारा यहां कुछ नहीं है।' मामा ने उसे कहा—'तुम लोगों की बातों को मत सुनो। मेरी तीन पुत्रियां हैं, उनमें जो ज्येष्ठा है, उसके साथ मैं तुम्हारा विवाह कर दूंगा।' मामा की बात सुनकर वह वहां कार्य करने लगा। विवाह का अवसर प्राप्त हुआ। उसकी बड़ी पुत्री ने विवाह के लिए अनिच्छा प्रकट कर दी। मामा ने कहा—'दूसरी लड़की के साथ विवाह कर दूंगा।' दूसरी पुत्री ने भी वैसे ही अनिच्छा व्यक्त कर दी। तीसरी पुत्री ने भी विवाह से इंकार कर दिया।

८३१-३४. नंदिषेण ने विरक्त होकर नंदिवर्धन आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण कर ली और बेले-बेले की

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २४।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २५।

३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २६।

तपस्या अंगीकार करके यह अभिग्रह किया कि मैं बाल और ग्लान आदि की सेवा करूंगा। उसने तीव्र श्रद्धा से सेवा की। उसका यश प्रख्यात हो गया। स्वयं इंद्र ने उसके गुणों का उत्कीर्तन किया। एक देव ने इस बात पर श्रद्धा नहीं की। उसने दो श्रमण रूपों की विकुर्वणा की। उनमें एक श्रमण अतिसार से ग्रसित होने पर अटवी में स्थित हो गया और दूसरा श्रमण मुनियों के समक्ष जाकर बोला—'एक ग्लान साधु अटवी में पड़ा है, जो साधु वैयावृत्त्य करना चाहता है, वह शीघ्र तैयार हो जाए।' यह बात नंदिषेण ने सुनी।

८३५-३७. बेले की तपस्या के पारणे हेतु लाए हुए आहार को ग्रहण करने की इच्छा होने पर भी मुनि की बात सुनकर वह सहसा उठा और बोला—'वहां क्या कार्य है और क्या अपेक्षा है?' आगंतुक मुनि ने कहा—''वहां पानक नहीं है, उसकी अपेक्षा है।'' मुनि नंदिषेण उपाश्रय से पानक के लिए निकला। देव ने वहां पानक को अनेषणीय कर दिया। पहली बार और दूसरी बार पानक नहीं मिला। तीसरी बार उसे पानक की प्राप्ति हुई। अनुकम्पावश नंदिषेण तुरन्त ग्लान मुनि के पास गया।

८३८, ८३९. ग्लान ने रुष्ट होकर खर, परुष और निष्ठुर शब्दों में आक्रोश प्रकट किया—'हे मंदभाग्य!' तुम अपने नाम मात्र से संतुष्ट हो कि साधुओं के उपकारी के रूप में प्रसिद्ध हो। मैं तुमसे सेवा लेने के उद्देश्य से आया हूं लेकिन मेरी इस अवस्था में भी तुम्हारा आहार के प्रति इतना लोभ है?''

८४०, ८४१. ग्लान साधु के उन कठोर वचनों को अमृत की भांति मानता हुआ वह शीघ्रता से मुनि के चरणों में गिरकर क्षमा मांगने लगा। उसने मल से लिप्त मुनि के शरीर को धोया और कहा—'मुनिवर! उठो, हम आगे चलें। चिकित्सा की ऐसी व्यवस्था करेंगे, जिससे आप शीघ्र स्वस्थ हो जाएं।' ग्लान साधु बोला-'मैं चलने में समर्थ नहीं हूं।'

८४२, ८४३. (नंदिषेण बोला)—तुम मेरी पीठ पर चढ़ जाओ। वह ग्लान साधु उसकी पीठ पर चढ़ गया। जब चलने लगा तो ग्लान साधु ने उसकी पीठ पर अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त अपवित्र मल का विसर्जन कर दिया और कठोर शब्दों में बोला—'हे दुर्मुण्डित! शीघ्र चलने से तुमने मेरे शरीर में दर्द पैदा कर दिया। इस प्रकार वह पग-पग पर उसके ऊपर गुस्सा करने लगा।'

८४४-४६. नंदिषेण मुनि ने न कठोर वचनों पर ध्यान दिया और न ही असह्य दुर्गन्ध पर। उस दुर्गन्ध को चंदन की भांति मानते हुए उसने मिथ्या दुष्कृत किया। नंदिषेण मन में चिन्तन करने लगा कि मैं क्या करूं? जिससे इस ग्लान साधु को मानसिक समाधि उत्पन्न हो। अनेक प्रकार से प्रयत्न करने पर भी वह नंदिषेण को क्षुब्ध करने में समर्थ नहीं हो सका। तब ग्लान मुनि मूल स्वरूप में आया और उसकी स्तुति-प्रशंसा करके चला गया। दूसरे मुनि ने भी गुरु से आलोचना करके उनके समक्ष नंदिषेण मुनि की धन्यता का अनुमोदन किया।

८४७. जिस प्रकार मुनि नंदिषेण विपरीत परिस्थिति आने पर भी एषणा समिति से विचलित नहीं हुआ, वैसे ही साधु को एषणा समिति में नित्य यतना रखनी चाहिए, यह एषणा समिति कही गई है।

८४८. जो साधु पहले आंखों से निरीक्षण और प्रमार्जन करके उपकरणों को रखता है अथवा ग्रहण करता है, वह आदानभंडनिक्षेपणा समिति से समित होता है।

८४९-५२. यहां भी पूर्ववत् चतुर्भंगी करनी चाहिए। (द्र. ८१०-१२ गाथा का अनुवाद) इसमें अंतिम भंग सुप्रतिलेखित सुप्रमार्जित ग्राह्य है, इसमें जो उपयुक्त होता है, वह आदानभंडनिक्षेपणा समिति से समित कहलाता है। चौथी समिति का गुरु उदाहरण बताते हैं। कुछ साधु ग्राम में गए। एक साधु ने बिना प्रतिलेखना किए पात्र आदि को एक स्थान पर रख दिया। उनमें से एक साधु प्रतिलेखना करके पात्र आदि रखने लगा तो वह साधु बोला—'इन प्रेक्षित पात्र आदि उपकरणों की पुनः प्रेक्षा क्यों कर रहे हो? क्या यहां सर्प है? यह बात सुनकर सन्निहित देवता ने सर्प की विकुर्वणा कर दी।[1]

८५३. उपकरणों को खोलने पर वहां सांप दिखाई दिया। साधु के कथन पर उसने मिथ्याकार का उच्चारण किया। समित और असमित—ये दोनों उत्कृष्ट और जघन्य दो प्रकार के होते हैं।

८५४. मल, मूत्र, श्लेष्म आदि तथा अहितकर अशन-पान आदि को अच्छी तरह से देखे गए प्रदेश[2] में परिष्ठापित करने वाला पांचवीं उत्सर्ग समिति[3] से समित होता है।

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २७।

२. परिष्ठापन करने का प्रदेश स्थण्डिल कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में चार प्रकार की स्थण्डिल-भूमियों का उल्लेख मिलता है—
- अनापात-असंलोक—जहां लोगों का आवागमन न हो, वे दूर से भी दिखाई न दें।
- अनापात-संलोक—जहां लोगों का आवागमन न हो, किन्तु वे दूर से दीखते हों।
- आपात-असंलोक—जहां लोगों का आवागमन भी हो, किन्तु वे दूर से न दीखते हों।
- आपात-संलोक—जहां लोगों का आवागमन भी हो और वे दूर से दीखते भी हों।

जो स्थण्डिल अनापात-असंलोक, पर के लिए अनुपघातकारी, सम, अशुषिर (पोल या दरार रहित), कुछ समय पहले ही निर्जीव बना हुआ, कम से कम एक हाथ विस्तृत, नीचे से चार अंगुल निर्जीव परत वाला, गांव आदि से दूर, बिलरहित, त्रस प्राणी तथा बीजों से रहित हो—उसमें मुनि उच्चार आदि का उत्सर्ग करे।[1]

१. उ २४/१६-१८।

३. उत्सर्ग समिति को परिष्ठापनिका समिति भी कहा जाता है। ओघनिर्युक्ति में परिष्ठापन करने के बाद की विधि का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। मुनि कायिकी आदि का परिष्ठापन करके ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करे। यदि वह आनप्राणलब्धि से सम्पन्न हो तो चतुर्दश पूर्वों का स्मरण करे। यदि ऐसा करने में समर्थ न हो तो कम से कम तीन गाथाओं की अनुप्रेक्षा अवश्य करे।[1] बृहत्कल्पभाष्य में परिष्ठापन के समय मुनि को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, इसका सुंदर विवेचन मिलता है। दिशा—मल-मूत्र उत्सर्ग के समय मुनि पूर्व और उत्तर दिशा में पीठ करके नहीं बैठे क्योंकि ये पूज्य दिशाएं हैं तथा रात्रि में भिक्षाचरों के आवागमन के कारण दक्षिण की ओर पीठ न करे। वायु का वेग जिस ओर हो, उस ओर पीठ करके बैठने में अशुभ गंध के परमाणु नासिका में प्रविष्ट हो जाते हैं। सूर्य और ग्राम की ओर पीठ करने से भी लोक में अवज्ञा होती है। यदि मुनि के उदर में कृमि हों तो वह वृक्ष की छाया में मलोत्सर्ग करे। मुनि को भूमि का तीन बार प्रमार्जन करना चाहिए।[2]

१. ओनि २०८ ; आगम्म पडिक्कंतो, अणुपेहे जाव चोद्दस वि पुव्वे। परिहाणि जा तिगाहा, निद्दमाओ जढो एवं।

२. बृभा ४५६-५८।

८५५. यहां भी उसी प्रकार चतुर्भंगी के अंतिम भंग[1] में समित होता है। यहां धर्मरुचि अनगार का उदाहरण है[2], जो परिष्ठापन समिति में जागरूक था।

८५६. उसने मल, मूत्र के उत्सर्ग में जागरूक रहने का अभिग्रह ग्रहण किया, इंद्र ने उसकी प्रशंसा की। एक देव को इस बात पर श्रद्धा नहीं हुई, वह वहां आया और उसने बहुत सारी चींटियों की विकुर्वणा कर दी।

८५७-६०. प्रस्रवण की बाधा से पीड़ित होने पर दूसरा साधु बोला—'तुम परिष्ठापित कर दो।' वह प्रस्रवण को परिष्ठापित करने के लिए जहां-जहां गया, वहां चींटियां चलती हुई दिखाई दीं। जब साधु क्लान्त हो गया तो वह उस प्रस्रवण को पीने लगा। देवता ने उसे रोकते हुए कहा—'तुम इसे मत पीओ।' देवता उसे वंदना करके चला गया। समितियों में इस प्रकार यतनाशील होना चाहिए। यह सब प्रसंगानुसार कह दिया, अब मैं आशातना के बारे में कहूंगा।

८६१. गुरु आचार्य होते हैं। ज्ञान आदि आचार हैं। वे आचार की प्ररूपणा करते हैं। उनकी यह आशातना है—

८६२, ८६३. आशातना पद की व्याख्या इस प्रकार है। इसमें दो पद हैं—आय और शातना। आय, लाभ और आगम एकार्थक हैं। ज्ञान आदि के लाभ की शातना-विनाश आशातना[3] कहलाती है। शातन, ध्वंस और विनाश—ये तीनों शब्द एकार्थक हैं।

८६४. आय-आत्मा की शातना में यकार लोप होने पर आशातना शब्द निष्पन्न होता है। आचार्य की ये आशातनाएं होती हैं—

८६५. यह आचार्य छोटा, अकुलीन, दुर्मेधा वाला, द्रमक—रंक, मंदबुद्धि तथा अल्पलाभ की लब्धि वाला

---

१. देखें गा. ८१० का अनुवाद।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २८।

३. 'आसायणा' शब्द के दो संस्कृत रूप बनते हैं—आशातना और आसादना। प्रथम का अर्थ है—मिथ्याप्रतिपत्ति और दूसरे का अर्थ है—लाभ। मिथ्याप्रतिपत्ति अर्थात् सम्यक् रूप से स्वीकार न करना। सद्भूत अर्थ को अयथार्थ रूप से स्वीकार करना आशातना है।[1] निशीथ चूर्णि के अनुसार ज्ञान, विनय आदि के लाभ का विनाश करने वाली प्रवृत्ति आशातना कहलाती है।[2] दूसरे लाभ के अर्थ में 'आसादना' का विस्तार दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति और चूर्णि में मिलता है। निर्युक्तिकार के अनुसार दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय—ये गुरुमूलक होते हैं। जो गुरु की आशातना करता है, वह इन गुणों की आशातना करता है और इन गुणों में विषण्ण रहता है।[3]

१. दशनि १९ ; मिच्छापडिवत्तीए, जे भावा जत्थ होंति सब्भूता। तेसिं तु वितहपडिवज्जणाए आसायणा तम्हा॥

२. निभा २६४४ चू पृ. ८।

३. दशनि २४ ; सो गुरुमासायंतो, दंसण-णाण-चरणेसु सयमेव। सीयति कतो आराहणा, से तो ताणि वज्जेज्जा॥

है, इस प्रकार कहकर शिष्य आचार्य का पराभव करता है।

८६६. अथवा शिष्य ऐसा कहे कि आचार्य दूसरों को दशविध वैयावृत्त्य का उपदेश देते हैं लेकिन स्वयं वैयावृत्त्य नहीं करते।

८६७. अथवा आशातना[1] तीन प्रकार की होती है—मानसिक आशातना, वाचिक आशातना और कायिक आशातना। आचार्य के प्रति मन से प्रद्वेष रखना मानसिक आशातना है। आचार्य के बीच में बोलना वाचिक आशातना है।

८६८. गुरु के शरीर से संघट्टन करना, मार्ग में बराबर चलना या गुरु से आगे चलना—यह कायिक आशातना है अथवा गुरु के पूछने पर मौन रहना आदि भी आशातना है।

८६९-७१. गुरु के ये पांच वचन हैं[2]—१. कहना २. बुलाना ३. कार्य में नियुक्त करना ४. पूछना एवं ५. आज्ञा देना। गुरु के इन वचनों के प्रति शिष्य के छह प्रतिवचन (प्रतिक्रिया) होते हैं—१. चुप रहना २. हुंकारा देना ३. क्या है, ऐसा कहना, ४. क्यों बकवास कर रहे हो, ऐसा कहना ५. तुम शांति से क्यों नहीं रहने देते, यह कहना? ६. किस कारण चिल्ला रहे हो, ऐसा कहना? आलाप पद के तूष्णीक आदि छह प्रतिवचन हैं। इसी प्रकार व्याहृत आदि प्रत्येक पद के तूष्णीक आदि छह-छह भेद हैं।[3]

८७२-७४. गुरु की आशातना के बारे में कथन कर दिया, अब मैं गुरु के प्रति विनय का भंग कैसे होता

---

१. जीतकल्पभाष्य में आशातना के तीन भेद किए हैं लेकिन समवायांग तथा दशाश्रुतस्कन्ध आदि ग्रंथों में तेतीस आशातनाओं का वर्णन प्राप्त है। उनको यदि साधु प्रयोजन वश करता है तो वह न भारीकर्मा होता है और न आशातना का भागी होता है।[1] जैसे गुरु के आगे चलना आशातना है लेकिन यदि गुरु मार्ग से अनजान हैं, प्रज्ञाचक्षु हैं तो उनके आगे चलना आशातना नहीं है। इसी प्रकार विषम स्थान में गिरने का भय हो या रात्रि का समय हो तो साथ-साथ चलना आशातना नहीं है।

१. दशश्रुनि २३ ; जाइं भणियाइं सुत्ते, ताइं जो कुणइ कारणज्जाए। सो न हु भारियकम्मो, गणेती गुरुं गुरुट्ठाणे।

२. 'आलत्ते' आदि पांचों स्थानों में कठोर वचनों की उत्पत्ति होती है, ऐसा निशीथभाष्य[1] और बृहत्कल्पभाष्य[2] में उल्लेख मिलता है। बृहत्कल्पभाष्य में इस प्रसंग में चण्डरुद्र[3] का कथानक उल्लिखित है तथा चुप रहना, हुंकारा देना आदि कठोर वचन के प्रकार के रूप में उल्लिखित हैं।[4]

१. निभा ८६३; आलत्ते वाहित्ते, वावारित पुच्छिते णिसट्ठे य। फरुसवयणम्मि एए, पंचेव गमा मुणेयव्वा॥

२. बृभा ६१०२।

३. बृभा ६१०३, ६१०४।

४. बृभा ६१०५, निभा ८६६

३. निशीथ भाष्य के अनुसार आचार्य द्वारा आलाप आदि किए जाने पर यदि शिष्य तूष्णीक—चुप रहना आदि प्रतिक्रिया करता है तो क्रमशः लघुमास आदि प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।[1]

१. निभा ८६७; मासो लहुओ गुरुओ, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य। छम्मासा लहुगुरुगा, छेदो मूलं तह दुगं च॥

है, यह कहूंगा। गुरु का विनय[1] अनेक प्रकार से होता है—१. गुरु के आने पर अभ्युत्थान २. अभिग्रहण—उनके हाथ से सामान लेना ३. आसन देना ४. सत्कार करना ५. सम्मान करना ६. कृतिकर्म करना ७. अंजलि-प्रग्रह—हाथ जोड़ना ८. अनुगति—अनुगमन करना ९. गुरु के बैठने पर उनकी उपासना करना, १०. जाते हुए गुरु को पहुंचाने जाना।[2] आसन आदि देने से सत्कार तथा योग्य उपधि देने से सम्मान होता है।

८७५. जहां आचार्य बैठें या स्थित रहें, वहां कल्प और संस्तारक करना और उनके आगमन का काल जानकर काल-प्रतिलेखन[3] करके स्थित रहना।

८७६. कृतिकर्म का अर्थ है—वंदना। दोनों हाथ ऊपर करके ललाट पर लगाना अंजलिप्रग्रह है। शेष अनुगति और स्थित-पर्युपासना—आदि पद कंठ्य—स्वतः ज्ञातव्य हैं।

८७७. जो शिष्य आचार्य के प्रति इस प्रकार के विनय का आचरण नहीं करता, उसके विनय का भंग होता है। अथवा ज्ञान विनय आदि सात प्रकार का विनय होता है।

८७८. विनय सात प्रकार का होता है—१. ज्ञान २. दर्शन ३. चारित्र ४. मन ५. वचन ६. काया ७. औपचारिक। इनका आचरण न करना विनयभंग है।

८७९. विनयभंग का मैंने संक्षेप में वर्णन कर दिया। अब मैं इच्छाकार आदि सामाचारी न करना-इस संदर्भ में कहूंगा।

---

१. जो आठ प्रकार के कर्म का अपनयन करता है, वह विनय है।[1] उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार अभ्युत्थान, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरु की भक्ति और शुश्रूषा करना विनय है।[2] दशवैकालिक निर्युक्ति में इनको कायिक विनय के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। वहां कायिक विनय आठ प्रकार का निर्दिष्ट है—१. अभ्युत्थान २. अंजलीकरण ३. आसनदान ४. अभिग्रह ५. कृतिकर्म ६. शुश्रूषा ७. अनुगमन ८. संसाधन—पहुंचाने जाना।[3] गुरु के प्रति विनय के विस्तार हेतु देखें—उत्तराध्ययन का प्रथम अध्ययन, दशवैकालिक का नौवां अध्ययन तथा दशवैकालिक निर्युक्ति की गाथाएं २८६-३०१।

**१. आवनि ८०९ ; जम्हा विणयति कम्मं, अट्ठविधं चाउरंतमोक्खाए। तम्हा उ वयंति विऊ, विणओ त्ति विलीणसंसारा॥**

**२. उ ३०/३२ ; अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं। गुरुभत्तिभावसुस्सूसण, विणओ एस वियाहिओ॥**

**३. दशनि २९८; अब्भुट्ठाणं अंजलि, आसणदाणं अभिग्गह-किती य। सुस्सूसण अणुगच्छण, संसाधण-काय अट्ठविहो॥**

२. दशवैकालिक की हारिभद्रीय टीका में संसाहण का—संसाधनं व्रजतोऽनुव्रजनं अर्थ किया है अर्थात् जाने के लिए उद्यत गुरु को पहुंचाने जाना।[1] यहां पर भाष्यकार ने 'पडिसंसाहण' शब्द का प्रयोग किया है, जो इसी अर्थ का द्योतक है।

**१. दशहाटी प. २४१।**

३. आगमोक्त विधि से स्वाध्याय आदि के काल का ग्रहण, निर्धारण तथा प्रज्ञापन करना। प्राचीन काल में दिक् और नक्षत्र-अवलोकन के द्वारा काल का ज्ञान किया जाता था। काल-प्रतिलेखना के लिए विशेष रूप से मुनि नियुक्त रहते थे। काल-प्रतिलेखना किए बिना स्वाध्याय करने वाला चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है।[1]

**१. व्यभा ३१५३-५५।**

८८०, ८८१. सामाचारी[1] दशविध हैं—१. इच्छाकार[2] २. मिथ्याकार[3] ३. तथाकार[4] ४. आवश्यकी[5]

---

१. शान्त्याचार्य के अनुसार साधुओं के कर्त्तव्य को सामाचारी कहा जाता है।[1] आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार सामाचारी का अर्थ है—मुनि का पारस्परिक आचार-व्यवहार। मूलाचार में सामाचारी के लिए 'समाचार' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] इच्छाकार, मिच्छाकार आदि ओघ सामाचारी के दश भेद हैं। भगवती (२५/५५५) और ठाणं (१०/१०२) में सामाचारी का यही क्रम है लेकिन उत्तराध्ययन में क्रमभेद है (उ २६/२-४)। वहां निमंत्रणा के स्थान पर अभ्युत्थान है। यहां शब्दभेद का अंतर है, तात्पर्य एक ही है। शान्त्याचार्य ने अभ्युत्थान का अर्थ किया है—सब कार्यों को करने में उद्यत रहना।[3] सामाचारी के विस्तार हेतु देखें उत्तराध्ययन के छब्बीसवें अध्ययन का आमुख पृ. ४०९, ४१०।

**१. उशांटी प. ५३३; यतिजनेति कर्त्तव्यतारूपा.....सामाचारी।**

**२. मूला १२३।**

**३. उशांटी प. ५३४; तथेति प्रतिपद्य च सर्वकृत्येषूद्यमवता भाव्यमिति तदनु तद्रूपमभ्युत्थानम्।**

२. जहां औचित्य हो, वहां स्वयं या अन्य के कार्य में प्रवृत्त होना इच्छाकार सामाचारी है। इसके दो रूप हैं—

१. आत्मसारण—इच्छा हो तो मैं आपका यह कार्य करूं।

२. अन्यसारण—आपकी इच्छा हो तो आप मुझे सूत्र की वाचना दें, पात्र के लेप लगा दें आदि। निर्युक्तिकार कहते हैं कि प्रयोजनवश यदि दूसरों से कार्य करवाना हो तो रत्नाधिक साधुओं को छोड़कर शेष साधुओं के समक्ष इच्छाकार शब्द का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् आपकी इच्छा हो तो आप यह कार्य करें किन्तु जबरदस्ती कार्य नहीं करवाना चाहिए।[1] आवश्यक निर्युक्ति की हारिभद्रीय टीका के अनुसार आपवादिक मार्ग में आज्ञा और बलाभियोग का प्रयोग किया जा सकता है।[2]

**१. आवनि ४३६/१२-१५।**

**२. आवहाटी १ पृ. १७४; अपवादस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ।**

३. संयम योगों में अन्यथा आचरण होने पर, उसकी जानकारी होने पर 'मिच्छामि दुक्कडं' का प्रयोग करना मिथ्याकार सामाचारी है।[1] जिस कार्य का मिथ्यादुष्कृत किया है, उस आचरण को पुनः नहीं दोहराना ही वास्तविक मिथ्याकार सामाचारी है।[2]

**१. आवनि ४३६/१७, १८।**

**२. आवनि ४३६/१९।**

४. गुरु के वचन सुनकर तथाकार अर्थात् 'यह ऐसा ही है' का प्रयोग करना तथाकार सामाचारी है। तथाकार का प्रयोग किसके प्रति करना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं—जो कल्प-अकल्प (विधि-निषेध) का ज्ञाता है, महाव्रतों में स्थित है, संयम और तप से सम्पन्न है, उसके प्रति तथाकार (तहत्) का प्रयोग करना चाहिए अथवा गुरु जब सूत्र की वाचना दें, सामाचारी का उपदेश दें, सूत्र का अर्थ बताएं या अन्य कोई बात कहें तो शिष्य तथाकार—आपका कथन सत्य है, ऐसा प्रयोग करे।[1]

**१. आवनि ४३६/२३, २४।**

५. आवश्यक कार्य हेतु स्थान से बाहर जाते समय 'मैं आवश्यक कार्य हेतु स्थान से बाहर जा रहा हूं' अतः 'आवस्सही' उच्चारण के द्वारा स्वयं के जाने की सूचना देना आवश्यकी सामाचारी है।[1]

**१. उशांटी प. ५३४; गमने तथाविधालम्बनतो बहिर्निःसरणे आवश्यकेषु अशेषावश्यककर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यकी।**

५. नैषेधिकी[1] ६. आपृच्छा[2] ७. प्रतिपृच्छा[3] ८. छंदना[4] ९. निमंत्रणा[5] १०. उपसंपदा।[6] अब मैं लघुस्वक मृषावाद[7] आदि के बारे में संक्षेप में कहूंगा।

८८२, ८८३. १. प्रचला—नींद २. उल्ल—आर्द्र ३. मरुक—ब्राह्मण ४. प्रत्याख्यान ५. गमन ६. पर्याय ७. समुद्देश ८. संखडि—जीमनवार ९. क्षुल्लक १०. पारिहारिक ११. घोटकमुखी १२. अवश्यगमन

---

१. कार्य से निवृत्त होकर स्थान में प्रवेश करते समय 'नैषेधिकी' शब्द का उच्चारण करना।[1] आवश्यक चूर्णि के अनुसार प्रतिषिद्ध के आसेवन का निवर्तन करने वाली क्रिया नैषेधिकी सामाचारी है।[2]

**१. उ २६/५ ; ठाणे कुज्जा निसीहियं।**

**२. आवचू २ पृ. ४६; पडिसिद्धनिसेवणनियत्तस्स किरिया निसीहिया।**

२. कार्य करने से पूर्व गुरु से अनुमति लेना आपृच्छना सामाचारी है। शान्त्याचार्य के अनुसार श्वासोच्छ्वास को छोड़कर स्व और पर से सम्बन्धित प्रत्येक कार्य गुरु से पूछकर करना आपृच्छना सामाचारी है।[1]

**१. (क) उशांटी प ५३५ ; उच्छ्वासनिःश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपरसम्बन्धिषु गुरवः प्रष्टव्याः.....।**

**(ख) विभा ३४६४; उस्सासाइं पमोत्तुं तदणापुच्छाइं पडिसिद्धं।**

३. एक कार्य सम्पन्न होने पर दूसरा कार्य करते समय गुरु से पूछना प्रतिप्रच्छना है। आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार पूर्व निषिद्ध कार्य करने के लिए गुरु की पुनः आज्ञा लेना प्रतिपृच्छा है।[1] शान्त्याचार्य के अनुसार गुरु के द्वारा किसी कार्य में नियुक्त करने पर भी प्रवृत्ति काल में पुनः आज्ञा लेनी चाहिए क्योंकि संभव है गुरु को उस समय कोई दूसरा कार्य कराने की अपेक्षा हो अथवा पूर्व निर्दिष्ट कार्य किसी अन्य साधु के द्वारा सम्पादित हो चुका हो।[2]

**१. आवनि ४३६/३१; पुव्वनिसिद्धेण होति पडिपुच्छा।**

**२. उशांटी प. ५३४ ; गुरुनियुक्तोऽपि हि पुनः प्रवृत्तिकाले प्रतिपृच्छत्येव गुरुं, स हि कार्यान्तरमप्यादिशेत् सिद्धं वा तदन्यतः स्यादिति।**

४. भिक्षा में प्राप्त अशन आदि द्रव्यों से गुरु आदि को निमंत्रित करना छंदना सामाचारी है, इसे निमंत्रणा भी कहा जाता है।

५. अशन आदि से अगृहीत दूसरे मुनियों को आहार आदि लाने की भावना निमंत्रणा सामाचारी है।[1]

**१. आवनि ४३६/३१; निमंतणा होयगहिएणं।**

६. ज्ञान आदि की उपलब्धि हेतु सीमित काल के लिए अन्य गण के आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करना उपसम्पदा सामाचारी है।

७. लघुस्वक मृषावाद निशीथ भाष्य में विस्तार से व्याख्यायित है। वहां इसके चार भेद किए गए हैं—१. द्रव्य २. क्षेत्र ३. काल और ४. भाव। वस्त्र-पात्र आदि के बारे में मृषा बोलना द्रव्य विषयक लघुस्वक मृषावाद है, जैसे—किसी साधु का वस्त्र नहीं है फिर भी कहना यह वस्त्र मेरा है अथवा गाय को घोड़ा कहना तथा द्रव्यभूत अर्थात् भावक्रिया से रहित अनुपयुक्त अवस्था में बोलना, यह सब द्रव्य संबंधी लघुस्वक मृषा है। संस्तारक, वसति आदि के बारे में मृषा बोलना क्षेत्रविषयक मृषावचन है। अतीत या अनागत के विषय में मृषा बोलना काल विषयक मृषा है। भाष्यकार ने प्रचला, आर्द्र आदि १५ पदों को भाव लघुस्वक मृषावाद के अन्तर्गत रखा है।[1]

भाष्यकार ने निम्न कारणों से लघुस्वक मृषावचन को विहित माना है—१. लोकापवाद २. संयम-रक्षा ३. म्लेच्छ ४. स्तेन ५. क्षेत्र ६. प्रत्यनीक ७. शैक्ष ८. वाद-विवाद।[2]

**१. विस्तार हेतु देखें निभा ८७५-८४।**

**२. इनकी व्याख्या हेतु देखें निभा ८८५ चू पृ. ८१।**

१३. दिशा १४. एककुल १५. एकद्रव्य—इन कारणों से मुनि लघुस्वक मृषा[1] बोलता है। (इन सब द्वारों की व्याख्या आगे की गाथाओं में है।)

८८४. एक साधु ने दूसरे साधु से कहा—'क्या तुम दिन में नींद लेते हो?' उसने उत्तर दिया—'मैं नींद नहीं ले रहा हूं।' इस प्रकार प्रथम बार अपलाप करने पर लघुमास, दूसरी बार अपलाप करने पर गुरुमास, तीसरी बार किसी दूसरे साधु को दिखाया फिर भी अपलाप करने पर चतुर्लघु तथा अनेक साधुओं के कहने पर भी स्वीकार न करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

८८५. इस प्रकार बार-बार अपलाप करने पर स्वपद—पाराञ्चित तक प्रायश्चित्त बढ़ता चला जाता है।[2] प्रस्तुत प्रसंग में जिस मृषावाद में जहां-जहां लघुमास या गुरुमास है, वहां सूक्ष्म मृषावाद है और जहां चतुर्लघुक आदि प्रायश्चित्त वाले स्थान हैं, वहां बादर मृषावाद है।

८८६. वर्षा में साधु को जाते देख किसी अन्य साधु ने पूछा—'तुम वर्षा में क्यों जा रहे हो?' वह बोला—मैं वासंत[3] वर्षा में नहीं जा रहा हूं। पुनः जाने पर पूछा तो वह बोला—'ये तो वर्षा की बूंदे हैं।'

साधु ने उपाश्रय में आकर कहा—'साधुओं! वहां जाओ, ब्राह्मण भोजन कर रहे हैं।' साधु ने पूछा—'ब्राह्मण कहां भोजन कर रहे हैं?' साधु बोला—'सभी अपने-अपने घरों में भोजन कर रहे हैं।'

८८७. साधु के द्वारा आहार का कहने पर मुनि बोला—'मुझे प्रत्याख्यान है।' तत्क्षण खाते हुए उसे देखकर पूछा कि प्रत्याख्यान में अभी तुमने कैसे खाया? उत्तर देते हुए मुनि बोला—'क्या मैंने प्राणातिपात आदि पांच प्रकार की अविरति का त्याग नहीं किया है?'

८८८. साधु ने पूछा—'क्या तुम जा रहे हो?' उसने कहा—'नहीं।' तत्क्षण चलने पर साधुओं ने पूछा—'निषेध करने पर भी तुम अभी कैसे चले?' उसने उत्तर दिया—'तुम सिद्धान्त को नहीं जानते हो। चलने वाला ही चलता है, उस समय मैं गम्यमान नहीं था।'[4]

८८९. दो साधु खड़े थे। तीसरे साधु ने पूछा—'आपका संयम-पर्याय कितना है?' एक ने छलपूर्वक उत्तर दिया—'इसका और मेरा दश वर्ष का संयम-पर्याय है।' आगंतुक मुनि ने कहा—'मेरा संयम-पर्याय नौ वर्ष का है। वह उन साधुओं को वंदना करने लगा। तब उसने कहा—'मेरा संयम-पर्याय पांच वर्ष का तथा

---

१. निशीथ भाष्य में भाव मृषावाद के दो भेद किए हैं—सूक्ष्म और बादर। उसमें भी सूक्ष्म लोकोत्तर मृषावाद के प्रचला आदि १५ स्थान बताए हैं।

२. पांचवी बार अपलाप करने पर षड्लघु, छठी बार षड्गुरु, सातवीं बार छेद, आठवीं बार मूल, नौवीं बार अनवस्थाप्य और दसवीं बार पाराञ्चित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[1]

१. बृभाटी पृ.१६०४।

३. वास धातु शब्द करने में है। 'वर्षा में शब्द होता है तो जाने का निषेध है', इस प्रकार छल से उत्तर देने पर प्रथम, द्वितीय बार आदि में प्रचला द्वार की भांति प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

४. भगवती के प्रथम शतक में 'चलमाण चलित' आदि का विस्तृत वर्णन है। आचार्य महाप्रज्ञ ने भगवती भाष्य में इसकी विस्तार से व्याख्या की है।[1]

१. भभा-१ पृ. २१-२३।

इसका भी पांच वर्ष का—दोनों मिलकर दस वर्ष होते हैं।

८९०. साधु ने कहा—'आज समुद्देश[1] है, ऐसे ही क्यों बैठे हो?' इतना सुनते ही साधु गोचरी के लिए तैयार हुए और पूछा—'कहां है समुद्देश?' उसने कहा—'गगन में देखो, आज राहु के द्वारा सूर्य का समुद्देश—भक्षण हो रहा है।'

साधु ने कहा—'यहां प्रचुर संखड़ियां—जीमनवार हैं।' मुनि गोचरी के लिए उद्यत हुए। उन्होंने पूछा—'कहां हैं संखड़ियां?' उसने कहा—'घर-घर में संखड़ी[2] है क्योंकि घर-घर में आयु का खंडन हो रहा है।'

८९१. एक साधु ने उपाश्रय के पास मृत कुतिया को देखकर क्षुल्लक मुनि से कहा—'तुम्हारी जननी मर गई।' क्षुल्लक रोने लगा। तब साधु बोला—'तुम क्यों रोते हो, तुम्हारी मां तो जीवित है।' (मुनि बोला—'तब तुमने ऐसा कैसे कहा कि मेरी मां मर गई?') साधु बोला मैंने ठीक ही कहा—'यह जो कुतिया मरी है, वह कभी तुम्हारी माता रही होगी। अतीत में सभी जीव माता रूप में रह चुके हैं अतः यह कुतिया तुम्हारी मां है।'

८९२. अवसन्न साधु को देखकर मुनि बोला—'आज मैंने पारिहारिक[3] साधुओं को देखा।' इस प्रकार छलपूर्वक कहने वाले को लघुमास प्रायश्चित्त, कहां देखा यह पूछने पर यदि वह कहता है कि उद्यान में देखा तो गुरुमास प्रायश्चित्त, पारिहारिक साधुओं को देखने हेतु मुनि चले, जब तक वे उन्हें नहीं देख लेते, तब तक कहने वाले को चतुर्लघु और देख लेने पर भी अपनी बात पर दृढ़ रहने वाले को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

८९३, ८९४. 'ये साधु अवसन्न हैं'—ऐसा सोचकर लौटकर आने पर भी अपनी बात पुष्ट करे तो षड्लघु, साधु आचार्य के पास आलोचना करते हैं कि आज साधु द्वारा छले गए फिर भी वैसा ही कहने पर षड्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। मुनि पूछते हैं—'उद्यानस्थ मुनि परिहार योग्य है फिर भी पारिहारिक कैसे हुए?' साधु कहता है कि वे परिहार करते हैं अतः अपारिहारिक कैसे हुए? ऐसा कहने वाले को छेद प्रायश्चित्त। साधुओं ने उससे पूछा—'वे किसका परिहार करते हैं?' वह उत्तर देता है कि वे स्थाणु, कंटक आदि का परिहार करते हैं, इस प्रकार कहने वाले को मूल प्रायश्चित्त, जब वह कहता है कि तुम सब एक हो, मैं अकेला हूं तो अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त तथा तुम सब प्रवचन से बाहर हो, ऐसा कहने वाले को पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

---

१. 'समुद्देश' सामयिक शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ है भोजन अथवा विवाह आदि के उपलक्ष्य में बनाए गए खाद्य पदार्थ, जिसको सब साधु-संन्यासियों में बांटने का संकल्प हो।

२. यहां सूक्ष्म मृषा इसलिए है क्योंकि घर में सामान्य रूप से बनने वाले भोजन को संखडी नहीं कहा जाता लेकिन सूक्ष्म मृषाभाषी मुनि ने उसका अन्य अर्थ करते हुए कहा कि घर में पचन-पाचन आदि में पृथ्वीकाय आदि जीवों के आयुष्य का खंडन हो रहा है।

३. छल के कारण साधु के कहने का आशय यह था जिससे दूसरे साधु यह समझें कि इसने परिहारविशुद्धि चारित्र का पालन करने वाले साधुओं को देखा है।

८९५, ८९६. बाहर से उपाश्रय में आकर साधु बोला–'आज मैंने घोड़े के मुंह वाली एक स्त्री को देखा।' ऐसा कहने पर लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। साधुओं ने पूछा—'कहां?' तो उसने कहा उद्यान में, ऐसा कहने वाले को गुरुमास, देखने के लिए साधुओं के प्रस्थित होने पर चतुर्लघु, घोड़ियों को देखने पर भी अपनी बात पर दृढ़ रहने पर चतुर्गुरु, देखकर लौटने पर षड्गुरु, गुरु के समक्ष आलोचना करने पर षड्लघु, फिर भी कहना कि घोटकमुखी स्त्रियों को देखा तो छेद, साधुओं ने उससे कहा—'उनको तुम स्त्रियां कैसे कहते हो?' ऐसा कहने पर वह बोला—'तो क्या वे मनुष्य हैं' ऐसा कहने पर मूल, तुम सब एक हो गए हो, मैं अकेला हूं, ऐसा कहने पर अनवस्थाप्य, 'तुम सब प्रवचन से बाहर हो', ऐसा कहने पर पारांचित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[1]

८९७. साधुओं ने कहा—'तुम अभी जा रहे हो?' साधु ने कहा—'अभी नहीं जाऊंगा।' तत्क्षण चलने पर उससे पूछा कि तुम अभी कैसे जा रहे हो? यह पूछने पर वह बोला—'मेरे कथन का तात्पर्य था अभी तक परलोक या मोक्ष जाने का समय नहीं आया है।'

८९८. एक साधु ने दूसरे साधु से पूछा—'तुम किस दिशा में भिक्षार्थ जाओगे?' उसने कहा—'पूर्व दिशा में।' वह पश्चिम दिशा में चला गया। उसने पूछा कि तुम पूर्व दिशा में क्यों नहीं गए? साधु बोला—'पश्चिम दिशावर्ती गांव की अपेक्षा क्या यह पूर्व दिशा नहीं है?'

८९९. भिक्षार्थ प्रस्थित मुनि ने दूसरे मुनि से कहा—'तुम लोग जाओ, मैं एक ही कुल में जाऊंगा।' अनेक कुलों में जाने पर साधुओं ने उससे पूछा—'तुम अनेक कुलों में कैसे जा रहे हो?' साधु बोला—'मैं एक शरीर से दो कुलों में एक साथ कैसे प्रवेश कर सकता हूं' अतः एक समय में एक ही कुल में जा रहा हूं।

९००. भिक्षा हेतु चलने के लिए कहने पर दूसरा मुनि बोला—'तुम भिक्षार्थ जाओ, मुझे एक ही द्रव्य ग्रहण करना है।' अनेक द्रव्य ग्रहण करने पर उससे पूछा गया कि तुम अनेक द्रव्य क्यों ग्रहण कर रहे हो? उसने उत्तर दिया—'छह द्रव्यों में ग्रहण लक्षण वाला केवल पुद्गलास्तिकाय है अतः मैं केवल एक ही द्रव्य को ग्रहण कर रहा हूं।'

९०१. पचला आदि पदों को संक्षेप में वर्णित किया है, इनमें लघुमास या गुरुमास प्रायश्चित्त तक लघुस्वक सूक्ष्म मृषा जानना चाहिए।

९०२. तृण, डगलक—पत्थर का टुकड़ा, क्षार—राख, मल्लक, अवग्रह आदि को बिना आज्ञा लेना

---

१. बृहत्कल्पभाष्य में अंतिम तीन प्रायश्चित्त प्रकारान्तर से वर्णित हैं। तुम सब एक साथ मिल गए हो, ऐसा कहने पर मूल, मैं अकेला रह गया, क्या करूं ऐसा कहने वाले को अनवस्थाप्य तथा तुम सब प्रवचन से बाहर हो, ऐसा कहने वाले को अंतिम पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1]

१. बृभा ६०८२।

लघुस्वक अदत्त है। अथवा वृक्ष आदि के नीचे बिना आज्ञा रहना भी लघुस्वक अदत्त[1] है।

**१०३.** मुखवस्त्र, पात्रकेशरिका, पात्रस्थापना, गोच्छक आदि उपकरणों पर साधु की मूर्च्छा होने पर लघुस्वक परिग्रह होता है।

**१०४.** अथवा शय्यातर के घर बैल, श्वान, काक आदि को आने से रोकना, बालक को गोद में लेना, रक्षा या ममत्व आदि करना लघुस्वक परिग्रह है।

**१०५.** ये द्वितीय, तृतीय और पंचम व्रत से सम्बन्धित लघुस्वक जानने चाहिए। नवीं गाथा समाप्त हो गई, अब मैं दसवीं गाथा कहूंगा।

**१०. अविधिपूर्वक खांसी, जम्भाई, छींक, वात-निसर्ग, असंक्लिष्ट कर्म तथा कंदर्प, हास्य, विकथा, कषाय और विषय में आसक्ति करने पर मिथ्याकार प्रतिक्रमण होता है।**

**१०६.** मुंह के आगे हाथ या मुखवस्त्र लगाए बिना जम्भाई या छींक आदि लेना अविधि है।

**१०७.** 'खु' ऐसा शब्द करना छींक है। वात-निसर्ग दो प्रकार का होता है—ऊर्ध्ववायु निसर्ग तथा अधोवायु निसर्ग।

**१०८.** डकार आदि आना ऊर्ध्व वात-निसर्ग है। नीचे से वायु निकलना अधः वात-निसर्ग है। डकार लेने में जतना के लिए मुखवस्त्र या हाथ को मुंह के आगे रखना चाहिए।

**१०९.** नीचे की ओर पुतकर्षण करना अधोवात निसर्ग यतना है। इससे अन्यथा करना अविधि निसर्ग है।

**११०.** छेदन-भेदन आदि[2] करना असंक्लिष्ट कर्म है। वचन और काया से कंदर्प होता है।

**१११.** हंसना हास्य कहलाता है। स्त्रीकथा, भक्तकथा आदि चार प्रकार की विकथाएं हैं। क्रोध आदि चार कषाय तथा शब्द, रूप आदि को विषय जानना चाहिए।

---

१. निशीथ चूर्णि[1] के अनुसार घास, पत्थर का टुकड़ा, राख और शराब आदि अदत्त ग्रहण करने पर पणग प्रायश्चित्त, वृक्ष आदि के नीचे बिना अनुज्ञा विश्राम करने पर लघुमास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। भाष्यकार के अनुसार निम्न कारणों से अदत्त ग्रहण किया जा सकता है[2]—

१. अध्वान—अटवी में कोई आज्ञा देने वाला न हो तो तृण आदि लिया जा सकता है।

२. आगाढ़ रोग—अत्यधिक रोग की स्थिति में शीघ्रता के कारण द्रव्य आदि बिना आज्ञा लिए जा सकते हैं।

३. दुर्भिक्ष में अदत्त भक्त स्वयं ग्रहण कर सकता है।

४. अशिव गृहीत के लिए अदत्त संस्तारक आदि ले सकता है।

५. विकाल वेला में वसति उपलब्ध न होने पर श्वापद आदि के उपद्रव की स्थिति में गृहस्वामी के न होने पर बिना अनुज्ञा रुक जाए फिर स्वामी से अनुज्ञा ली जा सकती है।

**१. निचू २ पृ. ८२।**

**२. विस्तार हेतु देखें निभा ८९०-९४, चू. पृ. ८२, ८३।**

२. चूर्णिकार के अनुसार 'आदि' शब्द से संघर्षण, ईक्षु आदि पीलना, अभिघात, सिंचन, शरीर पर क्षार लगाना आदि को भी असंक्लिष्ट कर्म के अन्तर्गत ग्रहण करना चाहिए।[1]

**१. जीचू पृ. ९।**

९१२. शब्द आदि विषयों में साधु की सहसा या अनाभोग से जो आसक्ति है, वह विषयसंग है। अविधि विषयक गाथा समाप्त हो गई।

**११. हिंसा न होने पर भी यतनायुक्त मुनि के सहसा या अजानकारी में सर्वत्र[1] समिति-गुप्ति आदि में स्खलना होने पर मिथ्याकार प्रतिक्रमण होता है।**

९१३. स्खलना दो प्रकार की होती है—सहसा तथा अजानकारी में। वह कहां दो प्रकार की होती है, वह सब मैं कहूंगा।

९१४. सब व्रतों में, गुप्ति में, समिति में तथा ज्ञान आदि में सर्वत्र यह स्खलना होती है।

९१५. हिंसा नहीं होने पर भी यतना युक्त मुनि के सहसा और अजानकारी में स्खलना होने पर (मिथ्याकार प्रतिक्रमण होता है।)

९१६. उपयुक्त होकर करने पर भी जो अतिचार को नहीं जानता कि मैं यह कर रहा है अथवा करके भूल जाता है, वह अनाभोग[2] है।

९१७. पहले उपयुक्त होकर बोलने वाला सहसा प्रतिसेवना कर लेता है, वह वहां से निवृत्त नहीं हो पाता, यह सहसाकरण है।

९१८. सहसा और अनाभोग का संक्षेप में वर्णन कर दिया, इसका विशुद्धिस्थान मिथ्याकार प्रतिक्रमण है।

**१२. जानते हुए छोटी-छोटी बातों में स्नेह, भय, शोक[3], बकुशत्व[4] आदि[5] करने पर तथा कंदर्प, हास्य, विकथा आदि का प्रयोग होने पर प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त होता है।**

९१९, ९२०. आभोग का अर्थ जानते हुए तथा तनु का अर्थ थोड़ा जानना चाहिए। बालक, शय्यातर या ज्ञाति आदि के प्रति यदि थोड़ा स्नेह आदि किया जाता है तो उसका प्रायश्चित्त मिथ्याकार प्रतिक्रमण होता है।

---

१. 'सर्वत्र' शब्द से यहां दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, समिति, गुप्ति, इंद्रिय आदि में स्खलना को ग्रहण करना चाहिए।[1]
१. जीचू पृ. ९ ; सव्वत्थ वि त्ति सव्वपएसु दंसण-णाण-चरित्त-तव-समिइ-गुत्तिंदियाइसु खलियस्स।

२. यद्यपि अनाभोग में प्राणातिपात नहीं होता, फिर भी अनुपयुक्त भाव के कारण यह प्रतिसेवना है।

३. सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र द्रव्य के संयोग और वियोग से उत्पन्न होने वाली मानसिक स्थिति शोक है।[1]
१. जीचू पृ. ९; सोगो सच्चित्ताचित्तमीसदव्वाण संजोगेण विओगेण य कओ होज्जा।

४. चूर्णिकार के अनुसार शरीर की सेवा में रत रहना तथा बार-बार हाथ-पांव धोना बकुशत्व[1] है। बकुश, शबल और कर्बुर—ये एकार्थक शब्द हैं। जिसका चारित्र अतिचार के पंक से चितकबरा हो जाता है, वह बकुश कहलाता है।[2]
१. जीचू पृ. ९; बाउसत्तं सरीरसुस्सूसापरायणत्तं हत्थपायाइधोवणं।
२. जीचूवि पृ. ४३; बउसं सबलं कब्बुरमेगट्ठं तमिह जस्स चारित्तं। अइयारपंकभावा, सो बउसो होइ नायव्वो॥

५. चूर्णि के अनुसार 'आदि' शब्द से पार्श्वस्थ, अवसन्न और संसक्त आदि गृहीत हैं।[1]
१. जीचू पृ. ९, १० ; आइसद्देण कुसील-पासत्थोसन्नसंसत्ता घेप्पंति।

**१२१-२३.** अल्प स्नेह का वर्णन कर दिया, अब मैं सात प्रकार के भय[1] को कहूंगा—१. इहलोकभय २. परलोकभय ३. आदानभय ४. अकस्माद्भय ५. आजीविकाभय[2] ६. अश्लोक—अकीर्ति भय ७. तथा मरणभय। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—अपनी जाति से—मनुष्य-मनुष्य से, देव-देव से तथा तिर्यञ्च-तिर्यञ्च से भयभीत होता है, इसे इहलोकभय जानना चाहिए। मनुष्य यदि विसदृश—तिर्यञ्च या देव आदि से भयभीत होता है तो वह परलोकभय है।

**१२४.** चोर आदि द्वारा धन लेने पर जो भय पैदा होता है, वह आदान भय है। उसकी रक्षा के लिए मनुष्य बाड़ या प्राकार-परकोटे आदि का निर्माण करवाता है।

**१२५, १२६.** अटवी में रात्रि में कुछ दिखाई नहीं देने पर भी बिना कारण जो भय पैदा होता है, वह अकस्मात् भय कहलाता है। दुष्काल है, अतिथि आ गए हैं, अब मैं कैसे जीवन-यापन करूंगा, निर्धन का यह चिन्तन आजीविकाभय है। मरण महान् भय है अतः वह सिद्ध ही है।

**१२७.** अश्लोक का अर्थ है—अयश। यदि ऐसा कार्य करूंगा तो लोक में अयश होगा, शीत आदि से जो भय पैदा होता है, वह वेदनाभय है।

**१२८.** यह सात प्रकार का भय है। इनमें अल्प मात्रा में वर्तन करने पर उसका विशोधिस्थान मिथ्याकार प्रतिक्रमण है।

**१२९.** जानते हुए वियोग में शोक और चिन्ता आदि करने पर उसका प्रायश्चित्त मिथ्याकार प्रतिक्रमण है।

**१३०.** बाकुशिक पांच प्रकार का होता है—१. आभोग २. अनाभोग ३. संवृत ४. असंवृत तथा ५. यथासूक्ष्म। यहां सूक्ष्म आभोग का प्रसंग है।

---

१. निशीथ भाष्य में भय उत्पत्ति के चार कारण बताए हैं। वहां इन सात भयों का समवतार भी इन चार प्रकार के भयों में किया गया है—

दिव्यभय—राक्षस, पिशाच आदि से उत्पन्न।

मानुष्यभय—चोर आदि से उत्पन्न।

तैरश्चिकभय—जल, अग्नि, वायु, हाथी आदि से उत्पन्न।

अकस्माद्भय—निर्हेतुक भय।

इन चारों के दो-दो भेद हैं—सत् और असत्। पिशाच, सिंह आदि का भय सत् तथा बिना देखे भय उत्पन्न होना असत् है।

चूर्णिकार के अनुसार इहलोकभय का मानुष्य भय में, परलोकभय का दिव्य और तिर्यञ्चभय में समवतार होता है तथा आदान, आजीविका आदि चारों भयों का दिव्यभय आदि तीनों में समवतार होता है।[1]

१. निभा ३३१४, ३३१५ चू पृ. १८५, १८६।

२. स्थानांग सूत्र में आजीविका भय के स्थान पर वेदना भय का नामोल्लेख है। वहां छठे और सातवें भय में क्रमव्यत्यय है। पहले मरणभय तथा बाद में अश्लोक भय है।[1]

१. स्था ७/२७।

९३१. कंदर्प आदि पद तो दसवीं गाथा के अनुसार पूर्वोक्त क्रम से हैं। इनमें थोड़ा वर्तन होने पर इनकी विशोधि प्रतिक्रमण से होती है।

९३२. दूसरा प्रतिक्रमण द्वार समाप्त हो गया, अब तीसरा तदुभय द्वार कहूंगा। उसकी यह गाथा है।

**१३. संभ्रम–हड़बड़ी, भय, आतुरता, आपदा, सहसा, अनाभोग और परवशता आदि—इन सब कारणों से अतिचार होने पर तदुभय प्रायश्चित्त होता है, आशंकित होने पर भी तदुभय प्रायश्चित्त होता है।**

९३३. हाथी, अग्नि, उदक आदि से संभ्रम होता है, वह अनेक प्रकार का है। दस्यु, म्लेच्छ तथा मालवस्तेन आदि का भय भी बहुत प्रकार का होता है।

९३४. क्षुधा और पिपासा आदि परीषहों से पीड़ित आतुर होता है, वह भी बहुविध होता है। आपदा चार प्रकार की होती है, उसको मैं संक्षेप में कहूंगा।

९३५. द्रव्य आपदा, क्षेत्र आपदा, काल आपदा और भाव आपदा—ये चार प्रकार की आपदाएं होती हैं। साधु के लिए जिस द्रव्य की प्राप्ति दुर्लभ होती है, वह द्रव्य आपत्ति है।

९३६. विच्छिन्न मडम्ब[1] आदि को क्षेत्र आपत्ति जानना चाहिए। दुर्भिक्ष का समय काल-आपत्ति तथा अत्यधिक ग्लान होना भाव आपत्ति है।

९३७, ९३८. सहसा और अनाभोग—अजानकारी की व्याख्या पहले हो चुकी, अब अनात्मवश—परवशता के बारे में कहूंगा। जो परवश होता है, वह अनात्मवश कहलाता है। वात, पित्त, श्लेष्म और सन्निपात आदि कारणों से व्यक्ति अनात्मवश—परवश होता है अथवा इन कारणों से व्यक्ति परवश होता है—

९३९. यक्षाविष्ट शरीर और मोहनीय कर्म का उदय—इन कारणों से व्यक्ति अनात्मवश—परवश होता है।

---

१. जहां पास में सब दिशाओं में कोई गांव या नगर नहीं होता, वह विच्छिन्न मडम्ब कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ —चारों ओर से छिन्न पर्वत पर बसा गांव।[2] व्याख्या-साहित्य में विच्छिन्न मडम्ब के तीन विकल्प मिलते हैं—

१. जिसके एक योजन तक कोई दूसरा गांव न हो।[3]

२. जिसके ढाई योजन तक कोई दूसरा गांव न हो।[4]

३. जिसके चारों ओर आधे योजन तक गांव न हो।[5]

**१. जीचूवि पृ. ४३; वोच्छिन्ना जत्थ सव्वासु वि दिसासु नत्थि कोइ अन्नो गामो नगरं वा तं, पार्श्वग्रामादिरहितं मडम्बं तथा च मडम्बं सव्वओ छिन्नमिति पव्वते।**

**२. निचू, भा. ३, पृ. ३४६; जोयणब्भंतरे जस्स गामादी णत्थि तं मडंबं।**

**३. उशांटी प. ६०५; मडंब त्ति देशीपदं यस्य सर्वदिक्ष्वर्द्धतृतीययोजनान्तर्ग्रामो नास्ति।**

**४. स्थाटी प. ८३; मडम्बानि सर्वतोऽर्द्धयोजनात् परतोऽवस्थितग्रामाणि।**

१४०. इस प्रकार संभ्रम आदि यथोद्दिष्ट कारणों के होने पर साधु सर्व व्रतों के अतिचारों को परवश होकर करता है।

१४१-४३. परवश होकर साधु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति की विराधना, वृक्ष-आरोहण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंदिय और पंचेन्द्रिय की विराधना करे, इसी प्रकार अनात्मवश होकर मृषावाद आदि का आचरण करे, पिंडविशोधि आदि उत्तरगुणों में विराधना करे तो उस अतिचार की विशुद्धि तदुभय प्रायश्चित्त से होती है। तदुभय प्रायश्चित्त का अर्थ है—गुरु के पास आलोचना तथा उनके कहने पर 'मिच्छामि दुक्कडं' बोलना।

१४४. मूलगुण और उत्तरगुण में इस अतिचार का सेवन किया या नहीं, जहां इसका ज्ञान करना संभव नहीं होता, वहां आशंका होती है। आशंका होने पर तदुभय प्रायश्चित्त[1] की प्राप्ति होती है।

**१४. उपयुक्त होने पर भी साधु दुश्चिन्तित, दुर्भाषित, दुश्चेष्टित आदि[2] बहुविध प्रवृत्तियों में होने वाले दैवसिक आदि अतिचारों को नहीं जानता है।**

१४५. दु धातु जुगुप्सा अर्थ में है, संयम का उपरोधी होने के कारण वह कुत्सित होता है। उसको यदि मन से चिन्तित किया जाता है तो वह दुश्चिन्तित जानना चाहिए।

१४६. इसी प्रकार दुर्भाषित और दुश्चेष्टित जानना चाहिए। मूलसूत्र में आए 'आदि' शब्द से दुष्प्रतिलेखित दुष्प्रमार्जित आदि को भी जानना चाहिए।

१४७. इस प्रकार के अतिचार बहुत बार होते हैं। उपयुक्त होने पर भी वह उन्हें नहीं जानता, स्मरण नहीं करता।

१४८. 'आदि' शब्द के ग्रहण से रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक अतिचारों को जानना चाहिए।

**१५. सब अपवाद पदों में—दर्शन, ज्ञान और चारित्र से सम्बन्धित अपराध पदों में उपयुक्त साधु के तदुभय प्रायश्चित्त होता है। सहसाकरण आदि में भी यही प्रायश्चित्त होता है।**

१४९. (उत्सर्ग पद प्रथम और अपवाद पद द्वितीय कहलाता है।) सर्व शब्द के ग्रहण से सब अपराधपद जानने चाहिए।

१५०. कारण होने पर यतनायुक्त गीतार्थ मुनि के दर्शन, ज्ञान और चारित्र में ये अपराध-पद होते हैं—

१५१, १५२. जैसे तीक्ष्ण उदक के वेग में तथा विषम और कीचड़ युक्त मार्ग पर चलते हुए प्रयत्न करने पर भी अवश होकर व्यक्ति उसमें गिर जाता है, वैसे ही सुविहित श्रमण के पूर्ण प्रयत्न से यतना करने पर भी कर्मोदय के कारण विराधना हो जाती है।

---

१. तदुभय प्रायश्चित्त का अर्थ है—गुरु के पास आलोचना तथा उसके बाद गुरु के द्वारा मिथ्यादुष्कृत का उच्चारण।

२. 'आदि' शब्द के ग्रहण से दुष्प्रतिलेखित तथा दुष्प्रमार्जित का ग्रहण करना चाहिए।

१. जीचू पृ. १०; आइसहसंगहियाणाभोगेण य।

**९५३.** इस प्रकार के यतनायुक्त साधु की विशोधि तदुभय प्रायश्चित्त से होती है। दर्शन आदि में सहसा अतिचार लगने पर भी तदुभय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**९५४.** तदुभय द्वार समाप्त हो गया, अब विवेक द्वार कहूंगा। किसका विवेक करना चाहिए, उसको स्पष्ट करने के लिए यह गाथा है।

**१६. गीतार्थ साधु ने उपयोगपूर्वक आहार, उपधि और शय्या आदि को ग्रहण किया। ग्रहण करने के पश्चात् ज्ञात हुआ कि वह अशुद्ध था। वहां विधिपूर्वक अशुद्ध का विवेक—परिष्ठापन करता हुआ वह मुनि शुद्ध—निरतिचार होता है।**

**९५५.** पिडि धातु संघात अर्थ में प्रयुक्त होती है। पिण्ड शब्द संघात—समूह का वाचक है। पिण्ड सचित्त आदि भेद से नौ-नौ प्रकार का होता है।

**९५६.** पिण्ड नौ प्रकार का होता है—१. पृथ्वीकाय २. अप्काय ३. तेजस्काय ४. वायुकाय ५. वनस्पतिकाय ६. द्वीन्द्रिय ७. त्रीन्द्रिय ८. चतुरिन्द्रिय ९. पंचेन्द्रिय।

**९५७.** पृथ्वी आदि प्रत्येक के सचित्त, अचित्त और मिश्र आदि तीन-तीन भेद होते हैं। प्रभेद करने पर सत्तावीस भेद होते हैं। यह संक्षेप में पिण्ड का वर्णन किया गया है।

**९५८.** संक्षेप में उपधि[1] दो प्रकार की होती है—१. औधिक[2] २. औपग्रहिक।[3] इनके विभाग भी होते हैं, वह ओघनिर्युक्ति में वर्णित है।

**९५९.** शय्या को वसति कहा जाता है, आदि शब्द से डगलग और औषध-भेषज को भी ग्रहण करना चाहिए।

**९६०.** जो आचारचूला के पिण्डैषणा, पानैषणा, वस्त्रैषणा तथा शय्या आदि अध्ययनों के अर्थ को जानता है, वह गीतार्थ—कृतयोगी[4] होता है।

**९६१, ९६२.** अथवा छेदसूत्र आदि के सूत्रार्थ को जानने वाला गीतार्थ कहलाता है। उपयुक्त होकर ग्रहण करने पर बाद में उसे ज्ञात हुआ कि यह आहार उद्गम, उत्पादना एवं एषणा आदि के दोषों से अशुद्ध है अथवा शंका आदि होने पर विधिपूर्वक उसको अलग करने पर वह शुद्ध हो जाता है।

---

१. जो संयम के धारण और पोषण में सहायक होती हैं, वह उपधि है।[1] ओघनिर्युक्ति में उपधि शब्द के आठ एकार्थक मिलते हैं—उपधि, उपग्रह, संग्रह, प्रग्रह, अवग्रह, भंडक, उपकरण और करण।[2]

१. ओनिटी प. १२ ; उपदधातीत्युपधिः, उप-सामीप्येन संयमं धारयति पोषयति चेत्यर्थः।

२. ओनि ६६६; उवही उवग्गहे संगहे य तह पग्गहुग्गहे चेव। भंडग उवगरणे या, करणे वि य हुंति एगट्ठा॥

२. औधिक उपधि—सदा पास में रखी जाने वाली उपधि।

३. औपग्रहिक उपधि—प्रयोजन विशेष से ग्रहण की जाने वाली उपधि।

४. बृहत्कल्पभाष्य की टीका के अनुसार जिसको तप करने का अभ्यास हो, वह कृतयोगी कहलाता है।[1]

१. बृभा ४९४६ टी पृ. १३२३; कृतयोगी तपःकर्मणि कृताभ्यासः।

**१७. कालातीत, अध्वातीत तथा सूर्योदय से पहले और सूर्यास्त के बाद ग्रहण किए हुए आहार का अशठभाव से परिष्ठापन करता हुआ मुनि शुद्ध होता है। ग्लान आदि के कारण से ग्रहण किया हुआ आहार बचने पर उसका परिष्ठापन करने वाला शुद्ध होता है।**

९६३. प्रथम प्रहर में गृहीत अशन और पान आदि को तृतीय प्रहर अतिक्रान्त करके रखना कालातीत[1] आहार कहलाता है।

९६४. अर्द्ध योजन से अधिक दूरी से आनीत या नीत भक्त और पान आदि अध्वातीत या मार्गातीत आहार कहलाता है। मार्ग का अतिक्रमण दो कारणों से होता है—शठता से तथा अशठता से।

९६५, ९६६. विकथा और क्रीड़ा आदि से मार्ग का अतिक्रमण करने वाला शठ होता है तथा ग्लान में व्यापृत होने से, सागारिक के कारण, स्थण्डिल भूमि के अभाव में, स्तेन तथा सांप आदि के भय से मार्ग अतिक्रान्त हो जाए तो वह अशठ होता है।

९६७. इन कारणों से अशठ साधु विधिपूर्वक आहार का विवेक—परित्याग करता हुआ शुद्ध होता है। सूर्य के उदित न होने पर तथा अस्तमित होने पर आहार ग्रहण करने पर भी निम्न कारणों से साधु अशठ होता है—

९६८-७१. पर्वत, राहु, मेघ, धूंअर, पांशु, रज का आवरण—इन कारणों से सूर्य न उगने पर भी वह उग गया है तथा अस्त होने पर भी अस्त नहीं हुआ है, ऐसा सोचकर आहार ग्रहण करना, बाद में ज्ञात हुआ कि सूर्य उदित नहीं हुआ था अथवा अस्त हो गया था, यह जानने पर भी उसका भोग करने वाला शठ तथा आचार्य, ग्लान, प्राघूर्णक, क्षपक, बाल और वृद्ध—इनके लिए जो ग्रहण किया जाता है, उस कारण गृहीत आहार का विधिपूर्वक उपभोग तथा बचने पर विधिपूर्वक परिष्ठापन करने पर शुद्ध होता है। यह विवेक द्वार है, अब मैं व्युत्सर्ग द्वार कहूंगा।

**१८. गमन, आगमन, विहार, श्रुत के उद्देश, समुद्देश आदि, सावद्य स्वप्न आदि तथा नौका से नदी पार करने पर व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है।**

१७२, १७३. वसति या गुरु के पास से जाना गमन तथा दूसरे स्थान से पुनः आना आगमन है, यह गमनागमन कहलाता है। स्वाध्याय के लिए साधु का अन्यत्र जाना गमनागमन विहार जानना चाहिए।

१७४. समिति की विशुद्धि के लिए उत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है। उद्देश आदि श्रुतज्ञान श्रुत कहलाता है।

---

१. साधु संचय और सन्निधि नहीं कर सकता। संचय करने वाला साधु गृहस्थ की भांति हो जाता है। जिनकल्पी जिस प्रहर में आहार ग्रहण करता है, उसी प्रहर में उसका भोग करते हैं। स्थविरकल्पी प्रथम प्रहर में आनीत आहार का तीसरी प्रहर तक भोग कर सकते हैं, उसके बाद वह आहार परिष्ठापनीय हो जाता है। उस आहार को स्वयं खाने वाला अथवा दूसरों को देने वाला चतुर्लघु प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है।[1]

१. कसू ४/१२।

**९७५.** श्रुत की प्रस्थापना[1], उद्देशन (अध्ययन का निर्देश), समुद्देशन (पठित ज्ञान के स्थिरीकरण का निर्देश), अनुज्ञा (अध्यापन का निर्देश) तथा काल-प्रतिक्रमण में व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है।

**९७६.** प्राणातिपात आदि से सम्बन्धित स्वप्न सावद्य कहलाता है। 'आदि' शब्द के ग्रहण से अनवद्य और प्रशस्त स्वप्न का भी ग्रहण हो जाता है।

**९७७.** (सूत्र १८) में आए 'च' शब्द के ग्रहण से दु:स्वप्न और दुर्निमित्त[2] भी ग्रहण हो जाते हैं। प्रथम व्रत (प्राणातिपात) आदि में सर्वत्र व्युत्सर्ग से विशोधि होती है।

**९७८.** नौका चार प्रकार की होती है—१. समुद्री नौका २. उद्यानी ३. अवयानी ४. तिर्यक्गामिनी।[3] इनमें प्रथम समुद्र में चलने वाली तथा अंतिम तीन नदी में चलने वाली होती हैं।

**९७९.** नदी-संतार[4] चार प्रकार का होता है—

१. संघट्ट—पादतल से आधी जंघा तक पानी का होना।

२. लेप—नाभि तक जल का होना।

३. लेपोपरि—नाभि से ऊपर तक जल का होना।

४. बाहु तथा उडुप—बाहु तथा छोटी नौका आदि से नदी को पार करना।

---

१. अनुयोग के प्रारम्भ में की जाने वाली क्रिया विशेष प्रस्थापना कहलाती है।

२. चूर्णिकार के अनुसार दुर्निमित्त और दु:स्वप्न आदि में प्रायश्चित्त स्वरूप आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग प्राप्त होता है।[1]

१. जीचू पृ. ११।

३. प्रतिस्रोतगामिनी नौका उद्यानी, अनुस्रोतगामिनी अवयानी तथा एक तट से दूसरे तट तक नदी के जल को काटकर तिरछी चलने वाली तिर्यक्गामिनी नौका कहलाती है।[1]

१. जीचू पृ. ११; **उज्जाणी पडिसोत्तगामिणी। ओयाणी पुण अणुसोयगामिणी। तिरिच्छगामिणी णदिं छिंदंती गच्छइ।**

४. ओघनिर्युक्ति में नौका-संतरण की विधि का उल्लेख मिलता है। नौका-संतरण के समय यदि गृहस्थ न हो तो मुनि नालिका से नदी के जल को मापकर अपने उपकरणों के पास लौटता है फिर वह अपने उपकरणों और पात्रों को बांधता है। यदि नदी को नौका से पार करना है तो मुनि नौका पर पहले नहीं चढ़ता, कुछ यात्रियों के चढ़ने के बाद नदी पर चढ़ता है। वह नौका में चढ़ने के समय सागारी अनशन करता है। वह नौका के आगे, पीछे या मध्य में नहीं बैठता, एक पार्श्व में अप्रमत्त होकर बैठता है और नमस्कार महामंत्र के जप में लीन रहता है। नौका के तट पर पहुंचने पर मुनि सबसे पहले नहीं उतरता। सब यात्रियों के उतरने के बाद भी नहीं उतरता। कुछ यात्रियों के उतरने के बाद उतरता है।[1] तट पर आने के बाद एक पैर को जल में तथा दूसरे पैर को आकाश में ऊपर रखता है, जब पानी झर जाता है तब पैर को सूखी भूमि पर रखता है। दूसरे पैर को रखने की भी यही विधि है फिर मुनि २५ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करता है। निशीथ (१२/४३) में नदी-संतरण का निषेध है। उसके भाष्य में नदी-संतरण के अनेक दोष बताए है।[2]

१. ओनि ३४-३८।

२. निभा ४२२४; **सावयतेणे उभयं, अणुकंपादी विराहणा तिण्णि। संजम आउभयं वा, उत्तर-णावुत्तरंते य॥**

१८०. नौका आदि पद से लेकर उडुप-संतरण तक यतनायुक्त मुनि को सर्वत्र उत्सर्ग प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**१९. भक्त, पान, शयन, आसन, अर्हत्-शय्या—चैत्यगृह, श्रमण-शय्या—उपाश्रय आदि के लिए जाने पर तथा उच्चार-प्रस्रवण आदि परिष्ठापित करने पर पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१८१. भक्त, पान को आहार तथा शयन को शय्या जानना चाहिए। आस धातु उपवेशन—बैठने के अर्थ में है अत: आसन का अर्थ है—बैठना।

१८२. अर्ह धातु पूजा के अर्थ में है। जो पूजा के योग्य हैं, वे अर्हत् हैं। वंदना और नमस्कार के योग्य होने के कारण वे अर्हत्[1] कहलाते हैं।

१८३. क्रोध आदि अरि[2] हैं अथवा अष्टविध कर्म रज हैं। अरि और रज का हनन करने से वे अरिहंत कहलाते हैं।

१८४, १८५. शयन, शय्या, उपाश्रय तथा भक्त से लेकर शय्या तक के लिए सौ हाथ से ऊपर जाने पर, गमन और आगमन होने पर समिति की विशुद्धि के लिए यतनायुक्त मुनि के लिए सर्वत्र पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है। अब मैं उच्चार आदि के बारे में कहूंगा।

१८६. जो शब्द के साथ नि:सृत होता है, वह उच्चार है। जो प्रस्रवित होता है, वह प्रस्रवण है। उच्चार और प्रस्रवण क्रमश: संज्ञा और कायिकी कहलाते हैं अथवा इनका शब्दार्थ इस प्रकार है—

१८७, १८८. मल के साथ कायिकी—प्रस्रवण भी प्राय: स्रवित होता है अत: उच्चार कहलाता है। प्राय: स्रवित होने के कारण प्रस्रवण कहलाता है। सौ हाथ से दूर या पहले इनको परिष्ठापित करने पर पच्चीस श्वासोच्छ्वास से विशुद्धि होती है।

**२०. सौ हाथ के ऊपर गमन या आगमन करने पर पच्चीस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है। प्राणिवध से सम्बन्धित स्वप्न आदि देखने पर सौ तथा मैथुन सम्बन्धी स्वप्न देखने पर १०८ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है।**

१८९. गाथा का प्रथम अर्धभाग कंठ्य है। रात्रिकालीन स्वप्नदर्शन में प्राणवध करने या कराने पर १०० श्वासोच्छ्वास के कायोत्सर्ग से विशोधि होती है।

१९०. इसी प्रकार मृषावाद, अदत्त, परिग्रह और रात्रिभोजन से सम्बन्धित स्वप्न आने पर १०० श्वासोच्छ्वास

---

१. आवश्यक निर्युक्ति में अर्ह का एक अर्थ योग्यता किया है। जो सिद्धिगमन के योग्य हैं, वे अर्हत् कहलाते हैं।[1]

१. आवनि ५८३/३; सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति।

२. भाष्यकार ने क्रोध आदि को अरि कहा है। आवश्यक निर्युक्ति में इंद्रियविषय, कषाय, वेदना, परीषह और उपसर्ग—इनको अरि कहा गया है।[1]

१. आवनि ५८३/१ ; इंदिय-विसय-कसाए, परीसहे वेयणा उवस्सग्गे। एते अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति।

का कायोत्सर्ग होता है। मैथुन से सम्बन्धित स्वप्न आने पर १०८ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है।[1]

**२१. दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण का पचास, पाक्षिक का तीन सौ, चातुर्मासिक का पांच सौ तथा संव्वत्सरी से सम्बन्धित प्रतिक्रमण का १००८ श्वासोच्छ्वास[2] का कायोत्सर्ग होता है।**

९९१. दैवसिक आदि पदों के क्रमशः उच्छ्वास का प्रमाण कैसे होता है, उसको मैं कहूंगा।

९९२, ९९३. 'लोगस्स उज्जोयगरे' इस स्तवपाठ का चार बार पुनरावर्तन करने पर सौ श्वासोच्छ्वास होते हैं। दो बार परावर्तन करने से पचास तथा बारह बार लोगस्स करने से तीन सौ श्वासोच्छ्वास होते हैं। बीस लोगस्स के पांच सौ तथा चालीस लोगस्स के एक हजार आठ श्वासोच्छ्वास का परिमाण होता है। इस प्रकार दैवसिक आदि कायोत्सर्ग का यह परिमाण होता है।

९९४. अथवा दैवसिक आदि कायोत्सर्ग का परिमाण इस प्रकार है—दैवसिक का पच्चीस, रात्रिक का साढ़े बारह, पाक्षिक का पचहत्तर, चातुर्मासिक का एक सौ पच्चीस तथा वार्षिक का दो सौ बावन श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग।

**२२. उद्देश (पढ़ने की आज्ञा), समुद्देश (पठित ज्ञान के स्थिरीकरण का निर्देश) और अनुज्ञा (अध्यापन की आज्ञा) में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास, प्रस्थापन तथा काल-प्रतिक्रमण में आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है।**

९९५. उद्देशक, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध और अंग के उद्देशन आदि पदों में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है।

९९६, ९९७. प्रस्थापन और काल-प्रतिक्रमण में आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है। 'आदि' शब्द के ग्रहण से अनुयोग का प्रस्थापन काल, प्रतिक्रमण तथा अपशकुन होने पर सर्वत्र आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग जानना चाहिए।

**२३. उद्देशक, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध, अंग तथा काल-प्रतिक्रमण आदि में प्रमत्त साधु के ज्ञान आदि अतिचार होते हैं।**

---

१. आवश्यकचूर्णि में मैथुन सम्बन्धी कायोत्सर्ग का स्पष्टीकरण मिलता है। स्वप्न में दृष्टि-विपर्यास होने पर सौ श्वासोच्छ्वास तथा स्त्री-विपर्यास होने पर एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग होता है।[1]

१. आवचू २ पृ. २६७ ; मेहुणे दिट्ठीविप्परियासियाए सतं, इत्थीए सह अट्ठसयं।

२. मान्यता विशेष का उल्लेख करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में चालीस लोगस्स का एक हजार श्वासोच्छ्वास का प्रमाण होता है फिर नमस्कार महामंत्र के आठ श्वासोच्छ्वास और किए जाते हैं, इससे १००८ की संख्या पूरी हो जाती है। सांवत्सरिक कायोत्सर्ग का कालमान लम्बा होता है। वह निर्विघ्न समाप्त हुआ इसलिए मंगल के लिए अंत में नमस्कार महामंत्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।[1]

१. जीचू पृ. ११; वारिसिय पडिक्कमणे चत्तालीसाए उज्जोएहिं पणुवीसा गुणिया सहस्समुस्सासाणं होइ। अन्ने अट्ठ ऊसासा नमोक्कारे कज्जन्ति। तओ अट्ठुत्तरं सहस्सं होइ। सो य नमोक्कारो संवच्छरिए बहुओ कालो निव्विग्घेणं गओ त्ति चिन्तिज्जइ मंगलत्थं पज्जंते।

९९८. ओघ और विभाग—इन दो भेदों से ज्ञानाचार दो प्रकार का होता है। उद्देशक, अध्ययन, श्रुतस्कन्ध और अंग में विभागत: ज्ञानाचार होता है।

९९९. प्रवचन में उद्देशक, अध्ययन आदि चारों के काल, विनय आदि आठ प्रकार के अतिचार कहे गए हैं।

१०००. ज्ञानाचार आठ प्रकार का होता है—१. काल २. विनय ३. बहुमान ४. उपधान ५. अनिह्नवन ६. व्यञ्जन ७. अर्थ ८. और तदुभय।

१००१. जो अकाल में स्वाध्याय करता है अथवा अस्वाध्याय में स्वाध्याय करता है, स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय नहीं करता, वह काल से सम्बन्धित ज्ञानाचार है।[1]

१००२. जो जात्यादि से उन्मत्त और स्तब्ध होकर गुरु का विनय[2] नहीं करता, गुरु की अवहेलना करता है, वह विनय अतिचार[3] है।

१००३, १००४. श्रुतज्ञान और गुरु के प्रति जो भक्ति और बहुमान नहीं करता, वह बहुमान अतिचार है। भक्ति उपचार कहलाती है तथा अंतरंग अनुराग बहुमान[4] कहलाता है। यह बहुमान सम्बन्धित अतिचार संक्षेप में वर्णित है। आयम्बिल आदि तप उपधान[5] कहलाता है।

---

१. यथाभिहित काल के अतिरिक्त दूसरा समय अकाल कहलाता है, जैसे प्रथम पौरुषी में अर्थ तथा दूसरी पौरुषी में सूत्र करना अकाल स्वाध्याय है।[1] निशीथ भाष्य में एक प्रश्न उपस्थित किया है कि रोगी की चिकित्सा का और वस्त्रों को धोने का क्या काल और क्या अकाल? इसी प्रकार मोक्ष का हेतु ज्ञान है, उसका भी काल और अकाल क्यों? समाहित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि आहार और विहार भी मोक्ष के साधन हैं अत: काल से सम्बद्ध हैं। जैसे विद्या की साधना काल-प्रतिबद्ध है, वैसे ही काल में किया हुआ ज्ञान निर्जरा का हेतु बनता है। अकाल में किया हुआ ज्ञान उपघातकारक तथा कर्मबंध का हेतु बनता है।

१. निचू १ पृ. ७ ; जहाभिहियकालाओ अण्णो अकालो भवति, जहा सुत्तं बितियाए अत्थं पढमाए पोरुसिए वा।

२. गुरु से नीचे बैठना तथा हाथ जोड़कर रहना विनय आचार है।[1]

१. निभा १३; णीयासणंजलीपग्गहादि विणयो।

३. सूत्र ग्रहण के समय विनय नहीं करने पर लघुमास तथा अर्थ से सम्बन्धित विनय न करने पर गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[1]

१. निचू १ पृ. ९; सुत्ते मासलहु, अत्थे मासगुरु।

४. निशीथ भाष्य एवं उसके चूर्णिकार ने भक्ति और बहुमान का अंतर स्पष्ट किया है। अभ्युत्थान, दंडग्रहण, पाद-प्रोञ्छन तथा आसन आदि प्रदान करके जो सेवा की जाती है, वह भक्ति है तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, भावना आदि गुणों से युक्त के प्रति जो आंतरिक प्रीति होती है, वह बहुमान कहलाता है। बहुमान में भक्ति की भजना है लेकिन भक्ति में बहुमान की नियमा है।[1] भक्ति और बहुमान न करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[2]

१. निचू पृ. १०; अब्भुट्ठाणं डंडग्गह-पायपुंछणासणप्पदाणग्गहणादीहिं सेवा जा सा भत्ती भवति। णाण-दंसण-चरित्त-तव-भावणादिगुणरंजियस्स जो रसो पीतिपडिबंधो सो बहुमाणो भवति॥

२. निभा १४।

५. जो अध्ययन को पुष्ट करता है, वह उपधान तप है। जिस श्रुत के अध्ययन काल में जो आगाढ़ और अनागाढ़ तप हो, उसे अवश्य करना चाहिए। उपधानपूर्वक श्रुतग्रहण करने से ही श्रुतोपलब्धि सफल होती है।[1]

१. व्यभा ६३ मटी प. २५ ; उपदधाति पुष्टिं नयत्यनेनेत्युपधानं तप:।

**१००५.** जो साधु उपधान[1] तप नहीं करता अथवा उस पर श्रद्धा नहीं करता, वह उपधान सम्बन्धी अतिचार है। अब मैं निह्नवन के बारे में कहूंगा।

**१००६, १००७.** निह्नवन का अर्थ है—अपलाप करना। मैंने अमुक आचार्य के पास अध्ययन नहीं किया, अन्य युगप्रधान आचार्य ने वाचना दी, इस प्रकार ज्ञानदाता के नाम को छिपाना निह्नवन अतिचार है। इसका मैंने संक्षेप में वर्णन किया, अब मैं व्यञ्जन आदि पदों के अतिचारों को कहूंगा।

**१००८.** व्यञ्जन अक्षर कहलाता है। अक्षर से निष्पन्न को श्रुत जानना चाहिए। प्राकृत में निबद्ध श्रुत को संस्कृत आदि में करना व्यञ्जन अतिचार है।

**१००९.** अथवा मूल व्यञ्जन के स्थान पर दूसरा व्यञ्जन करना भी व्यञ्जन अतिचार है। जैसे धर्म उत्कृष्ट मंगल है। दया, संवर और निर्जरा उसके अंग हैं।[2]

**१०१०.** अथवा मात्रा, बिन्दु और अन्य पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करके अर्थ को बाधित करना व्यञ्जन अतिचार है।[3] जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त होता है, वह व्यञ्जन श्रुत कहलाता है।

**१०११.** व्यञ्जन के भेद से कभी अर्थ का नाश हो जाता है। अर्थ विनष्ट होने पर चारित्र का नाश तथा चारित्र का नाश होने पर मोक्ष का अभाव होता है।

**१०१२.** मोक्ष के अभाव में दीक्षा आदि प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं। इन दोषों के कारण सूत्र का भेद नहीं करना चाहिए।

**१०१३.** व्यञ्जन भेद के बारे में वर्णन कर दिया, अब मैं अर्थ-भेद के बारे में कहूंगा। उन्हीं व्यञ्जनों के द्वारा अन्य अर्थ की कल्पना करना अर्थ-भेद है।

**१०१४.** आचारांग सूत्र के पांचवें 'आवंति' अध्ययन में 'आवंती केआवंती लोयंसि विप्परामुसंति' (५/१) पाठ मिलता है।

**१०१५, १०१६.** यह आर्ष सूत्र है। सप्रयोजन या निष्प्रयोजन इसके अर्थ में मूढ़ होना या अन्य अर्थ करना

---

१. दुर्गति में गिरती हुई आत्मा को जिससे धारण किया जाता है, वह उपधान है।[1] सूत्र दो प्रकार के होते हैं—आगाढ़ और अनागाढ़। आगाढ़ सूत्र में भगवती आदि तथा अनागाढ़ में आचारांग आदि सूत्र आते हैं। इन दोनों सूत्रों में उपधान तप करना चाहिए। उपधान के अन्तर्गत निशीथ भाष्य में अशकटपिता का दृष्टान्त दिया गया है।[2]

१. निभा १५; दोग्गइ पडणुपधरणा उवधाणं।

२. निचू १ पृ. ११।

२. मूल पाठ में 'अहिंसा संजमो तवो' (दश १/१) पाठ है लेकिन यहां अहिंसा के स्थान पर दया, संयम के स्थान पर संवर तथा तप के स्थान पर निर्जरा शब्द का प्रयोग हुआ है। निशीथ चूर्णि में 'पुण्णं कल्लाणमुक्कोसं, दया संवर निज्जरा' पाठ मिलता है। यहां धम्म के स्थान पर पुण्ण, मंगल के स्थान पर कल्लाण तथा उक्किट्ठ के स्थान पर उक्कोस व्यञ्जनभेद का उदाहरण है।

३. प्राकृत से संस्कृत करने पर, मात्रा, बिंदु, अक्षर या पद को बदलने पर लघुमास तथा सूत्र को अन्यथा करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[1]

१. निचू १ पृ. १२; सक्कयमत्ताबिंदुअक्खरपयभेएसु वट्टमाणस्स मासलहु। अण्णं सुत्तं करेति चउलहुं।

अर्थ-भेद[1] है। उदाहरणस्वरूप 'आवंति' का अर्थ देश या जनपद, केया का अर्थ अरघट्ट के कूप की डोरी, *वंती—वह नीचे गिर गई अत: लोग आपस में विवाद करते हैं।*

१०१७. यह अर्थ-विसंवाद का उदाहरण है, अब मैं तदुभय द्वार को कहूंगा। जहां सूत्र और अर्थ दोनों विनष्ट हो जाते है, वह तदुभय अतिचार कहलाता है।

१०१८. धर्म उत्कर्ष रूप मंगल है। अहिंसा मस्तक पर पर्वत है। जिसकी धर्म में सदा बुद्धि रहती है, उसको देवता भी नष्ट कर देते हैं।

१०१९. यथाकृत काष्ठ पर बढ़ई भोजन पकाता है। जहां भक्तार्थी आसक्त होते हैं, वहां गधा दिखाई देता है।[2]

१०२०. जहां सूत्र और अर्थ—दोनों का नाश हो जाता है, वह तदुभय भेद है। इस प्रकार नहीं करना चाहिए, इसमें पूर्वोक्त दोष होते हैं। (देखें १०११, १०१२ गाथा का अनुवाद)

१०२१. यह आठ प्रकार का ज्ञानाचार जिनेश्वर के द्वारा प्रज्ञप्त है। उद्देशक आदि के प्रायश्चित्त क्रमश: इस प्रकार हैं—

**२४. अनागाढ़ में उद्देशक आदि का निर्विगय, पुरिमार्ध, एकासन और आयम्बिल तथा आगाढ़ में पुरिमार्ध से उपवास पर्यन्त प्रायश्चित्त जानना चाहिए। इसी प्रकार अर्थ में जानना चाहिए।**

१०२२, १०२३. अनागाढ़ स्थिति में उद्देशक सम्बन्धी अतिचार में निर्विगय, अध्ययन सम्बन्धी अतिचार में पुरिमार्ध, श्रुतस्कन्ध में एकासन, अंग सम्बन्धी अतिचार में आयम्बिल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। आगाढ़ कारण में उद्देशक में पुरिमार्ध, अध्ययन में एकासन, श्रुतस्कन्ध में आयम्बिल तथा अंग सम्बन्धी अतिचार में उपवास प्रायश्चित्त होता है। इसी प्रकार अर्थ आदि में भी प्रायश्चित्त जानना चाहिए।

**२५. सामान्यत: अप्राप्त, अपात्र और अव्यक्त[3] को उद्देशन आदि की वाचना देने पर सूत्र के सम्बन्ध**

---

१. अन्य व्यञ्जन करने पर गुरुमास तथा अन्य अर्थ करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[1]

१. निचू १ पृ. १३; अत्थस्स अण्णाणि वंजणाणि करेंतस्स मासगुरु, अह अण्णं अत्थं करेति तो चउगुरुगा।

२. इस गाथा में अर्थ और व्यञ्जन दोनों के भेद का उदाहरण दिया गया है। गाथा का पूर्वार्द्ध मूलत: दशवैकालिक १/४ का पाठ है—'अहागडेसु रीयंति, पुप्फेसु भमरा जहा'। इसके स्थान पर भाष्यकार ने 'अधाकरेसु रंधंति कट्ठेसु रहकारी उ' पाठ दिया है, यह तदुभय भेद का उदाहरण है। निशीथ भाष्य की चूर्णि में तदुभय भेद का निम्न पाठ मिलता है—'अहाकडेहिं रंधंति, कट्ठेहिं रहकारिया' (निचू १ पृ. १३)। गाथा का उत्तरार्ध मूलत: दशवैकालिक ३/४ का पाठ है—'राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे' इसके स्थान पर भाष्यकार के अनुसार 'रण्णो भत्तंसिणो जत्थ, गद्दभो जत्थ दीसति' पाठ तदुभय भेद का उदाहरण है। निशीथ चूर्णि में इसका भिन्न पाठ इस प्रकार है—'रण्णो भत्तंसिणो जत्थ, गद्दहो तत्थ खज्जति'। इन उदाहरणों में व्यञ्जनभेद से अर्थभेद भी स्पष्ट है।

३. सोलह वर्ष पहले साधु वय से अव्यक्त होता है, बाद में व्यक्त कहलाता है। श्रुत से निशीथ पढ़ने वाला व्यक्त कहलाता है।[1]

१. तत्र षोडशवर्षपरिमाणेन वयसाऽव्यक्तो परेण व्यक्तो, श्रुतेन च अधीतनिशीथो व्यक्त:।

**में आयम्बिल तथा अर्थ के संदर्भ में उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

**१०२४.** सामान्य रूप से समग्र सूत्र सम्बन्धी अतिचार में आयम्बिल तथा सूत्रार्थ में उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**१०२५.** अप्राप्त दो प्रकार के होते हैं—सूत्र से अप्राप्त[1] तथा अर्थ से अप्राप्त। प्रथम 'अपत्त' का अर्थ सूत्र और अर्थ से अप्राप्त तथा दूसरे 'अपत्त' का अर्थ अपात्र जानना चाहिए।

**१०२६.** चिड़चिड़ाहट आदि अवगुणों के कारण मुनि अपात्र होता है। अव्यक्त दो प्रकार से होता है—वय से, श्रुत से। अपात्र और अप्राप्त को उद्देश आदि की वाचना देने से चतुर्गुरु (उपवास) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**१०२७.** पात्र को उद्देशन आदि पदों की वाचना न देने पर चतुर्गुरु (उपवास) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। आपवादिक स्थिति में कारण होने पर यदि वाचना नहीं दे सके तो वह शुद्ध होता है।

**२६. काल-विसर्जन आदि[2] न करने पर, मण्डली-भूमि का प्रमार्जन आदि न करने पर निर्विगय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। सूत्र और अर्थ में अक्ष-रचना और निषद्या न करने पर उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

**१०२८.** काल-विसर्जन न करने का अर्थ हैं—काल का प्रतिक्रमण नहीं करना। मण्डली तीन प्रकार की होती है। वसुधा को भूमि जानना चाहिए।

**१०२९.** मण्डली के तीन प्रकार हैं—भोजनमण्डली, सूत्रमण्डली और अर्थमण्डली। काल-प्रतिक्रमण और मण्डली-भूमि का प्रमार्जन न करने पर निर्विगय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

---

१. विवक्षित शास्त्रों के सूत्र और अर्थ को क्रम से पढ़ते हुए जिस ग्रंथ को पढ़ने की दीक्षापर्याय पूरी नहीं हो, वह अप्राप्त कहलाता है।[1] व्यवहारभाष्य में इसका क्रम प्राप्त होता है। जीतकल्प चूर्णि की विषमपद व्याख्या में आचार्य श्रीचंद्रसूरि ने दीक्षापर्याय के आधार पर पढ़े जाने वाले ग्रंथों का क्रम प्रस्तुत किया है। तीन वर्ष दीक्षापर्याय वाले साधु को आचारप्रकल्प (निशीथ), चार वर्ष के दीक्षित को सूत्रकृतांग, पांच वर्ष दीक्षित पर्याय वाले को दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार, आठ वर्ष दीक्षापर्याय वाले को स्थानांग और समवायांग, दस वर्ष दीक्षापर्याय वाले को भगवती, ग्यारह वर्ष दीक्षापर्याय वाले को क्षुद्रिकाविमान आदि पांच अध्ययन, बारह वर्ष के दीक्षित साधु को अरुणोपपात आदि पांच अध्ययन, तेरह वर्ष पर्याय वाले साधु को उत्थानश्रुत आदि चार ग्रंथ, उन्नीस वर्ष दीक्षापर्याय वाले को दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग पढ़ना कल्प्य है। इससे अन्यथा करने पर आज्ञाभंग और महापाप होता है।[2]

**१. जीचूवि पृ. ४४ ; तत्सूत्रमर्थं वा विवक्षितशास्त्रसत्कं क्रमेणाधीयानो न प्राप्नोति; पठनविषये व्रतादिपर्यायो वा यस्य न पूर्यते सोऽप्राप्तः।**

**२. जीचूवि पृ. ४४।**

२. चूर्णिकार के अनुसार 'आदि' शब्द से अनुयोग का विसर्जन न करना भी गृहीत है।[1]

**१. जीचू पृ. १२; आइसद्देण अणुओगस्स अविसज्जणं।**

१०३०. सूत्र और अर्थ में निषद्या तथा अक्ष-रचना नहीं करना। सूत्र में आए 'च' शब्द से वंदना और कायोत्सर्ग गृहीत हैं, इन्हें न करने पर उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२७. आगाढ़ योग के सर्वभंग में बेला, देश भंग में उपवास तथा अनागाढ़ योग के सर्वभंग में उपवास और देशभंग में आयम्बिल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१०३१. योग दो प्रकार का होता है—आगाढ़[1] और अनागाढ़।[2] आगाढ़ और अनागाढ़ भंग के दो-दो भेद होते हैं—देश और सर्व।

१०३२. आगाढ़ योग के सर्वभंग में बेला तथा देशभंग में उपवास तप की प्राप्ति होती है। अनागाढ़ के सर्व भंग में उपवास तथा देशभंग में आयम्बिल तप की प्राप्ति होती है।

१०३३. शिष्य प्रश्न पूछता है कि देश और सर्व में भंग कैसे होता है? (आचार्य उत्तर देते हैं)—मैं इसका स्फुट और स्पष्ट गाथाओं में वर्णन करूंगा।

१०३४. जो बिना प्रयोजन विकृति का सेवन करता है, आयम्बिल नहीं करता तथा उस पर श्रद्धा भी नहीं रखता, वह सर्वभंग है। देशभंग का वर्णन इस प्रकार है—

१०३५. जो कायोत्सर्ग किए बिना भोजन करता है अथवा भोजन करके बाद में कायोत्सर्ग करता है अथवा गुरु से कायोत्सर्ग की आज्ञा लिए बिना कायोत्सर्ग करता है, यह देश भंग कहलाता है।

१०३६. यह आठ प्रकार का ज्ञानाचार संक्षेप में वर्णित है। दर्शनाचार आठ प्रकार का होता है।

१०३७. दर्शनाचार के आठ प्रकार हैं—१. निःशंकित २. निःकांक्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढ़दृष्टि ५. उपबृंहण ६. स्थिरीकरण ७. वात्सल्य ८. प्रभावना।

१०३८. संक्षेप में यह अष्टविध दर्शनाचार है। इसके विपरीत दर्शन के आठ अतिचार इस प्रकार होते हैं—

---

१. जिस योग-वहन में आहार आदि से सम्बन्धित अत्यन्त नियंत्रण होता है, वह आगाढ़ योग कहलाता है। आगाढ़ योग में अवगाहिम (पक्वान्न) के अतिरिक्त शेष नौ विकृतियों का वर्जन किया जाता है लेकिन भगवती के अध्ययन काल में अवगाहिम कल्प्य हैं।[1] महाकल्पश्रुत में एक मोदक विकृति कल्प्य है। आगाढ़योग जघन्य तीन साल और उत्कृष्ट छः मास का होता हैं।[2]

१. निभा १५९४ चू पृ. २३८ ; आगाढतरा जम्मि जोगे जंतणा सो आगाढो यथा भगवतीत्यादि। आगाढे ओगाहिमवज्जा णवविगतीओ वज्जिज्जंति, दसमाए भयणा। सव्वा ओगाहिमविगती पण्णत्तीए कप्पति। महाकप्पसुत्ते एक्का परं मोदगविगती कप्पति।

२. व्यभा २१२१।

२. जिस ग्रंथ के अध्ययन काल में विकृति आदि से सम्बन्धित कड़ा नियंत्रण नहीं होता, वह अनागाढ़ योग होता है। जैसे उत्तराध्ययन, नंदी आदि सूत्रों के अध्ययन-काल में विकृति-वर्जन आदि का कठोर नियंत्रण नहीं होता। अनागाढ़ योग में गुरु की आज्ञा हो तो दसों विकृतियां ग्राह्य होती हैं, अन्यथा एक भी ग्राह्य नहीं होतीं।[1]

१. निभा १५९४ चू पृ. २३९; अणागाढे पुण दसविगतीतो भतिताओ। जओ गुरुअणुण्णातो कप्पंति, अणुण्णाए विणा ण कप्पंति, एस भयणा।

१०३९. संशय करना शंका[1] है। अन्यान्य दर्शनों को ग्रहण करने की इच्छा करना कांक्षा है। धर्म करने पर भी मेरी सद्गति होगी या नहीं, यह सोचना विचिकित्सा है।

१०४०. अथवा विदुगुच्छा—साधु की कुत्सा—निंदा करना विचिकित्सा है। विदु का अर्थ साधु जानना चाहिए। ये साधु नित्य मंडलि, मोक—प्रस्रवण और जल्ल—मैल आदि धारण करते हैं, इस प्रकार जुगुप्सा करना विचिकित्सा[2] है।

१०४१. परतीर्थिकों की पूजा[3] और अनेकविध ऋद्धि[4] को देखकर अथवा दूसरे से सुनकर जो मति-मोह होता है, वह मूढ़ता है।

१०४२. उपबृंहण[5] दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। साधु के सद्गुणों को बढ़ावा देना प्रशस्त तथा चरक आदि के गुणों को बढ़ावा देना अप्रशस्त उपबृंहण है।

---

१. भव्यत्व और अभव्यत्व के संदर्भ में देश शंका को स्पष्ट करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि जीवत्व तुल्य होने पर भी कोई जीव भव्य और कोई अभव्य कैसे है? इसी प्रकार अन्य विषयों पर भी ऐसा सोचना देश शंका है।[1] निशीथ चूर्णिकार ने एक अन्य उदाहरण से इसे व्याख्यायित किया है। व्यक्ति यह सोचे कि एक परमाणु एक आकाश प्रदेश पर स्थित है, अन्य परमाणु भी उसी आकाश-प्रदेश पर अवगाहित होता है, यह कैसे संभव है क्योंकि एक परमाणु से दूसरा परमाणु सूक्ष्मतर नहीं होता और न ही आत्मा की भांति दूसरे को अवगाह देता है, यह देशशंका है।[2] सारा द्वादशांग प्राकृतभाषा में निबद्ध है, यह कुशल (सर्वज्ञ) पुरुषों द्वारा रचित नहीं है। भगवद्वाणी के बारे में ऐसा सोचना सर्वशंका है।

१. जीचू पृ. १३।

२. निचू १ पृ. १५।

२. मंडली में एक साथ भोजन करने से सबकी लार से भोजन अशुचि हो जाता है। मोक—प्रस्रवण करने के बाद साधु पानी का प्रयोग नहीं करते, उन्हीं हाथों से खाने के पात्र छू लेते हैं, इस प्रकार जुगुप्सा करना भी विचिकित्सा है। निशीथ भाष्य में जल्ल—मैल के स्थान पर असिणाण—अस्नान शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य भी यही है कि साधु के शरीर से स्वेद और मल झरता रहता है।[1]

१. निचू १ पृ. १६।

३. जिनदास गणी के अनुसार अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, कंबल आदि जो जिसके प्रायोग्य है, वह उसको देना पूजा है।[1]

१. दशजिचू पृ. ; पूय त्ति असण-पाण-खातिम सातिम-वत्थ-कंबलाती जस्स वा जं पाउग्गं तेण से पडिलाभणं पूया।

४. ऋद्धि का अर्थ है—ऐश्वर्य। वह विद्या और तप दो प्रकार का होता है। यहां ऋद्धि का सम्बन्ध साधु से है अतः विद्या और तप—ये दो भेद किए गए हैं। वैक्रिय लब्धि, आकाशगमन तथा विभंगज्ञान आदि ऐश्वर्य को देखकर विमूढ़ होना अमूढ़दृष्टि है। चरक आदि परतीर्थिकों से सम्बन्ध होने से यहां विभंगज्ञान का उल्लेख हुआ है।[1]

१. निभा २६ चू १ पृ. १७ ; इड्ढि त्ति इस्सरियं, तं पुण विज्जामंतं तवोमंतं वा, विउव्वणागासगमणविभंगणाणादिऐश्वर्यं।

५. निशीथ चूर्णि में उपबृंहण के चार पर्याय बताए हैं—उपबृंह, प्रशंसा, श्रद्धाजनन, श्लाघा।[1]

१. निचू १ पृ. १८ ; उववूहत्ति वा पसंस त्ति वा सद्धाजणणं ति वा सलाघणं ति वा एगट्ठा।

१०४३. दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप—संयम, विनय और वैयावृत्त्य में अभ्युद्यत साधु का उत्साह बढ़ाना प्रशस्त उपबृंहण है।[1]

१०४४. चरक आदि अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व में वर्तन करते हैं, उनकी प्रशंसा करना अप्रशस्त उपबृंहण है।

१०४५. स्थिरीकरण भी दो प्रकार का जानना चाहिए—प्रशस्त और अप्रशस्त। ज्ञान आदि में विषाद का अनुभव करने वाले साधु को स्थिर करना प्रशस्त स्थिरीकरण है।

१०४६. यह मनुष्य जीवन दोषबहुल है अत: तुम विषाद का अनुभव मत करो, ऐसी प्रेरणा देना प्रशस्त स्थिरीकरण है। अब मैं अप्रशस्त स्थिरीकरण को कहूंगा।

१०४७. मिथ्यादृष्टि चरक आदि का असंयम में स्थिरीकरण अप्रशस्त है अथवा पार्श्वस्थ आदि साधुओं को स्थिर करना भी अप्रशस्त है।

१०४८. वात्सल्य भी दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। मोक्षमार्ग, आचार्य आदि का वात्सल्य प्रशस्त तथा पार्श्वस्थ आदि का वात्सल्य अप्रशस्त है।

१०४९. आचार्य, ग्लान, प्राघूर्णक—अतिथि, असमर्थ, बाल और वृद्ध आदि को आहार, उपधि आदि से समाधि पहुंचाना प्रशस्त वात्सल्य[1] है।

१०५०. पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त, नित्यवासी तथा गृहस्थ आदि को समाधि पहुंचाना अप्रशस्त है।

१०५१. प्रभावना[1] भी दो प्रकार की होती है—प्रशस्त और अप्रशस्त। मोक्षमार्ग, तीर्थंकर आदि की प्रभावना प्रशस्त तथा मिथ्यात्व और अज्ञान की प्रभावना करना अप्रशस्त प्रभावना है।

---

१. निशीथ भाष्य में अमूढ़दृष्टि में सुलसा, उपबृंहण में श्रेणिक, स्थिरीकरण में आचार्य आषाढ़ तथा वात्सल्य में आर्य वज्र के उदाहरणों का संकेत है।[1]

१. निभा ३२; सुलसा अमूढदिट्ठि, सेणिय उववूह थिरीकरणसाढो। वच्छल्लम्मि य वइरो, पभावगा अट्ठ पुण होंति॥

२. निशीथ भाष्य के अनुसार आचार्य और ग्लान के प्रति वात्सल्य का प्रयोग न करने पर चतुर्गुरु, तपस्वी और प्राघूर्णक के प्रति वात्सल्य न करने पर चतुर्लघु, बाल और वृद्ध के प्रति न करने पर गुरुमास तथा शैक्ष और महोदर—पेटू के प्रति वात्सल्य न करने पर लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[1]

१. निभा ३०; आयरिए य गिलाणे, गुरुगा लहुगा य खम गयाहुणए। गुरुगो य बाल-वुड्ढे, सेहे य महोदरे लहुओ।

३. जिस साधु के पास जो गुण विशिष्ट है, वह उससे प्रवचन की प्रभावना करे, यह प्रभावना नामक दर्शनाचार है।[1] प्रभावना के संदर्भ में भाष्यकार कहते हैं कि जिनेश्वर भगवान् का प्रवचन स्वभाव से प्रसिद्ध है, वह स्वयं दीप्त है फिर भी प्रभावना का विशेष महत्त्व है। प्रवचन के प्रभावक आठ कहे गए हैं—१. अतिशय ऋद्धिधारी (विशिष्ट ज्ञानी) २. अतिशायी धर्मकथक ३. अतिशायी वादी ४. अतिशायी आचार्य ५. अतिशायी तपस्वी ६. अतिशायी नैमित्तिक ७. विद्यासिद्ध तथा ८. राजा आदि।[2]

१. निभा ३१; कामं सभावसिद्धं, तु पवयणं दिप्पते सयं चेव। तह वि य जो जेणऽहिओ, सो तेण पभावते तं तु॥

२. निभा ३३।

१०५२. लोक में तीर्थंकर, प्रवचन, मोक्षमार्ग—ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्रभावना करना प्रशस्त है।

१०५३. मिथ्यात्व, अज्ञान आदि की प्रभावना करना अप्रशस्त है। यह दर्शनाचार है, अब मैं इनके प्रायश्चित्त को कहूंगा।

**२८. शंका आदि चार पदों के देशभंग होने पर तथा मिथ्या उपबृंहण आदि चार पदों में उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। पुरुष विभाग से भिक्षु, वृषभ आदि चारों को क्रमशः पुरिमार्ध से उपवास तक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।**

१०५४. शंका आदि आठों पद देश और सर्व के भेद से दो प्रकार के होते हैं। शंका आदि चारों पदों में देश अतिक्रमण में उपवास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०५५. उपबृंहण आदि चारों पदों में देश अप्रशस्त का प्रयोग होने पर उपवास तथा सर्व अप्रशस्त का प्रयोग होने पर मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार सर्व शंका आदि में भी मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०५६. यह सामान्य रूप से प्रायश्चित्त-विधि कही गई है। पुरुष विभाग से देश-विशोधि इस प्रकार होती है—

१०५७, १०५८. शंका आदि आठ पदों में देश शंका आदि होने पर भिक्षु को पुरिमार्ध, वृषभ को एकासन, उपाध्याय को आयम्बिल तथा आचार्य को उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। यह विभागतः प्रायश्चित्त का वर्णन है। अब उपबृंहण आदि न करने पर साधु की शोधि कैसे होती है, इसका वर्णन करूंगा।

**२९. यदि साधुओं का प्रशस्त उपबृंहण आदि नहीं करके पार्श्वस्थ या श्राद्ध (श्रावक) का उपबृंहण आदि किया जाता है तो भिक्षु आदि चारों को क्रमशः निर्विगय से लेकर आयम्बिल तक प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१०५९. यदि प्रशस्त साधुओं का उपबृंहण नहीं होता तो पुरुष भेद से भिक्षु, वृषभ आदि को पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१०६०, १०६१. इसी प्रकार प्रशस्त स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना न करने पर भिक्षु आदि की इस प्रकार विशुद्धि होती है—भिक्षु को पुरिमार्ध, वृषभ को एकासन, उपाध्याय को आयम्बिल और आचार्य को उपवास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[1]

१०६२. गाथा (जीसू २९) के पश्चार्द्ध का अगली गाथा के साथ सम्बन्ध है। इसको स्पष्ट करने के लिए मैं इसका सम्बन्ध कहूंगा।

**३०. सहयोग के लिए यदि साधु ममत्व, परिपालन आदि वात्सल्य करता है तो उपर्युक्त गाथा २९ में वर्णित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[2] यह साधर्मिक संयम की वृद्धि करेगा, संघ की सेवा करेगा, इस दृष्टि से वात्सल्य किया जाता है तो साधु सर्वत्र शुद्ध रहता है।**

---

१. निशीथ भाष्य एवं उसकी चूर्णि में विस्तार से प्रायश्चित्त का वर्णन मिलता है।

२. गाथा २९ का पश्चार्द्ध ३० वीं गाथा के साथ जुड़ा हुआ है।

१०६३, १०६४. पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और नित्यवासी साधुओं पर तथा परिवार के लिए ममत्व आदि करता है तो भिक्षु आदि चारों को क्रमशः निर्विगय से लेकर आयम्बिल पर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०६५. (जीसू ३०) में आए 'आदि' शब्द के ग्रहण से श्रद्धालु, ज्ञाति और शय्यातर का ग्रहण करना चाहिए। इनके द्वारा आहार आदि दिए जाने पर ममत्व आदि करे तो भी प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१०६६, १०६७. वात्सल्य देने से यह साधर्मिक संयम में उद्यम करेगा, कुल, गण, संघ और ग्लान की चिन्ता करेगा, *इस दृढ़ आलम्बन से यदि साधु उसकी ममत्व-परिपालना या संभाल करे अथवा वात्सल्य* दे तो वह सर्वत्र शुद्ध रहता है।

१०६८. ये अष्टविध दर्शन अतिचार कहे गए हैं, अब मैं संक्षेप में चारित्र के अतिचार कहूंगा।

**३१. एकेन्द्रिय आदि जीवों का घट्टन करने पर निर्विगय, अनागाढ़ योग में परितापित करने पर पुरिमार्ध, आगाढ़ योग में परितापित करने पर एकासन तथा इनका अपद्रावण—पीड़ित करने पर आयम्बिल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१०६९. एकेन्द्रिय में पृथ्वी, अप् आदि तथा प्रत्येक वनस्पति—इन पांचों के पृथक्-पृथक् संघट्टन में निर्विगय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१०७०. यदि अनागाढ़ योग में परितापित किया जाता है तो पुरिमार्ध, आगाढ़ योग में परितापित करने पर एकासन तथा इन पांचों का अपद्रावण करने पर आयम्बिल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अब मैं अनंतकाय वनस्पति आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्त कहूंगा।

**३२. साधारण वनस्पति और विकलेन्द्रिय—इनमें से प्रत्येक के संघट्टन में पुरिमार्ध से उपवास पर्यन्त प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। पंचेन्द्रिय के संघट्टन आदि में एकासन आदि तथा अपद्रावण में एक कल्याणक की प्राप्ति होती है।**

१०७१. साधारण वनस्पति काय में तथा विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—इन चारों का पृथक्-पृथक् संघट्टन करने पर पुरिमार्ध प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१०७२. अनन्तकाय वनस्पति के अनागाढ़ परितापन में एकासन, आगाढ़ परितापन में आयम्बिल तथा अपद्रावण करने पर उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अब मैं पंचेन्द्रिय की विशोधि इस प्रकार कहूंगा।

१०७३. पंचेन्द्रिय का संघट्टन करने पर एकासन प्रायश्चित्त जानना चाहिए। अनागाढ़ परितापित करने पर आयम्बिल तथा आगाढ़ परितापित करने पर उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१०७४. पंचेन्द्रिय का अपद्रावण करने पर एक कल्याणक की प्राप्ति होती है। प्रमादसहित मुनि की प्रथमव्रत में यह शोधि होती है।

**३३. मैथुन वर्जित[1] मृषादि अव्रत द्रव्य, क्षेत्र आदि के भेद से चार-चार प्रकार का होता है। ये सभी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—तीन-तीन प्रकार के होते हैं। जघन्य सम्बन्धी अतिक्रमण होने पर एकासन, मध्यम में आयम्बिल तथा उत्कृष्ट में उपवास प्रायश्चित्त जानना चाहिए।**

१०७५. मृषावाद, अदत्तादान और परिग्रह—ये मृषादि अव्रत कहलाते हैं। इसमें मैथुन का वर्जन जानना चाहिए।

१०७६. मृषावाद के चार भेद हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य मृषावाद तीन प्रकार का होता है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

१०७७. इसी प्रकार क्षेत्रमृषा, कालमृषा और भावमृषा के भी तीन-तीन भेद होते हैं—१. जघन्य २. मध्यम और ३. उत्कृष्ट। इनको भेद सहित भिन्न-भिन्न जानना चाहिए।

१०७८. इसी प्रकार अदत्त और परिग्रह आदि के भी द्रव्य आदि चार-चार भेद होते हैं। पुनः प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

१०७९. मृषा आदि के द्रव्य आदि चारों भेदों के तीन—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद होते हैं। अब मैं द्रव्य आदि की क्रमशः शोधि कहूंगा।

१०८०. द्रव्यमृषा के जघन्य अतिचार में एकासन, मध्यम अतिचार में आयम्बिल तथा उत्कृष्ट अतिचार में उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार क्षेत्र आदि के भेदों में भी जानना चाहिए।

१०८१. इसी प्रकार अदत्त और परिग्रह के द्रव्य आदि के भंगों के जघन्य अतिचार में एकासन, मध्यम में आयम्बिल तथा उत्कृष्ट में उपवास प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१०८२. इस प्रकार मृषावाद आदि के बारे में मैंने संक्षेपतः शोधि कही है। अब मैं रात्रिभोजन की शोधि को संक्षेप में कहूंगा।

**३४. लेपकृद् और शुष्क वस्तुओं के रात्रि में बासी रहने पर उपवास, गुड़ आदि आर्द्र वस्तु रात्रि में रहने पर बेला तथा रात्रिभोजन करने पर तेले से शोधि होती है।**

१०८३. लेपकृद् सर्व विदित है। सोंठ, बेहडा आदि शुष्क औषध रात्रि में बासी रहने पर साधु की विशुद्धि उपवास प्रायश्चित्त से होती है।

१०८४. गुड़, घृत, तेल आदि गीली वस्तुओं की सन्निधि—रात्रि में बासी रहने पर साधु की विशुद्धि बेले के तप से होती है।

---

१. मूल गुण के अतिचार में यहां चार व्रतों से सम्बन्धित प्रायश्चित्त का वर्णन किया है। मैथुन के अतिचार सम्बन्धी प्रायश्चित्त का वर्णन मूलस्थान में कहा जाएगा।[1]

१. जीचू पृ. १४ ; मेहुणाइयारस्स पुण मूलट्ठाणे भणिहिई।

१०८५, १०८६. दिन में गृहीत रात्रि में भुक्त, रात्रि में गृहीत दिन में भोग, रात्रि में ग्रहण रात्रि में भोग—रात्रि भोजन से सम्बन्धित इन त्रिविध भंगों की शोधि तेले के तप से होती है। रात्रिभोजन का वर्णन सम्पन्न हो गया।

**३५. कर्म औद्देशिक के चरमत्रिक, पाषंडमिश्रजात, साधुमिश्रजात, स्वगृहमिश्रजात, बादर प्राभृतिका, प्रत्यपाय सहित आहृत आहार और लोभपिण्ड। (इन सबकी शोधि उपवास प्रायश्चित्त[1] से होती है।[2])**

१०८७. जीतकल्पसूत्र की ३५ वीं गाथा का अर्थ रहने दो। उद्गम[3] आदि आठों के लक्षण, प्रायश्चित्त-प्राप्ति तथा उसका तप रूप में प्रायश्चित्त-दान—इन सबको मैं विस्तार से कहूंगा।

१०८८. उद्गम के सोलह, उत्पादना के सोलह, एषणा के दस तथा (परिभोगैषणा के) संयोजना आदि पांच दोष—ये एषणा के दोष हैं।

१०८९. उद्गम नाम, स्थापना आदि चार प्रकार का है। उसमें द्रव्य उद्गम[4] ये हैं—ज्योतिष्—सूर्य, चन्द्र आदि, तृण, औषधि—शालि आदि धान, मेघ, ऋण और कर (राजदेय)।

१०९०. अथवा लड्डुक आदि उद्गम होता है। भाव उद्गम तीन प्रकार का होता है—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। यहां चारित्र उद्गम का अधिकार है।

१०९१. यहां चारित्र उद्गम का अधिकार किस कारण से कहा गया है? (आचार्य उत्तर देते हैं) शिष्य! चारित्र में होने वाले गुणों को सुनो।

१०९२. दर्शन और ज्ञान से चारित्र का उद्गम होता है। इन दोनों की शुद्धि होने पर चारित्र शुद्ध होता है।

---

१. जीतकल्प के प्रणेता आचार्य भद्रबाहु ने एक प्रायश्चित्त से सम्बन्धित सभी दोषों का एक साथ समाहार करके वर्णन किया है, जैसे उपवास प्रायश्चित्त से सम्बन्धित सभी दोषों का एक साथ उल्लेख कर दिया है।

२. भाष्यकार ने उद्गम, उत्पादन तथा एषणा के दोषों का वर्णन पिंडनिर्युक्ति के आधार पर किया है। उन्होंने कहीं पाठभेद, कहीं विस्तार तो कहीं संक्षिप्त वर्णन भी किया है।

३. पिण्डनिर्युक्ति में उद्गम, उत्पादना, एषणा, संयोजना, प्रमाण, इंगाल, धूम और आहार के कारण—ये आठ अर्थाधिकार हैं।[1] भाष्यकार का लक्ष्य इन आठों की विस्तार से व्याख्या करने का है।

१. पिनि १; पिंडे उग्गम-उप्पायणेसणा जोयणा पमाणे य। इंगाल-धूम-कारण, अट्ठविहा पिंडनिज्जुत्ती।।

४. ज्योतिष् तथा मेघों का आकाश से, तृण, शालि आदि का पृथ्वी से, ऋण का व्यापार से, करों का नृपति नियुक्त पुरुषों से उद्गम होता है। समय के अनुसार ज्योतिश्चक्र के बीच सूर्य का प्रभात में तथा शेष चन्द्र आदि का अन्यान्य समयों में, तृणों का प्रायः श्रावण आदि मास में तथा ज्योतिष् चक्र और मेघों का आकाश में देर रात्रि तक विस्तृत होने से, तृण, शालि आदि का भूमि को फोड़कर ऊपर आने से, ऋण का ब्याज आदि से एवं करों का प्रतिवर्ष संकलन करने से उद्गम होता है।[1]

१. पिनिमटी प. ३३।

चारित्र से कर्मशुद्धि होती है तथा उद्गम की शुद्धि होने से चारित्र की शुद्धि होती है।

**१०९३.** पिण्ड, उपधि और शय्या में अशुद्धि होने पर चारित्र की शुद्धि नहीं रहती। पिण्ड, उपधि और शय्या की शुद्धि होने पर चारित्र की शुद्धि होती है।

**१०९४.** इसलिए चारित्र की शुद्धि के लिए पिण्ड के उद्गम का अधिकार है। उद्गम के सोलह द्वार ये होते हैं—

**१०९५, १०९६.** १. आधाकर्म २. औद्देशिक ३. पूतिकर्म ४. मिश्रजात ५. स्थापना ६. प्राभृतिका ७. प्रादुष्करण ८. क्रीत ९. प्रामित्य १०. परिवर्तित ११. अभिहृत १२. उद्भिन्न १३. मालापहृत १४. आच्छेद्य १५. अनिसृष्ट १६. अध्यवपूरक।

**१०९७, १०९८.** उद्गम के ये सोलह द्वार निर्दिष्ट हैं। अब मैं इनका विवरण कहूंगा। इनमें प्रथम आधाकर्म है, उसके ये नौ द्वार हैं—१. आधाकर्म के नाम २. उसके एकार्थक ३. किसके लिए निर्मित ४. क्या? ५. परपक्ष—गृहस्थ वर्ग ६. स्वपक्ष—साधु वर्ग ७. चार (अतिक्रम आदि चार दोष) ८. ग्रहण ९. आज्ञा-भंग दोष आदि।

**११००.** आधाकर्म के ये चार नाम हैं—१. आधाकर्म २. अधःकर्म ३. आत्मघ्न तथा ४. आत्मकर्म।

**११००.** जिसके लिए मन में सोचकर औदारिक[1] शरीर वाले प्राणियों का अपद्रावण[2] तथा विनाश करके द्रव्य निष्पादित किया जाता है, उसे आधाकर्म कहते हैं।

---

१. टीकाकार मलयगिरि ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि औदारिक शरीर तिर्यञ्च और मनुष्यों के होता है। तिर्यञ्च में एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों का ग्रहण होता है। एकेन्द्रिय में सूक्ष्म जीव भी होते हैं। सूक्ष्म होने के कारण उनका अपद्रावण मनुष्यों के द्वारा संभव नहीं है अतः उनका यहां ग्रहण क्यों किया गया है? इसका उत्तर देते हुए टीकाकार कहते हैं कि जो जिस वस्तु से अविरत है, वह उस कार्य को नहीं करता हुआ भी परमार्थतः उसे करता हुआ जानना चाहिए, जैसे रात्रिभोजन से अविरत गृहस्थ रात्रिभोजन नहीं करता हुआ भी रात्रिभोजन के पाप से लिप्त होता है, वैसे ही गृहस्थ सूक्ष्म एकेन्द्रिय के अपद्रावण से अविरत है अतः यहां साधु के लिए समारम्भ करते हुए वे सूक्ष्म एकेन्द्रिय के अपद्रावण को करते हैं। भाष्यकार ने अपनी व्याख्या में सूक्ष्म एकेन्द्रिय का वर्जन किया है।[1]

**१. पिनिमटी प. ३७।**

२. भाष्यकार ने उद्दवण—अपद्रावण का अर्थ अतिपात रहित पीड़ा किया है। साधुओं के लिए शाल्योदन आदि पकाने में वनस्पतिकाय का जब तक प्राणातिपात नहीं होता, उससे पूर्व की सारी पीड़ा अपद्रावण कहलाती है।[1] जैसे साधु के लिए शाल्योदन पकाने में शालि का दो बार कण्डन किया जाता है, कण्डन कृत पीड़ा अपद्रावण कहलाती है। तीसरी बार कण्डन करने में शालि जीवों का अवश्य ही अतिपात हो जाता है।[2]

**१. पिभा १६ ; उद्दवणं पुण जाणसु, अतिवातविवज्जितं पीलं।**

**२. *पिनिमटी प. ३७ ; यथा साध्वर्थं शाल्योदनकृते शालिकरटेर्यावद्वारद्वयं कण्डनं, तृतीयं तु कण्डनमतिपातः।***

११०१. औदारिक शब्द ग्रहण से तिर्यञ्च, मनुष्य और सूक्ष्म वर्जित एकेन्द्रिय का ग्रहण होता है। अपद्रावण[1] अर्थात् त्रास देना, जिसका वास्तविक अर्थ है—प्राणातिपात रहित पीड़ा।

११०२. काय, मन और वचन अथवा देह (कायबलप्राण), आयु (आयुष्यप्राण) और इंद्रियप्राण—इन तीनों का स्वामित्व[2] अर्थात् षष्ठी तत्पुरुष, अपादान[3] अर्थात् पञ्चमी तत्पुरुष तथा करण[4]—तृतीया तत्पुरुष से तिपात—अतिपात करना त्रिपातन है।

११०३. एक या अनेक साधुओं का मन में संकल्प कर दाता जो षट्काय का वध करता है, वह आधाकर्म कहलाता है।

११०४. जिसके लिए आधाकर्म निष्पन्न हुआ, जो उसको भोगता है अथवा स्वयं कायवध करता है या उसका अनुमोदन करता है, वह आत्मा से कर्मबंध करता है।

११०५. भगवती[5] सूत्र में कहा गया है कि आधाकर्म आहार का भोग करता हुआ मुनि शिथिलबंधन वाली कर्म प्रकृतियों को गाढ़ बंधन वाली करता है।

११०६. संयमस्थान, कंडक[6]—संयमश्रेणी, लेश्या तथा शुभ कर्मों की स्थिति विशेष में वर्तमान शुभ अध्यवसाय और शुभलेश्या को जो हीन—नीचे से नीचे करता है, वह भाव अधःकर्म है।

---

१. तिर्यञ्च में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी समाविष्ट होते हैं। एकेन्द्रिय के दो भेद होते हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म एकेन्द्रिय का अपद्रावण मनुष्य के द्वारा संभव नहीं है, इसलिए उसका यहां वर्जन किया गया है।

२. षष्ठी तत्पुरुष समास में काय, वचन और मन का पातन अर्थात् विनाश। यह परिपूर्ण गर्भज पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यञ्चों की दृष्टि से जानना चाहिए। एकेन्द्रियों के केवल काय का, विकलेन्द्रिय एवं सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च और मनुष्यों के काय और वचन का अतिपात जानना चाहिए। देह, आयु और इंद्रिय का अतिपात सभी तिर्यञ्च और मनुष्यों पर घटित होता है। इनमें भी एकेन्द्रिय की दृष्टि से औदारिक देह, आयु की अपेक्षा से तिर्यग् आयु तथा इंद्रिय की अपेक्षा से स्पर्श इंद्रिय जानना चाहिए। द्वीन्द्रिय में स्पर्शन और रसन—इन दो इंद्रियों का समावेश होता है।[1]

१. पिनिमटी प. ३७।

३. अपादान—पंचमी तत्पुरुष की अपेक्षा से त्रिपात का निरुक्त होगा—काय, वचन और मन से तथा देह, आयु और इंद्रिय से पातन—च्या वन करना त्रिपातन है।[1]

१. पिनिमटी प. ३७।

४. करण अर्थात् साधन की दृष्टि से काय, वचन और मन—इन तीन करणों से अतिपात करना त्रिपातन है।

५. भ. १/४३६।

६. कंडक का अर्थ है—अंगुल मात्र क्षेत्र का असंख्येयभाग गत प्रदेश राशि प्रमाण संख्या। कंडक एवं संयमस्थानक की व्याख्या हेतु देखें श्री भिक्षुआगम विषयकोश भाग-२ पृ. ३४१, ३४२। अंगुल मात्र क्षेत्र के असंख्येय भागगत प्रदेश राशि प्रमाण कंडक होते हैं। मलयगिरि ने यहां कंडक को स्पष्ट करने हेतु एक पद उद्धृत किया है—'कण्डं ति इत्थ भण्णइ, अंगुलभागो असंखेज्जो।'[1]

१. पिनिमटी प. ३९।

११०७. सं उपसर्ग एकीभाव अर्थ में तथा यमु धातु उपरमण—विरति के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अथवा सम्यक् रूप से यम—संयम अथवा मन, वचन और काया का निग्रह करना संयम है।

११०८. जहां संयम है, वह संयम का स्थान कहलाता है। उसके एक स्थान में चारित्र के अनंत पर्यव होते हैं।

११०९. संयमस्थान असंख्य होते हैं इसलिए कंडक भी असंख्य हैं। लेश्यास्थान भी यवमध्य की भांति असंख्य हैं।

१११०-१२. लेश्या, कंडक और संयमस्थान कम होते हुए असंख्य लोक जितने स्थान वाले हो जाते हैं, वह संयमश्रेणी[1] कहलाती है। स्थान, कंडक और लेश्या आदि के विशुद्ध होने से उत्कृष्ट देव आयु स्थिति बंध के योग्य होकर भी आधाकर्म भोजी साधु अपने आपको नीचे से नीचे गिरा देता है। सूत्र (भगवती सूत्र) में कहा गया है कि वह कर्मों का बंधन, चय और उपचय करता है।

१११३. आधाकर्मग्राही मुनि अधोगति का आयुष्य बांधता है तथा अन्यान्य कर्मों को भी अधोगति के अभिमुख करता है। वह तीव्र-तीव्रतर भावों से बंधे हुए कर्मों का निधत्ति, निकाचना रूप में घनकरण करता हुआ प्रतिपल कर्मों का चय-उपचय करता है।[2]

१११४. उन भारी कर्मों के उदय से वह आधाकर्मग्राही मुनि दुर्गति में गिरती हुई अपनी आत्मा को नहीं बचा सकता इसलिए इसे अध:कर्म कहा गया है।

१११५. जो प्रयोजन से अथवा निष्प्रयोजन जानते हुए अथवा अनजान में षड्जीवनिकाय का प्राणव्यपरोपण करता है, उसे द्रव्य आत्मघ्न कहते हैं। जो जानते हुए वध करता है, वह निदा तथा नहीं जानते हुए अज्ञान अवस्था में वध करता है, वह अनिदा कहलाती है।

१११६, १११७. जो जानते या नहीं जानते हुए सामान्यत: निर्देश करके वध करता है, वह द्रव्य आत्मघ्न है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीन भाव आत्मा हैं, जो प्राणियों के प्राणों का विनाश करने में रत है, वह अपनी भाव आत्मा का हनन करता है।

१११८, १११९. निश्चयनय के अनुसार चारित्र आत्मा का विनाश होने पर ज्ञान और दर्शन का घात होता है। व्यवहारनय के अनुसार चरण—चारित्र का विघात होने पर ज्ञान और दर्शन के विघात की भजना है, यह

---

१. असंख्येय लोकाकाशप्रदेशप्रमाण षट्स्थानक संयमश्रेणी कहलाती है।[1]

**१. पिनिमटी प. ४१; चासंखेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्स्थानकानि संयमश्रेणिरुच्यते।**

२. भगवती सूत्र में उल्लेख मिलता है कि आधाकर्म का भोग करने वाला साधु आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म प्रकृतियों के शिथिल बंधन को गाढ़ बंधन वाली, अल्पस्थिति वाली कर्म-प्रकृतियों को दीर्घकालिक स्थिति वाली, मंद विपाक वाली प्रकृतियों को तीव्र विपाक वाली तथा अल्प प्रदेश-परिमाण वाली प्रकृतियों को बहुप्रदेश परिमाण वाली करता है। आयुष्य का बंधन कभी करता है, कभी नहीं करता।[1]

१. भ १/४३६।

भाव आत्मघ्न है। अब मैं आत्मकर्म को कहूंगा। जो परकर्म—पचन-पाचन आदि कर्म को आत्मीकृत करता है, वह आत्मकर्म है।

११२०. आधाकर्म द्रव्य ग्रहण में परिणत मुनि संक्लिष्ट परिणाम वाला होता है। वह प्रासुक द्रव्य ग्रहण करता हुआ भी कर्मों से बंधता है, इसे आत्मकर्म जानना चाहिए।

११२१. जो आधाकर्म को ग्रहण कर उसका उपभोग करता है, वह परकर्म—गृहस्थ के पचन-पाचन आदि कर्म को आत्मकर्म कर लेता है। शिष्य जिज्ञासा करता है कि परक्रिया अन्यत्र कैसे संक्रान्त होती है?

११२२. इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि जैसे दूसरे के द्वारा प्रयुक्त विष मारक होता है, वैसे ही परकृत कर्म भी जीव के परिणाम विशेष से बंध का कारण हो सकता है।

११२३. शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है कि यदि परप्रयुक्ति बंध का कारण है तो फिर परकृत भोजन करने वाले के भी कर्मबंध होगा। (इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं) दूसरे के द्वारा प्रयुक्त जाल में जो गिरता है, वही उसमें बंधता है।

११२४, ११२५. गुरु कहते हैं कि जो मृग प्रमत्त और अदक्ष है, वही उस जाल में बंधता है। जो अप्रमत्त और दक्ष होता है, वह बंधन को प्राप्त नहीं होता।[1] इसी प्रकार जो मन, वचन और काया के योगों से अप्रमत्त होता है, वह नियमतः बंधन को प्राप्त नहीं होता लेकिन दूसरा परकृत में भी बंधन को प्राप्त हो जाता है।

११२६. यह सम्मत बात है कि मुनि स्वयं आधाकर्म भोजन निष्पन्न नहीं करता (और न ही दूसरों से करवाता है), किन्तु आधाकर्म को जानता हुआ भी जो उसे ग्रहण करता है, वह आधाकर्म भोजन ग्रहण करने के प्रसंग को बढ़ावा देता है। जो उसको ग्रहण नहीं करता, वह उसका निवारण करता है।

११२७. इसलिए अशुद्ध मन आदि से परकृत को भी आत्मीकृत किया जाता है, आत्मीकृत कैसे किया जाता है, उसके ये कारण हैं—

११२८. प्रतिसेवना, प्रतिश्रवण, संवास और अनुमोदना[2]—इन चारों प्रकारों से व्यक्ति परकृत पचन-पाचन आदि क्रिया को आत्मीकृत करता है। उनके उदाहरण ये हैं—

---

१. टीकाकार मलयगिरि और अवचूरिकार के अनुसार मृग और कूट का दृष्टान्त यशोभद्रसूरि का है। उनके अनुसार दक्ष और अप्रमत्त मृग जाल से बचकर चलता है और यदि किसी कारणवश वह जाल में फस भी जाता है तो जाल बंद होने से पहले तत्काल वहां से निकल जाता है लेकिन प्रमत्त और अकुशल मृग बंध ही जाता है अतः केवल परप्रयुक्ति मात्र से कोई बंधनग्रस्त नहीं होता। इसी प्रकार आधाकर्म आहार बनाने मात्र से साधु के पाप कर्म का बंधन नहीं होता। जो अशुभ अध्यवसाय से उसको ग्रहण करता है, वह परकर्म—गृहस्थ के पचन-पाचन आदि कर्म को आत्मकर्म बनाता है। यहां उपचार से आधाकर्म को आत्मकर्म कहा गया है।[1]

**१. पिनिमटी प. ४४, ४५।**

२. प्रतिसेवना, प्रतिश्रवण आदि के विस्तार हेतु देखें पिनि ६८/२-६९/४, यह जैन विश्व भारती से प्रकाशित पिण्डनिर्युक्ति की संख्या है।

११२९. प्रतिसेवना में चोर, प्रतिश्रवण में राजपुत्र, संवास के अन्तर्गत पल्ली में रहने वाले वणिक् तथा अनुमोदना में राजदुष्ट का उदाहरण ज्ञातव्य है।[1]

११३०. आधाकर्म के अध:कर्म आदि नाम संक्षिप्त में कहे गए हैं। अब मैं संक्षेप में इसके एकार्थकों को कहूंगा।

११३१. व्यञ्जन और अर्थ की चतुर्भंगी होती है—

१. एक अर्थ, एक व्यञ्जन।
२. एक अर्थ, नाना व्यञ्जन।
३. नाना अर्थ, एक व्यञ्जन।
४. नाना अर्थ, नाना व्यञ्जन।

११३२. एक अर्थ और एक व्यञ्जन वाले शब्द, जैसे–क्षीर क्षीर। एक अर्थ और नाना व्यञ्जन वाले शब्द, जैसे–दूध, पयस्, पालु और क्षीर।

११३३. एक व्यञ्जन और नाना अर्थ वाला शब्द, जैसे—गाय, भैंस और बकरी आदि के दूध के लिए क्षीर शब्द का प्रयोग। नाना अर्थ और नाना व्यञ्जन, जैसे—घट, पट, कट, शकट, रथ आदि शब्द।[2]

११३४, प्रथम भंग — एक अर्थ एक व्यंजन—आधाकर्म, आधाकर्म।

११३५. द्वितीय भंग — नाना व्यञ्जन एक अर्थ—आधाकर्म, अध:कर्म, आत्मघ्न अथवा इन्द्र, शक्र आदि।
तृतीय भंग — नाना व्यञ्जन एक अर्थ—आधाकर्म, अध:कर्म, आत्मघ्न और आत्मकर्म।
चतुर्थ भंग — नाना व्यञ्जन नाना अर्थ—शून्य।[3]

११३६. जैसे पुरन्दर आदि शब्द इन्द्र के अर्थ का अतिक्रमण नहीं करते, वैसे ही अध:कर्म, आत्मघ्न तथा आत्मकर्म आदि शब्द भी आधाकर्म के अर्थ का अतिक्रमण नहीं करते।

११३७. आधाकर्म का उपभोग करने वाला अपनी आत्मा का अध:पतन करता है (अत: इसका एक नाम

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. २९-३२।

२. व्यवहारभाष्य में व्यञ्जन और अर्थ की चतुर्भंगी एवं उसके उदाहरण में निम्न दो गाथाओं का उल्लेख मिलता है। इन गाथाओं में शब्दभेद तथा उदाहरण में भिन्नता है लेकिन वाच्यार्थ एक ही है—

नाणत्तं दिस्सए अत्थे, अभिन्ने वंजणम्मि वि। वंजणस्स य भेदम्मि, कोइ अत्थो न भिज्जति॥
पढमो त्ति इंद-इंदो, बितियओ होइ इंद सक्को त्ति। ततिओ गो-भूप-पसू, रस्सी चरमो घड-पडो त्ति॥
व्यभा १५५, १५६

३. यद्यपि आधाकर्म के प्रसंग में चौथा भंग शून्य है लेकिन पिण्डनिर्युक्ति की टीका में मलयगिरि ने स्पष्ट किया है कि यदि कोई व्यक्ति अशन के लिए आधाकर्म, पानक के लिए अध:कर्म, खादिम के लिए आत्मघ्न तथा स्वादिम के लिए आत्मकर्म का प्रयोग करे तो ये नाम नाना अर्थ और नाना व्यञ्जन वाले हो जाते हैं। इस दृष्टि से चरम भंग भी प्राप्त हो सकता है।[1]

१. पिनिमटी प. ५१; यदा तु कोऽप्यशनविषये आधाकर्मेति नाम प्रयुङ्क्ते पानविषये त्वध:कर्मेति खादिमविषये त्वात्मघ्नमिति खादिमविषये त्वात्मकर्मेति तदाऽमूनि नामानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि चेति चरमोऽपि भङ्गः प्राप्यते।

अध:कर्म है।) वह प्राण और भूतों के हनन के साथ आत्मा के चारित्र आदि गुणों का नाश करता है इसलिए इसका एक नाम आत्मघ्न है। आधाकर्म लेने वाला परकर्म—पाचक आदि के पापकर्म को स्वयं आत्मसात् करता है अत: इसका एक नाम आत्मकर्म है।

११३८. एकार्थक द्वार कहा गया है, अब आधाकर्म भोजन किसके लिए निष्पन्न होता है, यह बताया जा रहा है। आधाकर्म साधर्मिक के लिए कृत होता है। साधर्मिक बारह प्रकार के होते हैं।

११३९. (निक्षेप की दृष्टि से) साधर्मिक[1] बारह प्रकार के होते हैं—

| | |
|---|---|
| १. नाम साधर्मिक | ७. लिंग साधर्मिक |
| २. स्थापना साधर्मिक | ८. दर्शन साधर्मिक |
| ३. द्रव्य साधर्मिक | ९. ज्ञान साधर्मिक |
| ४. क्षेत्र साधर्मिक | १०. चारित्र साधर्मिक |
| ५. काल साधर्मिक | ११. अभिग्रह साधर्मिक |
| ६. प्रवचन साधर्मिक[2] | १२. भावना साधर्मिक[3] |

११४०. नाम से किसी का नाम साधर्मिक है, वह नाम साधर्मिक कहलाता है। स्थापना से लेकर काल साधर्मिक तक की व्याख्या स्वयं जान लेनी चाहिए। प्रवचन और लिंग से साधर्मिक की चतुर्भंगी[4] होती है।

११४१. प्रवचन छोड़ देता है लेकिन लिंग नहीं, इस प्रकार दर्शन साधर्मिक से लेकर भावना साधर्मिक तक सबकी यथाक्रम से चतुर्भंगी करनी चाहिए।

११४२. इसी प्रकार लिंग के साथ भी दर्शन आदि की चतुर्भंगी होती है। ऊपर के तीन भंगों में भजना है लेकिन अंतिम भंग का वर्जन करना चाहिए।

---

१. निशीथ भाष्य में तीन प्रकार के साधर्मिकों का उल्लेख है—१. लिंग साधर्मिक २. प्रवचन साधर्मिक ३. लिंग-प्रवचन साधर्मिक। वहां वैकल्पिक रूप से साधर्मिक के तीन-तीन भेद और किए हैं—१. साधु २. पार्श्वस्थ ३. श्रावक। दूसरा विकल्प है—१. श्रमण २. श्रमणी ३. श्रावक।

१. निभा ३३६ चू. पृ. ११७।

२. टीकाकार मलयगिरि ने पूर्वाचार्य कृत व्याख्या का उल्लेख करते हुए कहा है कि प्रवचन, लिंग आदि सप्तक के द्विसंयोग से २१ भेद होते हैं। प्रवचन के लिंग यावत् भावना तक छह भंग होते हैं। लिंग के दर्शन आदि के साथ पांच, दर्शन के ज्ञान आदि के साथ चार, ज्ञान के चारित्र आदि के साथ तीन, चारित्र का अभिग्रह और भावना के साथ दो तथा अभिग्रह का भावना के साथ एक—इस प्रकार सब मिलकर इक्कीस भेद होते हैं। इन इक्कीस भेदों में प्रत्येक की एक-एक चतुर्भंगी होती है।

१. पिंनिमटी प. ५५।

३. साधर्मिक के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति ७३/१-२२ गाथाओं का अनुवाद एवं उनके टिप्पण।

४. १. लिंग से साधर्मिक, प्रवचन से नहीं। २. प्रवचन से साधर्मिक, लिंग से नहीं। ३. प्रवचन से साधर्मिक, लिंग से भी साधर्मिक। ४. न लिंग से साधर्मिक, न प्रवचन से साधर्मिक।

**११४३.** इस प्रकार अभिग्रह और भावना तक सब भंगों की बुद्धि द्वारा यथाक्रम से चतुर्भंगी की योजना करनी चाहिए।

**११४४.** प्रत्येकबुद्ध, निह्नव, उपासक, केवली और शेष साधु आदि के साथ क्षायिक भावों के अनुसार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अभिग्रह और भावना के आधार पर ) विकल्पों की योजना करनी चाहिए।

**११४५.** जहां तीसरा भंग—प्रवचन से साधर्मिक तथा लिंग से भी साधर्मिक, वहां साधु को आहार नहीं कल्पता। (इस विकल्प में प्रत्येकबुद्ध और तीर्थंकरों को छोड़कर शेष मुनि आ जाते हैं।) शेष भंगत्रय में भजना है—क्वचित् कल्पता है, क्वचित् नहीं। तीर्थंकर, निह्नव और उपासक[1] आदि के निमित्त से किया हुआ आहार कल्पता है। शेष साधुओं के लिए किया हुआ अन्न-पानी आदि नहीं कल्पता।

**११४६.** आधाकर्म आहार किसके लिए? यह यथाक्रम से उद्दिष्ट हो गया कि इस प्रकार के साधर्मिकों के लिए आधाकर्म आहार कल्प्य नहीं है। आधाकर्म क्या है? (इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं) कि अशन, पान आदि आहार-पानी का निर्माण आधाकर्म है।

**११४७.** अशन—शालि आदि, पान—अवट (कूप आदि) से निकला पानी, खादिम—फल आदि और स्वादिम—सोंठ आदि हैं। इनमें कृत और निष्ठित के आधार पर शुद्ध और अशुद्ध चार भंग होते हैं।

**११४८, ११४९.** गांव में कोद्रव और रालक दो प्रकार के धान्यों की प्रचुरता थी। साधुओं के स्वाध्याय के योग्य रमणीय वसति थी। क्षेत्र-प्रतिलेखना हेतु साधुओं का आगमन हुआ। श्रावकों ने पूछा—'क्या यह क्षेत्र आचार्य के चातुर्मास योग्य है?' साधुओं ने ऋजुता से सब कुछ कहा—'क्षेत्र गण के योग्य है लेकिन गुरु के चातुर्मास योग्य नहीं है क्योंकि यहां आचार्य के योग्य शाल्योदन नहीं हैं।' शालि के लिए श्रावक ने शालि-बीजों का वपन किया और स्वजनों के घरों में शालि को बंटवा दिया।[2]

**११५०, ११५१.** समय बीतने पर वे या कुछ अन्य मुनि उस गांव में आए। भिक्षार्थ जाने पर उन्होंने पूछा—'यह क्या है?' लोगों ने सरलता से यथार्थ बात बता दी। आधाकर्मी आहार ज्ञात होने पर उन्होंने उस आहार का वर्जन कर दिया। अथवा अन्य मुनियों को कहा कि यह अशन आधाकर्मिक है। (शिष्य प्रश्न पूछता है कि) अशन आधाकर्मी होता है लेकिन पानक आधाकर्मी कैसे होगा? (आचार्य उत्तर देते हैं)

---

१. पिण्डनिर्युक्ति में तीर्थंकर, निह्नव और केवली—इन शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। गाथा की व्याख्या में टीकाकार मलयगिरि ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि तीर्थंकर और केवली—इन शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया? इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं टीकाकार कहते हैं कि केवली का कैवल्य सबको ज्ञात हो, यह आवश्यक नहीं है इसलिए तीर्थंकर और केवली दोनों को अलग-अलग ग्रहण किया है। 'तीर्थंकर' शब्द के उपलक्षण से प्रत्येकबुद्ध का ग्रहण भी हो जाता है।' जीतकल्पभाष्य में तीर्थंकर के साथ निह्नव और उपासक शब्द का प्रयोग हुआ है। 'आदि' शब्द से संभवतः प्रत्येकबुद्ध और केवली का ग्रहण हो सकता है।

**१. पिनिमटी प. ६२।**

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३३।

अशन के उदाहरण की भांति कोई भी साधु किसी गांव में नहीं रुकता था। श्रावकों ने साधुओं से इसका कारण पूछा तो साधुओं ने कहा कि यहां का पानी लवणयुक्त है।[1]

११५२. तब एक श्रावक ने मीठे पानी का कूप खुदवाया। उसने उस कूप को तब तक ढ़ककर रखा, जब तक साधु वहां नहीं आ गए।

११५३. यहां पानक के उदाहरण में आधाकर्म कूप का ज्ञान, उसका वर्जन आदि अशन के उदाहरण के समान जानना चाहिए। इसी प्रकार यथाक्रम से खादिम और स्वादिम के बारे में भी जानना चाहिए।

११५४. ककड़ी, आम, दाड़िम—अनार, द्राक्षा और बिजौरा आदि पदार्थ खादिम के अन्तर्गत हैं तथा त्रिकटुक[2] आदि स्वादिम कहलाते हैं।

११५५. आधाकर्म क्या है? यह संक्षेप में वर्णित हो गया। अब क्रमशः परपक्ष और स्वपक्ष द्वार का प्रसंग है।

११५६, ११५७. गृहस्थ परपक्ष तथा श्रमण और श्रमणी स्वपक्ष हैं। यहां कृत और निष्ठित के आधार पर चतुर्भंगी कहूंगा—

- साधु के लिए कृत, साधु के लिए निष्ठित।
- साधु के लिए कृत, गृहस्थ के लिए निष्ठित।
- गृहस्थ के लिए कृत, साधु के लिए निष्ठित।
- गृहस्थ के लिए कृत, गृहस्थ के लिए निष्ठित।

११५८. शालि आदि को बोना, काटना, मर्दन करना तथा एक बार या दो बार कंडित—साफ करना कृत कहलाता है तथा उनको तीन बार कंडित करके रांधना निष्ठित कहलाता है, यह दुगुना आधाकर्म[3] है।

११५९. कृत और निष्ठित का यह लक्षण संक्षेप में जानना चाहिए। अथवा जो प्रासुक किया जाता है अथवा रांधा जाता है, वह निष्ठित तथा शेष सारा कृत कहलाता है।

११६०. श्रमण के लिए बोना तथा दो बार कंडित करना कृत है तथा साधु के लिए शालि धान्य को तीन बार कंडित करके रांधना निष्ठित कहलाता है, यह चतुर्भंगी के प्रथम भंग की व्याख्या है।

११६१. श्रमण के लिए दो बार कंडित करने पर शीघ्र ही किसी अन्य कारण के उपस्थित होने पर गृहस्थ के लिए तीसरी बार कंडित करके उसको निष्ठित करना—यह चतुर्भंगी का दूसरा भंग है।

११६२. दो बार गृहस्थ ने अपने लिए धान्य को साफ किया, इसी बीच प्राघूर्णक साधु के आने पर उसने

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३४।

२. त्रिकटुक—सौंठ, पीपल और कालीमिर्च को त्रिकटुक कहते हैं।

३. दुगुना आधाकर्म को व्याख्यायित करते हुए पिण्डनिर्युक्ति के टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि एक आधाकर्म तो कृत तंदुल रूप तथा दूसरा पाक-क्रियारूप होने से यह दुगुना आधाकर्म है।[1]

१. पिनि ८० मटी प. ६५, ६६।

तीसरी बार साधु के लिए धान्य को कंडित किया, इसे चतुर्भंगी का तीसरा विकल्प जानना चाहिए।

**११६३.** गृहस्थ ने अपने लिए दो बार धान्य को कंडित किया तथा तीसरी बार साफ करके गृहस्थ ने अपने लिए पकाया, यह चतुर्भंगी का चौथा विकल्प है। इन चार भंगों में कितने भंग कल्प्य हैं और कितने अकल्प्य हैं?

**११६४.** प्रथम और तृतीय भंग में आहार ग्रहण अकल्प्य है। दूसरे और चौथे विकल्प में कल्प्य है।[1] इसी प्रकार पान, खादिम और स्वादिम के बारे में जानना चाहिए।

**११६५.** साधु के निमित्त धान्य रांधा गया, जब तक वह प्रासुक नहीं हुआ, तब तक कृत है। प्रासुक होने के बाद निष्ठित कहलाता है। पानक में चावल धोना आदि कृत तथा उसे रांधना निष्ठित है।

**११६६.** फल आदि को टुकड़ों में काटकर बघार देने पर, जब तक वह प्रासुक न हो, तब तक कृत तथा प्रासुक होने पर उसे निष्ठित जानना चाहिए। इसी प्रकार स्वादिम में आर्द्रक आदि को जानना चाहिए।

**११६७.** यहां अशन, पान आदि में सर्वत्र यथाक्रम से चतुर्भंगी करनी चाहिए। सम्पूर्ण रूप से विधि-परिहरणा और अविधि-परिहरणा जाननी चाहिए।

**११६८.** कुछ आचार्य फल-पुष्प आदि के प्रयोजन से अथवा अन्य किसी प्रयोजन से साधु के लिए बोए गए वृक्ष की छाया का वर्जन करते हैं लेकिन यह उचित नहीं है। उस वृक्ष का फल दूसरे भंग में लेना कल्पनीय है अर्थात् साधु के लिए कृत तथा गृहस्थ के लिए निष्ठित रूप में।

**११६९.** वृक्ष की छाया आधाकर्मिकी नहीं होती क्योंकि छाया परप्रत्ययिका अर्थात् सूर्यहेतुकी होती है, वृक्षमात्रहेतुकी नहीं होती, जैसे मालाकार वृक्ष को बढ़ाता है, वैसे छाया उसके द्वारा बढ़ाई नहीं जाती। (जो उसे आधाकर्मिकी मानकर उसके नीचे बैठने का निषेध करते हैं, उनके अनुसार तो) मेघाच्छन्न आकाश से वृक्ष की छाया लुप्त हो जाने पर उस वृक्ष के नीचे बैठना भी कल्पनीय हो जाएगा।[2]

---

१. टीकाकार मलयगिरि ने इस प्रसंग में वृद्ध-सम्प्रदाय का उल्लेख करते हुए कहा है कि यदि चावलों को एक बार या दो बार साधुओं के लिए कंडित किया और तीसरी बार गृहस्थ ने अपने लिए कंडित किया और पकाया तो वे तण्डुल साधु के लिए कल्पनीय हैं। इस संदर्भ में अन्य परम्पराओं का भी उल्लेख मिलता है। पान, खादिम और स्वादिम आदि के बारे में भी कृत और निष्ठित को समझना चाहिए। साधु के लिए कूप आदि का खनन किया, उसमें से जल निकाला तथा उसे प्रासुक किया। जब तक वह पानी प्रासुक नहीं होता, तब तक वह कृत कहलाता है तथा प्रासुक होने के बाद निष्ठित कहलाता है। इसी प्रकार खादिम में ककड़ी आदि का वपन करके उसे निष्पन्न किया फिर उसे टुकड़ों में काटा, जब तक वे टुकड़े प्रासुक नहीं हुए, तब तक कृत तथा प्रासुक होने के बाद निष्ठित कहलाते हैं।[1]

१. पिनिमटी प. ६५, ६६।

२. टीकाकार के अनुसार वृक्ष के नीचे का कुछ भाग सचित्त कणों से संपृक्त होता है अतः वह पूति होता है। उस स्थान पर बैठना कल्पनीय नहीं है लेकिन वृक्ष की छाया आधाकर्मिकी नहीं होती।[1]

१. पिनिमटी प. ६६।

११७०. (शिष्य प्रश्न पूछता है) छाया बढ़ती है, घटती है। वृक्ष की बढ़ती हुई छाया अनेक घरों का स्पर्श करती है, इससे सारे घर और आहार पूति दोष से दुष्ट होने के कारण कल्पनीय नहीं होंगे। (यह बात आगमोक्त नहीं है, आचार्य कहते हैं—) सूर्य सुविहित मुनियों के लिए छाया का प्रवर्तन नहीं करता, वह स्वत: होती है इसलिए छाया आधाकर्मिकी नहीं होती।

११७१. आकाश में यत्र-तत्र विरल मेघों के घूमने पर उनसे छाया मिट जाती है तथा दिन में पुन: छाया हो जाती है। सूर्य के मेघाच्छन्न हो जाने पर उस वृक्ष के अध:स्तन प्रदेश का आसेवन कल्पता है परन्तु आतप में उसका विवर्जन करना चाहिए। (यह तथ्य न आगम सम्मत है और न पूर्वपुरुषों द्वारा आचीर्ण इसलिए असत् है।)

११७२. इस प्रकार छाया संबंधी यह दोष संभव नहीं है, यह आधाकर्म विहीन है। इतना होने पर भी जो अति दयालु पुरुष उसका विवर्जन करते हैं तो वे दोषी नहीं हैं।

११७३. स्वपक्ष और परपक्ष का मैंने संक्षेप में वर्णन कर दिया। अब 'चार' इस द्वार को संक्षेप में कहूंगा।

११७४. अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार—इन चारों को आधाकर्म में यथाक्रम से जोड़ना चाहिए।

११७५. आधाकर्म का इन चारों में होना कैसे संभव है? यहां भरत का उदाहरण है। ब्राह्मणों की पूजा देखकर श्राद्ध भरत के पास गए।

११७६. उत्सव में श्रावकों की श्रद्धा उत्पन्न हुई कि हम भी साधुओं के लिए विशेष रूप से भोजन तैयार करेंगे।

११७७. कोई नया श्रावक मुनि के लिए निष्पादित शालि, घृत, गुड़, गोरस तथा अचित्त किए हुए वल्ली फलों का दान देने के लिए मुनि को निमंत्रण देता है।

११७८-८०. आधाकर्म के आमंत्रण को स्वीकृत करना अथवा शालि आदि को ग्रहण करने के सम्बन्ध में अशुभ चिन्तन अतिक्रम है। उसको लाने के लिए पैर उठाना व्यतिक्रम, उसको पात्र में ग्रहण करना अतिचार तथा उसको खाने के लिए मुंह में रखना अनाचार दोष है। कुछ आचार्य उसको निगलने पर अनाचार दोष मानते हैं। इसका क्या कारण है, यह पूछने पर वे बताते हैं कि मुख में कवल रखने पर कदाचित् पुन: श्लेष्म पात्र में निकाला जा सकता है फिर वह अनाचार नहीं माना जाएगा अत: निगलने पर अनाचार दोष होता है क्योंकि वहां से पुन: लौटना संभव नहीं होता।

११८१. शेष एक, दो और तीन अर्थात् अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार से पुन: स्वस्थान में लौटा जा सकता है। जैसे (नुपूरहारिका कथानक[1] में) तीन पैरों से आकाश में स्थित हाथी को पुन: मूलस्थान में स्थित कर

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३५।

दिया गया।[1]

११८२. 'चार'—इस द्वार में भिक्षा ग्रहण सम्बन्धी अतिक्रम आदि का मैंने वर्णन किया है। अब आज्ञा आदि 'चार' इस द्वार का वर्णन करूंगा।

११८३. जो अशन आदि में लुब्ध होकर आधाकर्म आहार ग्रहण करता है, वह सभी तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण करता है। जो आज्ञा का अतिक्रमण करता है, वह शेष अनुष्ठानों का अनुपालन किसकी आज्ञा से करता है?

११८४. एक मुनि अकार्य करता है, (आधाकर्म का परिभोग करता है) तो दूसरे मुनि भी उसके विश्वास के आधार पर वही कार्य करने लग जाते हैं। इस प्रकार साताबहुल मुनियों की परम्परा से संयम और तप का विच्छेद होने से तीर्थ का विच्छेद होने लगता है। (यह अनवस्था दोष का उदाहरण है।)

११८५. जो मुनि यथावाद—आगमोक्त विधि के अनुसार अनुष्ठान नहीं करता, उससे बड़ा अन्य कौन मिथ्यादृष्टि हो सकता है? क्योंकि वह दूसरों में आशंका पैदा कर मिथ्यात्व की परम्परा को आगे बढ़ाता है।

११८६. विराधना दो प्रकार की होती है—संयम-विराधना और आत्म-विराधना। आधाकर्म आहार ग्रहण करने के प्रसंग में संयम-विराधना होती है।

११८७. आधाकर्म आहार ग्रहण करता हुआ मुनि उस आहार के ग्रहण प्रसंग[2] को बढ़ावा देता है। वह अपनी तथा दूसरों की आसक्ति को बढ़ाता है। वह भिन्न दंष्ट्रा—अत्यन्त रस लम्पट मुनि सर्वथा निर्दयी होकर सजीव पदार्थों को भी नहीं छोड़ता।

११८८. जो मुनि प्रचुर मात्रा में स्निग्ध आहार करता है, वह रुग्ण हो जाता है। रोगग्रस्त मुनि के सूत्र और अर्थ की हानि होती है। रोग-चिकित्सा में षट्काय की विराधना होती है। प्रतिचारकों के भी सूत्र और अर्थ की हानि होती है। परिचर्या के अभाव में रोगी मुनि स्वयं क्लेश को प्राप्त होता है तथा परिचारकों के मन में भी क्लेश उत्पन्न करता है।

११८९. पाक आदि क्रिया से आधाकर्म आहार भारी कर्मबंधन का कारण होता है, यह आत्मविराधना है अतः आधाकर्म आहार का भोग नहीं करना चाहिए।

---

१. जैसे हाथी छिन्न टंक वाले पर्वत पर एक, दो या तीन पैर ऊपर करने में समर्थ हो सकता है लेकिन चारों पैर ऊपर करने पर वह निश्चित रूप से भूमि पर गिर जाएगा, वैसे ही अतिचार दोष तक साधु विशिष्ट शुभ अध्यवसाय से स्वयं को शुद्ध करने में समर्थ हो सकता है किन्तु अनाचार होने पर संयम का नाश हो जाता है। टीकाकार कहते हैं कि यद्यपि कथानक के दृष्टान्त में हाथी के द्वारा चारों पैर ऊपर नहीं उठाए गए लेकिन दार्ष्टान्तिक रूप से बात को सिद्ध करने हेतु यह प्रतिपादन किया गया है।[1]

१. पिनिमटी प. ६८।

२. मुनि यदि एक बार आधाकर्म आहार ग्रहण कर लेता है तो मनोज्ञ रस की लोलुपता से वह बार-बार उसे ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है।

११९०. (आधाकर्म आहार, उससे स्पृष्ट अन्य पदार्थ, कल्पत्रय[१] से अप्रक्षालित पात्र में डाला हुआ आहार—) यह सारा अभोज्य है। अविधि-परिहार में गमन आदि के दोष तथा विधि-परिहार[२] में द्रव्य, काल, देश और भाव की पृच्छा करनी चाहिए। इस यतना में यदि छलना होती है तो ये दो दृष्टान्त हैं—

११९१. जैसे वान्त[३] आदि अभोज्य[४] यावत् सूर्योदय और चन्द्रोदय—दोनों उद्यान—इन सबके बारे में विस्तार से जानना चाहिए।

११९२. जो मनुष्य अन्तःपुर की स्त्रियों को देखने के इच्छुक थे, उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई, फिर भी वे राजाज्ञा का भंग करने के कारण राजा से दंडित हुए। अन्तःपुर को देखने वाले जो अन्य पुरुष थे, उनको बिना दंडित किए मुक्त कर दिया गया क्योंकि वे राजाज्ञा का भंग करने वाले नहीं थे।[५] आधाकर्म के विषय में इसी प्रकार यहां समवतार करना चाहिए।

११९३. जो साधु आधाकर्म का परिभोग करके उस अकरणीय स्थान का प्रतिक्रमण नहीं करता, वह बोड—मुंडित व्यक्ति संसार में वैसे ही व्यर्थ परिभ्रमण करता है, जैसे लुंचित-विलुंचित (पंख रहित) कपोत।[६]

---

१. तीन लेपों तक पूति होती है, इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि एक बर्तन में आधाकर्म भोजन पकाया। उसको किसी दूसरे बर्तन में निकालकर अंगुलि से साफ कर दिया, यह एक लेप है। इसी प्रकार तीन बार साफ करके पकाने तक वह आहार पूति कहलाता है। उसी बर्तन में चौथी बार पकाया गया आहार पूति नहीं होता। अथवा उसी बर्तन में कल्पत्रय—तीन बार प्रक्षालन किए बिना शुद्ध आहार पकाया जाए तो वह पूति आहार है। तीन बार धोने पर उस पात्र में पकाया गया आहार शुद्ध होता है।[१]

१. पिनिमटी प. ८७।

२. विधि-परिहार एवं अविधि-परिहार की विस्तृत व्याख्या हेतु देखें पिनि ८९/१-९०/४।

३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि २, कथा सं. ३६।

४. पिण्डनिर्युक्ति में अभोज्य की विस्तार से व्याख्या प्राप्त है। निर्युक्तिकार ने उपमा द्वारा इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार वेद आदि धार्मिक ग्रंथों में भेड़नी और ऊंटनी का दूध, लहसुन, प्याज, मदिरा और गोमांस—ये वस्तुएं अखाद्य हैं, उसी प्रकार जिनशासन में भी आधाकर्म भोजन अखाद्य और अपेय है। जैसे अच्छे तिलचूर्ण से निष्पन्न उपहार, जिस पर नारियल रखा हुआ हो, वह अच्छा आहार भी अशुचि से स्पृष्ट होने पर अभोज्य हो जाता है, वैसे ही आधाकर्म के अवयव से स्पृष्ट शुद्ध आहार भी अभोज्य हो जाता है। प्रकारान्तर से अभोज्य की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिस पात्र में आधाकर्म आहार लिया, उस भाजन से आधाकर्म निकाल दिया, फिर भी यदि कल्पत्रय से प्रक्षालित नहीं किया तो उसमें डाला हुआ शुद्ध आहार भी अभोज्य हो जाता है।[१]

१. पिनि ८६/२-८८।

५. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३७।

६. आधाकर्म दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि भूमिका पृ. ५०-६५।

**११९४.** आधाकर्म द्वार को संक्षेप में कहा गया। अब मैं प्रायश्चित्त-प्राप्ति, उसका दान तथा उसकी विशोधि के बारे में कहूंगा।

**११९५.** आधाकर्म आहार-ग्रहण करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त उपवास होता है। औद्देशिक[1] आहार भी दो प्रकार का होता है—ओघ औद्देशिक और विभाग औद्देशिक।

**११९६, ११९७.** ओघ औद्देशिक आहार ग्रहण करने पर लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध[2] होता है। विभाग औद्देशिक मूलतः तीन प्रकार का होता है[3]—उद्देश[4], कृत[5] और कर्म[6] इन तीनों के चार-चार भेद होते हैं। वे चार भेद कैसे होते हैं, उसे मैं आगे गाथाओं में कहूंगा।

**११९८.** उद्देश के चार भेद होते हैं—औद्देशिक, समुद्देशिक, आदेशिक और समादेशिक। इसी प्रकार कृत और कर्म के भी चार-चार भेद होते हैं।

**११९९.** जितने भिक्षाचरों के संकल्प से आहार-पानी बनाया जाता है, वह उद्देश है। पाषंडियों (अन्य दर्शनी) को देने के लिए निर्मित आहार समुद्देश अथवा समुद्देशिक कहलाता है। श्रमणों के लिए निर्मित आहार आदेश तथा निर्ग्रन्थ के लिए निर्मित आहार समादेश कहलाता है।

---

१. निशीथ भाष्य में औद्देशिक के दो भेद अतिरिक्त मिलते हैं—
   १. यावन्तिका—कार्पटिक आदि से लेकर चाण्डाल पर्यन्त सबके उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन।
   २. प्रगणिता—शाक्य, परिव्राजक आदि की जाति या नाम से गणना करके दी जाने वाली भिक्षा।
   औद्देशिक दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि भूमिका पृ. ६५-६७।

   **१. निभा १४७२, १४७३।**

२. दिन का आधा भाग अर्थात् प्रथम दो प्रहर के काल तक खान-पान का त्याग करना पुरिमार्ध कहलाता है।

३. जीतकल्पभाष्य में विभाग औद्देशिक के मूलतः तीन भेद किए हैं—१. उद्देश २. कृत और कर्म। फिर तीनों के चार-चार भेद प्राप्त हैं—उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश। पिण्डनिर्युक्ति में विभाग औद्देशिक के मूलतः उद्देश, समुद्देश आदि चार भेद हैं फिर प्रत्येक के उद्दिष्ट, कृत और कर्म आदि तीन-तीन भेद किए हैं। यद्यपि दोनों में ही विभाग औद्देशिक के बारह भेद होते हैं, केवल व्याख्या-भेद या प्रकार-भेद के कारण ऐसा संभव हुआ है।

   **१. पिनिमटी प. ७७।**

४. गृहस्थ के लिए निष्पन्न आहार, जो भिक्षाचरों को देने के लिए अलग रख दिया जाता है, वह उद्दिष्ट कहलाता है।

   **१. पिनिमटी प. ७७।**

५. उद्धरित शाल्योदन, जो भिक्षादान हेतु करम्ब (दही-भात मिलाकर तैयार किया गया पदार्थ) आदि के रूप में तैयार किया जाता है, वह कृत कहलाता है।

   **१. पिनिमटी प. ७७, पिंप्र ३१ ; वंजणमीसाइकडं ।**

६. विवाह में बचे हुए मोदक के चूरे को अनेक भिक्षाचरों को देने हेतु गुड़पाक आदि से पुनः मोदक बनाने को कर्म कहा जाता है। पिण्डविशुद्धिप्रकरण में अग्नि से तापित करके पुनः संस्कारित करने को कर्म माना है।

   **१. पिनिमटी प. ७७।**

   **२. पिंप्र ३१; अग्गितविया उ पुण कम्मं ।**

१२००. उद्दिष्ट के उद्देश, समुद्देश आदि चारों भेदों में लघुमास प्रायश्चित्त, कृत के चारों भेदों में गुरुमास, कर्म के प्रथम भेद में चतुर्लघु तथा अंतिम तीन भेदों में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१२०१. मैं लघुमास, गुरुमास तथा चतुर्गुरु—इन तीनों का तप की दृष्टि से प्रायश्चित्त-कथन कर रहा हूं।

१२०२. लघुमास में पुरिमार्ध, गुरुमास में एकासन, चतुर्लघु में आयम्बिल तथा चतुर्गुरु में उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१२०३, १२०४. पूतिकर्म[1] दो प्रकार का होता है—द्रव्यपूति और भावपूति। द्रव्यपूति में छगण धार्मिक[2] का उदाहरण है। भावपूति दो प्रकार की जाननी चाहिए—सूक्ष्म और बादर। बादरपूति[3] दोष पुनः दो प्रकार का होता है—उपकरणपूति और भक्तपानपूति।

१२०५. (आधाकर्मिक के अवयव) ईंधन, गंध और धूम—ये सूक्ष्म हैं, इनसे स्पृष्ट होने पर पूति दोष नहीं होता।[4] चूल्हा और स्थाली यदि आधाकर्मिक हैं तो वह उपकरणपूति होता है।

१२०६. उपकरणपूति युक्त आहार ग्रहण करने पर लघुमास (पुरिमार्ध) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। शाक, लवण, हींग से संक्रामण—आधाकर्म से संस्पृष्ट स्थाली आदि में शुद्ध अशन आदि रखना या पकाना, भक्तपानपूति है।

१२०७. भक्तपानपूति ग्रहण करने पर गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त एकासन होता है। अब मैं उपकरणपूति और भक्तपानपूति का लक्षण कहूंगा।

१२०८. सीझते हुए अन्न के लिए चुल्ली तथा दीयमान पक्व भक्तपान के लिए कुड़छी आदि उपकारी होते हैं इसलिए ये उपकरण कहलाते हैं। चुल्ली, स्थाली, दर्वी, बड़ी कुड़छी—ये सारे उपकरण हैं।

---

१. निशीथ चूर्णिकार ने पूति और कर्म की अलग-अलग व्याख्या की है। पूति का अर्थ है—कुथित तथा कर्म का अर्थ है—आधाकर्म। सिद्धान्त में आधाकर्म को अग्राह्य होने के कारण पूति कहा है। आधाकर्म से संसृष्ट को भी पूति कहा जाता है तथा पूति से संसृष्ट को भी पूति कहा जाता है।[1] पूतिदोष के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ६७-७०।

१. निभा ८०४ चू पृ. ६४।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३८।

३. निशीथभाष्य में विस्तार से पूतिदोष का वर्णन किया गया है। वहां बादरपूति के तीन भेद हैं—१. आहार २. उपधि और ३. वसति। विकल्प से आहारपूति के दो भेद किए हैं—१. उपकरणपूति और आहारपूति।[1] उपधिपूति के वस्त्र और पात्र दो भेद किए गए हैं तथा वसतिपूति के मूलगुण और उत्तरगुण के अन्तर्गत सात-सात भेद किए हैं।[2] मूलाचार में पूति के पांच प्रकार हैं[3]—१.चुल्ली २. उक्खलि (ऊखल) ३. दर्वी—चम्मच ४. भाजन ५. गंध।

१. निभा ८०६, ८०७।

२. निभा ८११।

३. मूलाचार ४२८।

४. पिण्डनिर्युक्ति में सूक्ष्मपूति का विस्तार से वर्णन किया गया है। देखें पिनि गा. ११५-११७/३ का अनुवाद और उनके टिप्पण।

**१२०९-११.** यदि चुल्ली, स्थाली, बड़ा चम्मच तथा दर्वी आदि आधाकर्म आहार से युक्त हैं तो वहां आधाकर्म दोष होता है। पूतिदोष इस प्रकार होता है—आधाकर्मिक कर्दम से मिश्रित चुल्ली अथवा खंडित चुल्ली का पुनः संस्थापन, स्थाली में किसी अंश को जोड़ना, बड़ी कुड़छी या दर्वी में लकड़ी का आगे से या पीछे से दण्ड का भाग जोड़ना—यह सब उपकरणपूति[1] है।

**१२१२.** उपकरणपूति का वर्णन किया गया, अब मैं भक्तपानपूति कहूंगा। आधाकर्मिक शाक को लवण, हींग से मिश्रित करना भक्तपानपूति[2] है। संक्रामण—आधाकर्म से संस्पृष्ट थाली आदि में शुद्ध अशन रखना या पकाना, स्फोटन—आधाकर्मिक राई आदि से भोजन को संस्कारित करना तथा हींग आदि का बघार देना—यह सारा भक्तपान विषयक पूति है।

**१२१३.** अपने लिए तक्र आदि का पान करने के लिए आधाकर्मिक शाक, लवण तथा हींग आदि को उस तक्र में मिलाना या बघार में अन्य चीज डाल देना भक्तपानपूति है।

**१२१४.** जिस स्थाली में पहले आधाकर्म आहार पकाया, उस पात्र को खाली करके उसमें शुद्ध आहार निकाला जाए अथवा रांधा जाए तो वहां भक्तपानपूति होता है।

**१२१५.** निर्धूम अंगारों की राख पर बेसन, हींग, जीरा आदि डालकर स्थाली आदि को नीचे मुंह करके उस पर ढ़क दिया जाता है तो उससे निकलने वाले धूम से व्याप्त स्थाली, तक्र आदि भी पूति दोष युक्त हो जाते हैं।

**१२१६.** मिश्रजात[3] तीन प्रकार का है—यावदर्थिक मिश्र, पाषंडिमिश्र तथा साधुमिश्र। इनके प्रायश्चित्तों को मैं आगे कहूंगा।

**१२१७, १२१८.** प्रथम यावदर्थिक मिश्र लेने पर चतुर्लघु, दूसरे पाषंडिमिश्र तथा तीसरे साधुमिश्र को लेने पर तप और काल से विशिष्ट चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। चतुर्लघु प्रायश्चित्त आने पर आयम्बिल तथा चतुर्गुरु प्रायश्चित्त में उपवास की प्राप्ति होती है। मिश्रजात कहने के बाद अब मैं स्थापनाभक्त को कहूंगा।

---

१. किसी व्यक्ति ने साधु के निमित्त डोय—बड़ा चम्मच या दर्वी बनवाई, वह आधाकर्मिक है। एक नई दर्वी अपने लिए बनवाई, जिसमें आधाकर्मिक दर्वी का कोई अवयव आगे या पीछे के भाग में लगा दिया। उस दर्वी को यदि शुद्ध आहार में डाल दिया जाए तो इस मिश्रण से उपकरणपूति होने के कारण वह आहार कल्पनीय नहीं होता।[1]

**१. निभा ८०८ चू पृ. ६४।**

२. गृहस्थ ने साधु के निमित्त शाक आदि बनाया, नमक और हींग को पीसा या पकाया। इन आधाकर्मी द्रव्यों को अपने लिए पकाए जाने वाले भोजन में थोड़ा डाल दिया, यह आहारपूति है।

३. निर्युक्तिकार के अनुसार मिश्रजात आहार सहस्रान्तरित अर्थात् जिसने मिश्रजात पकाया उसने दूसरे को, दूसरे ने तीसरे को—इस प्रकार हजार व्यक्ति को देने पर भी वह आहार साधु के लिए कल्प्य नहीं होता।[1] मिश्रजात की विस्तृत व्याख्या हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ७०, ७१।

**१. पिनि १२०।**

**१२१९, १२२०.** स्थापनाभक्त[1] दो प्रकार का होता है[2]—इत्वरिक स्थापित तथा चिर स्थापित। इत्वरिक स्थापित लेने पर पणग (पांच दिन रात) तथा चिरस्थापित लेने पर लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। पणग प्रायश्चित्त आने पर निर्विकृति (निर्विगय) तथा लघुमास प्रायश्चित्त में पुरिमार्ध तप की प्राप्ति होती है। अब मैं इत्वरिक और चिरस्थापित के लक्षण संक्षेप में कहूंगा।

**१२२१-२३.** पंक्ति में स्थित घरों में भिक्षा के लिए घूमते हुए कोई संघाटक दो घरों में उपयोगपूर्वक भिक्षा ग्रहण करता है। दूसरा साधु श्वान आदि के लिए देय में उपयोग रखता हुआ तीसरे घर से भिक्षा ग्रहण करता है। इससे आगे चौथे घर में उत्क्षिप्त भिक्षा इत्वरिक स्थापित है। वह देशोनपूर्वकोटि[3] तक स्थापित हो सकती है। इस प्रकार स्थापित दोष कहा गया, अब मैं प्राभृतिका दोष को कहूंगा।

**१२२४.** प्राभृतिका दोष[4] दो प्रकार का जानना चाहिए—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म और बादर प्राभृतिका भी दो-दो प्रकार की होती है—अवष्वष्कण और उत्ष्वष्कण।

**१२२५.** सूक्ष्म प्राभृतिका से युक्त आहार लेने पर लघुपणग, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त निर्विगय तथा बादर प्राभृतिका में चतुर्गुरु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त उपवास है।

**१२२६, १२२७.** सूक्ष्म प्राभृतिका का स्वरूप इस प्रकार है—जैसे कोई सूत कातती हुई स्त्री को उसका बालक कहे कि मां! मुझे भोजन दो। उस समय वह कहे—'वत्स! अभी मैं सूत कात रही हूं। जब मैं उठूंगी, तब तुम्हें भोजन दूंगी।' यदि इस बात को साधु सुन ले तो वह वहां न जाए क्योंकि उसके जाने से आरंभ—हिंसा संभव है।

---

१. जो आहार साधु के उद्देश्य से स्व-स्थान या परस्थान में स्थापित है, वह स्थापना दोष युक्त होता है।' स्थापना दोष के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ७१, ७२।

**१. व्यभा १५२० मटी प. ३५ ; स्थापितं यत् संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापितम्।**

२. पिण्डनिर्युक्ति में स्थापित दोष के दो भेद हैं—स्वस्थान स्थापित तथा परस्थान स्थापित। इन दोनों के भी दो-दो भेद किए गए हैं—अनन्तर और परम्पर।'

**१. पिनि १२६।**

३. स्थापना दोष का उत्कृष्ट कालमान देशोनपूर्वकोटि है क्योंकि चारित्र ग्रहण करने का कालमान आठ वर्ष कम पूर्वकोटि होता है। इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि कोई बालक आठ वर्ष की आयु में साधु बना। उसका आयुष्य पूर्वकोटि प्रमाण था। उसने पूर्वकोटि आयुष्य वाली किसी गृहिणी से घृत की याचना की। उसने कहा—'मैं कुछ समय बाद घृत दूंगी।' मुनि को अन्यत्र घृत की प्राप्ति हो गई। गृहिणी के कहने पर मुनि ने कहा—'अभी प्रयोजन नहीं है, जब आवश्यकता होगी, तब लूंगा।' गृहिणी ने उस घृत को साधु के निमित्त स्थापित कर दिया और उसको तब तक रखा, जब तक कि मुनि दिवंगत नहीं हो गए। साधु के दिवंगत होने पर वह घृत स्थापना दोष से मुक्त हो गया।'

**१. पिनिमटी प. ९०, ९१।**

४. प्राभृतिका दोष के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ७२-७४।

१२२८-३०. (साधु के आने पर बालक मां से कहता है कि) तुमने साधु के आने पर आहार देने का कहा था अब साधु आने पर भी तुम क्यों नहीं उठती हो, तुम मुझे आहार देने का परिहार क्यों कर रही हो? साधु के प्रभाव से हमें भी भोजन मिल जाएगा। यह जानकर यदि वह स्त्री सूत कातना छोड़ती है तो यह सूक्ष्म अवष्वष्कण प्राभृतिका दोष है। सूत कातती स्त्री से बालक आहार की मांग करे, उस समय यदि वह कहे कि अभी मैं सूत कात रही हूं, तुम रोओ मत। सूत समाप्त होने पर भी भोजन मांगने पर वह कहती है—

१२३१, १२३२. पुत्र! बार-बार मत मांग। अभी परिपाटी—बारी-बारी से घरों में भिक्षा लेते हुए साधु यहां आएंगे, जब मैं उनके लिए उठूंगी, तभी तुम्हें भोजन दूंगी। यह सुनकर साधु उस आहार का वर्जन कर दे। वह बालक यदि साधु की अंगुलि पकड़कर उन्हें अपने घर ले जाए। साधु पूछे कि तुम मेरी अंगुलि क्यों खींच रहे हो? यह पूछने पर बालक यथार्थ बात बता देता है। यह सुनकर साधु उस घर की भिक्षा का वर्जन करे क्योंकि वहां उत्सर्पण रूप सूक्ष्म प्राभृतिका दोष होता है।

१२३३. बादर प्राभृतिका भी दो प्रकार की होती है—अवष्वष्कण और अभिष्वष्कण। यहां संघाटक तथा साधुओं के एकत्रित होने का निर्देश है।

१२३४. साधु समुदाय के जाने का दिन निश्चय होने पर कोई श्रावक संखडि में बनने वाली मिठाई और द्रव—तण्डुल-धोवन आदि साधु को देने के लिए नियतकाल से पूर्व पुत्र-विवाह का कार्यक्रम रखता है, यह अवष्वष्कण रूप बादर प्राभृतिका है।

१२३५. स्थापित विवाह-भोज में साधु समुदाय का आगमन न होने से विवाह को नियतकाल से आगे करना उत्सर्पण रूप बादर प्राभृतिका है। इस अवष्वष्कण और उत्ष्वष्कण रूप बादर प्राभृतिका को कोई ऋजु व्यक्ति प्रकट कर देता है और कोई कुटिल व्यक्ति प्रच्छन्न रूप से रखता है।[1]

१२३६. दो कारणों से विवाह आदि के दिनों का उत्ष्वष्कण और अवष्वष्कण होता है—मंगल के प्रयोजन से तथा पुण्य के प्रयोजन से। कारण पूछने पर यदि गृहस्थ यथार्थ बात बता दे तो मुनि उस विवाह आदि में निर्मित आहार का वर्जन करता है।

१२३७. जो मुनि प्राभृतिका भक्त का उपभोग करके उस स्थान (दोष) का प्रतिक्रमण नहीं करता, वह मुंड वैसे ही व्यर्थ परिभ्रमण करता है, जैसे लुंचित विलुंचित पंख वाला कपोत।

१२३८. प्राभृतिका दोष का वर्णन कर दिया, अब मैं प्रादुष्करण दोष को कहूंगा। प्रादुः अवयव प्रकाशन के

---

१. पिण्डनिर्युक्ति में इसी गाथा के उत्तरार्ध को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं कि ऋजु व्यक्ति के द्वारा प्रकट की गई यथार्थ बात को जन-परम्परा से जानकर मुनि उस आहार को ग्रहण न करे। खोज करने पर भी यदि साधु न जान पाए तो उसे ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है क्योंकि साधु के परिणाम शुद्ध हैं।[1]

१. पिनिमटी प. ९३।

अर्थ में है, प्रादुष्करण का अर्थ है—अंधकार में प्रकाश करना।

**१२३९, १२४०.** प्रादुष्करण[1] दोष दो प्रकार का होता है—प्रकटकरण और प्रकाशकरण। प्रकटकरण में भिक्षा लेने पर लघुमास तथा प्रकाशकरण में आहार लेने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है। लघुमास में पुरिमार्ध तथा चतुर्लघु में आयम्बिल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्रादुष्करण दोष वर्णित किया, अब मैं क्रीतकृत दोष को कहूंगा।

**१२४१.** क्रीतकृत[2] दोष भी दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। ये दोनों भी दो-दो प्रकार के हैं—आत्मक्रीत और परक्रीत। अब मैं इनके प्रायश्चित्तों को कहूंगा।

**१२४२, १२४३.** द्रव्यआत्मक्रीत और द्रव्यपरक्रीत ग्रहण करने पर दोनों का चतुर्लघु प्रायश्चित्त जानना चाहिए। इनका तप रूप प्रायश्चित्त-दान आयम्बिल होता है। भावआत्मक्रीत और भावपरक्रीत के प्रायश्चित्त को मैं अब कहूंगा।

**१२४४.** भावआत्मक्रीत का भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त जानना चाहिए, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल है। भावपरक्रीत लेने पर लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त-दान है—पुरिमार्ध। क्रीतकृत दोष वर्णित कर दिया, अब मैं प्रामित्य दोष को कहूंगा।

**१२४५, १२४६.** प्रामित्य दोष[3] भी संक्षेप में दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक प्रामित्य दोष में चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त-दान आयम्बिल होता है। लोकोत्तर में लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसमें पुरिमार्ध तप की प्राप्ति होती है। प्रामित्य दोष का कथन कर दिया, अब मैं परिवर्तित दोष को कहूंगा।

**१२४७, १२४८.** परिवर्तित दोष[4] भी संक्षेप में दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक परिवर्तित दोष में चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त-दान आयम्बिल होता है। लोकोत्तर में लघुमास, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध है। परिवर्तित दोष कह दिया, अब मैं अभिहत[5] द्वार को कहूंगा।

---

१. प्रादुष्करण दोष के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ७४, ७५ तथा पिनि गा. १३७-१३८/६ तक की गाथाओं का अनुवाद।

२. क्रीतकृत दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १३९-१४३/३ तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ७५-७७।

३. प्रामित्य दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १४४-४६ तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ७७, ७८।

४. परिवर्तित दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १४७-५० तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ७८।

५. अभ्याहृत दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १५१-६१ तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ७८-८१।

**१२४९.** अभिहृत दोष दो प्रकार का होता है—आचीर्ण और अनाचीर्ण। आचीर्ण के दो भेद हैं—निशीथ और नोनिशीथ।[1]

**१२५०.** निशीथ को प्रच्छन्न तथा नोनिशीथ को प्रकट कहते हैं। इन दोनों के दो-दो भेद हैं—स्वग्राम और परग्राम।[2]

**१२५१.** स्वग्राम से आहृत दो प्रकार का होता है—आचीर्ण और अनाचीर्ण। अनाचीर्ण में लघुमास, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध होता है।

**१२५२, १२५३.** परग्राम आहृत दो प्रकार का होता है—स्वदेश और परदेश। इनके भी दो-दो प्रकार हैं—जलपथ, स्थलपथ। ये दोनों पुनः दो भागों में विभक्त हैं—सप्रत्यपाय और निष्प्रत्यपाय। सप्रत्यपाय पथ में संयमविराधना और आत्मविराधना होती है।[3]

**१२५४, १२५५.** प्रत्यपाय सहित परदेश आहृत आहार लेने पर चतुर्गुरु तथा निष्प्रत्यपाय में चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त-दान क्रमशः उपवास और आयम्बिल जानना चाहिए। इसी प्रकार स्वदेश अभ्याहृत में जानना चाहिए।

**१२५६, १२५७.** उद्भिन्न दोष[4] दो प्रकार का होता है—पिहितोद्भिन्न[5] और कपाटोद्भिन्न।[6] पिहितोद्भिन्न दो प्रकार का होता है—प्रासुक और अप्रासुक। प्रासुक पिहित—गोबर अथवा कपड़े से पिहित को खोलने

---

१. गृहस्थ यदि तीन घरों की दूरी से सम्मुख जाकर भिक्षा देता है तो उसमें उपयोग संभव है अतः वह आचीर्ण है। तीन घरों के आगे से लाने में उपयोग संभव नहीं रहता अतः वह अनाचीर्ण है। इसमें भी जो अभिहृत भिक्षा साधु को ज्ञात न हो वह निशीथ अनाचीर्ण तथा जो साधु को ज्ञात हो, वह नोनिशीथ अनाचीर्ण अभ्याहृत है।[1]

१. व्यभा ८५७ मटी प. १११।

२. जिस गांव में साधु रहते हैं, वह स्वग्राम तथा शेष परग्राम कहलाते हैं।

३. निर्युक्तिकार ने जलपथ और स्थलपथ से होने वाली आत्मविराधना का वर्णन इस प्रकार किया है—गहरे पानी के कारण निमज्जन हो सकता है। जलचर विशेष की पकड़ हो सकती है। कीचड़, मगरमच्छ, कच्छप आदि के कारण पैर फस सकते हैं। स्थलमार्ग के दोष इस प्रकार हैं—कंटक, सर्प, चोर, श्वापद आदि के दोष।[1]

१. पिनि १५४।

४. उद्भिन्न दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १६२-६४ तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ८१, ८२।

५. कुतुप—तैल आदि भरने का चर्ममय पात्र अथवा घट आदि। उसके मुख को खोलकर साधु को दिया जाने वाला आहार पिहितोद्भिन्न कहलाता है।

६. टीकाकार कपाट के उद्घाटन के संबंध में व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वहां जल से भरा मटका आदि रखा हो तो उसके भेदन होने पर पार्श्व स्थित चूल्हे में भी वह पानी प्रवेश कर सकता है, जिससे अग्निकाय की विराधना संभव है। अग्निकाय की विराधना होने पर वायुकाय की विराधना अवश्यंभावी है। चींटी आदि के बिल में पानी प्रवेश करने से त्रसकाय की विराधना भी संभव है। कपाटोद्भिन्न आहार लेने में क्रय, विक्रय, अधिकरण आदि दोषों की संभावना भी रहती है।[1]

१. पिनिमटी प. १०७।

पर यदि उसमें घी या तैल फैल जाता है तो लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध होता है।

१२५८. अप्रासुक पिहित—पृथ्वीकाय या सचित्त वस्तु से लिप्त पिहित को खोलकर दिया जाए तो उसमें षट्काय-विराधना की संभावना रहती है।

१२५९-६१. सचित्त पृथ्वी से लिप्त मिट्टी का ढेला, शिला आदि को पानी से आर्द्र करके पिहित किया जाए तो वह तत्काल लिप्त सचित्त पृथ्वी लेप जल के कारण चिरकाल तक सचित्त रहता है। पृथ्वीकाय को आर्द्र करने पर अप्काय की हिंसा होती है, लाख से मुद्रित को तपाने में भी तेजस्काय और वायुकाय की विराधना होती है। पणग, बीज आदि वनस्पति तथा कुंथु, पिपीलिका आदि त्रस जीवों की विराधना भी संभव है। लेप को खोलने में भी ये ही दोष होते हैं।

१२६२. साधु के निमित्त कुतुप आदि का मुख उद्भिन्न करने पर गृहस्वामी याचक को अथवा पुत्र आदि को तैल, लवण, घी और गुड़ आदि देता है। उद्घाटित करने पर वह अवश्य विक्रय करता है और दूसरे उसे खरीदते हैं।

१२६३. दान, क्रय या विक्रय में अधिकरण—कलह आदि संभव है तथा अयतना से मुख उद्घाटित करने से वहां चींटी, मूषक आदि जीव भी गिर सकते हैं।

१२६४. जिस प्रकार पूर्वलिप्त कुंभ आदि को उद्भिन्न करने पर पृथ्वीकाय आदि षट्काय जीवों की विराधना होती है, वैसे ही लिंपन आदि करने पर भी दोष उत्पन्न होते हैं, यह पिहित उद्भिन्न कहा गया है।

१२६५. उद्भिन्न दोष में सामान्यतः चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है। प्रायश्चित्त का विस्तार से निर्धारण काय आदि की हिंसा के आधार पर होता है।

१२६६. इसी प्रकार कपाट आदि को खोलने में भी षट्काय वध को जानना चाहिए। खुले हुए कपाट को बंद करने पर विशेष रूप से यंत्र आदि पीलने में होने वाले दोष जानने चाहिए।

१२६७. कपाट खोलने से छिपकली आदि की विराधना होती है। आवर्तन-पीठिका के ऊपर-नीचे होने से कुंथु आदि जीवों की विराधना संभव है। कपाट के पीछे जाने पर अंदर स्थित बालक आदि को चोट लगने की संभावना रहती है।

१२६८. कपाट आदि खोलने का सामान्य प्रायश्चित्त चतुर्लघु है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है। विभागतः प्रायश्चित्त षट्काय आदि की हिंसा के आधार पर निश्चित होता है।

१२६९. उद्भिन्न दोष का वर्णन कर दिया, अब मैं मालापहृत दोष के बारे में कहूंगा। मालापहृत दोष[1] तीन प्रकार का होता है—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्।

---

१. मालापहृत दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १६५-७१ तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ८२, ८३।

**१२७०.** दुमंजिला मकान ऊर्ध्व मालापहृत है। ऊंची कोठी (धान्य आदि की) अधः मालापहृत तथा अर्ध माले पर हाथ ऊंचा करके वस्तु को ग्रहण किया जाए, वह तिर्यक् मालापहृत है।

**१२७१.** तीनों प्रकार के मालापहृत दो प्रकार के हैं—जघन्य और उत्कृष्ट। पैरों के अग्रभाग पर ऊर्ध्वस्थित होकर ऊपर से दी जाने वाली भिक्षा जघन्य मालापहृत है तथा निःसरणी आदि पर चढ़कर ऊपर से उतारकर देना उत्कृष्ट मालापहृत है।

**१२७२.** उत्कृष्ट मालापहृत का प्रायश्चित्त चतुर्लघु जानना चाहिए, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त-दान आयम्बिल होता है। अब मैं जघन्य मालापहृत के बारे में कहूंगा।

**१२७३.** जघन्य मालापहृत में लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध होता है। मालापहृत दोष का वर्णन कर दिया, अब मैं आच्छेद्य दोष के बारे में कहूंगा।

**१२७४.** आच्छेद्य दोष[1] तीन प्रकार का होता है—१. प्रभुविषयक[2] २. स्वामिविषयक[3] ३. स्तेनविषयक।[4] प्रत्येक का प्रायश्चित्त चतुर्लघु है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल है।

**१२७५.** अनिसृष्ट[5]—अननुज्ञात दोष तीन प्रकार का होता है—१. साधारण २. चोल्लक ३. और जड्डु। इन तीनों प्रकार के अनिसृष्ट दोष में चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है।

**१२७६.** साधारण अनिसृष्ट दाता आदि के आधार पर अनेक प्रकार का होता है—क्षीर, दुकान, संखडिभोज। यहां समान वय वाले लोगों के मंडलि-भोज[6] का दृष्टान्त है।

**१२७७.** चोल्लक (आहार) भी संक्षेप में दो प्रकार का होता है—छिन्न और अच्छिन्न। जब स्वामी अपने

---

१. आच्छेद्य दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १७२-१७७/२ तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ८४, ८५।

२. अपने घर का नायक प्रभु कहलाता है।

३. ग्राम का नायक स्वामी कहलाता है।

४. टीकाकार ने इस गाथा की विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या की है। उनके अनुसार स्तेनाच्छेद्य का प्रसंग सार्थ में जाते हुए मुनियों के समक्ष उपस्थित होता है। उस समय गरीब सार्थिकों से बलात् लेकर चोर उनको दे तो उसे साधु ग्रहण न करे। यदि वे सार्थ चोरों के द्वारा बलात् लेने पर ऐसा कहते हैं कि हमारे सामने घृत-सक्तु का दृष्टान्त उपस्थित हुआ है अर्थात् सक्तु के मध्य डाला हुआ घी विशिष्ट संयोग के लिए होता है अतः चोर को अवश्य हमारा आहार ग्रहण करना चाहिए। यदि चोर साधु को देंगे तो हमें महान् समाधि होगी। इस प्रकार सार्थिक के द्वारा अनुज्ञात देय को साधु ग्रहण कर सकते हैं। फिर चोरों के चले जाने पर साधु वह द्रव्य सार्थिकों को देते हुए कहे कि उस समय हमने चोर के भय से वह आहार ले लिया अब वे गए अतः यह द्रव्य तुम ग्रहण कर लो। इस प्रकार वे ग्रहण करने की अनुज्ञा दें तो साधु के लिए वह आहार कल्पनीय है।[1]

१. पिनिमटी प. ११३।

५. अनिसृष्ट दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १७८-८५ तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति भूमिका पृ. ८५-८७।

६. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३९।

कर्मकरों को अलग- अलग भोजन देता है, उसे छिन्न[1] चोल्लक जानना चाहिए।

१२७८. अच्छिन्न[2] भोजन भी दो प्रकार का होता है—अनुज्ञात और अननुज्ञात। जो भोजन लाकर कर्मकरों को समर्पित कर दिया जाता है और स्वामी उसको साधु को देने की आज्ञा दे देता है, वह अनुज्ञात अच्छिन्न चोल्लक कहलाता है।

१२७९. खाने के बाद जो शेष बचता है, वह यदि लिया जाए तो वह अनिसृष्ट कहलाता है। छिन्न भोजन अनुज्ञात होने के कारण साधु के लिए कल्प्य होता है।

१२८०. अनिसृष्ट आहार यदि स्वामी के द्वारा अनुज्ञात है तो स्वामी के द्वारा नहीं देखने पर भी वह कल्प्य है। यह चोल्लक अनिसृष्ट है। अब मैं जड्डु अनिसृष्ट के बारे में कहूंगा।

१२८१. राजकुल से हाथी के लिए आनीत राजपिंड आहार साधु के लिए अकल्प्य है। इससे साधु को अंतराय, अदत्त-ग्रहण आदि दोष लगते हैं।[3]

१२८२. हाथी भी (प्रतिदिन महावत को देते देखकर) प्रद्वेष में आकर साधु को सूंड से गिरा सकता है तथा साधु के उपाश्रय आदि को तोड़ सकता है। महावत के पास हाथी के द्वारा अदृष्ट आहार साधु के लिए कल्पनीय है।

१२८३. अनिसृष्ट द्वार का कथन कर दिया, अब मैं अध्यवतर दोष[4] के बारे में कहूंगा। घर में स्वयं के लिए निष्पन्न आहार में साधु के निमित्त अधिक डालकर भोजन पकाना अध्यवतर दोष है।

१२८४. तण्डुल आदि को साधु के निमित्त अधिक डालना अध्यवतर दोष[5] है, वह तीन प्रकार का होता

---

१. जिसके निमित्त से छिन्न किया गया है, यदि वह दाता स्वयं उस छिन्न चुल्लक को देना चाहे तो वह कल्पनीय है।[1]

१. पिनिमटी प. ११४।

२. जब स्वामी सब हालिकों के लिए एक ही बर्तन में भोजन भेजता है तो वह अच्छिन्न कहलाता है। इसी प्रकार उद्यापनिका आदि में भी छिन्न-अच्छिन्न चुल्लक समझना चाहिए।[1] अच्छिन्न में यदि सभी स्वामी अनुज्ञा दें, तब वह वस्तु साधु को ग्रहण करना कल्पनीय है।

१. पिनिमटी प. ११४।

३. इस गाथा की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि राजा के द्वारा अननुज्ञात लेने पर कभी वह रुष्ट होकर महावत को नौकरी से निकाल सकता है। साधु के कारण उसकी आजीविका का विच्छेद होता है अतः साधु को अंतराय का दोष लगता है।[1]

१. पिनिमटी प. ११५।

४. पिण्डनिर्युक्ति में मिश्रजात और अध्यवपूरक का भेद स्पष्ट किया गया है। मिश्रजात में यावदर्थिक आदि के लिए प्रारंभ में ही अधिक पकाया जाता है और अध्यवपूरक में बाद में तंडुल आदि का अधिक परिमाण किया जाता है।[1]

१. पिनिमटी प. ११५, ११६।

५. अध्यवतर दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि १८६-१८८/१ गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ८७।

है—१. यावदर्थिक-अध्यवतर २. पाषंडि-अध्यवतर ३. साधु-अध्यवतर।

**१२८५.** यावदर्थिक अध्यवतर आहार ग्रहण करने पर लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध होता है। पाषंडी—अन्य दर्शनी और साधु से सम्बन्धित अध्यवतर आहार ग्रहण करने पर गुरुमास (एकासन) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**१२८६.** यह अध्यवतर का वर्णन है। ये उद्गम के सोलह दोष हैं। भिक्षा से सम्बन्धित नौ कोटियां होती हैं। कोटि किसे कहते हैं?

**१२८७.** जिससे गच्छ में बहुत सारे दोष एकत्रित हो जाते हैं, उसे कोटि कहा जाता है। नव कोटियां इस प्रकार हैं—

**१२८८.** १. हनन करना २. हनन करवाना ३. हनन का अनुमोदन करना ४. पचन ५. पाचन ६. पाचन का अनुमोदन ७. क्रय करना ८. क्रय करवाना तथा ९. क्रीत का अनुमोदन करना—ये नौ कोटियां हैं।

**१२८९.** कोटिकरण नव, अठारह, सत्तावीस, चौपन, नब्बे तथा दो सौ सत्तर प्रकार का होता है।

**१२९०.** इन नव कोटियों को राग और द्वेष से गुणा करने पर अठारह तथा अज्ञान, मिथ्यात्व और अविरति से गुणा करने पर सत्तावीस भेद होते हैं।

**१२९१.** पृथ्वी आदि छह काय-संयम से गुणा करने पर चौपन तथा क्षांति आदि दशविध श्रमणधर्म से गुणा करने पर नब्बे भेद होते हैं।

**१२९२.** नब्बे को दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन से गुणा करने पर २७० भेद होते हैं। यह कोटियों का विस्तार है।

**१२९३.** संक्षेप में कोटि दो प्रकार की होती है—१. उद्गमकोटि २. विशोधिकोटि। उद्गमकोटि छह प्रकार की तथा विशोधिकोटि अनेकविध होती है।

**१२९४, १२९५.** हननत्रिक और पचनत्रिक—ये छह प्रकार की कोटियां उद्गमकोटि कहलाती हैं। अथवा ये छह प्रकार की उद्गमकोटि कहलाती हैं—१.आधाकर्म २. औद्देशिक के अंतिम तीन भेद, ३. पूति ४. मिश्रजात ५. बादरप्राभृतिका ६. अध्यवपूरक के अंतिम दो भेद—(स्वगृह पाषंडिमिश्र तथा स्वगृहसाधुमिश्र।)

**१२९६.** संक्षेप में छह प्रकार की अविशोधिकोटि का वर्णन किया, अब तीन प्रकार की विशोधिकोटि को क्रमशः कहूंगा।

**१२९७.** उद्गमदोष रूप अविशोधिकोटिक आहार के अवयव से स्पृष्ट, लेप अथवा अलेप से युक्त पात्र, जो तीन कल्पों से परिमार्जित नहीं है, उसमें आहार लेना पूतिदोष दुष्ट आहार है। इसी प्रकार काञ्जिक, अवश्रावण, चाउलोदक से संस्पृष्ट पात्र या आहार भी पूतिदोष दुष्ट होता है।

**१२९८.** जिस प्रकार शुष्क अशुचि से स्पृष्ट होने पर भी लोक में उस भाजन या वस्तु को धोया जाता है, वैसे ही अलेप आधाकर्मिक वल्ल, चणक आदि का स्पर्श होने पर भी पात्र का कल्पत्रय से शोधन करना अनिवार्य है।

**१२९९.** अलेपकृद् आधाकर्मिक वल्ल, चणक आदि के ग्रहण करने पर भी कल्पत्रय के बिना उस पात्र में भोजन कल्पनीय नहीं होता फिर तक्र आदि लेपयुक्त पदार्थ का तो कहना ही क्या?

**१३००.** काञ्जिक आदि का ग्रहण किसलिए किया गया? आचार्य उत्तर देते हैं, उसे तुम सुनो। साधु को ध्यान में रखकर जो निष्पन्न किया जाता है, वह आधाकर्म है।

**१३०१, १३०२.** आधाकर्म ओदन को जानकर कोई यह कहे कि ओदन साधु के निमित्त बनाए गए हैं, न कि काञ्जी, अवश्रावण—मांड आदि अतः साधु को केवल ओदन का वर्जन करना चाहिए, काञ्जिक आदि का वर्जन करना आवश्यक नहीं है। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि यद्यपि काञ्जिक, अवश्रावण आदि आधाकर्मिक नहीं हैं फिर भी ओदन के निमित्त से काञ्जी आदि बनते हैं अतः ओदन के साथ काञ्जी का भी वर्जन करना चाहिए।

**१३०३.** शेष विशोधिकोटि के स्थापना आदि दोष युक्त आहार यदि अजानकारी में ग्रहण कर लिया गया हो तो उतने भक्तपान को अलग करने पर शेष आहार शुद्ध हो जाता है।

**१३०४.** इसलिए उस अशन और पान को यथाशक्ति अलग कर देना चाहिए। अब मैं द्रव्य आदि के क्रम से संक्षिप्त में व्याख्या करूंगा।

**१३०५.** जिस द्रव्य का परित्याग किया जाता है, वह द्रव्य विवेक है। जिस प्रदेश में परित्याग किया जाता है, वह क्षेत्र विवेक है। दोष से युक्त आहार का तत्काल परित्याग कर देना, जिससे दूसरी भिक्षा उससे मिलकर अशुद्ध न हो, यह काल विवेक है।

**१३०६.** अशठ मुनि राग द्वेष रहित होकर दोष युक्त आहार को देखते ही परित्याग कर देता है, यह भावविवेक है। यदि अनलक्षित[1]—जिसे अलग करना कठिन हो अथवा कोई तक्र आदि द्रव पदार्थ का मिश्रण हो तो कणमात्र भी न रहे ऐसा सर्व विवेक—परित्याग करना चाहिए। यदि कुछ सूक्ष्म अवयव लगे रह जाएं तो कल्पत्रय किए बिना भी आहार ग्रहण करने वाला साधु शुद्ध है।

**१३०७.** यदि उस द्रव्य के बिना निर्वाह होना संभव न हो तो जितना अशुद्ध है, उतने आहार का परित्याग करना चाहिए। यहां शुष्क और आर्द्र निपात की चतुर्भंगी है।

**१३०८.** शुष्क और आर्द्र निपात की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

- शुष्क में शुष्क का निपात।
- शुष्क में आर्द्र का निपात।
- आर्द्र में शुष्क का निपात।
- आर्द्र में आर्द्र का निपात।

---

१. सदृश वर्ण आदि के कारण जिसको अलग रूप से जानना कठिन हो, वह अनलक्षित कहलाता है।

१३०९, १३१०. • प्रथम भंग में शुष्क में शुष्क द्रव्य गिर जाने पर उसको सरलता से निकाल कर दूर किया जा सकता है।

• दूसरे भंग में शुष्क द्रव्य में तीमनादि (विशोधिकोटिक दोष वाला) मिल गया, तब उसमें काञ्जी आदि द्रव मिलाकर पात्र को टेढ़ा कर पात्र मुख पर हाथ देकर उसमें से द्रव अलग किया जा सकता है।

• तीसरे भंग में शुद्ध आर्द्र तीमन आदि में अशुद्ध शुष्क द्रव्य गिर गया तो उसमें हाथ डालकर जितना निकालना संभव हो सके, उतना निकाल दिया जाता है फिर तीमन आदि कल्पनीय होता है।

• चतुर्थ भंग में शुद्ध आर्द्र द्रव्य में अशुद्ध आर्द्र द्रव्य मिश्रित हो जाने पर, वह द्रव्य यदि दुर्लभ हो तो उतनी ही मात्रा में अशुद्ध द्रव्य निकालकर शेष का परिभोग करना कल्पनीय है।

१३११. इस प्रकार अशठ होकर परित्याग करने वाला साधु जिन स्थानों में शुद्ध होता है, मायावी उन स्थानों से शुद्ध नहीं होता अतः मुनि को अशठ होना चाहिए।

१३१२. इस प्रकार गवेषणा में उद्गम द्वार का मैंने संक्षेप में वर्णन किया, अब मैं उत्पादना के दोषों के बारे में संक्षेप में कहूंगा।

१३१३. उद्गम के सोलह दोष गृहस्थ से समुत्थित जानने चाहिए तथा उत्पादन के दोष साधु से समुत्थित जानने चाहिए।

१३१४. उत्पादना के चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य उत्पादना सचित्त, अचित्त और मिश्र आदि तीन प्रकार की होती है। सचित्त उत्पादना द्विपद (चतुष्पद, अपद) आदि तीन प्रकार की होती है।

१३१५. औपयाचितक रूप से केश-रोम युक्त लोमश पुरुष, घोड़े या बीज के द्वारा अश्व और पुत्र एवं वृक्ष-वल्लि आदि का उत्पादन सचित्त द्रव्य उत्पादना है।[1]

१३१६. कनक, रजत आदि यथेष्ट धातुओं से इच्छानुरूप आभूषण आदि की उत्पत्ति अचित्तद्रव्य-उत्पादना है। दास, दासी आदि को वेतन आदि देकर आत्मीय बनाना मिश्रद्रव्यउत्पादना है।

१३१७. भावउत्पादना के दो प्रकार हैं—प्रशस्तभावउत्पादना तथा अप्रशस्तभावउत्पादना। क्रोध आदि से युक्त धात्रीत्व आदि की उत्पादना अप्रशस्तभावउत्पादना है तथा ज्ञान आदि की उत्पादना प्रशस्तभावउत्पादना है।

१३१८. यहां अप्रशस्त भाव उत्पादना का अधिकार है, वह धात्री आदि सोलह प्रकार की है।

---

१. किसी व्यक्ति के किसी भी उपाय से पुत्र न होने पर देवता की मनौती—औपयाचितक रूप से ऋतुकाल में लोमश पुरुष द्वारा संयोग कराकर पुत्र आदि की उत्पत्ति करना सचित्त द्रव्य उत्पादना है। इसी प्रकार भाड़ा देकर अन्य व्यक्ति के घोड़े का अपनी घोड़ी से संयोग कराकर घोड़ा आदि पैदा करना तथा बीजारोपण करके पानी के सिंचन से वृक्ष आदि पैदा करना सचित्त द्रव्य उत्पादना है।[1]

१. पिनिमटी प. १२०।

१३१९, १३२०. उत्पादना के सोलह दोष हैं—

| | |
|---|---|
| १. धात्री | ९. माया |
| २. दूती | १०. लोभ |
| ३. निमित्त | ११. पूर्व संस्तव, पश्चात् संस्तव |
| ४. आजीविका | १२. विद्या |
| ५. वनीपक | १३. मंत्र |
| ६. चिकित्सा | १४. चूर्ण |
| ७. क्रोध | १५. योग |
| ८. मान | १६. मूलकर्म |

१३२१. धात्री शब्द की व्युत्पत्ति—

- जो बालक को धारण करती है, वह धात्री है।
- जो बालक का पोषण करती है, वह धात्री है।
- बालक जिसको पीते हैं (जिसका स्तनपान करते हैं), वह धात्री है।

प्राचीन काल में अपने ऐश्वर्य के अनुसार धनाढ्य व्यक्ति क्षीर आदि पांच प्रकार की धात्रियों की नियुक्ति करते थे।

१३२२. धात्री के पांच प्रकार हैं—

१. क्षीरधात्री — स्तनपान कराने वाली।
२. मज्जनधात्री — स्नान कराने वाली।
३. मंडनधात्री — बालक का मंडन—विभूषा करने वाली।
४. क्रीड़नधात्री — बालक को क्रीड़ा कराने वाली।
५. अंकधात्री — बालक को गोद में रखने वाली।

इनमें से किसी एक धात्रीत्व का प्रयोग करना धात्रीपिण्ड है।

१३२३. धात्रीत्व दो प्रकार का होता है—स्वयं करना, दूसरों को नियुक्त करना। बालक आदि को धाय की भांति क्रीड़ा कराना धात्रीपिंड है।

१३२४. पंचविध धात्रीपिंड ग्रहण करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल है। अब मैं दूतीपिंड[1] को कहूंगा।

१३२५. दूती के दो प्रकार हैं—स्वग्राम और परग्राम। इनके भी दो-दो भेद हैं—प्रकट और छन्न (गुप्त)।

१३२६. निःसंकोच रूप से शय्यातर की मां या बेटी को अन्यग्राम में संदेश देना प्रकट दूतीत्व है।

---

१. दूतीपिण्ड के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ९२।

**१३२७.** भिक्षा आदि के लिए जाता हुआ मुनि जननी आदि का संदेश ले जाता है कि तुम्हारी माता ने अथवा पिता ने ऐसा कहा है। (यह भी प्रकट दूतीत्व है।)

**१३२८-३०.** छन्न दूती के दो प्रकार हैं—लोकोत्तर[1] और उभयपक्ष। लोकोत्तर छन्न दूतीत्व में संघाटक के साधु से शंकित होता हुआ साधु छन्न वचनों में बोलता है। वह छन्न दूतीत्व कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि शय्यातरी को संदेश देने के लिए साधु उसके पास गया। साथ वाले साधु के विश्वास के लिए मुनि प्रकट रूप में यह कहता है कि हमारे लिए दूतीत्व कल्पनीय नहीं है। तुम्हारी पुत्री अकोविद है, तभी उसने मुझे कहा है कि मेरी मां को ऐसा कह देना।

**१३३१.** मां भी कहती है कि इस विषय में उसे जानकारी नहीं है अतः मैं उसे मना कर दूंगी। यह लोकोत्तर प्रच्छन्न दूतीत्व है। अब मैं उभयच्छन्न दूतीत्व को कहूंगा।

**१३३२, १३३३.** जामाता के तीर्थयात्रा से आने पर पुत्री ने बिलाव को पकाया। मुनि के आने पर पुत्री ने उभयच्छन्न दूतीत्व करते हुए कहा कि मेरी मां को ऐसा कहना कि चिन्तित कार्य उसी रूप में सम्पादित कर दिया है। इस प्रकार के दूतीत्व में न संघाटक जानता है और न पार्श्ववर्ती व्यक्ति कुछ भी जानता है।

**१३३४.** यह स्वग्राम उभयच्छन्न दूतीत्व है। इसी प्रकार परग्राम विषयक दूतीत्व को जानना चाहिए। फिर दूती के दो भेद क्यों किए?

**१३३५.** दो ग्रामों के बीच वैर था। परग्राम (निकटवर्ती ग्राम) में शय्यातरी की बेटी रहती थी। ग्राम में चिन्तन हुआ कि परग्राम का हनन करेंगे।[2]

**१३३६, १३३७.** पिता मुनि शय्यातरी की पुत्री के यहां भिक्षार्थ गया। वह शय्यातरी अपने पिता मुनि को कहती है कि मेरी बेटी को ऐसा कह देना कि पड़ोसी गांव आक्रमण करने वाला है अतः प्रमाद मत करना। उसके कहने पर दूसरे गांव में पिता मुनि ने वैसा ही संदेश दे दिया। उसने भी गांववासियों को यह सूचना दे दी।

**१३३८.** सूचना मिलने पर बेटी के गांव वाले एक पार्श्व में स्थित हो गए। दूसरे गांव की सेना का आक्रमण होने पर दोनों गांव के बीच युद्ध होने लगा। युद्ध में शय्यातरी का पति, पुत्र और दामाद मारे गए।

**१३३९.** लोग कहने लगे कि यह संदेश किसने दिया? शय्यातरी बोली—'जामाता, पुत्र और पति को मारने वाले मेरे पिता ने ऐसा कहा था।'

**१३४०.** इन दोषों के कारण दूतीत्व करना मुनि के लिए कल्पनीय नहीं है। दूतीपिण्ड ग्रहण करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है।

---

१. लोकोत्तर में पास वाले साधु को भी ज्ञात होता है। उभयपक्ष में वार्ता साधु और गृहस्थ—दोनों से छन्न रहती है।
   १. पिनिमटी प. १२६।
२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४०।

१३४१. निमित्त त्रिकाल विषयक होता है, इसके छह भेदों में जो दोष होते हैं, उनमें वर्तमानकाल विषयक निमित्त-कथन तत्क्षण परघातकारी होता है, इसका यह उदाहरण है।[1]

१३४२. किसी लिंगवेशधारी संन्यासी ने निमित्त के द्वारा गृहस्वामिनी को आकृष्ट किया। गृहस्वामिनी ने चिरकाल से गए हुए अपने पति के बारे में पूछा कि वे कब तक घर आएंगे?[2]

१३४३. नैमित्तिक ने कहा—'कल ही तुम्हारा पति आ जाएगा।' गृहस्वामिनी ने कहा—'इसका विश्वास कैसे हो?' नैमित्तिक ने कहा—'तुम्हारे गुह्य प्रदेश में तिल है।' प्रत्यय के लिए नैमित्तिक ने स्वप्न आदि के बारे में भी बताया।

१३४४, १३४५. गृहस्वामिनी ने उपयोग लगाया और पति के सम्मुख परिजनों को भेज दिया। इधर पति ने सोचा कि बिना सूचना के घर में प्रवेश करूंगा और घर के वृत्तान्त को देखूंगा। पति ने मित्रवर्ग एवं परिजनों को सम्मुख देखकर पूछा—'तुम लोगों को मेरे आगमन की बात कैसे ज्ञात हुई?' परिजनों ने कहा—'तुम्हारी पत्नी ने हमें भेजा है।'

१३४६. यात्रा से आए हुए पति ने इसका कारण पूछा। पत्नी ने प्रशंसा करते हुए पति को कहा कि श्रमण नैमित्तिक ने तिल आदि के बारे में बताया तथा वह अतीत और भविष्य के बारे में भी जानता है।

१३४७. कोप से गृहनायक ने पूछा—'घोड़ी के गर्भ में क्या है?' नैमित्तिक साधु ने कहा—'पंचपुंड्र—पांच तिलक वाला किशोर (घोड़ी का बच्चा) है।' घोड़ी का पेट फाड़ने पर वही निकला। (पति बोला-)यदि ऐसा नहीं होता तो तुम्हारा भी वध हो जाता। ऐसे कितने नैमित्तिक हैं, जो यथार्थ निमित्त का कथन करते हैं।

१३४८, १३४९. इसलिए साधु को निमित्त का कथन नहीं करना चाहिए। यह मैंने निमित्तपिंड का वर्णन किया। अतीत का निमित्त-कथन करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है। वर्तमान और अनागत का निमित्त-कथन करने पर चतुर्लघु जिसका तप रूप प्रायश्चित्त उपवास प्राप्त होता है। अब मैं संक्षेप में आजीवपिंड के बारे में कहूंगा।

१३५०. आजीवना[3] के पांच प्रकार हैं—जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प। प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं—सूचा से कहना अर्थात् विशेष शब्दों से कहना अथवा असूचा—स्फुट वचनों से कहना।

१३५१. जाति, कुल, गण[4], कर्म और शिल्प—ये पंचविध आजीव (आजीविका के साधन) हैं। इनका प्रयोग करके आहार लेने पर प्रत्येक का प्रायश्चित्त चतुर्लघु है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल है।

१३५२. मातृ समुत्थ ब्राह्मण आदि जाति कहलाती है। वहां मुनि सूचा—स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

---

१. निमित्त दोष के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ९३।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४१।

३. आजीवना दोष के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ९३-९५।

४. मल्ल आदि के समूह को गण कहा जाता है।[1]

१. पिनि २०७; गणो उ मल्लादि।

१३५३. ब्राह्मण पुत्र द्वारा सही रूप से होम आदि क्रिया करते देखकर मुनि यह जान लेता है कि यह ब्राह्मण पुत्र है अथवा यह गुरुकुल में रहा हुआ है अथवा (मुनि उसके पिता से कहता है कि तुम्हारा पुत्र) आचार्य के गुणों को प्रकट करता है।

१३५४. (मुनि अपनी जाति प्रकट करने के लिए ब्राह्मण-पिता के सामने कहता है)—"तुम्हारे पुत्र ने होम आदि क्रिया सम्यक् या असम्यक् रूप से संपादित की है।" असम्यक् क्रिया के तीन रूप हैं—न्यून, अधिक तथा विपरीत। सम्यग् क्रिया के ये घटक हैं—समिधा—यज्ञ की लकड़ी, मंत्र, आहुति-स्थान, याग–यज्ञ, काल, घोष आदि। (यह सुनकर ब्राह्मण जान लेता है कि मुनि भी ब्राह्मण जाति का है, यह जाति से आजीवना है।)

१३५५. भिक्षार्थ गया मुनि प्रकट रूप में कहता है कि यह क्रिया ठीक की अथवा नहीं की। वहां भद्र या दुष्ट व्यक्ति होने से ये दोष उत्पन्न होते हैं।

१३५६. भद्र गृहस्थ सोचता है कि यह हमारे पक्ष का है, यह भिक्षु है अतः इसको आधाकर्म आहार देना चाहिए। प्रान्त—दुष्ट गृहस्थ सोचता है कि यह भिक्षा के लिए चापलूसी कर रहा है।

१३५७, १३५८. पिता का उग्र[1] आदि वंश कुल कहलाता है। इसको भी जाति की भांति जानना चाहिए। मल्ल की आवाज सुनकर युद्ध के मंडल[2] में प्रवेश करना। युद्ध प्रवेश में देवकुल-दर्शन[3], प्रतिमल्ल के आह्वान हेतु वैसी ही भाषा का प्रयोग, मंडप में दण्ड आदि क्रिया को देखकर जानना कि यह मल्ल है (यह गण के आधार पर उपजीवना है) यंत्र-पीड़न आदि कार्य कर्म कहलाते हैं तथा सिलाई आदि करना शिल्प कहलाता है।

१३५९. अथवा जो आचार्य के उपदेश से सीखा जाता है, वह शिल्प तथा जो स्वयं सीखा जाता है, वह कर्म कहलाता है।[4]

---

१. उग्रकुल में प्रविष्ट पुत्र को आरक्षक कर्म में नियुक्त देखकर मुनि कहता है कि लगता है तुम्हारा पुत्र पदाति सेना के नियोजन में कुशल है। इस बात को सुनकर पिता जान लेता है कि यह साधु उग्र कुल में उत्पन्न है। यह सूचा के द्वारा स्वकुल का प्रकाशन है। जब वह स्पष्ट वचनों में अपने कुल को प्रकट करता है कि मैं उग्र या भोग कुल का हूं तो यह असूचा के द्वारा कुल को प्रकट करना है।[1]

१. पिनिमटी प. १२९।

२. मण्डल—एक मल्ल के लिए जो लभ्य भूखण्ड है, वह मंडल कहलाता है।[1]

१. पिनिमटी प. १२९; इहाकरबलके प्रविष्टस्यैकस्य मल्लस्य यल्लभ्यं भूखण्डं तन्मण्डलम्।

३. युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय चामुण्डा देवी की प्रतिमा को प्रणाम किया जाता था।[1]

१. पिनिमटी प. १३०; देवकुलदर्शनं युद्धप्रवेशे चामुण्डाप्रतिमाप्रणमनम्।

४. कृषि आदि को कर्म तथा बुनाई, सिलाई आदि को शिल्प कहा जाता है अथवा अप्रीति, अरुचि पैदा करने वाला कर्म तथा प्रीति उत्पन्न करने वाला अर्थात् मन को आकृष्ट करने वाला शिल्प कहलाता है। आचार्यों ने मतान्तर प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अनाचार्य के द्वारा उपदिष्ट कर्म तथा आचार्य द्वारा उपदिष्ट शिल्प कहलाता है।[1]

१. पिनिमटी प. १२९, निभा ४४१२ चू पृ. ४१२।

१३६०. कर्म अथवा शिल्प विषयक कर्ता के प्रयोजन के निमित्त एकत्रित अनेक वस्तुओं को देखकर यह सम्यक् है अथवा असम्यक्, ऐसा अपने कौशल से जताना अथवा स्पष्ट रूप से कहना कर्म और शिल्प की उपजीवना है।

१३६१. इन सबमें नियमतः भद्रक और प्रान्त दोष होते हैं, यह आजीवकपिण्ड का वर्णन है, अब मैं वनीपकपिण्ड[1] के बारे में कहूंगा।

१३६२. (शिष्य पूछता है—) वनीपक किसको कहते हैं? आचार्य कहते हैं—वनु-याचने धातु से वनीपक शब्द निष्पन्न है। स्वयं को श्रमण आदि का भक्त बताकर याचना करने वाला वनीपक कहलाता है।

१३६३. याचना के द्वारा जीवन चलाने वाले वनीपक के पांच प्रकार जानने चाहिए—श्रमण, माहण, कृपण, अतिथि और श्वान।

१३६४. श्रमण, माहन, कृपण, अतिथि और श्वान—इन पांचों से सम्बन्धित वनीपकत्व करने पर प्रत्येक का चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है।

१३६५. जिसकी मां मर गई हो, ऐसे बछड़े के लिए ग्वाला अन्य गाय की खोज करता है, वैसे ही आहार आदि के लोभ से जो श्रमण, माहण, कृपण, अतिथि अथवा श्वान के भक्तों के सामने स्वयं को उनका भक्त दिखाकर याचना करता है, वह वनीपक है।

१३६६. श्रमण के पांच प्रकार हैं—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक तथा आजीवक। भोजन देते समय कोई मुनि आहार आदि के लोभ से स्वयं को शाक्य आदि का भक्त बताता है, यह उसकी वनीपकता है।

१३६७. बौद्ध भिक्षु आदि को देखकर उनको प्रीतिपूर्वक भोजन देते देखकर साधु उनके अनुकूल बोलता है—'विप्र! तुमने अच्छा किया, जो इनको दान दे रहे हो।'

१३६८. ये शाक्य भिक्षु भित्ति-चित्र की भांति अनासक्त रूप से भोजन करते हैं। ये परम कारुणिक एवं दानरुचि हैं। कामगर्दभ—मैथुन में अत्यंत आसक्त इन ब्राह्मणों को दिया हुआ भी नष्ट नहीं होता तो भला शाक्य आदि भिक्षुओं को दिया हुआ व्यर्थ कैसे होगा?

१३६९. शाक्य आदि की प्रशंसा से मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है, उद्गम आदि दोषों का समाचरण होता है। लोगों में वह अवर्णवाद होता है कि ये साधु चाटुकारी हैं, इन्होंने कभी दान नहीं दिया है अथवा शाक्य आदि के भक्त यदि द्वेषी हैं तो यह कह देते हैं कि यहां फिर मत आना।

१३७०. इसी प्रकार ब्राह्मण को दिए जाने पर भी उनके अनुकूल बोलता है। श्रमण और ब्राह्मण दोनों का वर्णन कर दिया गया।

१३७१. (मुनि ब्राह्मण-भक्तों के समक्ष ब्राह्मणों की प्रशंसा रूप वनीपकत्व करते हुए कहता है—) लोकोपकारी भूमिदेव—ब्राह्मणों को दिया हुआ दान बहुत फलदायी होता है। ब्राह्मण बंधु अर्थात् जातिमात्र

---

१. वनीपकपिण्ड के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ९५, ९६।

से ब्राह्मण को दिया गया दान भी बहुत फल वाला होता है तो भला षट्कर्म[1] में निरत ब्राह्मण को दान देने से होने वाले फल की तो बात ही क्या है?

**१३७२, १३७३.** कुष्ठ रोगी तथा हाथ, पैर, आंख आदि से विकल कृपणों को दान देते देखकर मुनि उनके अनुकूल इस प्रकार की भाषा बोलता है—यह लोक पूजाहार्य—पूजितपूजक है। जो व्यक्ति कृपण, दु:खी, अबन्धु, रोगग्रस्त तथा लूले-लंगड़े को अनाकांक्षा से दान देता है, वह दानपताका का हरण करता है अर्थात् दान की पताका को अपने हाथ में ले लेता है। (कृपण-भक्तों के सम्मुख ऐसा कहना कृपण आदि की वनीपकता है।)

**१३७४.** कोई व्यक्ति अतिथियों को दान देता है, उनका वनीपकत्व करने पर भी उपर्युक्त दोष हैं। वहां मुनि दानपति के अनुकूल इस भाषा का प्रयोग करता है—

**१३७५.** प्राय: लोग अपने उपकारी, परिचित तथा आश्रितों को दान देते हैं परन्तु जो व्यक्ति मार्ग खिन्न अतिथि को दान देता है, वही वास्तव में दान है। (अतिथि-भक्तों के सम्मुख ऐसा कहना अतिथि वनीपकत्व है।)

**१३७६.** श्वानभक्त व्यक्ति को श्वान आदि को आहार देते देखकर मुनि उनके अनुकूल भाषा बोलता है कि तुम अकेले ही दान देना जानते हो।

**१३७७.** गाय, बैल आदि को तृण आदि का आहार सुलभ होता है परन्तु छिच्छिक्कार से तिरस्कृत कुत्तों को आहार-प्राप्ति सुलभ नहीं होती।

**१३७८.** ये श्वान कैलाश पर्वत के देव विशेष हैं। पृथ्वी पर ये यक्षरूप में विचरण करते हैं। इनकी पूजा हितकारी और अपूजा अहितकारी होती है। (श्वान-भक्तों के समक्ष ऐसा कहना श्वान वनीपकत्व है।)

**१३७९, १३८०.** पूजित होने पर ये श्वान लोक के लिए हितकर तथा अपूजित होने पर अहितकर होते हैं। पूजनीय पूजे जाते हैं। पूजित होने पर ये श्वान हितकर तथा अपूजित होने पर अहितकर होते हैं अत: ये श्वान पूजनीय हैं।

**१३८१.** माहण आदि भक्तों के समक्ष उनकी प्रशंसा या अनुकूल वचन बोलने पर दाता सोचता है कि यह श्रमण मध्यस्थ है।

**१३८२.** इस मुनि ने मेरा भाव जान लिया है कि लोक में ब्राह्मण आदि प्रणामार्ह हैं। उपर्युक्त प्रत्येक विषय

---

१. मनुस्मृति (१०/७५) में ब्राह्मणों के योग्य षट्कर्म ये हैं—

अध्यापनमध्ययनं, यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव, षट्कर्माण्यग्रजन्मन:॥

ब्राह्मणों से संबंधित षट्कर्म इस प्रकार हैं—

उञ्छं प्रतिग्रहो भिक्षा, वाणिज्यं पशुपालनम्। कृषिकर्म तथा चेति, षट्कर्माण्यग्रजन्मन:॥

सन्ध्यास्नानं जपो होमो, देवतानां च पूजनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च, षट्कर्माणि दिने दिने॥ पारा १/३९

योग से संबंधित षट्कर्म इस प्रकार हैं—१. धौति २.वस्ति ३. नेती ४. नौली ५. त्राटक ६. कपालभाति।[1]

१. आप्टे पृ. ९९९।

के वनीपकत्व में भद्रक और प्रान्त आदि दोष होते हैं। (यदि व्यक्ति भद्रक होता है तो वह प्रशंसावचन सुनकर मुनि को आधाकर्म से प्रतिलाभित करता है और यदि वह प्रान्त होता है तो मुनि को घर से बाहर निकाल देता है।)

१३८३. 'पात्र या अपात्र को दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं होता'—ऐसा कहना भी दोषयुक्त है तो भला अपात्र- दान की प्रशंसा करना महान् दोषप्रद है।

१३८४. वनीपकपिण्ड का वर्णन कर दिया, अब मैं चिकित्सापिण्ड[1] के बारे में कहूंगा। चिकित्सा दो प्रकार की होती है—सूक्ष्म और बादर।

१३८५. सूक्ष्म चिकित्सा करके आहार ग्रहण करने पर लघुमास, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध प्राप्त होता है। बादर चिकित्सा करके आहार ग्रहण करने पर चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है।

१३८६, १३८७. भिक्षार्थ जाने पर यदि कोई रोगी किसी औषधि के बारे में पूछता है तो मुनि कहता है कि क्या मैं वैद्य हूं? यह प्रथम सूक्ष्म चिकित्सापिण्ड है। इसमें अर्थापत्ति से सूचित किया गया है कि तुमको अपने रोग के बारे में वैद्य से पूछना चाहिए। यह अबुध और अज्ञानी को बोध देने वाली सूक्ष्म चिकित्सा है।

१३८८. रोगी के पूंछने पर मुनि कहता है— 'मैं भी इस दुःख अथवा रोग से ग्रस्त था, अमुक औषधि से मैं रोगमुक्त हो गया। हम मुनि सहसा समुत्पन्न रोग का निवारण तेले आदि की तपस्या से करते हैं।'

१३८९. यह द्वितीय चिकित्सा का प्रकार है। ये दो सूक्ष्म-चिकित्सा के प्रकार हैं। बादर चिकित्सा में मुनि स्वयं ही वैद्य बनकर चिकित्सा करता है।

१३९०. आगंतुक अथवा धातुक्षोभज रोग के समुत्पन्न होने पर मुनि जो क्रिया करता है, वह इस प्रकार है—पहले पेट का संशोधन करता है फिर पित्त आदि का उपशमन करता है, तदनन्तर रोग के कारण का परिहार करता हैं। (यह तीसरे प्रकार की चिकित्सा है।)

१३९१. असंयत की चिकित्सा करने पर तथा सूक्ष्म चिकित्सा-क्रिया करने पर अनेकविध दोष उत्पन्न होते हैं।

१३९२. चिकित्सा-क्रिया में असंयम योगों का सतत प्रवर्तन होता है क्योंकि गृहस्थ तप्त लोहे के गोले के समान होता है। (गृहस्थ यावज्जीवन षड्जीवनिकाय के घात में प्रवर्तित होता है अतः उसकी चिकित्सा सतत असंयमयोगों का कारण बनती है)। इस प्रकरण में दुर्बल व्याघ्र[2] का दृष्टान्त जानना चाहिए। यदि चिकित्सा करने पर भी रोग अत्युग्र हो जाता है तो गृहस्थ उसका निग्रह करता है, जिससे प्रवचन की निंदा होती है।

---

१. चिकित्सापिण्ड के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. ९६, ९७।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४२।

**१३९३.** इन दोषों के कारण साधु को गृहस्थ की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। मैंने चिकित्सापिण्ड का वर्णन किया, अब क्रोधपिण्ड आदि के बारे में कहूंगा।

**१३९४.** क्रोधपिण्ड आदि के संक्षेप में क्रमशः ये उदाहरण हैं—१. हस्तकल्प नगर (घेवर), २. गिरिपुष्पित नगर (सेवई), ३. राजगृह (मोदक), ४. चम्पा (केशरिया मोदक)।[1]

**१३९५, १३९६.** हस्तकल्प नगर में मृतकभोज के अन्तर्गत क्षपक का दृष्टान्त है।[2] कौशल देश के गिरिपुष्पित नगर के वनकोष्ठक चैत्य में साधु आपस में वार्तालाप करने लगे कि आज प्रातः साधुओं के लिए सेवई लेकर कौन आएगा? एक क्षुल्लक साधु बोला—'मैं सेवई लेकर आऊंगा।'[3]

**१३९७.** साधुओं ने कहा—'सेवई घृत और गुड़ से संयुक्त होनी चाहिए।' क्षुल्लक ने कहा—'जैसी आज्ञा दोगे, वैसी सेवई लेकर आऊंगा।' सेवई के लिए उस क्षुल्लक ने श्वेताङ्गुलि[4] आदि के उदाहरण से सेवई देने वाले को समझाया।

**१३९८.** राजगृह नगर में धर्मरुचि नामक आचार्य के आषाढ़भूति नामक छोटा शिष्य था।[5] एक बार वह भिक्षार्थ राज-नट के घर में प्रविष्ट हुआ। वहां उसे मोदक प्राप्त हुए।

**१३९९.** आचार्य, उपाध्याय, संघाटक साधु तथा स्वयं के लिए लड्डु प्राप्त करने के लिए उसने काने मुनि, कुष्ठ रोगी एवं कुब्ज आदि का रूप बनाकर बार-बार नट के घर में प्रवेश किया।

**१४००.** ऊपर माले में बैठे हुए नट ने यह दृश्य देखा तो उस बुद्धिमान् नट ने अच्छी तरह सोचा कि नट इसके जैसा होना चाहिए अतः उपायपूर्वक इसे ग्रहण करना चाहिए।

**१४०१.** उसके दिमाग में एक उपाय आया कि मुनि को बुलाकर उन्हें बहुत मोदक दूंगा। उसने मुनि से कहा-'जब भी प्रयोजन हो, आप प्रतिदिन यहां आया करें।'

**१४०२.** नट ने अपनी दोनों कन्याओं को समझाया—'इनके साथ हास्य, क्रीड़ा, परिहास और स्पर्श आदि क्रियाएं करो, जिससे यह शीघ्र ही चारित्र से भ्रष्ट हो जाए।'

**१४०३.** यदि यह तुम दोनों का नाम ले या तुम्हारे प्रति आकृष्ट हो तो तुम कहना कि प्रव्रज्या का त्याग कर दो। दोनों कन्याओं ने वैसा ही किया, जिससे मुनि का मन क्षुभित हो गया। कन्याओं ने कहा—'इस

---

१. मूलाचार (गा. ४५४) में मान, माया और लोभ से सम्बन्धित नगरों के नामों में अंतर है। मान से सम्बन्धित वेणातट, माया से सम्बन्धित वाराणसी तथा लोभ से सम्बन्धित राशियान नगर का उल्लेख है। मूलाचार में खाद्य पदार्थ के नामों का निर्देश नहीं है।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४३।

३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४४।

४. साधु ने उसके समक्ष छह प्रकार के अधम पुरुषों के बारे में बताया, वे नाम इस प्रकार हैं—१. श्वेताङ्गुलि २. बकोड्डायक ३. किंकर ४. स्नायक ५. गृध्रइवरिंखी ६. हदज्ञ। इनके विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति का परि. २ कथा सं. ३१-३६ पृ. सं. २५२-५४।

५. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४५।

रजोहरण और साधु लिंग को छोड़ दो।'

१४०४. गुरु से कहकर लिंग को छोड़कर वह वहां आ गया। उसने अपनी दोनों पुत्रियों के साथ उसकी शादी कर दी और कहा—'यह उत्तम प्रकृति का है अत: इसके साथ यत्नपूर्वक व्यवहार करना है।'

१४०५. राजगृह में राजा द्वारा एक दिन बिना महिलाओं (नटनियों) के नाटक का आदेश हुआ। एकान्त में वे दोनों नटकन्याएं मदोन्मत्त होकर घर के ऊपरी मंजिल में जाकर सो गईं।

१४०६. व्याघात होने के कारण नाटक नहीं हुआ। आषाढ़भूति ने घर में प्रवेश करके दोनों पत्नियों को निर्वस्त्र देखा। उन्हें देखकर उसे वैराग्य हो गया। वह आचार्य गुरु के पास जाने के लिए प्रस्थित हुआ। नट ने उसे देख लिया।

१४०७. नट ने इंगित से उसकी विरक्ति को जान लिया। अपनी दोनों पुत्रियों को उसने कड़े शब्दों में उपालम्भ देते हुए आषाढ़भूति के पास आजीविका की मांग हेतु भेजा। 'मैं आजीविका जितना धन दूंगा' यह स्वीकृति देकर उसने कुसुमपुर नगर में 'राष्ट्रपाल' नाटक का मंचन किया।

१४०८. लोगों ने कड़े आदि आभूषण तथा धन का दान किया। नाटक करते हुए उसे बहुत धन की प्राप्ति हुई। नाटक में उसने भरत की ऋद्धि आदि का भी प्रदर्शन किया।

१४०९. नाटक में इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न भरत को आदर्शगृह में कैवल्य का आलोक प्राप्त हुआ, यह दृश्य दिखाया गया। लोगों ने उसको रोका कि तुम पुन: प्रव्रज्या मत लो। उसने कहा—'क्या राजा भरत वापस लौटा था?'

१४१०, १४११. आषाढ़भूति ने कहा—"तुम ऐसा मत कहो। यदि मैं लौटता हूं तो विडम्बना होगी।" उसके साथ पांच सौ क्षत्रिय राजकुमार भी प्रव्रजित हो गए। (इस नाटक से पृथ्वी क्षत्रिय रहित हो जाएगी अत:) लोगों ने उस नाटक को जला दिया। इस प्रकार का मायापिण्ड साधु के लिए कल्प्य नहीं है लेकिन कारण उपस्थित होने पर ग्लान, क्षपक, अतिथि साधु अथवा स्थविर आदि के लिए मायापिण्ड ग्रहण करना कल्पनीय है।

१४१२. मायापिण्ड का कथन कर दिया, अब मैं लोभपिण्ड के बारे में कहूंगा। वह क्रोधपिण्ड आदि में सर्वत्र उपस्थित रहता है अथवा लोभपिण्ड इस प्रकार है—

१४१३. 'आज मैं अमुक द्रव्य (मोदक आदि) ही ग्रहण करूंगा'—इस संकल्प के कारण वह सहज प्राप्त होने वाले अन्य द्रव्य को ग्रहण नहीं करता, यह लोभपिण्ड है। अथवा स्निग्ध पदार्थ को भद्रकरस युक्त जानकर उसको प्रचुर मात्रा में ग्रहण करना भी लोभपिण्ड है।

१४१४. लोभपिण्ड का उदाहरण इस प्रकार है। चम्पा नगरी में उत्सव के समय किसी साधु ने यह अभिग्रह ग्रहण किया कि मैं आज सिंहकेशरक मोदक ग्रहण करूंगा।[1]

१४१५. भिक्षार्थ प्रविष्ट उस मुनि ने अन्य वस्तुओं की प्राप्ति होने पर भी उनका निषेध कर दिया।

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४६।

सिंहकेशरक मोदक की प्राप्ति न होने पर वह भाव से संक्लिष्ट हो गया।

१४१६. सिंहकेशरकमय चित्त होने से वह असामान्य हो गया इसलिए वह 'धर्मलाभ' के स्थान पर 'सिंहकेशरक' शब्द का उच्चारण करने लगा। सूर्यास्त होने पर भी वह घरों में घूमता रहा।

१४१७. श्रावक के घर अर्ध रात्रि में उसने 'सिंहकेशरक' शब्द का उच्चारण किया। श्रावक ने सिंहकेशरक मोदकों से पात्र भर दिया। श्रावक ने मुनि से पूछा—'पुरिमार्ध का काल आ गया क्या?' मुनि ने उपयोग लगाया। आकाश में चांद की ज्योत्स्ना देखकर मुनि का मन शान्त हो गया। मुनि ने कहा—'तुमने मुझे समय पर सही प्रेरणा दी।' मुनि ने मोदकों का परिष्ठापन किया। प्रायश्चित्त करते हुए उसे केवलज्ञान हो गया।

१४१८. क्रोध आदि के क्रमशः ये उदाहरण कहे गए हैं, अब मैं इनके सम्बन्ध में प्रायश्चित्त-दान के बारे में कहूंगा।

१४१९. क्रोधपिण्ड और मानपिण्ड ग्रहण करने पर चतुर्लघु, मायापिण्ड ग्रहण करने पर गुरुमास, जिनका तप रूप प्रायश्चित्त क्रमशः आयम्बिल और एकासन होता है।

१४२०. लोभपिण्ड ग्रहण करने पर चतुर्गुरु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त उपवास होता है। संस्तवन, संस्तव, स्तवना और वंदना—ये सब एकार्थक हैं।

१४२१. संस्तव दो प्रकार का होता है—सम्बन्धी संस्तव और वचन संस्तव। इन दोनों के भी दो-दो भेद जानने चाहिए—पूर्व सम्बन्धी संस्तव और पश्चात् सम्बन्धी संस्तव, पूर्व वचन संस्तव तथा पश्चाद् वचन संस्तव।

१४२२. स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होने से पूर्व सम्बन्धी संस्तव दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार पश्चात् सम्बन्धी संस्तव के भी स्त्री और पुरुष दो भेद हैं। अब मैं इनके प्रायश्चित्त के बारे में कहूंगा।

१४२३. स्त्री सम्बन्धी संस्तव होने पर चतुर्लघु तथा पुरुष सम्बन्धी संस्तव होने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त क्रमशः उपवास और आयम्बिल होता है।

१४२४. स्त्री और पुरुष—इन दो से सम्बन्धित होने के कारण पूर्व वचन संस्तव के दो भेद होते हैं। इसी प्रकार पश्चाद् वचन संस्तव के भी दो भेद होते हैं। अब मैं इनके प्रायश्चित्त के बारे में कहूंगा।

१४२५. स्त्री सम्बन्धी वचन संस्तव करके आहार लेने पर गुरुमास प्रायश्चित्त, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त एकासन होता है। पुरुष सम्बन्धी वचन संस्तव करके आहार ग्रहण करने पर लघुमास, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध प्राप्त होता है।

१४२६. पूर्व सम्बन्धी संस्तव में माता-पिता आदि को जानना चाहिए। पश्चात् सम्बन्धी संस्तव में सास और श्वसुर का सम्बन्ध होता है।

१४२७. भिक्षार्थ गया हुआ मुनि अपनी वय तथा गृहिणी की वय जानकर तदनुरूप संबंध स्थापित करते हुए कहता है कि मेरी माता ऐसी ही थी अथवा मेरी बहिन, बेटी या पौत्री भी ऐसी ही थी।

१४२८. भिक्षार्थ प्रविष्ट मुनि स्त्री को देखकर अधृतिपूर्वक अश्रुविमोचन करते हुए कहता है—'मेरी माता

तुम्हारे जैसी थी।' वह स्त्री मुनि के मुख में स्तन-प्रक्षेप[1] करती है, जिससे दोनों के मध्य स्नेह-सम्बन्ध हो जाता है। वह अपनी विधवा पुत्रवधू का दान भी कर सकती है।

**१४२९.** इसी प्रकार पिता, भ्राता आदि का सम्बन्ध पूर्व संस्तव है तथा सास-ससुर आदि का सम्बन्ध पश्चात् संस्तव है। अधृतिपूर्वक अश्रुविमोचन तथा पृच्छा आदि स्त्री संस्तव की भांति जानना चाहिए।

**१४३०.** पश्चात्संस्तव के ये दोष हैं--सास अपनी विधवा पुत्री का दान कर सकती है। 'मेरी भार्या ऐसी ही थी' ऐसा कहने पर उसका पति मुनि का सद्य: घात कर सकता है अथवा स्त्री द्वारा भार्यावत् आचरण करने पर (चित्त-विक्षोभ से) मुनि का व्रत-भंग भी हो सकता है।

**१४३१.** यह सम्बन्धी संस्तव का वर्णन है, अब मैं वचन सम्बन्धी संस्तव का वर्णन करूंगा। दाता का भिक्षा से पूर्व या पश्चात् संस्तव करना वचन संस्तव है।

**१४३२.** दाता द्वारा भक्तपान देने से पहले ही जो मुनि उसके सद्-असद् गुणों की प्रशंसा करता है, वह वचन संबंधी पूर्वसंस्तव है।

**१४३३.** मुनि कहता है--'यह वह है, जिसके गुण दसों दिशाओं में निर्बन्ध घूमते हैं। इतने दिन तुम्हारे बारे में हम ऐसा सुनते थे, आज प्रत्यक्ष तुमको देखा है।'

**१४३४.** दाता द्वारा भक्तपान देने पर मुनि उसके सद्-असद् गुणों की प्रशंसा करता है, वह पश्चात्संस्तव कहलाता है।

**१४३५.** तुम्हारे गुण यथार्थ रूप में सर्वत्र प्रचलित हैं। तुम्हें देखकर मेरे चक्षु विमल हो गए। पहले मुझे तुम्हारे गुणों के बारे में शंका थी, अब तुम्हें देखकर मेरा मन नि:शंक हो गया है।

**१४३६.** यहां भी भद्रक और प्रान्त दोष पूर्ववत् जानने चाहिए। (देखें गाथा १४३० का अनुवाद) संस्तव दोष का वर्णन कर दिया, अब मैं विद्या और मंत्र के बारे में कहूंगा।

**१४३७.** विद्या और मंत्र का प्रयोग करके आहार ग्रहण करने पर चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल प्राप्त होता है। अब मैं विद्या और मंत्र में क्या अंतर है, इसका वर्णन करूंगा।

**१४३८.** विद्या और मंत्र में यह अंतर है कि विद्या का सम्बन्ध स्त्री देवता तथा मंत्र पुरुष देवता से सम्बन्धित होता है अथवा जिसको सिद्ध किया जाए, वह विद्या तथा जो उच्चारण मात्र से सिद्ध हो जाए, वह मंत्र कहलाता है।[2]

**१४३९, १४४०.** विद्या में भिक्षु-उपासक का उदाहरण है। साधु एकत्रित होकर इस प्रकार संलाप करने लगे-'यह भिक्षु उपासक श्रावक अत्यन्त कंजूस है, यह साधुओं को कुछ नहीं देता है।' उनमें से एक साधु बोला-'यदि आप लोगों की इच्छा हो तो मैं विद्या-प्रयोग के द्वारा उससे घृत, गुड़ तथा वस्त्र आदि दिला सकता हूं।[3]'

---

१. गृहिणी मुनि को कहती है कि आप मुझे अपनी मां ही समझ लें, इस प्रकार मातृत्व प्रकट करना स्तेन-प्रक्षेप है।
२. मंत्र और विद्या से सम्बन्धित दोष के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. १००।
३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४७।

१४४१, १४४२. साधुओं ने कहा—'हम तुम्हारी शक्ति देखेंगे।' वह विद्या से अभिमंत्रित होकर वहां गया और भिक्षु उपासक को कहा—'तुम क्या दोगे?' साधु के द्वारा पूछने पर उसने घृत, गुड़, वस्त्र आदि दिए। मुनि ने विद्या का संहरण किया। अन्य लोगों ने भिक्षु उपासक को कहा—'तुमने भक्त-पान आदि कैसे दिया?' तब वह रुष्ट होकर बोला—'किसने मेरी वस्तु चुराई तथा किसके द्वारा मैं ठगा गया हूं?'

१४४३. विद्या से अभिमंत्रित वह व्यक्ति अथवा अन्य कोई व्यक्ति स्तम्भन आदि प्रतिविद्या से मुनि का अनिष्ट कर सकता है। लोगों में यह अपवाद होता है कि ये मुनि पापजीवी, मायावी तथा कार्मणकारी हैं। इस अपवाद से उनका राजपुरुषों द्वारा निग्रह अथवा अनिष्ट भी हो सकता है।

१४४४. मंत्र में पाटलिपुत्र के मुरुंड राजा का उदाहरण है। शीर्ष वेदना उत्पन्न होने पर उन्होंने पादलिप्त आचार्य को कहा। उन्होंने स्पर्श किया।[1]

१४४५. जैसे-जैसे पादलिप्त आचार्य ने घुटने पर प्रदेशिनी अंगुलि को घुमाया, वैसे-वैसे मुरुंड राजा की शीर्ष-वेदना समाप्त हो गई।

१४४६. मंत्र से अभिमंत्रित करके कोई मुनि विद्या-प्रयोग की भांति किसी को वस्तु दिलाता है या देता है तो वहां भी वे ही दोष होते हैं। प्रतिमंत्र आदि के दोष इस प्रकार हैं—

१४४७. मंत्र से अभिमंत्रित वह व्यक्ति अथवा अन्य कोई व्यक्ति प्रतिमंत्र से साधु को स्तम्भित कर सकता है। (लोगों में यह अपवाद होता है कि) ये साधु पापजीवी, मायावी और कार्मणकारी हैं। राजपुरुष उसका निग्रह आदि कर सकते हैं।

१४४८. विद्यापिण्ड और मंत्रपिण्ड के बारे में वर्णन किया, अब मैं चूर्णपिण्ड और योगपिण्ड के बारे में कहूंगा। अन्तर्धान करने वाले अञ्जन आदि तथा वशीकरण करने वाले चूर्ण हैं।

१४४९. चूर्णपिण्ड और योगपिण्ड ग्रहण करने पर चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल प्राप्त होता है। अब मैं इन दोनों के उदाहरण कहूंगा।

१४५०. चूर्णयोग में कुसुमपुर के किसी आचार्य का दृष्टान्त है।[2] जंघाबल क्षीण होने से दुर्भिक्ष में उन्होंने एकान्त में अपने शिष्य को चूर्णयोग तथा अदृश्य होने की विद्या के बारे में वाचना दी। प्रच्छन्न रूप से दो क्षुल्लक मुनियों ने अदृश्य होने की विद्या सुनी। उनमें से एक क्षुल्लक ने वह विद्या ग्रहण कर ली।

१४५१, १४५२. दुर्भिक्ष होने के कारण गुरु ने सभी शिष्यों को देशान्तर में भेज दिया लेकिन वे दोनों क्षुल्लक मुनि गुरु के पास पुनः लौट आए। आचार्य ने कहा—'तुमने लौटकर अच्छा कार्य नहीं किया।'

१४५३, १४५४. दुर्भिक्ष में भिक्षा की कमी होने पर भी आचार्य क्षुल्लकद्वय को बांटकर आहार करते थे। इस दुर्भिक्ष में गुरु के लिए क्या करें? दोनों क्षुल्लक मुनियों ने इस विषय में चिन्तन किया। उन्होंने सोचा

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४८।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४९।

कि हम अदृश्य होने का प्रयोग करेंगे। उन्होंने द्रव्यों का मेल करके आंखों में उस चूर्ण को आंज लिया। क्षुल्लकद्वय अदृश्य होकर राजा चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करने लगे। ऊणोदरी के कारण चन्द्रगुप्त को दुर्बलता का अनुभव होने लगा।

१४५५. चाणक्य ने कारण पूछा। उसने ईंट का बारीक चूर्ण सब जगह फैला दिया और द्वार बंद करके चारों ओर धुंआ कर दिया। क्षुल्लकद्वय को देखकर चन्द्रगुप्त ने जुगुप्सा की। चाणक्य ने उनकी प्रशंसा की। समीप जाने पर आचार्य ने चाणक्य को उपालम्भ दिया।

१४५६. इस प्रकार वशीकरण आदि के प्रयोग में चूर्ण द्वारा दूसरों को वशीकृत करके पिण्ड का उत्पादन करना चूर्णपिण्ड कहलाता है।

१४५७. मंत्र और विद्या के संदर्भ में जो दोष बतलाए गए हैं, वे ही दोष वशीकरण आदि चूर्ण में जानने चाहिए। मुनि द्वारा कृत चूर्ण-प्रयोग एक अथवा अनेक मुनियों के प्रति प्रद्वेष उत्पन्न कर देता है तथा उनका नाश भी कर सकता है।

१४५८. चूर्णपिण्ड के बारे में वर्णन कर दिया, अब मैं योगपिण्ड के बारे में कहूंगा। योग अनेक प्रकार के होते हैं, उनका मैं वर्णन करूंगा।

१४५९. सौभाग्यकर और दुर्भाग्यकर योग दो-दो प्रकार के हैं—आहार्य[1] तथा अनाहार्य। आहार्य के दो प्रकार हैं—आघर्ष तथा धूपवास। अनाहार्य है—पादप्रलेपन आदि।

१४६०. यहां योगपिण्ड का यह उदाहरण कहा। अब अनाहार्य पादलेप योग में आभीर जनपद का उदाहरण है, जहां तापसों ने जो किया, उसे तुम सुनो।[2]

१४६१. कृष्णा और वेणा नदी के मध्य (ब्रह्म नामक) द्वीप में पांच सौ तापस रहते थे। पर्व दिनों में कुलपति पाद-लेप करके कृष्णा नदी को पार करता था।

१४६२. पादुका को पहनकर वह कुलपति पानी के ऊपर चलकर नदी पार करके नगर में जाता था। आकृष्ट होकर लोग उसकी पूजा करते और कहते कि ये प्रत्यक्ष देव रूप हैं।

१४६३. श्रावकों के समक्ष लोग निंदा करते थे। श्रावकों ने यह बात वज्रस्वामी के मामा आचार्य समित को निवेदित की।

१४६४. आचार्य समित ने कहा—'वह मायापूर्वक पादलेप करके नदी पार करता है।' तुम लोग वहां जाओ और नदी पार करने के पश्चात् घर ले जाकर गर्म पानी से उनके पैर प्रक्षालित कर दो।

---

१. जो पानी आदि के साथ पीए जाते हैं, वे आहार्य योग हैं। इनके दो प्रकार है—आघर्ष अर्थात् पानी आदि के साथ घिसकर लिया जाने वाला द्रव्य तथा धूपवास—सुगंधित द्रव्यों की धूप। चूर्ण और वास दोनों ही क्षोद रूप में होते हैं। टीकाकार इनका भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सामान्य द्रव्यों से निष्पन्न शुष्क अथवा आर्द्र क्षोद 'चूर्ण' कहलाता है। सुगन्धित द्रव्यों से निष्पन्न अत्यंत सूक्ष्म रूप में पीसा हुआ क्षोद 'वास' कहलाता है।[1]
१. पिनिमटी प. १४३।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५०।

१४६५. श्रावक कुलपति को अपने घर ले गए। बिना इच्छा के बलपूर्वक उनके पैर यह कहते हुए धो दिए कि लोग इस परम्परा को नहीं जानते कि विनयपूर्वक दिया गया दान महान् फल वाला होता है।

१४६६. भिक्षा लेकर जब वह जाने लगा तो लेप न होने के कारण नदी में डूबने लगा। आचार्य समित ने जब नदी को पार किया तो नदी के दोनों किनारे मिल गए। यह देखकर पांच सौ तापस विस्मित हो गए। कुलपति सहित सभी तापस आर्य समित के पास प्रव्रजित हो गए। वह समूह ब्रह्मशाखा[1] के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

१४६७. इस प्रकार इन योगों का प्रयोग करके जो पिण्ड की एषणा करता है, वह मुनि के लिए कल्प्य नहीं है। अब मैं मूलकर्म के बारे में कहूंगा।

१४६८. मूलकर्म[2] दो प्रकार का होता है—गर्भाधान और गर्भ-परिशाटन—दोनों प्रकार के मूलकर्म के प्रयोग में मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१४६९. गर्भाधान में अधिकरण, प्रतिबन्ध तथा दोषारोपण आदि दोष होते हैं। गर्भ-परिशाटन में प्राणवध, दोषारोपण, शत्रुता तथा लोक में अपकीर्ति आदि दोष होते हैं।

१४७०. मूलकर्म[3] से उत्पादित पिण्ड साधु के लिए कल्प्य नहीं होता। उत्पादना के दोषों का वर्णन किया। गवेषणा के दोषों का वर्णन सम्पन्न हो गया।

१४७१. इस प्रकार उद्गम-उत्पादना के दोषों से विशुद्ध तथा ग्रहण-विशोधि से विशुद्ध गवेषित पिंड का ग्रहण होता है।

१४७२. उद्गम के दोष गृहस्थ से, उत्पादना के दोष साधु से तथा ग्रहणैषणा के दोष दोनों—गृहस्थ और साधु से समुत्थ होते हैं।

१४७३. शंकित तथा भावतः अपरिणत—ग्रहणैषणा के ये दो दोष साधु-समुत्थित होते हैं। शेष आठ दोष नियमतः गृहस्थों से उत्पन्न जानने चाहिए।

---

१. कृष्णा और वेणा नदी के संगमस्थल पर ब्रह्मद्वीप नामक द्वीप था। वहां कुलपति सहित पांच सौ तापस रहते थे। वे आचार्य वज्र के मामा आर्य समित के पास दीक्षित हुए। ब्रह्मद्वीप में रहने के कारण उनकी प्रसिद्धि ब्रह्मद्वीपक शाखा के रूप में हो गई।[1] 'पज्जोसवणाकप्प' से भी इस बात की सिद्धि होती है कि आर्य समित से ब्रह्मद्वीपक शाखा का प्रादुर्भाव हुआ।[2] ब्रह्मदीपक शाखा का उल्लेख नंदी सूत्र में भी मिलता है, जिसमें प्रव्रजित होने वाले सिंह मुनि उत्तम वाचक पद से विभूषित हुए।[3]

१. निचू ३ पृ. ४२६; ततो य बंभद्दीवा साहा संवुत्ता।

२. पज्जो २१५; थेरेहिंतो णं अज्जसमिएहिंतो, एत्थ णं बंभद्दीविया साहा निग्गया।

३. नंदी १/३२।

२. पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार किसी के कौमार्य को क्षत करना, इसके विपरीत किसी दूसरे में योनि का निवेशन करना अर्थात् अक्षत करके उसे भोग भोगने योग्य बना देना मूलकर्म है।[1]

१. पिनि २३१/५ ; अवि य कुमारखयं, जोणी विवरिट्ठ निवेसणं वावि। गम्मपए पायं वा, जो कुव्वति मूलकम्मं तु॥

३. मूलकर्म के विस्तार हेतु देखें पिनि २३१/५-२३२ तक की गाथाओं का अनुवाद तथा पिण्डनिर्युक्ति की भूमिका पृ. १०१-०३।

**१४७४.** ग्रहणैषणा चार प्रकार की होती है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। द्रव्य ग्रहणैषणा में वानरयूथ का दृष्टान्त विस्तार से कहना चाहिए।[1]

**१४७५.** द्रव्य ग्रहणैषणा के बारे में वर्णन कर दिया, अब मैं भाव ग्रहणैषणा के बारे में कहूंगा। यह शंकित आदि दश पदों की शुद्धि से शुद्ध होता है।

**१४७६.** एषणा के दस दोष होते हैं—

| | |
|---|---|
| १. शंकित[2] | ६. दायक |
| २. म्रक्षित | ७. उन्मिश्र |
| ३. निक्षिप्त | ८. अपरिणत |
| ४. पिहित | ९. लिप्त |
| ५. संहृत | १०. छर्दित। |

**१४७७-७९.** शंकित के चार विकल्प हैं—

- ग्रहण में शंकित— भोजन में शंकित।
- ग्रहण में शंकित — भोजन में नहीं।
- भोजन में शंकित — ग्रहण में नहीं।
- न ग्रहण में शंकित और न भोजन में शंकित।

शंका कैसे होती है? (यह पूछने पर आचार्य कहते हैं—) भिक्षा के लिए प्रविष्ट मुनि प्रचुर भिक्षा-सामग्री को देखकर भी लज्जावश पूछताछ करने में समर्थ नहीं होता। वह शंकित होकर भिक्षा ग्रहण करता है और शंकित अवस्था में ही उसका उपभोग करता है। (यह प्रथम विकल्प है।)

**१४८०.** मुनि ने शंकित हृदय से भिक्षा ग्रहण की। दूसरे मुनि ने गुरु के समक्ष आलोचना करते हुए यह कहा कि यह भोजन प्रकरणवश किसी अतिथि आदि के लिए बनाया हुआ था अथवा यह प्रहेणक—किसी अन्य घर से आई हुई भोजन सामग्री थी। यह सुनकर मुनि ने निःशंकित होकर उस भिक्षा का उपभोग किया। (यह चतुर्भंगी का दूसरा विकल्प है।)

**१४८१.** तृतीय भंग में मुनि आहार को निःशंक रूप में ग्रहण करता है लेकिन अन्य साधु को आचार्य के समक्ष आलोचना के समय वैसी ही वस्तु को देखकर उसके मन में शंका हो जाती है कि अमुक घर में मैंने जैसी भिक्षा ग्रहण की थी, वैसी ही इस मुनि के पास है अतः यह दोषदुष्ट होनी चाहिए।

**१४८२.** इन साधुओं ने इस प्रकार की महती भिक्षा प्राप्त की है तो मुझे भी क्यों नहीं प्राप्त हो सकती, इस प्रकार निःशंकित होकर साधु भिक्षा ग्रहण करता है और निःशंकित होकर ही उसका भोग करता है (यह चतुर्भंगी का चौथा भंग है)।

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५१।

२. शंकित आदि दोष के विस्तार हेतु देखें पिनि भूमिका, पृ. १०४।

१४८३. शंकित की चतुर्भंगी में प्रथम दोनों—ग्रहण और भोजन में शंकित होता है, दूसरा ग्रहण में शंकित भोजन में नहीं, तृतीय भोजन में शंकित होता है, ग्रहण में नहीं, चरम भंग ग्रहण और भोजन में निःशंकित होने के कारण शुद्ध है। (सोलह उद्गम तथा नौ एषणा) इन पच्चीस दोषों में जिस दोष से शंकित होता है, वह उसी दोष से सम्बद्ध होता है।[1]

१४८४. छद्मस्थ श्रुतज्ञानी उपयुक्त होकर ऋजुता से प्रयत्नपूर्वक गवेषणा करता है। वह पच्चीस दोषों में से किसी एक दोष से अशुद्ध आहार ग्रहण करने पर भी शुद्ध है क्योंकि श्रुतज्ञान प्रमाण से वह शुद्ध है।

१४८५. सामान्यतः श्रुतोपयुक्त श्रुतज्ञानी मुनि यदि अशुद्ध आहार ग्रहण करता है, फिर भी उसको केवलज्ञानी खाता है, अन्यथा श्रुतज्ञान अप्रमाण हो जाता है।[2]

१४८६. सूत्र का अप्रामाण्य होने पर चारित्र का अभाव हो जाएगा, चारित्र का अभाव होने पर मोक्ष का अभाव हो जाएगा और मोक्ष के अभाव में दीक्षा की प्रवृत्ति निरर्थक हो जाएगी।

१४८७. उद्गम के सोलह दोष तथा शंका को छोड़कर एषणा के नौ दोष—ये पच्चीस दोष शंकित हो सकते हैं।

१४८८. (शिष्य प्रश्न पूछता है—) यदि शंका दोषकरी है तो शुद्ध भिक्षा के प्रति भी शंका होने पर वह अशुद्ध हो जाएगी तथा निःशंकित रूप में एषणा करने पर अनेषणीय भी निर्दोष हो जाएगी।

१४८९. वह शंकाग्रस्त होकर कहता है कि एक पक्षीय अध्यवसाय अशुद्ध होता है। वह एषणीय को अनेषणीय बना देता है तथा विशुद्ध अध्यवसाय अनेषणीय को भी एषणीय बना देता है।

१४९०. इसलिए मुनि को निःशंक होकर भोजन करना चाहिए। शंकित द्वार का वर्णन कर दिया, अब मैं म्रक्षित दोष के बारे में कहूंगा। म्रक्षित का अर्थ है—किसी सचित्त या अचित्त द्रव्य से संसक्त।

१४९१. म्रक्षित दोष के दो भेद हैं—सचित्त और अचित्त। सचित्त म्रक्षित तीन प्रकार का है—पृथ्वीकाय म्रक्षित, अप्काय म्रक्षित तथा वनस्पतिकाय म्रक्षित।

१४९२. शुष्क सरजस्क पृथ्वी से लिप्त हाथ और पात्र से भिक्षा ग्रहण करने पर पणग (पांच दिन-रात), जिसका तप रूप प्रायश्चित्त निर्विगय[3] प्राप्त होता है।

---

१. उदाहरण स्वरूप यदि आधाकर्म दोष में शंका उत्पन्न हुई है तो उस आहार को ग्रहण करता हुआ या भोगता हुआ मुनि आधाकर्म दोष से सम्बद्ध होता है।[1]

१. पिनिमटी प. १४७; षोडशोद्गमदोषनवैषणादोषरूपाणां पंचविंशतिदोषाणां मध्ये येन दोषेण शङ्कितं—सम्भावितमापन्नः—वर्तते तेन दोषेण सम्बद्धः।

२. टीकाकार इस गाथा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आगमोक्त विधि से शुद्ध गवेषणा से प्राप्त अशुद्ध आहार भी शुद्ध होता है क्योंकि व्यवहार में श्रुतज्ञान ही प्रमाण होता है।[1]

१. पिनिमटी प. १४८।

३. दिन में एक बार खाना, जिसमें दूध, दही आदि विकृति न खाकर छाछ, रोटी, चना आदि का भोग करना निर्विगय है।

१४९३. कर्दम मिश्रित पृथ्वी से म्रक्षित हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण करने पर लघुमास तथा शुष्क पृथ्वीकाय से म्रक्षित हाथ से भिक्षा लेने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त क्रमशः पुरिमार्ध और आयम्बिल होता है।

१४९४. म्रक्षित दोष के चार प्रकार हैं—१. सस्निग्ध म्रक्षित २. उदकार्द्र म्रक्षित ३. पुरःकर्म म्रक्षित ४. पश्चात्कर्म म्रक्षित। वनस्पतिकाय में उक्कुट्ठ—वनस्पति के श्लक्ष्ण खंड, पिट्ठ—तण्डुल आदि का आटा तथा कुक्कुस—धान्य आदि के छिलके से युक्त हाथ या पात्र को जानना चाहिए।

१४९५, १४९६. सस्निग्ध हाथ या पात्र से भिक्षा लेने पर पणग—निर्विगय, उदकार्द्र से लेने पर लघुमास (पुरिमार्ध), पुरःकर्म और पश्चात्कर्म से युक्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। चतुर्लघु में तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल की प्राप्ति होती है। अब मैं वनस्पतिकाय म्रक्षित के बारे में कहूंगा।

१४९७. वनस्पति के श्लक्ष्ण खंड, चावल का आटा आदि प्रत्येक वनस्पति से म्रक्षित हाथ या पात्र से भिक्षा लेने पर लघुमास, जिसका तप रूप में प्रायश्चित्त पुरिमार्ध प्राप्त होता है।

१४९८. इसी प्रकार अनंत वनस्पति से म्रक्षित हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण करने पर गुरुमास, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त एकासन[1] होता है।

१४९९. शाक, रसयुक्त वनस्पति, वनस्पति के श्लक्ष्ण खंड, जो प्रत्येक या अनंतकाय वनस्पति के हो सकते हैं, इनका छेदन करने वाले के हाथ वनस्पतिकाय म्रक्षित होते हैं।

१५००. शेष तीनों काय—तेजस्, वायु और त्रस के सचित्त रूप और मिश्ररूप म्रक्षित नहीं होता।

१५०१, १५०२. सचित्त म्रक्षित हाथ और पात्र की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

- हस्त म्रक्षित तथा पात्र म्रक्षित।
- हस्त म्रक्षित, पात्र नहीं।
- पात्र म्रक्षित, हस्त नहीं।
- न हस्त म्रक्षित और न पात्र म्रक्षित।

प्रथम तीन विकल्प प्रतिषिद्ध हैं, चौथा विकल्प अनुज्ञात है।

१५०३. अचित्त म्रक्षित दो प्रकार का होता है—गर्हित द्रव्य तथा अगर्हित द्रव्य। गर्हित द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—१. लौकिक गर्हित २. उभयलोक गर्हित।

१५०४. मांस, चर्बी, शोणित, मदिरा, लहसुन आदि पदार्थ इस लोक में गर्हित हैं। मूत्र, मल आदि उभय लोक—लौकिक और लोकोत्तर में गर्हित हैं।

१५०५. दोनों प्रकार के गर्हित से म्रक्षित हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण करने पर चतुर्लघु , जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है। अब मैं आगे अगर्हित के बारे में कहूंगा।

---

१. दिन में एक स्थान पर एक आसन में बैठकर एक बार भोजन करना एकासन है।

**१५०६.** अगर्हित म्रक्षित दो प्रकार का होता है—आर्द्र ओदन, गोरस—घृत, तैल आदि से संसक्त तथा असंसक्त।

**१५०७.** अचित्त म्रक्षित के चारों भंगों में आहार ग्रहण की भजना होती है। (देखें गा. १५०१, १५०२ का अनुवाद) अगर्हित में आहार ग्रहण कल्प्य है, गर्हित में प्रतिषिद्ध है।

**१५०८.** जीवों से संसक्त, अगर्हित गोरसद्रव तथा मधु, घृत, तैल, गुड़ आदि से खरंटित हाथ या पात्र से दी जाने वाली भिक्षा भी वर्ज्य है, इसका कारण है कि मक्षिका, पिपीलिका आदि की हिंसा न हो।[1]

**१५०९.** गोरस अथवा घृत, तैल, गुड़ और चींटी आदि जीवों से संसक्त हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण करने पर चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल प्राप्त होता है।

**१५१०.** मद्य, मांस, वसा आदि से म्रक्षित अर्थात् बहुत पुरानी, बासी आदि वस्तु का भी लौकिक गर्हित में ग्रहण हो जाता है।

**१५११.** दोनों ही गर्हित में मूत्र और उच्चार आदि से म्रक्षित हाथ से भिक्षा का ग्रहण अकल्प्य है। म्रक्षित का वर्णन पूर्ण हुआ, अब मैं निक्षिप्त दोष के बारे में कहूंगा।

**१५१२.** निक्षिप्त और स्थापित—ये दोनों एकार्थक हैं। अब स्थान (स्थापित) की व्याख्या का प्रसंग है। स्थान तीन प्रकार का होता है—सचित्त, मिश्र और अचित्त।

**१५१३-१६.** यहां सचित्त आदि के साथ अनेकविध चतुर्भंगियां होती हैं—

- सचित्त पर सचित्त निक्षिप्त।
- मिश्र पर सचित्त निक्षिप्त।
- सचित्त पर मिश्र निक्षिप्त।
- मिश्र पर मिश्र निक्षिप्त आदि।

सचित्त और मिश्र की एक ही चतुर्भंगी होती है।

सचित्त-अचित्त की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

- सचित्त पर सचित्त निक्षिप्त।
- अचित्त पर सचित्त निक्षिप्त।
- सचित्त पर अचित्त निक्षिप्त।
- अचित्त पर अचित्त निक्षिप्त।

मिश्र और अचित्त की तृतीय चतुर्भंगी इस प्रकार है—

- मिश्र पर मिश्र निक्षिप्त।

---

१. वृत्तिकार का कथन है कि यह निर्देश जिनकल्पिक की दृष्टि से है। स्थविरकल्पी मुनि यथाविधि घृत, गुड़ आदि से खरंटित हाथों से भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।[1]

१. पिनिमटी प. १५०; एतच्चोत्कृष्टानुष्ठानं जिनकल्पिकाद्यधिकृत्योक्तमवसेयं, स्थविरकल्पिकास्तु यथाविधि यतनया घृताद्यपि, गुडादिम्रक्षितमशोकवर्त्याद्यपि च गृह्णन्ति।

- अचित्त पर मिश्र निक्षिप्त।
- मिश्र पर अचित्त निक्षिप्त।
- अचित्त पर अचित्त निक्षिप्त।

१५१७. इन चतुर्भंगियों के अनेकविध संयोग जानने चाहिए। पृथ्वीकाय आदि छहों कायों में भी स्वस्थान और परस्थान भेद जानने चाहिए।

१५१८, १५१९. पृथ्वीकाय में स्वस्थान की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

- सचित्त पृथ्वी पर सचित्त पृथ्वी का निक्षेप।
- सचित्त पृथ्वी पर अचित्त पृथ्वी का निक्षेप।
- अचित्त पृथ्वी पर सचित्त पृथ्वी का निक्षेप।
- अचित्त पृथ्वी पर अचित्त पृथ्वी का निक्षेप।

परस्थान में अप्काय, तेजस्काय आदि पांच अन्य का निक्षेप जानना चाहिए।

१५२०, १५२१. सचित्त अप्काय पर सचित्त पृथ्वीकाय का निक्षेप, अचित्त अप्काय पर सचित्त पृथ्वी का निक्षेप, सचित्त अप्काय पर अचित्त पृथ्वी का निक्षेप, अचित्त अप्काय पर अचित्त पृथ्वी का निक्षेप। इसी प्रकार तेजस्काय आदि परस्थान पर निक्षिप्त पृथ्वीकाय संयोगों की चतुर्भंगियां जाननी चाहिए।[1]

१५२२. इसी प्रकार अप्, तेजस, वायु, वनस्पति और त्रस-प्रत्येक की संयोग जन्य छह चतुर्भंगियां जाननी चाहिए।

१५२३. सचित्त के साथ सचित्त के छत्तीस संयोग होते हैं। मिश्र के साथ अचित्त के भी इतने ही संयोग जानने चाहिए।

१५२४. अचित्त के साथ मिश्र के भी इतने ही संयोग होते हैं। छत्तीस का त्रिक मिलाने से सारे एक सौ आठ भंग होते हैं।

१५२५. अथवा सचित्त पर मिश्र, सचित्तमिश्र पर अचित्त, अचित्त पर सचित्तमिश्र तथा अचित्त पर अचित्त—इस चतुर्भंगी में प्रथम तीन भंगों में भक्तपान ग्रहण करने की बात ही नहीं होती, चतुर्थ भंग में भक्तपान ग्रहण करना कल्प्य है।

१५२६. सचित्त पृथ्वी आदि काय पर जो अचित्त द्रव्य को रखा जाता है, उसकी मार्गणा दो प्रकार से होती है—अनंतर और परम्पर।

१५२७. सचित्त पृथ्वी पर अवगाहिम—पक्वान्न आदि निक्षिप्त होता है, वह अनंतर निक्षिप्त कहलाता है।

---

१. पृथ्वीकाय से संबंधित छह प्रकार के निक्षेप इस प्रकार हैं—१. पृथ्वीकाय का पृथ्वीकाय पर २. पृथ्वीकाय का अप्काय पर ३. पृथ्वीकाय का तेजस्काय पर ४. पृथ्वीकाय का वायुकाय पर ५. पृथ्वीकाय का वनस्पतिकाय पर ६. पृथ्वीकाय का त्रसकाय पर। इसी प्रकार अप्काय आदि के भी छह-छह भेद होते हैं।[1]

१. पिनिमटी प. १५१।

पृथ्वी पर रखे पिठर पर जो आहार आदि निक्षिप्त होता है, वह परम्पर निक्षिप्त कहलाता है।

**१५२८.** सचित्त उदक आदि पर रखा नवनीत अनंतर निक्षिप्त तथा नाव पर रखा गया नवनीत परम्पर निक्षिप्त कहलाता है। तेजस्काय पर अनंतर और परम्पर निक्षिप्त सात प्रकार का होता है।

**१५२९.** अग्नि के सात प्रकार हैं—विध्यात, मुर्मुर, अंगारा, अप्राप्तज्वाला, प्राप्तज्वाला, समज्वाला तथा व्युत्क्रान्तज्वाला।[1] प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—अनन्तर और परंपर।

**१५३०.** जो अग्नि पहले दिखाई नहीं देती लेकिन बाद में ईंधन डालने पर स्पष्ट दिखाई देती है, वह विध्यात कहलाती है। राख से ढ़के हुए आपिंगल रंग के अर्धविध्यात अग्निकण मुर्मुर हैं।

**१५३१.** ज्वाला रहित जलते हुए अग्निकण अंगार कहलाते हैं। चूल्हे पर स्थित बर्तन से न छूती हुई अग्नि अप्राप्तज्वाला कहलाती है, यह अग्नि का चौथा भेद है।

**१५३२.** पिठरक का स्पर्श करने वाली पांचवीं प्राप्तज्वाला, जो अग्नि पिठर के ऊपरी भाग तक अर्थात् किनारे तक स्पर्श करती है, वह छठी समज्वाला तथा जो बर्तन के ऊपरी भाग को अतिक्रान्त कर देती है, वह सातवीं व्युत्क्रान्तज्वाला कहलाती है। इन सातों पर निक्षिप्त वस्तु अनंतर निक्षिप्त होती है।

**१५३३.** अग्नि का स्पर्श करते पिठर आदि पर रखा भक्तपान परम्पर निक्षिप्त कहलाता है। उस भक्तपान को ग्रहण करने से दोष होते हैं लेकिन यंत्र में इक्षुरस पकाने वाले चूल्हे पर रखे पिठर से ग्रहण करने में यह भजना है।

**१५३४.** पार्श्व में मिट्टी से अवलिप्त[2], विशाल मुख वाली कड़ाही या बर्तन से बिना गिराए हुए इक्षुरस लेना कल्पनीय है लेकिन वह अग्नि पर तत्काल चढ़ाया हुआ अर्थात् अधिक उष्ण नहीं होना चाहिए।[3]

**१५३५.** इक्षुरस लेते समय पिठर के किनारे का उपरितन भाग (कर्ण) का स्पर्श नहीं होना चाहिए। स्पर्श करने से रस नीचे राख आदि में गिरने से अग्निकाय के जीवों का वध हो सकता है। गुड़ रस से परिणामित जो उष्णजल है, वह ग्रहण करते समय अधिक गर्म नहीं होना चाहिए।[4]

---

१. अग्निकाय के सप्त भेद की व्याख्या हेतु देखें गा. १५३०-३२ का अनुवाद।

२. मिट्टी से अवलिप्त कड़ाही, अनत्युष्ण इक्षुरस, अपरिशाटी रस तथा अघट्टंत—इन चार पदों के आधार पर १६ भंगों की रचना होती है। इन भंगों की रचना के विस्तार हेतु देखें पिनि की भूमिका पृ. १०६-०९।

३. यह गाथा पिण्डनिर्युक्ति (२५३) में भी है। वहां इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि बर्तन में चारों ओर मिट्टी के लेप का अर्थ यह है कि इक्षुरस लेते हुए यदि कुछ बिन्दु नीचे गिर जाएं तो उसे मिट्टी ही सोख ले, वे बिन्दु चूल्हे के मध्य अग्निकाय पर न गिरें। विशालमुख भाजन का तात्पर्य यह है कि इक्षुरस निकालते समय रस पिठरक के किनारे पर न लगे तथा पिठरक के ऊपर का भाग भग्न न हो। अघट्टंत का अर्थ है कि रस आदि निकालते समय पिठर के ऊपरी भाग का स्पर्श न हो।[1]

**१. पिनिमटी प. १५३।**

४. गुड़ के कारण कम गर्म जल भी ग्राह्य होता है क्योंकि कड़ाही में लगे गुड़ रस के कारण वह जल शीघ्र ही अचित्त हो जाता है।

१५३६. अत्युष्ण रस ग्रहण करने से दो प्रकार की विराधना होती है—आत्मविराधना और परविराधना। इक्षुरस का छर्दन होने से द्रव्य की हानि होती है तथा वह भाजन छूटकर गिरने से टूट सकता है अतः साधु अत्यधिक उष्ण रस ग्रहण नहीं करता। यह इक्षुरस पकाने वाले चूल्हे की यतना है।

१५३७. (अग्निकाय के पश्चात् अब वायुकाय के अनंतर और परम्पर निक्षिप्त का कथन है) वायु द्वारा उत्क्षिप्त पर्पटिका—धान्य का छिलका अनंतर निक्षिप्त तथा वायु से भरी वस्ति और दृति पर रखी वस्तु परम्पर निक्षिप्त होती है।

१५३८. हरियाली पर निक्षिप्त मालपुआ आदि अनंतर निक्षिप्त तथा हरियाली पर रखे पिठरक आदि में निक्षिप्त मालपुआ परम्पर निक्षिप्त होता है। बैल आदि की पीठ पर रखा मालपुआ अनंतर निक्षिप्त तथा कुतुप आदि में भरकर बैल की पीठ पर रखा हुआ परम्पर निक्षिप्त होता है।

१५३९. यह सब साधु के लिए कल्प्य नहीं है। निक्षिप्त दोष का मैंने संक्षेप में वर्णन किया, अब पृथ्वीकाय आदि पर निक्षिप्त के प्रायश्चित्त-दान के बारे में कहूंगा।

१५४०. अनंतकाय वनस्पति को छोड़कर पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के निक्षिप्त दोष के अनंतर निक्षिप्त में चतुर्लघु तथा परम्पर निक्षिप्त में लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१५४१. चतुर्लघु का तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल तथा लघुमास का पुरिमार्ध प्रायश्चित्त होता है। यह सचित्त निक्षिप्त का प्रायश्चित्त है। अब मैं मिश्र पृथ्वीकाय आदि पर निक्षिप्त का प्रायश्चित्त कहूंगा।

१५४२. पृथ्वीकाय आदि पर अनन्तर मिश्र निक्षिप्त लेने पर लघुमास तथा परम्पर मिश्र लेने पर पणग (पांच दिन-रात) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अब मैं इनका तप रूप प्रायश्चित्त-दान कहूंगा।

१५४३. लघुमास में पुरिमार्ध तथा पणग में निर्विगय तप की प्राप्ति होती है। अब मैं अनंतकाय वनस्पति के निक्षिप्त का प्रायश्चित्त-दान कहूंगा।

१५४४. अनंत वनस्पतिकाय में अनन्तर निक्षिप्त लेने पर चतुर्गुरु तथा परम्पर निक्षिप्त आहार लेने पर गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अब मैं इनका तप रूप प्रायश्चित्त-दान कहूंगा।

१५४५. चतुर्गुरु का उपवास तथा गुरुमास का एकासन तप प्राप्त होता है। अब मैं पिहितदोष के बारे में कहूंगा।

१५४६. अनन्तकाय वनस्पति की अनन्तर और परम्पर पिहित भिक्षा ग्रहण करने पर गुरुपणग तथा प्रत्येक वनस्पति पर अनन्तर और परम्पर पिहित भिक्षा ग्रहण करने पर लघुपणग प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। दोनों का तप रूप प्रायश्चित्त निर्विगय है।

१५४७. पृथ्वी आदि पर निक्षिप्त आदि के प्रायश्चित्त-दान का वर्णन किया, अब मैं संक्षेप में पिहित द्वार को कहूंगा।

१५४८. सचित्त आदि पर अचित्त पिहित की चतुर्भंगी होती है तथा निक्षिप्त दोष की भांति पिहित दोष में भी संयोगकृत भेद होते हैं।

**१५४९.** पिहित दोष में भी सचित्त, मिश्र और अचित्त से सम्बन्धित तीन चतुर्भंगियां होती हैं। इनमें प्रथम दो–सचित्त और मिश्र की चतुर्भंगी में आहार-ग्रहण प्रतिषिद्ध है, तीसरे भंग की चतुर्भंगी के चौथे विकल्प में ग्राह्य है।

**१५५०.** सचित्त से अचित्त पिहित दो प्रकार का होता है—अतिरोहित और सतिरोहित। यह पृथ्वी आदि छहों काय पर होता है, जैसे—पृथ्वी पर अतिरोहित चावल का आटा।

**१५५१.** छाबड़ी, पिठर आदि से अतिरोहित पक्वान्न आदि अनन्तर पिहित होता है। सम्मार्जनी से पिहित परम्पर पिहित होता है। अग्निकाय से पिहित इस प्रकार है—

**१५५२.** अंगार आदि से अतिरोहित वस्तु अनन्तर पिहित तथा अंगार आदि से भरे हुए सिकोरे आदि से पिहित वस्तु परम्पर पिहित कहलाती है। अंगार धूपित में अतिरोहित वायु अनन्तर पिहित तथा वायु से भरी दृति से पिहित परम्पर पिहित होता है।

**१५५३.** अतिरोहित फल आदि से पिहित आहार अनन्तर पिहित तथा फलों से भरी छाबड़ी एवं पिठर आदि से ढका हुआ आहार परम्पर पिहित कहलाता है। इसी प्रकार त्रसकाय विषयक जो कच्छप या चींटी आदि से पिहित है, वह अनन्तर पिहित तथा कच्छप, चींटी आदि से गर्भित छब्बक आदि से पिहित परम्पर पिहित होता है।

**१५५४.** इसके तृतीय भंग में मार्गणा है, चौथे भंग में भजना है। प्रश्न उपस्थित होता है कि अचित्त से अचित्त पिहित होने पर भजना की क्या आवश्यकता है? (आचार्य कहते हैं—) इसका कारण सुनो।

**१५५५.** अचित्त देय वस्तु से पिहित की चतुर्भंगी इस प्रकार है—

- भारी वस्तु से पिहित भारी देय वस्तु।
- भारी वस्तु से पिहित हल्की देय वस्तु।
- हल्की वस्तु से पिहित भारी देय वस्तु।
- हल्की वस्तु से पिहित हल्की देय वस्तु।[1]

इसके चरम भंग में वस्तु ग्राह्य है।[2]

**१५५६, १५५७.** पृथ्वी आदि का क्रमशः प्रायश्चित्त-दान निक्षिप्त दोष की भांति समझना चाहिए। गुरु से पिहित वस्तु लेने में आत्मविराधना की संभावना रहती है अतः उससे पिहित आहार ग्रहण करने में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त उपवास है। अब मैं संहरण द्वार के बारे में कहूंगा। संहरण—संहृत, उत्किरण और विरेचन–ये तीनों शब्द एकार्थक हैं।

---

१. इस चतुर्भंगी की व्याख्या करते हुए टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि गुरु अर्थात् भारी पदार्थ को उठाने में वस्तु हाथ से छूटने पर पैर आदि में चोट या अंगभंग संभव है। द्वितीय भंग में देय वस्तु गुरु है पर उसे उठाकर देना आवश्यक नहीं, कटोरी आदि से भी भिक्षा दी जा सकती है अतः दूसरे विकल्प में भिक्षा लेना कल्पनीय है।[1]
१. पिनिमटी प. १५५।

२. पिण्डनिर्युक्ति की मलयगिरीया टीका के अनुसार द्वितीय और चतुर्थ भंग में आहार ग्रहण करना कल्प्य है।

१५५८. जिस मात्रक से दाता दान देता है, उसमें यदि अदेय अशन आदि हो तो उसको भूमि पर या अन्यत्र डालकर अन्न आदि देना संहृत दोष है।

१५५९. संहरण छह कायों पर होता है तथा इसके भी तीन भेद हैं—१. सचित्त २. अचित्त और ३. मिश्र। यहां भी निक्षिप्त दोष की भांति भंग एवं संयोग करने चाहिए।

१५६०. सचित्त और मिश्र आदि की दो चतुर्भंगियों में आहार की मार्गणा नहीं होती। तीसरी अचित्त की चतुर्भंगी में मार्गणा होती है। संहरण पृथ्वी आदि छह जीवनिकायों पर होता है।

१५६१, १५६२. तृतीय अचित्त चतुर्भंगी के चौथे भंग में ग्रहण की भजना होती है। शिष्य प्रश्न पूछता है कि जब दोनों अचित्त हैं तो फिर भजना कैसे? आचार्य कहते हैं कि यहां यह चतुर्भंगी है—

- शुष्क पर शुष्क संहरण।
- आर्द्र पर शुष्क संहरण।
- शुष्क पर आर्द्र संहरण।
- आर्द्र पर आर्द्र संहरण।

१५६३. शुष्क आदि प्रत्येक भंग की स्तोक और बहु के आधार पर चतुर्भंगी होती है, जैसे—

- थोड़े शुष्क पर थोड़ा शुष्क।
- बहु शुष्क पर थोड़ा शुष्क।
- थोड़े शुष्क पर बहु शुष्क।
- बहु शुष्क पर बहु शुष्क।

१५६४. जिस विकल्प में थोड़े शुष्क पर अल्प शुष्क संहृत होता है, वह कल्पनीय है। इसके अतिरिक्त शुष्क पर आर्द्र, आर्द्र पर शुष्क या आर्द्र पर आर्द्र-इन तीन भंगों में आहार अग्राह्य होता है। यदि आदेय वस्तु कम भार वाली है, उस पर लघु भार वाली वस्तु को अन्यत्र डालकर दिया जाता है तो वह वस्तु कल्पनीय होती है।

१५६५. शेष तीन भंग स्तोक पर बहुत, बहुत पर स्तोक तथा बहुत पर बहुत—ये तीन भंग दाता के आधार पर जानने चाहिए।

१५६६. बड़े पात्र को उठाने तथा नीचे रखने में दाता को पीड़ा होती है। लोक में निंदा होती है कि यह मुनि कितना लोलुप है, जो पर-पीड़ा को नहीं देखता। भारी पात्र को उठाते समय दाता का वध, अंगभंग अथवा शरीर-दाह हो सकता है। भारी पात्र से वस्तु के बिखरने से षट्काय का वध हो सकता है। दाता के मन में मुनि के प्रति अप्रीति तथा उस द्रव्य के कारण अन्य देय द्रव्यों का व्यवच्छेद हो सकता है।

१५६७. स्तोक पर स्तोक (अथवा बहुत पर स्तोक) निक्षिप्त होने पर भी यदि वस्तु शुष्क पर शुष्क है तो कल्प्य है। शुष्क पर आर्द्र, आर्द्र पर शुष्क तथा आर्द्र पर आर्द्र निक्षिप्त होने पर वह आचीर्ण है। स्तोक पर बहुत तथा बहुत पर बहुत का संहरण अनाचीर्ण है। इससे पूर्वगाथा (गा. १५६६) में उक्त दोष समापन्न होते हैं अतः अनाचीर्ण है।

१५६८. संहरण दोष का कथन कर दिया। इसमें प्रायश्चित्त की प्राप्ति एवं प्रायश्चित्त-दान निक्षिप्त दोष की भांति है। अब मैं संक्षेप में दायक द्वार के बारे में कहूंगा।

१५६९-७४. वर्जनीय दायक के चालीस प्रकार हैं—

१. बालक—आठ वर्ष की अवस्था से कम।
२. वृद्ध[1]—सत्तर वर्ष की अवस्था वाला।
३. मत्त—मदिरापान किया हुआ।
४. उन्मत्त—भूत आदि से आविष्ट।
५. कम्पमान शरीर वाला।
६. ज्वरित—ज्वर से पीड़ित।
७. अन्ध।
८. गलत्कुष्ठरोगी।
९. पादुका पहने हुए।
१०. दोनों हाथों में हथकड़ी पहने हुए।
११. पैरों में बेड़ी पहने हुए।
१२. हाथ-पैर से विकल।
१३. त्रैराशिक—नपुंसक।
१४. गर्भवती स्त्री।[2]
१५. बालवत्सा स्त्री—स्तन्योपजीवी शिशु वाली।
१६. भोजन करती हुई स्त्री।[3]
१७. दही आदि मथती हुई स्त्री।
१८. चने आदि भूंजती हुई स्त्री।[4]
१९. गेहूं आदि दलती हुई स्त्री।[5]
२०. ऊखल में तंडुल आदि का कंडन करती हुई स्त्री।[6]
२१. शिला पर तिल आदि पीसती हुई स्त्री।
२२. रुई पींजती हुई स्त्री।
२३. कपास का मर्दन करती हुई स्त्री।
२४. सूत कातती हुई स्त्री।
२५. रुई की बार-बार छंटनी करती हुई स्त्री।
२६. षट्जीवनिकाय से युक्त हाथ वाली स्त्री।
२७. भिक्षा देते समय उन्हीं छह जीवनिकायों को भूमि पर डालने वाली स्त्री।
२८. उन्हीं छह जीवनिकायों को कुचलती हुई स्त्री।
२९. उन्हीं छह जीवनिकायों का शरीर के अन्य अवयवों से स्पर्श करती हुई स्त्री।
३०. षड्जीवनिकायों का हनन करती हुई स्त्री।
३१. दही आदि से लिप्त हाथ वाली स्त्री।
३२. दही आदि से लिप्त पात्र से देने वाली स्त्री।
३३. बड़े बर्तन से भिक्षा देने वाली स्त्री।
३४. अनेक व्यक्तियों की वस्तु स्वयं देती हुई स्त्री।
३५. चुराई हुई वस्तु देने वाली स्त्री।
३६. प्राभृतिका की स्थापना करने वाली स्त्री।
३७. अपाययुक्त दात्री।
३८. अन्य साधु के लिए स्थापित वस्तु देने वाली स्त्री।
३९. आभोग—ज्ञात होने पर भी अशुद्ध देने वाली स्त्री।
४०. अनाभोग—अज्ञान से अशुद्ध देने वाली स्त्री।

---

१. मतान्तर से साठ वर्ष वाला भी वृद्ध होता है।[1]

१. पिनिमटी प. १५८ ; वृद्ध : सप्ततिवर्षाणां मतान्तरापेक्षया षष्टिवर्षाणां वोपरिवर्ती।

२. टीकाकार मलयगिरि इस गाथा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नवमास वाली गर्भवती स्त्री के हाथ की भिक्षा स्थविरकल्पी मुनि परिहार करते हैं। इससे कम मास वाली गर्भवती के हाथ से स्थविरकल्पी भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। वह बालक जो केवल मां के दूध पर ही आधृत है, उसका स्थविरकल्पी परिहार करते हैं। जो बालक बाह्य आहार भी ग्रहण करता है, उसकी मां से स्थविरकल्पी भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। दूसरी बात वह शरीर से भी बड़ा हो जाता है अतः उसे मार्जार आदि का भय भी नहीं रहता। जिनकल्पी साधु आपन्नसत्त्वा (गर्भवती) एवं बालवत्सा स्त्री का सर्वथा परिहार करते हैं।[1] १. पिनिमटी प. १६४।

३-६. भोजन करने बैठी हुई स्त्री ने यदि मुख में कवल नहीं डाला है तो उसके हाथ से भिक्षा कल्प्य है। भूनती हुई स्त्री यदि सचित्त गेहूं आदि को कड़ाही में डालकर निकाल चुकी है, दूसरी बार हाथ में गेहूं नहीं लिए हैं, इसी बीच यदि साधु आ जाता है तो उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण की जा सकती है। मूंग आदि दलती हुई स्त्री सचित्त मूंग आदि दलकर घट्टी को छोड़ चुकी है, इसी बीच साधु आए तो वह उठकर भिक्षा दे सकती है अथवा वह अचित्त मूंग दल रही है तो उसके हाथ से भिक्षा कल्पनीय है। कंडन करती हुई स्त्री यदि मुशल को ऊपर उठा चुकी है, उस मुशल में यदि कोई बीज नहीं लगा है, इसी बीच साधु के आने पर दोष रहित स्थान में उस मुशल को रखकर भिक्षा दे तो वह ग्राह्य है।[1] १. पिनिमटी प. १६४।

**१५७५.** इन चालीस दायकों में कुछ दायकों से ग्रहण करने की भजना है तथा कुछ दायकों से ग्रहण करने की वर्जना है। इसके विपरीत बाल आदि के अतिरिक्त दायकों से ग्रहण किया जा सकता है।[1]

**१५७६.** ये दायक दोष से युक्त हैं, इनके द्वारा दिया गया आहार कल्प्य नहीं होता। जो मुनि अकारण इनके हाथ से भिक्षा ग्रहण करता है, उसके लिए मैं प्रायश्चित्त कहूंगा।

**१५७७.** बाल, वृद्ध, मत्त, उन्मत्त, कम्पित शरीर वाला तथा ज्वरित—इनके हाथ से भिक्षा ग्रहण करने पर प्रत्येक का प्रायश्चित्त लघुमास, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध होता है।

**१५७८.** अंध, गलत्कुष्ठरोगी से लेकर बालवत्सा[2] स्त्री—स्तनपायी शिशु वाली स्त्री से आहार लेने पर प्रत्येक का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त उपवास प्राप्त होता है।

**१५७९.** भोजन करती हुई तथा दही आदि मथती हुई स्त्री से आहार ग्रहण करने पर चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है। अब मैं धान्य-भर्जन आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्त के बारे में कहूंगा।

**१५८०, १५८१.** चने आदि भूंजती हुई, गेहूं आदि दलती हुई स्त्री यावत् षड्जीवनिकाय से युक्त हाथ वाली स्त्री, श्रमण को भिक्षा देने के लिए छहजीवनिकायों को भूमि पर डालती हुई, उनका अवगाह करती हुई तथा उनका घट्टन-स्पर्श करती हुई स्त्री—इन सबमें षड्जीवनिकाय की हिंसा के कारण अलग-अलग प्रायश्चित्त-दान होता है। शेष द्वारों में चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल प्राप्त होता है।

**१५८२.** वर्जित दायकों का वर्णन कर दिया, अब मैं उन्मिश्र दोष के बारे में कहूंगा। वह तीन प्रकार का होता है—सचित्त, मिश्र और अचित्त।

**१५८३.** संहरण द्वार में पृथ्वीकाय आदि के जो सांयोगिक भंग हैं, वैसे ही उन्मिश्र दोष में भी निरवशेष रूप से भेद होते हैं।[3]

**१५८४, १५८५.** शिष्य प्रश्न करता है कि संहरण और उन्मिश्र इन दोनों दोषों में क्या अन्तर है? संहरण दोष में भिक्षा देने के लिए अदेय वस्तु को बाहर फेंकता है। उन्मिश्र दोष में दातव्य और अदातव्य दोनों द्रव्यों को मिलाकर साधु को भिक्षा देता है, जैसे—बीज, हरियाली आदि से उन्मिश्र करके अथवा ओदन को कुशन-दही तीमन आदि से मिश्रित करके देना।

---

१. पिण्डनिर्युक्ति के टीकाकार मलयगिरि के अनुसार प्रथम पच्चीस दायकों से ग्रहण की भजना है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं तथा कुछ आचार्यों की यह मान्यता है कि २६ से ४० तक के दाता का वर्जन ही करना चाहिए।

२. आचार्य मलयगिरि ने बालवत्सा स्त्री से भिक्षा लेने का एक और दोष बताते हुए कहा है कि साधु को भिक्षा देने से हाथ आहार से खरंटित हो जाते हैं। आहार से लिप्त शुष्क हाथ कर्कश होते हैं, उससे बालक को उठाने में उसे कष्ट होता है।[1]

१. पिनिमटी प. १६१।

३. संहरण आदि प्रत्येक द्वार के भंगों के आधार पर ४३२ भंग इस प्रकार बनते हैं—सचित्त पृथ्वी का सचित्त पृथ्वीकाय पर संहरण, सचित्त पृथ्वीकाय का सचित्त अप्काय पर संहरण। इसी प्रकार स्वकाय और परकाय की अपेक्षा से ३६ भंग होते हैं। इनके सचित्त, अचित्त और मिश्र पद से प्रत्येक की तीन-तीन चतुर्भंगी होने से १२ भेद होते हैं। १२ का ३६ से गुणा करने पर ४३२ भेद होते हैं, इसी प्रकार उन्मिश्र आदि के भंग जानने चाहिए।[1]

१. पिनिमटी प. १६५।

१५८६. इसमें भी संहरण दोष की भांति शुष्क से शुष्क उन्मिश्र आदि चार भंग होते हैं तथा अल्प और बहुत की चतुर्भंगी भी जाननी चाहिए। इन दोनों चतुर्भंगियों में अनाचीर्ण और आचीर्ण का भी वही क्रम है।

१५८७. उन्मिश्र दोष का कथन सम्पन्न हुआ, अब मैं द्विविध परिणत के बारे में कहूंगा। अपरिणत के दो भेद हैं–द्रव्य अपरिणत और भाव अपरिणत। द्रव्य अपरिणत में पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकाय हैं।

१५८८. सचेतन पृथ्वी आदि जब तक सजीव है, तब तक अपरिणत है और व्यपगत जीव होने पर परिणत होती है। यहां दूध-दही का दृष्टान्त है। दूध जब दही बनता है, तब परिणत कहलाता है और दूध दुग्धभाव में अवस्थित रहने पर अपरिणत कहलाता है।

१५८९. द्रव्य से अपरिणत आहार षड्जीवनिकाय की हिंसा से सम्बन्धित होता है अतः उसका प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अब मैं संक्षिप्त में भाव से अपरिणत के बारे में कहूंगा।

१५९०, १५९१. दो भाई आदि का अथवा अन्य के साथ संयुक्त आहार में एक व्यक्ति भाव से मुनि को देना चाहता है, दूसरा भाव से अपरिणत अर्थात् मुनि को देना नहीं चाहता अथवा अन्य को देना चाहता है तो वह भावतः अपरिणत[1] आहार है।

१५९२. भिक्षार्थ गए संघाटक में से एक मुनि ने देय वस्तु को मन ही मन एषणीय माना तथा दूसरे ने एषणीय नहीं माना, उसे भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, जिससे आपस में कलह न हो।

१५९३. द्रव्यतः अपरिणत तथा भावतः अपरिणत को ग्रहण करने पर लघुमास प्रायश्चित्त, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त-दान पुरिमार्ध होता है।

१५९४. अपरिणत द्वार के बारे में कह दिया, अब मैं लिप्त द्वार के बारे में कहूंगा। जहां तीमन आदि द्रव्य का लेप होता है, वहां लिप्त दोष होता है।

१५९५. साधु को लिप्त दोष युक्त आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए, जिससे पश्चात्कर्म की संभावना न रहे। साधु को दोषरहित अलेपकृत आहार ग्रहण करना चाहिए।

१५९६, १५९७. आचार्य द्वारा ऐसा कहने पर शिष्य प्रश्न पूछता है कि यदि इस प्रकार पश्चात्कर्म दोष लगता है, तब तो यावज्जीवन आहार नहीं करना चाहिए। गुरु उत्तर देते हैं कि कौन ऐसा व्यक्ति है, जो कल्याण की इच्छा नहीं करता। यदि आवश्यक योगों की हानि नहीं होती है तो आहार छोड़ा जा सकता है। यदि मुनि आहार छोड़ने में समर्थ न हो तो वहां आठ भंग हैं—

१५९८. संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र तथा सावशेष द्रव्य—ये तीन तथा इनके प्रतिपक्षी तीन—असंसृष्ट हाथ,

---

१. टीकाकार मलयगिरि अनिसृष्ट और दातृभाव से अपरिणत का अंतर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सामान्यतः अनिसृष्ट में दाता परोक्ष होता है लेकिन दातृभाव से अपरिणत में दाता समक्ष होता है।[1]

१. पिनिमटी प. १६६।

असंसृष्ट पात्र तथा निरवशेष द्रव्य-इनके परस्पर संयोग से आठ विकल्प होते हैं[1]—

१५९९. संसृष्ट हाथ एवं पात्र वाले भंगों में आहार लेने पर चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल प्राप्त होता है तथा सावशेष लिप्त वाले भंगों में आहार लेने पर लघुमास, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध होता है।

१६००. लिप्त द्वार का वर्णन पूरा हुआ, अब मैं छर्दित द्वार कहूंगा। छर्दित दोष भी तीन प्रकार का होता है—सचित्त, मिश्र और अचित्त।

१६०१. छर्दित दोष में चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है अथवा सचित्त पृथ्वीकाय आदि की हिंसा होने पर प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१६०२. छर्दन के तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। इनकी तीन चतुर्भंगियां होती हैं। इसके सारे विकल्पों में आहार का ग्रहण प्रतिषिद्ध है। यदि इन विकल्पों में ग्रहण किया जाता है तो आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व तथा विराधना आदि दोष होते हैं।

१६०३. उष्ण द्रव्य के छर्दन से दाता जल सकता है। पृथ्वी आदि षड्जीवनिकाय जीवों का दहन हो सकता है। शीत द्रव्य के छर्दन से पृथ्वी आदि के जीवों की विराधना होती है। इस विषय में मधु-बिन्दु का उदाहरण ज्ञातव्य है।[2]

१६०४. छर्दित दोष का वर्णन कर दिया। ग्रहणैषणा के दोषों का वर्णन सम्पन्न हो गया। अब गृहीत आहार की विधिपूर्वक ग्रासैषणा (परिभोगैषणा) का प्रसंग है।

---

१. • संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र तथा सावशेष द्रव्य।
• संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र तथा निरवशेष द्रव्य।
• संसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र तथा सावशेष द्रव्य।
• संसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र तथा निरवशेष द्रव्य।
• असंसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र तथा सावशेष द्रव्य।
• असंसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र तथा निरवशेष द्रव्य।
• असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र तथा सावशेष द्रव्य।
• असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र तथा निरवशेष द्रव्य।

इन आठ विकल्पों में सावशेष भंग वाले विकल्पों में आहार ग्रहण करना कल्प्य है, शेष निरवशेष वाले भंगों में भजना है। हाथ और पात्र के संसृष्ट होने पर तथा भिक्षा के पश्चात् द्रव्य सावशेष रहता है तो दात्री उस पात्र का प्रक्षालन नहीं करती अतः विषम भंगों में पश्चात्कर्म की संभावना नहीं रहती लेकिन यदि द्रव्य निरवशेष रूप से साधु को दे दिया जाए तो दान के पश्चात् नियमतः उस बर्तन का तथा हाथ और पात्र का प्रक्षालन किया जाता है अतः द्वितीय आदि सम भंगों में पश्चात्कर्म की संभावना से आहार लेना कल्पनीय नहीं है।[1]

१. पिनिमटी प. १६९।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५२।

१६०५. ग्रासैषणा चार प्रकार की है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन सबका वर्णन करके अब मैं संक्षेप में इनके उपनय (दृष्टान्त) का कथन करूंगा।

१६०६. मत्स्य स्थानीय साधु, मांस स्थानीय भक्तपान, मच्छीमार स्थानीय राग-द्वेष आदि का समूह जानना चाहिए।[1]

१६०७. जिस प्रकार वह मत्स्य उपाय के द्वारा भी नहीं छला गया, वैसे ही साधु भी भोजन के समय स्वयं के द्वारा स्वयं को अनुशासित करे।

१६०८. हे जीव! तुम एषणा के बयालीस दोषों से विषम आहार-पानी के ग्रहण में नहीं ठगे गए अतः अब उनका उपभोग करते हुए तुम राग-द्वेष से मत ठगे जाना।

१६०९. भाव ग्रासैषणा दो प्रकार की होती है—प्रशस्त और अप्रशस्त। अप्रशस्त के पांच प्रकार हैं, इन दोषों से रहित प्रशस्त भावग्रासैषणा है।

१६१०. संयोजना, अतिप्रमाण में भोजन, इंगालदोष, धूमदोष तथा कारण दोष—ये पांच ग्रासैषणा के अप्रशस्त भेद हैं तथा इसके विपरीत संयोजना आदि नहीं करना प्रशस्त ग्रासैषणा है।

१६११. संयोजना के दो प्रकार हैं—द्रव्य संयोजना और भाव संयोजना। द्रव्य संयोजना के पुनः दो प्रकार हैं—बाह्य और आंतरिक। भिक्षा ग्रहण करते समय अनुकूल द्रव्यों का संयोग करना बाह्य संयोजना है।

१६१२. रस पैदा करने के लिए दूध, दही, कट्टर—तीमन मिश्रित घी का बड़ा आदि प्राप्त होने पर भिक्षा के लिए घूमते हुए गुड़, चावल, कूर तथा घी आदि मांगकर उनका संयोग करना बाह्य संयोजना है। अब मैं अंतः संयोजना के बारे में कहूंगा।

१६१३. उपाश्रय में की जाने वाली अंतः संयोजना तीन प्रकार की होती है—पात्र में, कवल में तथा मुंह में। जो-जो रस के उपकारी द्रव्य हैं, उनको पात्र में मिलाना पात्र संयोजना है।

१६१४. वालुंक—पक्वान्न विशेष, बड़ा तथा बैंगण आदि को कवल के साथ मिलाना कवल संयोजना है। मुंह में कवल डालकर बाद में सालणक—कढ़ी के समान एक प्रकार का द्रव्य आदि डालना मुख संयोजना है।

१६१५. द्रव्यों की संयोजना करना द्रव्य संयोजना है। रस के लिए जो द्रव्यों की संयोजना करता है, वह भाव संयोजना है।

१६१६. राग-द्वेष से द्रव्यों की संयोजना करता हुआ जीव राग-द्वेष के कारण अपनी आत्मा के साथ कर्मों का संयोग करता है।

१६१७. कर्म से जीव भव-परम्परा को संयोजित करता है तथा भव से जीव दुःख से स्वयं को संयोजित करता है, यह भाव संयोजना है।

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५३।

१६१८. विशेष रस (स्वाद) को बढ़ाने के लिए संयोग का प्रतिषेध किया गया है। ग्लान के लिए संयोग किया जा सकता है तथा जिसको आहार अरुचिकर लगता हो अथवा जो सुखोचित—राजपुत्र आदि रहा हो अथवा जो अभावित—अपरिणत शैक्ष आदि हो—उनके लिए संयोजना करना विहित है।

१६१९. यदि खाने के बाद भी द्रव्य शेष नहीं हुआ हो, घी आदि पर्याप्त मात्रा में बचा हो तो उसकी सत्तु आदि के साथ संयोजना की जा सकती है ताकि उसे परिष्ठापित न करना पड़े।[1]

१६२०. आंतरिक और बाह्य संयोजना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। दूसरे विकल्प में बाह्य संयोजना में चतुर्लघु और आंतरिक संयोजना में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। चतुर्गुरु का तप रूप प्रायश्चित्त उपवास तथा चतुर्लघु का आयम्बिल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१६२१. संयोजना का वर्णन सम्पन्न हुआ, अब मैं आहार के प्रमाण के बारे में कहूंगा। साधु को जीवन चलाने जितना ही भोजन करना चाहिए।

१६२२. पुरुष के लिए बत्तीस कवल प्रमाण[2] आहार कुक्षिपूरक माना गया है तथा महिलाओं के लिए अट्ठावीस कवल पर्याप्त माने जाते हैं।

१६२३. नपुंसक का आहार चौबीस कवल प्रमाण होता है। स्त्री और पुरुष दो की ही दीक्षा होती है अतः नपुंसक का कवल-प्रमाण यहां गृहीत नहीं है।

१६२४. इस प्रमाण से किंचित्मात्रा में अर्थात् एक कवल, आधा कवल न्यून अथवा आधा आहार अथवा आधे से भी आधा आहार लिया जाता है, उसे तीर्थंकरों ने संयमयात्रा के लिए पर्याप्त कहा है, यही न्यून आहार है।

---

१. बचे हुए घी को बिना मिश्री या खांड के केवल रोटी के साथ खाना संभव नहीं है क्योंकि भोजन करने के बाद सबको तृप्ति हो जाती है। उसका परिष्ठापन भी उचित नहीं होता क्योंकि परिष्ठापन से उस चिकनाई पर अनेक कीटिकाओं की हिंसा संभव है अतः यह संयोजना का अपवाद है कि बचे हुए घी में खांड आदि द्रव्य को मिलाना विहित है।[1]

१. पिनिमटी प १७३।

२. एक कवल का प्रमाण मुर्गी के अंडे जितना माना गया है। कुक्कुटी दो प्रकार की होती है—द्रव्य कुक्कुटी और भाव कुक्कुटी। द्रव्य कुक्कुटी के दो प्रकार हैं—उदर कुक्कुटी और गल कुक्कुटी। जितने आहार से साधु का उदर न भूखा रहे और न अधिक भरे, वह आहार उदर कुक्कुटी है। मुख को विकृत किए बिना गले के अंदर जो कवल समा सके, वह गल कुक्कुटी है। टीकाकार दूसरे नय से व्याख्या करते हुए कहते हैं कि शरीर ही कुक्कुटी है और मुख अण्डक है। जिस कवल से आंख, भ्रू आदि विकृत न हों, वह प्रमाण है अथवा कुक्कुटी का अर्थ है—पक्षिणी, उसके अंडे जितना कवल प्रमाण है। जिस आहार से धृति बनी रहे तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो, उतना आहार करना भाव कुक्कुटी है।[1] मूलाचार की टीका में एक हजार चावल जितने को एक कवल का प्रमाण माना है।[2]

१. पिनिमटी प. १७३।

२. मूला ३५० टी पृ. २८६ ; सहस्रतंदुलमात्रः कवल आगमे पठितः।

**१६२५.** जो मुनि प्रकाम, निकाम और प्रणीत भक्त-पान का उपभोग करता है, अति बहुल मात्रा में अथवा बहुत अधिक बार भोजन करता है, उसे प्रमाणातिक्रान्त दोष जानना चाहिए।

**१६२६.** बत्तीस कवल से अधिक आहार को प्रकाम आहार कहते हैं। प्रमाणातिरिक्त आहार यदि प्रतिदिन किया जाता है तो वह निकाम तथा जिस आहार से घी आदि टपकता हो, वह प्रणीत आहार है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

**१६२७.** अतिबहुक, अतिबहुशः तथा अतिप्रमाण में किया हुआ भोजन अतिसार पैदा कर सकता है, उससे वमन हो सकता है तथा वह आहार जीर्ण न होने पर व्यक्ति को मार भी सकता है।

**१६२८.** अपने आहार की मात्रा से अधिक, दिन में तीन बार अथवा तीन बार से अधिक खाना अतिप्रमाण अथवा प्रमाणातिक्रान्त आहार है।

**१६२९.** अथवा अतृप्त रहता हुआ आतुर होकर जो आहार करता है, वह अतिप्रमाण कहलाता है। इसमें अतिसार आदि पूर्वोक्त दोष (गा. १६२७) भी होते हैं।

**१६३०.** इन दोषों के कारण अतिरिक्त आहार करने पर चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल होता है।

**१६३१.** अतिप्रमाण आहार करने में दोष हैं तो फिर कैसा आहार करना चाहिए? शिष्य के द्वारा ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं कि साधु को जैसा भोजन करना चाहिए, उसको आगे कहा जा रहा है, वह सुनो।

**१६३२.** जो मुनि हितकारी[1], परिमित[2] तथा अल्प-आहार[3] करते हैं, उनकी चिकित्सा वैद्य नहीं करते। वे स्वयं अपने चिकित्सक होते हैं। (अर्थात् उनके रोग होता ही नहीं।)

**१६३३-३५.** हितकर और अहितकर आहार दो प्रकार का होता है—इहलोक में हितकर तथा परलोक में हितकर। इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार है-

- इहलोक में हितकर, परलोक में नहीं।
- परलोक में हितकर, इहलोक में नहीं।
- न परलोक में हितकर, न इहलोक में।
- इहलोक में हितकर, परलोक में भी हितकर।

प्रथम भंग में जो अविरोधी द्रव्य होते हैं, वे ग्राह्य हैं, जैसे खीर, दधि, गुड़ आदि। इनको अनेषणीय ग्रहण करके राग और द्वेष से भोग करना इहलोक में हितकर है, परलोक के लिए नहीं।

---

१. हितकर आहार दो प्रकार का होता है—द्रव्यतः तथा भावतः। अविरुद्ध आहार करना द्रव्यतः हितकर है तथा एषणीय आहार करना भावतः हितकर आहार है।'

१. पिनिमटी प. १७४।

२. प्रमाणोपेत आहार मित आहार है।

३. बत्तीस कवल प्रमाण आहार से कम आहार करना अल्पाहार है।

१६३६. शुद्ध एषणा से प्राप्त अमनोज्ञ आहार परलोक के लिए हितकर है, इस लोक के लिए नहीं। पथ्य और एषणा से शुद्ध आहार को दोनों लोकों के लिए हितकर जानना चाहिए।

१६३७. अपथ्य और अनेषणीय आहार दोनों लोकों के लिए अहितकर है। अथवा राग और द्वेष से आहार करना दोनों लोकों के लिए अहितकर है। अब मैं मिताहार के बारे में कहूंगा।

१६३८. उदर के छह भाग करके, आधे उदर अर्थात् तीन भागों को व्यंजन सहित आहार के लिए, दो भाग पानी के लिए तथा छठा भाग वायु-संचरण के लिए खाली रखना चाहिए।

१६३९. काल तीन प्रकार का जानना चाहिए-शीत, उष्ण और साधारण। इन तीनों कालों में होने वाली आहार की मात्रा इस प्रकार है—

१६४०. पानी का एक भाग तथा भोजन के दो भाग अवस्थित हैं, ये घटते-बढ़ते नहीं हैं। एक-एक में शेष दो-दो भाग बढ़ते-घटते हैं, जैसे—अतिशीतकाल में भोजन के दो भाग बढ़ जाते हैं तथा अतिउष्णकाल में पानी के दो भाग बढ़ जाते हैं। अतिउष्णकाल में भोजन के दो भाग कम हो जाते हैं तथा अतिशीतकाल में पानी के दो भाग कम हो जाते हैं।

१६४१. यहां तीसरा और चौथा—ये दोनों भाग अनवस्थित अथवा अस्थिर हैं। पांचवां, छठा, पहला और दूसरा—ये अवस्थित भाग हैं।

१६४२. मिताहार का वर्णन कर दिया, इससे भी कम आहार करना अल्पाहार है। प्रमाण आहार का वर्णन कर दिया, अब अंगार दोष का वर्णन करूंगा।

१६४३. स-अंगार दोष आहार करने पर चतुर्गुरु, जिसका प्रायश्चित्त-दान है—उपवास। सधूम आहार करने पर चतुर्लघु, जिसका प्रायश्चित्त दान है—आयम्बिल।

१६४४. निष्कारण भोजन करने पर चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल प्राप्त होता है। दूसरे विकल्प में लघुमास, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त पुरिमार्ध होता है।

१६४५. यदि कारण उपस्थित होने पर मुनि आहार नहीं करता है, तब भी चतुर्लघु, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त आयम्बिल प्राप्त होता है। स-अंगार आदि का स्वरूप मैं क्रमशः कहूंगा।

१६४६. जिस प्रकार प्रज्वलित अंगारे बीच में पड़े हुए ईंधन को जला देते हैं, वैसे ही राग रूपी अंगारे नियमतः चरण रूप ईंधन को जला देते हैं।

१६४७. यह आहार अच्छा है, सुसंभृत है, स्निग्ध है, सुपक्व है, सरस और सुगंध युक्त है, इस प्रकार आहार की प्रशंसा करते हुए राग से मूर्च्छित होकर आहार करना स-अंगार दोष है।

१६४८. मुनि प्रासुक आहार को भी यदि रागाग्नि से प्रज्वलित होकर करता है तो वह चारित्र रूपी ईंधन को शीघ्र ही निर्दग्ध अंगारे की भांति बना डालता है।

१६४९. स-अंगार दोष का वर्णन कर दिया, अब मैं प्रसंगवश सधूम दोष का वर्णन करूंगा। जैसे धूमयुक्त गोबर का कंडा केवल पीड़ा देता है।

१६५०. जिस प्रकार धूम से आच्छादित चित्र सुशोभित नहीं होता, वैसे ही धूमदोष से युक्त मलिन चारित्र भी सुशोभित नहीं होता।

१६५१. जो साधु विरस, लवणरहित और दुर्गंधयुक्त आहार को द्वेषपूर्वक शोर मचाते हुए या निंदा करते हुए खाता है, वह सधूम दोष है।

१६५२. जलती हुई द्वेषाग्नि अप्रीति के धूम से चारित्र रूपी ईंधन को जब तक अंगार सदृश नहीं बना डालती, तब तक वह जलती रहती है।

१६५३. रागभाव से किया गया भोजन स-अंगार तथा द्वेषभाव से किया जाने वाला भोजन सधूम कहलाता है।

१६५४. प्रवचन का यह उपदेश है कि तपस्वी मुनि ध्यान और अध्ययन के निमित्त विगत अंगार-रागरहित तथा विगतधूम—द्वेष रहित होकर आहार करे।

१६५५. सधूम दोष का वर्णन कर दिया, अब मैं कारणद्वार का वर्णन करूंगा। प्रतिक्रमण करता हुआ मुनि चरम आवश्यक—कायोत्सर्ग में उसका चिंतन करे।

१६५६. साधु को कारण उपस्थित होने पर भोजन करना चाहिए। कारण है अथवा नहीं, यह चिन्तन करके यदि कारण है तो भोजन करना चाहिए।

१६५७. मुनि छह कारणों से आहार करता हुआ धर्म का आचरण करता है, छह ही कारणों से आहार का त्याग करता हुआ धर्माचरण करता है।

१६५८. आहार करने के छह कारण ये हैं—१. भूख की वेदना को उपशांत करने के लिए। २. वैयावृत्त्य करने के लिए। ३. ईर्यापथ के शोधन हेतु। ४. प्रेक्षा आदि संयम के निमित्त। ५. प्राणप्रत्यय—प्राण-धारण के लिए तथा ६. धर्म-चिंतन—धर्म की अभिवृद्धि-ग्रंथ-परावर्तन आदि के लिए।

१६५९. क्षुधा के समान कोई वेदना नहीं होती अत: उसे शान्त करने के लिए भोजन करना चाहिए। भूखा वैयावृत्त्य करने में समर्थ नहीं होता अत: भोजन करना चाहिए।

१६६०. बुभुक्षित ईर्यापथ का शोधन नहीं कर सकता। पित्तजनित मूर्च्छा के कारण भूखे व्यक्ति की आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है। आहार न करने से शरीर का बल क्षीण हो जाता है। वह प्रेक्षा आदि संयम करने में समर्थ नहीं रहता।

१६६१. आयु ,शरीर, प्राण आदि षड्विध प्राण भोजन के बिना नहीं चल सकते अत: प्राणों को धारण करने के लिए आहार करना चाहिए।

१६६२. बुभुक्षित व्यक्ति पूर्वरात्रि में धर्मध्यान करने में अथवा पंचविध स्वाध्याय करने में समर्थ नहीं होता (इसलिए आहार करना चाहिए)।

१६६३. इन छह कारणों से संयमी भिक्षु नियमत: आहार करता है तथा निम्न छह कारणों से वह आहार नहीं करता।

१६६४. आहार-परित्याग के छह कारण ये हैं-१. आतंक-रोग-निवारण हेतु २. उपसर्ग-तितिक्षा—उपसर्ग-सहन करने के लिए, ३. ब्रह्मचर्य की गुप्तियों की परिपालना के लिए, ४. प्राणिदया के लिए, ५. तपस्या के निमित्त तथा ६. शरीर-व्यवच्छेद के लिए।

१६६५. ज्वर आदि आतंक उत्पन्न होने पर आहार नहीं करना चाहिए। कहा गया है कि सहसा उत्पन्न व्याधि का तेले आदि की तपस्या से निवारण करना चाहिए।

१६६६, १६६७. राजा तथा स्वजन आदि का उपसर्ग होने पर उसे सहन करने के लिए आहार नहीं करना चाहिए। विषयों के द्वारा बाधित होने पर जिनेश्वर भगवान् ने कहा है कि साधु को आहार नहीं करना चाहिए। लौकिक ग्रंथ (गीता) में भी कहा गया है कि निराहार व्यक्ति के विषय समाप्त हो जाते हैं।

१६६८. इसलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु को आहार नहीं करना चाहिए। वर्षाकाल में वर्षा और ओस आदि में प्राणियों की दया के लिए आहार नहीं करना चाहिए।

१६६९. उपवास से लेकर षाण्मासिक तप के लिए आहार नहीं करना चाहिए तथा संयम-भार निस्तीर्ण होने पर शरीर को छोड़ने की इच्छा से आहार नहीं करना चाहिए।

१६७०. अब यह शरीर संयम को वहन करने में असमर्थ है, इस कृत्कृत्य शरीर रूपी उपकरण को अब छोड़ना है। इस चिन्तन से वह आहार नहीं करता, आहार का सर्वथा विच्छेद कर देता है।

१६७१. उद्गम के १६ दोष, उत्पादना के १६ दोष, एषणा के १० दोष तथा ग्रासैषणा के संयोजना आदि ५ दोष—ये एषणा के ४७ दोष होते हैं।

१६७२. आहार से सम्बन्धित कुल मिलाकर सैंतालीस दोष होते हैं। इनसे अशुद्ध पिंड को ग्रहण करने से संयमी साधु के चारित्र का उपघात होता है।

१६७३. तीर्थंकरों ने साधु के लिए इन दोषों से रहित आहार की विधि कही है। मुनि इनका पालन इस रूप में करे जिससे धर्म और आवश्यक (प्रतिक्रमण) आदि योगों की हानि न हो।

१६७४. उद्गम आदि से लेकर कारण पर्यन्त यह विस्तार है। अब मैं इन दोषों के लक्षण, दोष-प्रसंग (प्राप्ति) तथा प्रायश्चित्त-दान आदि के बारे में क्रमशः कहूंगा।

१६७५-७९. अब मैं गाथा (जीसू गा. ३५) का अक्षरार्थ कहूंगा। विभाग औद्देशिक के कर्म उद्देश को छोड़कर चरम त्रिक—कर्म समुद्देश, कर्म आदेश तथा कर्म समादेश, पाषंडमिश्रजात, साधुमिश्रजात, आधाकर्म, बादर उत्ष्वष्कण प्राभृतिका, बादर अवष्वष्कण प्राभृतिका, परग्राम से सप्रत्यपाय आहृत आहार, जिसमें आत्मविराधना हो, लोभ के द्वारा गवेषित लोभपिण्ड, औद्देशिक से लेकर लोभपिण्ड पर्यन्त प्रत्येक की शोधि उपवास तप से होती है।

**३६. अतिरोहित अनंतकाय वनस्पति पर निक्षिप्त और पिहित तथा अनंतकाय मिश्र पर संहृत, संयोजना, स-अंगार तथा द्विविध निमित्त—इन सब दोषों की शोधि उपवास प्रायश्चित्त से होती है।**

१६८०, १६८१. अतिर का अर्थ है निरन्तर। अनंतकाय से वनस्पति गृहीत है। मालपूआ आदि अनंतकाय

पर निक्षिप्त, अनंतकाय से पिहित, अनंतकाय मिश्र से संहृत तथा आदि ग्रहण से अपरिणत अनंतकाय का ग्रहण करना चाहिए। इन सबकी शोधि उपवास प्रायश्चित्त से होती है।

**१६८२, १६८३.** रस के लिए संयोग करना, राग सहित स-अंगार भोजन करना, वर्तमान और भविष्य द्विविध निमित्त-कथन—यथोद्दिष्ट निमित्त पर्यन्त प्रत्येक दोष की शोधि उपवास प्रायश्चित्त से होती है।

**३७. कर्मउद्देश, मिश्रजात, धात्री आदि पिण्ड, प्रकाशकरण आदि, पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, गर्हित द्रव्य से म्रक्षित, संसक्त द्रव्य से लिप्त हाथ और पात्र से युक्त भिक्षा ग्रहण करने पर—इन सबकी शोधि आयम्बिल तप से होती है।**

**१६८४-९१.** प्रथम कर्म उद्देश, प्रथम यावदर्थिक मिश्रजात, पंचविध धात्रीपिण्ड—क्षीरधात्री से अंकधात्री पर्यन्त, आदिग्रहण से दूतीपिण्ड, अतीत सम्बन्धी निमित्त, आजीवपिण्ड, वनीपकपिण्ड, बादर-चिकित्सा, क्रोधपिण्ड, मानपिण्ड, स्त्री सम्बन्धी वचनसंस्तव, विद्यापिण्ड, मंत्रपिण्ड, चूर्णपिण्ड, योगपिण्ड, प्रकाशकरण, प्रादुष्करण, द्रव्यआत्मक्रीत, द्रव्यपरक्रीत, भावआत्मक्रीत, लौकिक प्रामित्य, लौकिक परिवर्त, निरपाय परग्राम अभ्याहृत, सचित्त उद्भिन्न पिहित, कपाट उद्भिन्न, उत्कृष्ट मालापहृत, आच्छेद्य, अनिसृष्ट-अननुज्ञात पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, गर्हित द्रव्य से म्रक्षित एवं संसक्त द्रव्य से लिप्त हाथ और पात्र-इनमें कर्म उद्देश आदि से लेकर लिप्त दोष पर्यन्त प्रत्येक की शोधि आयम्बिल तप से होती है।

**३८. अतिरोहित प्रत्येक वनस्पति से निक्षिप्त, पिहित और संहृत तथा प्रत्येक मिश्र वनस्पति से निक्षिप्त, पिहित और संहृत, अतिप्रमाण, धूमदोष, आहार करने के कारण एवं कारण का वर्जन-इन सबकी शोधि में आयम्बिल तप विहित है।**

**१६९२-९५.** अतिर का अर्थ है—निरन्तर। प्रत्येक वनस्पति पर निक्षिप्त, परित्त वनस्पति से पिहित तथा संहृत, मिश्र प्रत्येक वनस्पति से निक्षिप्त, संहृत तथा पिहित, सूत्र में आदि शब्द के ग्रहण से प्रत्येक वनस्पति से लिप्त, प्रत्येक वनस्पति पर छर्दित, अति प्रमाण आहार, सधूम दोष युक्त आहार, कारण होने या न होने पर आहार। शिष्य प्रश्न करता है कि कारण विवर्ज शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? इसके बारे में मैं कहूंगा। बिना प्रयोजन आहार करता है अथवा जो कारण उपस्थित होने पर आहार नहीं करता, वह विवर्ज कहलाता है। इन सब दोषों की शोधि आयम्बिल तप से होती है।

**३९. अध्यवतर, कृत औद्देशिक, पूतिदोष युक्त, मायापिण्ड, अनन्तकाय वनस्पति से परम्पर निक्षिप्त, मिश्र अनंतकाय से परम्पर एवं अनंतर निक्षिप्त आदि—इन सभी दोषों की शोधि एकासन तप से होती है।**

**१६९६-९९.** अध्यवतर में पाषंड अध्यवतर तथा साधु अध्यवतर, कृत औद्देशिक के यावदर्थिक आदि चार भेद—पूतियुक्त आहार, मायापिण्ड, सचित्त अनंतकाय पर परम्पर निक्षिप्त, आदि शब्द के ग्रहण से पिहित और संहृत, मिश्र अनंत वनस्पति से परम्पर पिहित तथा अतिरोहित, मिश्र अनंतकाय से पिहित—इन यथोद्दिष्ट दोषों की शोधि एकासन तप से होती है।

**४०. ओघ और विभाग औद्देशिक, उपकरण पूति, स्थापना, प्रकट प्रादुष्करण, लोकोत्तर परिवर्त, प्रामित्य तथा परभावक्रीत की शोधि पुरिमार्ध तप से होती है।**

१७००-०२. ओघ औद्देशिक, विभाग औद्देशिक में उद्देश के चारों भेद, उपकरणपूति, चिरस्थापित प्रकट प्रादुष्करण, लोकोत्तर प्रामित्य तथा परिवर्त, मंख आदि द्वारा परभावक्रीत—इन सब दोषों की शुद्धि पुरिमार्ध तप से होती है। अब मैं स्वग्राम आहत आदि के प्रायश्चित्त को कहूंगा।

**४१. स्वग्राम आहत, दर्दर उद्भिन्न, जघन्य मालापहृत, प्रथम अध्यवतर (यावदर्थिक), सूक्ष्म चिकित्सा, संस्तव (वचन सम्बन्धी), त्रिक प्रक्षित तथा निषिद्ध दायक—(इन दोषों से युक्त भिक्षा लेने पर पुरिमार्ध तप से शोधि होती है।)**

१७०३-०८. स्वग्राम आहत, गांठ सहित दर्दरक उद्भिन्न, जघन्य मालापहृत, अध्यवतर का अर्थ है—और अधिक डालना। प्रथम यावदर्थिक अध्यवतर, सूक्ष्म चिकित्सा, वचन सम्बन्धी संस्तव, प्रक्षित त्रिक—कर्दम युक्त पृथ्वीकाय प्रक्षित, उदकार्द्र—अप्काय प्रक्षित, उक्कुट्ठ—(चावल का आटा) परित्त वनस्पति काय प्रक्षित, निषिद्ध बाल, वृद्ध, मत्त, उन्मत्त, कम्पमान शरीर, ज्वरित—ये सब निषिद्ध दायक कहलाते हैं। यथोद्दिष्ट इन सभी परग्राम आहत से लेकर ज्वरित तक दोषों से युक्त भिक्षा लेने पर प्रत्येक की शोधि पुरिमार्ध तप से होती है।

**४२. प्रत्येक वनस्पति पर परम्पर स्थापित, परम्पर पिहित, मिश्र प्रत्येक वनस्पति पर अनन्तर निक्षिप्त आदि तथा शंकित आहार ग्रहण करने पर पुरिमार्ध प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१७०९-१२. सचित्त प्रत्येक वनस्पतिकाय पर परम्पर निक्षिप्त, पिहित और संहृत होने पर, सचित्त प्रत्येक मिश्र वनस्पति पर अनन्तर निक्षिप्त होने पर, आदि शब्द ग्रहण से मिश्र वनस्पति के अनन्तर पिहित और संहृत होने पर तथा शंकित दोष युक्त भिक्षा ग्रहण करने पर यथोद्दिष्ट इन प्रत्येक दोषों की शोधि का प्रायश्चित्त पुरिमार्ध तप होता है।

**४३. इत्वरिक स्थापित, सूक्ष्म प्राभृतिका, सस्निग्ध अप्काय प्रक्षित, सस्निग्ध पृथ्वीकाय प्रक्षित तथा मिश्र परम्पर स्थापित आदि प्रत्येक दोष में निर्विगय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१७१३-१६. इत्वरिक स्थापित भक्त, सूक्ष्म प्राभृतिका, सस्निग्ध अप्काय प्रक्षित, सरजस्क पृथ्वीकाय प्रक्षित, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय आदि पर मिश्र परम्पर निक्षिप्त—इन सब दोषों में प्रत्येक का प्रायश्चित्त लघुपणग (निर्विगय) है। अनंतकाय वनस्पति पर मिश्र परम्पर निक्षिप्त रखने पर गुरुपणग, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त निर्विगय है।

१७१७. द्वितीय विकल्प के अनुसार अनंतकाय वनस्पति के अनन्तर निक्षिप्त में गुरुपणग प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त निर्विगय है। परम्पर निक्षिप्त में भी यही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१७१८. दूसरे विकल्प में प्रत्येक वनस्पति के अनन्तर निक्षिप्त में लघु पणग प्रायश्चित्त में निर्विगय तप की प्राप्ति होती है। परम्पर निक्षिप्त में भी यही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

**४४. सहसा या अनाभोग से जिन स्थानों में प्रतिक्रमण कहा है, उनको जानते हुए करने पर, बहुत बार या अतिप्रमाण में खाने पर निर्विगय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१७१९-२१. सहसा या अनाभोग से पूर्वोक्त जिन-जिन स्थानों में प्रतिक्रमण कहा गया है, उन सब स्थानों को जानते हुए करने पर तथा बहुश:—बार-बार खाने या अतिप्रमाण में आहार करने पर सर्वत्र निर्विगय से शोधि होती है।

**४५. धावन, डेवन—लांघना, साथ में दौड़-प्रतियोगिता, क्रीड़ा, कुहावणा—आश्चर्य पैदा करने वाली दम्भक्रिया, पुत्कार, गीत, श्लेष्म की आवाज, जीव विशेष की आवाज करने पर उसका प्रायश्चित्त उपवास है।**

१७२२-२६. अतिरिक्त तेज गति से चलने पर, नाले आदि को लांघने पर, संघर्ष गमन—दो व्यक्तियों में कौन शीघ्र गति से चलता है—यह स्पर्धा करने पर, चौपड़, चौरस, जूआ आदि खेल खेलने पर, कुहावणा[1] का अर्थ है—इंद्रजाल, वृत्त[2] खेल, आदि शब्द से समास, प्रहेलिका तथा कुहेटक—चमत्कार उत्पन्न करने वाला मंत्र-तंत्र आदि जानना चाहिए। उत्कृष्टि का अर्थ है—तीव्र ध्वनि से द्वारा कंठ गाया जाने वाला गीत। सीटी बजाना, सीत्कार करना छेलिय कहलाता है। संकेत करना संगार है। कोयल, मयूर आदि[3] प्राणियों की आवाज जीवरुत कहलाती है। धावण आदि समस्त स्थानों में यथाक्रम से प्रत्येक की शोधि उपवास तप से होती है।

**४६. जघन्य आदि तीनों प्रकार की उपधि के गिरने पर, प्रतिलेखना विस्मृत होने पर तथा आचार्य को निवेदन न करने पर क्रमश: निर्विगय, पुरिमार्ध और एकासन प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है और सर्व उपधि में आयम्बिल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१७२७. उपधि[4] तीन प्रकार की होती है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, जो क्रमश: चार, छह तथा चार प्रकार की होती है।

---

१. लोगों से द्रव्य हासिल करने के लिए किया हुआ कपट भेष।

२. बालकों के खेलने का गोल खिलौना।

३. चूर्णिकार के अनुसार 'आदि' शब्द से अजीव की आवाज, जैसे—अरहट्ट, गाड़ी तथा जूते आदि की आवाज को ग्रहण करना चाहिए।[1]

१. जीचू पृ. १७।

४. चूर्णिकार जिनदास ने उपधि के उपग्रह—उपकार को प्रकट करते हुए कहा है कि शीत से पीड़ित होकर मुनि अग्नि आदि का सेवन न करे इसलिए मुनि वस्त्र रखे। पात्र के अभाव में संसक्त और परिशाटन आदि दोष न हों अत: मुनि पात्र रखे तथा वर्षाकाल में जल-जीवों की हिंसा से बचने हेतु कम्बल तथा लज्जा के लिए चोलपट्टक आदि धारण करे।[1]

१. दशजिचू पृ. २२१ ; संजमनिमित्तं वा वत्थस्स गहणं कीरइ, मा तस्स अभावे अगिसेवणादिदोसा भविस्संति, पाताभावेऽवि संसत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्संति, कंबलं वासकप्पादी तं उदगादिरक्खणट्ठा घेप्पति, लज्जा-निमित्तं चोलपट्टको घेप्पति।

१७२८. मुखपोत्ति, पात्रकेशरिका, पात्रस्थापना तथा गोच्छक—ये चार जघन्य उपधि हैं। अब मैं मध्यम उपधि के बारे में कहूंगा।

१७२९. पटलक, रजस्त्राण, पात्रबंध, चोलपट्ट, मात्रक, रजोहरण—ये छह मध्यम उपधि हैं।

१७३०. प्रच्छादकत्रिक, पतद्ग्रह—ये चार प्रकार की उत्कृष्ट उपधि हैं। ओघ[1] उपधि संक्षेप में तीन प्रकार की है।

१७३१. औपग्रहिक[2] उपधि तीन प्रकार की होती है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। यह सारा वर्णन कल्प अध्ययन (बृहत्कल्पभाष्य तथा पंचकल्पभाष्य) की भांति कहना चाहिए।

१७३२. सूत्र (जीसू ४६) में आए 'विच्युत' शब्द का अर्थ है—गिरना। जघन्य आदि उपधि के कहीं गिरने के बाद पुनः मिलने पर प्रमाद जन्य शोधि होती है। वह निर्विकृतिक आदि इस प्रकार है।

१७३३. जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट उपधि में प्रमाद होने पर क्रमशः निर्विगय, पुरिमार्ध और एकासन प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है तथा सब उपधियों में प्रमाद होने पर आयम्बिल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१७३४. तीनों प्रकार की उपधि की विस्मृति होने पर या प्रतिलेखना विस्मृत होने पर उसकी शोधि क्रमशः इस प्रकार होती है–निर्विगय, पुरिमार्ध, एकासन तथा सर्व प्रकार की उपधि की प्रतिलेखना विस्मृत होने पर आयम्बिल से शोधि होती है।

१७३५. जघन्य आदि तीनों प्रकार की उपधि की प्रतिलेखना विस्मृत होने से, आचार्य को निवेदन न करने पर उसकी शोधि क्रमशः निर्विगय, पुरिमार्ध और एकासन से होती है तथा सर्व उपधि विस्मृत होने से, आचार्य को निवेदन न करने पर आयम्बिल प्रायश्चित्त से शोधि होती है।

**४७. त्रिविध उपधि खोने पर, धोने पर, प्राप्त उपधि आचार्य को निवेदन न करने पर, गुरु को दिए बिना उपधि का उपभोग करने पर, बिना आज्ञा उपधि को दूसरे साधु को देने पर क्रमशः एकासन, आयम्बिल और उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। सर्व उपधि खोने आदि प्रमाद पर बेले प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१७३६. जघन्य उपधि खोने पर उसकी शोधि हेतु एकासन, मध्यम उपधि खोने पर आयम्बिल तथा उत्कृष्ट उपधि खोने पर उपवास प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१७३७. सर्व उपधि खोने पर उसकी शोधि बेले के तप से जाननी चाहिए। अब मैं जघन्य आदि उपधि के धोने पर होने वाले प्रायश्चित्त को कहूंगा।

१७३८. जघन्य उपधि के धोने पर एकासन, मध्यम उपधि धोने पर आयम्बिल, उत्कृष्ट उपधि धोने पर उपवास तथा सर्व उपधि धोने पर बेले के तप से शोधि होती है।

१७३९. त्रिविध उपधि प्राप्त होने पर जो आचार्य को निवेदन नहीं करता, उसको जघन्य उपधि के लिए

---

१. प्रतिदिन काम में आने वाली तथा सदा पास में रहने वाली ओघ उपधि कहलाती है।

२. प्रयोजन विशेष में ग्रहण करके उपयोग में आने वाली औपग्रहिक उपधि कहलाती है।

एकासन, मध्यम उपधि के लिए आयम्बिल, उत्कृष्ट उपधि के लिए उपवास तथा सर्व उपधि के लिए बेले के प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१७४०. गुरु को दिए बिना जघन्य उपधि का उपभोग करने पर एकासन, मध्यम उपधि का परिभोग करने पर आयम्बिल, उत्कृष्ट उपधि का परिभोग करने पर उपवास तथा सर्व उपधि का परिभोग करने पर बेले के तप से शोधि होती है।

१७४१. गुरु की आज्ञा के बिना जघन्य आदि उपधि किसी अन्य साधु को देने पर उसकी शोधि जीत व्यवहार से एकासन से लेकर बेले पर्यन्त तप से होती है।

**४८. मुखवस्त्र के स्खलित होने पर निर्विगय तथा रजोहरण के स्खलित होने पर उपवास प्रायश्चित्त से शोधि होती है। मुखवस्त्र के खोने या नष्ट होने पर उपवास तथा रजोहरण के खोने या नष्ट होने पर जीत व्यवहार से बेले के तप द्वारा शोधि होती है।**

१७४२. मुखवस्त्र के स्खलित होने पर उसकी शोधि के लिए निर्विगय प्रायश्चित्त देना चाहिए। रजोहरण के स्खलित होने पर उपवास प्रायश्चित्त से शोधि होती है।

१७४३. प्रमाद से मुखवस्त्र खोने या नष्ट होने पर उपवास तथा रजोहरण के खोने या नष्ट होने पर प्रमादी साधु की जीतव्यवहार के द्वारा बेले के तप से शोधि होती है।

**४९. कालातिक्रान्त और मार्गातिक्रान्त आहार रहने पर निर्विगय, उसका परिभोग करने पर उपवास तथा अविधिपूर्वक आहार-परिष्ठापन करने पर पुरिमार्ध प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१७४४. विकथा आदि प्रमाद से कालातिक्रान्त आहार रखने पर उसकी शोधि निर्विगय से तथा कालातिक्रान्त आहार का परिभोग करने पर उसकी शोधि उपवास तप से होती है।

१७४५. इसी प्रकार मार्गातिक्रान्त आहार का परिभोग न करने पर भी उसकी शोधि निर्विगय से तथा परिभोग करने पर उपवास से होती है। उस आहार का अविधिपूर्वक परिष्ठापन करने पर पुरिमार्ध तप की प्राप्ति होती है।

**५०. प्राणी का असंवरण तथा भूमित्रिक[1] का प्रतिलेखन न करने पर निर्विगय प्रायश्चित्त से शोधि होती है। चतुर्विध आहार का संवरण न करने पर, नवकारसी आदि प्रत्याख्यान ग्रहण न करने पर अथवा प्रत्याख्यान का भंग करने पर पुरिमार्ध प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१७४६. प्राणी का असंवरण करने पर साधु की शोधि निर्विगय तप से होती है। भूमि त्रिक की शोधि मैं संक्षेप में इस प्रकार कहूंगा।

१७४७. प्रथम भूमि का नाम है—उच्चारभूमि, दूसरी का नाम प्रस्रवणभूमि तथा तीसरी का नाम कालभूमि है। इनकी प्रतिलेखना न करने पर निर्विगय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

---

१. चूर्णिकार के अनुसार तीनों में से एक की भी प्रतिलेखना न करने पर निर्विगय प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।'

१. जीचू पृ. १८; भूमितिगं ति—उच्चार-पासवण-कालभूमि। एगतर-अपडिलेहणाए वि निव्विईयं।

१७४८. अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि चार प्रकार का आहार होता है। उनका संवरण न करने पर साधु की पुरिमार्ध तप से शोधि होती है।

१७४९. अथवा साधु यदि नमस्कारसहिता (नवकारसी) आदि सब प्रकार के प्रत्याख्यान स्वीकृत नहीं करता है अथवा स्वीकार करके उसका भंग करता है तो उसकी शोधि पुरिमार्ध तप से होती है।

**५१. इसी प्रकार सामान्य रूप से तप, प्रतिमा[1], अभिग्रह आदि ग्रहण न करने पर पुरिमार्ध[2] तप की प्राप्ति होती है। पाक्षिक आदि तप न करने पर पुरुष भेद से निर्विगय आदि तप से शोधि जाननी चाहिए।**

१७५०. पुरिमार्ध तप सामान्य रूप से जानना चाहिए। तप, प्रतिमा तथा अभिग्रह आदि ग्रहण न करने पर या उसका भंग करने पर होने वाले प्रायश्चित्त को मैं कहूंगा।

१७५१. तप बारह प्रकार का होता है, प्रतिमा एकरात्रिकी आदि होती है, द्रव्य आदि अभिग्रह[3] होते हैं, इनको ग्रहण न करने पर अथवा भंग करने पर पुरिमार्ध तप की प्राप्ति होती है।

१७५२. पश्चार्द्ध गाथा की व्याख्या इस प्रकार जाननी चाहिए। क्षुल्लक, भिक्षु आदि पांचों को पाक्षिक तप न करने पर उसकी शोधि निर्विगय से लेकर उपवास तप पर्यन्त होती है।

१७५३. चातुर्मासिक तप न करने पर क्षुल्लक को पुरिमार्ध, भिक्षु को एकासन, स्थविर को आयम्बिल, उपाध्याय को उपवास तथा आचार्य को बेले के तप की प्राप्ति होती है।

१७५४. प्रतिदिन यथाशक्ति प्रत्याख्यान ग्रहण न करने पर क्षुल्लक, भिक्षु, स्थविर, उपाध्याय तथा आचार्य की क्रमशः एकासन, आयम्बिल, उपवास, बेला तथा तेले के तप से शोधि होती है।

**५२. कायोत्सर्ग में (निद्रा आदि प्रमाद से) विचलित होने पर, गुरु से पहले स्वयं कायोत्सर्ग पूरा करने पर, बीच में ही कायोत्सर्ग भंग करने पर, वंदना आदि न करने पर क्रमशः निर्विगय, पुरिमार्ध, एकासन तथा सर्व कायोत्सर्ग से विचलित आदि होने पर आयम्बिल तप से शोधि होती है।**

१७५५, १७५६. एक बार कायोत्सर्ग से विचलित होने पर निर्विगय, दो बार विचलित होने पर पुरिमार्ध, तीन बार विचलित होने पर एकासन तथा सम्पूर्ण कायोत्सर्ग से विचलित होने पर अथवा एक साथ प्रतिक्रमण करने पर उसकी शोधि आयम्बिल तप से होती है। उत्सार-कायोत्सर्ग सम्पन्न करने का प्रायश्चित्त इस प्रकार कहूंगा।

---

१. प्रतिमा का अर्थ है—साधना की विशिष्ट पद्धति। श्रावक की ग्यारह तथा भिक्षु की बारह प्रतिमाएं होती हैं। भिक्षु की बारह प्रतिमाएं इस प्रकार हैं—१. एकमासिकी २. द्विमासिकी ३. त्रैमासिकी ४. चातुर्मासिकी ५. पंचमासिकी ६. षाण्मासिकी ७. सप्तमासिकी ८. सप्त अहोरात्रिकी ९. सप्त अहोरात्रिकी १०. सप्त अहोरात्रिकी ११. एक अहोरात्रिकी १२. एकरात्रिकी।

**१. विस्तार हेतु देखें दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं दशा तथा श्रीभिक्षु आगम शब्द कोश भा. १ पृ. ४३८, ४३९।**

२. गाथा के पूर्वार्द्ध का पिछली जीसू ५० वीं गाथा से सम्बन्ध है अतः पुरिमार्ध तप की प्राप्ति का वहां से अध्याहार करना होगा।

३. अभिग्रह का अर्थ है—प्रतिज्ञा लेना। यह अभिग्रह चार प्रकार का होता है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

१७५७, १७५८. एक कायोत्सर्ग गुरु से पहले स्वयं पूरा करे तो निर्विगय, दो कायोत्सर्ग पूरा करने पर पुरिमार्ध, तीन कायोत्सर्ग पूरा करने पर एकासन तथा सभी कायोत्सर्ग गुरु से पहले पूरे करने पर आयम्बिल तप से शोधि होती है। कायोत्सर्ग भग्न होने पर तथा वंदना न करने पर भी उसकी शोधि इसी प्रकार होती है।

**५३. एक बार कायोत्सर्ग न करने पर पुरिमार्ध, दो बार न करने पर एकासन, तीन बार न करने पर आयम्बिल तथा सम्पूर्ण आवश्यक न करने पर उपवास प्रायश्चित्त से शोधि होती है। रात्रि में व्युत्सर्ग करने हेतु पहले भूमि की प्रतिलेखना न करने पर तथा दिन में सोने पर उसकी शोधि उपवास प्रायश्चित्त से होती है।**

१७५९. एक बार कायोत्सर्ग न करने पर उसकी शोधि पुरिमार्ध तप से होती है। दो बार कायोत्सर्ग न करने पर एकासन तथा तीन बार न करने पर उसकी शोधि आयम्बिल तप से होती है।

१७६०. सम्पूर्ण आवश्यक न करने पर तथा कायोत्सर्ग की भांति वंदना न करने पर उसकी शोधि उपवास तप से होती है।

१७६१. गाथा के पश्चार्द्ध में रात्रि में व्युत्सर्ग करने के लिए पहले दिन में स्थण्डिल भूमि की प्रतिलेखना न करने पर साधु की शोधि उपवास तप से होती है।

१७६२. बिना कारण दिन में सोने पर साधु की शोधि उपवास तप से होती है। क्रोध के वशीभूत होना तथा कर्कोलक—सुगंधित द्रव्य विशेष के प्रयोग के बारे में अब वर्णन करूंगा।

**५४. बहुदैवसिक क्रोध, मदिरा और कर्कोलक—सुगंधित वस्तु आदि का उपभोग करने पर उपवास तप का प्रायश्चित्त तथा लहसुन आदि का प्रयोग और गाय आदि के बछड़े को खोलने पर पुरिमार्ध तप की प्राप्ति होती है।**

१७६३, १७६४. पक्ष के अतिक्रान्त होने पर बहुत दिनों तक रहने वाला क्रोध बहुदैवसिक कहलाता है अथवा चातुर्मास के अतिरिक्त बहुत दिनों तक रहने वाला क्रोध भी बहुदैवसिक होता है। उसकी शोधि उपवास तप से होती है। आसव को विकट कहते हैं। उसको ग्रहण करने पर उपवास तप से उसकी शोधि होती है।

१७६५, १७६६. कर्कोलक आदि सुगंधित वस्तु का सेवन करने पर मुनि की उपवास तप से शोधि होती है। आदि शब्द के ग्रहण से सुपारी, जायफल, लवंग तथा तम्बोल आदि ग्रहण करने पर प्रत्येक की शोधि उपवास तप से होती है। अचित्त लहसुन को ग्रहण करने पर तथा सूत्र (जीसू ५४) में आए 'आदि' शब्द से पलंडु—प्याज ग्रहण करने पर पुरिमार्ध तप से शोधि होती है।

१७६७. बछड़े को बंधन-मुक्त करने पर उसकी शोधि पुरिमार्ध तप से होती है। सूत्र (जीसू ५४) में आए आदि शब्द से हंस, मयूर आदि के बच्चों को भी ग्रहण करना चाहिए।

**५५. छिद्र रहित तृण आदि का सेवन करने पर निर्विगय, शेष पांच प्रकार के पणग[1] का उपयोग**

१. जीतकल्प चूर्णि के अनुसार पुस्तक पंचक ग्रहण करने पर आयम्बिल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है तथा दूसरे चूर्णिकार के अभिमत से पुस्तक पंचक ग्रहण करने में भी पुरिमार्ध तप की प्राप्ति होती है।[1]

१. जीचू पृ. १९; पोत्थयपणगग्गहणे आयामं.....बिइयचुन्निकारमएण पोत्थयपणगे वि पुरिमड्ढं।

**करने पर पुरिमार्ध, दूष्य पंचक की प्रतिलेखना न करने पर एकासन तप की प्राप्ति होती है। त्रसकाय के वध में जिस प्रायश्चित्त की प्राप्ति विहित है, वह प्राप्त होता है।**

**१७६८.** कुश आदि अशुषिर हैं। इनका अकारण परिभोग करने पर उसकी शोधि निर्विगय तप से होती है। शेष पंचविध पणग[1] के पुनः पांच-पांच भेद होते हैं।

**१७६९.** पुस्तक पंचक, तृण पंचक, दूष्य पंचक—इनकी सम्यक् प्रतिलेखना न करने पर अथवा दूष्य पंचक और चर्म पंचक की प्रतिलेखना न करने पर पुरिमार्ध तप से शोधि होती है।

**१७७०.** पंचविध पुस्तक[2] के नाम इस प्रकार हैं—१. गंडी २. कच्छपी ३. मुष्टि ४. छिवाडी ५. संपुटक। पंचविध तृण ये हैं—शालि, ब्रीहि, कोद्रव, रालक, जंगली घास।

**१७७१, १७७२.** अप्रतिलेखित दूष्य पंचविध हैं—१. तूली २. अंग-उपधान ३. गंड-उपधान ४. आलिंगिणी ५. मसूरक।[3] दुष्प्रतिलेखित पंचविध दूष्य का दूसरा पंचक इस प्रकार हैं—१. पल्हवि २. कोयवी—रुई से भरा हुआ कपड़ा ३. प्रावारक—कम्बल ४. नवतक—ऊन का बना हुआ आस्तरण विशेष ५. दाढ़ियाली।[4]

---

१. पंचविध पणग इस प्रकार हैं—पुस्तक पंचक, तृण पंचक, चर्म पंचक और द्विविध दूष्य पंचक—दुष्प्रतिलेखित दूष्यपंचक तथा अप्रतिलेखित दूष्यपंचक।

२. पुस्तक पंचक की व्याख्या इस प्रकार है—
   १. गंडी—मोटाई और चौड़ाई में तुल्य तथा चोकोर पुस्तक।
   २. कच्छपी—अंत में पतली, मध्य में विस्तीर्ण तथा कम मोटाई वाली पुस्तक।
   ३. मुष्टि—चार अंगुल लंबी और वृत्ताकार अथवा चार अंगुल लम्बी चतुष्कोण पुस्तक।
   ४. छिवाडी—लम्बी या छोटी, विस्तीर्ण और कम मोटाई वाली पुस्तक अथवा पतले पन्ने वाली ऊंची पुस्तक।
   ५. संपुटफलक—दोनों ओर जिल्द बंधी पुस्तक।[1]

   आचार्य महाप्रज्ञ ने 'पुस्तक' शब्द पर भाष्य लिखते हुए कहा है कि भाषाशास्त्रीय दृष्टि से 'पुस्त' शब्द 'पहलवी' भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है—चमड़ा। चमड़े में चित्र आदि बनाए जाते थे। उसमें भी ग्रंथ लिखे जाते थे इसलिए उसका नाम पुस्तक हो गया। हरिभद्रसूरि ने पुस्तकर्म का अर्थ वस्त्रनिर्मित पुतली, वर्तिका से लिखित पुस्तक तथा ताड़पत्रीय प्रति किया है।[2] बृहत्कल्पभाष्य में पुस्तकपंचक रखने में होने वाली यतना को चार दृष्टान्तों से समझाया है।[3]

   **१. निभा ४००० चू पृ. ३२०, ३२१; दीहो बाहल्लपुहत्तेण तुल्लो चउरंसो गंडीपोत्थगो। अंते तणुओ, मज्झे पिहुलो, अप्पबाहल्लो कच्छवी। चउरंगुलदीहो वृत्ताकृती मुट्ठीपोत्थगो। अहवा चउरंगुलदीहो चउरस्सो मुट्ठिपोत्थगो। दुमाइफलगसंपुडं दीहो हस्सो वा पिहुलो अप्पबाहल्लो छेवाडी। अहवा तणुपत्तेहिं उस्सीओ छेवाडी।**

   **२. अनु १/१० का टिप्पण पृ. १९।**

   **३. बृभा ३८२७-३०।**

३. तूली—रुई से भरा हुआ मोटा बिछौना, उपधान—तकिया, गंडउपधान—कपोल पर लगाया जाने वाला तकिया, आलिंगिणी—शरीर प्रमाण उपधान, मसूरक—वस्त्र या चर्म का वृत्ताकार आसन।

४. जीतकल्प चूर्णि एवं बृहत्कल्पभाष्य में दुष्प्रतिलेखित दूष्य पंचक के नामों में कुछ अंतर है—१. कोयवी २. प्रावारक ३. पूरी—स्थूल सणमय डोरी से निष्पन्न वस्त्र ४. दाढ़ियाली ५. विराली—द्विसर वाली सूत्रपटी।[1]

   **१. जीचू पृ. १९, बृभा ३८२३ टी पृ. १०५४।**

१७७३. चर्म पंचक इस प्रकार है—१. गाय २. महिष ३. अजा ४. एलक ५. तथा मृग ।

१७७४. अथवा दूसरा चर्मपञ्चक इस प्रकार है—१. तलिका २. खल्लक[1] ३. वर्ध्र ४. कोशक[2] ५. कत्ती —इन पांचों पंचक के भेद स्वयं व्याख्यायित करने चाहिए।

**५६. गुरु की आज्ञा के बिना स्थापना कुल में प्रवेश और निगर्मन करने पर तथा वीर्य का गोपन करने पर जीतव्यवहार से एकासन प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है तथा शेष अन्य प्रकार की माया करने पर उपवास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

१७७५. दानश्राद्ध आदि के स्थापना-कुलों[3] में गुरु से बिना पूछे प्रवेश-निगर्मन तथा भक्तपान आदि ग्रहण करने पर एकासन प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१७७६. वीर्य, सामर्थ्य, पराक्रम—ये तीनों शब्द एकार्थक हैं। गूहन, गोपन, णूमन, पलिकुंचन—ये चारों शब्द माया के एकार्थक हैं।

---

१. आधे या पूरे पैर का जूता। निशीथ चूर्णि के पाद-टिप्पण में उल्लेख है कि जो आधे पैर को आच्छादित करता है, वह अर्धखल्लक है तथा जो सम्पूर्ण पैर को आच्छादित करता है, वह समस्त खल्लक है।[4]

**१. निचू भा. २ पृ. ८७ ; या पादार्धमाच्छादयति सा अर्धखल्लका। या च सम्पूर्णपादमाच्छादयति सा समस्तखल्लका।**

२. पाषाण आदि से प्रतिस्खलित होकर पैर के नख भग्न न हों, इस बुद्धि से अंगुलि और अंगुष्ठ को जिससे आच्छादित किया जाता है, वह कोशक है।[5] निशीथ भाष्य में वग्गुरी, खपुस आदि उपानत् तथा इनसे सम्बन्धित प्रायश्चित्त का विस्तार से वर्णन है। विस्तार हेतु देखें निभा ९१४-४७।

**१. निचू भा. २ पृ. ८७ ; यत्र तु पाषाणादिषु प्रतिस्खलिताः पादनखा मा भज्यन्तामिति बुद्ध्याङ्गुलिरंगुष्ठो वा प्रक्षिप्यते स कोशकः।**

३. दान देने वाले श्रद्धालु, यथाभद्र श्रावक आदि के घर स्थापना कुल कहलाते हैं। इन कुलों में एक संघाटक आहार लेकर निर्गमन कर देता है तो शेष उस कुल में प्रवेश नहीं करते।[6] स्थापना कुल का दूसरा अर्थ है—जो स्थाप्य—अभोज्य कुल है, वह स्थापना कुल कहलाता है। इसका अन्य अर्थ है—गीतार्थ द्वारा स्थापित विशिष्ट कुल।[7] निशीथ सूत्र एवं उसके व्याख्या साहित्य में स्थापना कुल का विस्तार से वर्णन मिलता है। स्थापना कुल दो प्रकार का होता है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक स्थापना कुल—सूतक और मृतक वाले कुल इत्वरिक काल के लिए निषिद्ध स्थापित होते हैं लेकिन जो कुल, कर्म, शिल्प और जाति आदि से जुगुप्सित या अभोज्य होते हैं, वे यावत्कथिक स्थापना कुल हैं।[8]

लोकोत्तर स्थापना कुल भी दो प्रकार के होते हैं—वसति से संबद्ध—उपाश्रय के पास वाले सात घर सम्बद्ध कहलाते हैं। इनमें आधाकर्म की संभावना रहती है अतः वहां से आहार-पानी नहीं लेना चाहिए। वसति से असम्बद्ध, श्रद्धालु, अणुव्रती, सम्यग्दृष्टि आदि के कुल गीतार्थ के अलावा शेष के लिए निषिद्ध होते हैं अथवा अप्रीतिकर कुल सर्वथा स्थाप्य होते हैं। बिना पृच्छा के स्थापनाकुलों में प्रवेश करने वाला लघुमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।[9]

**१. जीचू पृ. १९; दाणसड्ढ-अहाभद्दसन्निमाईणि ठवणकुलाणि...तेसु य कुलेसु एगो चेव संघाडगो णिव्विसइ सेसा न पविसंति।**
**२. निचू २ पृ. २४३ ; ठप्पा कुला ठवणाकुला अभोज्ज इत्यर्थः। साधुठवणाए वा ठविज्जंति त्ति ठवणकुला सेज्जातरादित्यर्थः॥**
**३. निभा १६१७, १६१८ चू. पृ. २४३।**
**४. निभा १६१९-२२ चू. पृ. २४४।**

१७७७. वीर्य का गोपन करने वाले ऐसे माया युक्त साधु को जीत व्यवहार से एकासन तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए। श्रुत व्यवहार के अनुसार अन्यथा प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है। अब शेष माया का वर्णन करूंगा।

१७७८, १७७९. पहले अच्छा-अच्छा भोजन करके यश की इच्छा से मायापूर्वक आचार्य के पास विवर्ण और विरस आहार इस चिन्तन से करना जिससे वे समझें कि यह साधु रूक्ष वृत्ति वाला, महाभाग, जितेन्द्रिय और रस-परित्याग करने वाला है तथा अंत और प्रान्त खाकर जीवन-यापन करता है। (इसका प्रायश्चित्त उपवास तप है)

**५७. दर्प—निष्कारण पंचेन्द्रिय प्राणी का व्यपरमण, संक्लिष्ट कर्म, दीर्घ मार्ग में फल आदि का सेवन, ग्लानत्व के समय सकारण अतिचार सेवन होने पर अंत में शोधि करनी चाहिए।**

१७८०. दर्प अर्थात् निष्कारण वल्गन—कूदना, दौड़ना और डेवण—उल्लंघन करना, पंचेन्द्रिय का व्यपरोपण करना दर्प प्रतिसेवना है। व्यपरोपण, अपद्रावण और विराधना—ये तीनों शब्द एकार्थक हैं।

१७८१. संक्लिष्ट कर्म, जैसे—हस्तकर्म, अंगादान आदि तथा लम्बे रास्ते में आधाकर्मिक प्रलम्ब फल आदि बहुत मात्रा में सेवन करने पर।

१७८२. दीर्घकालिक रोग की स्थिति में आधाकर्म का सेवन, सन्निधि रखने तथा अधिक अतिचार सेवन करने से रोग का अवसान होने पर शोधि करनी चाहिए।

१७८३. उपर्युक्त यथोद्दिष्ट पंचेन्द्रिय-व्यपरमण से लेकर ग्लानत्व पर्यन्त प्रत्येक दोष की शोधि पंचकल्याणक से होती है।

**५८. सर्व उपधि का कल्प होने पर, प्रथम और अंतिम प्रहर में प्रतिलेखना न करने पर चातुर्मासिक और वार्षिक आलोचना में पंचकल्याणक से शोधि होती है।**

१७८४, १७८५. चातुर्मास काल में सर्व उपधि में यतना रखने पर भी कल्पिका शोधि होती है। प्रथम और अंतिम प्रहर में प्रमाद से प्रतिलेखना नहीं करने पर, उपधि धोने के बाद प्रथम और अंतिम प्रहर में प्रतिलेखना न करने पर—इन सबकी शोधि पंचकल्याणक से होती है।

१७८६. चातुर्मासिक और सांवत्सरिक आलोचना करने पर निरतिचार होने पर भी नियमतः शोधि हेतु पंचकल्याणक का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१७८७. शिष्य प्रश्न पूछता है कि निरतिचार रहने पर भी किस कारण से प्रायश्चित्त देना चाहिए? आचार्य उत्तर देते हैं कि कभी-कभी सूक्ष्म अतिचार लगने पर भी कदाचित् व्यक्ति जान नहीं पाता कि अतिचार दोष लगा है क्या?

१७८८, १७८९. अथवा कभी-कभी व्यक्ति को अतिचार दोष याद नहीं आते हैं, जैसे—प्रादोषिक, अर्धरात्रिक, वैरात्रिक और प्राभातिक काल अग्रहण करने पर, सूत्रार्थ पौरुषी न करने पर अथवा दुष्प्रतिलेखन या दुष्प्रमार्जन करने पर उसकी शोधि पंचकल्याणक से होती है।

**५९. छेद आदि[1] प्रायश्चित्त में श्रद्धा नहीं रखने वाले को, मृदु[2] तथा पर्याय-गर्वित को छेद आदि प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी तप प्रायश्चित्त देना चाहिए। जीतव्यवहार से गणाधिपति[3] आचार्य को छेद प्रायश्चित्त की प्राप्ति होने पर भी तपोर्ह प्रायश्चित्त देना चाहिए।**

१७९०. शिष्य प्रश्न पूछता है कि विपुल तप नहीं करते हुए भी मुनि केवल छेद और मूल प्रायश्चित्त से कैसे शुद्ध हो जाता है? आचार्य उत्तर देते हैं कि गुरु की आज्ञा मात्र से उसकी शुद्धि हो जाती है। जो छेद आदि प्रायश्चित्त में श्रद्धा नहीं करता, उसे तप प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१७९१. छेद और मूल प्रायश्चित्त दिए जाने पर भी जो मृदु और प्रसन्न रहता है, छेद मिलने पर भी जो वंदनीय रहता है, अवमरात्निक नहीं होता, उसको तीन बार तप प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१७९२, १७९३. गर्वित साधु दो प्रकार का होता है—१. चिर पर्याय २. तपबलिक। छेद प्रायश्चित्त देने पर दीर्घ पर्याय आदि के कारण साधु गर्वित होता है कि इतने पर्याय का छेद हुआ, फिर भी मैं तुमसे रात्निक हूं। इस प्रकार गर्व करने वाले को चिरपर्याय गर्वित जानना चाहिए।

१७९४. मैं तपबलिक हूं, मैं तप में समर्थ हूं अतः मुझे प्रायश्चित्त में तप दो, इस प्रकार जो गर्वित होता है, उसके दोष को दूर करने के लिए विपरीत प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१७९५, १७९६. छेद प्रायश्चित्त प्राप्त गणाधिपति आचार्य की अपरिणत शैक्ष आदि में अवहेलना न हो अतः बुद्धि, बल, संहनन को जानकर तथा त्रिविध ग्रीष्म आदि ऋतुओं को जानकर दोष को हरने वाला तपोर्ह प्रायश्चित्त दिया जाता है।

**६०. यहां जीतव्यवहार में जिस-जिस प्रायश्चित्त की आप्राप्ति[4] एवं उसके दान का संक्षेप में वर्णन नहीं किया है, वहां भिन्नमास से लेकर छहमास पर्यन्त प्रायश्चित्त कहूंगा।**

१७९७, १७९८. जिस दोष के बारे में जीतव्यवहार के द्वारा प्रायश्चित्त-दान के बारे में संक्षिप्त वर्णन नहीं है, उसकी विशोधि पणग प्रायश्चित्त से होती है, जिसका तप रूप प्रायश्चित्त निर्विगय आदि होता है। यहां मैं विशेष रूप से कुछ कहूंगा। सूत्र में आए संक्षेप और समास शब्द एकार्थक हैं। यहां जीतव्यवहार से सब अतिचारों के प्रायश्चित्त का वर्णन क्यों नहीं किया?

---

१. 'आदि' शब्द से मूल, अनवस्थाप्य तथा पाराञ्चिक प्रायश्चित्त प्राप्तकर्ता को भी ग्रहण करना चाहिए।'

**१. जीचू पृ. २०; आइसद्देण मूलाणवट्ठप्पारंचियपयावन्नाण वि।**

२. जो पर्याय के छेद होने पर भी संतप्त नहीं होता, वह मृदु होता है।'

**१. जीचू पृ. २०; मिउणो त्ति जो छिज्जमाणे वि परियाए न संतप्पइ, जहा मे परियाओ छिन्नो त्ति।**

३. जीसू ५९ में आए 'च' शब्द से आचार्य के अतिरिक्त कुल, गण और संघ के आचार्य को भी ग्रहण करना चाहिए। उन्हें भी जीत प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर तप प्रायश्चित्त दिया जाता है।

४. प्रायश्चित्त स्थान की प्राप्ति अप्राप्ति है। वह प्रायश्चित्त-प्राप्ति निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र में वर्णित है।'

**१. जीचू पृ २०; आवत्ती पायच्छित्तट्ठाणसंपत्ती, सा य निसीहकप्पववहाराभिहिया।**

१७९९. प्रायश्चित्त किस सूत्र में वर्णित हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि निशीथ, कल्प और व्यवहार में आज्ञा आदि व्यवहार का वर्णन सूत्रतः और अर्थतः विस्तार से कहा गया है।

१८००. पणग (निर्विगय) से लेकर छह मास पर्यन्त अनेकविध प्रायश्चित्त-प्राप्ति का वर्णन निशीथ आदि सूत्रों में विस्तार से कहा गया है।

१८०१. यहां जीतव्यवहार के द्वारा निष्पन्न प्रायश्चित्त-प्राप्ति और उसके दान का संक्षेपतः वर्णन है। भिन्नमास से लेकर छहमास पर्यन्त जीतव्यवहार का यहां वर्णन करूंगा।

**६१. भिन्नमास सामान्य होता है। गुरुमास, लघुमास, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, षड्गुरु और षड्लघु में निर्विगय से लेकर तेले की तपस्या तक का प्रायश्चित्त दिया जाता है।**

१८०२. भिन्नमास[1] यह सामयिकी संज्ञा है, जिसका अर्थ है पच्चीस दिन। यह अविशिष्ट—एक ही प्रकार का होता है। विशिष्ट के बारे में इस प्रकार जानना चाहिए।

१८०३-०५. पणग, दस, पन्द्रह, बीस, पच्चीस से लेकर निर्विकृतिक तक लघुमास में पुरिमार्ध, गुरुमास में एकासन, चतुर्लघुमास में आयम्बिल, चतुर्गुरुमास में उपवास, छह लघुमास में बेला, छह गुरुमास में तेला तप की प्राप्ति होती है।

१८०६. निर्विगय से लेकर तेले तक का तथा भिन्नमास से लेकर क्रमशः छह मास पर्यन्त प्रायश्चित्त दिया जाता है।

**६२. इस प्रकार सिद्धान्त में अभिहित सर्व प्रायश्चित्त-प्राप्ति के तप को जानकर यथाक्रम से जीतव्यवहार से निर्विगय आदि प्रायश्चित्त-दान देना चाहिए।**

१८०७. इस क्रम से सर्व प्रायश्चित्त की प्राप्ति पणग आदि से लेकर छह मास पर्यन्त होती है।

१८०८. निर्विगय से लेकर तेले पर्यन्त सारा तप होता है। जीत व्यवहार से क्रमशः निर्विगय आदि तप का दान दिया जाता है।

१८०९. सूत्र (गा. ६२) में निर्दिष्ट यथाभिहित का अर्थ है—सिद्धान्त में जिस रूप में निर्दिष्ट है, सामान्य रूप से संक्षेप में इसे जानना चाहिए।

**६३. यह सारा प्रायश्चित्त सामान्यतः बहुलता से निर्दिष्ट है। विस्तार से प्रायश्चित्त-दान द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के भेदों से जानना चाहिए।**

१८१०. सूत्र (गा. ६३) में प्रयुक्त 'एयं' शब्द यथोद्दिष्ट का वाचक है। 'पुण' शब्द विशेषण के रूप में जानना चाहिए। सारा प्रायश्चित्त-दान बहुलता से वर्णित है।

१८११. सूत्र ६३ में आए सामान्य का अर्थ है—अविशेषित, विनिर्दिष्ट का अर्थ है—विशेष रूप से

---

१. चूर्णिकार के अनुसार भिन्नमास अनेक प्रकार का होता है, फिर भी वह एक ही गृहीत होता है।[1]

१. जीचू पृ. २०; एस भिन्नमासो बहुभेओ वि एक्को चेव घेप्पइ।

निर्दिष्ट। प्रायश्चित्त-दान निर्विकृतिक आदि हैं। विभाग का अर्थ है—विस्तार से देना।

१८१२. आदि शब्द से द्रव्य आदि के क्रम से प्रतिसेवना तक ग्रहण करना चाहिए। आचार्य को विशेष रूप से द्रव्य (क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष और प्रतिसेवना) आदि देखकर कम प्रायश्चित्त भी देना चाहिए।

१८१३. अथवा अधिक अपराध जानकर जीत व्यवहार से अधिक प्रायश्चित्त भी देना चाहिए अथवा श्रुतोपदेश से उतना ही प्रायश्चित्त देना चाहिए।

**६४. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष और प्रतिसेवना को जानकर उतनी ही मात्रा में कम या ज्यादा प्रायश्चित्त देना चाहिए।**

१८१४, १८१५. आहार आदि द्रव्य, रूक्ष या स्निग्ध आदि क्षेत्र, ग्रीष्म आदि काल, हृष्ट या ग्लान आदि भाव, गीतार्थ या अगीतार्थ पुरुष तथा जानबूझ कर की जाने वाली प्रतिसेवना आदि को जानकर जीतव्यवहार के अनुसार हीन या अधिक प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८१६. द्रव्य आदि को जानकर कम, अधिक या उतनी ही मात्रा में प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि द्रव्य आदि हीन हैं तो कम प्रायश्चित्त तथा द्रव्य आदि अधिक हैं तो अधिक प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८१७. द्रव्यादि का अक्षरार्थ क्रमशः वर्णित कर दिया गया, अब आचार्य पुनः द्रव्यादि को विस्तार से कहेंगे।

**६५. आहार आदि द्रव्य जिस क्षेत्र में अधिक मात्रा में या सुलभ हों, वहां अधिक प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है तथा जहां सामान्य धान्य भी कम मात्रा में या दुर्लभ हो, वहां कम प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है।**

१८१८, १८१९. द्रव्य की दृष्टि से आहार आदि द्रव्य जिस क्षेत्र में अधिक होते हैं, जैसे सजल देश में शालिधान्य स्वभावतः अधिक होते हैं, वहां वे नित्य सुलभ रहते हैं। शेष काल, भाव को भी ऐसे ही समझना चाहिए।

१८२०. यह जानकर जीतव्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्त दिया जाता है। जहां वनस्पति में केवल वल्ल और कलम शालि आदि होते हैं, वहां प्रायश्चित्त अधिक दिया जाता है।

१८२१. कांजिक आदि रूक्ष आहार कम या दुर्लभ हो तो वहां जीतव्यवहार के अनुसार कम प्रायश्चित्त देना चाहिए।

**६६. क्षेत्र तीन प्रकार के होते हैं—रूक्ष, शीतल और सामान्य।[1] शीत क्षेत्र में अधिक तथा रूक्ष क्षेत्र में हीनतर प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी प्रकार त्रिविध काल में जानना चाहिए।**

१८२२. रूक्ष का अर्थ है—स्नेहरहित, वह क्षेत्र, वात और पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है। शीत क्षेत्र बलप्रद होता है अथवा सजल क्षेत्र शीतल होता है।

---

१. ग्रीष्मकाल रूक्ष, हेमन्तकाल साधारण तथा वर्षाकाल स्निग्ध होता है।[1]

१. जीचू पृ. २१; गिम्हो लुक्खो कालो। साहारणो हेमन्तो। वासारत्तो निद्धो।

१८२३. साधारण क्षेत्र वह होता है, जो न अधिक स्निग्ध हो और न अधिक रूक्ष। इस प्रकार त्रिविध क्षेत्र के प्रायश्चित्त-दान को कहूंगा।

१८२४. जीत व्यवहार से स्निग्ध क्षेत्र (शीतल) में अधिक प्रायश्चित्त भी देना चाहिए। साधारण क्षेत्र में उतनी ही मात्रा में तथा रूक्ष क्षेत्र में हीनतर प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८२५. रूक्ष आदि तीनों प्रकार के क्षेत्र का संक्षेप में वर्णन कर दिया। अब त्रिविध ग्रीष्म आदि काल के बारे में संक्षेपत: कहूंगा।

**६७. नवविध श्रुतव्यवहार के उपदेश से विधि जानकर ग्रीष्म ऋतु में उत्कृष्ट तेला, शिशिर में चोला तथा वर्षाकाल में पंचोला तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।**

१८२६. ग्रीष्म आदि ऋतु में उपवास, शीतकाल आने पर बेला तथा वर्षाकाल में तेले का प्रायश्चित्त देना चाहिए, यह जघन्य तप है।

१८२७. ग्रीष्मकाल में बेला, शीतऋतु में तेला तथा वर्षाकाल में चोले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए, यह मध्यम तप है।

१८२८. ग्रीष्म ऋतु में तेला, सर्दी में चोला तथा वर्षाकाल में पंचोला—यह उत्कृष्ट तप-शोधि है।

१८२९. यथाक्रम से ग्रीष्म आदि ऋतु का तप संक्षेप में वर्णित है। इसको कैसे देना चाहिए, यह पूछने पर आचार्य कहते हैं कि नवविध श्रुतोपदेश से प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८३०. श्रुतव्यवहार से अथवा नवभेद के अनेक विकल्पों को सूक्ष्मता से जानकर त्रिविध काल में प्रायश्चित्त देना चाहिए। नवविध व्यवहार इस प्रकार है—

१८३१. यथालघुस्वक, लघुस्वतर, लघुस्व—यह लघुस्वक पक्ष में तथा यथालघुक, लघुतर तथा लघुक—ये तीन लघुकपक्ष में होते हैं।

१८३२. गुरुक, गुरुकतर तथा यथागुरुक—ये गुरुपक्ष में होते हैं, यह नवविध व्यवहार है, इनमें तप रूप प्रायश्चित्त की प्राप्ति कहूंगा।

१८३३. पांच, दस और पन्द्रह दिन—यह त्रिविध प्रायश्चित्त लघुस्वक पक्ष में तथा बीस, पच्चीस और तीस दिन का प्रायश्चित्त लघुकपक्ष में प्राप्त होता है।

१८३४. गुरुमास, चतुर्मास तथा षण्मास—यह गुरुपक्ष में प्रायश्चित्त प्राप्ति होती है। यह नवविध प्रायश्चित्त-प्राप्ति है, अब मैं नवविध प्रायश्चित्त-दान को कहूंगा।

१८३५. लघुस्वक पक्ष में निर्विगय, पुरिमार्ध, एकासन तथा लघुक पक्ष में आयम्बिल, उपवास और बेला प्राप्त होता है।

१८३६. तेला, चोला और पंचोला—इस त्रिविध तप का दान गुरुपक्ष में होता है। यह नवविध तप की प्राप्ति मैंने संक्षेप में कही है।

१८३७. यह लघुस्वक आदि नवविध व्यवहार कहा गया है। अब मैं ओघ और विभाग से गुरुलघु आदि व्यवहार को कहूंगा।

**१८३८.** (व्यवहार के तीन प्रकार हैं—गुरुक, लघुक और लघुस्वक) गुरुक के तीन प्रकार हैं—गुरुक, गुरुकतर और यथागुरुक। लघुक के तीन प्रकार हैं—लघुक, लघुकतर तथा यथालघुक।

**१८३९.** लघुस्वक के तीन प्रकार हैं—लघुस्वक, लघुस्वतर तथा यथालघुस्व। इन नवविध व्यवहारों का यथाक्रम से प्रायश्चित्त कहूंगा।

**१८४०.** गुरुक व्यवहार मासपरिमाण वाला होता है। गुरुकतर चातुर्मास परिमाण वाला और यथागुरुक छह मास परिमाण वाला होता है। गुरुक पक्ष में यह प्रायश्चित्त की प्रतिपत्ति है।

**१८४१.** लघुक व्यवहार तीस दिन परिमाण, लघुकतर पच्चीस दिन और यथालघुक बीस दिन परिमाण वाला होता है, यह लघुक पक्ष में प्रायश्चित्त की प्रतिपत्ति है। लघुस्वक व्यवहार पन्द्रह दिन, लघुस्वतर दश दिन और यथालघुस्वक पांच दिन प्रायश्चित्त परिमाण वाला होता है। यह लघुस्वक पक्ष में प्रायश्चित्त की प्रतिपत्ति है।

**१८४२.** एक मास परिमाण वाले गुरुक व्यवहार में तेला, चातुर्मास प्रमाण वाले गुरुकतर व्यवहार में चोला तथा छह मास प्रमाण वाले यथागुरुक व्यवहार में पंचोले तप की प्राप्ति होती है। यह गुरुक पक्ष में तप विषयक प्रतिपत्ति है।

**१८४३.** तीस दिन प्रमाण वाले लघुक व्यवहार में बेला, पच्चीस दिन प्रमाण वाले लघुकतर व्यवहार में उपवास तथा बीस दिन प्रमाण वाले यथालघुक व्यवहार में आयम्बिल तप की प्राप्ति होती है। (यह लघुकपक्ष में तप विषयक प्रतिपत्ति है।) पन्द्रह दिन वाले लघुस्वकव्यवहार में एकस्थान[1] (एकलठाणा), दस दिन प्रमाण वाले लघुस्वतरक व्यवहार में पुरिमार्ध तथा पांच दिन प्रमाण वाले यथालघुस्वक व्यवहार में निर्विगय तप की प्राप्ति होती है। अथवा यथालघुस्वक व्यवहार शुद्ध होता है अर्थात् इसमें कोई प्रायश्चित्त की प्राप्ति नहीं भी होती।

**१८४४.** व्यवहार, आरोपण, शोधि और प्रायश्चित्त—ये सब एकार्थक हैं। यथालघुस्वक में प्रायश्चित्त की प्रस्थापना कम होती है।

**१८४५.** ओघ रूप से प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया। अब मैं विभाग—विस्तार से वर्णन करूंगा। गुरुक, लघुक और लघुस्वक—ये तीनों नौ, सत्तावीस और इक्यासी भेद वाले भी होते हैं।

**१८४६, १८४७.** गुरुपक्ष, लघुपक्ष, लघुस्वकपक्ष—ये तीन भेद होते हैं। प्रत्येक के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेद कहूंगा। गुरुपक्ष में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—तीन भेद होते हैं। लघुक और लघुस्वक पक्ष में भी उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेद होते हैं।

**१८४८.** गुरुपक्ष में छहमास और पांच मास उत्कृष्ट, चार मास और तीन मास मध्यम तथा दो मास और गुरुमास जघन्य होता है।

---

१. दिन में ४८ मिनिट में एक आसन में एक बार भोजन करना एकस्थान कहलाता है। इसमें शरीर का संकोच-विकोच और संभाषण विहित नहीं है।

१८४९. लघुमास, भिन्नमास तथा बीस दिन—ये त्रिविध लघुपक्ष में प्राप्त होते हैं। पन्द्रह, दश और पांच दिन—ये लघुस्वक में उत्कृष्ट आदि त्रिविध प्रायश्चित्त होते हैं।

१८५०. नव भेद की तप-प्राप्ति के बारे में संक्षेप में वर्णन किया। अब सत्तावीस प्रकार के तप-दान का वर्णन इस प्रकार है—

१८५१, १८५२. गुरुपक्ष, लघुपक्ष और लघुस्वक पक्ष में प्रत्येक के नौ-नौ भेद होते हैं—उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, उत्कृष्ट-मध्यम तथा उत्कृष्ट-जघन्य, मध्यम-उत्कृष्ट, मध्यम-मध्यम और मध्यम-जघन्य, जघन्य-उत्कृष्ट, जघन्य-मध्यम तथा जघन्य-जघन्य।

१८५३, १८५४. उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, उत्कृष्ट-मध्यम, उत्कृष्ट-जघन्य, मध्यम-उत्कृष्ट, मध्यम-मध्यम और मध्यम-जघन्य, जघन्य-उत्कृष्ट, जघन्य-मध्यम तथा जघन्य-जघन्य-यह नवविध व्यवहार लघुपक्ष में होता है।

१८५५, १८५६. उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, उत्कृष्ट-मध्यम, उत्कृष्ट-जघन्य, मध्यम-उत्कृष्ट, मध्यम-मध्यम तथा मध्यम-जघन्य, जघन्य-उत्कृष्ट, जघन्य-मध्यम और जघन्य-जघन्य-यह नवविध व्यवहार लघुस्वक पक्ष में जानना चाहिए।

१८५७. छह और पांच मास में उत्कृष्ट आदि त्रिविध प्रायश्चित्त-दान इस प्रकार होता है-पंचोला, चोला और तेला। चतुर्मास और तीन मास में चोला, तेला और बेला---ये उत्कृष्ट आदि त्रिविध प्रायश्चित्त हैं।

१८५८. दो मास और गुरुमास में उत्कृष्ट आदि त्रिविध प्रायश्चित्त-दान इस प्रकार हैं—तेला, बेला और उपवास। यह गुरु पक्ष का नवविध व्यवहार है।

१८५९. लघुमास का उत्कृष्ट आदि त्रिविध प्रायश्चित्त-दान चोला, तेला और बेला तथा भिन्नमास में उत्कृष्ट आदि त्रिविध प्रायश्चित्त-दान तेला, बेला और उपवास प्राप्त होता है।

१८६०. बीस दिन में उत्कृष्ट आदि त्रिविध प्रायश्चित्त-दान बेला, उपवास और आयम्बिल है। यह लघुपक्ष का दूसरा नवविध व्यवहार जानना चाहिए।

१८६१. पन्द्रह दिन में उत्कृष्ट आदि त्रिविध प्रायश्चित्त-दान तेला, बेला और उपवास तथा दस दिन में बेला, उपवास और आयम्बिल—ये त्रिविध प्रायश्चित्त-दान हैं।

१८६२. पणग—पांच दिन-रात में उत्कृष्ट आदि प्रायश्चित्त-दान उपवास, आयम्बिल और एकासन प्राप्त होता है। यह तृतीय लघुस्वक पक्ष का नवविध व्यवहार है। यह वर्षाकाल में सत्तावीस प्रकार का व्यवहार है।

१८६३. शिशिरकाल में चोले आदि से लेकर पुरिमार्ध तक चारणिका भेद से अर्ध-अपक्रान्ति से सत्तावीस भेद होते हैं।

१८६४. ग्रीष्मकाल में तेला आदि से लेकर निर्विगय तक चारणिका भेद से अर्ध अपक्रान्ति से सत्तावीस भेद होते हैं।

१८६५. अब मैं वर्षा, शिशिर और ग्रीष्म में उत्कृष्ट-उत्कृष्ट आदि तथा गुरुक, लघुक आदि की चारणिका संक्षेप में कहूंगा।

१८६६. वर्षाकाल में यथागुरुक के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में पंचोला, उत्कृष्ट-मध्यम में चोला तथा उत्कृष्ट-जघन्य में तेले तप की प्राप्ति होती है।

१८६७. शिशिर काल में यथागुरुक के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में चोला, उत्कृष्ट-मध्यम में तेला तथा उत्कृष्ट-जघन्य में बेला तप की प्राप्ति होती है।

१८६८. ग्रीष्मकाल में यथागुरुक के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में तेला, उत्कृष्ट-मध्यम में बेला तथा उत्कृष्ट-जघन्य में उपवास तप की प्राप्ति होती है।

१८६९. वर्षाकाल में गुरुकतर के मध्यम-उत्कृष्ट में चोला, मध्यम-मध्यम में तेला तथा मध्यम-जघन्य में बेले के तप की प्राप्ति होती है।

१८७०. शिशिरकाल में गुरुकतर के मध्यम-उत्कृष्ट में तेला, मध्यम-मध्यम में बेला तथा मध्यम-जघन्य में उपवास तप की प्राप्ति होती है।

१८७१. ग्रीष्मकाल में गुरुक के मध्यम-उत्कृष्ट में बेला, मध्यम-मध्यम में उपवास तथा मध्यम-जघन्य में आयम्बिल तप की प्राप्ति होती है।

१८७२. वर्षाकाल में गुरुक के जघन्य-उत्कृष्ट में तेला, जघन्य-मध्यम में बेला तथा जघन्य-जघन्य में उपवास तप की प्राप्ति होती है।

१८७३. शिशिरकाल में गुरुक के जघन्य-उत्कृष्ट में बेला, जघन्य-मध्यम में उपवास तथा जघन्य-जघन्य में आयम्बिल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१८७४. ग्रीष्मकाल में गुरुक के जघन्य-उत्कृष्ट में उपवास, जघन्य-मध्यम में आयम्बिल तथा जघन्य-जघन्य में एकासन तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८७५. वर्षाकाल में लघुक के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में चोला, उत्कृष्ट-मध्यम में तेला तथा उत्कृष्ट-जघन्य में बेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८७६. शिशिरकाल में लघुक के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में तेला, उत्कृष्ट-मध्यम में बेला तथा उत्कृष्ट-जघन्य में उपवास तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८७७. ग्रीष्मकाल में लघुक पक्ष के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में बेला, उत्कृष्ट-मध्यम में उपवास तथा उत्कृष्ट-जघन्य में आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८७८. वर्षाकाल में लघुकतर के मध्यम-उत्कृष्ट में तेला, मध्यम-मध्यम में बेला तथा मध्यम-जघन्य में उपवास तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८७९. शिशिरकाल में लघुकतर के मध्यम-उत्कृष्ट में बेला, मध्यम-मध्यम में उपवास तथा मध्यम-जघन्य में आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८०. ग्रीष्मकाल में लघुकतर के मध्यम-उत्कृष्ट में उपवास, मध्यम-मध्यम में आयम्बिल तथा मध्यम-जघन्य में एकासन तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८१. वर्षाकाल में यथालघुक के जघन्य-उत्कृष्ट में बेला, जघन्य-मध्यम में उपवास तथा जघन्य-जघन्य में आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८२. शिशिरकाल में यथालघुक के जघन्य-उत्कृष्ट में उपवास, जघन्य-मध्यम में आयम्बिल तथा जघन्य-जघन्य में एकासन तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८३. ग्रीष्मकाल में यथालघुक के जघन्य-उत्कृष्ट में आयम्बिल, जघन्य-मध्यम में एकासन तथा जघन्य-जघन्य में पुरिमार्ध तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८४. वर्षाकाल में लघुस्वक के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में तेला, उत्कृष्ट-मध्यम में बेला तथा उत्कृष्ट-जघन्य में उपवास तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८५. शिशिरकाल में लघुस्वक के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में बेला, उत्कृष्ट-मध्यम में उपवास तथा उत्कृष्ट-जघन्य में आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८६. ग्रीष्मकाल में लघुस्वक के उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में उपवास, उत्कृष्ट-मध्यम में आयम्बिल तथा उत्कृष्ट-जघन्य में एकासन तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८७. वर्षाकाल में लघुस्वतर पक्ष के मध्यम-उत्कृष्ट में बेला, मध्यम-मध्यम में उपवास तथा मध्यम-जघन्य में आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८८. शिशिरकाल में लघुस्वतर पक्ष के मध्यम-उत्कृष्ट में उपवास, मध्यम-मध्यम में आयम्बिल तथा मध्यम-जघन्य में एकासन तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८८९. ग्रीष्मकाल में लघुस्वतर के मध्यम-उत्कृष्ट में आयम्बिल, मध्यम-मध्यम में एकासन तथा मध्यम-जघन्य में पुरिमार्ध तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८९०. वर्षाकाल में यथालघुस्व के जघन्य-उत्कृष्ट में उपवास, जघन्य-मध्यम में आयम्बिल तथा जघन्य-जघन्य में एकासन तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८९१. शिशिरकाल में यथालघुस्व के जघन्य-उत्कृष्ट में आयम्बिल, जघन्य-मध्यम में एकासन तथा जघन्य-जघन्य में पुरिमार्ध तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८९२. ग्रीष्मकाल में यथालघुस्व के जघन्य-उत्कृष्ट में एकासन, जघन्य-मध्यम में पुरिमार्ध तथा जघन्य-जघन्य में निर्विगय तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८९३. इन स्थानों से नियमत: इन प्रायश्चित्तों की प्राप्ति होती है, इन सबका वहन करना चाहिए। असमर्थ साधु का प्रायश्चित्त क्रमश: एक-एक स्थान से हीन होता जाता है।

१८९४. असहु—असमर्थ साधु को एक-एक पद कम करते हुए स्वस्थान में प्रायश्चित्त देना चाहिए, परस्थान में भी इसी प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१८९५. इस प्रकार प्रत्येक स्थान में क्रमशः नीचे की ओर कम करके नियमतः प्रायश्चित्त को निर्विगय तक जानना चाहिए।

१८९६. नवविध व्यवहार की काल के साथ जो प्रायश्चित्त-प्राप्ति की बात विस्तार से कही गई है, उसे बुद्धि से जानना चाहिए।

१८९७. अथवा लघुस्वक आदि त्रिविध को संक्षेप में कहा, अब विस्तार से कहूंगा। यह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार का होता है।

१८९८. लघुस्वक पक्ष में पांच, दस तथा पन्द्रह दिन तप की प्राप्ति होती है। लघुक पक्ष में बीस दिन, भिन्नमास (पच्चीस दिन) तथा लघुमास (तीस दिन) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

१८९९. गुरुपक्ष में गुरुमास, चतुर्मास तथा छह मास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। यह नवविध प्रायश्चित्त की प्राप्ति है, इसका तप रूप प्रायश्चित्त-दान नौ प्रकार का है, वह इस प्रकार कहूंगा।

१९००. लघुस्वक पक्ष में निर्विगय, पुरिमार्ध तथा एकासन प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है तथा लघुकपक्ष में आयम्बिल, उपवास तथा बेले तप की प्राप्ति होती है।

१९०१. गुरुपक्ष में तेला, चोला तथा पंचोले तप की प्राप्ति होती है। यह नवविध प्रायश्चित्त-दान है अथवा इसकी नवविध प्रायश्चित्त की प्राप्ति इस प्रकार है।

१९०२. लघुस्वक पक्ष में लघुगुरु के त्रिविध प्रायश्चित्त होते हैं—पांच दिन, दस दिन तथा पन्द्रह दिन। लघुपक्ष में लघुगुरु के त्रिविध प्रायश्चित्त होते हैं—बीस दिन, भिन्न मास (पच्चीस दिन) तथा एक मास।

१९०३. गुरुकपक्ष में लघुगुरु के त्रिविध प्रायश्चित्त हैं—गुरुमास-दो मास, तीन-चार मास, पांच-छह मास—ये लघुगुरु के नवविध प्रायश्चित्त होते हैं।

१९०४. यह नवविध प्रायश्चित्त-प्राप्ति का संक्षेप में वर्णन किया गया, सत्तावीस प्रकार का तपदान इस प्रकार होता है।

१९०५, १९०६. लघुस्वक पक्ष, लघुक पक्ष और गुरुपक्ष—इन तीनों में प्रत्येक के नौ-नौ भेद होते हैं—१. जघन्य-जघन्य २. जघन्य-मध्यम ३. जघन्य-उत्कृष्ट ४. मध्यम-जघन्य ५. मध्यम-मध्यम ६. मध्यम-उत्कृष्ट ७. उत्कृष्ट-जघन्य ८. उत्कृष्ट-मध्यम और ९. उत्कृष्ट-उत्कृष्ट।

१९०७. लघुस्वक व्यवहार के ये नौ भेद संक्षेप में कहे गए। लघुपक्ष और गुरुपक्ष में भी ये ही भेद जानने चाहिए।

१९०८. वर्षाकाल में यथालघुस्व के जघन्य-जघन्य में एकासन, जघन्य-मध्यम में आयम्बिल तथा जघन्य-उत्कृष्ट में उपवास का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९०९. वर्षाकाल में लघुस्वतर के मध्यम-जघन्य में आयम्बिल, मध्यम-मध्यम में उपवास तथा मध्यम-उत्कृष्ट में बेले का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१०. वर्षाकाल में लघुस्वक के उत्कृष्ट जघन्य में उपवास, उत्कृष्ट मध्यम में बेला तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में तेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९११. वर्षाकाल में यथालघुक के जघन्य-जघन्य में आयम्बिल, जघन्य-मध्यम में उपवास तथा जघन्य-उत्कृष्ट में बेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१२. वर्षाकाल में लघुकतर के मध्यम-जघन्य में उपवास, मध्यम-मध्यम में बेला तथा मध्यम-उत्कृष्ट में तेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१३. वर्षाकाल में लघुक के उत्कृष्ट-जघन्य में बेला, उत्कृष्ट-मध्यम में तेला तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में चोले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१४. वर्षाकाल में गुरुपक्ष के जघन्य-जघन्य में उपवास, जघन्य-मध्यम में बेला तथा जघन्य-उत्कृष्ट में तेले का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१५. वर्षाकाल में गुरुकतर के मध्यम-जघन्य में बेला, मध्यम-मध्यम में तेला तथा मध्यम-उत्कृष्ट में चोले का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१६. वर्षाकाल में यथागुरुक के उत्कृष्ट-जघन्य में तेला, उत्कृष्ट-मध्यम में चोला तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में पंचोले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१७. शिशिरकाल में यथालघुस्वक के जघन्य-जघन्य में पुरिमार्ध, जघन्य-मध्यम में एकासन तथा जघन्य-उत्कृष्ट में आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१८. शिशिरकाल में लघुस्वतर के मध्यम-जघन्य में एकासन, मध्यम-मध्यम में आयम्बिल तथा मध्यम-उत्कृष्ट में उपवास तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९१९. शिशिरकाल में लघुस्वक के उत्कृष्ट-जघन्य में आयम्बिल, उत्कृष्ट-मध्यम में उपवास तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में बेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२०. शिशिरकाल में यथालघुस्व के जघन्य-जघन्य में एकासन, जघन्य-मध्यम में आयम्बिल तथा जघन्य-उत्कृष्ट में उपवास तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२१. शिशिरकाल में लघुस्वतर के मध्यम-जघन्य में आयम्बिल, मध्यम-मध्यम में उपवास तथा मध्यम-उत्कृष्ट में बेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२२. शिशिरकाल में लघुक के उत्कृष्ट-जघन्य में उपवास, उत्कृष्ट-मध्यम में बेला तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में तेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२३. शिशिरकाल में गुरुक के जघन्य-जघन्य में आयम्बिल, जघन्य-मध्यम में उपवास तथा जघन्य-उत्कृष्ट में बेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२४. शिशिरकाल में गुरुकतर के मध्यम-जघन्य में उपवास, मध्यम-मध्यम में बेला तथा मध्यम-उत्कृष्ट में तेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२५. शिशिरकाल में यथागुरुक के उत्कृष्ट-जघन्य में बेला, उत्कृष्ट-मध्यम में तेला तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में चोले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२६. ग्रीष्मकाल में यथालघुस्वक के जघन्य-जघन्य में निर्विगय, जघन्य-मध्यम में पुरिमार्ध तथा जघन्य-उत्कृष्ट में एकासन तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२७. ग्रीष्मकाल में लघुस्वतर के मध्यम-जघन्य में पुरिमार्ध, मध्यम-मध्यम में एकासन तथा मध्यम-उत्कृष्ट में आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२८. ग्रीष्मकाल में लघुस्वक के उत्कृष्ट-जघन्य में एकासन, उत्कृष्ट-मध्यम में आयम्बिल तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में उपवास तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९२९. ग्रीष्मकाल में यथालघुक के जघन्य-जघन्य में पुरिमार्ध, जघन्य-मध्यम में एकासन तथा जघन्य-उत्कृष्ट में आयम्बिल तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९३०. ग्रीष्मकाल में लघुकतर के मध्यम-जघन्य में एकासन, मध्यम-मध्यम में आयम्बिल तथा मध्यम-उत्कृष्ट में उपवास तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९३१. ग्रीष्मकाल में लघुक के उत्कृष्ट-जघन्य में आयम्बिल, उत्कृष्ट-मध्यम में उपवास तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में बेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९३२. ग्रीष्मकाल में गुरुक के जघन्य-जघन्य में एकासन, जघन्य-मध्यम में आयम्बिल तथा जघन्य-उत्कृष्ट में उपवास तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९३३. ग्रीष्मकाल में गुरुकतर के मध्यम-जघन्य में आयम्बिल, मध्यम-मध्यम में उपवास तथा मध्यम-उत्कृष्ट में बेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९३४. ग्रीष्मकाल में यथागुरुक के उत्कृष्ट-जघन्य में उपवास, उत्कृष्ट-मध्यम में बेला तथा उत्कृष्ट-उत्कृष्ट में तेले के तप का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९३५. यह नवविध व्यवहार की काल के साथ प्रायश्चित्त-प्राप्ति और उसके दान का विस्तृत वर्णन किया गया है, उसे बुद्धि से जानना चाहिए।

**६८. भाव में हृष्ट और ग्लान के सम्बन्ध में हृष्ट को प्रायश्चित्त देना चाहिए, ग्लान को नहीं देना चाहिए अथवा ग्लान को उतना ही प्रायश्चित्त देना चाहिए, जितना वह काल के आधार पर सहन कर सके।**

१९३६. भाव के आधार पर हृष्ट, बलवान् और स्वस्थ को अधिक प्रायश्चित्त देना चाहिए। ग्लान को कुछ कम देना चाहिए, जिससे वह काल के आधार पर उसको सहन कर सके।

१९३७. लेश्या के भेद से शुभ और अशुभ भाव तीन-तीन प्रकार के होते हैं—तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम तथा मंद, मंदतर और मंदतम।

१९३८. पणग (निर्विगय) प्रायश्चित्त जितना अतिचार सेवन करने पर भी कोई साधु चरम—पाराञ्चित जितना प्रायश्चित्त प्राप्त करते हैं तथा कुछ साधु चरम—पाराञ्चित प्रायश्चित्त की प्राप्ति जितना अतिचार सेवन करने पर भी पणग (निर्विगय) प्रायश्चित्त को प्राप्त करते हैं, यह भाव निष्पन्न प्रायश्चित्त-प्राप्ति है।

१९३९. पुरुष के आधार पर कम, अधिक या उतनी ही मात्रा में प्रायश्चित्त देना चाहिए। वे पुरुष आदि संक्षेप में इस प्रकार जानने चाहिए।

**६९. पुरुष अनेक प्रकार के होते हैं—गीतार्थ-अगीतार्थ, समर्थ-असमर्थ, मायावी-ऋजु, परिणामक[1], अपरिणामक[2] तथा अतिपरिणामक[3]—इनकी आम्र आदि वस्तु से परीक्षा होती है।**

१९४०. कुछ पुरुष गीतार्थ तथा कुछ अगीतार्थ[4] होते हैं। धृति और संहनन के आधार पर कुछ समर्थ तथा इनके न रहने पर कुछ असमर्थ जानने चाहिए।

१९४१. मायावी शठ तथा ऋजुप्राज्ञ साधु अशठ होते हैं। परिणामक आदि शिष्यों के बारे में मैं अब संक्षेप में कहूंगा।

१९४२. परिणामक, अपरिणामक और अतिपरिणामक—ये तीन प्रकार के शिष्य होते हैं। अंतिम दो में आम्र आदि का दृष्टान्त है, उसका विस्तार इस प्रकार है—

१९४३. जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जिनेश्वर द्वारा कथित उपदेश को उसी रूप में श्रद्धा करता है, उस साधु को परिणामक[5] जानना चाहिए।

१९४४. जो जिसके लिए कल्प्य या अकल्प्य होता है, उस सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य को यथार्थ रूप में जानता है, वह परिणामक शिष्य कहलाता है।

१९४५, १९४६. क्षेत्र की दृष्टि से मार्ग में जो यतना रखनी है, उसको उसी रूप में श्रद्धा करता है, काल की दृष्टि से सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि में जो जिस रूप में कल्पनीय है, भाव से आगाढ़ स्थिति में स्वस्थ और ग्लान के लिए जो जिस रूप में करणीय है, उसको उसी रूप में श्रद्धा करके कार्य करने वाला परिणामक साधु कहलाता है।

---

१. गुरु के द्वारा जैसा निर्देश दिया जाता है, उसी रूप में श्रद्धा करने वाला तथा आचरण करने वाला परिणामक शिष्य होता है।[1]

१. जीचू पृ. २३; जहा भणियं सद्दहंता आयरंता य परिणामगा भण्णंति।

२. जो उत्सर्ग में ही श्रद्धा करता है, अपवाद में श्रद्धा नहीं करता और न ही उसका आचरण करता है, वह अपरिणामक शिष्य होता है।[1]

१. जीचू पृ. २३; अपरिणामगा पुण जे उस्सग्गमेव सद्दहंति आयरन्ति य, अववायं पुण न सद्दहंति नायरंति य।

३. जो अपवाद का ही आचरण करता है, उसी में आसक्त रहता है, उत्सर्ग में श्रद्धा नहीं करता, वह अतिपरिणामक शिष्य होता है।[1]

१. जीचू पृ. २३; अइपरिणामगा जे अववायमेवायरंति तम्मि चेव सज्जंति, न उस्सग्गे।

४. निशीथ को नहीं पढ़ने वाला अगीतार्थ होता है।[1]

१. जीचूवि पृ. ५३; अणहीयनिसीहो अग्गीयत्थो।

५. परिणामक शिष्य दो प्रकार के होते हैं—१. आज्ञा परिणामक—जो जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्रज्ञप्त तत्त्व पर असंदिग्ध भाव से श्रद्धा रखता है, वह आज्ञापरिणामक है। २. दृष्टान्त परिणामक—जो हेतुगम्य परोक्ष पदार्थ को प्रत्यक्ष दृष्टान्त से बुद्धि में आरोपित करता है, उस पर श्रद्धा करता है, वह दृष्टान्त परिणामक है।

१९४७. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को उसी रूप में श्रद्धा नहीं करने वाले साधु को अपरिणामक जानना चाहिए।

१९४८. जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जिनाख्यात तत्त्व के कुछ अंश को उत्सूत्र रूप में प्ररूपित करता है, उसे अतिपरिणामक साधु जानना चाहिए।

१९४९. परिणामक की मति कार्य में यथार्थ रूप से परिणमित होती है, अपरिणामक की मति उस रूप में परिणत नहीं होती लेकिन अतिपरिणामक की बुद्धि अधिक रूप में परिणत होती है।

१९५०. परिणामक शिष्य की बुद्धि उत्सर्ग और अपवाद—इन दोनों में परिणत होती है, अपरिणामक की उत्सर्ग में परिणत होती है लेकिन तीसरे अतिपरिणामक की बुद्धि अतिअपवाद में ही परिणत होती है।

१९५१. आम आदि के दृष्टान्त से शिष्य की परीक्षा करनी चाहिए, जैसे कोई गुरु शिष्य से कहे कि आम लेकर आओ।[१]

१९५२. परिणामक शिष्य कहता है कि मैं सचित्त लाऊं अथवा अचित्त? लवण आदि से भावित लाऊं या अभावित? कितने प्रमाण वाले अर्थात् छोटे या बड़े लेकर आऊं? गुठली वाले लेकर आऊं या गुठली रहित, टुकड़े किए हुए लेकर आऊं अथवा बिना टुकड़े किए हुए?

१९५३, १९५४. यह सुनकर गुरु कहते हैं कि मैंने आम्र प्राप्त कर लिए, यदि अपेक्षा होगी तो पुनः कहूंगा। जो अपरिणामक होता है, वह आम लाने के लिए कहने पर इस प्रकार बोलता है—"क्या आप पित्त-प्रकोप के कारण प्रलाप कर रहे हैं? दुबारा ऐसी बात मत कहना। कोई दूसरा इसको न सुन ले, मैं भी यह सावद्य वचन सुनना नहीं चाहता।"

१९५५. अतिपरिणामक शिष्य कहता है कि अहो! आम का काल व्यतीत हो रहा है, आपने इतनी देर से क्यों कहा? हमारी भी आम खाने की इच्छा है पर यह बात कहने में हम समर्थ नहीं हैं।

१९५६. वह अतिपरिणामक शिष्य आमों का भार लेकर आया और बोला—"अन्य फल और लेकर आऊं क्या?" तब गुरु ने अपरिणामक और अतिपरिणामक शिष्य को उपालम्भ देते हुए कहा—

१९५७. तुम लोग मेरे कथन के अभिप्राय को नहीं समझे। मेरे वचन को पूरा सुने बिना तुम ऐसा वचन कह रहे हो। मेरे कथन का अभिप्राय था कि शुक्लाम्ल लवण से भावित, छिन्न-भिन्न किए हुए, दोच्चंग—भोजन का द्वितीय अंग अर्थात् शाक रूप में पकाए गए आम लाने हैं।

१९५८. इसी प्रकार वृक्ष के प्रसंग में भी अपरिणत शिष्य को आचार्य कहते हैं कि मैंने निष्पाव-वल्ल-धान्य आदि वृक्ष के लिए कहा, न कि हरित वृक्ष के लिए।

१९५९. इसी प्रकार अतिपरिणामक शिष्य द्वारा सचित्त बीजों को लाने पर गुरु कहते हैं कि मैंने इमली के विध्वस्त-योनिक बीजों को लाने के लिए कहा था, न कि उगने में समर्थ बीजों को लाने के लिए।

**७०. धृति और संहनन से युक्त तथा इन दोनों से हीन पुरुष के आधार पर चतुर्भंगी होती है। पंचविध**

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५४।

**पुरुष होते हैं—आत्मतरक, परतरक, उभयतरक, नोभयतरक तथा अन्यतरक।**

१९६०. पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

- धृति से दुर्बल, देह से बलिष्ठ।
- धृति और देह—दोनों से बली।
- धृति से बली, देह से दुर्बल।
- धृति और देह—दोनों से दुर्बल।

१९६१. धृति और देह से बलशाली को पूरा प्रायश्चित्त, धृति से हीन तथा शरीर से बलिष्ठ को लघुक तथा उभय से हीन को भी लघुक प्रायश्चित्त देना चाहिए।

१९६२, १९६३. कुछ आचार्य पुरुषों के आत्मतरक आदि पांच विकल्प बताते हैं। प्रथम आत्मतरक, दूसरा परतरक[1], तीसरा उभयतरक[2] तथा चौथे और पांचवें को क्रमशः नोभयतरक तथा अन्यतरक जानना चाहिए।[3]

१९६४. शिष्य प्रश्न पूछता है कि आत्मतरक और परतरक में क्या अन्तर है? आचार्य कहते हैं कि आत्मतरक[4] को उपवास आदि जो भी प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह उसे वहन कर लेता है।

१९६५. जो वैयावृत्त्य करके गच्छ का उपग्रह—उपकार करने में संलग्न रहता है, वह परतरक कहलाता है। इस प्रकार आत्मतरक और परतरक की चतुर्भंगी जाननी चाहिए।[5]

१९६६. जो वैयावृत्त्य करने में समर्थ होता है, दो की वैयावृत्त्य करने में समर्थ नहीं होता, उसे पांचवां अन्यतरक पुरुष जानना चाहिए।

**७१. कल्पस्थित आदि चतुर्विध पुरुष, इसके प्रतिपक्ष अकल्पस्थित[6] आदि चतुर्विध पुरुष, सापेक्ष और निरपेक्ष आदि—इन सब पुरुषों की ( कल्पस्थिति का वर्णन करूंगा )।**

१९६७. पुरुष चार प्रकार के होते हैं—१. कल्पस्थित २. परिणत ३. कृतयोगी ४. तरमाणक।[7] इसके प्रतिपक्ष में भी चार प्रकार के पुरुष होते हैं—१. अकल्पस्थित २. अपरिणत ३. अकृतयोगी ४. अतरमाणक।

---

१, २. परतरक पुरुष को बहुक प्रायश्चित्त स्थान में भी अल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है क्योंकि वैयावृत्त्य में संलग्न रहने के कारण वह तपोयोग का वहन नहीं कर सकता।[1] उभयतरक को यदि इंद्रियों के अतिक्रमण आदि से पुनः प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तो पंचमास पर्यन्त प्रायश्चित्त भी भिन्नमास में समाविष्ट हो जाता है।[2]

**१. व्यभा ५०१**

**२. व्यभा ४८३**

३. व्यवहारभाष्य में नोभयतरक भेद न होकर पुरुषों के चार प्रकार ही प्रज्ञप्त हैं।[1]

**१. व्यभा ४७९**

४. आत्मतरक वैयावृत्त्य करने में समर्थ होने पर भी तप ही करता है, वैयावृत्त्य नहीं करता। परतरक तपस्या करने में समर्थ होने पर भी वैयावृत्त्य ही करता है, तप नहीं।

५. • आत्मतरक है, परतरक नहीं • परतरक है, आत्मतरक नहीं
• आत्मतरक भी, परतरक भी • न आत्मतरक, न परतरक।

६. मध्यवर्ती २२ तीर्थंकरों के साधु तथा महाविदेह के साधु अकल्पस्थित होते हैं।

७. जो धृति और संहनन सम्पन्न होते हैं, वे तरमाणक पुरुष कहलाते हैं।[1]

**१. निभा ७८ चू पृ. ३८; संघयणे संपण्णा, धितिसंपण्णा य होंति तरमाणा।**

१९६८. प्रतिष्ठा, स्थापना, स्थान, व्यवस्था, संस्थिति, स्थिति, अवस्थान, अवस्था, चिट्ठणा—ये सब एकार्थक हैं।

१९६९. कल्पस्थिति[1] के छह प्रकार हैं—१. सामायिक २. छेदोपस्थापनीय ३. निर्विशमान ४. निर्विष्टकाय ५. जिनकल्प ६. स्थविरकल्प।

१९७०. स्थिति, मर्यादा, न्यास और कल्प—ये एकार्थक हैं। शिष्य प्रश्न पूछता है कि यह कितने प्रकार का होता है। गुरु उत्तर देते हैं कि वह दस प्रकार का होता है, उसे मैं संक्षेप में कहूंगा।

१९७१. स्थितकल्प के दस प्रकार हैं—

| | |
|---|---|
| १. आचेलक्य | ६. व्रत |
| २. औद्देशिक | ७. पुरुषज्येष्ठ धर्म |
| ३. शय्यातरपिण्ड | ८. प्रतिक्रमण |
| ४. राजपिंड | ९. मासकल्प |
| ५. कृतिकर्म | १०. पर्युषणाकल्प। |

१९७२. सामायिक कल्प की संस्थिति नियमतः कितने स्थानों से स्थित अथवा अस्थित है? छेदोपस्थापनीय कल्प कितने स्थानों में स्थित है?[2]

१९७३. वह सामायिक संयत चार स्थानों से स्थित, छह स्थानों से अस्थित तथा छेदोपस्थापनीय संयत दश स्थानों से नियमतः स्थित होते हैं।

१९७४. ये चार अवस्थित कल्प हैं—शय्यातरपिण्ड २. कृतिकर्म ३. चातुर्याम धर्म ४. पुरुषज्येष्ठ।

१९७५. ये छह अनवस्थित कल्प हैं—१. आचेलक्य २. औद्देशिक ३. राजपिंड ४. सप्रतिक्रमणधर्म ५. मासकल्प ६. पर्युषणाकल्प।[3]

---

१. मुनि की आचार-मर्यादा, प्रथम, चरम और मध्यम तीर्थंकरों के शासन में होने वाला आचार-व्यवस्था का भेद।

२. प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधु दश कल्प में स्थित होते हैं। मध्यम बावीस तीर्थंकरों के साधु तथा महाविदेह क्षेत्र के साधु शय्यातरपिण्ड, चातुर्याम, पुरुषज्येष्ठ और कृतिकर्म—इन चार में स्थित कल्प वाले होते हैं तथा शेष आचेलक्य आदि छह कल्पों में अस्थित होते हैं। दश कल्पों में कुछ स्थानों का सभी पालन करते हैं अतः अनियत होने के कारण मध्यम बावीस तीर्थंकरों के साधु एवं महाविदेह के साधु अस्थितकल्प वाले होते हैं।

३. **अचेल**—वस्त्र सम्बन्धी राग-द्वेष होने पर वे अचेल रहते हैं अन्यथा सचेल रहते हैं। वे महामूल्यवान् और प्रमाण से अधिक वस्त्र भी रखते हैं। **औद्देशिक**—साधु के उद्देश्य से बनाया गया आधाकर्मिक भोजन दूसरे साधु के लिए कल्प्य हो जाता है। जिसके उद्देश्य से बनाया गया, उसके लिए कल्प्य नहीं होता। **प्रतिक्रमण**—वे अतिचार लगने पर प्रतिक्रमण करते हैं, अन्यथा नहीं करते। **राजपिण्ड**—दोष की संभावना होने पर वे राजपिण्ड का परिहार करते हैं, अन्यथा नहीं करते। **मासकल्प**—दोष की संभावना न हो तो वे एक स्थान पर पूर्व कोटि वर्ष तक रह सकते हैं, दोष की संभावना में मासकल्प पूर्ण हो या नहीं, विहार कर देते हैं। **पर्युषणाकल्प**—वर्षा के समय दोष संभावना की स्थिति में एक क्षेत्र में रहते हैं। दोष की संभावना न होने पर वर्षारात्र में भी विहार कर सकते हैं।

१९७६. पूर्व और पश्चिम अर्थात् प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन-काल में छेदोपस्थापनीय साधुओं के आचेलक्य आदि जो दश कल्प होते हैं, उनकी प्ररूपणा इस प्रकार है—

१९७७. अचेलक दो प्रकार के होते हैं—सदचेल तथा असदचेल। तीर्थंकर असदचेल तथा शेष सभी साधु सदचेल होते हैं।

१९७८. वस्त्र होने पर भी साधु अचेल कैसे होते हैं? आचार्य कहते हैं कि जिन कारणों से साधु अचेल होता है, उसे तुम सुनो।

१९७९. नदी को पार करते समय शिर पर कपड़ा बांधा जाता है लेकिन वस्त्र होने पर भी लोग उसको नग्न कहते हैं। परिजीर्ण वस्त्र वाली स्त्री जुलाहे से कहती है कि हे तंतुवाय! तुम शीघ्रता करके शाटिका दो, मैं निर्वस्त्र हूं।

१९८०. जीर्ण और खंडित वस्त्रों के कारण तथा शरीर को पूर्ण रूप से प्रावृत न कर सकने के कारण वस्त्रों के होते हुए भी निर्ग्रन्थ अचेलक होते हैं।

१९८१. आचार्य कहते हैं कि यदि तुम यह सोचते हो कि दरिद्र पथिक भी अचेल होने चाहिए, इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि दरिद्र पथिक आदि अभाव के कारण जीर्ण वस्त्र धारण करते हैं, न कि धर्मश्रद्धा से अतः वे अचेलक नहीं होते।

१९८२. वस्त्र प्राप्त होने पर भी साधु अल्प मूल्य वाले और खंडित वस्त्रों को धर्मबुद्धि से धारण करते हैं अतः वे सदचेल हैं।

१९८३. प्रथम और अंतिम जिनेश्वर के तीर्थ में आचेलक्य धर्म होता है। मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थ में सचेल और अचेल—दोनों प्रकार के धर्म होते हैं।

१९८४. बीच के बावीस तीर्थंकरों के श्रमण अचेल[1] रहने अथवा वस्त्र धारण करने पर भी भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के श्रमण स्वल्प मूल्य वाले तथा भिन्न—खंडित वस्त्रों को धारण करते हैं। उनके लिए इन कारणों का अपवाद है—

१९८५. बिना कारण स्वस्थ व्यक्ति को लिंगभेद करना कल्पनीय नहीं है। शिष्य पूछता है कि निरुपहत क्या है? आचार्य कहते हैं कि यथाजात लिंग निरुपहत कहलाता है।

१९८६. जन्म दो प्रकार का होता है—प्रथम माता की कुक्षि से तथा दूसरा प्रव्रज्या ग्रहण करने पर। चतुर्विध संसार से मुक्ति हेतु प्रव्रज्या ग्रहण की जाती है।

---

१. उत्तराध्ययन में प्रतिरूपता (अचेलता) से होने वाले लाभों का वर्णन मिलता है। अचेलता से जीवन हल्केपन को प्राप्त करता है, उपकरणों से हल्का बना जीव अप्रमत्त, प्रकट लिंग वाला (व्यक्त लिंगधारी), प्रशस्त लिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वसनीय, अल्प प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल, तप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है।[1]

१. उ २९/४३।

१९८७, १९८८. निष्कारण लिंग-भेद के प्रकार एवं प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं—कंधे पर प्रावरण रखने एवं शीर्षद्वारिका[1] करने पर लघुमास, संयती प्रावरण करने पर चतुर्लघु, गरुड़ पक्षी की भांति प्रावरण करने पर, अर्धांश करने पर तथा कटिपट्ट बांधने पर—इन तीनों में चतुर्गुरु प्रायश्चित्त जानना चाहिए। गृहस्थलिंग या परलिंग करने पर मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

१९८९. कारण उपस्थित होने पर इन कारणों से साधु लिंग-भेद कर सकता है—ग्लानत्व, रोग, लोच, शरीर-वैयावृत्त्य[2] आदि।

१९९०. अथवा इन कारणों से लिंग-भेद किया जा सकता है—क्षेत्रकल्प—देश विशेष के आचार के अनुसार अभिन्न वस्त्र धारण करना। वर्षावास में, अभावित अवस्था में, असहिष्णु अवस्था में, प्रातःकाल, मार्ग में, सागारिक प्रतिबद्ध उपाश्रय में तथा स्तेन की आशंका से बहुमूल्य उपधि को कंधे पर रखकर पुनः शरीर को प्रावृत कर रास्ते को पार किया जा सकता है।

१९९१. अशिव में, दुर्भिक्ष में, राजप्रद्वेष होने पर, वादि के प्रद्विष्ट होने पर, आगाढ़ कारण होने पर—इन सब में अन्यलिंग करके कालक्षेप या गमन कर देना चाहिए।

१९९२. साधु-साध्वियों के लिए ओघतः या विभागतः कुल, संघ या गण का संकल्प करके जो भक्तपान तैयार किया जाता है, वह स्थितकल्प साधु-साध्वियों के लिए कल्प्य नहीं होता, अस्थितकल्प में जिसके उद्देश्य से कृत होता है, उसको नहीं कल्पता, दूसरों को कल्पता है।

१९९३. आचार्य, अभिषेक[3]—उपाध्याय तथा भिक्षु के ग्लान होने पर आधाकर्म की भजना है। अटवी में प्रवेश करने पर यदि तीन बार अन्वेषण करने पर भी शुद्ध आहार न मिले तो चौथे परिवर्त में आधाकर्म आहार ग्रहण करने की भजना है।

१९९४. शय्यातरपिण्ड तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिषिद्ध है। शय्यातरपिण्ड ग्रहण करने से आज्ञाभंग, अज्ञातोञ्छ का सेवन तथा उद्गम दोषों की शुद्धि नहीं होती। गृद्धि का अभाव नहीं होता, लाघवता नहीं होती, (भविष्य में) शय्या की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है अथवा उसका सर्वथा विच्छेद हो जाता है।

१९९५. प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों को छोड़कर मध्यम बावीस तीर्थंकरों तथा विदेहज तीर्थंकरों ने आधाकर्म ग्रहण की लेश मात्र आज्ञा दी है लेकिन सागारिक या शय्यातरपिण्ड की आज्ञा नहीं दी।

१९९६. आगाढ़ या अनागाढ़ द्विविध ग्लानत्व की स्थिति में शय्यातरपिण्ड ग्रहण किया जा सकता है। शय्यातर द्वारा निमंत्रण देने पर, द्रव्य की दुर्लभता होने पर, अशिव, दुर्भिक्ष, राजप्रद्वेष तथा तस्कर आदि के भय में शय्यातरपिण्ड अनुज्ञात है।

---

१. कल्प से शिर को आच्छादित करना शीर्षद्वारिका है।

२. बृभाटी पृ. १६८२।

३. जो सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का ज्ञाता है, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने योग्य है, वह अभिषेक कहलाता है।[1]

१. बृभा ४३३६ टी पृ. ११७४ ; अभिषेकः सूत्रार्थतदुभयोपेत आचार्यपदस्थापनार्हः।

१९९७. अपने क्षेत्र की चारों दिशाओं में एक योजन तक तीन बार गवेषणा करने पर भी यदि दुर्लभ द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती तो कृतयोगी मुनि सागारिकपिण्ड का सेवन कर सकता है।

१९९८. किस राजा के राजपिण्ड का परिहार किया जाए? राजपिण्ड के कितने भेद हैं? उसके ग्रहण में दोष क्या हैं? किस स्थिति में राजपिंड ग्रहण कल्पनीय है? उसके ग्रहण में यतना कैसी होनी चाहिए? (इन द्वारों की मीमांसा करनी चाहिए।)

१९९९. दो प्रकार के राजा होते हैं—१. मुदित २. मूर्धाभिषिक्त। जो योनि शुद्ध (जिसके माता-पिता राजवंशीय हों) होता है, वह मुदित तथा जो दूसरों के द्वारा राजा के रूप में अभिषिक्त होता है अथवा स्वयं राजा भरत की भांति अभिषिक्त होता है, वह मूर्धाभिषिक्त कहलाता है।

२०००. मुदित और अभिषिक्त की चतुर्भंगी[1] के प्रथम भंग में राजपिण्ड वर्ज्य है, चाहे उसे ग्रहण करने में दोष हो अथवा न हो। शेष तीन भंगों में वह राजपिण्ड नहीं होता। जिन भंगों में दोष हों, उनका वर्जन करना चाहिए।

२००१. राजपिण्ड आठ प्रकार का होता है—१. अशन २. पान ३. खाद्य ४. स्वाद्य ५. वस्त्र ६. पात्र ७. कम्बल ८. पादप्रोञ्छन।

२००२. अष्टविध राजपिण्ड में से यदि साधु किसी भी प्रकार का राजपिण्ड ग्रहण करता है तो वह आज्ञाभंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना को प्राप्त होता है।

२००३. ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, श्रेष्ठी और सार्थवाह—इनके निर्गमन तथा प्रवेश करते समय भिक्षार्थ गए साधु के व्याघात होता है।

२००४. भोजिक—ग्रामस्वामी आदि ईश्वर[2] कहलाता है। राजा द्वारा प्रदत्त स्वर्णपट्ट से अंकित सिर वाला तलवर[3], वेष्टनक (श्रीदेवता से अध्यासित) बद्ध श्रेष्ठी[4] तथा प्रत्यन्त नृप माडम्बिक[5] कहलाता है।

---

१. मुदित और मूर्धाभिषिक्त की चतुर्भंगी इस प्रकार है—१. मुदित है, मूर्धाभिषिक्त भी है। २. मुदित है, मूर्धाभिषिक्त नहीं। ३. मुदित नहीं, मूर्धाभिषिक्त है। ४. न मुदित, न मूर्धाभिषिक्त।

२. भाष्यकार ने ग्रामवासी को ईश्वर कहा है। आचार्य अभयदेवसूरि ने ईश्वर के अनेक अर्थ किए हैं—युवराज, मांडलिक—चार हजार राजाओं का अधिपति, अमात्य अथवा अणिमा आदि आठ लब्धियों से युक्त।

१. स्थाटी प. ४३९; ईश्वरो—युवराजो माण्डलिकोऽमात्यो वा, अन्ये च व्याचक्षते—अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इति।

३. राजा के समान ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति, केवल जिसके पास चामर नहीं होता, वह तलवर कहलाता है।

१. निभा २५०२ चू पृ. ४५०; रायप्रतिमो चामरविरहितो तलवरो भण्णति।

४. राजा द्वारा जिसे श्रीदेवी के चिह्न से अंकित शिरोवेष्टनक की अनुज्ञा प्राप्त हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है।

१. निभा २५०२ चू पृ. ४५०; जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति तं वेंटणगं, तं जस्स रण्णा अणुण्णातं, सो सेट्ठी भण्णति।

५. जो सब दिशाओं से छिन्न हो, जिसके आसपास ढ़ाई गव्यूत अथवा ढ़ाई योजन तक कोई ग्राम आदि न हो, वह स्थान मडम्ब कहलाता है, उसका अधिपति माडम्बिक होता है।

१. निभा २५०३ चू पृ. ४५०; जो छिण्णमडंबं भुंजति सो माडंबिओ, पच्चंतविसयणिवासी राया माडंबिओ, जो सरज्जे पररज्जे य पच्चभिण्णातो।

**२००५.** जब तक ईश्वर आदि निर्गमन या प्रवेश करते हैं, तब तक भिक्षार्थ गया हुआ मुनि प्रतीक्षा में खड़ा रहता है। इससे सूत्रार्थ एवं भिक्षा की हानि होती है। अश्व आदि के संघट्टन-भय से ईर्या का शोधन नहीं होता। प्रवेश या निर्गम के समय साधु को अमंगल मानकर कोई हाथी, घोड़े आदि का हनन कर सकता है अन्यथा लोगों की भीड़ से साधु के संघट्टन हो सकता है।

**२००६.** राजकुल में प्रविष्ट होकर मुनि लोभवश एषणा का घात कर सकता है। राजपुरुषों को यह आशंका हो सकती है कि यह कोई स्तेन है। नपुंसक अथवा स्त्रियां साधु को उपसर्ग दे सकती हैं। चाहते हुए या न चाहते हुए भी संयमविराधना आदि दोष हो सकते हैं। वहां जाने पर साधु को चतुर्गुरुमास का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

**२००७.** ऐसा उत्कृष्ट द्रव्य अन्यत्र मिलना दुर्लभ है, यह सोचकर राजभवन में गया हुआ मुनि अनेषणीय भी ग्रहण कर लेता है। राजभवन में अन्य के चोरी करने पर भी 'यह साधु चोर है' ऐसी आशंका हो सकती है।

**२००८.** यह मुनि गुप्तचर अथवा चोर है, ऐसी शंका होने पर मूल, निःशंकित अवस्था में अनवस्थाप्य, पारदारिक अथवा अभिमर[1] आदि की शंका होने पर नौवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त तथा निःशंकित होने पर दसवां पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

**२००९.** राजभवन से बाहर विचरण नहीं होता इसलिए स्त्री और नपुंसक साधु को बलपूर्वक भी पकड़ सकते हैं।[2] इससे राजा रुष्ट होकर आचार्य, कुल, गण और संघ का विनाश भी कर सकता है।

**२०१०.** राजभवन में जाने पर अन्य दोष भी होते हैं। वहां रत्न आदि बिखरे रहते हैं अतः गौल्मिक—स्थानपाल आदि पकड़कर परितापना दे सकते हैं। साधु की निश्रा में चोर भी प्रवेश कर सकते हैं। राजभवन में दुष्ट तिर्यञ्च अथवा मनुष्य साधु को कष्ट दे सकते हैं।

**२०११.** राजभवन में आकीर्ण रत्न आदि को स्वयं साधु तथा उसकी निश्रा में आने वाला व्यक्ति भी ग्रहण कर सकता है। गौल्मिक उसे पकड़कर आहनन कर सकता है। राजा को निवेदन करने पर प्रायश्चित्त की प्राप्ति हो सकती है।

**२०१२.** साधु की निश्रा में गुप्तचर, चोर, अभिमर और कामी आदि राजभवन में प्रवेश कर सकते हैं। हाथी, तरक्ष, बाघ, म्लेच्छ आदि साधु का घात कर सकते हैं।

---

१. धनादि के लोभ में दूसरों का घात करने वाला।

२. यह गाथा बृभा (६३९२) में भी प्राप्त है। वहां गाथा के पूर्वार्ध को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं कि स्त्री या नपुंसक भोगासक्ति से साधु को पकड़ ले, उस समय यदि साधु प्रतिसेवना करता है तो चारित्र की विराधना होती है, यदि प्रतिसेवना नहीं करता तो लोकापवाद होता है।[1]

१. बृभाटी पृ. १६८६।

२०१३. आगाढ़ एवं अनागाढ़ द्विविध ग्लानत्व में राजपिण्ड ग्रहण किया जा सकता है। राजा द्वारा आग्रहपूर्वक निमंत्रण देने पर, द्रव्य की दुर्लभता होने पर, अशिव, दुर्भिक्ष, राजप्रद्वेष तथा तस्कर आदि का भय—इन कारणों से राजपिण्ड का ग्रहण अनुज्ञात है।

२०१४. अपने क्षेत्र की चारों दिशाओं में एक योजन तक तीन बार गवेषणा करने पर भी यदि दुर्लभ द्रव्य की प्राप्ति न हो तो कृतयोगी मुनि के लिए यतनापूर्वक राजपिण्ड का ग्रहण करना कल्प्य है।

२०१५. कृतिकर्म दो प्रकार का है—अभ्युत्थान और वंदना। श्रमण और श्रमणियों को यथार्ह दोनों करने चाहिए।

२०१६. सभी श्रमणियों को साधुओं का कृतिकर्म करना चाहिए क्योंकि सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में पुरुषोत्तर धर्म होता है।

२०१७. साधु के द्वारा वंदित होने पर साध्वियां तुच्छता के कारण गर्वित हो जाती हैं। वह साधु का परिभव करने में भी शंका नहीं करतीं। स्त्रियों में एक अन्य दोष भी होता है कि वे माधुर्य से ग्राह्य हो जाती हैं।

२०१८. अथवा जिनधर्म पुरुषों द्वारा प्रणीत है, पुरुष ही इसकी रक्षा करने में समर्थ हैं। पुरुष द्वारा स्त्री को वंदना करना लोकविरुद्ध भी है इसलिए श्रमणियों को चाहिए कि वे श्रमणों को वंदना करें।

२०१९. प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के तीर्थ में पंचयाम धर्म अर्थात् पंच महाव्रत रूप धर्म होता है। मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थ में चातुर्याम धर्म होता है।

२०२०. प्रथम तीर्थंकरों के साधुओं का कल्प दुर्विशोध्य और अंतिम तीर्थंकरों के साधुओं का कल्प दुरनुपाल्य होता है। मध्यम तीर्थंकरों का कल्प सुविशोध्य और सुखपूर्वक पालन करने योग्य होता है।

२०२१. जड़ता[1] के कारण प्रथम तीर्थंकरों के मुनियों को यथार्थ तत्त्व का आख्यान करना, विभाग करना उपनय अर्थात् हेतु और दृष्टान्तों से समझाना दुःशक्य होता है। काल आदि की स्निग्धता के कारण वे साधु सुखों से युक्त होते हैं अतः परीषह सहना उनके लिए दुष्कर होता है। वे स्वभाव से दान्त और उपशान्त होते हैं अतः शिष्यों पर अनुशासन करना उनके लिए कष्टप्रद होता है।

---

१. प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजुजड़ होते हैं। ऋजुता के कारण वे अपने अतिचारों की आलोचना करते हैं किन्तु मति-जड़ता के कारण तज्जातीय दोषों का वर्जन नहीं कर सकते। यही बात तत्कालीन गृहस्थों की है। उनको जिस सदोष कार्य का निषेध किया जाता है, उसका वर्जन करते हैं लेकिन उससे सम्बन्धित अन्य कार्यों का वर्जन नहीं करते।[2]

ऋजुजड़ साधु यदि नाटक देखते हैं तो ऋजुता से आकर गुरु को निवेदन करते हैं। पुनः बहुरूपिए का कौतुक देखने पर गुरु यदि पूछते हैं कि तुमने कौतुक क्यों देखा तो वे कहते हैं कि आपने नाटक का निषेध किया था, कौतुक का नहीं। ऋजुता के कारण जितना निषेध किया जाता है, उतना ही वर्जन करते हैं। सर्व नाटक का निषेध करने पर समग्रता से उसका वर्जन करते हैं।[3]

१. बृभा ५३५६; उज्जुत्तणं सें आलोयणाऐं जड्डत्तणं सें जं भुज्जो। तज्जातिए ण याणति, गिही वि अन्नस्स अन्नं वा॥

२. बृभा ५३५२; नडपेच्छं दट्ठूणं, अवस्स आलोयणा ण सा कप्पे। कउयादी सो पेच्छति, ण ते वि पुरिमाण तो सव्वे॥

२०२२. मिथ्यात्व से भावित, दुर्विदग्ध मति वाले तथा वामशील होने के कारण अंतिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए यथार्थ वस्तुतत्त्व का आख्यान करना तथा उपनय आदि देना दुःखप्रद होता है।[1]

२०२३. चरम तीर्थंकर के साधु दुःखों से भर्त्सित होते हैं। शारीरिक बल और मानसिक धृति से दुर्बल होने के कारण परीषहों को सहन करना उनके लिए कठिन होता है। इसी प्रकार चरम तीर्थंकरों के साधुओं के मान की उत्कटता के कारण उन पर अनुशासन करना कठिन होता है।

२०२४. ये आख्यान आदि स्थान मध्यम तीर्थंकरों के साधुओं के लिए इसलिए सुगम हो जाते हैं क्योंकि वे सुप्राज्ञ और ऋजु[2] होते हैं। वे शरीर-बल और मनोबल से युक्त होने के कारण सुख और दुःख को सहन करने में सक्षम होते हैं तथा विमिश्रभाव[3] होने से उन पर अनुशासन करना भी सुगम होता है।

२०२५. जिस व्यक्ति पर सामायिक पहले आरोपित किया जाता है अथवा जिसको महाव्रतों में पहले स्थापित किया जाता है, वह कृतिकर्म ज्येष्ठ कहलाता है। साधु जन्म या श्रुत के आधार पर ज्येष्ठ नहीं माना जाता। दोनों पक्षों—संयतपक्ष और संयतीपक्ष में यही व्यवस्था है।

२०२६. प्रथम और चरम तीर्थंकर के पंचयाम धर्म में स्थित साधुओं की जिन स्थानों में उपस्थापना होती है, उस विषय में तीन आदेश हैं, वे मुझसे सुनो।

२०२७. दश, छह और चार—ये तीन आदेश होते हैं। दश कौन से होते हैं, उनके बारे में सुनो।

२०२८, २०२९. पहला आदेश-दश स्थान—

१-३. तीन पारांचिक—दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्य सेवन करने वाला।

४-६. तीन अनवस्थाप्य—साधर्मिक स्तेन, अन्यधार्मिक स्तेन तथा मारक प्रहार करने वाला।

---

१. अंतिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ होते हैं। वक्र होने के कारण वे दोष का सेवन करके न उसे बताते हैं और न ही उसकी आलोचना करते हैं, यह उनकी जड़ता है। आचार्य उससे पूछते हैं कि तुमने मार्ग में नाटक देखा? तो वक्रजड़ शिष्य निषेध करता है कि मैंने नहीं देखा। जब गुरु उसे कहते हैं कि तुम वहां क्यों खड़े थे तो वह कहता है कि मैं गर्मी से आहत हो गया था इसलिए खड़ा था अथवा मेरे पैर में कांटा चुभ गया था इसलिए खड़ा था। अंतिम तीर्थंकर के गृहस्थ भी एषणा आदि के विषय में सही उत्तर नहीं देते। वे कहते हैं—'यह भोजन अतिथियों के लिए बनाया है अथवा यह भोजन मुझे रुचिकर है अथवा आज हमारे घर में उत्सव है।'[1]

**१. बृभा ५३५८; वंका उ ण साहंती, पुट्ठा उ भणंति उण्ह-कंटादी। पाहुणग सद्ध ऊसव, गिहिणो वि य वाउलंतेवं॥**

२. मध्यम तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं। वे जिस दोष का सेवन करते हैं, उसकी आलोचना करते हैं, यह उनकी ऋजुता है। प्राज्ञ होने के कारण वे तज्जातीय दोषों का वर्जन करते हैं। तत्कालीन गृहस्थ भी एक दोष के आधार पर तज्जातीय शेष सब दोषों का परिहार करते हैं।[1]

**१. बृभा ५३५७; उज्जुत्तणं सें आलोयणाएँ पण्णा उ सेसवज्जणया। सण्णायगा वि दोसे, ण करेंतऽण्णे ण यऽण्णेसिं॥**

३. मध्यम बावीस तीर्थंकरों के साधु न एकान्ततः दान्त होते हैं और न उत्कट कषाय युक्त होते हैं, इस कारण वे विमिश्रभाव से युक्त होते हैं।[1]

**१. बृभाटी पृ. १६८९; विमिस्सभाव त्ति नैकान्तेनोपशान्ता, न वा उत्कटकषायास्ते।**

७. जिसने सम्पूर्ण दर्शन—सम्यक्त्व को वान्त कर दिया हो।

८. जिसने सम्पूर्ण चारित्र को वान्त कर दिया हो।

९. त्यक्तकृत्य—संयम को त्यक्त कर षड्जीवनिकाय का समारंभ करने वाला।

१०. शैक्ष—अभिनव दीक्षित।

**२०३०, २०३१.** ये दश प्रकार की उपस्थापनाएं प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के द्वारा कही गई हैं। अन्य आदेश से छह प्रकार की उपस्थापनाएं इस प्रकार हैं—प्रथम में तीनों पारांचिक, द्वितीय में तीनों अनवस्थाप्य, तृतीय दर्शनवान्त, चौथा चारित्रवान्त, पांचवां त्यक्तकृत्य तथा छठा शैक्ष, जिसकी उपस्थापना बाकी है।

**२०३२.** यह दूसरा आदेश है। तृतीय आदेश निम्न प्रकार से जानना चाहिए। उसके चार उपस्थाप्य होते हैं, वे कौन से हैं? आचार्य कहते हैं कि वे ये जानने चाहिए—

**२०३३, २०३४.** श्रुतोपदिष्ट अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक का दर्शन और चारित्र में अन्तर्भाव हो जाने से दर्शनवान्त और चारित्रवान्त—ये दो भंग होते हैं। त्यक्तकृत्य (षट्कायविराधक) और शैक्ष—ये चार उपस्थाप्य होते हैं। उपस्थापना के ये तीन आदेश जानने चाहिए।

**२०३५.** दर्शन और चारित्र के साथ केवल पद का ग्रहण सम्पूर्ण अर्थ में है। यदि दर्शन और चारित्र का पूर्णतः वमन होता है तो उसकी उपस्थापना (छेदोपस्थापनीय चारित्र) होती है। देशतः वमन होने पर उपस्थापना की भजना रहती है अर्थात् कदाचित् उपस्थापना हो भी सकती है और नहीं भी होती।

**२०३६.** इसी प्रकार कोई अगीतार्थ मुनि अल्पदोष के कारण सूत्रार्थ विषयक किसी श्रुत या अश्रुत पद को अन्यथा रूप में कहता है, उस समय गुरु के प्रेरित करने पर वह यदि उसे सम्यक् रूप से स्वीकार कर लेता है तो मिथ्या दुष्कृत मात्र से शुद्ध हो जाता है।

**२०३७-४०.** दर्शनवान्त दो प्रकार का होता है—१. जानकारी में सम्यक्त्व का वमन करने वाला २. अजानकारी में वमन करने वाला। अनाभोग दर्शनवान्त का तात्पर्य है कि कोई श्रावक निह्नव को देखता है कि ये यथोक्त क्रिया करने वाले हैं, ऐसा सोचकर संवेग से उनके पास दीक्षित हो जाता है। अन्य साधु उसे वहां दीक्षित देखकर कहते हैं कि तुम निह्नवों के पास दीक्षित क्यों हुए हो? वह साधु उत्तर देता है कि भंते! मैं इस बारे में विशेष कुछ नहीं जानता हूं। इस प्रकार अनाभोग—अजानकारी में मिथ्यात्व को प्राप्त करके यदि वह पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करता है तो वह साधु आलोचना और निंदा करने मात्र से शुद्ध हो जाता है।

**२०४१.** वह उसी पर्याय में शुद्ध दर्शनी के पास आ जाता है, उसकी पुनः उपस्थापना नहीं होती। उसका यही प्रायश्चित्त है कि उसने सम्यक्त्व को पुनः स्वीकार कर लिया।

**२०४२.** जो जानता हुआ निह्नवों के पास दीक्षित होता है, वह यदि पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो उसके लिए पुनः उपस्थापना कही गई है।

२०४३. जो मुनि परवश होकर षड्जीवनिकाय की विराधना करता है, वह गुरु के पास आलोचना करके प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाता है।

२०४४. जो मुनि आत्मवश होकर षड्जीवनिकाय की विराधना करता है तो गुरु के पास आलोचना और प्रतिक्रमण करने पर भी उसकी मूलत: उपस्थापना करवानी चाहिए।

२०४५. क्षेत्र आदि से परवश होकर जो अजानकारी में मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, उसको कोई प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता, उसको प्रायश्चित्त देने वाला विराधक होता है।

२०४६. जिसने जो प्रायश्चित्त प्राप्त किया है तथा जिस व्यक्ति के प्रायोग्य जो प्रायश्चित्त हो, उसे वही प्रायश्चित्त देना चाहिए। असदृश अर्थात् विपरीत प्रायश्चित्त देने पर ये दोष होते हैं–

२०४७. अप्रायश्चित्ती को प्रायश्चित्त देने से तथा प्रायश्चित्त प्राप्त करने वाले को अतिमात्रा में प्रायश्चित्त देने से धर्म की तीव्र आशातना तथा मोक्षमार्ग की विराधना होती है।

२०४८. उत्सूत्र से व्यवहार करता हुआ अर्थात् सूत्र से अतिरिक्त[1] प्रायश्चित्त देता हुआ आचार्य चिकने कर्मों का बंधन करता है। वह संसार को बढ़ाता है तथा मोहनीय कर्म का बंध करता है।

२०४९. उन्मार्ग की देशना देने वाला मार्ग को दूषित करता है तथा मार्ग की विप्रतिपत्ति से वह दूसरों को मोह से रंजित करता हुआ महामोह का बंधन करता है।

२०५०. इस प्रकार जो पहले उपस्थापित होता है अथवा सामायिक को पहले स्वीकार करता है, वह कल्प और आचार-प्रकल्प धारण करने वालों में ज्येष्ठ होता है।

२०५१. प्रथम और अंतिम तीर्थंकर का प्रतिक्रमणयुक्त धर्म होता है। मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थ में कारण उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण होता है।

२०५२. प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधु गमनागमन तथा विचारभूमि में जाते हुए वहां लगने वाले अतिचार के लिए नियमत: सुबह और शाम प्रतिक्रमण करते हैं फिर चाहें अतिचार लगें या न लगें।

२०५३. शिष्य जिज्ञासा करता है कि अतिचार न होने पर प्रतिक्रमण निरर्थक होता है। आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि वत्स! (अतिचार न होने पर भी प्रतिक्रमण करना निरर्थक नहीं होता,) उसकी सार्थकता में यह उदाहरण है।

२०५४-५६. जैसे कोई राजा अपने पुत्र के लिए रसायन करवाता है, वहां एक चिकित्सक कहता है कि मेरा रसायन ऐसा है कि यदि दोष होगा तो वह दोष का नाश करेगा यदि दोष नहीं होगा तो रोग हो जाएगा। दूसरा वैद्य कहता है—'मेरी औषधि रोग का हरण करेगी लेकिन रोग के अभाव में गुण और दोष कुछ भी नहीं करेगी।' तीसरा वैद्य बोला—'मेरी औषधि दोषरहित होने के कारण दोष का नाश करके गुण ही करेगी।' तृतीय वैद्य की औषधि समाधिकारक होने से राजपुत्र के लिए रसायन है।'

२०५७. प्रतिक्रमण तीसरे कुशल चिकित्सक के रसायन के समान है। यदि दोष होता है तो उसका नाश कर देता है, यदि दोष नहीं होता तो निर्जरा करता है।

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५५।

२०५८. जिनकल्प, स्थविरकल्प, यथालंद, पारिहारिक और आर्यिका—इन पांचों के मासकल्प में क्षेत्र, काल, उपाश्रय और पिण्डग्रहण में नानात्व होता है।

२०५९. इन पांचों का आपस में क्षेत्र आदि चार पदों से क्या विशेष होता है, उसको मैं संक्षेप में कहूंगा।

२०६०. जिनकल्पिक के ऋतुबद्ध काल में नियमत: मासकल्प[1] होता है। उनके क्षेत्र सम्बन्धी अवग्रह नहीं होता। वर्षाकाल में वे चार मास तक एक स्थान पर रहते हैं, उनका वसति के प्रति ममत्व नहीं होता और वे उसका परिकर्म भी नहीं करते।

२०६१. जिनकल्पिक सात पिण्डैषणाओं में से अंतिम पांच एषणाओं से किसी एक एषणा से अलेपकृद् आहार ग्रहण करते हैं। उसमें भी उनकी एषणा अभिग्रह युक्त होती है।

२०६२. स्थविरकल्पी के नगर या वसति में क्षेत्र का अवग्रह कोश सहित एक योजन होता है तथा ऋतुबद्ध काल में एक मास का अवग्रह होता है।

२०६३. यह उत्सर्ग-विधि कही गई है। अपवाद स्थिति में अधिक भी हो सकता है। इसी प्रकार वर्षाकाल में भी चातुर्मास या अपवाद की स्थिति में अधिक काल का प्रवास हो सकता है।

२०६४. उपाश्रय के प्रति अममत्व और अपरिकर्म होता है। अममत्व और अपरिकर्म की दृष्टि से उपाश्रय सम्बन्धी चतुर्भंगी होती है। उत्सर्ग स्थिति में प्रथम भंग का पालन होता है। आपवादिक स्थिति में ममत्व और परिकर्म सम्बन्धी तीनों भंग हो सकते हैं।[2]

२०६५. लेपकृद् या अलेपकृद् आहार सात प्रकार की एषणाओं से ग्रहण करते हैं क्योंकि गच्छवास सापेक्ष होता है।

२०६६. गच्छ से अप्रतिबद्ध यथालंदिक[3] साधुओं की चर्या जिनकल्पिक की भांति होती है। केवल काल सम्बन्धी अन्तर है। ऋतुबद्ध काल में वे एक स्थान पर पांच दिन तथा वर्षाकाल में चार मास रहते हैं।

---

१. जिनकल्पिक का मासकल्प स्थविरकल्पी की भांति दो प्रकार का होता है—अस्थितकल्प और स्थितकल्प। मध्यम तीर्थंकरों के जिनकल्पिकों का मासकल्प अस्थित होता है तथा प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के जिनकल्पिकों का स्थितकल्प होता है। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधु नियम से मासकल्प से विहार करते हैं, मध्यम तीर्थंकरों के साधु कभी मासकल्प पूरा किए बिना भी विहार कर देते हैं और कभी देशोनपूर्वकोटि वर्ष तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं।[4]

**१. बृभा ६४३१ टी. पृ. १६९४।**

२. उपाश्रय सम्बन्धी चतुर्भंगी—१. अममत्व-अपरिकर्म, २. अममत्व-परिकर्म, ३. ममत्व-अपरिकर्म, ४. ममत्व-परिकर्म।

३. लंद शब्द काल का वाचक है। जितने काल में जल से आर्द्र हाथ सूखता है, उतने काल भी जो प्रमाद नहीं करते, वे साधु यथालंदिक होते हैं। ऋतुबद्ध काल में ये पांच अहोरात्र तक एक ही वीथी में रहते हैं और वहीं भिक्षाचर्या करते हैं। इस काल का अतिक्रमण नहीं करते। ये दो प्रकार के होते हैं—गच्छ प्रतिबद्ध और गच्छ अप्रतिबद्ध। जो प्रस्तुत कल्प की समाप्ति के बाद जिनकल्प स्वीकार करते हैं, वे जिन तथा जो गच्छ में पुन: स्थविरकल्प को स्वीकार कर लेते हैं, वे स्थविरकल्पी कहलाते हैं। इनके जघन्य तीन गण तथा उत्कृष्ट शतपृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ) गण एक साथ इस कल्प को स्वीकार कर सकते हैं। पुरुष प्रमाण की अपेक्षा जघन्य १५ पुरुष तथा उत्कृष्ट शतपृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार) व्यक्ति इस कल्प को स्वीकार करते हैं।

२०६७. गच्छ से प्रतिबद्ध यथालंदिकों की यह विशेषता है कि उनका जो अवग्रह होता है, वह आचार्यों के अधीन होता है।

२०६८. गांव को छह वीथियों में बांटकर प्रत्येक वीथी में पांच-पांच दिन तक भिक्षा करते हैं फिर अन्य वीथियों में नियमत: पांच-पांच दिन भिक्षार्थ परिव्रजन करते हैं।

२०६९. परिहारविशुद्धि कल्प वाले के जिनकल्पिक जैसा ही आचार होता है। अंतर इतना ही है कि परिहारविशुद्धि वाले आयम्बिल करते हैं। अब स्थविरकल्प ज्ञातव्य है।

२०७०. आर्यिकाओं का अवग्रह आचार्य के अधीन होता है। उनका ऋतुबद्ध काल में एक स्थान पर दो मास रहने का कल्प होता है।

२०७१. शेष पिण्ड, उपाश्रय आदि का वर्णन स्थविरकल्प के समान होता है। सारा कल्प दो प्रकार का है—जिनकल्प और स्थविरकल्प।

२०७२. जिनकल्पिक, यथालंदिक और परिहारविशुद्धिक के जिनकल्प होता है। स्थविर और आर्यिकाओं का स्थविरकल्प जानना चाहिए।

२०७३. मासकल्प दो प्रकार का होता है—जिनकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्प अनुग्रह रहित तथा स्थविरकल्प अनुग्रह युक्त होता है।[1]

२०७४. ऋतुबद्धकाल और वर्षावास पूर्ण होने के पश्चात् जिनकल्पी को अधिक दिन रहने पर ऋतुबद्ध काल के प्रत्येक दिन के लिए गुरुमास तथा वर्षाकाल का चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तथा स्थविरकल्पी को ऋतुबद्ध काल के प्रत्येक दिन के लिए लघुमास तथा चातुर्मास काल बीतने पर प्रत्येक दिन के लिए चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

२०७५. वर्षावास के प्रमाण से अधिक रहने वाला तीस अपराध[2]-पदों से स्पृष्ट होने पर जिस अपराध-पद का सेवन करता है, वह उसी अपराध से स्पृष्ट होता है।

२०७६. पन्द्रह उद्गम-दोष, दश एषणा के दोष—ये पच्चीस दोष होते हैं। संयोजना आदि पांच दोषों को मिलाने से आहार से सम्बन्धित तीस अपराध-पद होते हैं।

२०७७. इन दोषों की प्राप्ति न होने पर भी कालातिक्रान्त प्रवास करने पर प्रतिदिन का वही प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, जो पहले कहा गया है। (देखें गाथा २०७४ का अनुवाद)

२०७८. वर्षावास प्रमाण तथा ऋतुबद्धकाल में जितना रहने का कल्प है, उतना रहने के बाद भी उस स्थान को नहीं छोड़ना अनुवासकल्प कहलाता है।

२०७९. वर्षावास का प्रमाण आचारप्रकल्प (निशीथ) में जैसा कहा गया है, वहां रहने पर भी अनुवासकल्प होता है। वहां रहते हुए दोष होते हैं।

---

१. निरनुग्रह का तात्पर्य है कि उनके अशिव आदि कारणों के होने पर अपवाद नहीं होता। स्थविरकल्पी के अशिव आदि कारणों का अपवाद होता है अत: वह सानुग्रह है।

२. पंचकल्प चूर्णि में तीस अपराध पद की दो रूपों में व्याख्या की गई है। प्रथम व्याख्या भिक्षा के दोष से सम्बन्धित है। पन्द्रह उद्गम दोष, दस एषणा के दोष तथा पांच संयोजना के दोष—ये तीस अपराधपद हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार मास में तीस दिन होते हैं। कल्प से अधिक यतनापूर्वक रहने पर भी प्रत्येक दिन का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२०८०. विहारकाल के दो प्रकार हैं—वर्षावासकाल और ऋतुबद्धकाल। ऋतुबद्ध मासकल्प बीतने पर उपधि ग्रहण नहीं होती, वर्षावास बीतने पर उपधि-ग्रहण संभव है।

२०८१. ऋतुबद्ध काल के आठ मास व्यतीत होने पर वहां प्रवास कल्प्य नहीं होता, वर्षावास बीतने पर उपधि ग्रहण करके विहार कल्प्य होता है।[1]

२०८२. वर्षाकाल और ऋतुबद्ध काल में इत्वरिक और साधारण अवग्रह पृथक्-पृथक् होता है। द्रव्यों के संक्रमण हेतु गच्छ में अवग्रह होता है।

२०८३. वर्षावास में चार मास और ऋतुबद्ध काल में एक-एक मास का कालावग्रह होता है। यथालंदिक का ऋतुबद्ध काल में एक स्थान पर पांच दिन का कालावग्रह होता है। विश्राम के लिए वृक्ष के नीचे स्थित मुनियों का इत्वरिक अवग्रह होता है।

२०८४. अनेक गच्छों के एक साथ रहने पर क्षेत्रावग्रह साधारण[2] अर्थात् सबका होता है। एक के ग्रहण करने पर वह सबके लिए गृहीत हो जाता है।

२०८५. साधु परस्पर सूत्र, अर्थ और तदुभय का अध्ययन करते हैं अथवा प्रतिपृच्छा करते हैं तो उनके अवग्रह का परस्पर संक्रमण[3] होता है।

---

१. वर्षाकाल में उपधि का ग्रहण भगवान् के द्वारा अनुज्ञात नहीं है। उस काल में उपधि ग्रहण करने से अदत्तादान विरमण का व्रत भंग होता है तथा चतुर्गुरु प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। (निभा ३३५)

२. सर्वसाधारण क्षेत्र में जो साधु सूत्र या अर्थ का कथन करता है, वह क्षेत्र उसके अधिकार में होता है। यदि बारी-बारी से कथन किया जाता है तो जो जितने दिन, पौरुषी या मुहूर्त्त श्रुत-वाचना देता है, उतने काल तक उसका अवग्रह रहता है।

३. 'अन्योन्य संक्रमण' शब्द की पंचकल्प चूर्णिकार ने विस्तार से व्याख्या की है। एक साधु दूसरे साधु के पास दशवैकालिक का अध्ययन करता है। उस दशवैकालिक पढ़ने वाले के पास कोई अन्य साधु उत्तराध्ययन पढ़ता है। उत्तराध्ययन पढ़ने वाला साधु सचित्त आदि जो कुछ प्राप्त करता है, वह दशवैकालिक पढ़ने वाले को देता है। जो साधु उत्तराध्ययन पढ़ता है, उसके पास अन्य साधु ब्रह्मचर्य (आचारांग) यावत् विपाकश्रुत तक का अध्ययन करते हैं। इसमें क्रमशः उत्तर उत्तर बलशाली हैं अर्थात् उत्तराध्ययन की अपेक्षा ब्रह्मचर्य (आचारांग) अधिक बलीयान् है।

अर्थ की दृष्टि से एक साधु दूसरे के पास आवश्यक की गाथाएं पढ़ता है, अन्य साधु आवश्यक का अर्थ कहता है, इसमें अर्थ कराने वाला बलिक है। एक साधु दशवैकालिक सूत्र का वाचन करता है, दूसरा उसका अर्थ कराता है, इसमें अर्थकर्ता बलिक है। इसी प्रकार विपाकश्रुत तक जानना चाहिए। अर्थ की बलवत्ता को स्पष्ट करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि एक साधु भगवती की वाचना देता है, दूसरा दशवैकालिक आदि यावत् कल्प और व्यवहार का अर्थ कहता है तो इसमें अर्थकर्ता बलिक है।

एक साधु कल्प और व्यवहार का अर्थ करता है, दूसरा दृष्टिवाद सूत्र की वाचना देता है। इसमें सूत्रकर्ता अर्थात् दृष्टिवाद की वाचना देने वाला बलिक है। पूर्वगत सर्वत्र बलिक होता है। जहां स्वाध्याय-मण्डली छिन्न होती है तो वह क्षेत्र और सचित्त आदि की प्राप्ति अधस्तन वाले को प्राप्त होती है।[1] घोटककण्डूयित मंडली में जो जब जिसको पूछता है, तब वह उसका प्रतीच्छक होता है तथा जो उत्तर देता है, तब वह क्षेत्र उसके अधीन होता है। क्षेत्र आभवद् के सम्बन्ध में व्यवहारभाष्य में विस्तार से उल्लेख है।

१. पंकभा चू पृ. ३६७।

**२०८६, २०८७.** साधु मंडली और आवलिका में श्रुत ग्रहण करते हैं। मंडली में अध्ययन करते हुए क्षेत्रगत सचित्त आदि वस्तुओं का जो लाभ होता है, वह परम्परा से स्वस्थान तक संक्रान्त होता है। जहां तक आवलिका होती है, अंत में वहां तक परम्परा चलती है।[1]

**२०८८.** वे साधु एक वसति में अथवा पुष्पावकीर्ण[2]—अलग-अलग वसतियों में रहते हैं, तब द्रव्य के संक्रमण की यह अन्य विधि है।

**२०८९.** सूत्र, अर्थ और तदुभय विशारद आचार्य के पास स्थान की कमी होने पर साधुओं के दो स्थानों में विभक्त होने पर अन्य गांव में गए साधुओं के द्रव्य का संक्रमण योग (आगाढ़-अनागाढ़) कल्प और आवलिका पूर्ववत् होती है।[3]

**२०९०, २०९१.** पूर्वस्थित आचार्य के क्षेत्र में यदि अन्य बहुश्रुत या बहुत आगमों का ज्ञाता आचार्य आ जाए और वह क्षेत्रवर्ती आचार्य[4] उनके पास कुछ अध्ययन करे, वहां यदि क्षेत्र अल्प हो तो असंथरण की स्थिति में दोनों अपने-अपने साधुओं का वर्जन करते हैं।

---

१. सूत्र-अर्थ संभाषण के तीन प्रकार हैं—मंडलिका—जो मंडली एकान्त अच्छिन्न प्रदेश में होती है। आवलिका—जो अपने ही स्थान में छिन्न प्रदेश में होती है। आवलिका में उपाध्याय अंतर विविक्त प्रदेश में बैठता है, जबकि मंडलिका में वह स्वस्थान पर बैठता है। सूत्र अर्थ-संभाषण का तीसरा प्रकार है—घोटक कण्डूयित। जिस प्रकार घोड़े आपस में खुजली करते हैं, वैसे ही जिस मंडली में साधु बारम्बार परस्पर सूत्र और अर्थ का ग्रहण करते हैं। जैसे—आज मैं तुम्हारे पास पढ़ूंगा, कल तुम मेरे पास पढ़ना।[1] मंडली-विधि का उपक्रम करने के निम्न कारण हैं—
- पूर्व अधीत विस्मृत श्रुत का पुनः स्मरण करने के लिए।
- धर्मकथा तथा वादशास्त्रों के स्मरण-अध्ययन के लिए।
- अध्ययन हेतु।

**१. व्यभा १८३१, १८३२ मटी प. २१।**

२. व्यवहारभाष्य में तीन प्रकार के उपाश्रयों का उल्लेख मिलता है-१. पुष्पावकीर्ण २. मण्डलिकाबद्ध और ३. आवलिकास्थित।[1] टीकाकार ने इन तीनों उपाश्रयों की व्याख्या नहीं की है। इनकी अर्थ-परम्परा यह होनी चाहिए-१. पुष्पावकीर्ण-अलग-अलग बिखरी हुई वसतियां २. मंडलिबद्ध-अच्छिन्न प्रदेश में स्थित ३. आवलिका-एकान्त छिन्न प्रदेश में स्थित।

**१. व्यभा १८०६ ; पुप्फावकिण्ण मंडलियावलिय उवस्सया भवे तिविधा।**

३. यह द्वारगाथा है। यह पंचकल्पभाष्य में भी मिलती है। चूर्णिकार इस गाथा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि एक सूत्रार्थविशारद आचार्य पहले से ही किसी गांव में प्रवास कर रहे हों, वहां अन्य साधु उनके पास अध्ययन हेतु आ जाएं, उस समय यदि स्थान का अभाव हो अथवा भक्तपान अपर्याप्त हो तो दो पढ़ने वाले साधुओं को छोड़कर शेष को अन्य स्थान में भेज दिया जाता है। अन्य क्षेत्र में गए साधुओं के वहां आपस में पढ़ते हुए साधुओं के संक्रमण-स्थान आदि पूर्ववत् होते हैं।[1]

**१. पंकचू पृ. ३६७।**

४. व्यवहारभाष्य के अनुसार जहां सब अगीतार्थ हों, वहां यदि कोई गीतार्थ आ जाए तो उसकी उपसम्पदा स्वीकार न करने पर गुरु प्रायश्चित्त आता है।

२०९२. एक दूसरे के पास वहां अध्ययन करते हुए मुनि के आभवद् व्यवहार वैसे ही होता है, जैसे सूत्र (व्यवहार भाष्य[1]) में कहा गया है।

२०९३. इस प्रकार व्याघात न होने पर स्थविरकल्पी का ऋतुबद्धकाल में एक मास तथा वर्षाकाल में चार मास का एक स्थान पर प्रवास होता है लेकिन कारण होने पर जब तक वह कारण उपस्थित रहे, तब तक अनुवास—कल्प से अधिक प्रवास किया जा सकता है।

२०९४. यह स्थविरकल्पिक का मासकल्प संक्षेप में वर्णित है, अब स्थितकल्प और अस्थितकल्प स्थविरों के बारे में कहूंगा।

२०९५. वह स्थविरकल्प दो प्रकार का होता है—अस्थितकल्प और स्थितकल्प। इसी प्रकार जिनकल्पी के भी स्थितकल्प और अस्थितकल्प—ये दो भेद होते हैं।

२०९६. पर्युषणाकल्प स्थविरकल्पिक एवं जिनकल्पिक दोनों के होता है तथा दोनों के यह स्थित और अस्थित-दोनों प्रकार का होता है।

२०९७. पर्युषणाकल्प उत्कृष्टतः चार मास का (आषाढ़ी पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा) और जघन्य सत्तर रात-दिन (भाद्रव शुक्ला ५ से कार्तिक पूर्णिमा) तक होता है। यह स्थितकल्प (प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु) के लिए होता है। शेष तीर्थंकरों के अस्थितकल्प होता है। स्थितकल्प के लिए अशिव आदि कोई कारण उत्पन्न होने पर मासकल्प एवं पर्युषणाकल्प में विपर्यास भी हो सकता है।

२०९८. प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के स्थितकल्प वाले स्थविरकल्पी साधुओं के वर्षाकाल में सत्तर दिन का पर्युषणाकल्प होता है। उनके ऋतुबद्धकाल में एक मास का स्थितकल्प होता है। अशिव आदि कारण उपस्थित होने पर विपर्यास—हीन या अधिक भी होता है। जिनकल्पिक साधुओं के नियमतः ऋतुबद्धकाल में आठ मास तथा वर्षाकाल में चार मास होते हैं।[2]

२०९९. जो मध्यम तीर्थंकरों के अस्थितकल्पिक साधु हैं, वे दोषों के अभाव में पूर्वकोटि वर्ष तक भी एक क्षेत्र में रहते हैं। यदि कर्दमरहित और प्राणरहित भूमि हो तो वे वर्षाकाल में भी विहार कर सकते हैं।

२१००. मध्यम तीर्थंकरों के साधु थोड़ा कारण होने पर भी मासकल्प पूरा किए बिना विहार कर देते हैं। मध्यम तीर्थंकरों के जिनकल्पिक साधु और महाविदेह क्षेत्र के स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधु अस्थित कल्प वाले होते हैं।

२१०१. इस प्रकार स्थितकल्प और अस्थितकल्प सम्बन्धी जो मर्यादा कही गई है, उसमें जो प्रमाद करता है, वह पार्श्वस्थ स्थान में होता है। साधु को उस स्थान का विवर्जन करना चाहिए।

२१०२. जिनेश्वर भगवान् ने तथा स्थविरों ने पार्श्वस्थ के स्थान को संक्लिष्ट कहा है। वैसे स्थान की गवेषणा करने वाला मुनि विहारचर्या में विशुद्ध नहीं होता।

---

१. व्यभा १८२४-३७।

२. जिनकल्पिक साधु के ऋतुबद्धकाल और चातुर्मास निरपवाद होता है।

**२१०३.** जिनेश्वर तथा स्थविरों ने पार्श्वस्थ के स्थान को संक्लिष्ट कहा है। वैसे स्थान का विवर्जन करने वाला मुनि विहारचर्या में विशुद्ध होता है।

**२१०४.** जो इस कल्पस्थिति पर श्रद्धा रखता हुआ स्वस्थान[1] में उसका पालन करता है, वैसे संविग्नविहारी मुनि की गवेषणा करनी चाहिए, जिससे गुणों की हानि न हो।

**२१०५.** जो दसविध स्थितकल्प, द्विविध स्थापना कल्प तथा उत्तरगुणकल्प में समान आचार वाला होता है, उसके साथ संभोज[2] करना चाहिए।

**२१०६.** स्थापनाकल्प दो प्रकार का होता है—अकल्पस्थापनाकल्प तथा शैक्षस्थापनाकल्प। अकल्पिक अर्थात् जिसने पिण्डैषणा न पढ़ा हो, उससे आहार आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए।

**२१०७.** अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियां तथा दस प्रकार के नपुंसक—इनको दीक्षा नहीं देना शैक्षस्थापनाकल्प कहलाता है।

**२१०८.** जो आहार, उपधि और शय्या को उद्गम, उत्पादना और एषणा के दोषों से शुद्ध ग्रहण करता है, वह उत्तरगुणकल्पिक कहलाता है।

**२१०९.** सदृश आचार वाला, सदृश सामाचारी वाला, समान चारित्र वाला अथवा विशिष्ट संयमस्थानों में वर्तमान—इन गुणों से युक्त ज्ञानी और चारित्रगुप्त साधु के साथ संस्तव आदि करना चाहिए।

**२११०.** सदृशकल्प[3], सदृश सामाचारी, समान चारित्र वाला तथा विशिष्टतर संयमस्थानों में वर्तमान—इन गुणों से युक्त साधु से भक्तपान ग्रहण करना चाहिए अथवा अपने लाभ में संतुष्ट रहना चाहिए।

**२१११.** सामायिक, छेदोपस्थापनीय, जिनकल्प और स्थविरकल्प की स्थिति का वर्णन किया। अब मैं निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति का वर्णन करूंगा।

**२११२.** मैं परिहारकल्प के विषय में कहूंगा, जिसका विद्वान् मुनि आसेवन करते हैं। मैं उसकी आदि, मध्य और अवसान में होने वाली सामाचारी की परिपाटी का यथाक्रम से वर्णन करूंगा।

**२११३.** भरत और ऐरवत क्षेत्रों में जब तीर्थंकर होते हैं तो प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के शासनकाल में पारिहारिक होते हैं।

---

१. स्वस्थान का तात्पर्य है कि स्थितकल्प का अनुवर्तन करते हुए स्थितकल्प की सामाचारी को तथा अस्थित कल्प में रहते हुए अस्थित कल्प की सामाचारी को करना।[1]

**१. बृभा ६४४० टी पृ. १६९६; स्वस्थानं नाम स्थितकल्पेऽनुवर्तमाने स्थितकल्पसामाचारीम् ,अस्थितकल्पे पुनरस्थित-कल्पसामाचारीं करोति।**

२. निशीथ भाष्य में संभोज-विधि के छह भेद बताए गए हैं—१. ओघ, २. अभिग्रह, ३. दान-ग्रहण, ४. अनुपालना, ५. उपपात, ६. संवास।[1]

**१. निभा २०७०।**

३. उद्गम आदि दोषों से रहित भिक्षाग्रहण, समिति, गुप्ति आदि शीलांग, क्षमा आदि श्रमणधर्म—इन उत्तर गुणों का समान रूप से पालन करने वाला सदृशकल्पी होता है अथवा जो संविग्न और सांभोजिक होता है, वह सदृश कल्पी है।[1]

**१. निभा ५९३५, ५९३६।**

२११४. मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थ में पारिहारिक नहीं होते और न ही महाविदेह क्षेत्र में पारिहारिक तप करने वाले होते हैं।

२११५. शिष्य प्रश्न पूछता है कि पूर्व और पश्चिम तीर्थंकरों के परिहारकल्पिकों का गच्छ कितने काल तक अनुवर्तित होता है?

२११६. आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ में परिहारकल्प एक लाख पूर्व तक अनुवर्तित होता है इसलिए दो गच्छ से आगे उसको स्वीकार नहीं किया जाता।

२११७. कुछ कम दो पूर्व कोटि तक दोनों पारिहारिकों का आयुष्य होता है, उनमें दो उनतीस अर्थात् अट्ठावन वर्ष कम करे, उतना उत्कृष्ट समय होता है।

२११८. अंतिम तीर्थंकर के कतिपय बीस वर्ष अर्थात् कुछ कम दो सौ वर्ष तक परिहारकल्प स्थिति अनुवर्तित होती है।

२११९. आठवें वर्ष में प्रव्रज्या तथा नवें वर्ष में उपस्थापना होती है। दीक्षा के १९ वर्ष पूर्ण होने पर मुनि को दृष्टिवाद का ग्रहण कराया जाता है।

२१२०. शिष्य को एक वर्ष तक दृष्टिवाद की वाचना दी जाती है अतः नौ और बीस वर्ष मिलाने पर उनतीस वर्ष होते हैं।

२१२१. पश्चिम तीर्थंकर के तीर्थ में दो उनतीस अर्थात् अट्ठावन वर्ष न्यून दो सौ वर्ष तक परिहारविशुद्धि कल्प का अनुवर्तन होता है।

२१२२. पश्चिम तीर्थंकर के तीर्थ में किसी साधु ने उनतीस वर्ष न्यून सौ वर्ष तक स्वयं कल्प का प्रवर्तन किया फिर जीवन के अन्तिमकाल में दूसरों को कल्प का प्ररूपण कराया। (वे भी २९ वर्ष न्यून १०० वर्ष तक कल्प का पालन कर सकते हैं।) इस प्रकार कुछ न्यून दो सौ वर्ष होते हैं।

२१२३. जो विद्वान् साधु तीर्थंकर के पादमूल में इस कल्प को स्वीकृत करते हैं, वे ही दूसरों को इसमें स्थापित करते हैं न कि स्थापित स्थापक।[1]

२१२४., २१२५. परिहारकल्प स्वीकार करने वाले सभी मुनि चारित्रसम्पन्न, दर्शन में पूर्णता को प्राप्त, जघन्यतः नवपूर्वी, उत्कृष्टतः दशपूर्वी (कुछ न्यून दशपूर्वी), आगम आदि पंचविध व्यवहार के ज्ञाता, द्विविध कल्प—(अकल्पस्थापना कल्प तथा शैक्षस्थापना कल्प अथवा जिनकल्प और स्थविरकल्प) तथा दश प्रकार के प्रायश्चित्त—इन सबमें परिनिष्ठित होते हैं।

२१२६. वे महामुनि अपने शेष आयुष्य को जानकर तथा अपने बल, वीर्य, पराक्रम को समझकर परिहारकल्प स्वीकार करते हैं, रोग आदि अपायों पर वे पहले ही ध्यान दे देते हैं।

२१२७. यदि उनके कोई अन्य व्याघात या प्रत्यपाय नहीं होते तो वे परिहारकल्प को स्वीकार करते हैं अन्यथा स्वीकार नहीं करते।

---

१. यह कल्प तीर्थंकरों के पास स्वीकार किया जाता है या जिस साधु ने तीर्थंकर के पास इस कल्प को स्वीकृत किया है, उनके पास इसे ग्रहण किया जा सकता है। आगे इसकी परम्परा नहीं चलती अतः स्थापित स्थापक से यह कल्प स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

२१२८. अर्हतों को पूछकर वे इस कल्प को स्वीकार करते हैं। अर्हत् उनको इस कल्प की विधि सभी प्रमाण तथा बहुविध अभिग्रह बताते हैं।

२१२९. अर्हत् उन्हें गण-प्रमाण, उपधि-प्रमाण तथा पुरुष-प्रमाण बताते हैं। वे द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव तथा अन्य निष्प्रतिकर्मता आदि पर्यायों के बारे में बताते हैं।

२१३०, २१३१. संसृष्टा, असंसृष्टा आदि सात एषणाओं में प्रथम दो को छोड़कर शेष पांच में से किसी एक का अभिग्रह स्वीकार करते है। उपधि विषयक चार एषणाओं में अंतिम दो एषणाओं को स्वीकार करते हैं लेकिन उनमें से भी तीसरी या चौथी किसी एक का अभिग्रह स्वीकार करते हैं।

२१३२. सूर्योदय होते ही वे इस कल्प की देशना देते हैं तथा आलोचना-प्रतिक्रमण करके तीन गणों की स्थापना करते हैं।

२१३३. इन तीन गणों[1] में जघन्यत: सत्तावीस पुरुष और उत्कृष्टत: हजार पुरुष होते हैं। यह उन निर्ग्रन्थ शूरवीर भगवानों की सर्व संख्या कही गई है।

२१३४. इन गणों की उत्कृष्ट संख्या सौ तथा जघन्य संख्या तीन होती है। प्रत्येक गण नौ पुरुषों का होता है—ये इनकी प्रतिपत्तियां हैं।

२१३५. नौ पुरुषों में एक को कल्पस्थित[2] चार को पारिहारिक तथा शेष चार को अनुपारिहारिक स्थापित किया जाता है।

२१३६. जो परिहारकल्प को स्वीकार करते हैं, उनके अठारह महीनों में किसी प्रकार का विघ्न, वेदना, आतंक या अन्य उपद्रव आदि नहीं होते।

२१३७. अठारह माह पूर्ण होने पर उपद्रव आदि हो सकते हैं। कोई मुनि दिवंगत हो जाए अथवा स्थविरकल्पी जिनकल्प में चला जाए तो गण न्यून होने पर यह मर्यादा होती है।

२१३८. गण में जितने व्यक्ति कम हो जाएं उतने एक, दो या अनेक व्यक्तियों का वहां प्रक्षेप करना चाहिए, न्यून होने पर यह सामाचारी है।

२१३९. गण के अन्यून अर्थात् कम न होने पर यदि एक, दो या अनेक वहां उपसंपदा स्वीकार करते हैं तो उनकी सामाचारी इस प्रकार होती है—

२१४०. जब तक नौ की संख्या पूरी रहती है, तब तक वे उपसम्पदा की अवस्था में रहते हैं। उसके पश्चात् वे उनके पास परिहारकल्प को स्वीकार करते हैं।

२१४१. परिहारकल्प में यदि पारिहारिक से कोई अपराध हो जाए तो कल्पस्थित (आचार्य रूप) मुनि व्यवहार-प्रायश्चित्त देने में प्रमाणभूत होता है। अनुपारिहारिक के द्वारा अपराध-पद का आसेवन होने पर भी वही गीतार्थ कल्पस्थित (आचार्य रूप) मुनि प्रायश्चित्त देने में प्रमाण होता है।

---

१. एक-एक गण में नौ-नौ पुरुष होते हैं।

२. वह मुनि, जो परिहारविशुद्धि चारित्र की साधना के समय गुरु का दायित्व निभाता है।

२१४२. पारिहारिक और अनुपारिहारिक मुनि कल्पस्थित के समक्ष आलोचना, प्रत्याख्यान तथा वंदना आदि वहन करते हुए उसको उद्यान-विहरण[1] के समान मानते हैं।

२१४३. जैसे गोपालक गायों के पीछे रहकर नित्य जागरूक होता है, वैसे ही अनुपारिहारिक पारिहारिकों के पीछे-पीछे घूमते हुए सतत उद्युक्त और आयुक्त रहते हैं।

२१४४. पारिहारिक आदि की आपस में सूत्रार्थ की प्रतिपृच्छा और वाचना के अतिरिक्त किसी प्रकार की वार्ता नहीं होती। कारण उपस्थित होने पर पारिहारिक आत्म-निर्देश रूप आलाप जैसे उठूंगा, बैठूंगा आदि कर सकता है।

२१४५. पारिहारिकों का वर्षाकाल में उत्कृष्ट तप पंचोला, मध्यम तप चोला तथा जघन्य तप तेला होता है। शिशिरकाल में उत्कृष्ट तप चोला, मध्यम तप तेला तथा जघन्य तप बेला होता है।

२१४६. ग्रीष्मकाल में उत्कृष्ट तप तेला, मध्यम तप बेला तथा जघन्य तप उपवास होता है। पारिहारिक मुनि तप का पारणा आयम्बिल से करते हैं तथा अभिगृहीत एषणा से भक्तपान लेते हैं।

२१४७. अनुपारिहारिक मुनि नित्य आयम्बिल करते हैं। कल्पस्थित के लिए भी वे अभिगृहीत एषणा से भक्तपान लेकर आते है।

२१४८. चारों पारिहारिक मुनि पृथक्-पृथक् भोजन करते हैं। अनुपारिहारिक और कल्प स्थित—इन पांचों का एक ही संभोज होता है।

२१४९. पारिहारिकों का तप पूरा होने पर अनुपारिहारिक उस तप का वहन करते हैं। उनका तप पूरा होने पर कल्पस्थित उस तप का वहन करता है।

२१५०. पारिहारिक मुनि छह मास तक तप करते हैं, अनुपारिहारिक और कल्पस्थित मुनि भी छह-छह मास तक तपस्या करते हैं, इस प्रकार सब मिलाकर अठारह मास हो जाते हैं।

२१५१. जो अनुपारिहारिक और पारिहारिक हैं, वे अन्यान्य स्थानों में कालभेद से एक दूसरे की सेवा करते हुए अविरुद्ध होते हैं।

२१५२. पारिहारिक मुनि छह माह की तपस्या करने के बाद निर्विष्टकाय हो जाते हैं, उसके बाद अनुपारिहारिक परिहार तप का वहन करते हैं।

२१५३. अनुपारिहारिक भी छह मास तक तपस्या करके निर्विष्टकाय हो जाते हैं, उसके बाद कल्पस्थित उसी रूप में यथाविधि परिहार तप का वहन करता है।

२१५४. जो इस तप का वहन करते हैं, वे नियमत: निर्विशमानक कहलाते हैं तथा जिनका तप पूरा हो जाता है, वे निर्विष्टकायिक कहलाते हैं।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य में उज्जाणी के स्थान पर 'उज्जाणोवमं' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका भावार्थ यह है कि वे उद्यान-विहरण के समान एकान्त सुख एवं समाधि का अनुभव करते हैं।'

१. बृभाटी पृ. १७०२।

२१५५. यह कल्प अठारह महीनों में समाप्त होता है, यह मूल स्थापना संक्षेप में कही गई है।

२१५६. इस प्रकार अठारह महीनों का कल्प समाप्त होने पर जो उनके बीच जिनकल्पिक होते हैं, वे संख्या में न्यून होने पर भी उस कल्प का यावज्जीवन पालन करते हैं।

२१५७. स्थविरकल्पी मुनि अठारह मास पूर्ण होने पर पुनः गच्छ में आ जाते हैं, यह उनकी विधि है।

२१५८. तृतीय निर्विशमानक और चतुर्थ निर्विष्टकायिक–इन दोनों कल्पस्थिति का दूसरे छेदोपस्थापनीय कल्प में समवतार होता है। प्रथम चारों (सामायिक, छेदोपस्थापनीय, निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक) का पांचवीं जिनकल्प और छठी स्थविरकल्प में समवतार होता है।

२१५९. अब मैं जिनकल्प की स्थिति का वर्णन करूंगा, जो पहले ही पंचकल्प निर्युक्ति के मासकल्प सूत्र में वर्णित है। वर्णन को अशून्यार्थ रखने के लिए वही वर्णन यहां किया जा रहा है।

२१६०. गच्छ में ही निर्मित धीर पुरुष जब इस तथ्य को जान लेते हैं कि अब हमारा उद्यतविहार करने का अवसर है तो वे संसृष्ट और असंसृष्ट एषणाओं का परिहार, अंतिम पांच एषणाओं से ग्रहण का अभिग्रह रखते हुए तथा उनमें भी एक का ही परिभोग करने वाले जिनकल्पिक विहार को प्राप्त करते हैं।

२१६१. वे जघन्यतः नवपूर्वी, उत्कृष्टतः असम्पूर्ण दशपूर्वी होते हैं। चौदहपूर्वी तीर्थ में रहते हैं, वे जिनकल्प प्रव्रज्या स्वीकार नहीं करते।

२१६२. वे वज्रऋषभनाराच संहनन से युक्त तथा सूत्रार्थ के परमार्थ को जानने वाले होते हैं। वे संसार के स्वभाव को जानने के कारण परमार्थ के ज्ञाता होते हैं।

२१६३. वे प्रथम और द्वितीय संसृष्टा और असंसृष्टा एषणा[1] से आहार ग्रहण नहीं करते, तीसरी से लेकर सातवीं एषणा से भक्तपान ग्रहण करते हैं तथा ऊपर की दो एषणाओं से वस्त्र और पात्र ग्रहण करते हैं।

२१६४. द्रव्य से वे रत्नावलि आदि तप का अभिग्रह स्वीकार करते हैं। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि वे जिनकल्प-विहार को स्वीकार कर चुके हैं।

२१६५. ये दो अतिशय संक्षेप में वर्णित किए गए हैं। अब बाह्य और आभ्यन्तर अतिशय के बारे में विशेष रूप से कहूंगा।

२१६६. शरीर का बाह्य अतिशय तो यह जानना चाहिए कि उनके हाथ और पैर की अंगुलियां मिलाने पर

---

१. एषणा सात प्रकार की होती हैं—
१. संसृष्टा—खाद्य वस्तुओं से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।
२. असंसृष्टा—भोजन से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।
३. उद्धृता—अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना।
४. अल्पलेपा—अल्पलेप वाली अर्थात् चना, चिड़वा आदि रूखी वस्तु लेना।
५. अवगृहीता—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।
६. प्रगृहीता—परोसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकाला हुआ आहार लेना।
७. उज्झितधर्मा—जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।

उनमें बीच में छिद्र नहीं रहता तथा वे धीर पुरुष वज्रऋषभसंहनन से युक्त होते हैं।

२१६७. उन धीर पुरुषों की हथेली वल्गुलि पक्षी के पंख के समान होती है। यह लब्धि उनको क्षयोपशम से प्राप्त होती है, ऐसा कहा जाता है।

२१६८. जिसके हाथ रूपी पात्र में हजारों घड़े समा सकते हैं तथा जो सारे सागरों को धारण कर सकता है, ऐसी लब्धि वाला व्यक्ति पाणिपतद्ग्रही होता है।

२१६९. उनका आभ्यन्तर अतिशय संक्षेप में कहा गया है। वे सागर की भांति अक्षुभित तथा सूर्य की भांति तेजस्वी होते हैं।

२१७०. उनका शरीर कुथित नहीं होता तथा उनके शरीर में से किसी प्रकार की गंध नहीं आती। उनके शरीर में जुगुप्सित व्रण आदि नहीं होते। वे शरीर सम्बन्धी किसी प्रकार का परिकर्म नहीं करते।

२१७१. जिनकल्पी नियमतः पाणिपात्र होते हैं अर्थात् हाथ में ही आहार ग्रहण करते हैं। मैं उनके अन्य अतिशय भी विशेष रूप से कहूंगा।

२१७२. उनके दो प्रकार के अतिशय होते हैं—ज्ञानातिशय, शारीरिक अतिशय। ज्ञानातिशय में उनके अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान—दोनों होते हैं।

२१७३. उनका आभिनिबोधिक और श्रुतज्ञान भी अतिशय युक्त ही होता है। उनका मल अभिन्न[1] होने से वह गुदा से लिप्त नहीं होता। यह उनका शारीरिक अतिशय होता है।

२१७४. पाणिपात्र—जिनकल्पिक की जघन्य उपधि रजोहरण[2] और मुखवस्त्रिका होती है तथा उत्कृष्ट उपधि कल्पत्रिक[3] सहित पांच प्रकार की होती है।

२१७५. पात्रधारी जिनकल्पी की जघन्य उपधि नौ तथा उत्कृष्ट बारह[4] होती है। उनके पास पात्रनिर्योग—पात्र परिकर अतिरिक्त होता है।

---

१. जिनकल्पिक साधु का मल अत्यल्प एवं अभिन्न होता है इसलिए वे शौच-क्रिया से निवृत्त होकर आचमन नहीं लेते। आचमन न करना उनका आचार है। दीर्घकालिक उपसर्ग आदि होने पर भी वे उच्चार और प्रस्रवण का विसर्जन अस्थण्डिल भूमि में नहीं करते।[1]

१. बृभा १३९०; अण्णमभिन्नं वच्चं।

२. ओघनियुक्ति में रजोहरण का प्रमाण इस प्रकार वर्णित है—रजोहरण की लम्बाई बत्तीस अंगुल प्रमाण, दण्ड चौबीस अंगुल तथा दशिका आठ अंगुल प्रमाण होती है। इसमें कुछ न्यूनाधिक्य भी हो सकता है।[1]

१. ओनि ७०८; बत्तीसंगुलदीहं, चउवीसं अंगुलाइं दंडो से। अट्ठंगुला दसाओ, एगयरं हीणमहियं वा॥

३. कल्प शरीर प्रमाण लम्बा तथा ढ़ाई हाथ चौड़ा होता है, मुनि दो सूती और एक ऊनी—ऐसे तीन कल्प रख सकता है। निर्युक्तिकार ने कल्प रखने के अनेक प्रयोजनों का उल्लेख किया है।[1]

१. ओनि ७०५, ७०६।

४. ओघनिर्युक्ति में जिनकल्पिक की बारह प्रकार की उपधियां इस प्रकार वर्णित हैं—पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रकेशरिका (पात्र-मुखवस्त्रिका) पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, पात्र-निर्योग, तीन प्रच्छादक (कल्प), रजोहरण और मुखवस्त्रिका।[1] इसमें उपधियों की संख्या १३ होती है। जीतकल्पभाष्य में पात्र-निर्योग को बारह उपधि से अतिरिक्त रखा है।

१. ओनि ६६८, ६६९।

२१७६. जो बढ़े हुए नख वाले तथा नित्यमुण्ड हैं, उनकी जघन्य उपधि दो प्रकार की होती है। निर्व्याघात रूप से उनका यह लिंग जानना चाहिए।

२१७७. संक्षेप में जिनकल्पिक के रजोहरण और मुखवस्त्रिका—ये दो प्रकार की उपधि होती हैं। व्याघात होने पर, लिंग के विकृत होने पर या बवासीर आदि होने पर कटिपट्ट धारण किया जा सकता है।

२१७८. पात्र सम्बन्धी सात उपकरण, रजोहरण और मुखवस्त्रिका—ये नवविध उपधि प्रत्येकबुद्धों के होती है।

२१७९. निष्क्रमण करने के समय तीर्थंकरों के एक उपधि होती है। उसके बाद तीर्थंकर यावज्जीवन उपधि रहित रहते हैं।

२१८०. स्थान को अशून्य रखने के लिए यह जिनकल्प की स्थिति कही गई है। विस्तार से पंचकल्पनिर्युक्ति[1] के मासकल्प प्रकरण में देखना चाहिए।

२१८१. अब मैं स्थविरकल्प की स्थिति को कहूंगा, वह भी पहले ही (पंचकल्पभाष्य में) व्याख्यायित है। यहां स्थान अशून्य रखने के लिए संक्षेप में वर्णन करूंगा।

२१८२. स्थविरकल्पी मुनि संयम का पालन करने में उद्यत, प्रवचन के उद्योतक, शिष्यों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के निष्पादक, जंघाबल से हीन होने के कारण दीर्घ-काल तक एक स्थान पर रहने वाले तथा वसति के दोषों से मुक्त होते हैं।

२१८३. जब वे स्थविर दीर्घकाल तक एक स्थान पर रहने में समर्थ नहीं होते तो वे अभ्युद्यत मरण अथवा अभ्युद्यत विहार स्वीकार करते हैं।

२१८४. दीर्घ आयुष्य होने के कारण वे वृद्धावास[2]—एक स्थान पर रहते हैं तथा उद्गम आदि दोषों से मुक्त वसति में रहते हैं।

२१८५. जिनकल्प स्थिति को छोड़कर इस अध्ययन में जो मर्यादा वर्णित है, वह स्थविरकल्प में द्विपदयुक्त अर्थात् उपसर्ग और अपवाद—इन दो पदों से युक्त होती है।

२१८६. द्विपद का अर्थ उत्सर्ग और अपवाद—इन दोनों से है। स्थविरकल्प नियमतः इन दोनों से युक्त होता है।

---

१. वर्तमान में पंचकल्पनिर्युक्ति और भाष्य—दोनों मिलकर एक ग्रंथ रूप हो गए हैं।

२. जंघाबल से क्षीण मुनि का प्रवास वृद्धवास कहलाता है अथवा रोग के कारण एक स्थान पर अधिक रहना वृद्धवास है।[1] वृद्धवास के अन्तर्मुहूर्त के बाद मुनि कालगत हो जाए तो उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट काल गृहि-पर्याय के नौ वर्ष कम पूर्वकोटि होता है। इसका गणित इस प्रकार है कि कोई पूर्वकोटि आयुष्य वाला साधु ९ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ले, दीक्षित होते ही कर्मोदय से जंघाबल क्षीण हो जाए अथवा रोग के कारण चलने-फिरने में असमर्थ हो जाए तो उत्कृष्ट वृद्धवास ९ वर्ष कम पूर्वकोटि होता है। यहां उत्कृष्ट काल का प्रमाण भगवान ऋषभ के तीर्थ की अपेक्षा से है।

१. व्यभा २२५६।

२१८७. प्रलम्ब सूत्र[1] से प्रारम्भ कर इस षड्विध कल्पस्थिति सूत्र तक उत्सर्ग में अपवाद तथा अपवाद में उत्सर्ग क्रिया करने वाला शासन की आशातना करता है तथा दीर्घसंसारी होता है।

२१८८. स्थविरकल्पी उत्सर्ग में अपवाद का आचरण करता हुआ विराधक होता है। अपवाद की स्थिति प्राप्त होने पर उत्सर्ग का सेवन करना भजना है।

२१८९. वहां भजना कैसे होती है? जो संहनन और धृति से युक्त होता है, ऐसा साधु अपवाद में उत्सर्ग का सेवन करता हुआ शुद्ध होता है।

२१९०. धृति या संहनन—इन दोनों में से एक भी हीन होता है तो वह परीषहों को सहने में असमर्थ होता है, वह विराधना करता है।

२१९१. इस प्रकार सामायिक आदि छह प्रकार की कल्पस्थिति कही गई, अब मैं संक्षेप में वीर्य-द्वार को कहूंगा।

२१९२, २१९३. जो गीतार्थ होते हैं, वे परिणत तथा अगीतार्थ अपरिणत होते हैं। जो उपवास, बेला आदि तप से भावित हैं, वे कृतयोगी कहलाते हैं तथा जो उपवास, बेला आदि तप से भावित नहीं होते, वे अकृतयोगी हैं। धृति और संहनन से युक्त को तरमाणक जानना चाहिए।

२१९४. जो धृति और संहनन में किसी एक से युक्त होते हैं, वे अतरमाणक होते हैं अथवा दोनों से हीन को अतरमाणक जानना चाहिए।

**७२. जो सत्त्व वाला तथा बहुतरगुण[2]—धृति और संहनन आदि गुणों से युक्त हो, उसे अधिक प्रायश्चित्त भी देना चाहिए। धृति और संहनन से हीनतर व्यक्ति को कुछ कम तथा धृति आदि से सर्वथा हीन को प्रायश्चित्त से मुक्त भी किया जा सकता है।**

२१९५. कल्पस्थित आदि पुरुषों यावत् उभयथा अतरमाणक पुरुषों में जिसमें जैसा सत्त्व हो, उसको वैसा प्रायश्चित्त देना चाहिए।

२१९६, २१९७. जो धृति, संहनन आदि अनेक गुणों से युक्त होता है, वह बहुतरगुण सम्पन्न होता है। जो परिणत, कृतयोगी और उभय तरमाणक है—ऐसे गुण युक्त साधु को जीत व्यवहार से अधिक प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है। जो धृति, संहनन आदि से हीन होता है, उसको हीनतर तथा सम्पूर्णतः धृति और संहनन

---

१. प्रलम्ब सूत्र से छह कल्पस्थिति सूत्र में पूरा कल्प (बृहत्कल्पभाष्य) समाविष्ट हो जाता है।

२. व्यवहारसूत्र के अनुसार जो वय से स्थविर हो जाता है, वह दंड, भांड, छत्र, मात्रक, यष्टिका, वस्त्र, वस्त्र का पर्दा, चर्म, चर्मकोश (उपानत्) तथा चर्मपरिच्छेदनक रख सकते हैं। वे इन्हें अविरहित स्थान में रखकर किसी को संभलाकर या सूचित करके भिक्षार्थ जाते हैं। भिक्षा से लौटकर पुनः नियुक्त व्यक्ति से आज्ञा लेकर उसका उपयोग कर सकते हैं।[3]

१. व्यसू ८/५ ; थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा मत्तए वा लट्ठिया वा चेले वा चेलचिलिमिलिया वा चम्मे वा चम्मकोसए वा चम्मपलिच्छेयणए वा अविरहिए ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए वा निक्खमित्तए वा। कप्पइ णं संनियट्टचारीणं दोच्चं पि ओग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहरित्तए।।

से रहित को प्रायश्चित्त से मुक्त भी किया जा सकता है।

**७३. जीतव्यवहार के संदर्भ में अकृतकरण, अनभिगत आदि अनेक प्रकार के भिक्षु होते हैं। उनको जीतव्यवहार से यंत्रविधि[1] के द्वारा तेले से लेकर निर्विगय तक का प्रायश्चित्त दिया जाता है।**

२१९८. इस जीतव्यवहार में बहुत प्रकार के भिक्षु होते हैं, उनमें अकृतकरण और अनभिगत को भी जानना चाहिए।

२१९९. सूत्र में आए 'च' शब्द से स्थिर और अस्थिर को भी संक्षेप में ग्रहण करना चाहिए। यंत्रकविधि के क्रम से जीत-अभिमत से प्रायश्चित्त देना चाहिए।

२२००. साधु दो प्रकार के होते हैं—कृतकरण और अकृतकरण। कृतकरण दो प्रकार के होते हैं—गच्छवासी और गच्छविमुक्त। अकृतकरण नियमतः गच्छवासी होते हैं।

२२०१. वे अभिगत और अनभिगत दो प्रकार के होते हैं। अनभिगत भी स्थिर और अस्थिर दो प्रकार के होते हैं। कृतयोगी और अभिगत—गीतार्थ जिस प्रायश्चित्त का सेवन कर सकते हैं, उसके अनुसार उन्हें पूरा प्रायश्चित्त दिया जाता है। जो अगीतार्थ, अस्थिर और अकृतयोगी होता है, उसे आचार्य अपनी इच्छा के अनुसार श्रुतोपदेश से प्रायश्चित्त[2] देते हैं।

२२०२. अथवा संक्षेप में पुरुष दो प्रकार के होते हैं—निरपेक्ष और सापेक्ष।[3] जिन आदि निरपेक्ष होते हैं, वे नियमतः कृतकरण होते हैं।

२२०३. सापेक्ष तीन प्रकार के होते हैं—आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु। आचार्य और उपाध्याय कृतकरण और अकृतकरण दोनों प्रकार के होते हैं।

२२०४. भिक्षु दो प्रकार के होते हैं—गीतार्थ और अगीतार्थ। गीतार्थ दो प्रकार के जानने चाहिए—स्थिर और अस्थिर। ये दोनों दो प्रकार के होते हैं—कृतकरण और अकृतकरण।

२२०५. अगीतार्थ भी दो प्रकार के होते हैं—स्थिर और अस्थिर। दोनों के कृतकरण और अकृतकरण—

---

१. यंत्रविधि का विस्तृत वर्णन सिद्धसेनगणीकृत जीतकल्प की चूर्णि में मिलता है।[1]

१. विस्तार हेतु देखें जीचू पृ. २४, २५।

२. परीक्षा करने पर यदि साधु अगीतार्थ, अस्थिर अकृतयोगी और असमर्थ प्रतीत होता है तो उसे आचार्य न्यून, न्यूनतर और न्यूनतम प्रायश्चित्त—नवकारसहिता भी देते हैं। यदि यह भी करने में समर्थ न हो तो आलोचना करने मात्र से उसकी शुद्धि का निर्देश दे देते हैं।[1]

१. व्यभा १६० मटी प. ५३।

३. व्यवहारभाष्य में सापेक्ष को दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों का वर्णन है—निर्विगय, पुरिमार्ध (दो प्रहर), एकासन, आचाम्ल, उपवास, लघुगुरु अहोरात्र, पंचक, लघुगुरु अहोरात्र दशक, लघुगुरु अहोरात्र पंचदशक, लघुगुरु बीस अहोरात्र, लघुगुरु पच्चीस अहोरात्र, लघुमास, गुरुमास, चतुर्लघुमास, चतुर्गुरुमास, लघुगुरु छह मास, छेद और मूल।[1]

१. व्यभा १६३, १६४ मटी प. ५४।

ये दो भेद होते हैं। कृतकरण और अकृतकरण कैसे होते हैं, उसे तुम सुनो।

२२०६. जो गीतार्थ और अगीतार्थ दोनों अवस्थाओं में बेले-तेले आदि की तपस्या करते हैं, वे कृतकरण कहलाते हैं। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि जो अधिगत अर्थात् गीतार्थ होते हैं, वे नियमत: कृतकरण होते हैं क्योंकि वे अध्ययन में दीर्घकाल तक योगों का वहन करते हैं।

२२०७. निरपेक्ष एक प्रकार के होते हैं। शिष्य प्रश्न करता है कि सापेक्ष साधु के आचार्य, उपाध्याय आदि तीन भेद क्यों किए गए? आचार्य कहते हैं कि उसके बारे में सुनो।

२२०८. जिस प्रकार लोक में व्यक्ति के आधार पर युवराज आदि को दंड दिया जाता है, वैसे ही व्यक्ति विशेष के आधार पर आचार्य आदि की आरोपणा होती है।

२२०९. आचार्य और उपाध्याय—ये दोनों नियमत: गीतार्थ होते हैं लेकिन भिक्षु गीतार्थ और अगीतार्थ दोनों प्रकार के होते हैं।

२२१०. प्रतिसेवना सकारण है अथवा अकारण, यतना से है अथवा अयतना से—इन बातों का अगीतार्थ को बोध नहीं होता।[1] इस कारण से आचार्य आदि तीन भेद किए गए हैं।

२२११. जो अगीतार्थ, कार्य-अकार्य, यतना-अयतना को नहीं जानता हुआ प्रतिसेवना करता है, वह उसकी दर्प प्रतिसेवना है। यदि गीतार्थ भी दर्प और अयतना से प्रतिसेवना करता हैं तो उसे भी अगीतार्थ की भांति वही प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२२१२. पाराञ्चित प्रायश्चित्तार्ह दोष सेवन करने पर भी सापेक्षता से प्रायश्चित्त दिया जाता है, जैसे कृतकरण आचार्य को अंतिम पाराञ्चित प्रायश्चित्त दिया जाता है लेकिन जो अकृतकरण आचार्य हैं, उनको अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२२१३. कृतयोगी उपाध्याय को अनवस्थाप्य, अकृतयोगी को मूल, गीतार्थ, स्थिर और कृतयोगी भिक्षु को मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२२१४. अकृतयोगी स्थिर को छेद, कृतयोगी अस्थिर को भी छेद, अकृतयोगी और अस्थिर को छहगुरु, अगीतार्थ और स्थिर को भी छहगुरु प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२२१५. अगीतार्थ, स्थिर और अकृतयोगी को छह लघु प्रायश्चित्त जानना चाहिए। अगीतार्थ, अस्थिर और कृतयोगी को भी छह लघु तथा अगीतार्थ, अस्थिर और कृतयोगी को छह लघु तथा अकृतयोगी को चतुर्गुरु प्रायश्चित्त जानना चाहिए।

२२१६, २२१७. यह प्रायश्चित्त का एक आदेश (विकल्प) है। इसका दूसरा आदेश इस प्रकार है—

---

१. आचार्य और उपाध्याय गीतार्थ ही होते हैं। भिक्षु गीतार्थ और अगीतार्थ—दोनों होते हैं। इसलिए आचार्य आदि त्रिविध भेद हैं। व्यवहारभाष्य के अनुसार इन तीनों के आभवद् प्रायश्चित्त और उसकी दानविधि सामर्थ्य और असामर्थ्य के आधार पर भिन्न होती है।[1]

१. व्यभा १६९ मटी प. ५८।

पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त कृतयोगी आचार्य को अनवस्थाप्य, अकृतयोगी आचार्य को मूल, कृतकरण उपाध्याय को मूल तथा अकृतकरण उपाध्याय को छेद—इस प्रकार इनको अर्धअपक्रांति से जानना चाहिए।

**२२१८.** इसी प्रकार अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त की प्राप्ति में भी दो आदेश हैं—यहां निरपेक्ष की बात नहीं कही गई है क्योंकि निरपेक्ष में अनवस्थाप्य और पारञ्चित—ये दोनों प्रायश्चित्त नहीं होते हैं।

**२२१९, २२२०.** अब मूल प्रायश्चित्त-प्राप्ति का प्रसंग है। निरपेक्ष में सबको मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होने पर भी कृतयोगी गुरु को मूल, अकृतयोगी को छेद, कृतकरण उपाध्याय को छेद तथा अकृतकरण उपाध्याय को छहगुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। इसे अर्धअपक्रांति से जानना चाहिए, यह दूसरा आदेश है।

**२२२१, २२२२.** सापेक्ष की अपेक्षा से कृतयोगी गुरु को छेद, अकृतकरण गुरु को छह गुरु, कृतकरण उपाध्याय को छह गुरु, अकृतयोगी उपाध्याय को छहलघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इसे अर्धअपक्रांति से जानना चाहिए। यह छहगुरु प्रायश्चित्त से प्रारंभ होकर गुरु भिन्नमास तक जाकर स्थित होता है।

**२२२३.** छहलघु से प्रारम्भ होकर लघु भिन्नमास में तथा चतुर्गुरु से प्रारम्भ होकर गुरु बीस में स्थित होता है।

**२२२४.** चतुर्लघु बीस में, गुरुमास गुरु पन्द्रह में, लघुमास लघु पन्द्रह में तथा गुरुभिन्न गुरुदश में स्थित होता है।

**२२२५.** लघुभिन्न दशलघु में, गुरु बीस अंत में गुरु पणक में आकर स्थित होता है। लघु बीस प्रारम्भ होकर अंत में लघु पणग में आकर स्थित होता है।

**२२२६.** गुरु पन्द्रह से प्रारम्भ होकर अंत में तेले में स्थित होता है। पन्द्रह लघु से प्रारम्भ होकर अंत में बेले तक आकर स्थित होता है।

**२२२७.** गुरुदश से प्रारम्भ होकर अंत में उपवास तक तथा लघुदश से प्रारम्भ होकर अंत में आयम्बिल तक स्थित होता है।

**२२२८.** गुरु पणक से प्रारम्भ होकर अंत में एकासन तथा लघु पणक से प्रारम्भ होकर अंत में पुरिमार्ध तक स्थित होता है।

**२२२९.** उपवास से प्रारम्भ होकर अंत में निर्विगय प्रायश्चित्त में स्थित होता है। यह यंत्रविधि की रचना संक्षेप में कही गयी है।[1]

**२२३०.** यह अयतना से सापेक्षों का प्रायश्चित्त-विधान है। यदि गीतार्थ सकारण और यतना से दोष सेवन करता है तो वह शुद्ध है।

---

१. व्यवहारभाष्य की टीका में यंत्रकविधि बनाने की विस्तार से चर्चा की गई है।[1]

१. व्यभापीटी प. ५५-५७।

**२२३१.** यह सकारण यतनासेवी के प्रायश्चित्त-दान का वर्णन किया गया अथवा आचार्य आदि का यह यथाक्रम प्रायश्चित्त है।

**२२३२.** आचार्य और उपाध्याय दो प्रकार के होते हैं—कृतकरण और अकृतकरण। भिक्षु भी दो प्रकार के होते हैं-अभिगत-गीतार्थ और अनभिगत-अगीतार्थ।

**२२३३.** गीतार्थ दो प्रकार के होते हैं—कृतकरण और अकृतकरण। अगीतार्थ भी दो प्रकार के हैं—स्थिर और अस्थिर। स्थिर दो प्रकार के होते हैं-कृतकरण और अकृतकरण। अस्थिर भी दो प्रकार के होते हैं—कृतकरण और अकृतकरण।

**२२३४.** इन सबको समान रूप से पंचक (पांच दिन-रात) की प्राप्ति होने पर अविशेष रूप से पणग (निर्विगय) प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, वह उपवास आदि से विज्ञेय है।

**२२३५, २२३६.** कृतकरण आचार्य को पणग प्रायश्चित्त ही देना चाहिए। अकृतकरण आचार्य को उपवास तथा कृतकरण उपाध्याय को भी उपवास का प्रायश्चित्त देना चाहिए। अकृतकरण उपाध्याय को आयम्बिल, गीतार्थ और कृतकरण भिक्षु को आयम्बिल तथा गीतार्थ अकृतकरण भिक्षु को एकासन का प्रायश्चित्त देना चाहिए।

**२२३७, २२३८.** अगीतार्थ, स्थिर और कृतकरण भिक्षु को एकासन, अकृतकरण को पुरिमार्ध, अगीतार्थ, अस्थिर, कृतकरण को नियमतः पुरिमार्ध, अस्थिर और अकृतकरण को निर्विगय अथवा अगीतार्थ और अस्थिर को आचार्य अपनी इच्छा से कोई अन्य प्रायश्चित्त भी दे सकते हैं।

**२२३९.** इसी प्रकार सबको यदि दश रात्रि प्रायश्चित्त की प्राप्ति हुई है तो कृतकरण आचार्य को दशरात्रि प्रायश्चित्त ही देना चाहिए।

**२२४०, २२४१.** अकृतकरण आचार्य को पणग, कृतकरण उपाध्याय को भी पणग, अकृतकरण उपाध्याय को उपवास—इसी प्रकार अंत में पुरिमार्ध तक अर्ध अपक्रान्ति से जानना चाहिए। इस प्रकार पन्द्रह से प्रारम्भ होकर अंत में एकासन तक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

**२२४२.** बीस से प्रारम्भ होकर आयम्बिल में तथा भिन्नमास उपवास में स्थित होता है। मास से प्रारम्भ होकर पंचक में तथा दो मास दश रात्रि में स्थित होता है।

**२२४३.** तीन मास पन्द्रह में, चार मास बीस रात्रि में, पांच मास पच्चीस में तथा छह मास एक मास में स्थित होता है।

**२२४४.** छेद दो मास में, मूल तीन मास में, अनवस्थाप्य चार मास में तथा पाराञ्चित पांच मास में स्थित होता है।

**२२४५.** ये तप योग्य लघु प्रायश्चित्त संक्षेप में कहे गए हैं। इसी प्रकार गुरुक प्रायश्चित्त भी अर्धअपक्रान्ति से जानने चाहिए।

**२२४६, २२४७.** इसी प्रकार मिश्र प्रायश्चित्त भी अर्धअपक्रान्ति से जानने चाहिए। इसी प्रकार दश दिन से

लेकर मास, सातिरेक मास यावत् छह मास तक जानना चाहिए। वहां भी उद्घात-अनुद्घात और मिश्र को अर्धअपक्रान्ति से सर्वत्र जानना चाहिए।

२२४८, २२४९. अथवा निर्विगय, पुरिमार्ध, एकासन, आयम्बिल, उपवास, पणग, दस, पन्द्रह, बीस, पच्चीस, लघुमास, गुरुमास, चतुर्लघु, चतुर्गुरु, छड्लघु, छड्गुरु, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—इसी प्रकार पणग आदि का ह्रास होता है।

२२५०. गुरुक, लघुक, मिश्रक को यहां भी वैसे ही जानना चाहिए। यह दिया जाने वाला प्रायश्चित्त-दान बुद्धि से जानना चाहिए।

२२५१. इसी प्रकार साध्वी के लिए भी प्रायश्चित्त की यही विधि है। केवल इतना विशेष है कि अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक प्रायश्चित्त साध्वी को नहीं दिया जाता।

२२५२. अथवा संक्षेप में पुरुष दो प्रकार के होते हैं—१. एकलविहारी २. गणप्रतिबद्धविहारी।

२२५३. गच्छ से निर्गत एकलविहारी तीन प्रकार के होते हैं—१.प्रतिमाप्रतिपन्नक २. जिनकल्पिक ३. स्वयंबुद्ध।

२२५४. वे नित्य अप्रमत्त होते हैं। कभी कर्म के उदय से यदि वे अतिचार का सेवन करते हैं तो उसी क्षण नियमत: साक्षी से प्रस्थापना—आलोचना करते हैं।

२२५५. संहनन और धृति से युक्त, सत्त्वाधिष्ठित, महान् योग को धारण करने वाले जिनकल्पी साधु अत्यधिक प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी निरनुग्रह रूप से सारे प्रायश्चित्त का वहन करते हैं।

२२५६. जो आलोचना में उपयुक्त हैं, वे आलोचना से शुद्ध हो जाते है। मूल प्रायश्चित्त तक वे स्वयं शुद्ध हो जाते हैं।

२२५७. बल और वीर्य का गोपन नहीं करने वाले, यथावादी तथाकारी, धीर तथा उत्तमश्रद्धा से युक्त जिनकल्पी मुनि नियमत: शुद्ध हो जाते हैं।

२२५८. गणप्रतिबद्ध साधु दो प्रकार के होते हैं—जिनप्रतिरूपी और स्थविर।[1] जिनप्रतिरूपी दो प्रकार के होते हैं—परिहारविशुद्धि तप वाले तथा यथालंदक।

२२५९. परिहारविशुद्धि तप वाले नित्य अप्रमत्त होते हैं। यदि कर्म के उदय से कहीं थोड़ा भी प्रमाद हो जाए तो वे कल्पस्थित के पास तत्काल प्रस्थापना (आलोचना) करते हैं।

२२६०. संहनन और धृति से युक्त, सत्त्वसम्पन्न तथा महान् योग को धारण करने वाले वे धीर पुरुष अत्यधिक प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी निरनुग्रह रूप से उसका वहन करते हैं।

---

१. जो अवसन्न साधुओं को संयम में स्थिर करता है, वह स्थविर कहलाता है। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—
१. जाति स्थविर—साठ वर्ष की वय वाला श्रमण।
२. पर्याय स्थविर—बीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण।
३. श्रुत स्थविर—स्थानांग और समवायांग का धारक।
स्थानांग सूत्र में दश प्रकार के स्थविरों का उल्लेख मिलता है।[1]

१. स्था १०/१३६

२२६१. आलोचना से लेकर मूल पर्यन्त आठ प्रकार की प्रस्थापना होती है—इनकी प्रस्थापना करके धीर और विशुद्ध चारित्र वाले मुनि शुद्ध हो जाते हैं।

२२६२. स्थविर भी विशुद्धतर होते हैं। उनके द्वारा भी कहीं कोई अतिचार का सेवन होता है तो वे तत्काल गुरु के पास उसकी प्रस्थापना—आलोचना करते है।

२२६३. प्रस्थापना की विधि को नहीं जानता हुआ आचार्य स्वयं को लांछित करता है तथा शिष्य की शुद्धि भी नहीं कर सकता।

२२६४. पुरुष द्वार सम्पन्न हो गया अब मैं प्रतिसेवना के बारे में कहूंगा। वह प्रतिसेवना आकुट्टिका आदि चार प्रकार की कही गई है।

**७४. प्रतिसेवना[1] चार कारणों से होती है—जान बूझकर, दर्प से, प्रमाद[2] से और कल्प से। प्रतिसेव्य के चार प्रकार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव और प्रतिसेवक का अर्थ है—पुरुष।**

२२६५. आकुट्टिका—जानते हुए हिंसा आदि प्रतिसेवना करना, वल्गन—कूदना आदि दर्प प्रतिसेवना है। कंदर्प आदि अथवा कषाय आदि को प्रमाद प्रतिसेवना जानना चाहिए।

२२६६. कषाय, विकथा, विकट—मदिरा, इंद्रिय और निद्रा—ये पंचविध प्रमाद हैं। प्रमाद का वर्णन किया गया, अब मैं कल्प प्रतिसेवना कहूंगा।

२२६७. गीतार्थ, कृतयोगी, उपयुक्त और यतनायुक्त मुनि जो प्रतिसेवना करता है, वह कल्प प्रतिसेवना है। गाथा (जीसू ७४) के पश्चार्द्ध का अर्थ मैं संक्षेप इस प्रकार कहूंगा।

२२६८. द्रव्य से आहार आदि तथा क्षेत्र से मार्ग आदि जानना चाहिए। दुर्भिक्ष आदि काल तथा हृष्ट और ग्लान आदि भाव कहलाता है।

**७५. जो जीत प्रायश्चित्त का दान कहा गया, वह प्रायः प्रमाद सहित का होता है। दर्प प्रतिसेवना वाले के प्रायश्चित्त में एक स्थान की वृद्धि हो जाती है।[3]**

---

१. प्रतिसेवना का अर्थ है—दोष का आचरण। ओघनिर्युक्ति में प्रतिसेवना के निम्न एकार्थक मिलते हैं—मलिनता, भंग, विराधना, स्खलना, उपघात, अशोधि और शबलीकरण।[1] यह दो प्रकार की होती है—१. मूलगुण प्रतिसेवना २. उत्तरगुण प्रतिसेवना। जीतकल्पभाष्य में प्रतिसेवना के चार भेद किए हैं—१. दर्प प्रतिसेवना २. कल्प प्रतिसेवना। ३. आकुट्टिका प्रतिसेवना ४. प्रमाद प्रतिसेवना। निशीथ चूर्णिकार ने इनका समाहार दो में कर दिया है—दर्पप्रतिसेवना २. कल्प प्रतिसवेना।[2] दर्प प्रतिसेवना मूलगुण और उत्तरगुण दोनों से सम्बन्धित होती है। विस्तार हेतु देखें इसी ग्रंथ की गा. ५८८ का टिप्पण।

**१. ओनि ७८८; पडिसेवणा मइलणा, भंगो य विराहणा य खलणा य। उवघाओ य असोही, सबलीकरणं च एगट्ठा।**

**२. निचू भा. १ पृ. ४२; तम्हा चउहा पडिसेवणा दुविहा भवति दप्पिया कप्पिया य।**

२. प्रमाद प्रतिसेवना का अर्थ है—दिन या रात में प्रतिलेखन या प्रमार्जन नहीं करते हुए प्राणातिपात आदि करना।[1]

**१. जीचू पृ. २५; पमाओ नाम जं राओ दिया वा अप्पडिलेहंतो अपमज्जयंतो य पाणाइवायाइयमावज्जइ।**

३. इस गाथा का तात्पर्य यह है कि यदि प्रमाद से निर्विकृतिक से तेले तक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है तो दर्प से प्रतिसेवना करने पर साधु को पुरिमार्ध से लेकर चोले तक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२६९. जो जीत प्रायश्चित्त का दान निर्विगय से तेले तक का कहा गया, वह तृतीय प्रमाद प्रतिसेवना युक्त के लिए है।

२२७०. दर्प प्रतिसेवना में पुरिमार्ध से लेकर अंत में चोले तक का प्रायश्चित्त देना चाहिए। अब आकुट्टिका–जानते हुए प्रतिसेवना के बारे में कहूंगा।

**७६. जानते हुए अपराध सेवन करने पर स्थानान्तर अथवा स्वस्थान प्रायश्चित्त देना चाहिए। कल्पप्रतिसेवना करने पर प्रतिक्रमण अथवा तदुभय प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है।**

२२७१. जानबूझकर किए जाने वाले अपराध में एकासन से लेकर अंत में पंचोला तप तक का प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। प्राणातिपात अपराध के अन्तर्गत स्वस्थान[1] में मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२२७२. कल्प प्रतिसेवना होने पर मिथ्याकार—मिच्छामि दुक्कडं अथवा तदुभय—आलोचना और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है।

**७७. आलोचना काल में संक्लिष्ट, विशुद्ध या मध्यम भावों को जानकर कम, अधिक या उतनी ही मात्रा में प्रायश्चित्त देना चाहिए।**

२२७३. आलोचना के काल में यदि साधु दोष को छिपाता है अथवा माया करता है तो वह संक्लिष्ट चित्त वाला होता है। उसको कम प्रतिसेवना में भी अधिक प्रायश्चित्त देना चाहिए।

२२७४. जो आलोचना-काल में संवेग को प्राप्त होता है, वह निंदा और गर्हा से विशुद्ध चित्त वाला होता है, उसे अल्प प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२२७५. जो आलोचना करता हुआ न दोष को छिपाता है और न अपने दोषों की निंदा करता है, वह मध्यम परिणाम वाला होता है, उसको प्रतिसेवना के अनुसार उसी मात्रा में प्रायश्चित्त देना चाहिए।

**७८. इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र आदि से अधिक गुण वाला अथवा गुरु-सेवा में नियुक्त के द्वारा अपराध होने वाले को अधिक प्रायश्चित्त देना चाहिए। द्रव्य आदि से हीन को हीनतर प्रायश्चित्त अथवा उससे मुक्त भी कर देना चाहिए।**

२२७६. इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि बहुगुण के आधार पर प्रायश्चित्त देना चाहिए। गुरु की सेवा प्रधान होती है, उसमें अधिक प्रायश्चित्त भी देना चाहिए।

२२७७. द्रव्य आदि के हीन या हीनतर होने पर प्रायश्चित्त भी हीन देना चाहिए। द्रव्य आदि से पूर्णतः हीन को प्रायश्चित्त मुक्त किया जा सकता है।

**७९. यदि प्रतिसेवक अन्य तप का वहन करता है तो अधिक प्रायश्चित्त को भी जीतव्यवहार से प्रायश्चित्त-मुक्त किया जा सकता है। वैयावृत्त्य करने वाले साधु को अनुग्रहपूर्वक उतना ही प्रायश्चित्त दिया जाता है, जितना वह वैयावृत्त्य करते हुए वहन कर सके।**

२२७८, २२७९. जोषण, क्षपण और मुंचन—ये एकार्थक शब्द हैं। प्रायश्चित्त से मुक्त किसको किया जाता है? यदि वह छहमास आदि अन्य तप का वहन कर रहा है, उस समय पांच दिन बीतने पर यदि उसने

---

१. जिस अपराध में प्रायः जो प्रायश्चित्त निश्चित होता है, वह स्वस्थान प्रायश्चित्त कहलाता है।

१. जीचू पृ. २५ ; सट्ठाणं जं जम्मि वा अवराहे सव्वबहुयं तस्स दिज्जइ, तं चेव सट्ठाणं होइ।

कोई दूसरा अतिचार सेवन किया है तो उस अतिचार का प्रायश्चित्त उसी में समाहित हो जाता है, वह प्रायश्चित्त से मुक्त हो जाता है।

२२८०. वैयावृत्त्य करता हुआ यदि किसी अन्य अतिचार का सेवन करता है तो वह जितना प्रायश्चित्त वहन करने में समर्थ हो, उतना ही प्रायश्चित्त देना चाहिए।

२२८१. वैयावृत्त्य करने वाले का प्रायश्चित्त कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है, जिसको वह वैयावृत्त्य के बाद में पूरा कर सके। यह तपोर्ह प्रायश्चित्त का वर्णन किया, अब मैं छेदार्ह प्रायश्चित्त के बारे में कहूंगा।

**८०. तप गर्वित[1], तप करने में असमर्थ, तप में श्रद्धा नहीं करने वाला, तपस्या करने पर भी अदम्य स्वभाव वाला, अतिपरिणामक और अतिप्रसंगी–इन सबको तप प्रायश्चित्त की प्राप्ति होने पर भी छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है।**

**८१. पिण्डविशोधि आदि उत्तरगुणों को अधिक भ्रष्ट करने वाला, बार-बार छेद प्रायश्चित्त को प्राप्त करने वाला, पार्श्वस्थ[2], कुशील आदि ( साधुओं की सेवा में तप्ति का अनुभव करने वाला ) अथवा वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं को तप्त करने वाला ( छेद प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है )।**

**८२. उत्कृष्ट तपोभूमि अर्थात् छहमास तप के प्रायश्चित्त को अतिक्रान्त करने वाले साधु का जितने दिन का पर्याय है, उसमें पणग आदि का छेद[3] प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।**

२२८२, २२८३. मेरा शरीर तपबलिक है, मैं तप करने में समर्थ हूं, इस प्रकार तप का गर्व करने वाला तथा तप करने में असमर्थ ग्लान या बाल आदि जो तप के प्रति श्रद्धा नहीं करता अथवा तप से भी जिसका

---

१. छह मास का तप करने वाला अथवा अन्य विकृष्ट तप करने वाला साधु यह सोचे कि इस तप प्रायश्चित्त से मेरा क्या होगा, इस प्रकार गर्व करने वाला तपगर्वित कहलाता है।

२. जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन में सम्यक् रूप से आयुक्त नहीं है तथा ज्ञान आदि के पार्श्व—तट पर स्थित है, वह पार्श्वस्थ है।[4]

भाष्यकार ने इसका दूसरा अर्थ किया है कि जो बंध के हेतुभूत प्रमाद आदि पाशों में स्थित है, वह पार्श्वस्थ है।[5] आचार्य महाप्रज्ञ ने पार्श्वस्थ शब्द की सुंदर परिकल्पना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार 'पासत्थ' का संस्कृत रूप पार्श्वस्थ ही होना चाहिए। भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में स्थित पार्श्वस्थ। पार्श्वनाथ की परम्परा के जो साधु श्रमण महावीर के शासन में सम्मिलित नहीं हुए, उन्हीं के लिए पार्श्वस्थ शब्द का प्रयोग हुआ। भगवान् पार्श्व का आचार मृदु था अत: जब तक शक्तिशाली आचार्य थे, तब तक दोनों परम्पराओं में सामञ्जस्य रहा। जब शक्तिसम्पन्न आचार्य नहीं रहे, तब पार्श्वनाथ के शिष्यों के प्रति महावीर के शिष्यों में हीन भावना बढ़ने लगी अत: 'पार्श्वस्थ' शब्द शिथिलाचारी के अर्थ में रूढ़ हो गया।[6]

**१. व्यभा ८५४ ; दंसण-नाण-चरित्ते, सत्थो अच्छति तहिं न उज्जमति। एतेण उ पासत्थो, एसो अन्नो वि पज्जाओ।**

**२. व्यभा ८५५ ; पासो त्ति बंधणं ति य, एगट्ठं बंधहेतवो पासा। पासत्थिय पासत्थो, अन्नो वि एस पज्जाओ।**

**३. देखें सू १/१/३२ का टिप्पण।**

३. इस गाथा का भावार्थ यह है कि महावीर के तीर्थ में उत्कृष्ट तपस्या छहमास की विहित है। जो साधु छह मास के तप प्रायश्चित्त से अधिक अतिचार का सेवन कर लेता है तो उसे फिर तप प्रायश्चित्त न देकर अतिचार-विशुद्धि हेतु छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है।

दमन नहीं होता अथवा अतिपरिणामक साधु, जो बार-बार उस अतिचार प्रसंग का सेवन करता है।

२२८४-८६. पिण्डविशोधि आदि अनेक प्रकार के उत्तर गुण होते हैं। उनका पुनः पुनः भंग करने वाला, छेद प्रायश्चित्त प्राप्ति जैसा अतिचार सेवन-कर्ता अथवा आदि शब्द से पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त तथा नित्यवासी तथा वैयावृत्त्य करने वाले साधुओं को परितापित करने वाला। (छेद प्रायश्चित्त प्राप्त करता है।)

२२८७. आदि तीर्थंकर ऋषभ की उत्कृष्ट तपोभूमि एक वर्ष की होती है। मध्यम तीर्थंकरों की आठ मास होती है।

२२८८. अंतिम तीर्थंकर की उत्कृष्ट तपोभूमि छह मास पर्यन्त होती है। इस उत्कृष्ट तप-सीमा को अतिक्रान्त करने वाला छेद प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है।

२२८९. जितनी संयम-पर्याय है, उसमें से इन यथोद्दिष्ट तप गर्वित आदि सबको पांच दिन आदि का छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए।

**८३. जानते हुए पंचेन्द्रिय का घात, दर्प से मैथुन-सेवन[1] तथा शेष मृषावाद आदि में अभीक्ष्ण प्रतिसेवना—इन तीनों का छेद प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।**

२२९०, २२९१. जानबूझकर यदि साधु पंचेन्द्रिय का वध करता है। दर्प से मैथुन सेवन करता है, शेष मृषावाद, अदत्तादान, परिग्रह आदि व्रतों में व्यर्थ ही बार-बार उत्कृष्ट प्रतिसेवना करता है, इन सबमें मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए।

**८४. तप गर्वित आदि में तथा मूल और उत्तर गुणों में दोष सेवन करने वाला, दर्शनवान्त, चारित्रवान्त, त्यक्तकृत्य—संयम छोड़ने वाला तथा अनवस्थाप्य शैक्ष—इन सबको मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

२२९२. तपगर्वित से लेकर अतिपरिणामक और अतिप्रसंगी—इन सबको यथोपदिष्ट मूल प्रायश्चित्त जानना चाहिए।

२२९३. बहुविध मूलगुण और उत्तरगुणों को जो अनेक बार दूषित करता है या उनका भंग करता है, वह व्यतिकर कहलाता है, ऐसे साधु को मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

२२९४. निश्चयनय से चरणघात और आत्मविघात होने पर ज्ञान और दर्शन का वध भी होता है। व्यवहारनय से चारित्र का हनन होने पर शेष दर्शन और ज्ञान की भजना रहती है।

२२९५. जिसने दर्शन को त्यक्त कर दिया है, उसके चारित्र का त्याग भी जानना चाहिए। लिंग छोड़ने वाले को त्यक्तलिंग जानना चाहिए।

२२९६. अथवा जिसने सम्पूर्ण संयम का त्याग कर दिया, उसे त्यक्तकृत्य जानना चाहिए। उपस्थापना

---

१. जीतकल्पचूर्णि की विषमपद व्याख्या में दर्प से मैथुन-सेवन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसके सतीत्व को नष्ट करूंगा, इस बुद्धि से कोई साधु स्त्री के साथ प्रतिसेवना करता है तो वह दर्प युक्त मैथुन-सेवन है।'

१. जीचूवि पृ. ५४।

रहित अनुपस्थाप्य शैक्ष[1]—इन सबके लिए मूल प्रायश्चित्त जानना चाहिए।

**८५. अत्यन्तअवसन्न, गृहस्थलिंग, अन्यतीर्थिक लिंग करने वाला, मूलकर्म का सेवन करने वाला, विहित तप अर्थात् अनवस्थाप्य और पाराञ्चित तप प्राप्त कर्ता भिक्षु को भी मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।**

२२९७. अवसन्न के द्वारा प्रव्रजित अथवा संविग्न से दीक्षित होने पर भी अवसन्न के साथ विहरण करने वाला अत्यन्त अवसन्न कहलाता है।

२२९८. जो दर्प से गृहस्थलिंग तथा अन्ययूथिक—इन दो परलिंगों को स्वीकार करता है, उसे मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। गर्भाधान और गर्भपरिशाटन—ये दोनों मूलकर्म हैं।

२२९९. भिक्षाशील भिक्षु कहलाता है। विहित तप को उपनय जानना चाहिए। वह दो प्रकार का होता है—अनवस्थाप्य तप और पाराञ्चित तप।

२३००. अतिचार सेवन से जिसको अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—इन दोनों प्रकार के प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है, ऐसे भिक्षु को मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

**८६. छेद प्रायश्चित्त से श्रमण पर्याय का निरवशेष छेद होने पर उसका अवसान अनवस्थाप्य और पाराञ्चित तप में होता है। जो अपने गण में पुनः पुनः मूल प्रायश्चित्तार्ह अपराध करता है, उसे मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

२३०१. पर्याय का छेद होते-होते जिसका सम्पूर्ण पर्याय छिन्न हो जाता है, अनवस्थाप्य तप वहन कर लेने पर उसका अवसान पाराञ्चित प्रायश्चित्त में होता है।

२३०२. मूल प्रायश्चित्तार्ह प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी जो बार-बार अपने गण में अपराध सेवन करता है, उपर्युक्त सबको मूल प्रायश्चित्त देना चाहिए।

२३०३. अनवस्थाप्य दो प्रकार का होता है—आशातना करने वाला और प्रतिसेवी। मैं आशातना अनवस्थाप्य को संक्षेप में इस प्रकार कहूंगा।

२३०४. तीर्थंकर, संघ, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्धिक की आशातना करने वाले की प्रायश्चित्त-मार्गणा इस प्रकार है—

२३०५. प्रथम और द्वितीय अर्थात् तीर्थंकर और संघ की आंशिक या सर्व आशातना करने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। शेष श्रुत आदि की देश आशातना करने पर चतुर्गुरु (उपवास) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अब मैं प्रतिसेवना अनवस्थाप्य को कहूंगा।

**८७. विशेष रूप से बार-बार प्रद्विष्ट चित्त होकर जो चोरी करता है, निरपेक्ष और घोर परिणाम वाला होकर स्वपक्ष[2] पर प्रहार करता है, उसे अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।**

२३०६. उत्कृष्ट का अर्थ है विशिष्ट। बहुक का अर्थ है—बार-बार। जो अत्यधिक क्रोध आदि करता है, उसे प्रद्विष्टचित्त जानना चाहिए।

---

१. नवदीक्षित शैक्ष की उपस्थापना होती है अतः उसका यहां उल्लेख है। उसको मूल प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता।

२. गाथा में आए 'च' शब्द से परपक्ष को भी ग्रहण करना चाहिए।

२३०७. प्रतिसेवना अनवस्थाप्य संक्षेप में तीन प्रकार का होता है—१. साधर्मिक स्तैन्य २. अन्यधार्मिक स्तैन्य ३. हस्तताल या हस्तादान।

२३०८. साधर्मिक स्तैन्य दो प्रकार का होता है—सचित्त और अचित्त। अचित्त में उपधि और भक्त की चोरी करने वाला तथा सचित्त में शैक्ष का अपहरण करने वाला।

२३०९. साधर्मिक की उपधि को चुराना, गुरु को कहे बिना उसको स्वयं ले लेना, उपधि दग्ध हो गई, इस बहाने से गृहस्थ से नए वस्त्र लेना, गुरु ने किसी के लिए पात्र, वस्त्र आदि भेजा, वह उसे न देकर बीच में स्वयं ले लेना—ये सब अदत्त व्यवहार शैक्ष करे या अशैक्ष, देखते हुए करे या बिना देखते हुए, उसे प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

२३१०. शैक्ष पद से यहां अगीतार्थ मुनि तथा आचार्यपद आदि ऋद्धि से रहित गीतार्थ जानना चाहिए। उपधि अर्थात् वस्त्र, पात्र आदि। उपधि परिगृहीत और अपरिगृहीत दोनों प्रकार की होती है। इन दोनों के तीन-तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

२३११. यदि उपधि अपरिगृहीत है, साधर्मिक को छोड़कर अन्य प्रवासी साधु की है तो उसे चुराने पर क्षेत्र के आधार पर शोधि इस प्रकार होती है—

२३१२, २३१३. उपाश्रय के अंदर और बाहर निवेशन—घर, वाटक[1], ग्राम, उद्यान और सीमा का अतिक्रमण—इन सबके अंदर और बाहर अदृष्ट चोरी करने पर लघुमास[2] से प्रारम्भ होकर छेद प्रायश्चित्त तक अर्ध अपक्रान्ति से शोधि होती है।

२३१४. शैक्ष के द्वारा दृष्ट स्तैन्य करने पर गुरुमास से लेकर मूल पर्यन्त प्रायश्चित्त निर्दिष्ट है। उपाध्याय और आचार्य के एक-एक स्थान की वृद्धि हो जाती है।[3]

२३१५. यह उपाश्रय से साधर्मिक की उपधि हरण करने का प्रायश्चित्त कहा। अब गुरु की आज्ञा के बिना स्वयं ही ग्रहण करके उसका प्रयोग करने का प्रायश्चित्त कहूंगा।

२३१६, २३१७. गुरु ने त्रिविध उपधि लाने के लिए भेजा। उसको वहीं प्राप्त करके 'यह तुम्हारी है, यह मेरी है' बाहर ही उसका विभाजन करके आत्मार्थ कर लिया, ऐसी स्थिति में स्वयं काम में लेने पर

---

१. वाटक की पाटक छाया भी संभव है। आप्टे में पाटक शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं, उनमें दो अर्थ यहां संगत हैं—१. गांव का एक भाग, २. गांव का आधा हिस्सा।[1]

१. आप्टे पृ. ५८०।

२. उपाध्याय और आचार्य के द्वारा अदृष्ट चोरी करने पर गुरुमास से लेकर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का विधान है तथा दृष्ट स्तैन्य करने पर चतुर्गुरु से लेकर पाराञ्चित पर्यन्त प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३. उपाश्रय के भीतर यदि साधर्मिक की चोरी करता है तो लघुमास, उपाश्रय के बाहर करने पर गुरुमास, निवेशन के भीतर गुरुमास, उसके बाहर चतुर्लघु, वाटक के भीतर चतुर्लघु, वाटक के बाहर चतुर्गुरु, ग्राम के अंदर चतुर्गुरु, ग्राम के बाहर षड्लघु, उद्यान के अंदर षड्लघु, उसके बाहर षड्गुरु, सीमा के भीतर षड्गुरु, सीमा का अतिक्रमण करने पर छेद प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[1]

१. बृभा ५०६६ टी पृ. १३५१।

लघुमास, आकर उपधि गुरु को निवेदित नहीं करने पर या नहीं देने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। सूत्र के आदेश के अनुसार ऐसे मुनि अनवस्थाप्य होते हैं।[1]

**२३१८, २३१९.** व्यापारित स्तैन्य का दूसरा प्रकार यह है—किसी श्रावक ने वस्त्र आदि लेने के लिए निमंत्रण दिया। आचार्य ने वस्त्र आदि उपधि लेने का प्रतिषेध कर दिया। वस्त्र देखकर वह मुनि श्रावक के पास जाकर बोला कि मेरी उपधि जल गई है। गुरु ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है अतः मुझे उपधि दो। श्रावक ने उसे उपधि दे दी। श्रावकों को कैसे ज्ञात हुआ?

**२३२०-२२.** मुनि उपधि लेकर उपाश्रय पहुंचा। श्रावकों ने गुरु के पास आकर पूछा—'उपधि किसकी जल गई थी?' गुरु ने कहा—'उपधि किसी की दग्ध नहीं हुई है। कौन मुनि उपधि लेकर आया है?' यह सुनकर श्रावक को प्रीति या अप्रीति होती है। यदि श्रावक अनुग्रह मानता है तो मुनि को चतुर्लघु, यदि श्रावक को अप्रीति उत्पन्न होती है तो चतुर्गुरु, यदि लोगों में 'चोर' शब्द प्रचारित होता है तो मूल, शेष साधुओं के लिए अन्य द्रव्यों के विच्छेद का प्रसंग होता है तो शेष प्रायश्चित्त प्राप्त होते हैं।

**२३२३, २३२४.** उपधि न जलने पर यह प्रायश्चित्त-विधि है—यथार्थ रूप में उपधि दग्ध होने पर गुरु ने शिष्य को उपधि लाने के लिए भेजा, बीच में ही शिष्य द्वारा अच्छी उपधि को अपनी बना लेने पर चतुर्लघु[2], गुरु को निवेदन नहीं करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। सूत्र के आदेश से वह अनवस्थाप्य होता है।

**२३२५, २३२६.** उपधि दग्ध होने पर स्तैन्य का प्रायश्चित्त कहा, अब प्रस्थापित स्तैन्य के बारे में कहूंगा। एक आचार्य ने किसी अन्य आचार्य को सनियोग—पात्रकबंधयुक्त उत्कृष्ट पात्र भेजा। बीच में साधु उसे स्वयं ग्रहण कर ले तो चतुर्लघु, गुरु को नहीं देने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। सूत्र के आदेश से वह अनवस्थाप्य होता है।

**२३२७.** इस प्रकार उपधि-स्तैन्य का वर्णन किया, अब आहार-स्तैन्य के बारे में कहूंगा। यदि साधु असंदिष्ट स्थापनाकुल में भिक्षार्थ जाता है तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२३२८, २३२९.** गुरु की आज्ञा के बिना स्थापनाकुल[3] में प्रवेश करके पूछने या न पूछने पर साधु कहता है कि आचार्य ने मुझे भेजा है तो उसको लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। यदि साधु कहता है कि अतिथि और ग्लान के लिए आया हूं, इस प्रकार श्रावक को भ्रम में डालने पर और मायापूर्वक कहने पर गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। अथवा आकर गुरु के समक्ष उस आहार की आलोचना नहीं करने पर गुरुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२३३०.** साधु और श्रावक को कैसे ज्ञात होता है कि साधु ने स्तैन्य किया है? आचार्य उत्तर देते हुए कहते

---

१. द्र. निभा ३३३ चू पृ. ११६।

२. बृभा (५०७१) में लघुमास प्रायश्चित्त का उल्लेख है।

३. दानश्राद्ध आदि के कुल को स्थापनाकुल कहा जाता है। स्थापना कुल के विस्तार हेतु देखें गा. १७७५ का टिप्पण।

हैं कि कोई अन्य असंदिष्ट व्यक्ति स्थापनाकुल में प्रविष्ट होता है।

२३३१, २३३२. गुरु संघाटक के चले जाने पर भी श्रावक यदि कहते हैं कि गुरु के योग्य आहार आदि ले जाओ। 'गुरु नहीं है' यह बात ज्ञात होने पर भी यदि श्रावक अनुग्रह मानते हैं तो चतुर्लघु, यदि अप्रीति करते हैं तो चतुर्गुरु, यदि श्रावक विपरिणत होकर गुरु और ग्लान के योग्य भक्त का विच्छेद करते हैं तो चतुर्गुरु, यदि क्षपक और प्राघूर्णक के प्रायोग्य आहार नहीं देते तो चतुर्लघु, बाल और वृद्धों के योग्य आहार न देने पर गुरुमास तथा शैक्ष और बहुभक्षी को आहार न देने पर लघुमास प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

२३३३. अचित्त भक्त सम्बन्धी स्तैन्य का कथन कर दिया, अब सचित्त स्तैन्य के अन्तर्गत शैक्ष सम्बन्धी स्तैन्य के बारे में कहूंगा।

२३३४-३७. 'मैं अमुक साधु के पास दीक्षा ग्रहण करूंगा', यह सोचकर कोई शैक्ष जा रहा हो, बीच में ही यदि कोई साधु उसका अपहरण कर ले अथवा कोई साधु ग्राम के बाहर दीक्षा लेने वाले शैक्ष को एक स्थान पर ठहराकर स्वयं भिक्षार्थ चला जाए। संज्ञाभूमि में गया कोई पथिक साधु उस शैक्ष साधु को देखे। वंदना करने पर साधु शैक्ष से पूछे—'तुम कौन हो?' शैक्ष कहे—'मैं दीक्षा लेना चाहता हूं।' तब मुनि पूछे कि तुम ससहाय हो अथवा असहाय? शैक्ष कहे कि मैं ससहाय हूं। मुनि पूछे कि तुम्हारा सहायक कहां है? शैक्ष कहे—'वे मुझ भूखे और प्यासे के लिए भक्तपान लेने के लिए घूम रहे हैं।' तब वह मुनि कहे कि मेरे पास अन्न आदि है अतः तुम इसको खाओ। यदि वह अनुकम्पा से भोजन दे तो शुद्ध है। शैक्ष के द्वारा पूछने या न पूछने पर अनुकम्पा और अशठभाव से धर्मकथा करे तो वह शुद्ध है।

२३३८. यदि शठता से भोजन दे अथवा धर्मकथा करे तो उसमें दोष होता है। शैक्ष को अपहृत करने के निम्न स्थान हैं—

२३३९. व्यक्त या अव्यक्त शैक्ष के अपहरण से सम्बन्धित संक्षेप में ये छह पद होते हैं—१. भक्तप्रदान—शैक्ष का अपहरण करने के लिए उसे भक्तपान देना। २. धर्मकथा—धर्मकथा करना। ३. निगूहनवचन—किसी स्थान पर छिपा देना। ४. व्यापृत करना—किसी अन्य कार्य में लगा देना। ५. झंपना—पलाल आदि से ढक देना। ६. प्रस्थापन—उसे लेकर किसी अन्य ग्राम में प्रस्थित कर देना।[1]

२३४०. अव्यक्त शैक्ष अर्थात् जिसके अभी दाढ़ी-मूंछ नहीं आई है, उस शैक्ष सम्बन्धी अपहरण के छह स्थानों के निम्न प्रायश्चित्त हैं—भक्तपान देने पर गुरुमास, धर्मकथा करने पर चतुर्लघु, निगूहनवचन बोलने पर चतुर्गुरु, व्यापृत करने पर षड्लघु, झम्पन करने—ढकने पर षड्गुरु तथा प्रस्थापन—स्वयं हरण करने पर छेद प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। व्यक्त शैक्ष के अपहरण सम्बन्धी पदों में साधु को चतुर्लघु से मूल पर्यन्त, उपाध्याय को चतुर्गुरु से अनवस्थाप्य पर्यन्त तथा आचार्य को छहलघु से पाराञ्चित पर्यन्त प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

---

१. बृभा ५०७६ टी पृ. १३५४।

२३४१, २३४२. कोई शैक्ष अमुक आचार्य के पास दीक्षा-ग्रहण का संकल्प लेकर अभिनिष्क्रमण करे, मार्ग में पूछे जाने पर वह कहे कि मैं अमुक आचार्य के पास प्रव्रजित होने जा रहा हूं। वहां भी अव्यक्त शैक्ष को यदि साधु भक्तपान-दान और धर्मकथा आदि करे तो (भक्तपान का गुरुमास और धर्मकथा का चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है।) यहां असहाय शैक्ष[1] होने के कारण शेष निगूहन आदि चार पद नहीं होते।

२३४३. इसी प्रकार प्रव्रज्या लेने की इच्छुक कोई स्त्री शैक्ष अमुक आचार्य के पास दीक्षा-ग्रहण करने की बात सोचती हुई जा रही हो तो उसका हरण करने में होने वाले दोष पुरुष शैक्ष की भांति जानने चाहिए। व्यक्त या अव्यक्त शैक्ष का अपहरण करने में ये दोष हैं—

२३४४. (शैक्ष का अपहरण करने में निम्न दोष हैं—)

- आज्ञा-भंग आदि दोष।
- साधर्मिक स्तैन्य।
- अनंतसंसारिकत्व।
- प्रमत्त साधु की प्रान्त देवता द्वारा छलना।
- बोधि की दुर्लभता।
- अधिकरण—कलह।

२३४५. आपवादिक स्थिति में पूर्वगत और कालिकानुयोग के कुछ अंशों का विच्छेद होने आदि कारणों के उपस्थित होने पर शैक्ष का अपहरण कल्प्य होता है।[2]

२३४६, २३४७. कारण उपस्थित होने पर अपहृत शैक्ष जब स्वयं प्रावचनिक हो जाए तो वह गुरु के कालगत होने पर स्वयं गण को धारण करे, जब एक शिष्य निष्पन्न हो जाए तो फिर उसकी स्वयं की इच्छा है कि वह वहां रहे या न रहे।

२३४८, २३४९. यदि निष्कारण ही शैक्ष का अपहरण हो तो वह स्वयं पूर्व आचार्य के पास चला जाए। यदि उस संघ के आचार्य अभ्युद्यत मरण या गुरु विहार[3] स्वीकार कर लें तो अन्य किसी योग्य शिष्य के न होने पर उसी गण में उसको आचार्य पद पर आरूढ़ किया जाता है। वह वहां आचार्य पद तब तक धारण करे, जब तक उस गण में अन्य शिष्य तैयार न हो जाएं।

२३५०. साधर्मिक के सचित्त स्तैन्य का वर्णन सम्पन्न हुआ, अब परधार्मिक स्तैन्य से होने वाले दोषों को कहूंगा।

---

१. गाथा २३३४-४० का कथन ससहाय शैक्ष के संदर्भ में था। इस गाथा में असहाय शैक्ष के संदर्भ में व्याख्या की गई है।

२. कोई बहुश्रुत आचार्य पूर्वगत या कालिकश्रुत के अध्ययनों का ज्ञाता है। उसका ज्ञान यदि किसी अन्य साधु को नहीं हो तो उस ज्ञान की अव्यवच्छित्ति के लिए ग्रहण और धारणा में समर्थ शिष्य को भक्तपान आदि के माध्यम से विपरिणत करके उसका अपहरण किया जा सकता है।[1]

१. बृभा ५०८३ टी पृ. १३५५।

३. सूत्र और अर्थ की अव्यवच्छित्ति के पश्चात् आचार्य मध्यरात्रि में यह चिंतन करते हैं कि मैंने दीर्घकाल तक संयम का पालन किया, शिष्यों को वाचना दी, तीर्थ की अव्यवच्छित्ति हेतु शिष्यों का निर्माण किया, अब मेरे लिए आत्महित करना श्रेयस्कर है। अब मैं अनुत्तर गुणों वाला गुरुविहार स्वीकार करूं अथवा अभ्युद्यत मरण का वरण करूं। गुरुविहार का अर्थ है—जिनकल्प आदि की विशेष साधना का स्वीकरण। अभ्युद्यत विहार के तीन प्रकार हैं—जिनकल्प, परिहारविशुद्ध और यथालंदिक की साधना।[1]

१. बृभा १२८४ टी पृ. ३९६।

**२३५१.** परधार्मिक भी दो प्रकार के होते हैं—लिंगप्रविष्ट और गृहस्थ। इन सबका स्तैन्य तीन प्रकार का होता है—आहार, उपधि और सचित्त—शैक्ष विषयक।

**२३५२.** कोई लुब्ध मुनि बौद्ध भिक्षुओं की संखड़ी में उनका लिंग धारण करके भोजन करता है, उस समय कोई उसे पहचान ले तो चतुर्लघु और यदि उसकी भर्त्सना हो तो चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२३५३, २३५४.** लोग प्रवचन की हीलना करते हैं कि ये लोग भोजन के लिए ही प्रव्रजित होते हैं, इन्होंने कभी दान दिया ही नहीं है तथा ये दुष्ट आत्मा वाले हैं। गृहवास में भी ये गरीब ही थे। निश्चित ही इन्होंने अपना कल्याण नहीं देखा है। इनके शास्ता ने इनका गला नहीं दबाया और सब कुछ कर दिया।[1]

**२३५५-५७.** यह आहारविषयक स्तैन्य का वर्णन है। उपधि विषयक स्तैन्य का वर्णन इस प्रकार है कि कोई बौद्ध भिक्षु अपने मठ में उपधि छोड़कर भिक्षार्थ गया। यदि उसकी उपधि को साधु चुराए तो चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। यदि वह बौद्ध भिक्षु मुनि को पकड़ ले तो चतुर्गुरु, राजकुल के सम्मुख उसे घसीटे तो छड्गुरु, यदि राजा व्यवहार—न्याय करे तो छेद, यदि उसे पश्चात्कृत (पुनः गृहस्थ बनाना) करे तो मूल तथा देश से निष्काशित करे अथवा अपद्रावण करे तो अंतिम पारांचित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२३५८.** इन दोषों के कारण अदत्त को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यह उपधि स्तैन्य का वर्णन है, अब मैं सचित्त स्तैन्य के बारे में कहूंगा।

**२३५९.** जो साधु अव्यक्त क्षुल्लक अथवा क्षुल्लिका को उसके सम्बन्धी से पूछे बिना चुराकर ले जाए तो उसको चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। व्यक्त के लिए पृच्छा की अपेक्षा नहीं है। व्यक्त के क्षेत्र और उसकी शक्ति को जानकर प्रव्रजित किया जा सकता है।[2]

**२३६०.** यह लिंगप्रविष्टों (अन्यधार्मिकों) के स्तैन्य का वर्णन किया गया। गृहस्थों का स्तैन्य भी इसी प्रकार तीन प्रकार का होता है। इसमें ग्रहण, कर्षण आदि दोष विशेष रूप से होते हैं।

**२३६१.** घर में सुखाने के लिए फैलाई हुई पिष्टपिंडिका आदि को देखकर कोई क्षुल्लिका साध्वी उसे ग्रहण कर ले। ग्रहण करती हुई उस क्षुल्लिका को गृहस्वामिनी भी देख ले, वह क्षुल्लिका साध्वी भी कुशलता से अन्य साध्वी के पात्र में वस्तु डाल दे तो यह आहार स्तैन्य है।

**२३६२.** आहार स्तैन्य करने पर चतुर्लघु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। एक आदेश के अनुसार वह अनवस्थाप्य होता है। इसी प्रकार सूत्राष्टिका वस्त्र आदि का ग्रहण उपधि स्तैन्य है।

---

१. इनका प्रायश्चित्त पूर्ववत् जानना चाहिए।

२. यहां शाक्य आदि की क्षुल्लक या क्षुल्लिका होने से उसे अन्यधार्मिक स्तैन्य जानना चाहिए। बृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति के अनुसार यदि क्षेत्र शाक्य आदि से प्रभावित है तथा राजभवन में उनका प्रभाव है तो पृच्छा के बिना व्यक्त क्षुल्लक या क्षुल्लिका को भी दीक्षित करना कल्प्य नहीं है।

२३६३. निजक माता-पिता आदि सम्बन्धियों की आज्ञा के बिना अप्राप्तवय वाले पुरुष को दीक्षित नहीं करना चाहिए। यदि वह अपरिगृहीत है तथा शेष बाल, जड्ड आदि दोषों से रहित है तो अव्यक्त को प्रव्रजित करना कल्प्य है।

२३६४. नारी प्राय: अपरिगृहीता[1] नहीं होती अत: बिना आज्ञा उसे दीक्षा देना कल्प्य नहीं होता। कोई अदत्त नारी भी दीक्षा के लिए कल्प्य होती है, जैसे—करकंडु की माता रानी पद्मावती[2] और क्षुल्लक कुमार की माता यशोभद्रा।[3]

२३६५. आहार के सम्बन्ध में अपवाद यह है कि दुर्गम मार्ग या दुर्भिक्ष आदि कारणों से अदत्त ग्रहण किया जा सकता है। आगाढ़ स्थिति में विविध उपधि चुराई जाने पर अदत्त उपधि ग्रहण की जा सकती है।

२३६६. स्वलिंगियों की थली—देहली में पहले भोजन की याचना करनी चाहिए—उनके द्वारा न देने पर बलात् भी ग्रहण किया जा सकता है। यदि अन्यतीर्थिक दुष्ट या दारुण स्वभाव के हैं तो प्रच्छन्न रूप से भी उपधि आदि ग्रहण की जा सकती है।

२३६७. परलिंगियों में भी पहले याचना करने पर नहीं मिलता तो प्रच्छन्न रूप से अदत्त ग्रहण किया जा सकता है। गृहस्थों से भी आगाढ़ कारण में अदत्त ग्रहण किया जा सकता है।

२३६८. आहार और उपधि के ग्रहण सम्बन्धी आपवादिक स्थिति का वर्णन सम्पन्न हुआ, अब अपवाद स्थिति में सचित्त अदत्त ग्रहण के विषय में कहूंगा।

२३६९, २३७०. पूर्वगत और कालिकानुयोग का विच्छेद जानकर कोई आचार्य उपयोग लगाए कि यह बालक युगप्रधान आचार्य होगा, तब वह गृहस्थ या अन्यतीर्थिक के बालक या बालिका का हरण कर सकता है। यह साधर्मिक स्तैन्य और अन्यधार्मिक स्तैन्य के बारे में वर्णन किया गया है।

२३७१. गाथा जीसू ८७ के पूर्वार्द्ध में स्तैन्य के बारे में कहा गया, अब गाथा के पश्चार्द्ध का अर्थ कहूंगा।

२३७२. अब मैं यथाक्रम से हस्ततात के बारे में कहूंगा। हस्ततात क्या होता है? जो कहा जा रहा है, उसे तुम सुनो।

२३७३. हस्ततात, हस्तालम्ब और अर्थादान—ये तीन शब्द जानने चाहिए। इनमें जो नानात्व है, वह मैं यथाक्रम से कहूंगा।

२३७४. हाथ के द्वारा ताड़न करने को हस्ततात जानना चाहिए। वहां दण्ड होता है, वह लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार का इस रूप में है—

---

१. नारी बचपन में पिता के, यौवन में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन होती है अत: नारी प्राय: स्वतंत्र नहीं होती। इस संदर्भ में व्यवहारभाष्य में निम्न श्लोक प्राप्त होता है—

जाता पितिवसा नारी, दिण्णा नारी पतिव्वसा। विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयंवसा॥ व्यभा १५८९/१

२, ३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५६, ५७।

२३७५. लौकिक हस्ततल[1] में पुरुषवध हेतु प्रयुक्त खड्ग आदि का गुरुक दण्ड होता है। केवल दण्ड-प्रहार में भजना है। अब मैं लोकोत्तरिक दण्ड के बारे में कहूंगा।

२३७६. जो साधु हाथ-पैर अथवा यष्टि आदि से प्रहार करता है, वह अनवस्थाप्य होता है। प्रहार करने पर भी यदि कोई नहीं मरता है तो दण्ड की भजना है। मर जाने पर पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२३७७. अपवाद पद में शिष्य को विनय-शिक्षा देते हुए हस्ततल का प्रयोग किया जा सकता है अथवा घोर जंगल में चोर, श्वापद आदि का भय होने पर हस्ततल का प्रयोग किया जा सकता है।

२३७८. शिष्य को विनय[2]—शिक्षा देने के लिए कान मोड़ना, सिर पर ठोला मारना, चपेटा देना—ये सब सापेक्ष हस्ततल हैं, मर्मस्थानों की रक्षा करते हुए यह सब किया जाता है।

२३७९. शिष्य प्रश्न पूछता है कि दूसरे को परिताप देना असाता वेदनीय कर्मबंध का हेतु है, फिर आपने इसकी अनुज्ञा कैसे दी? आचार्य कहते हैं कि इसका कारण सुनो।

२३८०. यह सत्य है कि जिनेश्वर भगवान् ने परपरिताप को असाता का हेतु बताया है। किन्तु यह परिताप दुःशील और अविनीत शिष्य के लिए आत्महित और परहित होने के कारण वांछनीय है।

२३८१. शिल्प तथा नैपुण्य—लिपि, गणित आदि कला को सीखने के लिए लौकिक गुरु का व्याघात आदि सहन किया जाता है, वह इहलोक के लिए मधुर फल देने वाला होता है, यह उपमा है।

२३८२. अथवा रोगी को पहले मधुर वचनों से औषध दी जाती है, बाद में देहहित के लिए ताड़न आदि के द्वारा भी औषधि दी जाती है।

२३८३. इसी प्रकार भव रोग से पीड़ित की भी पहले अनुकूल वचनों से सारणा की जाती है, बाद में परलोक के हित के लिए प्रतिकूल अनुशासना भी की जाती है।

२३८४. विनय से युक्त शिष्य इहलोक और परलोक में अनुत्तर फल को प्राप्त करता है। वह महाभाग संवेग आदि इन गुणों से युक्त होता है।

२३८५. संविग्न, मार्दवयुक्त, गुरु को नहीं छोड़ने वाला, गुरु के अनुकूल चलने वाला, विशेषज्ञ, उद्युक्त—स्वाध्याय में लीन रहने वाला, वैयावृत्त्य आदि में अपरितान्त—इन गुणों से युक्त साधु इष्ट प्रयोजन को प्राप्त कर लेता है।

---

१. बृहत्कल्प की टीका के अनुसार लौकिक हस्ततल में खड्ग आदि का प्रयोग करने पर पुरुषवध हो जाने से ८० हजार रुपयों का गुरुक दंड होता है। यदि प्रहार करने पर पुरुष नहीं मरता है तो दंड की भजना है।[1] आनंदपुर में प्रहार करने पर यदि व्यक्ति नहीं मरता तो केवल पांच रुपए का दंड होता था।[2]

**१. बृभा ५१०४ टी पृ. १३६०।**

**२. व्यभा ६ मटी प. ६।**

२. यहां विनय शब्द का प्रयोग शिक्षा के अर्थ में भी प्रयुक्त है। ग्रहण शिक्षा और विनय शिक्षा देते हुए आचार्य शिष्य के विकास हेतु हस्त-ताड़न का प्रयोग कर सकते हैं।[1]

**१. बृभाटी पृ. १३६० ; इह विनयशब्दः शिक्षायामपि वर्तते,.....ततोऽयमर्थः—'विनयस्य' ग्रहणशिक्षाया आसेवनाशिक्षाया वा ग्राहणायां क्रियमाणायां कर्णामोटकेन खड्डुकाभिः चपेटाभिर्वा।**

२३८६. चोर तथा श्वापद आदि का भय होने पर तथा गण और गणी के अत्यन्त विनाश की स्थिति उत्पन्न होने पर गीतार्थ साधु कालातिक्रम--शीघ्र ही हस्ततात की इच्छा करते हैं।

२३८७. इस प्रकार बोधिक--चोर आदि आगाढ़ स्थिति उत्पन्न होने पर जिस साधु का जो सामर्थ्य हो, वह उसको समाप्त नहीं करता, काम में लेता है।

२३८८. हिंसा करता हुआ भी कृतकरण मुनि दोष को प्राप्त नहीं होता। विशुद्ध आलम्बन वाला वह श्रमण अल्प से बहुत को प्राप्त करने की इच्छा करता है।

२३८९, २३९०. आचार्य अथवा गच्छ, कुल, गण या संघ के विनाश का अवसर होने पर यदि पंचेन्द्रिय का वध होता है तो भी उस स्थिति का निस्तारण करना चाहिए। ऐसा करने पर तीर्थ की अव्यवच्छित्ति होती है। यदि शरीर का विनाश हो जाए तो भी वह आराधक होता है।

२३९१. ऐसे आगाढ़ कारण उपस्थित होने पर सामर्थ्य या विद्यातिशय होने पर जो उसका प्रयोग नहीं करता है, उसको विराधक कहा गया है।

२३९२-९५. यह हस्ततात का वर्णन है, हस्तालम्ब इसे जानना चाहिए। दु:ख से पीड़ित प्राणियों के परित्राण हेतु, अशिव, नगर पर चढ़ाई, वैशस--रोमाञ्चकारी दु:ख उत्पन्न होने पर अथवा अन्य इसी प्रकार के कष्टों से अभिभूत होने पर लोगों को यह विश्वास हो जाता है कि अमुक आचार्य दु:ख को उपशान्त कर सकते हैं। मरणभय से अभिभूत उन पौरजनों के दु:ख को जानकर अथवा उनके द्वारा कहने पर आचार्य या साधु प्रतिमा करके (अभिचारुक) मंत्रों का जाप करते हुए उस प्रतिमा को मध्य से बींधते हैं[1], यह हस्तालम्ब है। अब मैं हस्तादान--अर्थादान के बारे में कहूंगा। निमित्त आदि के द्वारा अर्थ को उत्पन्न करना हस्तादान है, इसमें यह उदाहरण है।

२३९६. उज्जयिनी नगरी में अवसन्न आचार्य रहते थे। वहां दो व्यापारी आचार्य से पूछकर व्यापार करते थे। आचार्य जैसा कहते, वे वैसा ही करते थे।[2]

२३९७-०१. भोगाभिलाषी होने के कारण आचार्य के भानजे ने लिंग छोड़ दिया था। आचार्य ने अनुकम्पा वश कहा कि बिना अर्थ के तुम क्या करोगे? अत: तुम उन वणिकों के पास जाओ और कहो कि मुझे धन दो। भानजे ने वहां जाकर धन के लिए कहा। उनमें से एक वणिक् ने कहा--'मेरे पास अर्थ कहां से आया? क्या शकुनिका रुपए देती है?' दूसरा वणिक् टोकरी भरकर नौली लेकर आया और बोला कि तुमको जितनी नौली चाहिए, उतनी ग्रहण कर लो। प्रयोजन के अनुसार उसने नौलियां ले लीं। दूसरे वर्ष व्यापारियों ने पूछा कि हम क्या ग्रहण करें? जिस व्यापारी ने कहा था कि क्या शकुनिका

---

१. बृहत्कल्पभाष्य की टीका में इस गाथा का स्पष्टीकरण किया गया है। जब नागरिक लोग परेशान होकर आचार्य के पास जाते हैं तो आचार्य उन पर अनुकम्पा करके अचित्त प्रतिमा बनाकर अभिचारुक मंत्रों का जप करते हुए उस प्रतिमा को मध्य से बींध देते हैं। इससे कुलदेवता भाग जाता है और देवकृत सारा उपद्रव शान्त हो जाता है।

२. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५८।

रुपए देती है? उसको आचार्य ने कहा कि तृण, काष्ठ, वस्त्र, रूई, कपास, तेल, गुड़, धान्य आदि नगर के अंदर स्थापित कर दो।

**२४०२, २४०३.** दूसरे वणिक् को आचार्य ने कहा कि सब कुछ देकर तुम तृण, काष्ठ आदि ग्रहण करके नगर के बाहर वर्षाकाल तक स्थापित कर दो। घर में तृण आदि स्थापित करने पर आग लगने से नगर जल गया। तृण और काष्ठ का पुंज अत्यन्त मूल्यवान् हो गया।

**२४०४.** दूसरे वणिक् का सब कुछ जल गया। तब वह आचार्य के पास आकर बोला–'अहो! मैं उत्साहित बना हुआ आपके पास से सही बात कैसे नहीं जान सका?'

**२४०५.** नैमित्तिक आचार्य बोले–'क्या शकुनिका निमित्त देती है?' आचार्य को रुष्ट जानकर वणिक् बोला–'कभी भूल हो जाती है, आप मुझे क्षमा करें।'

**२४०६, २४०७.** इस प्रकार के निमित्त से अर्थ उत्पन्न करने वाला कोई ऐसा पुरुष दीक्षा हेतु उद्यत हो जाए तो वैसे पुरुष की उस क्षेत्र में उपस्थापना नहीं होती। उस क्षेत्र में जितने समय तक रहे, तब तक भी उसकी उपस्थापना नहीं होती। यदि उसी क्षेत्र में उपस्थापना होती है तो वह अनवस्थाप्य है।

**२४०८.** अन्य क्षेत्र में ले जाकर उसकी उपस्थापना करनी चाहिए। उस क्षेत्र में उपस्थापना न करने के क्या कारण है? आचार्य कहते हैं कि उन कारणों को सुनो।

**२४०९.** पूर्वाभ्यास के कारण नैमित्तिक से लोग निमित्त पूछते हैं। वह ऋद्धि के गौरव से, स्नेह या भय से लाभ और अलाभ का कथन कर सकता है। जैसे खुजली का रोगी खुजली किए बिना नहीं रह सकता, वैसे ही वह ज्ञान परीषह को सहन नहीं कर सकता।

**२४१०.** इसलिए उस स्थान पर उसको भावलिंग नहीं देना चाहिए। यदि कारणवश देना पड़े तो अशिव, दुर्भिक्ष आदि कारणों के उपस्थित होने पर उसे लिंग दिया जा सकता है।

**२४११.** उसको असहाय या अकेला नहीं छोड़ा जाता। वहां लोगों के द्वारा निमित्त पूछने पर वह कहता है कि मैं निमित्त भूल गया हूं। अथवा उत्तमार्थ—संथारे के लिए उसे वहीं लिंग दिया जा सकता है।

**२४१२.** इस प्रकार अवसन्न गृहस्थ को द्रव्य और भाव—दोनों ही लिंग नहीं दिए जाते। उत्तमार्थ के लिए दिया जा सकता है।

**२४१३.** इस प्रकार अर्थादान में जो शेष अनवस्थाप्य होते हैं, उनमें साधर्मिक स्तेन, अन्यधार्मिक स्तेन—इन दोनों के प्रायश्चित्त में भजना है।

**२४१४.** वह भजना क्या है? आहार का स्तैन्य करने पर लघुमास, उपधि का स्तैन्य करने पर चतुर्लघु तथा सचित्त का स्तैन्य होने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है अथवा एक आदेश से ये अनवस्थाप्य हैं।

**२४१५.** मतान्तर से उसे अनवस्थाप्य क्यों कहा गया है, इसका कारण सुनो। वह कषाय आदि को शान्त नहीं करता तथा प्रायः दोषों का सेवन करता है।

**२४१६.** अथवा भिक्षु हस्ततात आदि पदों में तीन प्रकार का प्रायश्चित्त प्राप्त करता है। उपाध्याय को नवां

तथा आचार्य को दसवां प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२४१७. आचार्य और उपाध्याय के द्वारा तुल्य अपराध करने पर भी दोनों को तुल्य या अतुल्य प्रायश्चित्त दिया जाता है। पाराञ्चित प्रायश्चित्त योग्य अपराध करने पर भी उपाध्याय को नवां—अनवस्थाप्य तथा आचार्य को पाराञ्चित प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२४१८. अथवा जो आचार्य साधर्मिक स्तैन्य की बार-बार प्रतिसेवना करता है, उससे उपरत नहीं होता, उसको नवां अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, शेष मुनि जो बार-बार प्रतिसेवना करते हैं, उन्हें मूल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२४१९. तृतीय अर्थादान में क्षेत्रतः अनवस्थाप्य कहा गया है। उस व्यक्ति को उस क्षेत्र में उपस्थापना नहीं दी जाती। शेष को गच्छ में रहते हुए भी आलाप आदि पदों से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

**८८. पाराञ्चित प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करने पर उपाध्याय को अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। बहुत बार पाराञ्चित प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करने पर भी उन्हें अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।**

२४२०. अभिषेक का अर्थ है—उपाध्याय। बहुश शब्द पुनः-पुनः अर्थ में है। सर्व शब्द पाराञ्चित अपराध से जुड़ता है।

२४२१. अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त प्राप्त करने वाला अनेक बार दोष सेवन करता है। अनन्तर जीसू ८९ गाथा में जिसे अनवस्थाप्य किया जाता है, उसका वर्णन है।

२४२२. शिष्य पूछता है कि उपाध्याय को अनवस्थाप्य प्राप्त होने पर अनवस्थाप्य दिया जाए, यह तो युक्त है लेकिन पाराञ्चित अपराध प्राप्त कर्ता को भी नवां अनवस्थाप्य क्यों दिया जाता है?

२४२३. आचार्य उत्तर देते हैं कि नवम और दशम प्रायश्चित्त की प्राप्ति होने पर भी भिक्षु को मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है तथा उपाध्याय का भी उत्कृष्ट प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य होता है।

**८९. अनवस्थाप्य चार प्रकार से किया जाता है—१. लिंग २. क्षेत्र ३. काल और ४. तप। लिंग से अनवस्थाप्य दो प्रकार का कहा गया है—द्रव्यलिंग और भावलिंग[1], वह दीक्षा के अयोग्य होता है।**

**९०. अप्रतिविरत और अवसन्न साधु भावलिंग ग्रहण करने के अयोग्य होते हैं। जो जिस क्षेत्र में दोष**

---

१. चूर्णिकार ने द्रव्यलिंग और भावलिंग के आधार पर चतुर्भंगी का निर्देश किया है। जीतकल्प की विषमपद व्याख्या में इनका विस्तार प्राप्त है—

- द्रव्यलिंग रजोहरण आदि से अनवस्थाप्य, भावलिंग महाव्रत आदि से भी अनवस्थाप्य।
- द्रव्यलिंग से अनवस्थाप्य, भावलिंग से नहीं।
- भावलिंग से अनवस्थाप्य, द्रव्यलिंग से नहीं।
- न द्रव्यलिंग से अनवस्थाप्य, न भावलिंग से (यह भंग असंभव है।)

**से दूषित होता है, वह उस क्षेत्र में दीक्षा के लिए प्रतिषिद्ध होता है।**

**९१. जितने काल तक वह दोष से विरत नहीं होता, उतने समय तक वह काल से अनवस्थाप्य है। तीर्थंकर आदि की आशातना करने वाला जघन्यतः छह मास और उत्कृष्टतः एक वर्ष तक तप से अनवस्थाप्य होता है।**

**९२. प्रतिसेवना करने वाला जघन्यतः एक वर्ष और उत्कृष्टतः बारह वर्ष तक तप से अनवस्थाप्य होता है। कारण होने पर न्यून और न्यूनतर भी वहन करता है अथवा सारे प्रायश्चित्त से मुक्त भी किया जा सकता है।**

**९३. अनवस्थाप्य तप वहन करने वाला स्वयं वंदन करता है लेकिन उसको कोई वंदना नहीं करता, वह दुष्कर परिहार तप का पालन करता है। उसके साथ संवास कल्प्य है लेकिन आलाप आदि पद वर्ज्य हैं।**

२४२४, २४२५. जो स्वपक्ष या परपक्ष में चोरी आदि दोषों से विरत नहीं होते अथवा हस्ततल आदि पदों से अविरत रहते हैं, जो अवसन्न आदि हैं, दोषों से अनुपरत हैं तथा द्रव्यलिंग युक्त हैं, उन्हें भावलिंग से अनवस्थाप्य करना चाहिए।

२४२६. काल से जितने समय तक दोष से उपरत नहीं होता, उतने काल तक अनवस्थाप्य किया जाता है।

२४२७. तप अनवस्थाप्य दो प्रकार का होता है—आशातना अनवस्थाप्य और प्रतिसेवना अनवस्थाप्य। दोनों के दो-दो भेद होते हैं—जघन्य और उत्कृष्ट।

२४२८. आशातना से सम्बन्धित तप अनवस्थाप्य का समय जघन्य छह मास तथा उत्कृष्ट एक वर्ष होता है। वह किसकी आशातना करता है? भाष्यकार कहते हैं कि तीर्थंकर से लेकर महर्धिक आदि की आशातना करता है।

२४२९. प्रतिसेवी अनवस्थाप्य का जघन्य समय एक वर्ष तथा उत्कृष्ट बारह वर्ष होता है[1]। शिष्य जिज्ञासा करता है कि वह किसकी प्रतिसेवना करता है? आचार्य उत्तर देते हैं कि वह साधर्मिक स्तैन्य, अन्य धार्मिक स्तैन्य आदि सब पदों की प्रतिसेवना करता है।

२४३०. कारण आदि पदों का वर्णन पहले कर दिया, अब परिहार -तप के बारे में कहूंगा। वंदन आदि परिहरणीय पदों को मैं संक्षेप में कहूंगा।

२४३१. परिहरण को परिहार कहते हैं। अनवस्थाप्य में आलापन आदि दस पदों का परिहार किया जाता है, वह शैक्ष आदि को वंदना करता है पर वह स्वयं वंदनीय नहीं होता।

---

१. व्यवहारभाष्य के अनुसार पांच अहोरात्र यावत् भिन्नमास प्रायश्चित्त जितनी प्रतिसेवना करने पर परिहारतप प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता, किन्तु मास, दो मास आदि स्थानों में यह प्रायश्चित्त दिया जाता है।[1]

१. व्यभा ५९८ मटी प. ४६।

**२४३२.** किन गुणों से युक्त को अनवस्थाप्य किया जाता है, उसे तुम सुनो। जो संहनन, वीर्य, आगम के सूत्रार्थ और धृति से युक्त होता है, उसे अनवस्थाप्य प्राप्त होता है[1]।

**२४३३.** प्रथम तीन संहनन, निद्राविजय को छोड़कर सभी गुणों से युक्त साधु, जिसे अनवस्थाप्य प्राप्त हो या पाराञ्चित, उसे सर्व तप दिया जाता है।

**२४३४.** नौ और दश पूर्वों के अर्थ का ज्ञाता[2], उद्गम दोष से रहित, धृतियुक्त, कृतयोगी तथा शुभ परिणामों से युक्त—इन गुणों से युक्त साधु को अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त देना चाहिए।

**२४३५.** इन गुणों से युक्त साधु की यदि चारित्रश्रेणी नष्ट या भग्न हो जाती है तो वह पुरानी गुणश्रेणी को पूर्णतः भर देता है।

**२४३६.** वह शैक्ष आदि को भी वंदना करता है। तीर्थंकर की भांति प्रग्रहित तप वाला वह अनवस्थाप्य मुनि गण में ही बारह वर्ष तक विहरण करता है।

**२४३७.** उसके द्वारा परिहारतप को स्वीकार करने के समय सम्पूर्ण संघ को कायोत्सर्ग[3] करना चाहिए। संघाटक साधु उसके भयभीत मन को स्थापित करते हैं, आश्वस्त करते हैं और उसके मन को समर्थ बनाते हैं।

**२४३८.** कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है? यह बात शैक्ष को ज्ञान कराने के लिए कही जा रही है। शेष

---

१. परिहार तप स्वीकार करने वाले साधु की योग्यता के प्रसंग में व्यवहार भाष्य में शिष्य गुरु से प्रश्न पूछता है कि परिहारतप स्वीकार करने वाले साधु में इन गुणों का होना क्यों आवश्यक है? इन गुणों से विहीन को परिहार क्यों नहीं दिया जाता? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य दो प्रकार के मंडपों का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि पत्थर के मंडप पर जो कुछ डाला जाता है, वह उसको धारण कर लेता है, भग्न नहीं होता लेकिन एरण्ड मंडप में ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार जो धृति और संहनन से बलशाली है, गीतार्थ आदि गुणों से युक्त है, उसे ही परिहारतप दिया जाता है।[1]

**१. व्यभा ५४१, ५४२।**

२. जीतकल्प भाष्य में नौ और दश पूर्व के ज्ञाता का उल्लेख है लेकिन निशीथ भाष्य में इसका स्पष्टीकरण मिलता है। वह जघन्यतः नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु तथा उत्कृष्टतः कुछ कम दश पूर्व का ज्ञाता होना चाहिए। संघ में ज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न रखने के लिए सम्पूर्ण दशपूर्वी को अनवस्थाप्य रूप परिहारतप नहीं दिया जाता। यह परिहार तप स्वीकार करने वाले के सूत्रार्थ का प्रमाण है।[1]

**१. निभा २८७३ पृ. ६३, ६४।**

३. सम्पूर्ण संघ निरुपसर्ग के लिए तथा दूसरों में भय पैदा करने के लिए कायोत्सर्ग करता है। निशीथ चूर्णिकार ने इस संदर्भ में विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। द्रव्य से वट आदि क्षीरवृक्ष के नीचे, क्षेत्रतः जिनगृह, कालतः प्रशस्त दिन में पूर्वाह्न के समय तथा भाव से चन्द्रमा और सबल नक्षत्र हो, उस दिन जघन्यतः एक मास और उत्कृष्टतः छह मास का परिहार तप स्वीकार किया जाता है।[1]

**१. निचू ३ पृ. ६५ ; सो य दव्वओ वडमादिखीररुक्खे, खेत्तओजिणघरादिसु, कालओ पुव्वसूरे पसत्थादिदिणेसु य, भावतो चंदताराबलेसु, तस्सप्पणो गुरुणो य साहए सुपडिवत्ती भवति।**

साधुओं के मन में भय पैदा करने के लिए तथा परिहार तप की निर्विघ्न समाप्ति के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

**२४३९.** जब तक यह परिहारकल्प समाप्त न हो, तब तक मैं तुम्हारे लिए कल्पस्थित[1] (आचार्य) हूं। यह गीतार्थ मुनि अनुपारिहारिक[2] है। अनुपारिहारिक पूर्व में पारिहारिक तप स्वीकार करने वाला होना चाहिए उसके अभाव में दृढ़ संहनन वाले किसी गीतार्थ मुनि को अनुपारिहारिक स्थापित किया जाता है।

**२४४०.** आचार्य सब साधुओं को कहते हैं कि यह परिहार तप स्वीकार कर रहा है। अब यह किसी के साथ आलाप आदि नहीं करेगा। तुम भी इसके साथ आलाप आदि मत करना। आत्मचिंतन में लीन इस मुनि को तुम लोग कोई व्याघात पैदा मत करना।

**२४४१.** निम्न दस स्थानों से गच्छ उसका परिहार करता है तथा वह गच्छ का परिहार करता है। परिहार न करने पर प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२४४२.** परिहार के दस स्थान इस प्रकार हैं[3]—१. आलापन २. प्रतिपृच्छा ३. परिवर्तना—पूर्व अधीत की परावर्तना ४. उत्थान ५. वंदना ६. मात्रक लाकर देना ७. प्रतिलेखन ८. संघाटक रूप में उसके साथ रहना

---

१. आचार्य अथवा आचार्य के द्वारा नियुक्त नियमतः गीतार्थ साधु, जो आचार्यों के समान व्यवहार करता है, वह कल्पस्थित कहलाता है।[1]

**१. निचू भा. ३ पृ. ६५ ; आयरिओ आयरियणिउत्तो वा णियमा गीतत्थो तस्स आयरियाण पदाणुपालगो कप्पट्ठितो भण्णति।**

२. पारिहारिक के चलने पर सर्वत्र जो उसका अनुगमन करता है, वह अनुपारिहारिक कहलाता है। अनुपारिहारिक भी नियमतः गीतार्थ होता है।[1] पारिहारिक भिक्षार्थ जाता है तो अनुपारिहारिक श्वान आदि से उसकी रक्षा करता है। यदि वह उपकरण आदि उठाने में समर्थ नहीं है तो अनुपारिहारिक उसकी प्रतिलेखना आदि भी कर देता है।

बृहत्कल्प भाष्य में इस प्रसंग की विस्तार से चर्चा है। सामान्यतः अनुपारिहारिक पारिहारिक को भक्त पान आदि लाकर नहीं देते हैं, न ही आलापन आदि करते हैं लेकिन कारण होने पर गोदृष्टान्त की भांति उसका सहयोग करते हैं। जैसे नवप्रसूता गाय उठने-बैठने में समर्थ नहीं रहती, उस समय ग्वाला गाय को उठाकर चरने के लिए अरण्य में ले जाता है। जो चलने में समर्थ नहीं होती, उसके लिए घर पर चारा लाकर देता है। इसी प्रकार पारिहारिक भी उत्थान आदि करने में समर्थ नहीं होता तो अनुपारिहारिक सारा कार्य करता है।[2]

**१. निचू भा. ३ पृ. ६५ ; परिहारियं गच्छंतं सव्वत्थ अणुगच्छति जो सो अणुपरिहारितो, सो वि णियमा गीयत्थो।**
**२. बृभा ५६०७ टी. पृ. १४८४।**

३. परिहारकल्प करने वाला एक क्षेत्र, एक उपाश्रय में एक साथ रह सकता है पर आलापन आदि दश पदों का परिहार करता है। बिना कारण आलापन आदि करने पर दोनों को आज्ञा-भंग आदि दोष लगते हैं। कोई देवता प्रमत्त मुनि को छल सकता है। कोई साधु सजग करता है कि तुम लोग आलाप आदि क्यों कर रहे हो तो ऐसा कहने पर कलह की संभावना रहती है।[1]

**१. बृभा ५६०१ ; कुव्वंताणेयाणि उ, आणादि विराहणा दुवेण्हं पि। देवय पमत्त छलणा, अधिगरणादी य उद्दित्तम्मि।।**

९. भक्तपान देना १०. साथ में भोजन करना आदि। इन दस स्थानों से गच्छ उसका और वह गच्छगत साधुओं का परिहार करता है।

**२४४३.** आलापन से संघाटक तक आठ पदों का व्यवहार करने पर गच्छ के साधु को लघुमास, भक्तपान देने पर चतुर्लघु तथा साथ में भोजन करने पर चार अनुद्घात मास (गुरुमास) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२४४४.** आलापन से संघाटक तक आठ पदों का व्यवहार करने पर पारिहारिक को गुरुमास, भक्तपान देने तथा साथ में आहार करने पर चार अनुद्घात मास (गुरुमास) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२४४५.** यदि पारिहारिक कृतिकर्म करता है तो गुरु उसे स्वीकार करते हैं। उसे परिज्ञा—प्रत्याख्यान करवाते हैं। सूत्रार्थ विषयक पूछने पर गुरु उसका उत्तर देते हैं। वह पारिहारिक भी गुरु के आने पर खड़ा होता है। गुरु यदि शारीरिक स्वास्थ्य के बारे में पूछते हैं तो वह उस सम्बन्ध में बताता है।

**२४४६-४९.** इस प्रकार पारिहारिक की स्थापना करने पर यदि किसी को यह भय हो जाए कि मैं अकेला इतना समय कैसे व्यतीत करूंगा? तो आचार्य उसे आश्वस्त करते हैं कि तुम डरो मत तुम्हारे पास यह अनुपारिहारिक है, कल्पस्थित है। जो कुछ पूछना है, वह मुझसे पूछो। तुम अनुपारिहारिक के साथ भिक्षार्थ भ्रमण करना। इस प्रकार कहकर उसको आश्वस्त करके भय से उपरत करते हैं। वे उसको कैसे आश्वासन देते हैं, उसे तुम सुनो।

**२४५०, २४५१.** जैसे कोई व्यक्ति कूएं में गिर जाए, उस समय (तटस्थ व्यक्ति) कोई यह कहे कि हा! यह मरकर बचा है तो वह भय से अंगों को ढीला छोड़ देता है, जिससे वह मर जाता है। यदि कोई ऐसा कहे कि तुम डरो मत। तुम्हारे लिए रस्सी लाई गई है, उससे तुम्हें कूएं से बाहर निकाल दिया जाएगा तो यह सुनकर वह आश्वस्त हो जाता है।

**२४५२-५४.** इसी प्रकार नदी में डूबने पर[1] तथा किसी व्यक्ति पर राजा के रुष्ट होने पर यदि उसको यह कहा जाता है कि तुम नष्ट हो गए हो तो वह उद्विग्न हो जाता है। यदि यह कहा जाता है कि तुम डरो मत। राजा इस असमीक्षित कार्य के लिए कुछ भी नहीं करेगा, वह मुक्त कर देगा। इस प्रकार आश्वासन देने पर वह आश्वस्त हो जाता है। इसी प्रकार पारिहारिक को आश्वस्त करने पर वह उग्र तपःकर्म का वहन कर लेता है।

**२४५५, २४५६.** उग्र तप से जब पारिहारिक कृश और दुर्बल शरीर वाला हो जाता है, उत्थान आदि करने में समर्थ नहीं रहता, तब वह अनुपारिहारिक को कहता है कि उठो, बैठो, भिक्षा करो, भंडक की प्रतिलेखना करो तो वह मौन भाव से कुपित प्रिय बंधु की भांति सारी क्रियाएं सम्पन्न करता है।

**२४५७.** अपवाद स्थान में अन्य गण से आया हुआ साधु अजानकारी में उसे वंदना कर लेता है।

---

१. जीतकल्प के भाष्यकार ने नदी के दृष्टान्त की पूरी व्याख्या नहीं की है। निशीथ चूर्णि में इसकी व्याख्या मिलती है। नदी में डूबने वाले को यदि यह कहा जाता है कि तुम तट का आलम्बन लेने का प्रयत्न करो, यह तैराक व्यक्ति दृति आदि लेकर तुमको नदी से पार उतार देगा तो वह भयमुक्त होकर आश्वस्त हो जाता है।'
१. निचू भा. ३ पृ. ६५।

अनुपारिहारिक और आचार्य के ग्लान होने पर गच्छगत साधु सारा कार्य यतनापूर्वक करते हैं।[1]

**२४५८.** गच्छ के साधु भक्तपान आदि लाकर गुरु को सौंपते हैं। गुरु अनुपारिहारिक को तथा अनुपारिहारिक पारिहारिक को देते हैं, यह यतना है।

**२४५९.** गुरु के एकाकी होने पर या अन्य साधु के न होने पर आगाढ़ स्थिति में वह भी उसकी सेवा करता है।

**२४६०.** परिहार तप पूर्ण होने पर, कुलादि के कार्य से निवृत्त होने पर उसकी उपस्थापना होती है। कुछ आचार्य[2] ऐसा मानते हैं कि गृहस्थ वेश करके उसका उपस्थापन होता है।

**२४६१.** गृहस्थ वेश किए बिना उपस्थापना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। आज्ञा आदि दोष होते हैं अथवा निम्न दोष होते हैं—

**२४६२.** स्नान आदि का वर्जन करके वेश मात्र पहनाना अच्छा है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। दूसरे आचार्य कहते हैं कि मात्र वस्त्रयुगल पहनाना पर्याप्त है। वह परिषद् के मध्य आकर कहता है कि मैं धर्म सुनना चाहता हूं। आचार्य उसे धर्म कहते हैं फिर उसकी दीक्षा होती है।

**२४६३.** शिष्य प्रश्न पूछता है कि उसको गृहस्थ वेश क्यों दिया जाता है? वस्त्र मात्र पहनाना क्यों श्रेष्ठ है? युगलवस्त्र क्यों पहनाया जाता है? परिषद् के मध्य क्यों रखा जाता है? उसको धर्म क्यों कहा जाता है?

**२४६४.** आचार्य उत्तर देते हैं कि तिरस्कार करने पर वह पुनः वैसा अतिचार सेवन नहीं करता। शैक्ष मुनियों के मन में भी भय पैदा हो जाता है। गृहस्थभूत[3] होना धर्म से रहित होना है अतः यह रूप किया जाता है।

**९४. तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्धिक की बार-बार आशातना करते हुए मुनि**

---

१. यतना कैसे करनी चाहिए, इसकी निशीथ चूर्णिकार ने विस्तार से व्याख्या की है। चूर्णिकार ने 'उभयगेलण्ण' की व्याख्या में कल्पस्थित, पारिहारिक और अनुपारिहारिक—इन तीनों के ग्लानत्व को स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में गच्छगत साधु पारिहारिक के पात्र में भिक्षा लाकर कल्पस्थित को देते हैं। कल्पस्थित वह भिक्षापात्र अनुपारिहारिक को देता है, वह उसे पारिहारिक को देता है। यदि गच्छवासी साधुओं के द्वारा देने पर भी कल्पस्थित और अनुपारिहारिक वहां नहीं जाते हैं तो साधु स्वयं पारिहारिक को वह भिक्षा-पात्र दे देते हैं।

संघगत साधुओं के ग्लान होने पर पारिहारिक गच्छवासी साधुओं के पात्र में आहार लाकर अनुपारिहारिक को देता है। अनुपारिहारिक कल्पस्थित को देता है फिर वह गच्छवासी साधुओं को वह आहार देता है। यदि आचार्य की सेवा करने वाला कोई साधु नहीं होता तो पारिहारिक यतनापूर्वक सेवा करता है। वह आचार्य के पात्र में भिक्षा लाकर अनुपारिहारिक को देता है। अनुपारिहारिक कल्पस्थित को देता है तथा वह उस आहार को संघ के आचार्य को देता है।[1]

**१. निचू भा. ३ पृ. ६७।**

२. मलयगिरि ने व्यवहारभाष्य की टीका में 'अपरे' शब्द से दाक्षिणात्य आचार्य का संकेत दिया है।[1]

**१. व्यभा १२०७ मटी प. ५२; अपरे दाक्षिणात्या : पुनरेवमाहुर्वस्त्रयुगलमात्रं परिधाप्यते।**

३. व्यवहारभाष्य (१२१०) में गृहस्थीभूत किए बिना उपस्थापना करने के निम्न कारण बताए हैं—१. राजा की आज्ञा से। २. स्वगण के प्रदुष्ट हो जाने पर। ३. बलात् दूसरों द्वारा मुक्त कराने की स्थिति में। ४. इच्छापूर्ति के लिए। ५. दो गणों में विवाद होने पर।

**को अभिनिवेश के कारण पाराञ्चित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।**

**२४६५, २४६६.** वह आशातना कैसे करता है? आचार्य उत्तर देते हैं कि वह उनका अवर्णवाद बोलता है। पुन: शिष्य प्रश्न करता है कि वह किस रूप में अवर्णवाद करता है? आचार्य कहते हैं कि तुम सुनो, वह किस रूप में अवर्णवाद बोलता है—

- प्राभृतिका[1]—देवरचित समवसरण, महाप्रातिहार्य, पूजा आदि कार्य का अर्हत् अनुमोदन करते हैं।
- जानते हुए भी अर्हत् भोगों को क्यों भोगते हैं?
- स्त्री तीर्थंकर होती है, यह अयुक्त है।
- तीर्थंकरों ने अत्यन्त कठोर चर्या का उपदेश दिया है।

**२४६७, २४६८.** इस प्रकार तथा अन्य प्रकार से भी तीर्थंकर का अवर्णवाद बोलता है। वह त्रिलोक पूजित तीर्थंकरों की प्रतिमा की निंदा करता हुआ कहता है कि प्रतिमा को माल्य, अलंकार आदि से क्यों विभूषित किया जाता है? वंदन, स्तुति आदि प्रतिरूप विनय को समीचीन रूप से नहीं करता, यह तीर्थंकरों की आशातना है।

**२४६९.** जो आक्रोश तथा तर्जना से संघ पर आक्षेप करता है, वह संघ प्रत्यनीक होता है। वह कहता है कि सियार, णंतिक्क और ढंक आदि के भी संघ होते हैं, यह संघ भी वैसा ही है।

**२४७०.** आगमों में षट्काय, व्रत, प्रमाद और अप्रमाद के वे ही स्थान हैं। इनका बार-बार वर्णन है, यह उचित नहीं है। मोक्षाधिकारी मुनियों को ज्योतिष्-विद्या से क्या प्रयोजन? (यह श्रुत की आशातना है।)

**२४७१.** आचार्य ऋद्धि, रस, साता से भारी होते हैं। ये मंखों की भांति परोपदेश में उद्यत रहते हैं तथा ब्राह्मणों की भांति अपने पोषण में रत रहते हैं। (यह आचार्य की आशातना है।)

**२४७२.** ये आचार्य दूसरों को अभ्युद्यत विहार की देशना देते हैं किन्तु स्वयं इसमें उदासीन रहते हैं। ये ऋद्धियों के आधार पर जीते हैं, फिर भी कहते हैं कि हम नि:संग हैं।

**२४७३.** गणधर ही महर्धिक होते हैं अथवा महातपस्वी, वादी आदि महर्धिक माने जाते हैं। तीर्थंकर के प्रथम शिष्य गणधर होते हैं। 'आदि' शब्द के ग्रहण से अन्य महर्धिक भी गृहीत होते हैं।

**२४७४.** आशातना दो प्रकार की होती है—देश और सर्व। देशत: आशातना करना देश आशातना है। आचार्य आदि सबकी एकदेशीय आशातना अथवा सबकी सर्वत: आशातना करना सर्व आशातना है।

**२४७५.** तीर्थंकर तथा संघ की देशत: अथवा सर्वत: आशातना करने वाला पाराञ्चित प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है। शेष की देशत: आशातना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

**२४७६.** सबकी आशातना करता हुआ पाराञ्चित प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है। यहां पर देशत: आशातना करने वाला सचारित्री तथा सर्वत: आशातना करने वाला अचारित्री होता है।

**२४७७.** तीर्थंकर के प्रथम शिष्य गणधरों में एक की भी आशातना करने वाले को पाराञ्चित प्रायश्चित्त

---

१. प्राभृतिका का अर्थ है—देव विरचित समवसरण में महाप्रातिहार्य की पूजा।

प्राप्त होता है क्योंकि जिनेन्द्र तो केवल अर्थ की देशना देते हैं, गणधरों से सूत्र की उत्पत्ति होती है।

२४७८. आशातना के द्वारा पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त करने वाले का मैंने संक्षेप में वर्णन किया, अब प्रतिसेवना पाराञ्चित का संक्षेप में वर्णन करूंगा।

**९५. जो कषाय और विषय के कारण स्वलिंग में दुष्ट होता है, राजा का वध तथा उसकी पटरानी के साथ प्रतिसेवना करता है, उसकी प्रतिसेवना लोगों में प्रकाशित होती है तो वह प्रतिसेवना पारांचित है।**

२४७९. सूत्र में दुष्ट, प्रमत्त आदि तीन प्रकार के प्रतिसेवना पारांचित वर्णित हैं, उनका मैं संक्षेप में वर्णन करूंगा।

२४८०. दुष्ट पारांचित, प्रमत्त पारांचित और अन्योन्य प्रतिसेवना प्रसक्त—इन तीनों का विस्तार से यथाक्रम वर्णन करूंगा।

२४८१. दुष्ट पारांचित दो प्रकार का होता है—कषाय दुष्ट और विषय दुष्ट। कषाय दुष्ट दो प्रकार का होता है—स्वपक्ष दुष्ट और परपक्ष दुष्ट। यहां स्वपक्ष और परपक्ष दुष्ट की चतुर्भंगी[1] है।

२४८२. सरसों की भाजी, मुखवस्त्रिका, उलूकाक्ष, शिखरिणी—ये चार दृष्टान्त स्वपक्ष कषायदुष्ट के हैं। इनकी प्ररूपणा इस प्रकार है।

२४८३. सरसों की भाजी प्राप्त करके शिष्य ने गुरु को निमंत्रित किया। गुरु ने सारी भाजी खा ली। शिष्य कुपित हो गया। गुरु ने क्षमायाचना की पर वह उपशान्त नहीं हुआ, तब गुरु ने उस गण में अन्य को आचार्य स्थापित करके स्वयं अन्य गच्छ में जाकर भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया।

२४८४. दुष्ट शिष्य ने गुरु के बारे में पूछा लेकिन किसी ने गुरु के बारे में नहीं बताया। किसी दूसरे से उसने पूछा कि गुरु ने शरीर कहां त्यागा है? गुरु ने पहले ही कह दिया था कि उस दुष्ट शिष्य को मेरे बारे में मत बताना अतः किसी ने नहीं बताया। अंत में वह जानकारी प्राप्त कर गुरु के परिष्ठापित शरीर के पास पहुंचा और उनके दांतों को तोड़ दिया।[2]

२४८५, २४८६. शिष्य उत्कृष्ट मुखवस्त्रिका लेकर आया। गुरु को दिखाने पर गुरु ने वह ले ली। रुष्ट होकर उसने रात्रि में प्रसुप्त गुरु का गला पकड़ लिया। सम्मूढ़ होकर गुरु ने भी उसका गला पकड़ लिया। वे दोनों कालधर्म को प्राप्त हो गए।[3]

२४८७, २४८८. सूर्यास्त होने पर भी तुम सिलाई कर रहे हो अतः तुम उल्लू के समान आंखों वाले हो। गुरु के द्वारा ऐसा कहने पर वह रुष्ट होकर बोला—'मैं तुम्हारी आंखों को उखाड़ दूंगा।' क्षमा मांगने पर भी

---

१. • स्वपक्ष में स्वपक्ष दुष्ट। • स्वपक्ष में परपक्ष दुष्ट।
• परपक्ष में स्वपक्ष दुष्ट। • परपक्ष में परपक्ष दुष्ट।
इन चारों चतुर्भंगियों के उदाहरण निशीथभाष्य एवं पंचकल्पभाष्य में मिलते हैं। देखें निभा ३६८८-९०, पंकभा ४५८-६०।

२, ३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ५९, ६०।

उसका क्रोध उपशान्त नहीं हुआ। गुरु ने अन्य को आचार्य स्थापित करके स्वयं अन्य गण में भक्तपरिज्ञा अनशन स्वीकृत कर लिया। शेष प्रथम आख्यान की भांति जानना चाहिए। मृत्यु के पश्चात् उसने यह कहकर दोनों आंखें निकाल लीं कि तुमने मुझे उलूकाक्ष कहा था।[१]

२४८९. एक शिष्य ने शिखरिणी—श्रीखण्ड के लिए गुरु को निमंत्रित किया। गुरु ने सारी शिखरिणी खा ली। शिष्य ने डंडा उठाया। उसी प्रकार गुरु ने अन्य गण में न जाकर वहीं भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया।[२]

२४९०. इन दोषों के कारण गुरु को अज्ञात आचार और शील वाले अकेले शिष्य का सारा आहार आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए।

२४९१. ग्रहण करने की विधि यह है कि यदि सब शिष्य मात्रक ग्रहण करके गुरु को निमंत्रित करें तो गुरु कहे कि मुझे इतनां पर्याप्त है।

२४९२. आग्रह करने पर वह थोड़ा-थोड़ा सबसे ग्रहण करे, न कि एक से सारा ग्रहण करे। दूसरे विकल्प के अनुसार एक शिष्य से भी गुरु आहार ग्रहण कर सकते हैं।

२४९३. जो गुरु के प्रति भक्ति रखता है, उनके मनोनुकूल है, गुरु के प्रायोग्य आहार को निश्रागृहों अथवा अनिश्रागृहों से ग्रहण करता है, उसी से गुरु को भक्तपान ग्रहण करना चाहिए, दूसरों से नहीं। एक के द्वारा पर्याप्त प्राप्त न होने पर गुरु थोड़ा-थोड़ा सभी से ग्रहण करे।

२४९४. लाभ होने पर भी आचार्य दूसरे साधुओं का आग्रह देखकर उनका लाया हुआ आहार ग्रहण करे। ग्रहण करने के पश्चात् पीछे अवशिष्ट छोड़े क्योंकि वे जानते हैं कि कौन उपचार से कह रहा है और कौन भावना से।

२४९५. गुरु के द्वारा भोजन करने पर जो अवशेष बचता है, वह बाल मुनियों को दिया जाता है, उनके अभाव में उसे मंडलि-पात्र में डाल दिया जाता है। जो अन्य मात्रक में ग्लान के खाने पर बचा है, वह भी मंडलि-पात्र में डाल दिया जाता है।

२४९६. गुरु के अतिरिक्त शेष साधुओं का अवशिष्ट भक्तपान मंडलि-पात्र में नहीं डाला जाता। जो भक्तपान ग्लान आदि के लिए पृथक्-पृथक् गृहीत है, उनमें से बचा हुआ आहार मंडलि-पात्र में डाला जाता है। याचना से प्राप्त भक्तपान को मंडलि-पात्र में नहीं डाला जाता।

२४९७. अतिथि साधुओं के लिए अथवा ग्लान के लिए लाया आहार यदि अधिक हो जाए तो उसे परिष्ठापित कर दिया जाता है। यह ग्रहण और भोजन की विधि है। अविधि ग्रहण के ये दोष हैं—

२४९८. सरसों की भाजी आदि स्वपक्ष दुष्ट के उदाहरण हैं। परपक्ष में स्वपक्ष के अन्तर्गत उदायी मारक साधु का उदाहरण है। स्वपक्ष में परपक्ष के अन्तर्गत पालक मंत्री का उदाहरण ज्ञातव्य है।[३]

---

१-३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६१-६३।

२४९९. पालक पुरोहित ने स्कंदक प्रमुख पांच सौ शिष्यों को पूर्व विराधना के कारण यंत्र में पील दिया।[1]

२५००. मुनि सुव्रतस्वामी के तीर्थ में स्कंदक ने पालक को पहले वाद में पराजित किया था। उस समय वह प्रद्वेष को प्राप्त हो गया था।

२५०१. परपक्ष में परपक्ष के अन्तर्गत चार प्रकार के दुष्ट होते हैं—१. राजा २. अभिमर ३. वधपरिणत ४. और वधक।

२५०२. इन चारों के प्रायश्चित्तों को मैं यथाविधि कहूंगा। सरसों की भाजी आदि से सम्बन्धित दुष्टता में साधु का लिंग-परित्याग किया जाता है।

२५०३. जो साधु स्वपक्ष में राजा आदि के वध में परिणत या वधक है, उसे लिंग पाराञ्चित दिया जाता है।[2] जो उसकी अनुमोदना करता है, वह भी लिंग पारांचिक है।

२५०४. जो श्रावक या अश्रावक परपक्ष या स्वपक्ष में दुष्ट है, उसके लिए लिंग निषिद्ध है। अतिशयधारी उसे लिंग दे सकते हैं।

२५०५. परपक्ष में परपक्ष—राजा आदि के प्रति कोई प्रदुष्ट हो जाए तो उसे उस देश में दीक्षित करना कल्पनीय नहीं होता। अन्य देश में उपशान्त होने पर दीक्षित करना कल्पता है।

२५०६. यह कषायदुष्ट का वर्णन है, अब मैं विषयदुष्ट के बारे में कहूंगा। उसकी भी स्वपक्ष और परपक्ष से चतुर्भंगी होती है।

२५०७. संयत यदि तरुणी संयती में आसक्त है, यह प्रथम भंग है। संयत शय्यातर की लड़की या परतीर्थिक साध्वी में आसक्त है, यह दूसरा भंग है। गृहस्थ तरुणी साध्वी में आसक्त है, यह तीसरा भंग है तथा एक गृहस्थ गृहस्थ स्त्री में आसक्त है, यह चौथा भंग है।[3]

२५०८. यदि रजोहरण आदि लिंग से युक्त संयमी लिंग युक्त साध्वी के साथ प्रतिसेवना करता है तो वह पापी साधु नरक आयुष्य का बंध करता है तथा आशातना से उसे अबोधि की प्राप्ति होती है।

---

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६४।

२. बृहत्कल्पभाष्य में इस संदर्भ में एक अपवाद दिया गया है कि जो व्यक्ति राजा, युवराज अथवा सम्पन्न श्रेष्ठी आदि का वधक है, उसे उस देश में दीक्षा देना नहीं कल्पता किन्तु अन्य देश में अज्ञात स्थिति में दीक्षा देना कल्प्य है।[1]

**१. बृभा ४१९६ ; रन्नो जुवरन्नो वा, वधतो अहवा वि इस्सरादीणं। सो उ सदेसि ण कप्पइ, कप्पति अण्णम्मि अण्णाओ।।**

३. इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार बनेगी—

- स्वलिंगी साधु की स्वलिंगी साध्वी के साथ प्रतिसेवना।
- स्वलिंगी साधु की गृहस्थ स्त्री के साथ प्रतिसेवना।
- स्वलिंगी साधु की अन्यलिंगी परिव्राजिका के साथ प्रतिसेवना।
- अन्यलिंगी साधु की अन्यलिंगी साध्वी के साथ प्रतिसेवना। इसमें चौथा भंग शून्य है।

२५०९. यदि रजोहरण आदि लिंग से युक्त संयमी लिंग युक्त साध्वी के साथ प्रतिसेवना करता है तो वह पापी साधु सभी तीर्थंकरों की आर्याओं तथा संघ की आशातना करता है।

२५१०. वह सभी पापियों में पापतर होता है। वैसे साधु को देखकर उसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए जो जिनपुंगवमुद्रा—श्रमणी को नमन करके उसी को भ्रष्ट करता है।

२५११. जिनमुद्रा के तिरस्कार से वह जन्म, जरा, मरण और वेदना से संकुल तथा पापमल के समूह से आच्छन्न इस अपार संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

२५१२. यह प्रथम भंग (स्वपक्ष स्वपक्ष) है। इसमें पारांचित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है। द्वितीय भंग में भी उपशान्त न होने पर चरम—पारांचित प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

२५१३. जिस क्षेत्र में दोष उत्पन्न होता है, उसको उसी क्षेत्र से पाराञ्चित कर दिया जाता है। वह दोष का सेवी या असेवी अथवा गीतार्थ या अगीतार्थ हो सकता है।

२५१४. जिस उपाश्रय, निवेशन[1]—गृह, वाटक, साही—गली, ग्राम, देश, राज्य, कुल, गण या संघ में दोष का सेवन करता है, वहां से निकालकर उसे पाराञ्चित कर दिया जाता है। (जो कुल, गण या संघ से अलग किया जाता है, वह क्रमशः कुल पाराञ्चित, गण पाराञ्चित तथा संघ पाराञ्चित आदि कहलाता है।)

२५१५. शिष्य प्रश्न करता है कि साधक के उपशान्त हो जाने पर भी उन-उन स्थानों में विहार करने या जाने का निषेध क्यों किया गया है? आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि उस स्थान में जाने से पुनः वही दोष पुनरुक्त हो सकता है।

२५१६. जिन ग्राम या स्थानों में साध्वियां विहरण करती हैं, उन स्थानों में साधु को विहरण करने का वर्जन है। यह प्रथम भंग स्वपक्ष स्वपक्ष में दुष्ट की बात है। शेष द्वितीय आदि भंगों में भी वे स्थान वर्जनीय हैं।

२५१७. यह प्रथम भंग कषाय दुष्ट है। शेष द्वितीय आदि तीन भंग उच्चारित सदृश तथा शिष्य की मति को व्युत्पन्न करने के लिए हैं।

२५१८. यहां उभयदुष्ट (कषायदुष्ट और विषयदुष्ट) तथा राजवधक का वर्णन किया गया है। राजा की पटरानी का प्रतिसेवक इस प्रकार होता है।

२५१९. राजा की पटरानी अथवा जो जिसको इष्ट होती है, वह उसके लिए प्रधान होती है। अग्र और प्रधान—ये दोनों शब्द एकार्थक हैं।

२५२०. राजा की पटरानी के साथ जो बार-बार प्रतिसेवना करता है तथा लोक में यह बात प्रकट हो जाती है तो अंतिम पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२५२१. सूत्र (९५) में आए 'च' शब्द से अन्य युवराज आदि को जो इष्ट होती हैं, वह भी राज-पटरानी की भांति ज्ञातव्य हैं।

---

१. दो गांवों के बीच दो या अनेक घर, जिनका प्रवेश और निर्गम का एक ही द्वार हो।

१. बृभाटी पृ. १३३८; निवेशनम्—एकनिर्गमप्रवेशद्वारो द्वयोर्ग्रामयोरपान्तराले द्वयादिगृहाणां सन्निवेशः।

२५२२. शिष्य जिज्ञासा करता है कि अन्य महिलाओं के साथ प्रतिसेवना करने पर चरम—पाराञ्चित क्यों नहीं दिया जाता? आचार्य उत्तर देते हैं कि राजपत्नी के साथ प्रतिसेवना करने पर बहुत दोष होते हैं। अन्य महिलाओं के साथ प्रतिसेवना करने पर अपना ही अनिष्ट होता है।

२५२३. राजा की अग्रमहिषी—पटरानी के साथ प्रतिसेवना करने पर कुल, गण, संघ तथा स्वयं का विनाश आदि दोष होते हैं लेकिन सामान्य महिलाओं[1] के साथ दोष सेवन करने पर मुनि के स्वयं का विनाश होता है।

२५२४. व्रत का लोप और शरीर की हानि आदि दोष तो होते हैं लेकिन कुल, गण आदि का विनाश नहीं होता इसलिए अन्य महिलाओं के साथ प्रतिसेवना करने पर अंतिम प्रायश्चित्त—पाराञ्चित प्राप्त नहीं होता।

२५२५. यह दुष्ट से सम्बन्धित पाराञ्चित का वर्णन किया, अब मैं प्रमत्त के बारे में कहूंगा। वह पांच प्रकार का होता है—१. कषाय-कलुषता, २. विकथा ३. मद्य ४. इंद्रिय और ५. निद्रा।

२५२६. क्रोध आदि चार कषाय, स्त्रीकथा-भक्तकथा आदि चार विकथाएं, पूर्वाभ्यास के कारण मद्य-सेवन तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों के शब्द आदि इंद्रिय-विषय हैं।

२५२७. स्त्यानर्द्धि निद्रा के ये उदाहरण हैं—१. पुद्गल—मांस २. मोदक ३. कुम्भकार ४. दांत ५ वटवृक्ष शाखा का भंजक। मैं इन सबका विस्तार कहूंगा।

**९६. स्त्यानर्द्धि निद्रा महान् दोष से युक्त है। परस्पर प्रतिसेवना में आसक्ति भी दोष-बहुल है। जो व्यक्ति बार-बार इसमें प्रसक्त होता है, उसको अंतिम पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।**

२५२८. जमे हुए पानी (बर्फ) और घी में कुछ भी दिखाई नहीं देता। इद्ध शब्द का अर्थ है चित्त, जिस निद्रा में चित्त प्रगाढ़ मूर्च्छा से जड़ीभूत हो जाता है, कुछ ज्ञान (भाव) नहीं रहता, वह स्त्यानर्द्धि निद्रा[2] है।

२५२९. गृहस्थ जीवन में कोई साधु मांसभक्षी था। एक बार महिष को काटते देखकर उसे मांस खाने की इच्छा हो गई। वह रात्रि में वहां गया और एक अन्य महिष को मारकर उसका मांस खाने लगा। वह शेष बचा मांस उपाश्रय में ले गया। यह सारा कार्य उसने स्त्यानर्द्धि निद्रा में सम्पन्न किया।[3]

२५३०. भिक्षा में मोदक भक्त न मिलने पर घर के कपाट तोड़कर वह रात्रि में मोदक खाने लगा। शेष

---

१. सामान्य महिलाओं के साथ दोष सेवन करने पर मूल प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।

२. स्त्यानर्द्धि निद्रा में प्रमत्त साधु दिन में देखे कार्य को रात्रि में उठकर करता है। यह निद्रा प्रथम संहनन वालों के होती है। आचार्य अभयदेवसूरि ने थीणगिद्धी या थीणद्धि के दो संस्कृत रूप किए हैं—१. स्त्यानर्द्धि २. स्त्यान-गृद्धि। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार इस निद्रा में विशेष शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। इसकी प्राप्ति से जीव निद्रावस्था में ही अनेक रौद्र कर्म तथा बहुविध क्रियाएं कर लेता है।[1] गोम्मट्टसार के अनुसार स्त्यानगृद्धि के उदय से जीव जागने के बाद भी सोता रहता है।[2]

१. तवा पृ. ५७२; यत् सन्निधानाद् रौद्रकर्मकरणं बहुकर्मकरणं च भवति सा स्त्यानगृद्धिः।

२. गोकर्म २३-२५।

३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६५।

मोदकों को पात्र में भरकर उपाश्रय में लेकर आ गया। प्राभातिक आवश्यक में उसने आलोचना की।[1]

२५३१. एक कुम्भकार प्रव्रजित हुआ। पूर्वाभ्यास के कारण मृत्तिकापिण्ड के छेदन की भांति वह पास में सोए साधुओं के शिरों का छेदन करके एकान्त में रखने लगा। प्रातःकाल उसने आलोचना की।[2]

२५३२. एक साधु को मत्त हाथी ने उछाल दिया। रात्रि में स्त्यानर्द्धि निद्रा के उदय से वह नगर के दरवाजे को तोड़कर हस्तिशाला में गया और वहां उस हाथी के दांत उखाड़कर उन्हें उपाश्रय के बाहर रखकर सो गया। प्रातःकाल उसने गुरु के समक्ष इसकी आलोचना की।[3]

२५३३. एक घुमक्कड़ साधु था। वटवृक्ष की शाखा से उसका शिर टकरा गया। कुछ आचार्य कहते हैं कि वह पूर्वभव में वनहस्ती था। वटवृक्ष की शाखा उखाड़कर उसकी शाखा तोड़कर उसे उपाश्रय में लाकर रख दिया। प्रातः उत्सर्ग—कायोत्सर्ग के समय उसने आलोचना की।[4]

२५३४. स्त्यानर्द्धि निद्रा के उदयकाल में उसमें वासुदेव से आधा बल[5] आ जाता है। वह भविष्य में केवली होगा फिर भी अनतिशायी[6] आचार्य उसे लिंग नहीं देते हैं।

२५३५. स्त्यानर्द्धि निद्रा ज्ञात होते ही आचार्य उसे कहते हैं कि तुम लिंग छोड़ दो क्योंकि तुम्हारे में चारित्र नहीं है। तुम अब देशव्रत या दर्शन—सम्यक्त्व को स्वीकार करो अथवा इच्छानुसार रमणीय वेश धारण करो।

२५३६. यदि वह लिंग उतारना नहीं चाहता तो संघ के सदस्य मिलकर उसके लिंग का हरण करते हैं। कोई अकेला साधु यह प्रयत्न नहीं करता। इसका कारण है कि उसका किसी से व्यक्तिगत प्रद्वेष न हो। शक्ति न होने पर संघ रात्रि में उसे अकेला सोया हुआ छोड़कर अन्य स्थान पर चला जाए।

२५३७. निद्राप्रमत्त लिंग पारांचित की व्याख्या सम्पन्न हुई। अब आपस में (गुदा द्वारा) संभोग करने वाले पारांचित को कहूंगा।

२५३८. सुविहित श्रमणों को परस्पर आपस में मुख और पायु—गुदा सेवन कल्प्य नहीं है। अन्योन्य करण किसे कहते हैं? उसे तुम सुनो।

२५३९. कुछ पुरुष द्विवेदक[7] होते हैं, वे मुख और पायु—गुदा का सेवन करते हैं। उनका नियमतः लिंग-परित्याग कर देना चाहिए।

---

१-४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ६६-६९।

५. चूर्णिकार के अनुसार वासुदेव से आधा बल प्राप्त होने वाली बात प्रथम संहनन की अपेक्षा से है। वर्तमान में इस निद्रा में सामान्य व्यक्ति से दुगुना, तिगुना अथवा चार गुना बल प्राप्त हो जाता है।[1]

**१. निचू १ पृ. ५६।**

६. अतिशायी मुनि या तीर्थंकर उसे लिंग दे सकते हैं क्योंकि अतिशयज्ञानी यह जानते हैं कि इसको भविष्य में स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय नहीं होगा।

७. बृहत्कल्प की टीका में द्विवेदक का अर्थ स्त्री-पुरुष वेद युक्त अर्थात् नपुंसकवेदी किया है।[1]

**१. बृभाटी पृ. १३४२ ; द्विवेदकाः स्त्रीपुरुषवेदयुक्ता भवन्ति, नपुंसकवेदिन इत्यर्थः।**

२५४०. चरम शब्द अंतिम का वाचक है। पाराञ्चित प्रायश्चित्तार्ह अपराध करने पर पुनः-पुनः उसमें प्रसक्त होने पर उसे अंतिम पारांचित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

२५४१. स्त्यानर्द्धि पारांचित आदि की शोधि को कहूंगा। लिंग पारांचित आदि की क्रमशः ये गाथाएं हैं—

**९७. उसको लिंग, क्षेत्र, काल और तप से पारांचित किया जाता है। प्रकट रूप से प्रतिसेवना करने वाला तथा स्त्यानर्द्धि नींद वाला लिंग पाराञ्चित होता है।**

**९८. वसति, निवेशन[1]—गृह, वाटक[2], साही—गली, नियोग, नगर, देश, राज्य, कुल, गण और संघ में जहां दोष से दूषित होता है, वहां से दूर करना क्षेत्र पाराञ्चित है।**

**९९. जहां दोष उत्पन्न हुआ अथवा जहां दोष उत्पन्न होगा, यह जानकर उस-उस क्षेत्र से उसे दूर कर दिया जाता है, वह क्षेत्र पाराञ्चित है।**

**१००. जितने काल का तप दिया जाता है, वह काल पाराञ्चित है। तप अनवस्थाप्य की भांति पाराञ्चित भी दो प्रकार का कहा गया है।**

२५४२. आशातना और प्रतिसेवना अनवस्थाप्य में जितना काल है, पाराञ्चित में उत्कृष्ट और जघन्य उतना ही काल है।

२५४३. सामान्यतः तीन प्रकार के पाराञ्चित कहे गए हैं, इनमें जो विशेष है, उसको मैं कहूंगा।

२५४४. दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्य सेवन[3] में प्रसक्त—इन तीनों के बारे में विशेष वर्णन को कहूंगा।

२५४५. इनमें जो स्वपक्ष और परपक्ष से विषयदुष्ट हैं, उसे क्षेत्र से पाराञ्चित किया जाता है, लिंग से नहीं।

२५४६. जो दोषों से अनुपरत होता है, उसे लिंग से पाराञ्चित कर दिया जाता है। शेष कषाय दुष्ट, प्रमत्त, अन्योन्यसेवी—ये नियमतः लिंग पाराञ्चित होते हैं। ये क्षेत्रतः और लिंग से पारांचित कहे गए हैं।

२५४७. शिष्य प्रश्न पूछता है कि पाराञ्चित के इतने ही भेद हैं या अन्य भी हैं? आचार्य उत्तर देते हैं कि अन्य भी भेद होते हैं। वे कैसे होते हैं?

२५४८. जो मुनि इंद्रिय-दोष और प्रमाद-दोष से उत्कृष्ट अपराध-पद को प्राप्त होता है। यदि वह सद्भाव समावृत अर्थात् पुनः ऐसा नहीं करूंगा, ऐसे निश्चय से युक्त हो जाता है और निम्न गुणों से युक्त होता है तो उस साधु को तप पाराञ्चित दिया जाता है।

२५४९-५१. वज्रऋषभ संहनन से युक्त, धृति में वज्रकुड्य के समान, नवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु का

---

१. जिस घर में निष्क्रमण और प्रवेश का एक ही द्वार हो, वह निवेशन कहलाता है।[1]

१. जीचूवि पृ. ५८ ; निवेशनं एकनिष्क्रमणप्रवेशानि.....गृहाणि।

२. ग्राम आदि से व्यवच्छिन्न सन्निवेश वाटक—पाटक कहलाता है। इसे मुहल्ला भी कहा जा सकता है।[1]

१. जीचूवि पृ. ५८ ; पाटको ग्रामादे र्व्यवच्छिन्नः सन्निवेशः।

३. दो साधुओं के द्वारा आपस में मुख और गुदा के द्वारा मैथुन सेवन करना।

सूत्र और अर्थ से अध्ययन करने वाला, लघुसिंहनिष्क्रीड़ित[1] आदि तप से भावित, इंद्रिय-विषय और कषाय का निग्रह करने में समर्थ, प्रवचन के सारभूत अर्थ को जानने वाला, निर्यूहित करने पर जिसके मन में तिल तुष मात्र भी अशुभ भाव न आए, वह निर्यूहण के योग्य होता है। इन गुणों से रहित शेष व्यक्ति निर्यूहण के योग्य नहीं होते।

२५५२. इन गुणों से युक्त साधु पाराञ्चित स्थान को प्राप्त करता है। इन गुणों से रहित साधु को पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर भी मूल प्रायश्चित्त दिया जाता है।

२५५३. आशातना और प्रतिसेवना करता हुआ साधु पाराञ्चित प्रायश्चित्त प्राप्त करता है। प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—जघन्य और उत्कृष्ट।

२५५४. आशातना पाराञ्चित जघन्यत: छह माह और उत्कृष्टत: बारह मास तक गच्छ से निर्यूढ़ रहता है। प्रतिसेवना पाराञ्चित जघन्यत: एक वर्ष और उत्कृष्टत: बारह वर्ष तक संघ से निर्यूढ़ रहता है। कुल, गण आदि का कारण उपस्थित होने पर इसमें भजना है अर्थात् वह पहले भी गण में प्रवेश कर सकता है।

२५५५. यदि आचार्य हो तो वह अन्य शिष्य को इत्वरिक—कुछ समय के लिए गण में निक्षेप—गण का भार सौंपकर फिर अन्य गण में जाकर प्रशस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में आलोचना करके पाराञ्चित प्रायश्चित्त को स्वीकार करता है।[2]

**१०१. वह महान् शक्ति सम्पन्न एकाकी रूप से क्षेत्र के बाहर जाकर विपुल तप करता है। आचार्य उसका प्रतिदिन अवलोकन—देखभाल करते हैं।**

२५५६. क्षेत्र के बाहर स्थित पाराञ्चित तप को वहन करने वाले का आचार्य नित्य अवलोकन और गवेषणा करते हैं, उस विधि को मैं कहूंगा।

---

१. यह तप सिंह की चाल से उपमित है। सिंह दो कदम आगे बढ़ता है फिर एक कदम पीछे रखता है फिर दो कदम आगे बढ़ता है। पूर्व पूर्व आचरित तप की पुन: आराधना करता हुआ साधक आगे बढ़ता है। इसमें न्यूनतम एक उपवास तथा अधिकतम नौ उपवास का तप किया जाता है, जैसे —उपवास के पारणे पर बेला, बेले के पारणे पर उपवास, उसके पारणे पर तेला फिर पारणे पर बेला। इस क्रम से नौ तक चढ़ा जाता है फिर उसी क्रम से उतरा जाता है। इस तप की एक परिपाटी में छह माह सात दिन लगते हैं। (विस्तार हेतु देखें श्रीभिक्षु आगम २ पृ. २७८)

२. बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार गण-निर्गमन रूप पाराञ्चित तप प्रायश्चित्त नियमत: आचार्य ही वहन करते हैं। उन्हें अपने गण में पाराञ्चित तप स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि स्वगण में पाराञ्चित तप वहन करने से अगीतार्थ साधुओं के मन में आचार्य के प्रति यह विश्वास हो जाता है कि आचार्य ने अवश्य अकृत्य का सेवन किया है। इससे उनके मन से भय निकल जाता है। भय न रहने से वे आचार्य की आज्ञा का भंग कर सकते हैं। स्वगण में उन पर कोई नियंत्रण नहीं रहता अत: आचार्य एक योजन दूर अन्य गण में पाराञ्चित तप स्वीकार करते हैं। वे जिनकल्प के सदृश चर्या का वहन करते हैं। अलेपकृद् आहार ग्रहण करते है। बारह वर्ष तक एकाकी रूप से ध्यान-स्वाध्याय में लीन रहते हैं।[1]

१. बृभा ५०३४, ५०३५, टी पृ. १३४४।

**२५५७.** आचार्य शिष्य और प्रतीच्छकों को सूत्र और अर्थ की वाचना देकर उनके प्रश्नों का उत्तर देते हैं उसके पश्चात् वे पारांचित प्रायश्चित्त वहन करने वाले के शरीर की वर्तमान स्थिति के बारे में पूछते हैं। तप से क्लान्त उसको आश्वस्त करके आचार्य पुनः उसी क्षेत्र में आ जाते हैं, जहां गच्छ रहता है।

**२५५८.** यदि आचार्य शारीरिक दृष्टि से सूत्र की वाचना देने में असमर्थ हों अथवा सूत्र और अर्थ पौरुषी की वाचना दिए बिना प्रातःकाल ही चले गए हों तो उनके पीछे से एक संघाटक भक्तपान लेकर आता है।

**२५५९.** पाराञ्चित तप वहन करते हुए कभी रोग हो जाए तो सर्वप्रयत्न से उसका प्रतिकर्म—चिकित्सा करनी चाहिए।[1]

**२५६०.** आचार्य स्वयं भक्तपान लेकर आते है। उनका उद्वर्तन, परावर्तन आदि वैयावृत्त्य यथाशक्ति करते हैं।

**२५६१.** जो आचार्य किसी कारण से प्रायश्चित्त वहन कर्ता ग्लान की उपेक्षा करता है तो उसे ग्लान सूत्र में कथित प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[2]

**२५६२, २५६३.** यदि ग्लानत्व आदि कारणों से गुरु वहां जाने में समर्थ न हों, उष्णकाल हो, दुर्बलता हो अथवा कुल आदि का कोई अन्य कार्य हो तो उपाध्याय को वहां भेजे अथवा वहां कोई योग्य गीतार्थ शिष्य को भेजे। पाराञ्चित प्रायश्चित्त वहन कर्ता के पूछने या न पूछने पर भी वह आचार्य के न आने के कारण को प्रकट करे।

**२५६४.** पारांचित तप वहन करने वाला क्षीरास्रव आदि लब्धि तथा विद्यादि अतिशयों से युक्त होता है तो वह उस संघ-कार्य को सम्पादित करने में समर्थ होता है।

**२५६५.** उसके माहात्म्य को जानते हुए गुरु स्वयं उसे कहते हैं कि संघ का प्रयोजन उपस्थित हुआ है, इस कार्य के लिए तुम योग्य हो। यदि वे उसकी शक्ति को नहीं जानते हैं तो वह स्वयं उनको कहता है कि यह मेरा विषय है। (मैं इस कार्य को करने में समर्थ हूं।)

**२५६६.** संघ अचिन्त्य प्रभाव वाला तथा गुणों का आकार है, वह सुखपूर्वक अखण्ड रहे। पाराञ्चित वहनकर्ता कहता है कि यह बड़ा कार्य भी मेरे द्वारा लघु हो जाएगा।

**२५६७, २५६८.** वह अभिधान और हेतु (शब्द और तर्कशास्त्र) में निपुण, अनेक विद्वत् सभाओं में अपराजित पाराञ्चित तप वहन कर्त्ता मुनि राजभवन में जाकर द्वारपाल से कहता है—"हे द्वारपालरूपिन्! तुम जाकर राजरूपी को कहो कि एक संयतरूपी आपको देखना चाहता है।" राजा के पास निवेदन करके वह द्वारपाल उस संयत को राजा के पास ले जाता है।

---

१. यदि पाराञ्चित प्रायश्चित्त वहनकर्ता स्वस्थ हो तो भक्तपान, प्रतिलेखन, उद्वर्तन आदि कार्य वह स्वयं ही करता है।

२. उपेक्षा करने पर आचार्य को चतुर्गुरु (उपवास) प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है।[1]

१. बृभा ५०३७ टी पृ. १३४४।

२५६९. साधु को वंदना करके राजा उसे सुखपूर्वक आसन पर बिठाता है और कौतूहल वश साधु से गंभीर अर्थ वाले कभी नहीं सुने हुए प्रतिहाररूपी, राजरूपी और श्रमणरूपी शब्दों के अर्थ पूछता है। पाराञ्चित मुनि राजा को उसका अर्थ कहना प्रारम्भ करता है—

२५७०. राजन्! जैसे शक्र आदि के आत्मरक्षक होते हैं, आपका यह द्वारपाल वैसा नहीं है इसलिए मैंने प्रतिहाररूपी शब्द का प्रयोग किया है। तुम भी चक्रवर्ती के समान नहीं हो लेकिन चक्रवर्ती के प्रतिरूपी हो अतः मैंने आपके लिए राजरूपी[1] शब्द का प्रयोग किया।

२५७१. साधु अठारह हजार शीलांग को धारण करने वाले होते हैं लेकिन मैं अतिचार सेवन के कारण श्रमणप्रतिरूपी हूं।

२५७२. हे नरेश्वर! मैं अभी संघ से निष्कासित हूं। अभी श्रमणों के क्षेत्र में भी नहीं रह सकता। मैं अभी प्रमाद के कारण होने वाले अतिचार की विशोधि कर रहा हूं।

२५७३, २५७४. धर्मकथा से आकृष्ट राजा मुनि से राजभवन में आने का प्रयोजन पूछता है। मुनि उसे प्रयोजन बताता है। वह इन चार कारणों में से कोई भी एक हो सकता है—

१. वाद-पराजय से राजा कुपित हो गया हो।
२. चैत्य द्रव्य उनके द्वारा बंधक हों।
३. संयती आदि को मुक्त करने के लिए।
४. संघ को देश निकाला दिया हो।

इन चार कारणों में से कोई एक कारण उपस्थित होने पर।[2]

२५७५. संघ जिस कार्य को नहीं कर पाता, अचिन्त्य प्रभाव युक्त पाराञ्चिक मुनि उस प्रयोजन को प्राप्त कर लेता है। राजा कहता है—'तुम्हारे कथन से मैं पूर्व प्रतिबंधों का विसर्जन करता हूं।' (मुनि कहता है—'मैं कुछ नहीं हूं, संघ महान् है।') तब राजा संघ को निमंत्रित करके उसकी पूजा करता है।

२५७६, २५७७. राजा स्वयं संघ से अभ्यर्थना करता है कि मैं तुम्हारा यह कार्य करता हूं, तुम इस पाराञ्चित प्रायश्चित्त वहन करने वाले मुनि को प्रायश्चित्त से मुक्त कर दो। राजा के कहने पर अथवा तुष्ट

---

१. चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न होते हैं, वह सामान्य राजा के पास नहीं होते लेकिन शौर्य और न्याय की अनुपालना में राजा चक्रवर्ती का प्रतिरूप होता है अतः राजरूपी शब्द का प्रयोग किया गया।

२. बृहत्कल्पभाष्य में राजा के द्वारा प्रद्विष्ट होने पर चार प्रकार के दण्ड का उल्लेख है[1]—

- देश निकाला देना।
- भक्त-पान देने का निषेध करना।
- उपकरणों का हरण कर लेना।
- मार डालना अथवा चारित्र का भेद करना।

१. बृभा ३१२१ ; **निव्विसउ त्ति य पढमो, बितिओ मा देह भत्त-पाणं से। ततितो उवकरणहरो, जीय चरित्तस्स वा भेदो।।**

होकर संघ उस मुनि को प्रायश्चित्त से मुक्त कर दे। पारांचित प्रायश्चित्त उस समय आदि, मध्य या अवसान वाला हो सकता है। उतना प्रायश्चित्त ही उसकी शोधि के लिए पर्याप्त होता है।

२५७८. संघ उस समय देश, देशदेश अथवा सारा प्रायश्चित्त वहन करवा सकता है तथा सम्पूर्ण प्रायश्चित्त से मुक्त भी कर सकता है। कुल प्रायश्चित्त का छठा भाग देश तथा दसवां भाग देशदेश कहलाता है।

२५७९. आशातना पाराञ्चित में छह मास का छठा भाग एक मास तथा एक वर्ष का दो मास होता है तथा प्रतिसेवना पाराञ्चित में एक वर्ष का दो मास तथा बारह वर्ष का चौबीस मास छठा भाग होता है। (यह देश प्रायश्चित्त वहन का काल है।)

२५८०. देशदेश प्रायश्चित्त वहन में आशातना पाराञ्चित में छह महीनों का दसवां भाग अठारह दिन और वर्ष का दसवां भाग छत्तीस दिन होते हैं। प्रतिसेवना पाराञ्चित में संव्वत्सर का दसवां भाग छत्तीस दिन तथा प्रतिसेवना पाराञ्चित के बारह वर्षों का दसवां भाग एक वर्ष बहत्तर दिन होते हैं। (यह दूसरा देशदेश प्रायश्चित्त वहन का कालमान है।)

२५८१. आशातना पाराञ्चित का जघन्य काल छह मास है, उसका छठा भाग एक मास है। उत्कृष्ट एक वर्ष के काल का छठा भाग दो मास जानना चाहिए।

२५८२. प्रतिसेवना पाराञ्चित का जघन्य काल एक वर्ष, जिसका छठा भाग दो मास तथा उत्कृष्ट बारह वर्षों का छठा भाग चौबीस मास होते हैं।

२५८३. छह महीनों का दसवां भाग अठारह दिन तथा वर्ष का दसवां भाग छत्तीस दिन होते हैं।

२५८४. बारह वर्षों का दसवां भाग एक वर्ष बहत्तर दिन-रात होते हैं। यह देशदेश प्रायश्चित्त का काल है।

२५८५. तुष्ट होकर संघ देश (प्रायश्चित्त का छठा भाग) अथवा देशदेश (दसवां भाग) भी प्रायश्चित्त से मुक्त कर सकता है अथवा उतना ही वहन करवा सकता है अथवा सम्पूर्ण प्रायश्चित्त से उसे मुक्त भी कर सकता है।

२५८६. अथवा अगीतार्थ और अपरिणामक के लिए व्यवहार इस प्रकार है—नवविध व्यवहार का विस्तार करके उसे कहे कि वह लघुस्वक प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

२५८७. हाथ घुमाकर नवविध व्यवहार दिखाकर उसे कहा जाता है कि इस लघुस्वक व्यवहार को ग्रहण करो।

**१०२. अनवस्थाप्य और पाराञ्चित—ये दोनों प्रायश्चित्त विच्छिन्न हो गए हैं। जब तक चौदहपूर्वी रहते हैं, तब तक ये प्रायश्चित्त रहते हैं। शेष प्रायश्चित्त जब तक तीर्थ रहता है, तब तक उनका अस्तित्व रहता है।**

२५८८. तप पाराञ्चित और तप अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त भद्रबाहु (प्रथम) के बाद विच्छिन्न हो गए। शेष प्रायश्चित्त तीर्थ की स्थिति तक विद्यमान रहते हैं।

२५८९. लिंग, क्षेत्र और काल से जो पाराञ्चित और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का वहन करते हैं, वे द्रव्यतः और भावतः लिंग पाराञ्चित आदि प्रायश्चित्त तीर्थ की अवस्थिति तक वहन करते हैं।

**१०३. सुविहित साधुओं के प्रति अनुकम्पा के लिए यह जीतकल्प संक्षेप में कहा गया है। पात्र के गुणों की परीक्षा करके यह प्रायश्चित्त देना चाहिए।**

२५९०. इस प्रकार अनंतर रूप से जीतकल्प उद्दिष्ट किया गया है। जीत, आचरणीय या कल्प छह प्रकार का होता है।

२५९१. आजीवन धारण किया जाने वाला जीतकल्प है अथवा जीत का कल्प जीतकल्प कहलाता है।

२५९२. कल्पशब्द[1] निम्न अर्थों में प्रयुक्त होता है—१. सामर्थ्य २. वर्णन ३. छेदन ४. करण ५. औपम्य और ६. अधिवास।

२५९३. यहां छेदन और वर्णन के अर्थ में कल्प शब्द का प्रयोग हुआ है। जीत का वर्णन तथा छेदन जीतकल्प कहलाता है।

२५९४. यह जीतकल्प का संक्षिप्त अर्थ जानना चाहिए। संक्षेप, समास और ओघ—ये तीनों शब्द एकार्थक हैं।

२५९५. जिनकी विधि अर्थात् आचार अच्छा है, वे साधु सुविहित कहलाते हैं। उनके प्रति अनुकम्पा करके यह कहा गया है। यह प्रायश्चित्त पात्र को देना चाहिए।

*२५९६. सूत्र से और अर्थ से भी जो जीतकल्प का पात्र होता है, वह योग्य कहलाता है, इसके विपरीत* अयोग्य जानना चाहिए।

२५९७. सूत्र १०३ में आया 'पुनः' शब्द विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त है। यह किसको विशेषित करता है?

---

१. कल्प शब्द की सामर्थ्य आदि अर्थ की व्याख्या इस प्रकार है—

१. सामर्थ्य—अतिचार से मलिन मुनि भी प्रायश्चित्त के द्वारा विशोधि करने में कल्प—समर्थ होता है अथवा आठ वर्ष का व्यक्ति श्रामण्य पालन में कल्प—समर्थ होता है।

२. वर्णन—प्रायश्चित्त के जितने प्रकार हैं, उन सबका अथवा मूलगुण और उत्तरगुणों का इस सूत्र में कल्प—वर्णन है।

३. छेदन—तप प्रायश्चित्त अतिक्रान्त होने पर इस अध्ययन के द्वारा पांच दिन अथवा अधिक दिन के मुनि-पर्याय का कल्प—छेदन किया जाता है।

४. करण—कल्पाध्ययनवेत्ता वैसा प्रयत्न करता है, जिससे मुनि प्राप्त प्रायश्चित्त की सम्यक् अनुपालना कर सके अथवा कल्पविद् प्रायश्चित्त देने में आचार्य के सदृश होता है।

५. औपम्य—कल्पअध्ययन पढ़ लेने से प्रायश्चित्त-विधि में आचार्य पूर्वधर के कल्प—सदृश हो जाता है।

६. अधिवास—कल्पाध्ययनवेत्ता मासकल्प और वर्षाकल्प में एकस्थान पर परिपूर्ण कल्प—अधिवास कर सकता है तथा प्रयोजन होने पर न्यून या अधिक समय तक भी रह सकता है।'

१. पंकभा १५४-६२, बृभापीटी पृ. ४।

तिंतिणी—चिड़चिड़े व्यक्ति को निर्दिष्ट करता है। जिनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आदि नहीं होता, वे पात्र कहलाते हैं।

**२५९८, २५९९.** संविग्न, पापभीरु, परिणामक, गीतार्थ, आचार्य के गुणों का वर्णवाद करने वाला, संग्रहशील, अपरितान्त—वैयावृत्त्य, स्वाध्याय आदि में थकान का अनुभव नहीं करने वाला, मेधावी, बहुश्रुत[1], गुरु के पास रहने वाला, नित्य अप्रमत्त—इन गुणों से युक्त मुनि जीतकल्प का पात्र होता है।

**२६००.** जिस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति भी ताप, छेद और निकष—कसौटी के द्वारा स्वर्ण की पहचान कर लेता है, वैसे ही जो आदि, मध्य और अवसान में अविकारी होता है, वह जीतव्यवहार के योग्य होता है।

**२६०१.** इस प्रकार सुपरीक्षित साधु को जीत व्यवहार का प्रायश्चित्त देना चाहिए, दूसरे को नहीं। अयोग्य को प्रायश्चित्त देने पर आचार्य को आरोपणा प्रायश्चित्त की प्राप्ति होती है तथा वह आज्ञा-भंग आदि दोष को प्राप्त होता है।

**२६०२.** जो सुखशील[2]—सुविधावादी और नित्यवासी[3] को प्रवचन का रहस्य कहता है, उसके द्वारा पांच महाव्रत का भेद तथा षट्काय वध का अनुमोदन होता है।

**२६०३.** कच्चे घड़े में निहित जल जैसे उस घड़े का विनाश कर देता है, वैसे ही अपात्र सिद्धान्त के रहस्य को विनष्ट कर देता है।

---

१. विविध आगमों के श्रवण और अध्ययन से जिसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, वह बहुश्रुत कहलाता है।[1] भाष्यकार ने बहुश्रुत के तीन प्रकार किए हैं—१. जघन्य बहुश्रुत—निशीथ का ज्ञाता। २. मध्यम बहुश्रुत—कल्प और व्यवहार का ज्ञाता। ३. उत्कृष्ट बहुश्रुत—नवें एवं दशवें पूर्व का ज्ञाता।[2] निशीथ चूर्णि में निशीथ और चौदहपूर्व के मध्यवर्ती ज्ञाता को मध्यम बहुश्रुत तथा चतुर्दशपूर्वी को उत्कृष्ट बहुश्रुत माना है।[3] धवला में द्वादशांगी के ज्ञाता को बहुश्रुत कहा गया है।[4]

१. उशांटी प २५३ ; **बहुश्रुता विविधागमश्रवणावदातीकृतमतयः।**

२. बृभा ४०२; **तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहण्णओ मज्झिमो उ उक्कोसो।**
**आयारपकप्पे कप्प नवम-दसमे उ उक्कोसो॥**

३. निभा ४९५ चू पृ १६५।

४. षट्ध पु. ८/३/४१।

२. जो शरीर के सुख में ही लीन रहते हैं, वे सुखशील/पार्श्वस्थ कहलाते हैं।[1]

१. बृभाटी पृ. २४१; **सुखं—शरीरशुश्रूषादिकं शीलयन्तीति सुखशीलाः पार्श्वस्थादयः।**

३. बृहत्कल्प और निशीथ भाष्य में णीयगाणं—नित्यवासी के स्थान पर 'ऽवियत्ताणं' पाठ है। अव्यक्त का अर्थ है—श्रुत और वय से अव्यक्त। निशीथ चूर्णिकार ने इसका दूसरा अर्थ किया है कि जिसकी आत्मा मोक्ष सुख से रहित है, वह सुखशीलव्यात्मा है।[1]

१. निचू भा. ४ पृ. २५७ ; **मोक्खसुहे सीलं जं तम्मि विगतो आया जेसिं ते सुहसीलवियत्ता।**

**२६०४.** काल आने पर विद्वान् व्यक्ति भले विद्या के साथ मर जाए पर अपात्र को वाचना[1] न दे तथा पात्र की अवमानना न करे।

**२६०५.** आपवादिक स्थिति में मार्ग आदि कारण उपस्थित होने पर आचार्य अपात्र को भी वाचना दे। यह सोचकर कि यह वैयावृत्त्य आदि के द्वारा हमको बहुत तृप्त करेगा।

**२६०६.** अल्पअक्षर और महान् अर्थ वाला यह पांचवां व्यवहार—जीतकल्प संक्षेप में वर्णित है।

**२६०७.** इस जीतकल्प को उदधि सदृश बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ[2] जैसे श्रुतरत्न का बिन्दु तथा नवनीत के समान सारभूत जानना चाहिए।

**२६०८.** जो आचार्य बृहत्कल्प आदि तीनों के सूत्रार्थ को निपुणता से जानता है, वही शिष्य-प्रशिष्यों को इसकी वाचना दे सकता है, दूसरा नहीं।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख मिलता है कि परोक्षज्ञानी गुरु सूत्र और अर्थ की वाचना देते समय शिष्य के अभिप्राय को जानकर अपात्र को वाचना नहीं देते क्योंकि अपात्र को वाचना देने से श्रुत की आशातना होती है और शिष्यों का विनाश होता है।[1]

बृहत्कल्प सूत्र में तीन व्यक्तियों को वाचना देने के अयोग्य माना है—१. अविनीत २. रसलोलुप ३. कलह को उपशान्त नहीं करने वाला। भाष्यकार उपमा द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे ग्वाला गायों के आगे आकर जब पताका दिखाता है तो गायों की गति में तीव्रता आ जाती है, वैसे ही अपात्र को श्रुत देने से वह उसके अहंकार को बढ़ाता है।[1] पात्र को वाचना न देने से आचार्य का अपयश, सूत्रार्थ का विच्छेद तथा प्रवचन की हानि होती है तथा लोगों में यह चर्चा होती है कि ये मात्सर्य और पक्षपात से युक्त हैं।[2]

**१. बृभा २१४ टी पृ. ६८।**

**२. बृभा ५२०२ टी पृ. १३८२, १३८३।**

**३.निभा ६२३३ ; अयसो पवयणहाणी, सुत्तत्थाणं तहेव वोच्छेदो। पत्तं तु अवाएंते, मच्छरिवाते सपक्ख वा।।**

२. ग्रंथकार का तात्पर्य यहां तीनों ग्रंथों के भाष्यों से होना चाहिए।

# परिशिष्ट


- पदानुक्रम ५३१
- कथाएं ५७१
- तुलनात्मक संदर्भ ६२१
- परिभाषाएं ६४४
- एकार्थक ६५२
- निरुक्त ६५४
- उपमा और दृष्टान्त ६५७
- सूक्त-सुभाषित ६५९
- दो शब्दों का अर्थभेद ६६२
- आयुर्वेद और चिकित्सा ६६३
- देशी शब्द ६६६
- विशेषनामानुक्रम ६७२
- विषयानुक्रम ६८१
- पाद-टिप्पण विषयानुक्रम ६८४
- वर्गीकृत विशेषनामानुक्रम ६८९
- जीतकल्प सूत्र से सम्बन्धित भाष्यगाथाओं का क्रम ६९५
- प्रयुक्त ग्रंथ-सूची ६९६

# पदानुक्रम


| | | | |
|---|---|---|---|
| अइमाण सधूमे या | १६९४ | अच्चित्तमक्खित दुहा | १५०३ |
| अइरं फलादिपिहितं | १५५३ | अच्चित्तमक्खितम्मी | १५०७ |
| अइरुग्गयम्मि सूरे | २१३२ | अच्चित्त सचित्तेणं | १५५० |
| अंगारभूइ थाली | १२१५ | अच्चित्ते अच्चित्तो | १५१९ |
| अंगुलमावलियाणं | ५४ | अच्चित्तो अच्चित्ते | १५२१ |
| अंगुलिए चालेउं | १२३२ | अच्छउ ता गाहत्थो | १०८७ |
| अंचु गती-पूजणयो | ७२९ | अच्छउ ता ववहारो | २४ |
| अंतगतो वि य तिविधो | ३९ | अच्छउ महाणुभावो | २५६६ |
| अंतो तिह पायम्मी | १६१३ | अच्छंति ता उ दिक्खंता | २१४० |
| अंतो बहि चतुगुरुगा | १६२० | अच्छिण्णपरीमाणो | १२७८ |
| अंतो वा बाहिं वा | ३६० | अज्ज अहं संदिट्ठो | २३२८ |
| अंधेल्ल-पगलितादी | १५७८ | अज्जवभावे अज्जव | २५० |
| अंबरे व कतो संतो | ९३ | अज्जाण परिग्गहिताण | २०७० |
| अंबादीदिट्ठंतेहिँ | १९५१ | अज्झवसाठाणेहिं | ६२ |
| अकडज्जोगा ऽजोग्गविय... | २१९३ | अज्झवसाणेहिं पसत्थ.... | ५० |
| अकतकरणम्मि पणगं | २२४० | अज्झुसिरं तु कुसादी | १७६८ |
| अकतकरणम्मि मूलं | २२१७ | **अज्झुसिरतणेसु निव्विग....** | **५५** |
| अकतथिरम्मी छेदो | २२१४ | **अज्झोतर-कड-पूतिय** | **३९** |
| अकतम्मी आयामं | २२३६ | अट्ठम छट्ठ चउत्थं | १८६१, २१४६ |
| अकते छल्लहुगा तू | २२२२ | अट्ठम दसम दुवालस | ३४८, १८३६, १९०१ |
| **अकतेसु तु पुरिमासण....** | **५३** | अट्ठमभत्ताऽऽढत्तं | २२२९ |
| अक्कोसतज्जणादिसु | २४६९ | अट्ठममादी गिम्हे | १८६४ |
| अगरहित कूरकुसणं | १५०६ | अट्ठविधरायपिंडं | २००२ |
| अग्गहो ततियादीया | २१६३ | अट्ठविधा गणिसंपद | १६० |
| अग्गीत-थिरे अकते | २२१५ | अट्ठविधा पट्ठवणा | २२६१ |
| अग्गीतसगासम्मी | ३५६ | अट्ठहि अट्ठारसहि य | २४२ |
| अग्गीता वि थिराऽथिर | २२०५ | अट्ठाएँ अणट्ठाए | १०१५, १११५ |
| अघणघणचारिगगणे | ११७१ | अट्ठायारवमादी | २४४ |
| अचरित्तयाए तित्थे | ३१६ | अट्ठारस छत्तीसा | २५८० |
| अच्चंतमणुवलद्धा | ३६ | अट्ठारससीलसहस्स.... | २५७१ |
| **अच्चंतोसण्णेसु य** | **८५** | अट्ठारससु पुण्णेसु | २१३७ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| अट्ठारसेव पुरिसे | २१०७ | अण्णोवस्सयबाहिं | २३१२ |
| अट्ठारसेहिं ठाणेहिं | १५०-१५३ | अतिपरिणामो भणती | १९५५ |
| अट्ठारसेहिं पुण्णेहिं | २१५७ | अतिबहुयं अतिबहुसो | १६२७ |
| अट्ठारसेहिं मासेहिं | २१५५ | अतियारगुरुभरेणं | २५१ |
| अणणुण्णात गुरूहिं | १७४१ | अतियारपंकपंकं.... | २४९ |
| अणपुच्छाएँ गणस्सा | ३८९ | अतियारसेवणाए | २३०० |
| अणमप्पेण कालेणं | २९८ | अतियारस्स तु असती | २०५३ |
| अणयारमायरंती | ७८९ | अतिरं अंगारादी | १५५२ |
| अणवट्ठप्पावत्ती | २४२१ | **अतिरं अणंतणिक्खित्त** | **३६** |
| **अणवट्ठप्पो तवसा** | **१०२** | **अतिरं परित्तणिक्खित्त** | **३८** |
| अणवट्ठप्पो दुविधो | २३०३ | अतिर णिरंतर भणितं | १६९२ |
| अणिगूहितबल-विरिया | २२५७ | अतिर णिरंतर भण्णति | १६८० |
| अणिमित्त अकम्हभयं | ९२५ | अत्तट्ठिय आदाणे | १२१३ |
| अणियतचारी अणियत.... | १६६ | अत्तणो आउगं सेसं | २१२६ |
| अणिसट्ठ भणितमेतं | १२८३ | अत्थं पडुच्च सुत्तं | २६४ |
| अणिसट्ठमणुण्णातं | १२८० | अत्थमितम्मि वि सिव्वसि | २४८७ |
| अणिसिट्ठं पि य तिविधं | १२७५ | अत्थविसंवादेवं | १०१७ |
| अणुगामिओ उ ओही | ४६ | अत्थादाणे ततिओ | २४१९ |
| अणुपरिहारिगा चेव | २१५१ | अदुवा चियत्तकिच्चे | २०२९ |
| अणुपरिहारी गोवालग.... | २१४३ | अद्दिट्ठं दिट्ठं खलु | २२६ |
| अणुपरिहारीया पुण | २१४७ | अद्धमसणस्स सव्वं.... | १६३८ |
| अणुपुव्विविहारीणं | ५१० | अद्धाणकप्पऽणेसी | ६०७ |
| अणुलोमा पडिलोमा | ५२५ | अद्धाण जणवदे वा | १३३ |
| अणुवरमंतो कीरति | २५४६ | अद्धिति दिट्ठीपण्हय | १४२८ |
| अण्णं च इमो दोसो | ३१४, ७४८ | अद्धोयणा परेणं | ९६४ |
| अण्णं व एवमादी | २४६७ | अध सो गतो उ तहियं | ५८३ |
| अण्णतरपमादेणं | १३६ | अपरक्कमो तवस्सी | ५६८ |
| अण्णत्थ एरिसं दुल्लभं | २००७ | अपरक्कमो बलहीणो | ४९८ |
| अण्णम्मि अविज्जंते | २३४९ | अपरक्कमो मि जातो | ५६७ |
| अण्णा दोण्णि समाओ | ३४६ | अपरक्कमो य सीसं | ५७० |
| अण्णाय उ वेलाए | ७७४ | अपरिग्गह णारी पुण | २३६४ |
| अण्णे वि अत्थि दोसा | २०१० | अपरिग्गहितो तहियं | २३११ |
| अण्णेहि य सो भणितो | १४४२ | अपरिच्छण्णम्मि गुरुगा | ३९२ |
| अण्णोण्णस्स सगासे | २०९२ | अपरिच्छितुमायवए | ५९७ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| अपरीणामगमादी | १८१ | अवसेसा अणगारा | ४७० |
| अपसत्था उववूहा | १०४४ | अवस्सगमणं दिसासु | ८८३ |
| अपसत्थियभावुप्पाद.... | १३१८ | अवि णाम होज्ज सुलभो | १३७७ |
| अप्पगंथ महत्थो | २६०६ | अवि य हु पुरिसपणीतो | २०१८ |
| अप्पच्छित्ते य पच्छित्तं | २०४७ | अवि य हु विवाहमंगे | ११०५ |
| अप्पडिलेहितदूसे | १७७१ | अविसिट्ठा आवत्ती | २२१२ |
| **अप्पडिविरयोसण्णो** | **९०** | **अविहीय कास-जंभिय** | **१०** |
| अप्पत्तम्मी ठवितं | १२३५ | अविही हत्थमदातुं | ९०६ |
| अप्पत्तो दुविधो तू | १०२५ | अव्वत्तं अफुडत्तं | १७८ |
| अप्पा मूलगुणेसुं | ७७३ | अव्वावण्णसरीरा | २१७० |
| अप्फासुपुढविमादी | १२५८ | असंखेज्जाइँ अलोगे | ६६, ६९ |
| अब्भत्थितो सयं वा | २५७७ | असंथरं अजोग्गो वा | ३९१ |
| अब्भिंतरअतिसेसो | २१६९ | असणादी चतुभेदो | १७४८ |
| अब्भुज्जतं विहारं | २४७२ | असणादीया चतुरो | २००१ |
| अब्भोज्जे गमणादी | ११९० | अस भोयणम्मि अहवा | १३ |
| अभिगत कत अकते या | २२३३ | असमत्तकप्पियाणं | ७६८ |
| अभिघातो वा विज्जू | ५०७ | असमत्थो संजमस्स उ | १६७० |
| अभिधाणहेतुकुसलो | २५६७ | असहू सुत्तं दातुं | २५५८ |
| अभिसेगं तो पेसे | २५६३ | असिलोगो त्ति इ अयसो | ९२७ |
| अभिसेगो उज्झाओ | २४२० | असिवादीहि वहंता | ३८६ |
| **अभिसेगो सव्वेसु य** | **८८** | असिवे ओमोदरिए | ७६५, १९९१ |
| अमणुण्णेसणसुद्धं | १६३६ | असिवे पुरोवरोधे | २३९३ |
| अममत्त-अपरिकम्मो | २०६४ | असिवोमादीएसु तु | ३८५ |
| अमयमिव मण्णमाणो | ८४० | असुभ सुभो वा भावो | १९३७ |
| अमुगो अमुगत्थकतो | ६७९ | असु वावण धाऊओ | १२ |
| अम्हे कारावेमो | २७० | अस्संजमजोगाणं | १३९२ |
| अरह पूयाएँ धातू | ९८२ | अस्संजयतेगिच्छे | १३९१ |
| अलभंता य वियारं | २००९ | अस्सद्दहणा देवस्स | ८३३ |
| अल्लीणा णाणादिसु | ६६५ | अस्सुट्ठिता भणंती | १२२८ |
| अवधी मज्जायत्थो | ३५ | अह अरहण्णगसाधू | ८१९ |
| अवराहं वियाणंति | १३० | अह उस्सग्गेऽववायं | २१८८ |
| अवरो वि फरुसमुंडो | २५३१ | अह एत्तो वोच्छामी | २३७२ |
| अवरो विवाडितो मत्त.... | २५३२ | अहगुरुगे गिम्हासुं | १८६८, १९३४ |
| अवरो वि सिहरिणीए | २४८९ | अहगुरुगे वासासुं | १९१६ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| अहगुरुगे वासासू | १८६६ | अहव तिहा आसायण | ८६७ |
| अहगुरुगे सिसिरेसुं | १८६७, १९२५ | अहव य भासति कज्जे | ८२४ |
| अहगुरु जेणं पव्वा.... | २०४ | अहवा अतिप्पमाणो | १६२९ |
| अह णेच्छति तो संघो | २५३६ | अहवा अफरुसवयणो | १७६ |
| अह ताव सावगो तू | ११५२ | अहवा अभिक्खसेवी | २४१८ |
| अह पुण जदि होज्जाही | ५०९ | अहवा छेदसुतादी | ९६१ |
| अह पुण ण तरेज्ज गुरू | २५६२ | अहवा जं सिक्खिज्जति | १३५९ |
| अह पुण ण संथरेज्जा | १३०७ | अहवा जेणऽण्णइया | ६६८ |
| अह पुण भण्णति एवं | २४५१ | अहवा णिरवेक्खितरा | २२०२ |
| अह पुण विरूवरूवे | ३९६ | अहवा तिगसालंबेण | ४२० |
| अह पुण साहम्मि त्ती | १०६६ | अहवा पगतपसत्थं | २ |
| अह भण्णति मा बीभे | २४५३ | अहवा पुरिसा दुविधा | २२५२ |
| अहमेगकुलं गच्छं | ८९९ | अहवा भिक्खू पावति | २४१६ |
| अहयं तु काइयाडो | ८५८ | अहवाऽऽभिणिबोहीयं | २१७३ |
| अहलंदियाण गच्छे | २०६६ | अहवा मत्ता बिंदू | १०१० |
| अहलहुगा वासासुं | १८८१ | अहवा वि इमे अण्णे | ६७१ |
| अहलहुगे गिम्हासुं | १८८३ | अहवा वि इमो अण्णो | ९०४ |
| अहलहुगे वासासुं | १९११ | अहवा वि कायमणिणो | ११९ |
| अहलहुयग गिम्हेसुं | १९२९ | अहवा वि दुगुंछा ऊ | १०४० |
| अहलहुयग सिसिरेसुं | १८८२ | अहवा वि पूयपूया | १३८० |
| अहलहुसग गिम्हासुं | १८९२, १९२६ | अहवा वि रोगियस्सा | २३८२ |
| अहलहुसग लहुसतरो | १८३१ | अहवा वि लड्डुगादी | १०९० |
| अहलहुसग वासासुं | १८९० | अहवा वि वदे एवं | ८६६ |
| अहलहुसग सिसिरासुं | १८९१ | अहवा वि समतिरित्तं | १८१३ |
| अहलहुसग सिसिरेसुं | १९१७, १९२० | अहवावि सव्वरीए | ३६२ |
| अहव अगीतणिमित्तं | २५८६ | अहवा वि सो व्व परतो | ३८३ |
| अहव गिलाणस्सट्ठा | ७४२ | अहवा वी णिव्विगती | २२४८ |
| अहव ण जाती दव्वं | १६१९ | अहवा सहसऽण्णाणा | १३४ |
| अहव णमुक्कारादी | १७४९ | अहवुच्चरती काइय | ८१६ |
| अहव ण संभरती तू | १७८८ | अह सव्वदव्वपरिणाम... | ९६ |
| अहव ण सचित्तमीसो | १५२५ | अह साहु किलामिज्जति | ८५९ |
| अहव तिमो लहुसादी | १८९७ | अह सो गतो सदेसं | ६३७ |

अह हरिते णिक्कारण २३४८
अहाकरेसु रंधंति १०१९
अहिगं तु तंदुलादी १२८४
अहितोभयलोगम्मी १६३७
अहुणा उ चारणा तू १८६५
अहुणा गाहाणं तू १६७५
अहुणा चित्ताचित्ते १५१५
अहुणा जिणकप्पठिती २१५९
अहुणा थेरठिती तू २१८१
अहुणा मीसं मीसे १५१६
अहुणा मूलावण्णो २२१९
आउट्टि उवेच्चा तू २२९०
आउट्टिगमादीया १८१५
आउट्टिया उवेच्चा २२६५
**आउट्टियाऍ ठाणं....** ७६
**आउट्टियाय दप्पप्प.....** ७४
**आउट्टियाय पंचिंदिय** ८३
आउट्टियावराहे २२७१
आउट्टो उवसंतो ७९६
आउत्त पुव्वभासा ९१७
आउत्तो वि य होउं ९१६
आकंपिया णिमित्तेण १३४२
आगमतो ववहारो ९
**आगाढऽणागाढम्मि** २७
आचेलक्कुद्देसिय १९७१, १९७५
आचेलक्को धम्मो १९८३
आजीवियधरणाओ २५९१
आणं सव्वजिणाणं ११८३
आणाए ऽभावाओ ७००
आणादऽणंतसंसा.... २३४४
आणेति भुत्तसेसं १२७९
आतंके उवसग्गे १६६४
आतंको जरमादी १६६५
आतस्स साडणं ती ८६४
आदाण-भंडणिक्खेव.... ८०८
आदाणे अहिगरणं १४६९
आदाणे चलहत्थो ६०८
आदिगरा धम्माणं १०८
आदिग्गहणेणं तू १७११, १७२४
आदिग्गहणेणं पुण ७४१, ९४८, १६८५
आदिग्गहणे णेयो १७६६
आदिमभंगा तिण्णि इ ८१३
आदीगहणेणं पुण ७५६, १०६५
आदेज्ज मधुरवयणो १७५
आपुच्छिऊण अरहंते २१२८
आभोगमणाभोगे ९३०
आभोगे जाणंतो ९१९
**आभोगेण वि तणुगेसु** १२
आमंतिय पडिसुणणा ११७८
आमे घडे णिहित्तं २६०३
आयंबिल उसिणोदेण ३५०
आयट्ठा जा दुछडा ११६३
आयतर-परतराणं १९६४
आयप्परपरिकम्मं ५१३
आयरिए अभिसेगे १९९३
आयरिए कतकरणे २२३५
आयरिए य गिलाणे ९७०
आयरिओ य बहुस्सुत १६५
आयरिय अभत्तट्ठो १०५८
आयरिय-असहु-अतरा ६११
आयरिय उवज्झाए १३९९, २२३२
आयरिय-उवज्झाया २२०९
आयरिय गिलाणे या १०४९
आयरियपादमूलं ४०८

| | | | |
|---|---|---|---|
| आयरियपेसणादी | ७६६ | आलोयणारिहं ति इ | ७८३ |
| आयरियस्स विणासे | २३८९ | आलोयणा विवेगे य | २८९ |
| आयरिया तु अपुव्वा | ७५५ | आलोयणा विवेगो वा | २८४ |
| आयवयं च परवयं | १४२७ | आलोयणोवयुत्ता | २२५६ |
| आयाम-चउत्थादी | ३४९ | आवंति होति देसो | १०१६ |
| आयारपकप्पम्मी | २०७९ | आवत्तितवो एसो | १८५०, १९०४ |
| आयारविणय एसो | २२२ | आवत्ति दाणमेत्थं | १२६५ |
| आयार विणयगुण कप्प... | २४६, ४१३ | आवत्ती दाणे वा | १५४६ |
| आयारसंपदाए | १६३ | आसंकिते तदुभयं | ९४४ |
| आयार-सुत-सरीरे | १६१ | आसज्ज खेत्तकप्पं | १९९० |
| आयारे विणयो खलु | २१४ | आसणदाणं सक्कारणा | ८७३ |
| आयारे सुत विणए | २१३ | आसयपोसयसेवी | २५३९ |
| आयारे सुत्तमिणं | १०१४ | आसातण पडिसेवण | २५४२ |
| आयाहम्मग एतं | १११९ | आसायणपारंची | २४७८, २५८१ |
| आयु-सरीरप्पाणादि | १६६१ | आसायणा जहण्णो | २५५४ |
| आराहओ तु तह वी | १२९ | आसूयमादिएहिं | १३१५ |
| आरुभहा पट्ठीए | ८४२ | आहड सपच्चवायं | १६७८ |
| आरोह-परीणाहो | १७१ | आहरति भत्तपाणं | २५६० |
| आरोहो दिग्घत्तं | १७२ | आहाकम्मं भुंजति | ११९३ |
| आलत्ते वाहित्ते | ८६९ | आहाकम्मद्दारं | ११९४ |
| आलावण पडिपुच्छण | २४४२ | आहाकम्मपरिणतो | ११२० |
| आलोइय-पडिकंते | १२७ | आहाकम्मियणामा | १०९८, ११३० |
| आलोएती गुरुणो | ७४५ | आहाकम्मिय पाणग | ३७२ |
| आलोयणअरिहं ती | ७१८ | आहाकम्मुद्देसिय | १०९५, १२९५ |
| आलोयण कप्पठिते | २१४२ | आहाकम्मे चतुगुरु | ११९५ |
| आलोयणकालम्मि व | 2273, ७७ | आहाकम्मेण अहे | ११३७ |
| आलोयणदोसेहिं | २४५ | आहार-उवधि-सेज्जा | २१०८ |
| आलोयण पडिकमणे | २७४, २८२ | **आहारादिग्गहणे** | **६** |
| आलोयणमादीणं | ७३० | आहारादी दव्वं | १८१४, ६५ |
| आलोयणागुणेसू | २५२ | आहारे उवधिम्मि य | २३६८ |
| आलोयणागुणेहिं | २४३ | आहारेंति तवस्सी | १६५४ |
| आलोयणापरिणतो | १२८ | आहारे ताव छिंदाहि | ४५० |

| | | | |
|---|---|---|---|
| आहारेति अकज्जे | १६९५ | इय जो उ अप्पमत्तो | ११२५ |
| आहारे पिट्ठादी | २३६१ | इय णाउमाह कोयी | १३०१ |
| आहारें पूतियम्मी | १६९७ | इय पंतभिच्छुवासो | १४४० |
| आहारों जेसि आदी | ७४० | इय भणिते चोदेती | २५५ |
| आहारों जेसिमादी | १८१८ | इय भवरोगत्तस्स वि | २३८३ |
| इंगितणाते धूया.... | १४०७ | इय मासाण बहूण वि | १२० |
| इंदत्थं जह सद्दा | ११३६ | इय मूलक्कम्मेणं | १४७० |
| इंदियपडिसंचारो | ४२९ | इय मेव जीतदाणं | १८२४ |
| इंदियपमाददोसा | २५४८ | इय सइ दोसं छिंदति | २०५७ |
| इंदियाणि कसाए य | ४०६ | **इय सव्वावत्तीओ** | **६२** |
| इंधण गंधे धूमे | १२०५ | इय सामाइयछेदे | २१११ |
| इक्खागवंस भरहो | १४०९ | इय होंति असंखाओ | ३० |
| इच्छा-मिच्छा-तहक्कारो | ८८० | इरियं च ण सोहेती | १६६० |
| इड्ढि-रस-सातगुरुगा, | २४७१ | इरियं ण सोहइस्सं | ६०६ |
| इत एक्कवार बितियं | ८३७ | इहपरलोगे य फलं | २३८४ |
| इतरमहिलासु चरिमं | २५२२ | इह पुण जीतेणं तू | १८०१ |
| इतरा य गिल्लसण्णिहि | १०८४ | ईसर-तलवर-माडंबि.... | २००३ |
| इतरो उ विराहेती | २१९० | ईसर भोइयमादी | २००४ |
| इति उदिते चोदेती | १५९६ | उक्कुट्ठ-पिट्ठ-मक्खित | १४९७ |
| इति एगूणतीसाए | २१२१ | **उक्कोसं तवभूमीं** | **८२** |
| इति एस अणंतरतो | २५९० | उक्कोसं तु विसिट्ठं | २३०६ |
| इति एस अभिहितो तू | २५१८ | **उक्कोसं बहुसो वा** | **८७** |
| **इति एस जीतकप्पो** | **१०३** | उक्कोसा तवभूमी | २२८७ |
| इति एस दव्व खेत्ते | २२७६ | उक्कोसिगा तु एसा | ३५४ |
| **इति दव्वादिबहुगुणे** | **७८** | उक्कोसुक्कोसो तू | १८५५ |
| इति सामाइयमादी | २१९१ | उक्कोसुक्कोसो या | १८५३ |
| इत्तरठवणा भत्ते | १७१३ | उक्कोसेण मसंखा | २८ |
| **इत्तरठविते सुहुमे** | **४३** | उक्कोसो सणिजोगो | २३२६ |
| इत्थीए चतुगुरुगा | १४२३ | उक्खेवे णिक्खेवे | १५६६ |
| इत्थीए मासगुरुं | १४२५ | उग्गमकोडी अवयव | १२९७ |
| इय अणिवारितदोसा | ३१० | उग्गमदोस गिहीतो | १४७२ |
| इय एतेण कमेणं | १८०७ | उग्गममादीणं तू | १६७४ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| उग्गहितस्स तु ईहा | १९० | उद्धारणा विहारण | ६५५ |
| उग्गादीयं तु कुलं | १३५७ | उप्पज्जमाणओ खलु | ३३ |
| उग्गिण्णम्मि य गुरुगो | २३७५ | उप्पण्णे उवसग्गे | ५२३ |
| उग्घाडिते य दिट्ठे | ८५३ | उप्फिडितुं सो कणगो | ४८१ |
| उच्चरति काइयं तू | ९८७ | उब्भामग वडसालेण | २५३३ |
| उच्चरती उच्चारं | ९८६ | उब्भिण्ण होति दुविधं | १२५६ |
| उच्चारं पासवणं | ८५४ | उब्भिण्णेतं भणितं | १२६९ |
| उच्चारभूमि पढमा | १७४७ | उभयं पि दाऊण स पाडिपुच्छं | २५५७ |
| उच्चारे पासवणे | ८१४ | उभयच्छण्णा एसा | १३३४ |
| उज्जाणरुक्खमूले | ४२८ | उभयतरो तू ततिओ | १९६३ |
| उज्जुमती उड्ढे ऊ | ७८ | उम्मग्गदेसए मग्ग... | २०४९ |
| उज्जुमती विउलमती | ८९ | उम्मीसं पुण दायव्वयं | १५८५ |
| उज्जेणी उस्सण्णं | २३९६ | उम्मीस भणितमेतं | १५८७ |
| उट्ठेज्ज णिसीएज्जा | २४५६ | उवगरणगणणिमित्तं | ३३६ |
| उट्ठेह वयामो त्ती | ८४१ | उवगरणपूति भणितं | १२१२ |
| उडुबद्धिगेसु अट्ठसु | २०८१ | उवगरण सरीरम्मि य | ४९२ |
| उड्ढं उड्डोयादी | ९०८ | उवगरणेहि विहूणो | ४८४ |
| उड्ढ दुभूमादीयं | १२७० | उवधी जहण्णमादी | १७४० |
| उत्तरगुण बहुगा तू | २२८४ | उवधी धोतऽवसाणे | १७८५ |
| उदगमणंतर णवणीत..... | १५२८ | उवरितलत्थो य णडो. | १४०० |
| उदय-ऽग्गि-चोर-सावय | ६१३ | उवरिमतिगसंघतणो | २४३३ |
| उदुवासकालऽतीते | २०७४ | उववूह होति दुविधा | १०४२ |
| उद्दवणे कल्लाणं | १०७४ | उववूहादि चतुण्ह वि | १०५५ |
| उद्दिस्सति वरिसेण य | २१२० | उवसंतो वि समाणो | २५१५ |
| उद्देसकडे कम्मे | ११९७ | उवसंपद पंचविधा | ७७९ |
| उद्देसग अज्झयणे | २३, ९९५ | उवसंपया य काले | ८८१ |
| **उद्देस समुद्देसे** | २२ | उव्वत्त दार संथार | ४३५ |
| उद्देसादि चतुण्ह वि | ९९९ | उसिणस्स छड्डुणे देंतओ | १६०३ |
| **उद्देसिगचरिमतिगे** | ३५ | उस्सग्गेण य भणितो | २०६३ |
| उद्देसिगम्मि लहुगो | १२०० | उस्सप्पिणि-ओसप्पिणि.... | ७१ |
| उद्देसियं समुद्देसियं | ११९८ | उस्सुत्तं ववहरेंतो | २०४८ |
| उद्देसे णिव्विगतिं | १०२२ | एक्कं व दो व तिण्णि व | ३६७, ३७५ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| एक्कासण पुरिमड्ढ | ३०५ | एतं हत्थालंबं | २३९५ |
| एक्केक्कं तं दुविधं | ३२६ | एतद्दोसविमुक्को | १६७३ |
| एक्केक्के चउभंगो | १५६३ | एत पसंगाभिहितं | १९ |
| एक्केक्को पुण तिविधो | ९५७ | एतम्मि जहुद्दिट्ठे | १७८३ |
| एगं कप्पट्ठियं कुज्जा | २१३५ | एतस्स जीतकप्पस्स | २५९४ |
| एगंतणिज्जरा से | ५४१, ५५३ | एताऽऽगमववहारी | २५४ |
| एगट्ठ एगवंजण | ११३१ | एतुवरिं भणिहिती | २७५ |
| एगट्ठितदारमिणं | ११३८ | एते अणूणिए कप्पे | २१३९ |
| एगम्मि उ णिज्जवगे | ३७८ | एते अण्णे य तहिं | ३७३ |
| एगल्लविहारादी | २२१ | एते अण्णे य बहू | ३६५ |
| एगल्लविहारे या | २१५ | एते चेव उ मक्खित | १४९८ |
| एगवसहीएँ पणगं | २०६८ | एते चेव य ठाणा | २०२४ |
| **एगागी खेत्तबहिं** | **१०१** | एते च्चिय अब्भहिते | ७७ |
| एगाह पणग पक्खे | ७८२ | एतेण मज्झ भावो | १३८२ |
| एगिंदिऽणंतवज्जे | ६८३ | एते दस तू वुत्ता | २०३० |
| एगिंदिय पुढवादी | १०६९ | एते दायगदोसा | १५७६ |
| **एगिंदियाण घट्टण.....** | **३१** | एते दायग भणिता | १५८२ |
| एगेण कतमकज्जं | ११८४ | एते भणिता लहुगा | २२४५ |
| एगो तित्थगराणं | २१७९ | एते सपक्खदुट्ठा | २४९८ |
| एगो दवस्स भागो | १६४० | एते सव्वेऽवेगं | २२३४ |
| एगो संथारगतो | ३८७ | एतेसिं अट्ठाए | ७४४ |
| एतं चिय पुरिमड्ढं | १७५० | एतेसिं चिय दव्वादि... | १०१ |
| एतं ठितम्मि मेरं | २१०१ | एतेसिं जे वहंती | २१५४ |
| एतं णाऊण तहिं | १८२० | एतेसिं ठाणाणं | १३९ |
| एतं ति जहुद्दिट्ठं | १८१० | एतेसिं दोण्ह वि तू | ७११ |
| एतं तु अजतणाए | २२३० | एतेसिं पंचण्ह वि | २०५९ |
| एतं तु कारणम्मी | २२३१ | एतेसिं पाउग्गं | ७४३ |
| एतं तु मितं भणितं | १६४२ | एतेसि चतुण्हं पी | २५०२ |
| एतं पादोवगमं | ५५७ | एतेसि दायगाणं | १५७५ |
| **एतं पुण सव्वं चिय** | **६३** | एतेसुं तेण्णेते | २३१३ |
| एतं बहुदेवसियं | १७६४ | एतेसुं पुढवादिसु | १७१५ |
| एतं हत्थायालं | २३९२ | एतेसुक्कोसाणिं | २२९१ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| एतेसु चेव पुढवादि.... | १५४२ | एमादी आवण्णे | ९४३ |
| एतेसु जहुद्दिट्ठे | १७०८ | एमादीओ एसो | ६८६ |
| एतेसु जहुद्दिट्ठो | १६९१ | एमादीजोगेहिं | १४६७ |
| एतेसु धीरपुरिसा | ६६१ | एमादी णेहाऊ | ९२० |
| एते सोलसदारा | १०९७ | एमादी विणयं तू | ८७७ |
| एतेहिं कारणेहिं | १६६३ | एमादीहि बहुविधं | ५५४ |
| एतेहिं ठाणेहिं | १८९३ | एमेव आउ-तेऊ | १५२२ |
| एतेहिं दोसेहिं | २०७७ | एमेव कवाडम्मि वि | १२६६ |
| एतेहि कारणेहिं | ५०८ | एमेव दंसणम्मि वि | ४१९ |
| एतेहि व कज्जेहिं | ७५७ | एमेव माहणेसु वि | १३७० |
| एत्तो उ पओगमती | १९२ | एमेव य अणवट्ठं | २२१८ |
| एत्तो एगतरेणं | ३५५ | एमेव य इत्थीए | २३४३ |
| एत्तो किणावि हीणं | १६२४ | एमेव य किंचि पदं | २०३६ |
| एत्थ उ दाण चतुत्थ | १५५७ | एमेव य दसरायं | २२३९ |
| एत्थं इमम्मि जीते | २१९८ | एमेव य पारोक्खी | २७३ |
| एत्थं चतुभंग भवे | १५१३ | एमेव य पुरिसेसु वि | १४२९ |
| एत्थं पुण अधिगारो | २५१७ | एमेव य बीयाइं | १९५९ |
| एत्थं मासगुरुं तू | १२०७ | एमेव य मीसा वी | २२४६ |
| एत्थं सुहुमा तु इमा | १२२६ | एमेव य रुक्खे वी | १९५८ |
| एत्थ तु ततियचतुत्था | १६४१ | एमेव य समणीणं | २२५१ |
| एत्थ तु मासलहुं तू | १२७३ | एमेव य साहरिते | १७१० |
| एत्थ तु विसरिसदाणं | १५८१ | एमेवुक्कोसादी | १८५८ |
| **एत्थ पुण बहुतरा भिक्खुणो** | **७३** | **एयं चिय सामण्णं** | **५१** |
| एत्थ य पट्ठवणं पति | २२६३ | एयं पुण पच्छित्तं | ७०६ |
| एत्थ वि चउलहुगा तू | १२६८ | एयगुणसंपउत्तो | २५५२ |
| एत्थ वि तहेव जाणण | ११५३ | एयगुणसमग्गस्स तु | २१९७ |
| एत्थ वि ते च्चिय भंगा | ८४९, ८५५ | एयण्णतरागाढे | ६१५ |
| एमादिणिमित्तेहिं | २४०६ | एरिसगा जे पुरिसा | ६६७ |
| एमादि मायपिंडो | १४११ | एरिसगे आगाढे | २३८७ |
| एमादियं तु बहुसो | ९४७ | एरिसजतणाजुत्ता | ९५३ |
| एमादी अणुकूले | १३८१ | एरिसमायासहिते | १७७७ |
| एमादी असढो जं | ९६७ | एवं अत्थादाणे | २४१३ |

एवं आलोएंतो ४२३
एवं खलु उक्कोसा ४३७
एवं खु इंदिएहिं १८
एवं खेत्तमुसं पी १०७७
एवं गंतूण तहिं ६५३
एवं गवेसणाए १३१२
**एवं चिय पत्तेयं २९**
एवं चिय पुरिमड्ढं १०५९
एवं छा आलत्ते ८७१
एवं जहाणुरूवा ५५८
एवं जहोवदिट्ठस्स ६९५
एवं जेहिं तु संलीढो ४०५
एवं झामणहेतुं २३२५
एवं ठाणे ठाणे १८९५
एवं णदिवुब्भंते २४५२
एवं णाऊण ततो १२२९
एवं णिव्वाघाते २०९३
एवं तस्स तु संघो २५८५
एवं ता आहारे २३५५
एवं ता उग्घाते ६४४
एवं ता उवधिम्मी २३२७
एवं ता ओसण्णे २४१२
एवं ता ओहेणं १०५६
एवं ता कारणिए ७७५
एवं ता कोसलगे ५०६
एवं ता जो णिज्जति २३४१
एवं ताऽणागाढे १०२३
एवं ताव अडज्झंते २३२३
एवं तु उवट्ठवितो २०५०
एवं तु करेंतेणं २३९०
एवं तु गविट्ठस्सा १४७१
एवं तु गुणसमग्गो २४३५
एवं तु चोइयम्मी २६३
एवं तु भणंतेणं ३१२
एवं तु मुसावाओ ६३०
एवं तु वड्ढमाणो ६१
एवं तुवस्सयाओ २३१५
एवं तु सो अवहितो २३४६
एवं तू ठवणाए २४४६
एवं तू णातम्मी ४९६
एवं तू दुब्भासित ९४६
एवं दप्पपदम्मी ६३१
एवं दुग्गतपहिया १९८१
एवं देज्जा सुपरिक्खि... २६०१
एवं धरती सोही ३११
एवं धिति-बलजुत्तो ५४२
एवं परिच्छिऊणं ४०७, ५८२
एवं पादोवगमं ४७५
एवं बितियस्सा वि हु ६२८
एवं बीतिज्जस्स वि ६२६
एवं बुद्धीए तू ११४३
एवं भासी ते तू ३९७
एवं मासलहुं तू १२०६
एवं लिंगेणं पी ११४२
एवं वसिकरणादिसु १४५६
एवं सदयं दिज्जति ३०७
एवं समाणिए कप्पे २१५६
एवं सयडोयीए १२११
एव जहुद्दिट्ठाणं २२८९
एव जहुद्दिट्ठेसुं ९४०
एव थिरीकरणं तू १०६०
एवऽद्धाणाईए १७४५
एव भणितो तु संतो २४४९
एव भणेज्जहि खंती १३३३

| | |
|---|---|
| एवमणाभोगेणं | २०४० |
| एवमदत्तपरिग्गह | १०७८, १०८१ |
| एव ममत्त करेंते | १०६७ |
| एवमसंविग्गे वी | ३७० |
| एवमिहमाहकम्मं | ११३४ |
| एव मुसावादादिसु | ९९०, १०८२ |
| एव मुसावादादी | ९४२ |
| एव विगिंचिंतऽसढो | १३११ |
| एवऽसणे कम्मं तू | ११५१ |
| एवाऽऽणध बीयाइं | ५७७ |
| एवासासो तस्स वि | २४५४ |
| एवाऽऽहारेण विणा | ४८७ |
| एस तवं पडिवज्जति | २४४० |
| एस पमादो भणितो | ८१७ |
| एस पसंगाभिहितो | ७०३ |
| एसा अट्ठविधा खलु | १६२ |
| एसा उ पओगमती | १९७ |
| एसा कप्पियसेवा | ६१६ |
| एसा खलु बत्तीसा | २०६ |
| एसाऽऽगमववहारो | ५५९ |
| एसा जिणकप्पठिती | २१८० |
| एसाऽऽणाववहारो | ६५४ |
| एसा दप्पियसेवा | ६०० |
| एसाऽऽदेसो एक्को | २२१६ |
| एसा पच्चक्खाणे | ५११ |
| एसा बितिय तिगिच्छा | १३८९ |
| एसा विसोधिकोडी | १२९६ |
| एसा संजमसेढी | ११११ |
| एसो अज्झोयरओ | १२८६ |
| एसो अट्ठविगप्पो | १०६८ |
| एसो अप्पडिवाई | ६७ |
| एसो कसायदुट्ठो | २५०६ |
| एसो गज्झो एत्थं | ८५० |
| एसो तदुभयभेदो | १०२० |
| एसो तु अक्खरत्थो | १८१७ |
| एसो तु मासकप्पो | २०९४ |
| एसो पढमगभंगो | २५१२ |
| एसो बितियादेसो | २०३२ |
| एसो सुतववहारो | ५६५ |
| ओगाहिते पडिग्गह | ८५१ |
| ओभामितो ण कुव्वति | २४६४ |
| ओरालग्गहणेणं | ११०१ |
| ओरालसरीराणं | ११०० |
| ओलोयणं गवेसण | २५५६ |
| ओवग्गहिओ तिविधो | १७३१ |
| ओसण्णमादिया तू | २४२५ |
| ओसण्णे दट्ठूणं | ८९२ |
| ओसण्णे पव्वावित | २२९७ |
| ओसण्णे बहुदोसे | ६९० |
| **ओह-विभागुद्देसो....** | ४० |
| ओहिय ओवग्गहिओ | ९५८ |
| ओही भवपच्चइओ | ७३ |
| ओहुद्देसविभागे | १७०० |
| ओहेण एस भणितो | १८४५ |
| ओहे मासलहुं तू | ११९६ |
| ओहो तत्थ इमो खलु | ७७१ |
| ओहो सामण्णं तू | १०२४ |
| कंखा उ भत्त-पाणे | २३८ |
| कंचणपुर गुरुसण्णा | ३८२ |
| कंजियमादीगहणं | १३०० |
| कंजियरुक्खाहारो | १८२१ |
| कंतामि भणति पेलुं | १२३० |
| कंदप्पादी तु पदा | ९३१ |
| कक्कडिग अंबगा वा | ११५४ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| कक्कोलग सेवंते | १७६५ | कलमोयणो य पयसा | ३९८ |
| कज्जाऽकज्ज जताऽजत | २२११ | कल्लं चिय एति त्ती | १३४३ |
| कडगादिअत्थदाणं | १४०८ | कल्लाणगमावण्णे | ३०४ |
| कडजोगी गीतत्थो | ९६० | कसाय विकहा वियडे | २२६६ |
| कडनिट्ठिताण लक्खण.... | ११५९ | कस्स त्ति जहुद्दिट्ठं | ११४६ |
| कणग-रयणादियाणं | १३१६ | कह पुण आदेसेणं | २४१५ |
| कतकरण अकतकरणा | २२०० | कह पुण हवेज्ज णातं | २३३० |
| कतकरणउवज्झाए | २२१३, २२२० | कह भंगो सव्वम्मी | १०३३ |
| कतरिं दिसिं गमिस्ससि | ८९८ | कहयंति चुण्णजोगा | १४५१ |
| कतिहिं ठिता अठिता वा | १९७२ | कह समितीसु पमादं | ८०५ |
| कत्तरिपयोयणट्ठा | १३६० | कह होती भइयव्वो | २१८९ |
| कत्तो अत्थो अम्हं? | २३९९ | कहेहि सव्वं जो वुत्तो | १४५ |
| कद्दममक्खित पुढवी | १७०५ | काइगगुत्ताहरणं | ७९७ |
| कद्दममक्खितमीसे | १४९३ | काइयऽसमाहि परिट्ठावणे | ८५६ |
| कप्पट्ठितमादीणं | २१९५ | काउस्सग्गमकाउं | १०३५ |
| कप्पट्ठिता परिणता | १९६७ | काएणं संघट्टण | ८६८ |
| कप्पट्ठितो अहं ते | २४३९ | का पुण भयणा एत्थं? | २४१४ |
| **कप्पट्ठियादयो वि य** | **७१** | कामं परपरितावो | २३८० |
| कप्प-व्ववहाराणं | २६०७ | कामं सयं न कुव्वति | ११२६ |
| **कप्पस्स य णिज्जुत्तिं** | ५६३, ५६४ | काय-वइ-मणा तिण्णि उ | ११०२ |
| कप्पादीए तिण्णि वि | २६०८ | काया वया य ते च्चिय | २४७० |
| कप्पेण उ सेवाए | २२७२ | कायोवचितो बलवं | ४६२ |
| कप्पो संथारो वा | ८७५ | कारणमकारणं वा | २२१० |
| कम्मं तु संकिलिट्ठं | १७८१ | कारणमादिपदा तू | २४३० |
| कम्ममसंखेज्जभवं | ४५४-५७ | कारणविणिग्गतेणं | ७६९ |
| **कम्मुद्देसिय-मीसे** | **३७** | **कारणविणिग्गयस्स य** | **८** |
| कम्मेहिंतो य भवं | १६१७ | कालं ठावितु दिक्खे | २२८१ |
| कम्ही वा भणितं ती | १७९९ | कालतो अणवट्ठप्पो | २४२६ |
| **कयपवयणप्पणामो** | **१** | कालतो उज्जुमती तू | ८२ |
| करणं तु अण्णमण्णे | २५३८ | कालतो ओहिण्णाणी | ७० |
| करण-भएसु तु संका | ५९९ | **कालद्धाणाऽतिच्छिय....** | **१७** |
| **करणिज्जा जे जोगा** | **५** | **कालऽद्धाणातीए** | **४९** |

| | | | |
|---|---|---|---|
| कालपडिक्कमणे वि य | ९९७ | कितिकम्मं वंदणगं | ८७६ |
| काल-सभावाणुमतो | ४४० | किमणा उ कुट्ठि-कर-पाद | १३७२ |
| **कालाऽविसज्जणादिसु** | **२६** | किमणेसु दुब्बलेसु य | १३७३ |
| कालाविसज्जणादी | १०२८ | किह आगमववहारी | ११३ |
| काले चतुण्ह वुड्ढी | ५८ | किह णासेति अगीतो | ३५९ |
| काले विणए बहुमाणे | १००० | किह पुण आसाएती | २४६५ |
| किं अत्थी अण्णे वी | ७ | किह मोच्छिइ त्ति भत्तं | ३९५ |
| किं आहाकम्मं ती | ११५५ | किह संखातीताओ | २७ |
| किं एते च्चिय भेदा | २५४७ | कीतकडं पि य दुविधं | १२४१ |
| किं कारणं चरित्ते | १०९१ | **कीरति अणवट्ठप्पो** | **८९** |
| किं कारणमालोयण | ४१२ | कुज्जा कुलादिपत्थारं | ३६३ |
| किं कारणमिह सोधी | १७८७ | कुणमाणो वि हु करणं | २३८८ |
| किं कारणमुस्सग्गो? | २४३८ | कुणिमो अंतद्धाणं | १४५४ |
| किं कारणऽवक्कमणं | ३३४ | कुल-गण-संघे चेइय | ७५१ |
| किं च तं णोवभुत्तं मे | ४४२ | कुव्विज्ज कारणे पुण | १९८९ |
| किंचि अहिज्जेज्जाही | २०९१ | कूरणिमित्तं चेव उ | २३५३ |
| किंचि हितमुभयलोगे | १६३४ | कूवति अदिज्जमाणे | ३८० |
| किं तस्स तु गिहिवेसं | २४६३ | केई पुरिसा गीता | १९४० |
| किं ते पित्तपलावो | १९५४ | केण असुद्धं? भण्णति | ९६२ |
| किं पुण अणगारसहाय... | ४६६ | केत्तियमेत्तं छिंदिह | १७९३ |
| किं पुण आलोएती? | ५८६ | के पुण करणिज्जा जे | ७३१ |
| किं पुण गुणोवदेसो | ६९७ | केयी पुरिसा पंचह | १९६२ |
| किं पुण तं चउरंगं | ३५८ | केरिसगुणसंजुत्तो | २४३२ |
| किं पुण पंचिंदीणं? | ५७६ | केरिसगो तू राया | १९९८ |
| किं भणितं वणीमे त्ति | १३६२ | केरिस सावज्जं तू? | ६८८ |
| किं वच्चसि वासंते | ८८६ | केलासभवणा एते | १३७८ |
| किं वा मारेतव्वो | ५७२ | केवइय आस हत्थी | ८२१ |
| किं सउणिगा निमित्तं | २४०५ | केवइयं वा दट्ठुं? | २३२१ |
| किड्डा होतऽट्ठावय | १७२३ | केवतियकालसंजोगो | २११५ |
| किण्णु हु खद्धा भिक्खा | १४७९ | केवलगहणं कसिणं | २०३५ |
| कितिकम्मं च पडिच्छति | २४४५ | केवल संभिण्णं तू | ९१ |
| कितिकम्मं पि य दुविधं | २०१५ | केसिंचि इंदियाइं | १४ |

| | |
|---|---|
| कोइ पुण साणभत्तो | १३७६ |
| कोई तु वियडवसणी | ६१४ |
| कोई परीसहेहिं | ४७६ |
| को कल्लाणं नेच्छति | १५९७ |
| को कारयो? जती तू | ७३९ |
| को गीताण उवाओ | ४९४ |
| कोडिज्जंते जम्हा | १२८७ |
| कोद्दवरालगगामे | ११४८ |
| कोधादी उ अरी ऊ | ९८३ |
| कोधे माणे चतुलहु | १४१९ |
| कोधे माणे य तहा | १६८६ |
| को पुण पायच्छित्ते | १४९ |
| को वित्थरेण वोत्तूण | ६९६ |
| कोवो वलवागब्भं | १३४७ |
| कोसल्लगेगवीसति... | ५५० |
| कोहादि चउह कलुसा | २५२६ |
| कोहादीणं कमसो | १३९४, १४१८ |
| **कोहे बहुदेवसिए** | **५४** |
| खंतो तु तत्थ पच्छा | १३३६ |
| खद्धे णिद्धे य रुया | ११८८ |
| खमणाऽऽयामेक्कासण | १८६२ |
| खर-फरुस-णिट्ठुरेहिं | ८३८ |
| खलणा दुविहा भणिता | ९१३ |
| **खलितस्स य सव्वत्थ वि** | **११** |
| खाणुगमादी मूलं | ८९४ |
| खार हडि हड्डमाला | ६८९ |
| खिप्प बहु बहुविहं वा | १८६ |
| खीर-दहि-कट्टरादिण | १६१२ |
| खीरे य मज्जणे मंडणे | १३२२ |
| खुड्डं व खुड्डियं वा | २३५९ |
| खुड्डग जणणी उ मुया | ८९१ |
| खुड्डगसीहतवादीहिं | २५५० |
| खु त्ति कतं तं सुइतं | ९०७ |
| खेत्त असति अगहित्ता | २०१ |
| खेत्तं मालवमादी | १९५ |
| खेत्ततो उज्जुमती तू | ७६ |
| खेत्तपडिलेह थंडिल | ७५९ |
| खेत्तादिअणप्पज्झो | २०४५ |
| खेत्ते जं कायव्वं | १९४५ |
| गंडी कच्छवि मुट्ठी | १७७० |
| गंधव्व-नट्ट-जड्डऽस्स | ४२५ |
| गच्छम्मि य णिम्माया | २१६० |
| गच्छसि ण ताव गच्छं | ८९७ |
| गच्छाहि णिग्गता जे | २२५३ |
| गच्छिल्लया गुरुस्स उ | २४५८ |
| गच्छे पडिबद्धाणं | २०६७ |
| गणअहिवति आयरियो | १७९५ |
| गणणिसिरणम्मि उ विही | ३३२ |
| गणणिसिरणा परगणे | ३२९ |
| गणपडिबद्धा दुविधा | २२५८ |
| गणहर एव महिड्ढी | २४७३ |
| गणोवहिपमाणाइं | २१२९ |
| गति-ठिति-अवगाहेहिं | १०० |
| गतेहिं छहिँ मासेहिं | २१५२, २१५३ |
| गमणकिरिया हु समिती | ८०४ |
| गमणागमणविहारे | २०५२, १८ |
| गहणं आदाणं ती | ८०९ |
| गहणमघट्टित कण्णे | १५३५ |
| गहणम्मि विधी इणमो | २४९१ |
| गहिताणंतपरंपर... | १६९९ |
| गामाण दोण्ह वेरं | १३३५ |
| गाहद्ध पढम कंठं | ९८९ |
| गाहापच्छद्धस्स तु | १७५२ |
| गाहापच्छद्धस्सा | १०६२ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| गाहापच्छद्धेणं | ७१३, ७५३ | गुरुगो गुरुगतरागो | १८३२, १८३८ |
| गाहापच्छद्धेण तु | १७६१ | गुरुगो चतुलहु चतुगुरु | २३४० |
| गाहापुव्वद्धस्स तु | २३७१ | गुरुगो य होति मासो | १८४० |
| **गिण्हणे** गुरुगा छम्मास | २३५७ | गुरुपक्खे उक्कोसा | १८४७ |
| **गिण्हसु जावइएहिं** | २४०० | गुरुपक्खे छम्मासो | १८४८ |
| **गिम्ह-सिसिर-वासासू** | ६७ | गुरुपक्खे जहण्णम्मि | १९१४ |
| **गिम्हासु** अट्ठमं देज्जा | १८२८ | गुरुपक्खो लहुपक्खो | १८४६ |
| गिम्हासु चतुत्थं देज्जा | १८२६ | गुरुपणगे आढत्ते | २२२८ |
| गिम्हासु छट्ठं देज्जा | १८२७ | गुरुभत्तिमं जो य मणाणुकूलो | २४९३ |
| गिरि राहु-मेह-महिया | ९६८ | गुरुमासो चतुमासो | १८३४, १८९९ |
| गिहवासे वि वरागा | २३५४ | गुरुमासो दुण्णि मासा | १९०३ |
| गिहिलिंग अण्णउत्थिय | २२९८ | गुरुराह जो पमत्तो | ११२४ |
| गिहिवेसमकाऊणं | २४६१ | गुरुराह तत्थ चेट्ठा | ७३७ |
| गीतत्थदुल्लभं खलु | ३६८ | गुरु-लहु-लहुसगपक्खे | १८५१ |
| गीतत्थमगीतत्थं | ४७७ | गुरुसंघाडम्मि गते | २३३१ |
| गीतत्थो कडजोगी | २२६७ | गुरुसंसट्ठुव्वरितं | २४९५ |
| गुणपच्चइओ ओधी | ३४ | गुरु सिट्ठ मोत्तुमातो | १४०४ |
| गुणसंथवेण पच्छा | १४३४ | गुरु सिसिरेऽत्थ जहण्णे | १८७३ |
| गुणसंथवेण पुव्वं | १४३२ | गेलण्णम्मि तु दीहे | १७८२ |
| गुत्तीदारं भणितं | ८०३ | गो-महिस-अया-एलग | १७७३ |
| **गुत्ती समितिपमादे** | ९ | गोम्मियगहणा हणणा | २०११ |
| गुत्तो होति कहण्णू | ७८६ | गोरससंसत्ते या | १५०९ |
| गुपु रक्खणम्मि गुत्ती | ७८४ | घत-गुलसंजुत्ता वि य | १३९७ |
| गुरवो आयरिया तू | ८६१ | घरकोइलसंचारा | १२६७ |
| गुरुआसायण भणिता | ८७२ | घरवित्तंतनिमित्तं | १३४५ |
| गुरुगं च अट्ठमं खलु | १८४२ | घासेसणा तु भावे | १६०९ |
| गुरुगतरा गिम्हेसुं | १८७१, १९३३ | घेत्तूण भारमागतो | १९५६ |
| गुरुगतरा वासासुं | १८६९, १९१५ | घोसा उदत्तमादी | १७० |
| गुरुगतरा सिसिरेसुं | १८७०, १९२४ | चउकण्णम्मि रहस्से | ५५१ |
| गुरुगे गिम्ह जहण्णे | १८७४, १९३२ | चउगुरुगेऽभत्तट्ठं | १२५५ |
| गुरुगे वास जहण्णे | १८७२ | चउ-तिग-दुगकल्लाणा | ३०६ |
| गुरुगे सिसिर जहण्णे | १९२३ | चउरो अतिक्कम वतिक्कमे | ११७४ |

चउरो गहणे एवं ११८२
चउवीसऽट्ठारसगा ६३४
चउवीस पंडगस्सा १६२३
चक्के थूभे पडिमा ७६७
चतुगुरुगे तु चउत्थं १५४५
चतुथघरा तु परेणं १२२३
चतुभंगेसेतेसुं १५१७
चतुभंगो पिहितेणं १५५५
चतुलहुगे आयामं १२१८, १५४१, १८०५
चतुलहुगे वीसाए २२२४
चतुहिँ ठिता छहिँ अठिता १९७३
चत्तं जेण दरिसणं २२९५
चत्तारि विचित्ताइं ३४३
चरगादिमादिगेसू २३९
चरणे एसणदोसा ६०४
चरिमं अंतं भण्णति २५४०
चरिमं च एस भुंजति ४४३
चरिमस्स जिणिंदस्सा २२८८
चरिमे भंगे भयणा १५६१
चलिया य अण्णजत्ता ७९२
चस्सद्दग्गहणाओ ९७७
चस्सद्दा अण्णाण वि २५२१
चस्सद्देण थिरथिर २१९९
चाउम्मासिग खुड्डग १७५३
चाउम्मासिग वरिसे १७८६
चाणक्क पुच्छ इट्ठाल.... १४५५
चातुम्मासुक्कोसे २०९७
चारग-कोट्टग-कल्लाल ४२६
चारित्त कप्प णियमा २४८
चारित्तविसुद्धीए ७१६
चारियचोराभिमरा २०१२
चिंतित उवायमेतं १४०१
चिंतेति किं करेमी ८४५
चित्तपुढविइ अणंतर १५२७
चित्ते सच्चित्तेणं १५२३
चिट्ठति संजम जहियं ११०८
चिट्ठतु जहण्ण मज्झा ३४२
चियत्तकिच्चो सेहो य २०३४
चिरलित्तपुढविकायो १२६०
चुण्णे जोगे चउलहु १४४९
चुतधम्म णट्ठधम्मो २३०
चोदग! जदि एवं तू ७४७
चोदगपुच्छा पच्चक्ख... ११७
चोदेति को विसेसो १५८४
चोद्दसपुव्वधराणं २५६
छइएसुं गेहेसुं २४०३
छउमं कम्मं भण्णति ७३५
छउमत्थो सुतणाणी १४८४
छक्कायवग्गहत्था १५७२
छट्ठं च चउत्थं वा १८४३
छट्ठ चउत्थाऽऽयामं १८६०
छट्ठऽट्ठमादिएहिं २२०६
छट्ठोववासपारण... ८३५
छड्डित चउलहुगा तू १६०१
छड्डित भणितं एतं १६०४
छण्ण णिसीहं भण्णति १२५०
छण्णा पुणाइ दुविधा १३२८
छण्हं जीवनिकायाणं २०४३, २०४४
छत्तीसगुणसमण्णा..... ४११
छत्तीसाए तु ठाणेहिं २०७-१०
छत्तीसेताणि ठाणाणि २४१
छम्मास परे बारस.... २५७९
छल्लहुगा उ नियत्ते ८९३
छल्लहुगाढत्तम्मी २२२३

| | | | |
|---|---|---|---|
| छहिं कारणेहिं साहू | १६५७ | **जं जीतदाणमुत्तं** | **७५** |
| छायं पि विवज्जेंती | ११६८ | जं जीतमसोहिकरं | ६९२, ६९३ |
| छिंदंति एव सागं | १४९९ | जं जो तु समावण्णो | २०४६ |
| छिंदंतु व तं भाणं | ६४९ | जंते पडिसंसाहण | ८७४ |
| छिज्जंते परियाए | २३०१ | जंतेहिं करकएहि व | ५३० |
| छेदण-भेदणमादी | ९१० | जं पाव सेवितूणं | ७२१ |
| छेदणे वण्णणे चेव | २५९३ | जं पि य हु एक्कवीसं | ३१३ |
| **छेदादिमसद्दहओ** | **५९** | जं पुण अचित्तदव्वं | १५२६ |
| छेदावत्तीओ वा | २२८५ | जं पुण हत्थसयाओ | ७६१ |
| **छेदेणापरियाए** | **८६** | जं सेवितं तु बितियं | ५९४ |
| छेदो दोमासीए | २२४४ | जक्खाइट्ठसरीरो | ९३९ |
| छेदोवट्ठावणिए | २८७ | जच्चादिमदुम्मत्तो | १००२ |
| छेलिय सेण्टा भण्णति | १७२५ | जड्डुत्तणेण हंदी | २०२१ |
| जइ आगमो य आलोयणा | १४७, १४८ | जड्डो व पदोसगतो | १२८२ |
| जइ जीतपच्चवाया | २१२७ | जणसावगाण खिंसण | १४६३ |
| जइ होज्जा आयरिओ | २५५५ | जतणाजुतो पयत्तव | ६६६ |
| जं इह परलोगे या | २३२ | जति दोसे होअगतं | २०५५ |
| जं कायचेट्ठमेत्तेण | ७२३ | जत्तिएण गणो ऊणो | २१३८ |
| जं किंचि दव्व गहितं | ७२२ | **जत्तियमेत्तं कालं** | **९१, १००** |
| जं किंचि पाडिपुच्छं | २४४८ | जत्थ तु ततिओ भंगो | ११४५ |
| जंघद्धा संघट्टो | ९७९ | जत्थ तु थोवे थोवं | १५६४ |
| **जं चऽण्णं करणिज्जं** | **७** | जत्थुप्पज्जति दोसो | २५१३ |
| जं चऽण्णमवुत्तं ती | ७५८ | **जत्थुप्पण्णो दोसो** | **९९** |
| जं छउमत्थियणाणं | १०५ | जदि अत्थि ण दीसंती | २९१ |
| **जं जं ण भणितमिहइं** | **६०** | जदि आगमो य आलोयणा | १४० |
| जं जं ति होति मिच्छा | १७९७ | जदि छुब्भती विणस्सति | १८२ |
| जं जत्तिएण सुज्झति | २५७ | जदि णामं गिण्हेज्जा | १४०३ |
| जं जम्मि होति काले | २०३ | जदि ताव सावयाकुल | ४६५ |
| जं जह मोल्लं रयणं | ११८ | जदि संका दोसकरी | १४८८ |
| जं जीतं सावज्जं | ६८७ | जम्मं दुविधं होती | १९८६ |
| जं जीतं सोधिकरं | ६९४ | जम्मि पडिसेवितम्मी | ७२६, ७२७ |
| जं जीतदाण भणितं | २२६९ | जम्हा एतेऽत्थ गुणा | ७१७ |

जम्हा एते दोसा १३४०, १३९३, १६३०, २३५८, २४९०
जम्हा संपहारेउं ६५८
जस्सट्ठा तं तु कतं ११०४
जह अणुवदेस साली... १८१९
जह इंगाला जलिता १६४६
जह उदगम्मि घए वा २५२८
जह केवली वियाणति ११४
जह कोइ अगडपडितो २४५०
जह कोइ डंडिगो तू २०५४
जह कोई तु मणुस्सो ४०
जह खीरं खीरं चिय ११३२
जह खीर-दहि-गुलादी १६३५
जह गामों पडिउकामो १३३७
जह चेव य संजोगो १५८३
जह जह पदेसिणिं जाणु.... १४४५
जह ण छलितो तु मच्छो १६०७
जह णाम असी कोसी ५४०
जह णाम कोइ पुरिसो ४७
जहण्णुवधि हारेती १७३६
जह ताव छेज्ज णिहसे २६००
जह तिक्खउदगवेगे ९५१
जह तु अणाभोगेणं ७२०
जह ते गोट्ठट्ठाणे ५३७
जह तेणं ण वि पेल्लिय ८४७
जहं ते दंसणकंखी ११९२
जह धणिओ सावेक्खो २९२
जह पुत्तविवाहदिणो १२३४
जह भायरं व पितरं २२९
जहभिहितं जह भणितं १८०९
जह रूवादिविसेसा २७२
जह वंतादि अभोज्जं ११९१
जहऽवंतीसुकुमालो ५३६
जह वाऽऽउंटियपादे ४८३
जह वावि चित्तकम्मं १६५०
जह सा बत्तीसघडा ५३८
जह सुकुसलो वि वेज्जो ४०९
जह से वंसिपदेसी ५३५
जह सो चिलातपुत्तो ५३३
जहासंखेणेसो १८२९
जहेव कुंभादिसु पुव्वलित्ते १२६४
जा छम्मासा णेया २२४७
जाणंतमजाणंतो १११६
जाणंता माहप्पं २५६५
जाणंतेण वि एवं ४१०
जाणति दव्व जहट्ठिय १९४४
जाणति पर्योगभिसजो १९३
जाणति पासति ते तू ८३
जाणति पिहुज्जणो वि हु ८७
जा णिंतिऽइंति ता अच्छतो २००५
जाती कुल गण कम्मे १३५०, १३५१
जाती माहणमादी १३५२
जा तेसिं तु पसज्जण ९१२
जा दुछडा अत्तट्ठा ११६२
जा पुण णिक्कारणओ ५९३
जामाइतित्थजत्ता.... १३३२
जा य ऊणाहिए वुत्ता २५९
जारिसगा सक्कादीण २५७०
जावइया तिसमयाहा... ५२
जावंतिकम्म पढमे १६८४
जावंतिगमुद्देसो ११९९
जावंतिगम्मि लहुगो १२८५
जाव ठितं एक्केक्कं १८९४
जा संघाडो ताव तु २४४३

जाहे पराइया सा ५५२
जा होती बत्तीसा २११
जिणकप्पियऽहालंदी २०७२
जिणथेरअहालंदे २०५८
जिणवयणमप्पमेयं ४६७
जीवत्तम्मि अविगते १५८८
जीव त्ति पाणधरणे ७०४
जीवाण अजीवाण य ९९
जीवादिपयत्था वा ३
जीवो अक्खो तं पति ११
जुगमेत्तंतरदिट्ठी ८१८
जुज्जति गणस्स खेत्तं ११४९
जुण्णेहिं खंडिएहि य १९८०
जुत्तं तावऽणवट्ठे २४२२
जूतादि होति वसणं १३८
जेणं जीवा-ऽजीवा १२३
जेण तवो बारसहा ७१२
जेण पडिसेवितेणं ७२५
जे तु जदा करणिज्जे ७३६
जे त्ति य जे निद्दिट्ठा ७३२
जे बहियाऽऽगत साहू ७७६
जे मे जाणंति जिणा ४२२
जे विज्ज-मंतदोसा १४५७
जेसु विहरंति ताओ २५१६
जो आगमे य सुत्ते ६७८
जो उ उवेहं कुज्जा २५६१
जो उ ण सद्दहति तवं २२८३
जो एतेसु ण वट्टति २४०
जो कप्पठितीमेतं २१०४
जो केवली मणूसो १०४
जोगो तु होति दुविधो १०३१
जो जत्थ होति कुसलो ४५२
जो जहवायं ण कुणति ११८५
**जो जह सत्तो बहुतर...** ७२
जो जारिसगो कालो ४३४
जो तं ण कुणति साहू १००५
जो तु करेति अकाले १००१
जो तु धरेज्ज अवड्ढं २९७
जो तू असंतविभवो २९५
जो दव्वखेत्तकतकाल.... १९४३, १९४७, १९४८
जो धारितो सुतत्थो ६६४
जो पुण आलोएंतो २२७४, २२७५
जो पुण जाणंतो च्चिय २०४२
जो पुण परिणामो खलु ५७५
जो पुण सइ सामत्थे २३९१
जो पुण सहती कालं २९६
जोयणसयं सहस्सं ६४
**जो य सलिंगे दुट्ठो** ९५
जो वि पडिरूवविणयो २४६८
जो वि सपक्खो राया.. २५०३
जो सुतमहिज्जति बहुं ५६१, ५६२
जो सो चउत्थभंगो ८११
झोसण खवणा मुंचण २२७८
**झोसिज्जति सुबहुं पि हु** ७९
ठवणकुल-दाणसड्ढा... १७७५
**ठवणमणापुच्छाए** ५६
ठवणाकप्पो दुविधो २१०६
ठवणाभत्तं दुविधं १२१९
ठाणं पुण केरिसगं ४२४
ठाण-णिसीय-तुयट्टण ५१४
ठाण वसही पसत्थे ३३०
ठावेत्तु दप्प-कप्पे ६१७
ठितमठितम्मि दसविधे २१०५
डहरो अकुलीणो त्ति य ८६५

| | | | |
|---|---|---|---|
| णउती तिहि गुणिता तू | १२९२ | णामं ठवणा दविए | ११३९, १३१४ |
| ण करेंतस्सुस्सग्गं | १७५९ | णामेणं साहम्मी | ११४० |
| ण गणेती फरुसगिरं | ८४४ | णावा चउव्विहा तू | ९७८ |
| ण तु कंजियमादीणिं | १३०२ | णावादीहि पदेहिं | ९८० |
| ण तेसिं जायते विग्घं | २१३६ | णासेति अगीतत्थो | ३५७ |
| ण पगासेज्ज लहुत्तं | ४९३ | णासेति असंविग्गो | ३७१ |
| ण य ठवितो तेणाथंडि.... | ७९९ | णिक्कारण भुंजंते | १६४४ |
| ण य मुच्चति असहाओ | २४११ | णिक्खित्तं ठवितं ति य | १५१२ |
| णव चेवऽट्ठारसगं | १२८९ | णिच्छयनयस्स चरणा... | २२९४ |
| णवर विसेसो तु इमो | ८१ | णिज्जवगा य ण संती | २६२ |
| णवविगति-सत्तओदण | ४३९ | णिज्जवगो अत्थस्सा | १८४ |
| णवविहववहारेसो | १८३७, १८९६ | णिज्जाला हिलिहलया | १५३१ |
| ण वि जाणति अण्णत्था | ४९ | णिज्जूढं चोद्दसपुव्वि.... | ५६० |
| ण विणा तित्थं णियंठेहिं | ३१७ | णिज्जूढो मि णरीसर! | २५७२ |
| ण वि पेहे ण पमज्जे | ८१० | णिण्हवणं अवलवणं | १००६ |
| ण वि भुंजति कारणतो | १६४५ | णिण्हवणे अतियारो | १००७ |
| ण वि विस्सरति धुवत्तं | १८९ | णिण्हवणे णिण्हवणे | ८८५ |
| ण संभरति जो दोसे | १४६ | णिद्दपमत्तो एसो | २५३७ |
| ण हु तं पऽक्खउ एवं | १४१० | णिब्बंधें थोवथोवं | २४९२ |
| ण हु ते दव्वसंलेहं | ४०१ | णिब्भत्थणाइ बितियाय | ३०९ |
| णाऊण य वोच्छेदं | २३६९ | णिरतीयारो य जती | ७७२ |
| णाणट्ठमेगवंजंण | ११३३ | णिरुवहतलिंगभेदें | १९८५ |
| णाणणिमित्तं अद्धाण.... | ४१७ | णिव्वाघातेणेवं | ४९१ |
| णाणायारो एसो | १०२१ | णिव्विगतिं पुरिमड्ढं | १८३५ |
| णाणायारो दुविहो | ९९८ | णिव्विगतिगमादीयं | १८०६ |
| णाणायारो भणितो | १०३६ | णिव्विगति जहण्णम्मी | १७३३ |
| णाणे दंसण चरणे | ८७८ | **णिव्विगतिय पुरिम...** | २४ |
| णाणे वितहपरूवण | ४१६ | णिव्विगतिय पुरिमड्ढं | १९०० |
| णातं आगमितं ति य | १११ | णिव्विण्ण नंदिवद्धण | ८३१ |
| णातं संगामदुगं | ४७९ | णिव्वीतियमादीओ | ७२४, १८०८ |
| णातम्मि पण्णविज्जति | २५३५ | णिसिरित्तु गणं वीरो | ३३३ |
| णाभिप्पायं गिण्हसि | १९५७ | णिस्संक काउ तम्हा | १४९० |

| | | | |
|---|---|---|---|
| णिस्संकित णिक्कंखित | १०३७ | तच्चण्णियादि दट्ठुं | १३६७ |
| णिस्सितों कोहादीहिं | १७७ | तण-डगल-छार-मल्लग | ९०२ |
| णिस्सेसमपरिसेसं | २२५ | तणुगो णेहो भणितो | ९२१ |
| णीएहिं तु अविदिण्णं | २३६३ | तण्णगबंधणमुयणे | १७६७ |
| णीसंकगाहि ततिओ | १४८१ | तण्हाछेदम्मि कते | ४४१ |
| णीसंकितो तु चरिमे | १४७८ | ततिए भंगे मग्गण | १५५४ |
| णेगविधा इड्ढीओ | १०४१ | ततिए मत्तो मक्खित | १५०२ |
| णेतूण अण्णखेत्तं | २४०८ | ततिओ भंगो तू आत.... | ११३५ |
| णेव्वाणस्स अणंतर | ७१५ | ĪĈĪØ—चउत्था कप्पा | २१५८ |
| तओ पारंचिया वुत्ता | २०२८ | ततियम्मि करं छोढुं | १३१० |
| तं खलु ण गेण्हितव्वं | १५९५ | तत्तो परिहायंता | १११० |
| तं च लोगमलोगं च | ९४ | तत्तो य वुड्ढसीले | १६४ |
| तं चेव अगणिठाणं | ४८ | तत्थ इमे णामा खलु | १०९९ |
| तं चेवऽणुकज्जंतो | ६८० | तत्थ जहण्णादी तू | ५१ |
| तं ठित होति तह च्चिय | ५२० | तत्थ मुसं चउभेदं | १०७६ |
| तं णो वच्चति तित्थं | ३१९ | तत्थ वि अण्णतरीए | २१३१ |
| तं तारिसगं रतणं | ४७४ | तत्थ वि भद्दग-पंता | १४३६ |
| **तं दसविहमालोयण** | **४** | तत्थाहरणं इणमो | १४६० |
| तं दुविधं णातव्वं | ५१७ | तत्थेक्कं छम्मासं | ३४७ |
| तं दुविधं धातित्तं | १३२३ | तत्थोदाहरणमिणं | १४१४ |
| तं पडिसेवति जो तू | २५२० | तत्थोहिणाण पढमं | २५ |
| तं पि य सुक्खे सुक्खं | १५८६ | तदुभयदारसमत्तं | ९५४ |
| तं पुण अणुगंतव्वं | ३२८ | तद्दोसोवरतस्स उ | ७२८ |
| तं पुण ओहीणाणं | ३७ | तपु लज्जाए धातू | १७३ |
| तं पुण केण कतं तू | १२४ | तम्हा अवस्सगहणं | ७४९ |
| तं पुण णिज्जंतो वा | २३३४ | तम्हा उ परकडम्मि वि | ११२७ |
| तं पुण सण्णादिगतो | २३३५ | तम्हा एगविधं खलु | १०७ |
| तं पुण होज्जाऽऽसेवित | ५८८ | तम्हा ण एस दोसो | ११७२ |
| तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं | २५६९ | तम्हा ण वागरेज्जा | १३४८ |
| तं भुंजमहेकम्मं | १११२ | तम्हा पंच व छ स्सत्त | ३६६, ३७४ |
| तं मणपज्जवणाणं | ७४, ८६ | तम्हा परिच्छणा खलु | ३९३ |
| तं होति दुहाऽभिहडं | १२४९ | तम्हा विसयाणं खलु | १६ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| तलिगा खल्लग वज्झे | १७७४ | ताणि धरंती अज्ज वि | २६६ |
| तवअणवट्ठो दुविधो | २४२७ | ता णेतव्व कमेणं | २२४१ |
| तवअणवट्ठोऽऽसायण | २४२८ | ताहे अभित्थुणित्ता | ८४६ |
| तवगव्वितमादीया | २२९२ | ताहे आसासेती | २४४७ |
| **तवगव्वितादिगेसु य** | **८४** | ताहे खुड्डग खुड्डी | २३७० |
| **तवगव्वितो तवस्स य** | **८०** | ताहे णित्थिण्णतवो | २४६० |
| तव-णियम-णाणरुक्खं | ५७४ | ताहे तु जहासत्तिं | १३०४ |
| तवबलिओ देह तवं | १७९४, २२८२ | ताहे परलिंगीण वि | २३६७ |
| तवहेतु चतुत्थादी | १६६९ | ताहे य परिहरिज्जति | २४४१ |
| तवो बारसहा होति | १७५१ | ता होंति अणंताओ | ३१ |
| तसपाण-बीयरहिते | ५२१ | तिंतिणिआदि अपत्तो | १०२६ |
| तस्स इमं पच्छित्तं | १०६४ | तिक्खुत्तो सक्खेत्ते | १९९७, २०१४ |
| तस्स इमे भेदा खलु | १९८७ | तिण्णि तु वारा किरिया | ५०३ |
| तस्स कड तस्स निट्ठित- | ११५७ | तिण्हं ती णाणादी | ४१५ |
| तस्सट्ठगतोभासण | ३७९ | तित्थंगरपडिकुट्ठो | १९९४ |
| तस्स तु उद्धरिऊणं | ६७३ | तित्थकरं संघं वा | २४७५ |
| तस्स तु ण उवट्ठवणा | २४०७ | तित्थकरं संघ सुतं | २३०४ |
| तस्स त्ती तस्सेव उ | २३१ | तित्थगरपढमसीसं | २४७७ |
| तस्स पुण संभवो ऊ | ११७५ | **तित्थगर पवयण सुतं** | **९४** |
| तस्स य चरिमाहारो | ४३८ | तित्थगर पवयणे वा | १०५२ |
| तस्स य परिहारतवं | २४३७ | तिरियं उज्जुमती तू | ७९ |
| तस्स य भगिणीपुत्तो | २३९७ | तिलहारगदिट्ठंतो | ३०८ |
| तस्स य वारुणि भज्जा | ८२७ | तिविधं अतीतकाले | ५८५ |
| तस्सोदयकालम्मी | २५३४ | तिविधं तु वोसिरिहीइ | ४४४ |
| तह चेव भत्तपाणं | २३४२ | तिविधं पुण अच्छेज्जं | १२७४ |
| **तह धितिसंघयणोभय...** | **७०** | तिविधेवं णिसिभत्तं | १०८६ |
| तह वि असंथर कोयव | ४६० | तिविधो तु होति उवधी | १७२७ |
| तह वि असंथरमाणे | ४५९ | तिविधोवधि विस्सरिते | १७३४, १७३५ |
| तह समणसुविहिताणं | ९५२ | तिविहोवधिमुग्गमितुं | १७३९ |
| तहियं तु विसयदुट्ठो | २५४५ | **तिविहोवहिणो विच्चुत** | **४६** |
| तहियं होति चतुलहू | २३६२ | तिसमयऽऽहारादीणं | ६० |
| ता चेव य णवकोडी | १२९० | तीय कतं आउत्तं | १३४४ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| तीय विभासा इणमो | ८६२ | तो खेलमल्लगम्मी | ११८० |
| तीसं पदाऽवराहे | २०७५ | तो चरणसुद्धिहेतुं | १०९४ |
| तीसा य पण्णवीसा | १८४१ | तो ठवित गणिं गच्छे | २४८८ |
| तुच्छत्तणेण गव्वो | २०१७ | तो णाउ वित्तिछेदं | ५०५ |
| तुम्हेहि गहित मुक्को | ७९४ | तो तस्स उ पच्छित्तं | १२६ |
| तुल्लम्मि वि अवराधे | २४१७ | तो बंभरक्खणट्ठा | १६६८ |
| तुसिणीए हुंकारे | ८७० | तो बेति अण्णपासं | २३३७ |
| ते अतियारा सुहुमा | ७३८ | तो वच्च ते वणीए | २३९८ |
| ते अभिगत अणभिगता | २२०१ | तो सज्झायणिमित्तं | ९७३ |
| ते उड्डेत्तु पलाणा | ३०२ | थंडिल्लअभावा वा | ९६६ |
| ते च्चिय एत्थ वि दोसा | १३७४ | थिरिकरणा वि य दुविधा | १०४५ |
| तेण तु तहियं थाणे | २४१० | **थीणद्धिमहादोसो** | **९६** |
| तेण य गीतत्थेणं | ३६९ | थीणद्धिमादियाणं | २५४१ |
| तेण य संविग्गेणं | ३७७ | थी लहुमासा गुरुगा | १२०१ |
| ते णिच्चमप्पमत्ता | २२५४, २२५९ | थेराण अत्थि खेत्तं | २०६२ |
| तेणेव गुणेणं तू | १८० | थेराण सत्तरी खलु | २०९८ |
| तेणेहि गहित मुसिता | ७९३ | थेरा वि विसुद्धतरा | २२६२ |
| ते तु जदा उवउत्तो | ७३४ | थोवे थोवं छूढं | १५६७ |
| ते तेण परिच्चत्ता | ३०१ | दंसण अणुम्मुयंतो | ६३३ |
| ते पंचहा वणीमग | १३६३ | दंसण-णाण-चरित्ते | ६०१, ९५०, १०४३ |
| ते पुण जहा तु एक्काए | २०८८ | दंसणणाणप्पभवं | १०९२ |
| ते पुण मंडलियाए | २०८६ | दंसणपभावगाणं | ६०३ |
| तेमासे पण्णरसे | २२४३ | दंसणयारो अट्ठह | १०३८ |
| ते य ठित एगपासे | १३३८ | दंसणवंते ततिए | २०३१ |
| तेल्लस्स उ गंडूसं | ३५२ | दट्ठु महल्लमहीरुह | ५७१ |
| ते सव्वे विउलमती | ८५ | दट्ठूण णिण्हगे तू | २०३८ |
| तेसिं अब्भुट्ठाणं | २०५ | दट्ठुमितरस्स सव्वं | २४०४ |
| तेसिं गुरूण उदएण | १११४ | दत्तेणं णावाए | ४८६ |
| तेसु त्ति कारणेसुं | १७२० | दप्प अकप्प णिरालंब | ५८९ |
| तेहि भणिता य वच्चह | १४६४ | दप्पपडिसेवणाए | २२७० |
| तेहि य सगिहे णेउं | १४६५ | दप्पियसेवाए तू | ६२५ |
| तो उग्गेण तवेणं | २४५५ | **दप्पेणं पंचिंदिय....** | **५७** |

| | | | |
|---|---|---|---|
| दप्पेणाऽसीतसतं | ६३५ | दिट्ठंतस्सोवणओ | ४८२ |
| दप्पो वग्गण-धावण... | १७८० | दियसुवणे णिक्कारण | १७६२ |
| दवियपरीमाणं ता | ४४९ | दीहं च आउगं तू | २१८४ |
| दव्वओ उज्जुमती तू | ७५ | दीहो त्ति वुड्ढवासो | २१८३ |
| दव्वं अभिग्गहा पुण | २१६४ | दुक्कालो आदेसो | ९२६ |
| दव्वं आहारादी | २२६८ | दुक्खेहिं भच्छियाणं | २०२३ |
| दव्वं खेत्तं कालं | ७०२, ६४ | दुच्चिंतिय दुब्भासिय | ७८५, १४ |
| दव्वमुसे तु जहण्णे | १०८० | दुज्जातजम्म एसो | ७९५ |
| दव्वम्मि एस भणिता | १४७५ | दुट्ठे य पमत्ते या | २५४४ |
| दव्वम्मि एस संजोयणा | १६१५ | दुट्ठेसो पारंची | २५२५ |
| दव्वसिती भावसिती | ३३८ | दुट्ठो कसाय-विसया.... | २३७ |
| दव्वादीपरिणामं | १०२ | दुट्ठो य पमत्तो या | २४८० |
| दव्वादीया पडिसेवणा | १८१२ | दु त्ति दुगुंछा धातू | ९४५ |
| दव्वाय-परक्कीए | १२४२ | दुपदं ती उस्सग्गो | २१८६ |
| दव्वायहम्ममेतं | १११७ | दुवालसेसु एतेसु | ४३६ |
| दव्वावति खेत्तावइ | ९३५ | दुविधं च मक्खितं खलु | १४९१ |
| दव्वे अपरिणतम्मी | १५८९ | दुविधं तु दप्प-कप्पे | ५८४ |
| दव्वे तं चिय दव्वं | १३०५ | दुविधं तु मूलकम्मं | १४६८ |
| दव्वे सच्चित्तादी | १३२ | दुविध विराधण उसिणे | १५३६ |
| दव्वेहिं पज्जवेहि य | १३१ | दुविधा अतिसेसा वि य | २१६५ |
| दस एतस्स य मज्झ य | ८८९ | दुविधा पहावणा वि य | १०५१ |
| दसगुरुगे आढत्तं | २२२७ | दुविधा विराधणा खलु | ११८६ |
| दस चेव छच्च चतुरो | २०२७ | दुविधा होंति अचेला | १९७७ |
| दसठाणठितो कप्पो | १९७६ | दुविधे गेलण्णम्मी | १९९६, २०१३ |
| दस ता अणुसज्जंती | २७६ | दुविधे तु गरहिते तू | १५०५ |
| दसभागेणऽट्ठारस | २५८३ | दुविधे विहारकाले | २०८० |
| दसमं अट्ठम छट्ठं | १८५९ | दुविधो उ निग्गमो खलु | ७६४ |
| दाणं ण होति अफलं | १३८३ | दुविधो य गव्वितो खलु | १७९२ |
| दाणं णिव्वितिगादी | १७९८ | दुविधो य होति दुट्ठे | २४८१ |
| दाण-कय-विक्कयादी | १२६३ | दुविहो उ मासकप्पो | २०७३ |
| दायगउवहत एत्तो | १७०६ | दुविहो तेसऽतिसेसो | २१७२ |
| दिट्ठंत चुण्ण-जोगे | १४५० | दुविहो य संथवो खलु | १४२१ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| देउलदरिसण-भासा... | १३५८ | धावण गतिमतिरित्ता | १७२२ |
| देंता वि ण दीसंती | २६० | **धावण-डेवण-संघरिस** | ४५ |
| देज्जाही तम्मत्तं | १८१६ | धावणमादिपदेसुं | १७२६ |
| देव-णर दुगतिगऽस्सा | ५२४ | धितिदुब्बल देहें बली | १९६० |
| देसं व देसदेसं | २५७८ | धिति-बलजुत्तेहि तहिं | ५२७ |
| देसियमादिपदाणं | ९९१ | धिति-संघयणविजुत्तो | ४८८ |
| **देसिय राइय पक्खिय** | २१ | धितिसंघयणेणं तू | २१९४ |
| देसूणपुव्वकोडीओ | २११७ | धीबलसंघयणं वा | १७९६ |
| देहविओगो खिप्पं | ४५३ | धीरपुरिसपण्णत्ते | ४६४ |
| दोण्णि वि समणसमुत्था | १४७३ | धीरपुरिसपण्णत्तो | ६८१ |
| दोसं हंतूण गुणं | २०५६ | धूयदुगं संदिसती | १४०२ |
| दोसग्गी वि जलंतो | १६५२ | धूवादिगंधवासे | २१ |
| दोसा अतिप्पमाणे | १६३१ | धोतें जहण्णेक्कासण | १७३८ |
| दोसा कसायमादी | २३४ | नगरम्मि हत्थकप्पे | १३९५ |
| दोसासति मज्झिमगा | २०९९ | नत्थि छुहाएँ सरिसिया | १६५९ |
| दोसु तु परिणमति मती | १९५० | नत्थि तु खेत्तं जिणकप्पि... | २०६० |
| दोसु तु वोच्छिण्णेसू | २७७, २७९, २८० | नदिकण्ह वेण्णदीवे | १४६१ |
| दोसेण सधूमं तू | १६५१ | नवदसपुव्वकतत्थो | २४३४ |
| दो सोत-णेत्तमादिग | ५४९ | नवपुव्वि जहण्णेणं | २१६१ |
| दोहिं पि गरहितेहिं | १५११ | नवयंगसोतबोहिय | ५४८ |
| दोहि वि बलिए सव्वं | १९६१ | नवविहववहारेसो | १९३५ |
| धणमादाणं भण्णति | ९२४ | नाणमादीणि अत्ताणि | १४१ |
| धम्मकहा आउट्टाण | २५७३ | नाणादीपरिवुड्ढी | ५९२ |
| धम्मज्झाणं ण तरति | १६६२ | नालीधमएण जिणा | १२२ |
| धम्म सहावो सम्मद्दंसण | २२८ | निग्गंथ सक्क तावस | १३६६ |
| धम्मो मंगलमुक्कट्ठं | १००९ | निग्गम गुरुमूलाओ | ७५० |
| धम्मो मंगलमुक्कत्थो | १०१८ | निच्छयणयस्स चरणा... | १११८ |
| धाती दूती णिमित्तें | १३१९ | निज्जूहितस्स असुभो | २५५१ |
| धारणऽणंतर जीतं | ७०१ | नियगाहारादीयं | १६२८ |
| धारणववहारेसो | ६५९ | नियमा तिकालविसयम्मि | १३४१ |
| धारणववहारो खलु | ६७४ | निरवेक्खा एगविहा | २२०७ |
| धारयति धीयते वा | १३२१ | निरवेक्खों तिण्णि चयती | २९४ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| निवदिक्खितादि असहू | ६१२ | पज्जोसवणाकप्पो | २०९६ |
| निसिभत्त सेस तिविधं | १०८५ | पट्ठवणपडिक्कमणे | ९९६ |
| नेहादि तवं काहं | ६०५ | पट्ठवणुद्दिसणे या | ९७५ |
| नोइंदियपच्चक्खो | २३ | पडलय रयहरणं वा | १७२९ |
| पंकसलिले पसादो | ९० | पडिगहधारि जहण्णो | २१७५ |
| पंचज्जामो धम्मो | २०१९ | पडिणीययाएँ कोई | ५३१, ५३२ |
| पंच णियंठा भणिता | २८१ | पडिपुच्छं वायणं चेव | २१४४ |
| पंचदिणेहिं गतेहिं | २२७९ | पडिमंतथंभणादी | १४४७ |
| पंचम पत्ता पिहुडं | १५३२ | पडिमाएँ पाउया वा | १९८४ |
| पंचमहव्वयभेदो | २६०२ | पडिलाभित वच्चंता | १४६६ |
| पंचमिएँ काइभूमादि | ६०९ | पडिलेहण-पप्फोडण | २२० |
| पंचविध धातिपिंडे | १३२४ | पडिलेहण संथारं | ४६१ |
| पंचविधे ववहारे | २१२५ | पडिलोमाणुलोमा वा | ४३२ |
| पंचविधो ववहारो | ८ | पडिवज्जंति जिणिंदस्स | २१२३ |
| पंचविहाए नियमा | ७८० | पडिवयमाणो ओही | ६३ |
| पंचसता जंतेणं | ५२९ | पडिवाति अपडिवाती | ३८ |
| पंच सता वीसाए | ९९३ | पडिविज्जथंभणादी | १४४३ |
| पंचिंदि घट्ट तावण | ६८५ | पडिसेवणअणवट्ठो | २३०७ |
| पंचेंदियसंघट्टे | १०७३ | पडिसेवण पडिसुणणा | ११२८ |
| पंचेव संजता खलु | २८५ | पडिसेवणपारंची | २४७९, २५८२ |
| पकामं च निकामं च | १६२५ | पडिसेवणाएँ तेणा | ११२९ |
| पक्खियमतिकामेंतो | १७६३ | पडिसेवणातियारा | ४२१ |
| पक्खे य पोसधेसुं | २१८ | पडिसेवणातियारे | १४३, १४४ |
| पच्चक्खव्ववहारी | १०९ | पडिसेवति विगतीओ | ४१८ |
| पच्चक्खागमसरिसो | ११० | पडिसेवी अणवट्ठो | २४२९ |
| पच्चक्खी पच्चक्खं | १२१ | पडिहाररूवी! भण रायरूवी | २५६८ |
| पच्चक्खो वि य दुविधो | १० | पडुपण्णऽणागते या | १३४९ |
| पच्चाह गुरू ते तू | ५७८ | पढमं उस्सग्गपदं | ९४९ |
| पच्छा णातमणुग्गत | ९६९ | पढमं ठाणं दप्पो | ६२९ |
| पच्छादतिग पडिग्गह | १७३० | पढमगभंगे वज्जो | २००० |
| पच्छासंथवदोसा | १४३० | पढम-ततिए ण कप्पे | ११६४ |
| पच्छिय-पिहुडादिऽतिरं | १५५१ | पढम बितिएसु कप्पे | ४२७ |

पढम बिति देस सव्वे २३०५
पढमबितियादिएहिं ९३४
पढममुंचंतेणं ६२४
पढमम्मि य संघयणे ५५६
पढमस्स य कज्जस्सा ६१८-६२३, ६३९-६४३, ६४५-६४८
पढमाएँ पोरिसीए ९६३
पढमादीसंघयणो १७४
पढमिल्लुग भावम्मी १५९३
पढमे चउलहुगा तू १२१७
पढमो जावंतज्झो.... १७०४
पढमो दोसु वि लग्गो १४८३
पणगं दस पण्णरसं १८०४
पणगं मासविवड्ढी ११५
पणगबियाइ वणस्सति १२६१
पणगादिभाणछेदं ६५०
पणगादी आवत्ती ६
पणगादी छम्मासा.... १८००
पणगे णिव्विगती तू १२२०
पणगे वि सेवितम्मी १९३८
पण दस पण्णरसं वा १८३३, १९०२
पणुवीस अद्धतेरस ९९४
पणुवीसदिणा भिण्णो १८०२
पण्णरसहिं गुरुगेहिं २२२६
पण्णरसुग्गमदोसा २०७६
पण्णवगस्स तु सपदं २६८
पतिट्ठा ठवणा ठवणा १९६८
पतिदिणपच्चक्खाणं १७५४
पत्तमवाएंतस्स वि १०२७
पत्तेयं पत्तेयं १७०२
**पत्तेयपरंपरठवित ४२**
पत्तेयबुद्ध णिण्हग ११४४
पदमक्खरमुद्देसं ५८१
पमाण कप्पट्ठितो तत्थ २१४१
पयला उल्ले मरुगे ८८२
पयलादी तु पदा खलु ९०१
पयलासि किं दिवा ण ८८४
परकम्ममत्तकम्मी..... ११२१
परगण संविग्गाओ ७७८
परगणे जे अमणुण्णा ७७७
परगामाहड दुविधं १२५२
परदेसआहडम्मी १२५४
परधम्मिया वि दुविधा २३५१
परपक्ख सपक्खे त्ती ११७३
परपक्ख सपक्खे वा २४२४
परपक्खो तु गिहत्थो ११५६
परपक्खो परपक्खे २५०१, २५०५
परपच्चइया छाया ११६९
परपरितावणकरणं २३७९
परवाइण सिस्सेण १८७
परस्स तं देति सए व गेहे १२६२
परिठवणुच्चारादी ८१५
परिठविएसेतेसुं ९८८
परिणत गीतत्था तू २१९२
परिणमति जहत्थेणं १९४९
परिणामगोऽत्थ भणती १९५२
परिणामगो हु तत्थ वि ५७९
परिणामा ऽपरिणामा १९४२
परिणिट्ठित परिण्णात १५५
परिणिव्वविया वाए १८३
परितावितऽणागाढे १०७०, १०७२
परियट्टिए अभिहडे १०९६
परियट्टियं पि दुविधं १२४७
**परिवारादिणिमित्तं ३०**

परिहरणं परिहारो २४३१
परिहारकप्पं वोच्छामि २११२
परिहारविसुद्धीए २८८
परिहारविसुद्धीणं २०६९
परिहारिएसु वूढे २१४९
परिहारिगा वि छम्मासे २१५०
परिहारिय पत्तेयं २१४८
परिहारियाण उ तवो २१४५
पलंबाउ जाव ठिती २१८७
पल्हवि कोयवि पावार १७७२
पवयणजसंसि पुरिसे ६६०
पवयण दुवालसंगं १
पवयणमणुम्मुयंते ११४१
पव्वज्जा अट्ठवासस्स २११९
पव्वज्जादी आलोयणा ४१४
पव्वज्जादी काउं ३२३, ५१२, ५१६
पाउगदुरूढ सलिलुप्पेरेण १४६२
पाउसकाले सव्वो.... १७८४
पाएण देति लोगो १३७५
पाएण मकिच्चेण य ११८९
पागड णिस्संको च्चिय १३२६
पाणगजोग्गाहारे ४३०
पाणगदव्वं च तहिं ८३६
पाणगादीणि जोग्गाणि ३९०
पाणतिवायादीओ ९७६
पाणस्सासंवरणे १७४६, ५०
पाणिपडिग्गहिता तू २१७१
पादोकरण पगासे १६८७
पादोवगमे इंगिणि ३२१, ३२२
पाबल्लेण उवेच्च उ ६५६
पामिच्चं पि य दुविधं १२४५
पायच्छित्ते असंतम्मि ३१५
पायोकरणं दुविधं १२३९
पारंचितस्स तहियं २५५९
पारंचिय अणवट्ठा २५८८
पारंचियं तु पावति २५५३
पारंचिया उ एते २५४३
पारंची अणवट्ठा २०३३
पारंपर पिहुडादिसु १५३३
पारगमपारगं वा २५८
पारोक्खं ववहारं ११२
पालइत्ता सयं ऊणं २१२२
पालक्को तु पुरोहित २४९९
पावं छिंदति जम्हा ५
पावाणं पावतरो २५१०
पासंडऽज्झोयरओ १६९६
पासंड मीसजाते १६७७
पासंडाणं पढमं १६७६
पासगतंऽतगतो ऊ ४२
पासत्थसंकिलिट्ठं २१०२, २१०३
पासत्थोसण्णकुसील.... ४३३
पासत्थोसण्णाणं १०५०, १०६३
पासत्थोसण्णो वा २२८६
पासवण-खेल-सिंघाण... ७६२
पासादस्सायणे २७१
पासित्तु ताणि कोई ४४५
पासोलित्त कडाहे १५३४
पाहुडिभत्तं भुंजति १२३७
पाहुडियं उवजीवति २४६६
पाहुडियं च ठवेंती १५७४
पाहुडिया भणितेसा १२३८
पाहुणगट्ठा व तगं २४९७
पिंडो तु अलेवकडो २०६१
**पिंडोवहिसेज्जादी १६**

पिंडोवहिसेज्जासू १०९३
पिंडि संघाते धातू ९५५
पिसितासि पुव्वमहिसं २५२९
पिहितं अणंतकाए १६८१
पिहिताणंताऽणंतर १५४७
पुच्छंतमणक्खाते २४८४
पुट्ठा य दियत्तेणं १३४६
पुढवादी छसु संजय १२९१
पुढवादी जाव तसे १५४०
पुढवादीणं कमसो १५५६
पुढवि जल अगणि मारुत ९४१
पुढवि-दग-अगणि-मारुय ५२६
पुढवी आउक्काए ९५६, १७१४
पुढवीससरक्खेणं १४९२
पुणरवि चउरण्णा तू ३४५
पुणसद्दो तु विसेसणे २५९७
पुयकडुणा उ हेट्ठे ९०९
पुरकम्म पच्छकम्मे १४९६, १६९०
पुरतो जाणति पासति ४५
पुरपच्छिमवज्जेहिं १९९५
पुरिमड्ढो च्चिय नियमा २२३८
पुरिमाण दुव्विसोज्झो २०२०
**पुरिमादी खमणंतं ३२**
पुरिसं उवासगादी १९४
पुरिसं पडुच्च अहिगं १९३९
पुरिसस्स उ अवराहं ६६३
**पुरिसा गीतागीता ६९**
पुरिसे त्ति गतं दारं २२६४
पुव्वं अपासिऊणं १३५
पुव्वट्ठिताण खेत्ते २०९०
पुव्वतरं सामइयं २०२५
पुव्वब्भासा भासेज्ज २४०९
पुव्वभवियपेमेणं ५४४, ५४५
पुव्वभवियवेरेणं ५२२
पुव्वसतसहस्साइं २११६
पुव्वा-ऽवर-दाहिण-उत्तरेहि ५५५
पुव्विं चक्खु परिक्खिय ८४८
पुव्विं-पच्छासंथव १३२०
पूए अहागुरुं पि य १९९
पूतीकम्मं दुविधं १२०३
पूयंति पूयणिज्जा १३७९
पेच्छह ता मे एतं ४००
पेच्छामो त्ति य भणिते १४४१
पेहितमेतं किं पेहणा ८५२
पोग्गल मोदग फरुसग २५२७
पोत्थग-तणपणगं वा १७६९
फरुसं बेति दुमुण्डिय ८४३
फलमादि छिण्णछोडित ११६६
फासुग छगणेणं तू १२५७
फासेणऽब्भंगियमादि २२
फिडितुस्सग्गे एक्के १७५५
**फिडिते सतमुस्सारित ५२**
बंधति अहेभवाउं १११३
बकुस-पडिसेवगा खलु २९०
बगुस-पडिसेवगाणं २८३
बत्तीसं किर कवला १६२२
बत्तीसलक्खणधरो ५४६
बत्तीस वण्णित च्चिय २१२
बत्तीसाउ परेणं १६२६
बत्तीसाए तु ठाणेहिं १५६-१५९
बल-वण्ण-रूवहेतुं ५९५
बहुं सुणेति कण्णेहिं ८२३
बहुजणजोग्गं पेहे १९८
बहुतरगुणसमग्गो तू २१९६

बहुदोसे माणुस्से १०४६
बहु बहुविह पोराणं १९१
बहुमाणे अइयारो १००४
बहुविहऽणेगपगारं १८८
बहुसुत-जुगप्पहाणो १६८
बहुसुत परिजितसुत्ते १६७
बहुसो बहुस्सुतेहिं ६७७
बादरपाहुडिया वि य १२३३
बायालमेसणाओ ८२५
बायालीसेसणसंकडम्मि १६०८
बारसम दसम अट्ठम १८५७
बारसमम्मि य वरिसे ३५१
बाल-गिलाणादीणं ८३२
बाले वुड्ढे मत्ते १५६९, १५७७, १७०७
बावीस आणुपुव्वी ५३९
बाहिरओं सरीरस्सा २१६६
बितिओ दुपेहसुपमज्ज... ८१२
बितिओ य तहिं भणितो २४०२
बितिओ साणादीणं १२२२
बितियं कज्जं कप्पो ६३२
बितियद्दार समत्तं ९३२
बितियपद अण्णगच्छा २४५७
बितियपदं पाऽऽहारे २३६५
बितियपदं वोच्छेदे २३४५
बितियपद खुड्डु विणयं २३७७
बितियपदे जो तु परं ५९८
बितियपदे वाएज्जा २६०५
बितियपरित्ताणंतर.... १७१८
बितियवय-ततिय-पंचम ९०५
बितियस्स य कज्जस्सा ६२७, ६५२
बितियाणंताऽणंतर... १७१७
बीएण गहित संकित १४८०
बीभेति सजातीए ९२३
बेति गुरू अह तं तू ५७३
बेति गुरू लद्ध च्चिय १९५३
बेति जणो केणेयं १३३९
बेति ण याणामो त्ती ८२२
बेति पडंतो मिच्छामि.... ८०२
बेति फुडं चिय सुकतं १३५५
बेति य गिलाणो पडितो ८३४
बेति व एरिस दुक्खं १३८८
बेती झामित उवधी २३१९
बेती परकडभोयिण ११२३
बोहिभयसावगादिसु २३८६
भंडी बइल्लए काए ४०४
भज्जेंती य दलेंती १५७१, १५८०
भज्जुब्भामिग पल्लंक ७८८
भणइ य दिट्ठ णियट्टे ८९५
भणति य राया संघं २५७६
भणित अपरिणतमेतं १५९४
भणितं च जिणिंदेहिं १६६७
भणितं वंजणमक्खर १००८
भणितं संगालेतं १६४९
भणितं सधूममेतं १६५५
भणितेस चुण्णपिंडो १४५८
भणितोट्ठितो त्ति होही १२२७
भणितो य णिण्हगाणं २०३९
भणितो सउणि हगंतो २४०१
भण्णति जह णवदसमे २४२३
भण्णति जुवरायादी २२०८
भण्णति परप्पउत्तं ११२२
भण्णति संकितभावो १४८९
भण्णति सेज्जा वसही ९५९
भत्तं पाणं असणं ९८१

| | | | |
|---|---|---|---|
| भत्तं लेवकडं वा | २०६५ | भिक्खे परिहायंते | १४५३ |
| भत्तम्मि भणितमेतं | २३३३ | भिण्णं पि मासकप्पं | २१०० |
| भत्ते पण्णवण णिगू... | २३३९ | भिण्णग्गहणं खलु कालतो | ९८ |
| **भत्ते पाणे सयणासणे** | **१९** | **भिण्णो अविसिट्ठो च्चिय** | **६१** |
| भद्दगं भद्दगं भोच्चा | १७७८ | भीतो पलायमाणो | १३७ |
| भद्दो अम्ह सपक्खो | १३५६ | भुंजंति चित्तकम्मट्ठित | १३६८ |
| भरहम्मि अद्धमासो | ५६ | भुंजण-घुसुलेंतीए | १५७९ |
| भरहेरवयवासेसु | २११३ | भुंजति चक्की भोगे | २६९ |
| भावं पडुच्च अहिगं | १९३६ | भुंजसु पच्चक्खाणं | ८८७ |
| भावतों उज्जुमती ऊ | ८४ | भुत्तभोगी पुरा जो तु | ४३१ |
| भावतो ओहिण्णाणी | ७२ | भोत्तव्व कारणम्मी | १६५६ |
| भावतो चेव जे भावा | ९५ | भोयण सुत्ते अत्थे | १०२९ |
| भावसिती अहिगारो | ३४० | मउओ वि छेद मूले | १७९१ |
| भावे अरत्तदुट्ठो | १३०६ | मंगलहेतुं पुण्णट्ठया | १२३६ |
| भावे केवलणाणं | १०६ | मंतम्मि उदाहरणं | १४४४ |
| भावे तु आयकीतं | १२४३ | मंतेणं अभिमंतिय | १४४६ |
| भावे पसत्थ इतरा | १३१७ | मंस-वस-सोणियाऽऽसव | १५०४ |
| भावे पुण पुच्छिज्जति | ३९९ | मग्गतों अंतगतो ऊ | ४१ |
| भावे मणोगिहगते | ८० | मच्छत्थाणी साहू | १६०६ |
| भावे हट्ठगिलाणं | १९४६ | मज्जण-गंधं पुप्फोवकार... | ५४७ |
| भावो च्चिय एत्थं तू | ४०२ | मज्झगतंऽतगतस्स य | ४४ |
| भासासमितो साहू | ८२० | मज्झिमउक्कोसो या | १८५२ |
| भिक्खणसीला भिक्खू | २२९९ | मज्झिमजहण्णगं तू | १९०६ |
| भिक्ख पविट्ठो य तओ | १४१५ | मज्झिमाण न संती तु | २११४ |
| भिक्ख-वियारसमत्थो | ३२५ | मणगुत्तीए तहियं | ७८७ |
| भिक्खादिगतं संतं | १३८६ | मणदुक्कडमुप्पण्णं | ७९० |
| भिक्खादिगतो तं तू | २३५६ | मणपज्जवणाणं पुण | ८८ |
| भिक्खादी वच्चंते | १३२७ | मतिसंपद चउभेदा | १८५ |
| भिक्खुम्मी अणभिगते | २२३७ | मत्तेण जेण दाहिति | १५५८ |
| भिक्खुस्स तु पुरिमड्ढं | १०६१ | मयमातिवच्छगं पिव | १३६५ |
| भिक्खू गीताऽगीता | २२०४ | मरणभएणऽभिभूते | २३९४ |
| भिक्खूमादी संखडि | २३५२ | मरणभयं सत्तमगं | ९२२ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| मरिऊण अट्टझाणो | ३६१ | मुहछूढेऽणायारो | ११७९ |
| मरेज्ज सह विज्जाए | २६०४ | मुहणंतगमालोयण | २४८५ |
| महती भिक्खा तारिस | १४८२ | **मुहणंतग रयहरणे** | **४८** |
| महसड्ढादीएसुं | ११७६ | मुहणंत पमादेणं | १७४३ |
| महसिलकंटे तहियं | ४८० | मुहणंत पायकेसरि | ९०३ |
| माएज्ज घडसहस्सं | २१६८ | मुहणंत फिडित उग्गह | १७४२ |
| मा ताव झंख पुत्तय | १२३१ | मुहपोत्ति पायकेसरि | १७२८ |
| मातुलसंवड्ढण कम्म.... | ८२८ | मूलगुण उत्तरगुणे | २२९३ |
| मायाणिप्फण्णं तू | २३२९ | मूलावत्तिसु एसू | २३०२ |
| मायापिंडो भणितो | १४१२ | मेहावी य बहुसुतो | २५९९ |
| मायावी होंति सढा | १९४१ | मोक्खाभावातो पुण | १०१२ |
| मालोहड उक्कोसे | १२७२ | मोगल्लसेलसिहरे | ५३४ |
| मालोहडमुक्कोसे | १६८९ | मोत्तुं जिणकप्पठितिं | २१८५ |
| मासगुरुगादि दिट्ठे | २३१४ | मोदगभत्तमलद्धुं | २५३० |
| मासलहुमिहावत्ती | १२४४ | मोदणपयकढियादी | ३९४ |
| मा सुण लोयस्स तुमं | ८२९ | मोसम्मि चउब्भेदे | १०७९ |
| मासो लघु गुरु चतु छच्च | २२४९ | मोसाऽदत्तादाणं | १०७५ |
| मासो लहुगो गुरुगो | ८९६, १८०३ | **मोसादिसु मेहुणवज्जि...** | **३३** |
| मिच्छत्तऽण्णाणादी | १०५३ | रण्णा कोंकणगाऽभच्चा | ४०३ |
| मिच्छत्ततवाऽऽयारे | २४७ | रयहरणं मुहपोत्ती | २१७४, २१७७ |
| मिच्छत्तथिरीकरणं | १३६९ | रसहेतुं पडिकुट्ठो | १६१८ |
| मिच्छत्तभावियाणं | २०२२ | रहिते नाम असंते | ६६२ |
| मिच्छादिट्ठीए तू | १०४७ | रागग्गीय पजलितो | १६४८ |
| मिच्छादुक्कडमेत्तेण | ७१९ | राग-द्दोसविवड्ढिं | ११६ |
| मीसं वा ससचित्ते | १५१४ | रागेण सइंगालं | १६४७, १६५३ |
| मीसज्जातं तिविधं | १२१६ | रायकुलातो भत्तं | १२८१ |
| मीस परित्तेणं चिय | १६९३ | रायगिहे धम्मरुई | १३९८ |
| मीसाणंतअणंतर.... | १६९८ | रायगिहे य कयाई | १४०५ |
| मीसे अच्चित्तेण वि | १५२४ | रायस्स अग्गमहिसीएँ | २५२३ |
| मुणिसुव्वयंतवासी | ५२८ | रायस्स महादेवी | २५१९ |
| मुणिसुव्वयतित्थम्मी | २५०० | राया सण्णायादी | १६६६ |
| मुदिते मुद्धऽभिसित्ते | १९९९ | रुट्ठस्स कोधविणयण | २३५ |

रूढणह णियणमुंडो २१७६
रूवादीविसयाणं १५
**रूवीदव्वे** विसओ ६८
**लघुमास** भिण्णमासो १८४९
**लघुमासे** पुरिमड्ढं १२४०, १५४३
**लद्धं च** णेण किह वी ७९८
**लद्धे** अत्तट्ठेती २३२४
**लद्धो** व विसेणं तू ५०२
लब्भंतं पि ण गिण्हति १४१३
लहुगतरा गिम्हेसुं १८८०, १९३०
लहुगतरा वासासुं १९१२
लहुगतरा सिसिरेसुं १८७९
लहुगतरे वासासुं १८७८
लहुगा अणुग्गहम्मी २३२२
लहु गुरुग मीसगा वि य २२५०
लहुगे उक्कोसुक्कोस.... १८७६
लहुगे वासारत्ते १८७५
लहुगे वासासुक्कोस... १९१३
लहुगे सिसिरुक्कोसे १९२२
लहुगो अत्तट्ठंते २३१७
लहुगो लहुगो लहुगा १९८८
लहुपक्खे उक्कोसे १८७७
लहुभिण्णे दसलहुगे २२२५
लहुमासे पुरिमड्ढं १२०२
लहुयग गिम्हुक्कोसे १९३१
लहुसग उक्कोसजहण्ण... १९१०
लहुसग गिम्हासुक्कोस... १८८६
लहुसग गिम्हुक्कोसे १९२८
लहुसगपक्खे पणगं १८९८
लहुसगपक्खे चेयं १९०७
लहुसग लहुगुरुपक्खो १९०५
लहुसग वासासुक्कोस... १८८४
लहुसग सिसिरासुक्को.... १८८५
लहुसग सिसिरुक्कोसे १९१९
लहुसतर मज्झिमजहण्ण... १९०९
लहुसतरा गिम्हेसुं १८८९, १९२७
लहुसतरा वासासुं १८८७
लहुसतरा सिसिरासुं १८८८
लहुसतरा सिसिरेसुं १९१८, १९२१
लहुसो लहुसतरागो १८३९
लावए पवए जोहे ४८५
लिंगं चिंध निमित्तं १७
लिंगपविट्ठाणेवं २३६०
लिंगादी जोगत्थे ६५१
लिंगेण खेत्त काले २५८९
लिंगेण लिंगिणीए २५०८, २५०९
लित्तं ति गतं एतं १६००
लुक्खं तु णेहरहितं १८२२
**लुक्खं सीतल साहारणं** ६६
लुक्खत्ता मुहजंतं ३५३
लुक्खादी तिह खेत्तं १८२५
लूहवित्ती महाभागो १७७९
**लेवाडगपरिवासे** ३४
लेवाडय कंठोत्तं १०८३
लेवालेवे त्ति जं वुत्तं १२९९
लोइयगरहित मज्जा १५१०
लोइयपरियट्टे वी १६८८
लोउत्तरपामिच्चे १७०१
लोगस्सुज्जोयगरा ९९२
लोगाणुग्गहकारिसु १३७१
लोगुत्तर संघाडग १३२९
लोगुत्तरें मासलहुं १२४६, १२४८
लोभे एसणघातो २००६
लोभे चउगुरुगा तू १४२०

| | | | |
|---|---|---|---|
| वइगुत्तीए साधू | ७९१ | वसभो वा ठाविज्जति | ४९५ |
| वइयादिसु जं अंतो | ५१८ | वसहि-णिवेसण-वाडग | २५१४, ९८ |
| वइरोसभसंघतणा | २१६२ | वसही गुरुमूला वा | ९७२ |
| वइरोसहसंघतणो | २५४९ | वसुदेव अण्णजम्मे | ८२६ |
| वंजणभेदेण इहं | १०११ | वाइय-पित्तिय-सिंभिय | ९३८ |
| वंजणभेदो भणितो | १०१३ | वाउक्खित्ताणंतर | १५३७ |
| **वंदति ण य वंदिज्जति** | **९३** | वाघाति आणुपुव्वी | ४९९ |
| वंदित्तु गतो देवो | ८६० | वाघातेण पविट्ठो | १४०६ |
| वग्गुलिपक्खसरिसगं | २१६७ | वादपरायणकुवितो | २५७४ |
| वच्चसि? णाहं वच्चे | ८८८ | वायणभेदा चतुरो | १७९ |
| वच्चह एगं दव्वं | ९०० | वायाम-वग्गणादी | ५९० |
| वच्छल्ल असियमुंडो | ६१० | वाल-ऽच्छभल्लविसगत | ५०० |
| वच्छल्ला वि य दुविधा | १०४८ | वालुंक-वडग-वाइंग... | १६१४ |
| वट्टंति अपरितंता | ४५१ | वालेण गोणसाइण | ५०१ |
| वट्टति तु समुद्देसो | ८९० | वावारिततेण्णेतं | २३१८ |
| वड्ढति हायति छाया | ११७० | वावारिता गुरूहिं | २३१६ |
| वड्ढेति तप्पसंगं | ११८७ | वाविता लूया मलिता | ११५८ |
| वणकायअणंतेसुं | १५४४ | वासउदुअहालंदे | २०८२ |
| वणकायऽणंतमीसे | १७१६ | **वासं बारसवासा** | **९२** |
| वणकायपरित्तेणं | १७०९ | वासावासपमाणं | २०७८ |
| वणिमगपिंडो भणितो | १३८४ | वासासु अहालहुसो | १९०८ |
| वत्तलोवो सरीरे वा | २५२४ | वासासु चउम्मासो | २०८३ |
| वत्तणुवत्तपवत्तो | ६७५ | वासासु विसेसेणं | २०२ |
| वत्तो णामं एक्कसि | ६७६ | वासे बहुजणजोग्गं | २०० |
| वत्थुं पुण परवादी | १९६ | विकहादिपमादेणं | १७४४ |
| वयछक्कं कायछक्कं | ५८७ | विक्खेवणविणएसो | २३३ |
| वयछक्ककायछक्कं | १५४ | विगति अणट्ठा भुंजति | १०३४ |
| वयणे वि पुव्व दुविधो | १४२४ | विगतीकताणुबंधे | ४४८ |
| वरणेवत्थं एगे | २४६२ | विगलिंदऽणंतघट्टण | ६८४ |
| वरिसाण बारसण्हं | २५८४ | विगहा-किड्डादीहिं | ९६५ |
| ववहारे पंचसु वी | ६९८ | विच्चुत पडितं भण्णति | १७३२ |
| ववहारो आरोवण | १८४४ | विच्छिण्णमडंबादी | ९३६ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| विज्जाएँ उ णिदरिसणं | १४३९ | संकादी अट्ठपदा | १०५४ |
| विज्जा-मंतविसेसो | १४३८ | संकादी अट्ठसु वी | १०५७ |
| विज्जा-मंताभिहिता | १४४८ | संकामेउं कम्मं | १२१४ |
| विज्जा-मंते चतुलहु | १४३७ | संकित मक्खित णिक्खित्त | १४७६ |
| विज्झाउ त्ति ण दीसति | १५३० | संखाईया ठाणा | २५३ |
| विज्झातमुम्मुरिंगाल.... | १५२९ | संखातीताओ खलु | २६ |
| विणयग्गाहण खुड्डे | २३७८ | संखेज्जम्मि तु काले | ५७ |
| विणयब्भंगो एसो | ८७९ | संखेवतो उ एते | ७३३ |
| विण्णाणाभावम्मि वि | २२७ | संखेवेण दुहा ऊ | १२९३ |
| विपुलं तवमकरेंतो | १७९० | संगाले चतुगुरुगा | १६४३ |
| विमलीकत णे चक्खू | १४३५ | संघट्टकता चुल्ली | १२०९ |
| विरियं सामत्थं वा | १७७६ | संघतणधितिसमग्गा | २२५५, २२६० |
| विहरेंति एगसंभोइगा | ७८१ | संघतण-धितीहीणा | ३०० |
| विहिपरिभुत्तुव्वरितं | ९७१ | संघयण-धितीजुत्तो | ५१५ |
| वीसग्गसो य वासाइं | २११८ | संघस्साऽऽयरियस्स य | ६०२ |
| वीसज्जिता वि साहू | १४५२ | संघस्सोह-विभागे | १९९२ |
| वीससपयोग अब्भाइ.... | १०३ | संघाडग हिंडंते | १२२१ |
| वीसाऽऽरद्धं ठायति | २२४२ | संघाडग हिंडंतो | १५९२ |
| वेज्जो त्ति पुच्छितव्वो | १३८७ | संघाडगो तु जाव उ | २४४४ |
| वेदण वेयावच्चे | १६५८ | संघाडपच्चयट्ठा | १३३० |
| वेयावच्च करेंतो | २२८० | संघियचिक्खल्लेणं | १२१० |
| वेयावच्चकरो तू | १९६५ | संघो ण लभति कज्जं | २५७५ |
| वेयावच्चकरो वा | ६७२ | संजति कप्पठितें पढमों | २५०७ |
| वेयावच्चतराणं | १९६६ | संजमकरणुज्जोया | २१८२ |
| वोच्छं वक्खामि त्ती | ४ | संजमठाणमसंखा | ११०९ |
| वोच्छेद गुरुगिलाणे | २३३२ | संजमठाणाणं कंडगाण | ३३९, ११०६ |
| वोलेंता ते व अण्णे वा | ११५० | संजममायरति सयं | २१६ |
| सं एगीभावम्मी | ६५७, ११०७ | संजम सकलं किच्चं | २२९६ |
| संकमणऽण्णोण्णस्सा | २०८५ | संजोइय अतिबहुयं | १६१० |
| संकाए चउभंगो | १४७७ | संजोएंतो दव्वे | १६१६ |
| संका चारिग चोरे | २००८ | संजोए रसहेतुं | १६८२ |
| **संकादिगेसु देसे** | २८ | संजोयण भणितेसा | १६२१ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| संजोयणेत्थ दुविधा | १६११ | सक्कारं सम्माणं | ५४३ |
| संतविभवेहि तुल्ला | २९९ | सगणामं व परिजितं | १६९ |
| संतविभवो तु जाहे | २९३ | सगणे आणाहाणी | ३३५ |
| संते वि आगमम्मी | १२५ | सग्गाम परग्गामे | १३२५ |
| संतेहिँ वि चेलेहिं | १९७८ | सग्गामाहड-दद्दर | १७०३, ४१ |
| संथारादीणऽहवा | ७५२ | सग्गामाहड दुविधं | १२५१ |
| संथारो उत्तिमट्ठे | ४५८ | सच्चित्ततेण्णमेतं | २३५० |
| संथारो तस्स मउगो | ४६३ | सच्चित्तपुढविकाए | १५१८ |
| संबंध पुव्व दुविधो | १४२२ | सच्चित्तपुढविकाओ | १५२० |
| संबंधपुव्वसंथवो | १४२६ | सच्चित्तपुढविलित्तं | १२५९ |
| संबंधसंथवेसो | १४३१ | सच्चित्तमक्खितम्मि उ | १५०१ |
| संभमऽणेगविधो खलु | ९३३ | सच्चित्तमीस आदिल्ल... | १५६० |
| **संभमभयातुरावति..** | **१३** | सच्चित्त मीस एक्को | १५४९ |
| संलेहणा उ तिविधा | ३४१ | सच्चित्त मीसगे या | १६०२ |
| संवच्छराणि चउरो | ३४४ | सच्चित्तादिसु अच्चित्त... | १५४८ |
| संवर घट्टण पिहणं | ७०७ | सज्झायविहारो तू | ७५४ |
| संवर-विणिज्जराओ | ७१०, २ | सज्झिल्लगादिणं तू | १५९० |
| संवरियासवदारो | ७०८ | सट्ठऽङ्गरत्त केसर.... | १४१७ |
| संविग्गदुल्लभं खलु | ३७६ | सढयाए पुण दोसो | २३३८ |
| संविग्गऽवज्जभीरू | २५९८ | सण्णीणं रुद्धाइं | ५०४ |
| संविग्गे पियधम्मे | ६९१ | सण्णी व असण्णी वा | २५०४ |
| संविग्गो मद्दवितो | २३८५ | सतमुस्सारे एक्कं | १७५७ |
| संसज्जिमेहिं वज्जं | १५०८ | सति लाभम्मिं साधू | १९८२ |
| संसट्ठमाइयाणं | २१३० | सति लाभम्मि व गेण्हति | २४९४ |
| संसट्ठहत्थ-मत्ते | १५९८ | सत्तम गाह समत्ता | ७६३ |
| संसत्तहत्थ-मत्ते | १५९९ | सत्त य पडिग्गहम्मी | २१७८ |
| संसत्तेण तु दव्वेण | १५७३ | सत्तविधं भयमेतं | ९२८ |
| संसयकरणं संका | १०३९ | सत्तावीसं जहण्णेणं | २१३३ |
| संसारखड्डपडितो | ५९१ | सथलीसु ताव पुव्वं | २३६६ |
| संसारमणवयग्गं | २५११ | सपडिक्कमणो धम्मो | २०५१ |
| संसोधण संसमणं | १३९० | सपदपरूवण अणुसज्जणा | २६७ |
| सक्कपसंसा अस्सद्द... | ८०० | सपरक्कमं तु तहियं | ३२७ |

| | |
|---|---|
| सपरक्कमे य अपरक्कमे | ३२४ |
| सपरक्कमे य भणितं | ४९७ |
| सप्पच्चवाय णिरपच्च.. | १२५३ |
| समउत्तरवुड्ढीए | २९ |
| समणट्ठ जाव दुछडा | ११६१ |
| समणट्ठ वावितादी | ११६० |
| समणस्स उत्तिमट्ठे | ५६६ |
| समणे माहण किवणे | १३६४ |
| सम-विसमम्मि व पडितो | ५१९ |
| समितिविसुद्धिणिमित्तं | ९७४, ९८५ |
| सम्ममसम्मा किरिया | १३५४ |
| सम्मूढेणितरेण वि | २४८६ |
| सयं चेव चिरावासो | ३८४ |
| सयग्गसो य उक्कोसा | २१३४ |
| सयणं सेज्ज पडिस्सय | ९८४ |
| सयमेवाऽऽभोएतुं | ३८१ |
| सरिकप्पे सरिछंदे | २१०९, २११० |
| सरीरमुज्झितं जेण | ४८९ |
| सव्वं चिय आवसयं | १७६० |
| सव्वं ण कप्पएतं | १५३९ |
| सव्वं णेयं चतुहा | ९७ |
| सव्वं पि य तं दुविधं | १२७१ |
| सव्वं पि य पच्छित्तं | २६५ |
| सव्वं भोच्चा कोई | ४४६, ४४७ |
| सव्व जहुद्दिट्ठेसुं | १६८३ |
| सव्वण्णूहिं परूविय | ३१८ |
| सव्वत्थ तु चतुभंगो | ११६७ |
| सव्वत्थ तु णिव्विगतिं | १७२१ |
| सव्वबहुअगणिजीवा | ५३ |
| सव्वभंगे छट्ठं | १०३२ |
| सव्वम्मि बारसविधे | २१९ |
| सव्ववतेसुं गुत्तिसु | ९१४ |
| सव्वसुहप्पभवाओ | ४७२ |
| सव्वाओ अज्जाओ | ४७१ |
| सव्वाहिं वि लद्धीहिं | ४६९ |
| सव्वाहिं संजतीहिं | २०१६ |
| सव्वे काउस्सग्गे | १७५६ |
| सव्वे चरित्तमंता य | २१२४ |
| सव्वे वाऽऽसाएंतो | २४७६ |
| सव्वे सयमुस्सारे | १७५८ |
| सव्वे सव्वद्धाए | ४६८ |
| सव्वेसु जहुद्दिट्ठेसु | १७१२ |
| सव्वेसु भद्दपंता | १३६१ |
| **सव्वेसु य बितियपदे** | **१५** |
| सव्वेसु वि एतेसुं | १६७९ |
| सव्वेहि जियपदेसेहिं | ९२ |
| सव्वोवधि हारेती | १७३७ |
| **सव्वोवहिकप्पम्मि य** | **५८** |
| ससणिद्ध हत्थमत्ते | १४९५ |
| ससणिद्धुदउल्ले या | १४९४ |
| ससहाओ असहाओ | २३३६ |
| सहसा-अणभोगा तू | १७१९ |
| सहसाऽणाभोगा तू | ९१८, ९३७ |
| सहसाऽणाभोगेण व | ९१५, ४४ |
| सा आलोयण दुविधा | ७७० |
| सा गहणेसण चतुहा | १४७४ |
| सा चतुहा नामादी | १६०५ |
| सा जेसि तुवट्टवणा | २०२६ |
| सा णेच्छई विसण्णो | ८३० |
| सा दुह देसे सव्वे | २४७४ |
| सा पाहुडिया दुविधा | १२२४ |
| सा पुण छसु णातव्वा | १५५९ |
| सामण्णं अविसेसित | १८११ |
| **सामण्णं पुण सुत्ते** | **२५** |

सामत्थे वण्णणाए य २५९२
सामाइए य छेदे १९६९
सामाइयमादीयं ७१४
सामाइसंजताणं २८६
सारेऊण य कवयं ३३१
**सारो चरणं तस्सा ३**
साली-घत-गुल-गोरस ११७७
सालीमादी अगडे ११४७
सावज्ज भास भासति ८०६
सा वि य भणती होतू १३३१
सावेक्खा होंति तिहा २२०३
सावेक्खो त्ति व काउं २२२१
सावेक्खो पवयणम्मि ३०३
सासवणाले मुहणंतगो २४८२
सासवणाले लद्धं २४८३
साहम्मिउवधिहरणं २३०९
साहम्मितेण्ण दुविधं २३०८
साहरणेतं भणितं १५६८
साहारणं समं तू १८२३
साहारणमणिसट्ठं १२७६
साहारणवणकाए १०७१
साहारणा तु एते २०८४
साहुणिमित्ता रद्धं ११६५
साहुवयारि त्ति तुमं ८३९
साहूण समुल्लावो १३९६
साहू सुतोवउत्तो १४८५
सा होती आसातण ८६३
सिज्झंतस्सुवगारं १२०८
सिणेहो पेलवी होती ३३७
सिप्पंणेउणियट्ठा २३८१
सिसिरे दसमादी पुण १८६३
सीतघरम्मि व डाहं २३६
सीतो उसिणो साहारणो १६३९
सीयालीसं एते १६७२
सीसावेढियपोत्तिं १९७९
सीसाऽऽह जई एवं ७४६
सीहेसरगतचित्तो १४१६
सुक्केण वि जं छिक्कं १२९८
सुक्के सुक्कं पढमं १५६२
सुक्खे सुक्खं पडितं १३०८, १३०९
सुण जह णिज्जवगऽत्थी ३२०
सुतणाणम्मि गुरुम्मि व १००३
सुतववहारअभावे ६९९
सुतववहारेणऽहवा १८३०
सुत्तं अत्थं च तहा २२३
सुत्तं अत्थे उभयं १४२
सुत्तं गाहेति उज्जुत्तो २२४
सुत्तत्थतदुभयविसार.... २०८९
सुत्तत्थपोरिसीअकर... १७८९
सुत्तस्स अप्पमाणे १४८६
सुत्तेण वि अत्थेण वि २५९६
सुत्ते वा अत्थे वा १०३०
सुद्धं एसित्तु ठावेंति ४९०
**सुबहुत्तरगुणभंसी ८१**
सुबहू पिपीलियाओ ८५७
सुहुमं व बादरं वा १२०४
सुहुमाए मासलहुं १३८५
सुहुमाए लहुपणगं १२२५
सुहुमो य होति कालो ५९
सूभग-दोभग्गकरा १४५९
से किं अप्पडिवातिं ६५
से किं मज्झगतो?तं ४३
सेज्जातरपिंडे या १९७४
सेलेसिं पडिवण्णे ७०९

सेलेसि सिद्ध विग्गह ४७३
सेवंतो तु अकिच्चं ५९६
सेसं अट्ठहऽणुसज्जति २७८
सेसं जह थेराणं २०७१
सेसाणं संसट्ठं २४९६
सेसाण ण वि परिणतो १५९१
सेसा विसोधिकोडी १३०३
सेसेसू तीसुं पी १५६५
सेसेहि णियत्तेज्जा ११८१
सेसेहि तु काएहिं १५००
सेहो त्ति अगीतत्थो २३१०
सोइंदिएण सोउं २०
सो उग्गमो चतुद्धा १०८९
सो एसो जस्स गुणा १४३३
**सो कीरति पारंची ९७**
सोगं आभोगेण वि ९२९
सो चेव य परियाओ २०४१
सो चोल्लगो वि दुविधो १२७७
सो जह कालादीणं ६८२
सो तं घेत्तूण गतो २३२०
सो तं चिय धरति गणं २३४७
सो तम्मि चेव दव्वे ६६९, ६७०
सो तु परंपरएणं २०८७
सोतूण तस्स पडिसेवणं ६३६
सो थेरकप्पो दुविहो २०९५
सो दिट्ठो य विगिंचिंतो ३६४
सो पुण ओही दुविधो ३२
सो पुण ठिति मज्जाया १९७०
सो पुण दंसणवंतो २०३७
सोभणविही तु जेसिं २५९५
सो य समत्थो होज्जा २५६४
सोलस उग्गमदोसा १०८८, १४८७, १६७१
सोलस उग्गमदोसे १३१३
सो वंदति सेहादि वि २४३६
सो ववहारविहिण्णू ६३८
सो वा करेज्ज तेसिं २४५९
सो वि अपरक्कमगती ५६९
सो वि गुरूहिं भणितो ५८०
सो सत्तरसो पुढवा... २१७
सोहीए य अभावे २६१
हंदि दु परीसहचमू ४७८
**हट्ठगिलाणा भावम्मि ६८**
हणणतिगं पयणतिगं १२९४
हणण हणावण अणुमोदणं १२८८
हत्थं तु भमाडेतुं २५८७
हत्थंदु-णिगलबद्धे १५७०
हत्थम्मि मुहुत्तंतो ५५
**हत्थसतबाहिरातो २०**
हत्थसयाउ परेणं ७६०
हत्थाताले हत्था.... २३७३
हत्थी विगुव्वितो या ८०१
हत्थेणं जं तालण २३७४
हत्थेण व पादेण व २३७६
हरितादि अणंतर पूवितादि १५३८
हवेज्ज जदि वाघातो ३८८
**हारितधोतुग्गमिया... ४७**
हासं तु हासमेव तु ९११
हिंडंतो गोयरम्मि ८०७
हितमहितं होति दुहा १६३३
हिताहारा मिताहारा १६३२
हिययम्मि समाहेउं ११०३
हीणतरे हीणतरं २२७७
होति जहण्णुक्कोसो १८५४, १८५६
होति विसोहण सोहण ७०५
होमादिऽ वितहकरणे १३५३

# कथाएं : विषय-सूची


१. संस्कारों का प्रभाव : तिलहारक दृष्टान्त। ५७३
२. संघ सहित अनशन। ५७३
३. द्रव्य-संलेखना। ५७४
४. आज्ञा का महत्त्व। ५७४
५. संग्राम द्वय : महाशिला कंटक और रथमुशल। ५७४
६. दुर्भिक्ष : कौशलक श्रावक। ५७६
७. आचार्य स्कंदक। ५७६
८. चाणक्य का अनशन। ५७७
९. चिलातपुत्र की समता। ५७८
१०. कालासवैशिक का उपसर्ग। ५७९
११. बांसों के झुरमुट की वेदना। ५८०
१२. अवंतीसुकुमाल। ५८०
१३. युवक-समूह का अनशन। ५८१
१४. अनशन में म्लेच्छ का उपद्रव। ५८१
१५. शिष्यों की परीक्षा। ५८१
१६. प्रवचन की प्रभावना। ५८२
१७. आर्य वज्र द्वारा श्रावक का उद्धार। ५८२
१८. आर्य वज्र की दीक्षा। ५८३
१९. आर्यरक्षित द्वारा पिता की दीक्षा। ५८५
२०. मनोगुप्ति : जिनदास कथा। ५८७
२१. वचनगुप्ति : साधु का वाक्संयम। ५८७
२२. कायगुप्ति : स्थण्डिल भूमि की यतना। ५८८
२३. कायगुप्ति : देव-परीक्षा। ५८८
२४. ईर्यासमिति : अर्हन्नक साधु की सजगता। ५८८
२५. भाषा समिति : साधु की जागरूकता। ५८८
२६. एषणा समिति : नंदिषेण कथानक। ५८९
२७. आदान निक्षेप समिति : प्रतिलेखना क्यों? ५९१
२८. परिष्ठापना समिति : मुनि धर्मरुचि। ५९१
२९. प्रतिसेवना : चोर-दृष्टान्त। ५९१
३०. प्रतिश्रवण : राजपुत्र-दृष्टान्त। ५९२
३१. संवास : पल्ली-दृष्टान्त। ५९२
३२. अनुमोदना : राजदुष्ट-दृष्टान्त। ५९३
३३. आधाकर्म : शाल्योदन-दृष्टान्त। ५९३
३४. आधाकर्म : पानक-दृष्टान्त। ५९४
३५. नूपुरपंडिता। ५९५
३६. आधाकर्म की अभोज्यता : वमन-दृष्टान्त। ५९७
३७. आज्ञा की आराधना-विराधना : उद्यान द्वय दृष्टान्त। ५९८
३८. द्रव्यपूति : गोबर-दृष्टान्त। ५९९
३९. अनिसृष्ट दोष : लड्डुक-दृष्टान्त। ५९९
४०. दूती दोष : धनदत्त कथा। ६००
४१. निमित्त दोष : ग्रामभोजक-दृष्टान्त। ६०१
४२. चिकित्सा दोष : सिंह-दृष्टान्त। ६०२
४३. क्रोधपिण्ड : क्षपक-दृष्टान्त। ६०२
४४. मानपिण्ड : सेवई-दृष्टान्त। ६०२
४५. मायापिण्ड : आषाढ़भूति कथानक। ६०४
४६. लोभपिण्ड : सिंहकेशरक मोदक-दृष्टान्त। ६०७

| | | |
|---|---|---|
| ४७. | विद्या-प्रयोग : भिक्षु-उपासक का कथानक। | ६०७ |
| ४८. | मंत्र-प्रयोग : मुरुण्ड राजा एवं पादलिप्तसूरि कथानक। | ६०८ |
| ४९. | चूर्ण-प्रयोग : क्षुल्लकद्वय एवं चाणक्य कथानक। | ६०८ |
| ५०. | योग-प्रयोग : कुलपति एवं आर्य समित कथानक। | ६०९ |
| ५१. | द्रव्य ग्रहणैषणा : वानरयूथ-दृष्टान्त। | ६१० |
| ५२. | छर्दित दोष : मधु-बिन्दु-दृष्टान्त। | ६११ |
| ५३. | द्रव्य ग्रासैषणा : मत्स्य-दृष्टान्त। | ६१२ |
| ५४. | परिणामक आदि शिष्यों की परीक्षा। | ६१२ |
| ५५. | प्रतिक्रमण : रसायन दृष्टान्त। | ६१३ |
| ५६. | पद्मावती की दीक्षा। | ६१३ |
| ५७. | खुड्डककुमार को वैराग्य। | ६१५ |
| ५८. | हस्तालम्ब : वणिग्द्वय कथा। | ६१६ |
| ५९. | सरसों की भाजी। | ६१७ |
| ६०. | मुखवस्त्रिका। | ६१७ |
| ६१. | उलूकाक्ष। | ६१८ |
| ६२. | शिखरिणी। | ६१८ |
| ६३. | उदायिमारक। | ६१८ |
| ६४. | आचार्य स्कन्दक और पालक। | ६२० |
| ६५. | स्त्यानर्द्धि निद्रा : पुद्गल-दृष्टान्त। | ६२० |
| ६६. | स्त्यानर्द्धि निद्रा : मोदक-दृष्टान्त। | ६२० |
| ६७. | स्त्यानर्द्धि निद्रा : कुम्भकार-दृष्टान्त। | ६२० |
| ६८. | स्त्यानर्द्धि निद्रा : दंत-उन्मूलन-दृष्टान्त। | ६२१ |
| ६९. | स्त्यानर्द्धि निद्रा : वटशाखा-दृष्टान्त। | ६२१ |

# कथाएं

(जीतकल्पभाष्य में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने प्रसंगवश अनेक कथाओं का संकेत किया है। वहां प्राय: कथाओं का संक्षिप्त उल्लेख है लेकिन कहीं-कहीं नंदिषेण आदि की कथाएं विस्तृत रूप से भी वर्णित हैं। चूंकि इस भाष्य पर न चूर्णि उपलब्ध है और न ही टीका अत: इस ग्रंथ में निर्दिष्ट प्राय: कथाओं का अनुवाद निशीथचूर्णि, आवश्यक चूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य टीका, पिण्डनिर्युक्ति टीका तथा उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका आदि ग्रंथों के आधार पर किया गया है। जहां कहीं अन्य ग्रंथों को आधार बनाया है, वहां नीचे पाद-टिप्पण में उल्लेख कर दिया है।)

**१. संस्कारों का प्रभाव : तिलहारक दृष्टान्त**

एक बालक अधूरा स्नान करके बाहर खेलने चला गया। खेलते-खेलते वह तिलों के ढ़ेर पर पहुंचा और उसमें लोटने लगा। लोगों ने उसे बालक समझकर नहीं रोका। उसका शरीर गीला था इसलिए उस पर तिल चिपक गए। वह तिलों सहित घर पहुंचा। मां ने शरीर पर चिपके हुए तिल देखे। उसने बालक के शरीर पर लगे सारे तिल झाड़ लिए और उन्हें एक पात्र में संगृहीत कर लिया। मां के मन में तिलों का लोभ जाग गया अत: उसने पुन: बालक को अधूरा स्नान कराकर भेजा। वह पुन: तिलों के ढ़ेर पर गया और गीले शरीर से उस ढ़ेर में प्रवेश कर तिलों सहित घर आ गया। मां ने उसे न डांटा और न ही वहां जाने से रोका। वह धीरे-धीरे तिल चुराने वाला बड़ा चोर बन गया। एक बार चोरी करते हुए उसे राजपुरुषों ने पकड़ लिया। राजा ने उसके वध की आज्ञा दे दी। वह मारा गया। राजा ने सोचा यह बालक मां के दोष से चोर हुआ है। राजपुरुषों ने माता को दंडित करने के लिए उसके स्तनों का छेद कर दिया। मां को गलत संस्कार देने का दंड मिल गया।

एक दूसरा बालक भी अपूर्ण स्नान करके तिलों के ढ़ेर में जा छिपा। उसके गीले शरीर पर तिल चिपक गए। तिल सहित शरीर से वह बालक घर पहुंचा। मां ने उसे डांटते हुए कहा कि पुन: ऐसा कभी मत करना। उसने शरीर से तिल झाड़ कर मूल स्वामी को वापस दे दिए। उस बालक में चोरी की आदत नहीं पनपी। वह सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगा। मां को भी स्तनछेद जैसी पीड़ा सहन नहीं करनी पड़ी।[1]

**२. संघ सहित अनशन**

कलिंग जनपद के काञ्चनपुर नगर में अनेक शिष्य परिवार के साथ बहुश्रुत आचार्य विहरण करते थे। वे एक दिन शिष्यों को सूत्र पौरुषी और अर्थपौरुषी की वाचना देकर संज्ञाभूमि में गए। जाते हुए रास्ते में एक बड़े वृक्ष के नीचे उन्होंने किसी देवी को स्त्री रूप में रोते हुए देखा। दूसरे और तीसरे दिन भी उन्होंने

---

१. जीभा ३०८, ३०९, व्यभा ४२०९, ४२१० टी प. ५२।

वही दृश्य देखा। आचार्य के मन में शंका हुई। उन्होंने उससे रोने का कारण पूछा। उस स्त्री ने कहा—"मैं इस नगर की अधिष्ठात्री देवी हूं। यह सारा नगर शीघ्र ही जल-प्रवाह से नष्ट हो जाएगा। यहां बहुत से स्वाध्यायी और बहुश्रुत मुनि निवास करते हैं। उनके बारे में चिन्तन करके मैं रो रही हूं।" आचार्य ने पूछा—'इस बात का विश्वास कैसे हो?' नगरदेवी ने कहा—"अमुक तपस्वी के पारणे में आया हुआ दूध रक्त रूप में परिवर्तित हो जाएगा। जहां तक जाने पर वह दूध स्वाभाविक रूप में परिणत हो जाए, वहां क्षेम होगा।"

दूसरे दिन पारणे में क्षपक के लिए आया हुआ दूध रक्त में बदल गया। तब सम्पूर्ण संघ के मुख्य व्यक्तियों ने चिन्तन किया और अनशन स्वीकार कर लिया।[1]

**३. द्रव्य-संलेखना**

एक बार एक शिष्य आचार्य के पास भक्त-प्रत्याख्यान अनशन की आज्ञा लेने उपस्थित हुआ। आचार्य ने पूछा—"अनशन से पूर्व तुमने संलेखना की या नहीं?" शिष्य ने सोचा—'आचार्य मेरे कृश शरीर को देख रहे हैं, जो केवल हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया है फिर भी मुझे संलेखना की बात पूछ रहे हैं।' यह सोचकर क्रोध के आवेश में उसने अपनी अंगुलि तोड़कर दिखाते हुए कहा—'क्या आपको कहीं रक्त और मांस दिखाई देता है, जो आप यह पूछ रहे हैं कि मैंने संलेखना की है या नहीं?' शिष्य की बात सुनकर आचार्य बोले—"मैंने द्रव्य-संलेखना के विषय में नहीं पूछा था। यह तो तुम्हारे शरीर को देखकर प्रत्यक्षत: जान लिया है।" मैंने भाव-संलेखना के विषय में जानना चाहा था और यह स्पष्ट दिखाई देता है कि तुमने भाव-संलेखना-कषायों का उपशमन नहीं किया है। जाओ, भाव-संलेखना का अभ्यास करो और फिर अनशन की बात सोचना।[2]

**४. आज्ञा का महत्त्व**

एक राजा ने अमात्य और कोंकण देशवासी नागरिक—इन दोनों को अपराधी मानकर उनको यह आज्ञा दी कि यदि दोनों पांच दिन के भीतर देश को छोड़कर नहीं जाएंगे तो उनका वध कर दिया जाएगा। दोनों ने आदेश सुना। कोंकण देशवासी नागरिक के पास तुम्बे और कांजी के पानी से भरे बर्तन थे। वह तत्काल तुम्बे और कांजी जल को छोड़कर उस देश से निकल गया। मंत्री घर आकर गाड़ी, बैल आदि की व्यवस्था कर घर को समेटने लगा। उस व्यवस्था में उसके पांच दिन निकल गए। छठे दिन राजा ने उसे शूली पर चढ़ा दिया। आज्ञा-भंग के कारण अमात्य मृत्यु को प्राप्त हो गया।[3]

**५. संग्राम द्वय : महाशिला कंटक और रथमुशल**

राजा कूणिक और चेटक के मध्य लड़े गए ये दो प्रमुख संग्राम थे। युद्ध का मुख्य कारण था

---

१. जीभा ३८२, व्यभा ४२७८ टी प.६१।

२. जीभा ३९९-४०२, व्यभा ४२९०, ४२९१ टी प. ६३।

३. जीभा ४०३, ४०४, व्यभा ४२९२, ४२९३ टी प. ६३।

कूणिक की पटरानी पद्मावती द्वारा सेचनक हाथी और अठारह लड़ियों के हार की मांग करना। जब पद्मावती ने लोगों के मुख से यह सुना कि असली राजा तो बेहल्लकुमार है, जो राज्य-सुख को भोग रहा है तो कूणिक से आग्रह किया कि ये दोनों वस्तुएं बेहल्लकुमार से प्राप्त करें। प्रारम्भ में कूणिक ने रानी पद्मावती की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया लेकिन बाद में उसने बेहल्लकुमार से इन दोनों वस्तुओं की मांग की। बेहल्लकुमार ने कहा—'ये दोनों वस्तुएं मुझे पिताश्री ने दी हैं। यदि आप मुझे आधा राज्य दें तो मैं आपको ये दोनों वस्तुएं दे सकता हूं।' बेहल्लकुमार सेचनक हाथी और अठारह लड़ियों वाले हार की सुरक्षा हेतु अपनी रानियों के साथ नाना चेटक की शरण में चला गया। कूणिक ने चेटक के पास दूत के साथ संदेश भेजा कि वे बेहल्लकुमार के साथ हाथी एवं हार वापस भेजें। चेटक ने दूत के साथ प्रत्युत्तर दिया कि जिस प्रकार तुम मेरे दोहित्र हो, वैसे ही बेहल्ल भी है। यदि तुम उसको आधा राज्य दो तो मैं इनको वापस कर सकता हूं, अन्यथा यह मेरी शरण में है। कूणिक ने पुनः दूत भेजा लेकिन चेटक ने उसकी बात स्वीकृत नहीं की। क्रोधित होकर कूणिक ने अपने काल आदि दश भाइयों को बुलाकर कहा कि तुम लोग चेटक के साथ युद्ध के लिए तैयार हो जाओ और अपने तीन हजार हाथियों, तीन हजार रथों, तीन हजार घोड़ों तथा तीन करोड़ सैनिकों से सन्नद्ध होकर नगर के बाहर पहुंच जाओ। काल आदि दसों भाई सन्नद्ध होकर नगर की सीमा पर पहुंच गए। राजा कूणिक ने तेतीस हजार हाथियों, तेतीस हजार घोड़ों, तेतीस हजार रथों तथा तेतीस करोड़ सैनिकों से युक्त होकर वैशाली की ओर प्रस्थान कर दिया।

जब चेटक को यह बात ज्ञात हुई तो उसने नौ मल्लवी, नौ लच्छवी तथा काशी और कौशल आदि अठारह देशों के राजाओं को युद्ध की सूचना दी। वे भी अपने सैन्यबल के साथ वहां पहुंच गए। राजा चेटक ने सत्तावन हजार हाथी, सत्तावन हजार घोड़े, सत्तवान हजार रथ तथा सत्तावन करोड़ मनुष्यों के साथ राज्य की सीमा के पास पड़ाव डाल दिया।

कूणिक ने सर्वप्रथम गरुड़ व्यूह की रचना की। उसके विरुद्ध राजा चेटक ने शकट-व्यूह की रचना की। कूणिक के दश भाई चेटक के बाण द्वारा मारे गए। यह देखकर कूणिक ने सोचा कि कहीं मेरा भी राजा चेटक के हाथ से वध न हो जाए अतः उसने पूर्वभव के दो मित्रों को याद किया, जो शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए थे। वे दोनों इन्द्र सहायतार्थ पहुंचे।

देवेन्द्र शक्र ने कूणिक के शरीर पर वज्रमय कवच का आवरण डाल दिया। महाशिलाकंटक युद्ध में कूणिक हस्तिरत्न उदाई पर आरूढ़ होकर युद्ध क्षेत्र में गया। शक्रेन्द्र ने महाशिलाकंटक[1] संग्राम की विकुर्वणा की, जिसमें एक कंकर भी शिलारूप बन जाता था। इस संग्राम में चौरासी लाख मनुष्य मारे गए। चमरेन्द्र ने रथमुशल संग्राम की रचना की। बिना सारथी के रथ में एक मुशल रखा हुआ था, जिसके द्वारा फेंका गया कंकर भी मुशल जैसा प्रहार करता था। इस युद्ध में भी छियानवें लाख मनुष्यों का विनाश हुआ।

---

१. निरयावलिका में केवल रथमुशल संग्राम का उल्लेख है। यह युद्ध किसने प्रवर्तित किया, युद्ध का स्वरूप कैसा था आदि का वर्णन वहां नहीं है।

चेटक के साथ नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी—ये अठारह गणराजा पराजित हुए। युद्ध में चेटक के रथिक ने राजा कूणिक के वध हेतु निरन्तर बाणों की वर्षा की लेकिन वज्रमय कवच के कारण वे बाण व्यर्थ हो गए। तब उसने वृक्ष पर चढ़कर क्रोधपूर्वक क्षुरप्र से चेटक के शिर का छेदन कर दिया।[१]

### ६. दुर्भिक्ष : कौशलक श्रावक

एक बार दुर्भिक्ष के समय कौशल देश के श्रावक ने अन्यत्र विहार करते हुए पांच सौ साधुओं को यह निवेदन करके रोक लिया कि मैं आप लोगों को भक्त-पान दूंगा। बाद में लाभ विशेष के लोभ से उसने अपने धान्य को बेच दिया। दुर्भिक्ष के समय भिक्षा न मिलने के कारण पांच सौ साधुओं में कुछ श्वास निरोध आदि करके, कुछ गृध्रपृष्ठ से तथा कुछ फांसी के द्वारा बाल-मरण को प्राप्त हो गए।[२]

### ७. आचार्य स्कंदक

श्रावस्ती[३] नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम धारिणी तथा युवराज स्कन्दक था। राजा की पुत्री का नाम पुरंदरयशा था। उसका विवाह उत्तरापथ में कुंभकारकट नगर के दंडकी राजा के साथ किया गया। दंडकी राजा के पुरोहित का नाम पालक था। एक बार श्रावस्ती नगरी में तीर्थंकर मुनिसुव्रतस्वामी पधारे। उनके समवसरण में अनेक व्यक्ति उपस्थित हुए। स्कन्दक भी देशना सुनने गया। धर्मवार्ता सुनकर उसने श्रावक-व्रत स्वीकार कर लिए।

एक बार पालक पुरोहित दूत के रूप में श्रावस्ती नगरी आया। सभा के बीच में ही वह जैन साधुओं की निंदा करने लगा। उस समय कुमार स्कन्दक ने अपनी तेजस्वी वाणी से उसे निरुत्तरित कर राज्य से बाहर निकाल दिया। इस घटना से उसके मन में स्कन्दक के प्रति रोष उमड़ पड़ा। उसी दिन से पालक गुप्तचरों के माध्यम से स्कन्दक का छिद्रान्वेषण करने लगा।

कालान्तर में कुमार स्कन्दक पांच सौ व्यक्तियों के साथ मुनिसुव्रत तीर्थंकर के पास दीक्षित हुआ। ज्ञानाभ्यास से उसने बाहुश्रुत्य को प्राप्त कर लिया। उसकी योग्यता का मूल्यांकन करके कुछ समय बाद तीर्थंकर मुनिसुव्रत ने उसे पांच सौ शिष्यों का प्रमुख बना दिया। एक बार स्कन्दक ने भगवान् को निवेदन किया कि मैं अपनी संसारपक्षीय बहिन पुरंदरयशा को प्रतिबोध देने जाना चाहता हूं। यह सुनकर तीर्थंकर मुनिसुव्रत ने कहा—'वत्स! वहां मारणान्तिक कष्ट आ सकता है।' स्कन्दक ने पूछा—'उपसर्ग में हम सब आराधक होंगे या विराधक?' भगवान् ने प्रत्युत्तर दिया—'तुमको छोड़कर अन्य सभी साधु आराधक होंगे।' उसने कहा—'अच्छा है, इतने मुनि यदि आराधक होते हैं तो शुभ है।' भगवान् के मना करने पर भी आचार्य स्कन्दक अपने पांच सौ मुनियों के साथ कुंभकारकट नगर में पहुंचे। सभी मुनि नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे।

---

१. जीभा ४७९-८१, भ ७/१७३-२१०, भा. २ पृ. ३८५, ३८६, निर. १, व्यभा ४३६३-६५ टी प. ७३।

२. जीभा ५०३-०६, व्यभा ४३८५।

३. यह कथा जीतकल्पभाष्य में दो स्थानों पर आई है। देखें जीभा २४९९, २५००।

पालक को जब स्कन्दक मुनि के आने का वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उसने उद्यान में गुप्त रूप से शस्त्र छिपा दिए। दूसरे दिन पालक ने राजा के पास आकर उसको भ्रमित करने के लिए कहा—'स्कन्दक मुनि परीषहों से पराजित होकर यहां आया है। वह बहिन से मिलने के बहाने यहां आपको मारकर राज्य ग्रहण करना चाहता है। यदि मेरी बात पर विश्वास न हो तो आप उद्यान में जाकर देखें, वहां अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र छिपाए हुए हैं।' राजा ने गुप्तचरों को उद्यान में भेजा। छिपे शस्त्रों की बात जानकर राजा का विश्वास स्थिर हो गया। राजा ने सभी मुनियों का निग्रह कर उन्हें पालक पुरोहित को सौंप दिया। पालक ने एक-एक कर पांच सौ मुनियों को कोल्हू में पील दिया। सभी मुनियों ने समतापूर्वक उस वध परीषह को सहन किया। पूर्ण समाधिस्थ रहने से सबको कैवल्य उत्पन्न हुआ और सभी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

आचार्य स्कन्दक पास में खड़े थे। उन्होंने यह सारा दृश्य देखा। रुधिर से भरे कोल्हू यंत्र की ओर उनकी दृष्टि गई। उन्होंने कहा—'इस बाल मुनि को मैं यंत्र में पीलते हुए नहीं देख सकता अत: पहले मुझे पील दो।' पर उनके देखते-देखते सैनिकों ने छोटे शिष्य को यंत्र में पील दिया। यह दृश्य देखकर आचार्य स्कन्दक कुपित हो गए। उन्हें सबसे अंत में पीला गया। वे निदान कर अग्निकुमार देव के रूप में उत्पन्न हुए।

उसी समय एक गृद्ध आचार्य स्कन्दक के रक्तलिप्त रजोहरण को पुरुष का हाथ समझकर उठाकर ले गया। उसके साथ में पुरंदरयशा द्वारा दत्त कंबल भी था। वह रजोहरण पुरंदरयशा के सामने गिरा। रजोहरण और कंबल को देखते ही पुरंदरयशा ने पहचान लिया कि यह मेरे भाई का है। जब उसे ज्ञात हुआ कि मेरे भाई सहित सभी मुनियों को मरवा दिया गया है तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हो गयी। उसने राजा से कहा—'अरे पापिष्ट राजा! तुमने आज विनाश का कार्य किया है। अब मैं स्वयं भी दीक्षा लेना चाहती हूं।' उसकी प्रबल भावना जानकर देवों ने उसे मुनिसुव्रत स्वामी के पास पहुंचा दिया। उधर अग्निकुमार देव ने निदान के कारण पूर्वभव का बदला लेने के लिए पूरे नगर को जलाकर भस्म कर डाला। पुत्र और पत्नी सहित पालक को कुत्ते के साथ कुंभी में पकाया गया। आज भी वह क्षेत्र दण्डकारण्य कहलाता है।[1]

### ८. चाणक्य का अनशन

चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का महामात्य था। अंतिम समय में उसने गोबर गांव में प्रायोपगमन अनशन स्वीकृत किया। मंत्री सुबुद्धि चाणक्य की प्रसिद्धि को सहन नहीं करता था अत: उसके मन में चाणक्य के प्रति ईर्ष्या के भाव थे। उसने अनशन में स्थित चाणक्य के शरीर के चारों ओर गोबर निर्मित कंडे रखकर उनमें आग लगा दी। चाणक्य का पूरा शरीर जलने लगा लेकिन उसकी धृति किंचित् भी विचलित नहीं हुई

---

१. जीभा ५२८-३०, उनि ११२-१४ शांटी प. ११५, ११६, निभा ५७४१-४३ चू. पृ. १२७, १२८, बृभा ३२७२-७४ टी पृ. ९१५, ९१६।

और न ही शरीर में किसी प्रकार का कंपन हुआ अंत में उसने समाधि-मरण को प्राप्त किया।[1]

**९. चिलातपुत्र की समता**

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में एक पंडितमानी ब्राह्मण जैन शासन की निन्दा करता था। एक बार एक मुनि ने वाद में प्रतिज्ञा के अनुसार उसे पराजित कर दिया। फिर देवता द्वारा प्रेरित होने पर उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। दीक्षित होने पर भी वह जुगुप्सा छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। उसके सभी पारिवारिक जन उपशान्त थे लेकिन उसकी पत्नी उस पर बहुत अधिक अनुरक्त थी। उसने पति बने साधु को वश में करने के लिए कार्मण आदि वशीकरण का प्रयोग किया। वह मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ। उसकी पत्नी भी विरक्त होकर प्रव्रजित हो गई। दोष की ओलाचना किए बिना वह मरकर देवलोक में उत्पन्न हुई। मुनि देवलोक से च्युत होकर राजगृह नगर में धन नामक सार्थवाह के घर में चिलाता नामक दासी के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। बालक का नाम चिलातक रखा गया। ब्राह्मण-पत्नी भी च्युत होकर उसी सार्थवाह के घर में पांच पुत्रों के बाद पुत्री रूप में उत्पन्न हुई। उसका नाम सुंसुमा रखा गया। चिलातक को सुंसुमा की देखरेख के लिए रखा गया। उसको सुंसुमा के साथ कुचेष्टा करते देख सेठ ने चिलातक को घर से निकाल दिया। वह वहां से सिंह गुफा नामक चोरपल्ली में चला गया। वहां वह अग्रप्रहारी और क्रूर बन गया। चोर-सेनापति के मरने पर चिलातक को चोर-सेनापति बना दिया गया।

एक बार उसने अपने साथियों से कहा-'राजगृह नगर में धन सार्थवाह रहता है। उसकी पुत्री का नाम सुंसुमा है, वहां चलें। जो धन प्राप्त हो, वह सब तुम्हारा और सुंसुमा मेरी होगी।' चोर-सेनापति चिलातक चोरों के साथ वहां गया। उसने अवस्वापिनी विद्या से धन और उसके सभी पुत्रों को निद्राधीन कर डाला। चोर उसके घर में घुसे। वे धन और सुंसुमा को लेकर भाग गए। धन सेठ ने नगर-रक्षकों को बुलाकर कहा—'मेरी पुत्री को लाकर दो। जो धन मिले, वह सब तुम बांट लेना।' पीछा होता देख चोर धन की गठरियों को फेंक कर भाग गए।

नगर-रक्षक धन की गठरियों को लेकर लौट आए। चिलातक सुंसुमा को लेकर भागता रहा। धनश्रेष्ठी अपने पुत्रों के साथ चिलातक का पीछा करने लगा। चिलातक सुंसुमा के भार से दब गया। जब वह उसे उठाने में समर्थ नहीं रहा और पीछा करने वालों को निकट आते देखा तो उसने सुंसुमा का सिर काट दिया। वह धड़ को वहीं जमीन पर छोड़कर सिर लेकर भाग गया। यह देखकर पीछा करने वाले लौटने लगे। वे सभी क्षुधा से आकुल-व्याकुल हो रहे थे। तब धन ने पुत्रों से कहा—'तुम मुझे मारकर खा लो और नगर में सकुशल पहुंच जाओ।' पितृभक्ति के कारण वे ऐसा करना नहीं चाहते थे। बड़ा पुत्र बोला—'मुझे खा लो।' इस प्रकार सभी पुत्रों ने अपने आपको प्रस्तुत किया। तब पिता ने उनसे कहा—'एक-दूसरे को क्यों मारें? चिलातक के द्वारा मारी गई सुंसुमा को ही खा लें।' इस प्रकार पुत्री का मांस खाकर वे नगर में पहुंचे।

---

१. जीभा ५३१, प्रकी १२२८, व्यभा ४४२०, चाणक्य की कथा के विस्तार हेतु देखें दशअचू पृ. ४२, ४३।

चिलातक सुंसुमा का सिर लिए भागा जा रहा था। वह दिग्मूढ़ हो गया। उस समय उसने एक मुनि को आतापना लेते हुए कायोत्सर्ग की स्थिति में देखा। चिलातक उसके निकट जाकर बोला—'मुने! संक्षेप में मुझे धर्म की बात कहो, अन्यथा मैं तुम्हारा भी सिर काट डालूंगा।' मुनि बोले—'संक्षेप में धर्म है—उपशम, विवेक और संवर।' चिलातक इन शब्दों को ग्रहण कर वहां से उठा और एकान्त में जाकर चिन्तन करने लगा–'मुझे क्रोध आदि कषायों का उपशमन करना चाहिए। मैं क्रुद्ध हूं, मुझे क्रोध को शांत करना है।' दूसरा शब्द है—विवेक, इसका अर्थ है—त्याग। मुझे धन और स्वजन का त्याग करना है। उसने तत्काल सुंसुमा के कटे सिर तथा तलवार को फेंक दिया। तीसरा शब्द है—संवर। मुझे इन्द्रिय और नोइन्द्रिय–मन का संवरण करना है। वह ध्यानलीन हो गया। रुधिर की गंध से चींटियां चिलातक को काटने लगीं। उन्होंने उसके शरीर को चालनी जैसा बना डाला। चींटियां पैरों से शरीर के भीतर प्रवेश कर सिर की चोटी के भाग से बाहर निकलीं। चींटियों ने शरीर के भीतरी भाग को आवागमन का मार्ग बना डाला। फिर भी मुनि ध्यान से विचलित नहीं हुए। ढ़ाई दिन तक उसने वेदना को समभाव से सहा। मरकर वह वैमानिक देव बना।[१]

## १०. कालासवैशिक का उपसर्ग

मथुरा नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगर में काला नामक वेश्या रहती थी। वह बहुत सुन्दर थी अत: राजा ने उसे अपने अंत:पुर में रख लिया। उस वेश्या के कालवैशिक नामक एक पुत्र हुआ। वेश्या की एक पुत्री भी थी, जिसका विवाह हतशत्रु राजा के साथ हुआ।

एक बार कालवैशिक कुमार श्रमणों के पास दीक्षित हो गया। दीक्षित होकर उसने एकलविहार प्रतिमा स्वीकृत की। विहार करते हुए कालवैशिक मुनि अपनी बहिन के ससुराल मुद्गशैलपुर पहुंचे। वहां उनके अर्श (मस्सा) रोग उत्पन्न हो गया। रोग के कारण मुनि बहुत पीड़ित थे। पीड़ा देखकर बहिन ने वैद्य से उपचार पूछा। वैद्य ने कुछ दवाइयां दीं और कहा कि आहार के साथ इस औषध को मिलाकर मुनि को भिक्षा में दे देना। उसने मुनि को औषध मिश्रित आहार भिक्षा में दे दिया। मुनि ने गंध से जान लिया कि मोह के वशीभूत होकर मेरी बहिन ने औषध मिश्रित आहार बहराया है तथा मेरे निमित्त हिंसा की है।

मुनि ने चिंतन किया कि ऐसे जीवन से क्या लाभ? ऐसा चिन्तन करके मुनि ने मुद्गशैल शिखर पर भक्त-प्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया। कालवैशिक मुनि जब बालक थे तब उन्होंने रात्रि में सियार के शब्द सुनकर अपने राजपुरुषों से पूछा—'यह आवाज किसकी है?' राजपुरुषों ने उत्तर दिया—'ये सभी जंगली सियार हैं?' कुमार ने एक सियार को बांधकर लाने की आज्ञा दी। राजपुरुष सियार को पकड़कर ले आए। कुमार कालवैशिक उसको पीटने लगा। पीटने से सियार 'खी-खी' की आवाज करने लगा। आवाज सुनकर कुमार को बहुत प्रसन्नता हुई। इस प्रकार अत्यधिक पीटने से सियार मर गया। अकाम निर्जरा के कारण वह व्यन्तर देव के रूप में पैदा हुआ।

---

१. जीभा ५३२, ५३३, आवनि ५६५/७-१०, आवचू. १ पृ. ४९६-९८ हाटी. १ पृ. २४७, २४८, आवमटी प. ४७९, ४८०, व्यभा ४४२२।

व्यन्तर देव ने अनशन में स्थित कुमार कालवैशिक मुनि को देखा तो तीव्र वैर उत्पन्न हो गया। उसने वैक्रिय शक्ति से सियार के बच्चों की विकुर्वणा की। अपने बच्चों सहित वह सियार रूप देव 'खी-खी' शब्द करके मुनि के शरीर को नोंचने लगा। इधर राजा ने जब मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान की बात सुनी तो राजपुरुषों को रक्षा के लिए भेज दिया। राजपुरुष वहां रहते तो देव चला जाता। जब आवश्यक कार्य के लिए वे जाते तो 'खी-खी' शब्द करता हुआ वह देव रूप सियार मुनि के शरीर को खाने लगता। इस प्रकार मुनि ने समता-पूर्वक अनशन को पूर्ण किया।[1]

### ११. बांसों के झुरमुट की वेदना

एक मुनि प्रायोपगमन अनशन में स्थित था। उसे अनशन में स्थित देखकर कुछ प्रत्यनीक व्यक्तियों ने उसे उठाकर बांसों के झुरमुट में डाल दिया। कुछ समय बाद बांस फूटने लगे। बढ़ते हुए बांसों ने मुनि के शरीर को बींध डाला और ऊपर आकाश में उछाल दिया फिर भी मुनि ने उस वेदना को समभाव से सहन किया।[2]

### १२. अवन्ति-सुकुमाल

एक बार आचार्य सुहस्ति पाटलिपुत्र के उद्यान में ठहरे। उन्होंने संतों से कहा कि वसति की मार्गणा करो। वहां एक साधुओं का सिंघाड़ा सुभद्रा सेठानी के यहां भिक्षा के लिए गया। सुभद्रा ने पूछा—"किस आचार्य का आगमन हुआ है?" साधुओं ने कहा कि आचार्य सुहस्ति का आगमन हुआ है अतः हम वसति की याचना कर रहे हैं। सुभद्रा ने अपनी यानशाला दिखाई। साधु वहां ठहर गए। एक बार आचार्य प्रदोषकाल में नलिनीगुल्म अध्ययन का परावर्तन कर रहे थे। सुभद्रा का पुत्र अवन्ति-सुकुमाल सप्तभौम प्रासाद में अपनी बत्तीस पत्नियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। जागृत होने पर उसने श्रुत को सुना। अवन्तिसुकुमाल ने सोचा कि यह नाटक तो नहीं है। वह सप्तभौम प्रासाद से उतरते हुए नीचे आया। वह अपने प्रासाद से बाहर निकला। उसके मन में विकल्प उठा कि ऐसा वर्णन मैंने कहीं देखा है। सोचते-सोचते उसको जाति स्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। वह आचार्य के पास आया। उसने आचार्य से कहा—"मैं अवन्ति-सुकुमाल नलिनीगुल्म विमान में देव था।" उत्सुकता के कारण उसने आचार्य से कहा—"मैं प्रव्रजित होना चाहता हूं लेकिन श्रामण्य-पर्याय का पालन करने में असमर्थ हूं अतः मैं प्रव्रजित होकर इंगिनीमरण अनशन स्वीकार कर लूंगा।" आचार्य ने कहा—'अपनी पत्नियों को भी गृहस्थावस्था से मुक्त करो।' उसने पत्नियों से पूछा लेकिन कोई भी पत्नी तैयार नहीं हुई। अवन्ति-सुकुमाल ने स्वयं ही लोच कर लिया। यह स्वयं ही लिंग ग्रहण न कर ले इसलिए आचार्य ने उसको मुनि वेश धारण करवाया। श्मशान में एक विशेष स्थान पर उसने भक्तप्रत्याख्यान कर लिया। अवन्ति-सुकुमाल के पैरों में लगे रुधिर के गंध से एक लोमड़ी वहां आई। लोमड़ी एक पैर को खाने लगी तथा दूसरा पैर उसके बच्चे खाने लगे। रात्रि के

---

१. जीभा ५३४, उनि ११६, शांटी प. १२०, १२१।

२. जीभा ५३५, व्यभा ४४२४।

प्रथम प्रहर में उसने जानु को खाया, दूसरे प्रहर में ऊरु तथा तीसरे प्रहर में पेट का मांस खाने लगी। वेदना को समभाव से सहते हुए अवन्ति-सुकुमाल कालधर्म को प्राप्त हो गया। आकाश से गंधोदक एवं पुष्पों की वर्षा होने लगी।

भार्याओं ने आपस में अवन्ति-सुकुमाल के बारे में पूछा। आचार्य ने उन्हें सारी बात बताई। आचार्य *पूरी ऋद्धि के साथ उन पत्नियों के साथ श्मशान में गए। सभी पत्नियां विरक्त होकर प्रव्रजित हो गयीं। उनमें* एक गर्भवती थी, उसको दीक्षा नहीं दी गयी। उसके पुत्र ने देवकुल का निर्माण करवाया। वह आज महाकाल के नाम से प्रसिद्ध है। लोगों ने इसे स्वीकार कर लिया। उत्तरचूलिका में कहा गया है कि वही पाटलिपुत्र है।[1]

### १३. युवक-समूह का अनशन

कुछ मुनि सामूहिक रूप से नदी के किनारे प्रायोपगमन अनशन में स्थित थे। वर्षा होने से नदी के प्रवाह में वे एक संकरे स्रोत में फंस गए। वेदना को समभाव से सहन करते हुए वे वहीं दिवंगत हो गए।[2]

### १४. अनशन में म्लेच्छ का उपद्रव

बत्तीस मित्रों ने एक साथ प्रायोपगमन अनशन को स्वीकार किया। उस द्वीप में अनेक म्लेच्छ रहते थे। एक म्लेच्छ ने सोचा कि ये सभी कल मेरे भोजन में काम आएंगे अत: उसने उनको एक वृक्ष पर लटका दिया। वे उस वेदना को समभाव से सहन करके दिवंगत हो गए।[3]

### १५. शिष्यों की परीक्षा

एक आचार्य ने शिष्यों की परीक्षा लेने का चिन्तन किया। एक बड़ा सा वृक्ष देखकर उन्होंने शिष्यों से कहा कि इस वृक्ष पर चढ़कर कूद जाओ। इस आदेश को सुनकर अपरिणामक शिष्य बोला—"साधु को वृक्ष पर चढ़ना अकल्पनीय है। इस वृक्ष पर चढ़ाकर क्या आप मुझे मारना चाहते हैं?" अतिपरिणामक शिष्य ने कहा—"ऐसा ही होगा मेरी भी यही इच्छा है।" परिणामक शिष्य ने इस आदेश को सुनकर सोचा कि आचार्य स्थावर जीवों की हिंसा की अनुमोदना भी नहीं करते फिर पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा की बात कैसे संभव है? गुरु के इस कथन के पीछे कोई रहस्य होना चाहिए। यह सोचकर शिष्य वृक्ष पर चढ़ने के लिए तत्पर हो गया लेकिन गुरु ने उसे चढ़ने से रोक दिया। गुरु ने उन दोनों शिष्यों को प्रेरणा देते हुए कहा—"तुम लोग मेरे कथन का तात्पर्य नहीं समझे इसीलिए तुम ऐसा कह रहे हो।" मैंने तुम्हें सचित्त वृक्ष पर चढ़ने के लिए नहीं कहा था। मेरे कथन का तात्पर्य था कि भवार्णव में प्राप्त तप, नियम और ज्ञान रूपी वृक्ष पर चढ़कर संसार रूपी कूप का उल्लंघन करो।

इसी प्रकार गुरु के द्वारा ईमली के बीज लाने का आदेश देने पर अपरिणामक शिष्य ने 'ये

---

१. जीभा ५३६, आवचू २ पृ. १५७, हाटी २ पृ. १२०।

२. जीभा ५३७, व्यभा ४४२६।

३. जीभा ५३८, व्यभा ४४२८।

अकल्पनीय हैं' यह कहकर उसे लाने का निषेध कर दिया। अतिपरिणामक शिष्य पोटली बांधकर बीज लेकर आ गया। गुरु ने कहा—"मैंने तुमको उगने में असमर्थ अचित्त ईमली के बीज लाने को कहा था।" इस प्रसंग में परिणामक शिष्य ने गुरु को निवेदन किया कि मैं किस प्रकार के बीज लेकर आऊं? उगने में समर्थ अथवा असमर्थ? साथ ही यह भी बताने की कृपा करें कि बीज कितनी मात्रा में लेकर आऊं?" इस बात को सुनकर गुरु ने कहा—"अभी बीज का प्रयोजन नहीं है, जब मुझे आवश्यकता होगी, तब तुमको बता दूंगा। अभी तो मैंने विनोद में तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ऐसा कहा था।"[1]

### १६. प्रवचन की प्रभावना

एक[2] राजा ने साधुओं को कहा कि ब्राह्मणों के पैरों में पड़ो। उसे बहुत समझाया गया लेकिन वह नहीं माना। तब संघ को एकत्रित किया गया। वहां साधुओं को कहा गया कि जिसके पास प्रवचन-प्रभावना की शक्ति हो, वह उसका प्रयोग करे फिर चाहें वह सावद्य हो या निरवद्य। तब उपस्थित एक साधु ने कहा—'मैं विद्या का प्रयोग करूंगा।' संघ के प्रतिनिधि व्यक्ति राजा के पास गए और निवेदन किया कि जिन ब्राह्मणों के चरण-स्पर्श करने हैं, उन सबको एक स्थान पर एकत्रित कर दो। हम एक साथ उनके चरणों का स्पर्श करेंगे। किसी एक या दो ब्राह्मणों का नहीं। राजा ने वैसा ही किया। एक ओर श्रमण समुदाय एकत्रित हो गया तथा दूसरी ओर ब्राह्मण समुदाय। विद्यातिशय धारी मुनि ने कनेर की लता को हाथ में लेकर उसे अभिमंत्रित करके सुखासन में बैठे ब्राह्मणों की ओर अलातचक्र के आकार में घुमाया। तत्काल ही सारे ब्राह्मणों के सिर नीचे की ओर झुक गए। तब रुष्ट साधु ने राजा को कहा—'भो राजन्! यदि अब भी तुम अपने आदेश को वापस नहीं लेते हो तो इसी प्रकार सेना और वाहन सबको समाप्त कर दूंगा।' तब भयभीत होकर राजा संघ के समक्ष प्रणत हो गया और उसका क्रोध उपशान्त हो गया। अन्य मान्यता के अनुसार वह राजा भी वहां समाप्त हो गया। इस प्रकार प्रवचन की प्रभावना के लिए प्रतिसेवना करता हुआ साधु शुद्ध होता है।[3]

### १७. आर्य वज्र द्वारा श्रावक का उद्धार

अनेक विद्याओं के धारक आचार्य वज्र विहार करते हुए पूर्वदेश से उत्तरापथ की ओर गए। वहां दुर्भिक्ष की स्थिति आ गई। सारे मार्ग व्युच्छिन्न हो गए। सम्पूर्ण संघ एकत्रित होकर आचार्य वज्र के पास आकर बोला—'भंते! हमारा निस्तार करें।' आचार्य पटविद्या के जानकार थे। उन्होंने एक पट (वस्त्र) पर संघ को बिठाया और वह पट आकाश में उड़ने लगा। उस समय शय्यातर चारा लाने के लिए कहीं गया

---

१. जीभा ५७१-८०।

२. यद्यपि इस कथा का भाष्यकार ने कोई संकेत नहीं दिया है। निशीथ भाष्य (४८७) में इसी गाथा के 'अभिवायणा पवयणे' पाठ की व्याख्या में चूर्णिकार ने इस कथा का उल्लेख किया है अतः यहां भी प्रसंगवश इस कथा का निशीथ चूर्णि से अनुवाद कर दिया गया है।

३. जीभा ६०५, निभा ४८७, चू १ पृ. १६३।

हुआ था। उसने संघ को आकाश-मार्ग से जाते देखा। तत्काल अपने हासिये से चोटी को काटकर वह बोला—'भगवन्! मैं भी आपका साधर्मिक हूं।' तब वह भी इस सूत्र को पढ़ते हुए उनके साथ लग गया—

साहम्मियवच्छल्लम्मि, उज्जता उज्जता य सज्झाए।
चरणकरणम्मि य तहा, तित्थस्स पभावणाए य॥[1]

## १८. आर्य वज्र की दीक्षा

अवंती जनपद के तुंबवन नामक सन्निवेश में धनगिरि नामक श्रेष्ठी रहता था। धनगिरि प्रव्रज्या ग्रहण करने को इच्छुक था। उसके माता-पिता निषेध करते थे। जहां-जहां माता-पिता उसके विवाह की बात करते, वहां-वहां उन कन्याओं को वह यह कह कर विपरिणत कर देता कि वह दीक्षा लेगा। उसी नगर में सेठ धनपाल की पुत्री सुनन्दा ने पिता से कहा—'मैं धनगिरि के साथ विवाह करूंगी।' पिता ने उसका विवाह कर दिया। सुनंदा का भाई आर्य समित आचार्य सिंहगिरि के पास पहले ही दीक्षित हो गया था। देवलोक से च्युत होकर एक वैश्रमण सामानिक देव सुनन्दा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। तब धनगिरि ने सुनन्दा से कहा—'गर्भ से उत्पन्न पुत्र के कारण तुम दो हो जाओगी, अकेली नहीं रहोगी।' यह कहकर धनगिरि आचार्य सिंहगिरि के पास दीक्षित हो गया।

गर्भ के नौ मास बीते। सुनन्दा ने बालक का प्रसव किया। वहां आने वाली महिलाएं कहने लगीं 'यदि इस बालक के पिता प्रव्रजित नहीं होते तो अच्छा होता।' बालक ने जब यह सुना कि उसका पिता प्रव्रजित हो गया है तो वह चिंतन की गहराई में उतरा। उसे जातिस्मृति ज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब वह रात-दिन रोने लगा। उसने सोचा—'यदि निरंतर रोता रहूंगा तो परिवार के लोगों को मेरे से विरक्ति हो जाएगी, तब मुझे प्रव्रज्या लेने में सुविधा होगी।' इस प्रकार छह मास बीत गए।

एक बार आचार्य उस नगरी में आए। तब मुनि आर्यसमित और धनगिरि ने आचार्य से पूछा—'भंते! हम दोनों ज्ञातिजनों को दर्शन देने जाना चाहते हैं, आप आज्ञा प्रदान करें।' पक्षी की आवाज सुनकर आचार्य बोले—'आज महान् लाभ होगा। तुम्हें सचित्त या अचित्त—जो भी मिले, वह ले आना।' वे दोनों सुनंदा के यहां भिक्षार्थ गए। लोग उन्हें बुरा-भला कहकर पीड़ित करने लगे। बालक छह महीनों से रो रहा था अतः मां अत्यंत दुःखी थी। अन्य स्त्रियों ने सुनन्दा से कहा—'इस बालक को मुनियों के समक्ष रख दो।' सुनन्दा बोली—'महाराज! मैंने इतने दिनों तक इसकी अनुपालना की, अब आप इसकी संभाल करें।' मुनि बोले—'बाद में तुम्हें पश्चात्ताप न हो।' दूसरे को साक्षी बनाकर मुनियों ने उस छह महीने के बालक को चोलपट्टे की झोली बनाकर उसमें ले लिया। बालक ने रोना बंद कर दिया। वे दोनों मुनि आचार्य के पास आए। भाजन भारी है, यह सोचकर आचार्य ने हाथ पसारे। उन्होंने झोली आचार्य के हाथ में दी। भार के कारण हाथ भूमि पर जा टिका। आचार्य बोले—'प्रतीत होता है कि इसमें वज्र है।' फिर देखा कि उसमें

---

१. जीभा ६१०, आवचू १ पृ. ३९६, हाटी १ पृ. १९७।

देवकुमारसदृश एक बालक है। बालक को देखकर आचार्य ने कहा—'इसका संरक्षण करो। यह भविष्य में जिन-प्रवचन का आधार होगा।' उसका नाम 'वज्र' रखा गया। आचार्य ने बालक साध्वियों को सौंप दिया। उन्होंने शय्यातर को दे दिया। शय्यातर जैसे अपने बालकों को स्नान कराता, आभूषण पहनाता, दूध पिलाता, वैसे ही सबसे पहले बालक वज्र की सार-संभाल करता। इस प्रकार वह बड़ा होने लगा। बालक को प्रासुक -प्रतिकार इष्ट था। साधु वहां से विहार कर अन्यत्र चले गए। सुनन्दा ने शय्यातर से अपना पुत्र मांगा। शय्यातर ने बालक को देने का निषेध कर दिया और कहा—यह बालक अमुक द्वारा दिया गया है अतः यह *हमारी धरोहर है। सुनन्दा वहां आकर रोज उसे स्तनपान कराती। इस प्रकार वह बालक तीन वर्ष का हो गया।*

एक बार मुनि विहार करते हुए वहां आए। राजकुल में बालक विषयक विवाद पहुंचा। शय्यातर ने राजा से कहा—'इन साध्वियों ने मुझे यह बालक सौंपा है।' सारा नगर सुनन्दा के पक्ष में था। वह बहुत सारे खिलौने लेकर वहां उपस्थित हुई। राजा के समक्ष इस विवाद का निपटारा होना था। राजा पूर्वाभिमुख होकर बैठा। उसके दक्षिण दिशा में मुनि तथा वामपार्श्व में सुनन्दा और उसके पारिवारिक जन बैठ गए। राजा ने कहा—'ममत्व से प्रेरित होकर यह बालक जिस ओर जाएगा, वह उसी का होगा।' सभी ने इस बात को स्वीकार किया। पहले कौन बुलाए—इस प्रश्न पर राजा ने कहा—धर्म का आदि है पुरुष इसलिए पहले पुरुष बुलाए। तब नागरिकों ने कहा—'यह इनके परिचित है इसलिए अच्छा हो कि पहले माता बुलाए क्योंकि मां दुष्करकारिका तथा कोमलांगी होती है।' मां आगे आई। उसके हाथ में अश्व, हाथी, रथ, वृषभ आदि खिलौने थे। वे मणि, सोना, रत्न आदि से जटित थे। वे सभी खिलौने बालक को लुभाने वाले थे। उन्हें दिखाती हुई मां सुनन्दा ने बालक की ओर देखकर कहा—'आओ, वज्रस्वामी!' यह सुनकर बालक उस ओर देखता रहा। उसने मन ही मन जान लिया कि यदि मैं संघ की अवमानना करता हूं तो दीर्घसंसारी बनूंगा। अन्यथा मां भी प्रव्रजित होगी। यह सोचकर मां के द्वारा तीन बार बुलाने पर भी बालक वज्र मां की ओर नहीं गया। तब मुनि बने हुए पिता ने कहा—'यदि तुमने प्रव्रज्या का मन बना लिया है तो वज्र! इस ऊपर उठाए हुए धर्मध्वज रजोहरण को आकर ले लो। यह कर्मरूपी रजों का अपहरण करने वाला है।' बालक वज्र तत्काल आगे आया और शीघ्रता से रजोहरण को ग्रहण कर लिया। लोगों ने 'धर्म की जय हो' कहकर जोर से जयनाद किया। तब माता सुनन्दा ने सोचा—'मेरा भाई, पति और पुत्र—ये तीनों प्रव्रजित हो गए। मैं अकेली घर में क्यों रहूं?' यह सोचकर वह भी प्रव्रजित हो गई।

बालक वज्र ने जब स्तनपान करना छोड़ दिया, तब साध्वियों ने उसे प्रव्रज्या दे दी। वह साध्वियों के पास ही रहने लगा। ग्यारह अंग का पाठ करती हुई साध्वियों से उसने ग्यारह अंग सुने। पदानुसारी लब्धि के कारण सुनने मात्र से वह उनका ज्ञाता हो गया। जब बालक आठ वर्ष का हो गया, तब उसे साध्वियों के उपाश्रय से आचार्य के पास रख दिया।[1]

---

१. जीभा ६१२, आवचू १ पृ. ३९०-९२, हाटी १ पृ. १९३, १९४।

## १९. आर्यरक्षित द्वारा पिता की दीक्षा

आर्यरक्षित ने अपने समस्त स्वजनवर्ग को दीक्षित कर दिया लेकिन लज्जा के कारण उनके पिता मुनि वेश को धारण करने के इच्छुक नहीं थे। अनुराग वश वे आर्यरक्षित के साथ रहने लगे। वे सोचते थे—'मैं श्रमणदीक्षा कैसे ले सकता हूं? यहां मेरी लड़कियां, पुत्रवधुएं तथा पौत्र आदि हैं, मैं उन सबके समक्ष नग्न कैसे रह सकता हूं?' आचार्य आर्यरक्षित ने अनेक बार उन्हें प्रव्रज्या की प्रेरणा दी। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—'यदि वस्त्र-युगल, कुंडिका, छत्र, जूते तथा यज्ञोपवीत रखने की अनुमति दो तो मैं प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता हूं।' आचार्य ने उनकी सब मांगें स्वीकार कर लीं। वे प्रव्रजित हो गए। उन्हें चरण-करण स्वाध्याय करने वालों के पास रखा गया। वे कटिपट्टक, छत्र, जूते, कुंडिका तथा यज्ञोपवीत आदि को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे।

एक बार आचार्य चैत्य-वंदन के लिए जाने वाले थे। आचार्य ने पहले से ही बालकों को सिखा रखा था। बाहर निकलते ही सभी बालक एक साथ बोल पड़े—'हम सभी मुनियों को वंदना करते हैं, एक छत्रधारी मुनि को छोड़कर।' तब उस वृद्ध मुनि ने सोचा, ये मेरे पुत्र-पौत्र सभी वंदनीय हो रहे हैं। मुझे वंदना क्यों नहीं की गयी? वृद्ध ने बालकों से कहा—'क्या मैं प्रव्रजित नहीं हूं।' वे बोले—'जो प्रव्रजित होते हैं, वे छत्रधारी नहीं होते।' वृद्ध ने सोचा, ये बालक भी मुझे प्रेरित कर रहे हैं। अब मैं छत्र का परित्याग कर देता हूं। स्थविर ने अपने पुत्र आचार्य से कहा—'पुत्र! अब मुझे छत्र नहीं चाहिए।' आचार्य ने कहा—'अच्छा है, जब गर्मी हो, तब अपने सिर पर वस्त्र रख लेना।' बालक फिर बोले—'कुंडिका क्यों? संज्ञाभूमि में जाते समय पात्र ले जाया जा सकता है।' उन्होंने कुंडिका भी छोड़ दी। यज्ञोपवीत का भी परित्याग कर दिया। आचार्य आर्यरक्षित बोले—'हमें कौन नहीं जानता कि हम ब्राह्मण हैं।' वृद्ध मुनि ने सारी चीजें छोड़ दीं, एक कटिपट्ट रखा। बालक फिर बोल पड़े—'हम सभी को वंदना करते हैं, केवल एक कटिपट्टधारी मुनि को छोड़कर।' वृद्ध मुनि बालकों से बोले—'तुम अपनी दादी-नानी को वंदना करो। मुझे और कोई वंदना करेगा। मैं कटिपट्टक नहीं छोड़ूंगा।'

उस समय वहां एक मुनि ने भक्तप्रत्याख्यान किया था। आचार्य रक्षित ने कटिपट्टक के परिहार के लिए एक उपाय सोचा। उन्होंने साधुओं से कहा—'जो इस मृत मुनि के शव को वहन करेगा, उसे महान् फल होगा।' जिन मुनियों को पहले से ही समझा रखा था, वे परस्पर कहने लगे—'इस शव को हम वहन करेंगे।' आचार्य का स्वजनवर्ग बोला—'इसको हम वहन करेंगे।' वे आपस में कलह करते हुए आचार्य के पास पहुंचे। आचार्य बोले—'क्या मेरे स्वजनवर्ग इस निर्जरा के अधिकारी नहीं हैं? जो तुम लोग शव को वहन करने की बात कह रहे हो।' तब स्थविर पिता ने आर्यरक्षित से पूछा—'क्या इसमें बहुत निर्जरा है?' आचार्य बोले—'हां।' तब स्थविर पिता ने कहा कि शव का वहन मैं करूंगा। आचार्य बोले—'इसमें उपसर्ग उत्पन्न होंगे। बालक नग्न कर देंगे। यदि तुम सहन कर सको तो वहन करो। यदि तुम सहन नहीं कर सकोगे तो हमारा अपमान होगा, अच्छा नहीं लगेगा।' इस प्रकार आचार्य ने स्थविर को स्थिर कर दिया।

स्थविर बोला—'मैं सहन करूंगा।' जब उसने शव को उठाया, तब उसके पीछे-पीछे मुनि उठे। बालकों ने एक बालक से कहा—'इनका कटिवस्त्र खोल दो।' उसने कटिवस्त्र खोलना शुरू कर दिया। दूसरे बालक ने कटिवस्त्र आगे करके डोरे से बांध दिया। वह लज्जित होकर भी शव का वहन करने लगा। उसने सोचा—'पीछे से मेरी पुत्रवधुएं देख रही हैं। उपसर्ग है, किन्तु मुझे सहन करना है, इस दृष्टि से वह चलता रहा और पुनः उसी अवस्था में लौट आया।' स्थविर को बिना शाटक देख आचार्य ने पूछा—'अरे यह क्या?' स्थविर बोला—'उपसर्ग उत्पन्न हुआ था।' आचार्य बोले—'क्या दूसरा शाटक मंगवाएं?' स्थविर बोला—'अब शाटक का क्या प्रयोजन? जो देखना था, वह देख लिया। अब चोलपट्टक ही पहनूंगा।' उसे चोलपट्टक दे दिया गया।

वह स्थविर भिक्षाचर्या के लिए नहीं जाता था। आचार्य ने सोचा—'यदि यह भिक्षाचर्या नहीं करेगा तो कौन जानता है, कब क्या हो जाए? फिर यह एकाकी क्या कर सकेगा? इसे निर्जरा भी तो करनी है। इसलिए ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे यह भिक्षा के लिए जाए। इससे आत्म-वैयावृत्य होगी। फिर यह पर-वैयावृत्य भी कर सकेगा।' एक दिन आचार्य ने मुनियों से कहा—'मैं अन्यत्र जा रहा हूं। तुम सभी स्थविर के समक्ष एकाकी-एकाकी भिक्षा के लिए जाना।' सभी ने स्वीकार कर लिया। आचार्य ने दूसरे गांव जाते हुए साधुओं से कहा—'स्थविर की सार-संभाल रखना।' आचार्य चले गए। सभी मुनि एकाकी रूप से अलग-अलग भिक्षा के लिए गए, भक्तपान ले आए और अकेले भोजन करने लगे। स्थविर निरन्तर सोचते रहे—'यह मुनि मुझे भोजन देगा, यह मुनि मुझे भोजन देगा।' परन्तु किसी ने भोजन नहीं दिया। स्थविर क्रुद्ध हो गए परन्तु कुछ नहीं बोले। मन ही मन स्थविर ने सोचा-'आचार्य को कल आने दो, फिर देखना, इन मुनियों को क्या-क्या उपालंभ दिलवाता हूं।' दूसरे दिन आचार्य आ गए। आचार्य ने स्थविर से पूछा—'स्वास्थ्य कैसा रहा, दिन कैसा बीता?' स्थविर ने कहा—'यदि तुम नहीं रहो तो मैं एक दिन भी जीवित नहीं रह सकता। ये मेरे पुत्र-पौत्र जो मुनि हैं, उन्होंने भी मुझे कुछ आहार लाकर नहीं दिया।' तब आचार्य ने स्थविर के सामने उन सबकी निर्भर्त्सना की। उन्होंने उसे स्वीकार किया। आचार्य बोले—'पात्र लाओ! मैं स्वयं स्थविर पिता मुनि के लिए पारणक लेकर आता हूं।'

तब स्थविर ने सोचा—'आचार्य कहां-कहां घूमेंगे? ये कभी लोगों के समक्ष भिक्षा के लिए नहीं गए हैं। मैं ही भिक्षा के लिए जाऊं।' स्थविर स्वयं भिक्षा लेने गए। चिरकाल तक गृहवास में रहने के कारण लोगों से उनका परिचय था। वे घूम रहे थे। उन्हें ज्ञात नहीं था कि द्वार कौनसा है और अपद्वार कौनसा? घूमते-घूमते वे एक घर में अपद्वार से प्रविष्ट हुए। उस घर में उस दिन लड्डू (मिठाई) बने थे। गृहस्वामी बोला—'तुम मुनि हो, अपद्वार से कैसे आए?' स्थविर बोला—'आती हुई लक्ष्मी के लिए क्या द्वार और क्या अपद्वार, जिस रास्ते से वह आए, वही सुंदर है।' गृहस्वामी ने अपने व्यक्तियों से कहा—'इनको भिक्षा दो।' वहां स्थविर को बत्तीस मोदक मिले। वे उन्हें लेकर स्थान पर आए, भिक्षाचरी की आलोचना की। आचार्य बोले—'परंपर से शिष्य-परंपरा चलाने वाले तुम्हारे बत्तीस शिष्य होंगे।' आचार्य ने स्थविर से पूछा—

'गृहस्थावस्था में यदि किसी राजकुल से विशेष द्रव्य प्राप्त होता तो किसको देते?' स्थविर बोला—'ब्राह्मणों को।' आचार्य बोले—'इसी प्रकार ये मुनि भी पूजनीय हैं। तुम्हारा यह प्रथम लाभ इनको दो।' स्थविर ने सभी साधुओं में बत्तीस मोदक बांट दिए। स्थविर स्वयं के लिए भक्तपान लाने पुनः प्रस्थित हुए। उन्हें घृतमधु संयुक्त परमान्न मिला। उसने उसे स्वयं खाया। इस प्रकार वह स्थविर मुनि स्वयं की भिक्षा के लिए घूमते परन्तु अनेक बाल, दुर्बल मुनियों के लिए आधारभूत बन गए।[1]

### २०. मनोगुप्ति : जिनदास कथा

जिनदास नामक श्रेष्ठीपुत्र था। वह श्रावक के व्रतों का पालन करता था। एक बार उसने यानशाला[2] में सर्वरात्रिकी प्रतिमा स्वीकार की। अनुशासन को सहन न करने के कारण उसकी पत्नी स्वैरिणी हो गई थी। वह उसी यानशाला में अपने उपपति (जार) के साथ आई। उसके साथ लोहे का कीलयुक्त पलंग था। अंधेरे में दिखाई न देने के कारण उसने जिनदास के पैर पर मंचक को स्थापित किया और उपपति के साथ अनाचार का सेवन करने लगी। पर्यंक की कीलिका और भार के कारण उसका पैर लहुलुहान हो गया। अत्यन्त वेदना होने पर भी उसने समभाव से उस वेदना को सहन किया। पत्नी के दुराचरण को देखकर भी उस स्थिरमति जिनदास के मन में दुश्चिन्तन पैदा नहीं हुआ।[3]

### २१. वचनगुप्ति : साधु का वाक्संयम

एक साधु अपने ज्ञातिजनों को सम्भालने हेतु उनकी पल्लि में जाने लगा। रास्ते में उसे चोरों ने पकड़ लिया पर चोर सेनापति ने उसे यह कहकर छोड़ दिया कि इस बारे में किसी से कुछ मत कहना। यज्ञयात्रा प्रस्थित हुई। साधु के परिजन विवाह के निमित्त कहीं जा रहे थे अतः वे साधु को रास्ते में ही मिल गए लेकिन उसने चोरों के बारे में उन्हें कुछ नहीं बताया। वह साधु भी माता-पिता और भाई आदि के साथ वापिस लौट गया। रास्ते में चोरों ने ज्ञातिजनों को पकड़ लिया और सारा धन चुरा लिया। चोरों ने जब साधु को देखा तो कहा कि यह वही साधु है, जो हमारे द्वारा छोड़ा गया था। यह सुनकर मां ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—"क्या यह साधु तुम लोगों के द्वारा पकड़ा जाकर छोड़ा गया है?" चोरों ने कहा—"हां, यह वही साधु है।" मां ने कहा—"छुरी लेकर आओ, मैं अपने स्तन काटूंगी।" चोर सेनापति ने पूछा—"तुम अपने स्तन क्यों काटना चाहती हो?" मां ने कहा—"मैंने इसको दूध पिलाया है, यह कुपुत्र है। इसने चोरों को देखकर भी इस विषय में हमको कोई सूचना नहीं दी। यह मेरा पुत्र कैसे हुआ?" जब मुनि से पूछा गया कि तुमने ज्ञातिजनों को इसकी सूचना क्यों नहीं दी तो मुनि ने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। धर्मकथा से प्रेरित होकर चोर सेनापति उपशान्त हो गया। उसने माता आदि सबको छोड़ दिया तथा सारा धन समर्पित कर दिया। साधु को ऐसी ही वचनगुप्ति करनी चाहिए।[4]

---

१. जीभा ६१२, आवचू १ पृ. ४०६-०९, हाटी १ पृ. २०३-०५।
२. आवश्यक चूर्णि के अनुसार उसने शून्यगृह में प्रतिमा स्वीकार की।
३. जीभा ७८७-९०, आवचू २ पृ. ७८।
४. जीभा ७९१-९६, आवचू २ पृ. ७८।

**२२. कायगुप्ति : स्थण्डिल भूमि की यतना**

एक साधु सार्थ के साथ विहार कर रहा था। उसे मार्ग में कहीं भी स्थण्डिल भूमि नहीं मिली। बहुत खोज करने पर उसे पैर टिकाने जितना स्थान मिला। उसने एक पैर पर स्थित होकर सारी रात बिता दी। उसका सारा शरीर अकड़ गया लेकिन उसने अस्थण्डिल भूमि में पैर नहीं रखा। साधु को इसी प्रकार कायगुप्त होना चाहिए।[1]

**२३. कायगुप्ति : देव-परीक्षा**

एक साधु ईर्यासमिति में बहुत सजग था। वह किसी भी भय की परिस्थिति में गति-भेद नहीं करता था। एक दिन सुधर्मा-सभा में इन्द्र ने उसकी प्रशंसा की। इन्द्र की बात पर एक देवता को विश्वास नहीं हुआ। वह साधु की परीक्षा करने आया। देवता ने साधु के रास्ते में अनेक सूक्ष्म मेंढ़कों की विकुर्वणा कर दी। साधु ने यतनापूर्वक धीरे-धीरे अन्य स्थान पर उनको संक्रमित कर दिया।

तत्पश्चात् देवता ने हाथी की विकुर्वणा की। वह उसके पीछे चिंघाड़ता हुआ आने लगा लेकिन फिर भी साधु की गति में कोई अंतर नहीं आया। हाथी ने साधु को सूंड से ऊपर उठाकर नीचे पटक दिया। नीचे गिरता हुआ भी वह साधु बोला—"यदि मेरे द्वारा जीवों की विराधना हुई हो तो मेरे पाप मिथ्या हों।" नीचे गिरते हुए भी उसने स्वयं की चिंता न करके जीवों की विराधना न हो, इस बात का चिन्तन किया। साधु की ईर्या समिति में सजगता देखकर देव संतुष्ट होकर वंदना करके चला गया।[2]

**२४. ईर्यासमिति : अर्हन्नक साधु की सजगता**

अर्हन्नक नामक साधु ईर्या समिति में सजग था। एक बार वह गड्ढे में गिर गया। प्रान्त देवता के छल से उसका पांव छिन्न हो गया लेकिन अन्य देवता ने उसके पैर का संधान कर दिया।[3]

**२५. भाषा समिति : साधु की जागरूकता**

एक साधु भाषा समिति में अत्यन्त सजग था। वह भिक्षार्थ निकला। उस नगर पर किसी अन्य राज्य के राजा ने आक्रमण कर दिया। नगर पर चढ़ाई करने वाले किसी सैनिक ने पूछा—"यहां कितने हाथी और घोड़े हैं?" कितनी धन राशि, काष्ठ तथा धान्य आदि हैं? नगर सुखी है अथवा दु:खी? राजा से रुष्ट नागरिक कितने हैं? भाषा समिति में सजग उस साधु ने उत्तर दिया कि मैं स्वाध्याय और ध्यान-योग में लीन रहता हूं अत: मैं इस बारे में कुछ नहीं जानता हूं। सैनिक ने पुन: साधु से पूछा—"भिक्षार्थ घूमते हुए तुमने कुछ नहीं देखा, कुछ नहीं सुना, यह कैसे संभव है?" मुनि ने उत्तर देते हुए कहा—'मुनि बहुत बातें कान से सुनता है, अनेक दृश्य आंखों से देखता है लेकिन देखा या सुना हुआ सब कुछ मुनि कह नहीं सकता।'[4]

---

१. जीभा ७९७, ७९८।
२. जीभा ७९९-८०२।
३. जीभा ८१९।
४. जीभा ८२०-२३, आवचू २ पृ. ९३, ९४।

## २६. एषणा समिति : नंदिषेण कथानक

वसुदेव किसी अन्य जन्म में मगध के नंदिग्राम[1] में गौतम नामक उपदेष्टा ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम वारुणि था। एक बार वह गर्भवती हुई। जब गर्भ छह माह का था, तभी ब्राह्मण दिवंगत हो गया। बालक का जन्म हुआ, उसका नाम नंदिषेण रखा गया। ननिहाल में मामा ने उसका भरण-पोषण किया। बड़ा होने पर बालक मामा के यहां काम करने लगा। लोगों ने बालक से कहा—"तुम मामा के यहां कार्य करते हो पर तुम्हारा यहां कुछ नहीं है।" बालक ने इस संदर्भ में अपने मामा से बात की। मामा ने कहा—'तुम लोगों की बात में मत आओ मेरी तीन पुत्रियां हैं, उनमें जो ज्येष्ठा है, उसके साथ तुम्हारा विवाह कर दूंगा।' मामा की बात सुनकर वह निश्चिन्त होकर कार्य करने लगा। विवाह का समय आने पर बड़ी पुत्री ने उसके साथ विवाह की अनिच्छा प्रकट कर दी। मामा ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—"तुम चिन्ता मत करो, मैं दूसरी लड़की के साथ तुम्हारी शादी कर दूंगा।" दूसरी पुत्री ने भी उसके साथ विवाह की अनिच्छा व्यक्त कर दी। इसी प्रकार तीसरी पुत्री ने भी अपनी असहमति प्रकट कर दी। इस घटना से नंदिषेण विरक्त हो गया।

एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधुओं के साथ नंदिवर्धन आचार्य उस गांव में आए। साधु भिक्षार्थ गए। नंदिषेण ने साधुओं से पूछा—"आप कौन हैं? आपका धर्म कैसा है?" साधुओं ने कहा—"इस प्रश्न का उत्तर आचार्य देंगे। वे अभी उद्यान में हैं, वहां जाकर उनसे पूछ लो।" नंदिषेण वहां गया और आचार्य के समक्ष जिज्ञासा प्रकट की। आचार्य से समाधान सुनकर वह उनके पास प्रव्रजित हो गया। उसने बेले-तेले की तपस्या अंगीकार करके यह अभिग्रह ग्रहण किया कि मैं बाल और ग्लान आदि की सेवा करूंगा। दीक्षित होते ही नंदिषेण सेवा के कार्य में संलग्न हो गया। वृद्ध, ग्लान और शैक्ष की सेवा करने से उसका यश फैलने लगा।

एक बार इंद्र ने सुधर्मासभा में उसके गुणों की उत्कीर्तना करते हुए कहा—"नंदिषेण मुनि अदीन भाव से ग्लान, वृद्ध आदि साधुओं की सेवा में उपस्थित रहता है। जिस साधु को जिस वस्तु की अपेक्षा रहती है, वह उसको लाकर देता है।" एक मिथ्यादृष्टि देव को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उसने दो श्रमणों के रूप की विकुर्वणा की। एक श्रमण अतिसार रोग से ग्रसित होने के कारण अटवी में स्थित हो गया, दूसरा श्रमण साधुओं के समक्ष जाकर बोला—"एक साधु अटवी में ग्लान हो गया है। जो साधु उसकी सेवा करना चाहे, वह अतिशीघ्र तैयार हो जाए। नंदिषेण ने यह बात सुनी। बेले की तपस्या का पारणा करने हेतु आहार आया हुआ था लेकिन उसने पारणा न करके मुनि से पूछा कि वहां क्या कार्य करना है? किस

---

१. आवश्यकचूर्णि में नंदिग्राम के स्थान पर शालिग्राम नाम का उल्लेख है तथा वहां उपदेष्टा ब्राह्मण के स्थान पर बिना नामोल्लेख के गाथापति का उल्लेख है। (आवचू २ पृ. ९४)

वस्तु की अपेक्षा है?'' आए हुए श्रमण ने कहा—''वहां पानी की अपेक्षा है।'' अटवी स्थित मुनि प्यास से व्याकुल है। मुनि नंदिषेण बिना पारणा किए पानक की गवेषणा हेतु उपाश्रय से निकला। देव ने पानक को अनेषणीय कर दिया। दूसरे घर जाने पर भी उसको प्रासुक और एषणीय पानक नहीं मिला। तीसरी बार मुनि को शुद्ध पानी की प्राप्ति हुई। अनुकम्पा के साथ नंदिषेण त्वरित गति से अटवी की ओर प्रस्थित हुआ। उसे अटवी में साधु दिखाई नहीं दिया। उसने तीव्र स्वर से आवाज लगाई। देव ने अतिसार रोग युक्त मल लिप्त साधु की विकुर्वणा की। ग्लान मुनि ने कठोर शब्दों में नंदिषेण को उपालम्भ देते हुए कहा—''हे मंदभाग्य! तुम साधुओं के उपकारी के रूप में प्रसिद्ध हो लेकिन मेरी इस अवस्था को सुनकर भी तुम्हारा आहार के प्रति इतना लोभ है? तुमने इतना विलम्ब क्यों किया?''

बिना किसी प्रतिक्रिया के ग्लान साधु के कठोर वचनों को अमृत की भांति मानते हुए नंदिषेण ने मुनि के चरणों में प्रणिपात करके क्षमा मांगी फिर मल से लिप्त मुनि के शरीर को साफ किया। नंदिषेण ने ग्लान मुनि को कहा—''मुनिवर! अगले गांव में चलकर चिकित्सा की व्यवस्था करेंगे, जिससे आप शीघ्र ही स्वस्थ हो जाएंगे।'' ग्लान साधु बोला—''मैं चलने में असमर्थ हूं।'' नंदिषेण ने विनम्रता से कहा—''आप मेरी पीठ पर बैठ जाएं।'' मुनि नंदिषेण की पीठ पर चढ़ गया। चलते-चलते साधु ने नंदिषेण की पीठ पर अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त मल का विसर्जन कर दिया और देवशक्ति से अपने शरीर को भारी बना लिया। मुनि ने कठोर शब्दों में कहा—''शीघ्र चलने से मेरे पूरे शरीर में दर्द हो गया।'' मुनि पग-पग पर बिना कारण उस पर गुस्सा करता रहा लेकिन नंदिषेण मुनि पूर्णतः उपशान्त रहा।

नंदिषेण मुनि ने न कठोर वचनों पर ध्यान दिया और न ही असह्य दुर्गन्ध से उसका मन विचलित हुआ। उस दुर्गन्ध को चंदन की भांति मानते हुए साधु को हुई असाता के लिए मिथ्या दुष्कृत किया। चलते समय नंदिषेण के मन में एक ही चिन्तन था कि मैं किसी भी प्रकार से मुनि के मन में समाधि उत्पन्न कर सकूं। ग्लान मुनि अनेकविध प्रयत्नों से भी नंदिषेण के मन को क्षुब्ध नहीं कर सका। अंत में ग्लान मुनि अपने मूल दिव्य स्वरूप में प्रकट हुआ और मुनि की प्रशंसा करके चला गया। दूसरा मुनि भी मूल स्वरूप में प्रकट हुआ। उसने गुरु के समक्ष आलोचना करके नंदिषेण मुनि की धन्यता एवं एषणा के प्रति जागरूकता का अनुमोदन किया।[1]

---

१. जीभा ८२६-४६, आवचू २ पृ. ९४, आवश्यक चूर्णि में एषणा समिति के अन्तर्गत निम्न कथा का और उल्लेख मिलता है। शोध विद्यार्थियों की सुविधा हेतु उस कथा का अनुवाद भी यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

एक बार पांच साधु दीर्घ अटवी के मार्ग से विहार कर रहे थे। रास्ते में वे भूख-प्यास के परीषह से क्लान्त हो गए। अटवी को अतिक्रान्त करके वे वैताली ग्राम में पहुंचे। वहां उन्होंने शुद्ध पानक की एषणा की लेकिन वहां के लोगों ने अपने घर के पानक को अनेषणीय कर दिया। मुनियों को एषणीय पानक नहीं मिला। पांचों मुनि पानी के अभाव में दिवंगत हो गए लेकिन उन्होंने एषणा समिति में दोष नहीं लगाया। (आवचू २ पृ. ९४, ९५)

### २७. आदान निक्षेप समिति[1] : प्रतिलेखना क्यों?

एक गांव में कुछ साधुओं का पदार्पण हुआ। एक साधु ने बिना प्रतिलेखना किए पात्रों को एक स्थान पर रख दिया। उनमें से एक साधु प्रतिलेखना करके पात्र रखने लगा तो वह साधु बोला—"इन प्रेक्षित पात्र आदि की पुनः प्रतिलेखना क्यों कर रहे हो, क्या यहां सांप है?" इस बात को सुनकर सन्निहित क्षेत्र रक्षक देवता ने सांप की विकुर्वणा कर दी। जब प्रथम साधु ने उपकरणों को खोला तो उसे सांप दिखाई दिया। उसे अपनी त्रुटि का अहसास हुआ। उसने साधु के समक्ष मिथ्याकार का उच्चारण किया।[2]

### २८. परिष्ठापना समिति : मुनि धर्मरुचि

मुनि धर्मरुचि ने दीक्षित होते ही मल-मूत्र आदि के उपसर्ग में जागरूक रहने का अभिग्रह ग्रहण किया। उसकी जागरूकता से एक बार सुधर्मा-सभा में इंद्र का आसन चलित हुआ। इन्द्र ने उसकी देवताओं के मध्य प्रशंसा की। एक मिथ्यादृष्टि देव को इंद्र की बात पर श्रद्धा नहीं हुई। वह मर्त्यलोक में आया और उसने साधु के उत्सर्ग स्थान में चींटियों की विकुर्वणा कर दी। प्रस्रवण की बाधा से पीड़ित होने पर दूसरे साधु ने कहा—'तुम प्रस्रवण का परिष्ठापन कर दो।' साधु प्रस्रवण को परिष्ठापित करने हेतु जहां-जहां गया, वहां उसे चींटियां दिखाई दीं। जब साधु क्षेत्र की प्रतिलेखना करते-करते क्लान्त हो गया तो वह उस प्रस्रवण को पीने लगा। देवता मूल रूप में प्रकट हुआ और उसे रोकते हुए कहा कि तुम इसे मत पीओ। मैं तुम्हारी दृढ़ता की परीक्षा ले रहा था। देव धर्मरुचि मुनि को भक्तिपूर्वक वंदना करके लौट गया।[3]

### २९. प्रतिसेवना : चोर-दृष्टान्त

किसी गांव में बहुत डाकू रहते थे। एक बार वे किसी सन्निवेश से गाय चुराकर अपने गांव की ओर जाने लगे। रास्ते में उनको अन्य डाकू भी मिल गए। वे भी उनके साथ चलने लगे। चलते-चलते वे अपने गांव के पास आ गए। गांव की सीमा आने पर वे निर्भय हो गए। भोजन-वेला में उन्होंने कुछ गायों को मारकर उनका मांस पकाना प्रारंभ किया। इसी बीच कुछ अन्य पथिक भी वहां आ गए। डाकुओं ने उन्हें भी भोजन हेतु आमंत्रित किया। गोमांस पकने पर कुछ दस्यु एवं पथिकों ने उसे खाना प्रारंभ कर दिया। गोमांस का भक्षण बहुत बड़े पाप का हेतु है, यह सोचकर कुछ पथिकों ने वह भोजन नहीं किया। केवल दूसरों को परोसने का कार्य किया। इसी बीच हाथ में तलवार धारण किए हुए कुछ राजपुरुष वहां आ गए। उन्होंने

---

१. आवश्यक चूर्णि भाग २ पृ. ९५ में आदान-निक्षेप समिति के अन्तर्गत निम्न कथा का उल्लेख है। किसी आचार्य के पास एक श्रेष्ठि-पुत्र दीक्षित हुआ। पांच सौ साधुओं के संघ में वह सबसे छोटा था। पांच सौ साधुओं में कोई भी आता तो वह शैक्ष मुनि उनके दंड को उठाकर भूमि का प्रमार्जन करके उसे रखता था। जो कोई मुनि आता या बाहर जाता तो वह शैक्ष सभी के दंड लेकर उनको व्यवस्थित रखता था। वह शैक्ष साधु यतनापूर्वक चपलता रहित होकर त्वरित गति से यह क्रिया करता था। बहुत समय बीतने पर भी वह इस क्रिया को करता हुआ क्लान्त या श्रान्त नहीं हुआ। यह चौथी समिति की जागरूकता का उदाहरण है।

२. जीभा ८५०-५३, आवचू २ पृ. ९५।

३. जीभा ८५५-६०, आवचू २ पृ. ९५।

चोरों के साथ भोजन करने वालों और परोसने वालों को भी पकड़ लिया। जिन पथिकों ने कहा कि हम तो रास्ते में मिले थे, हम चोर नहीं हैं, उनको राजपुरुषों ने कहा कि तुम गोमांस को परोसने वाले हो अतः चोर की भांति अपराधी हो। उन सबको प्राणदंड की सजा दी गई।[1]

### ३०. प्रतिश्रवण : राजपुत्र-दृष्टान्त

गुणसमृद्ध नगर में महाबल नामक राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम शीला था। उसके बड़े पुत्र का नाम विजितसमर था। राज्य को प्राप्त करने के लिए उसने पिता के बारे में गलत ढंग से सोचना प्रारंभ कर दिया—'यह मेरा पिता वृद्ध होते हुए भी मरण को प्राप्त नहीं होता, लगता है यह दीर्घजीवी होगा। मैं अपने सैनिकों की सहायता से इसको मारकर राजगद्दी पर बैठूंगा।' उसने अपने सैनिकों के साथ मंत्रणा करनी प्रारंभ कर दी। उनमें से कुछ सैनिक बोले—'राजकुमार! हम आपकी सहायता करेंगे।' दूसरे बोले—'आप इस प्रकार कार्य करें तो ठीक रहेगा।' कुछ सैनिक उस समय मौन रहे। कुछ सैनिकों को यह बात अच्छी नहीं लगी अतः उन्होंने राजा को सारी स्थिति का निवेदन कर दिया। राजा ने सहायता करने वाले, सुझाव देने वाले तथा मौन रहने वाले सैनिकों के साथ ज्येष्ठ राजकुमार को अग्नि में डाल दिया। जिन सैनिकों ने आकर इस बात की सूचना दी, उनको सम्मानित किया।[2]

### ३१. संवास : पल्ली-दृष्टान्त

बसन्तपुर नामक नगर में अरिमर्दन राजा और प्रियदर्शना पटरानी थी। बसन्तपुर के पास भीमा नामक पल्ली थी, वहां अनेक भील, दस्यु और वणिक् रहते थे। वे दस्यु सदैव अपनी पल्ली से निकलकर अरिमर्दन राजा के नगर में उपद्रव करते थे। राजा का कोई भी सामन्त और माण्डलिक उनका निग्रह नहीं कर सका। नगर में होने वाले उपद्रवों को सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध होकर साधन-सामग्री के साथ राजा स्वयं भील दस्युओं की पल्ली की ओर गया। भील सामने आकर संग्राम के लिए उद्यत हो गए। प्रबल सेना के कारण राजा ने उत्साहित होकर उन सबको पराजित करके मारना प्रारंभ कर दिया। उनमें से कुछ मृत्यु को प्राप्त हो गए तथा कुछ वहां से भाग गए। राजा ने क्रोधपूर्वक उस पल्ली पर अपना अधिकार कर लिया। वहां रहने वाले वणिकों ने सोचा कि हम चोर नहीं हैं अतः राजा हमारा क्या कर सकेगा? यही सोचकर उन्होंने वहां से पलायन नहीं किया। राजा ने उनको भी बंदी बना लिया। वणिकों ने राजा से निवेदन किया—'हम बनिए हैं, चोर नहीं।' उनकी बात सुनकर राजा ने कहा—'तुम लोग चोर से भी अधिक अपराधी हो क्योंकि तुम अपराध करने वाले चोरों के साथ रहते हो।' राजा ने उन सब वणिकों का निग्रह कर लिया।[3]

### ३२. अनुमोदना : राजदुष्ट-दृष्टान्त

श्रीनिलय नगर में गुणचन्द्र नामक राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम गुणवती था। उस

---

१. जीभा ११२९ पिनि ६८/७, ८ मटी प. ४७।
२. जीभा ११२९, पिनि ६८/९ मटी प. ४७।
३. जीभा ११२९, पिनि ६९/१ मटी प. ४८, ४९।

नगर में सुरूप नामक वणिक् निवास करता था। उसका शरीर कामदेव से भी अधिक सुंदर था। सुंदर स्त्रियां उसकी अभिलाषा करती रहती थीं। वह परस्त्री में अनुरक्त रहता था। एक बार वह राजा के अंत:पुर के समीप से गुजर रहा था। अंत:पुर की रानियों ने रागयुक्त दृष्टि से उसे देखा। उसने भी उसी दृष्टि से उनको देखा। उनका आपस में अनुराग हो गया। दूती के माध्यम से वह प्रतिदिन उनके साथ भोग भोगने लगा। राजा के पास यह वृत्तान्त पहुंचा। जब वह अंत:पुर में पहुंचा तो राजपुरुषों ने उसको पकड़ लिया। वह जिन आभूषणों को पहनकर अंत:पुर में प्रविष्ट हुआ था, उन्हीं आभूषणों से युक्त उसको सब लोगों के समक्ष नगर के चौराहे पर अपमानपूर्वक मार दिया गया। अपने अंत:पुर का विनाश देखकर राजा बहुत दु:खी हो गया। उसका प्राणघात करने पर भी राजा का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उसने अपने दूतों को बुलाकर कहा—'नगर में जाकर ज्ञात करो कि कौन उस दुष्ट की प्रशंसा कर रहा है और कौन उसकी निंदा कर रहा है।' दोनों की मुझे जानकारी दो। कार्पटिक वेश में राजपुरुष पूरे नगर में घूमने लगे। कुछ लोग कह रहे थे कि जन्म लेने वाला हर व्यक्ति मरता है। हम लोग अधन्य हैं क्योंकि अंत:पुर की रानियां कभी हमारी दृष्टिपथ पर नहीं आतीं लेकिन वह व्यक्ति धन्य है, जो चिरकाल तक उनका सुख भोगकर मरा है। दूसरे कुछ व्यक्ति कहने लगे—'यह व्यक्ति निंदा का पात्र है, अधन्य है जिसने उभय लोक के विरुद्ध कार्य किया है। राजा की रानियां मां के समान होती हैं। उनके साथ भोग भोगने वाला शिष्ट व्यक्तियों के द्वारा प्रशंसा का पात्र कैसे हो सकता है?'

राजपुरुषों ने उन दोनों प्रकार के लोगों को राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। जो उसकी निंदा करने वाले थे, उनको बुद्धिमान् मानकर राजा ने सम्मानित किया तथा प्रशंसा करने वालों को मौत के मुख में डाल दिया।[1]

### ३३. आधाकर्म : शाल्योदन-दृष्टान्त

संकुल नामक गांव में जिनदत्त नामक श्रावक रहता था। उसकी पत्नी का नाम जिनमति था। उस गांव में कोद्रव और रालक धान्य अधिक मात्रा में उगते थे। साधु लोग भी वही भोजन ग्रहण करते थे। गांव का उपाश्रय स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित सम भूतल वाला तथा अत्यन्त रमणीय था। उस उपाश्रय में स्वाध्याय भी निर्विघ्न रूप से होता था। उस गांव में शाल्योदन नहीं था अत: किसी भी आचार्य का प्रवास वहां नहीं होता था।

एक दिन संकुल गांव के पास भद्रिल नामक ग्राम में आचार्य का आगमन हुआ। उन्होंने क्षेत्र-प्रतिलेखन के लिए साधुओं को संकुल ग्राम में भेजा। साधुओं ने श्रावक जिनदत्त के पास आकर वसति की याचना की। जिनदत्त ने अत्यन्त प्रसन्नता से कल्पनीय वसति में रहने की अनुज्ञा प्रदान की। साधुओं ने स्थण्डिल भूमि एवं सम्पूर्ण गांव की प्रतिलेखना की। उपाश्रय में आकर जिनदत्त श्रावक ने ज्येष्ठ साधु से

---

१. जीभा ११२९, पिनि ६९/३ मटी प. ४९।

पूछा—'क्या आपको यह क्षेत्र पसंद आया? क्या आचार्य इस क्षेत्र में पदार्पण कर सकते हैं?' उनमें से ज्येष्ठ साधु ने उत्तर दिया—'वर्तमानयोग से।' उनके उत्तर से जिनदत्त को ज्ञात हुआ कि इनको क्षेत्र पसंद नहीं आया है। जिनदत्त ने सोचा कि अन्य साधु भी यहां आते हैं लेकिन यहां कोई रुकता नहीं है, इसका कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। मूल कारण को जानने के लिए उसने किसी अन्य साधु को पूछा। उसने सरलतापूर्वक सारी बात बताते हुए कहा—'इस क्षेत्र में सारे गुण हैं, यह क्षेत्र गच्छ के योग्य है लेकिन यहां आचार्य के योग्य शाल्योदन नहीं हैं।' इस बात को जानकर जिनदत्त श्रावक दूसरे गांव से शालि-बीज लेकर आया और अपने गांव में उनका वपन कर दिया। वहां प्रभूत शालि की उत्पत्ति हुई।

एक बार विहार करते हुए उन साधुओं के साथ कुछ अन्य साधु भी उस गांव में आए। श्रावक जिनदत्त ने सोचा—'मुझे इन साधुओं को शाल्योदन की भिक्षा देनी चाहिए, जिससे आचार्य के योग्य क्षेत्र समझकर ये साधु आचार्य को भी इस क्षेत्र में लेकर आएं। यदि मैं केवल अपने घर से शाल्योदन दूंगा और अन्य घरों में कोद्रव आदि धान्य की प्राप्ति होगी तो साधुओं को आधाकर्म की शंका हो जाएगी।' उसने सभी स्वजनों के घर शाल्योदन भेजकर कहा—'तुम स्वयं शाल्योदन पकाकर खाओ और साधुओं को भी दान दो।' यह बात सब बालकों को भी ज्ञात हो गई। साधु जब भिक्षार्थ गए तो उन्होंने बालकों के मुख से अनेक बातें सुनीं। कोई बालक बोला—'ये वे साधु हैं, जिनके लिए घर में शाल्योदन बना है।' अन्य बालक बोला—'साधु संबंधी शाल्योदन को मेरी मां ने मुझे दिया।' कहीं-कहीं कोई दानदात्री श्राविका बोली—'यह परकीय शाल्योदन दिया, अब मेरे घर की भिक्षा भी लो।' कोई गृहस्वामी अपनी पत्नी से बोला—'परकीय शाल्योदन भिक्षा में दे दिया, अब अपना बनाया हुआ आहार भी भिक्षा में दो।' कोई अनभिज्ञ बालक अपनी मां से कहने लगा—'मुझे साधु से संबंधित शाल्योदन दो।' दरिद्र व्यक्ति सहर्ष बोला—'हमारे यहां भक्त का अभाव होने पर भी शालि भक्त बना है। यह अवसर पर अवसर के अनुकूल बात हुई है।' कहीं कोई बालक अपनी मां से बोला—'मां! शालि तण्डुलोदक साधु को दो', दूसरा बालक बोला—'साधु को शालिकाञ्जिक दो।' सबके मुख से अनेक प्रकार की बातें सुनकर साधुओं ने लोगों से पूछा—'यह क्या बात है?' पूछने पर उन्होंने ऋजुता से सारी बात बता दी कि यह शाल्योदन साधुओं के लिए बनाया गया है। 'सारा शाल्योदन आधाकर्मिक है'—यह जानकर साधुओं ने उन सब घरों का परिहार कर दिया और भिक्षार्थ अन्य घरों में चले गए। कुछ साधु जिनकी भिक्षा वहां पूरी नहीं हुई, वे प्रत्यासन्न गांव में भिक्षार्थ चले गए।[1]

### ३४. आधाकर्म : पानक-दृष्टान्त

किसी गांव में सारे कूप खारे पानी के थे। उस लवण प्रधान क्षेत्र में क्षेत्र-प्रत्युपेक्षण के लिए कुछ साधु आए। उन्होंने पूरे क्षेत्र की प्रतिलेखना की। तत्रस्थ निवासी श्रावकों के द्वारा सादर अनुरोध करने पर भी साधु वहां नहीं रुके। श्रावकों ने उनमें से किसी सरल साधु को वहां न रुकने का कारण पूछा। उसने सरलता से यथार्थ बात बताते हुए कहा-'इस क्षेत्र में और सब गुण हैं केवल पानी खारा है इसलिए साधु यहां नहीं

१. जीभा ११४८-५०, पिनि ७६-७६/५ मटी प. ६३, ६४।

रुकते हैं।' साधुओं के जाने पर श्रावक ने मीठे पानी का कूप खुदवाया। उसको खुदवाकर लोकप्रवृत्ति जनित पाप के भय से कूप का मुख फलक से तब तक ढ़क दिया, जब तक कोई अन्य साधु वहां न आए। साधुओं के आने पर उसने सोचा कि केवल मेरे घर मीठा पानी रहेगा तो साधुओं को आधाकर्म की आशंका हो जाएगी अत: उसने सब घरों में मीठा पानी भेज दिया। पूर्वोक्त कथानक के अनुसार साधुओं ने बालकों के मुख से संलाप सुनकर जान लिया कि यह पानी आधाकर्मिक है। उन्होंने उस गांव को छोड़ दिया।[1]

**३५. नूपुरपंडिता**

जंबूद्वीप के भारतवर्ष में बसन्तपुर नामक नगर था। वहां के राजा का नाम जितशत्रु और रानी का नाम धारिणी था। एक बार स्नान हेतु कुछ महिलाएं तालाब के किनारे आईं। वहां एक महिला के साथ सुदर्शन नामक पुरुष का आपस में अनुराग हो गया। दूती के माध्यम से उनका आपस में संबंध स्थापित हो गया। कृष्णा पंचमी को संकेतित स्थान अशोक वनिका में उन दोनों का समागम हुआ। वे वहीं निद्राधीन हो गए। चतुर्थ याम में श्वसुर ने उन दोनों को साथ सोते हुए देख लिया। उसने धीरे से पुत्रवधू के पैरों से नूपुर निकाल लिया। श्वसुर के इस वृत्तान्त को जानकर उसने उस जार पुरुष को वहां से बाहर भेज दिया और स्वयं पति के पास जाकर सो गई। थोड़ी देर बाद उसने पति को जगाकर कहा—'यहां गर्मी है अत: अशोक-वनिका में चलते हैं।' वे दोनों वहां चले गए। थोड़ी देर में पति को उठाकर उसने कहा—'क्या यह हमारे कुल के अनुरूप आचार है कि पति के साथ रति-सुख का अनुभव करती हुई पुत्रवधू के पैरों से श्वसुर नूपुर निकालकर ले जाएं।' पति ने पूछा—'क्या यह सत्य है?' प्रात:काल पुत्र ने अपने पिता से इस संदर्भ में पूछा। पिता ने कहा–'तुम्हारी पत्नी स्वैरिणी है, वह रात्रि में किसी अन्य पुरुष के साथ सोई थी अत: मैंने उसके पैरों से नूपुर निकाल लिया।' पुत्र ने कहा—'अशोक-वनिका में मैं ही था।' वृद्ध पिता बोल—'मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि रात्रि में उसके साथ कोई अन्य पुरुष था।' इसी बीच पुत्रवधू ने आकर उच्च स्वर में कहा–'जब तक मेरी कलंक-शुद्धि नहीं होगी, तब तक मैं भक्त-पान ग्रहण नहीं करूंगी।'

कोलाहल सुनकर लोग एकत्रित हो गए। उसने सबके समक्ष कहा—'मैं दिव्य-घट लेकर स्वयं को शुद्ध प्रमाणित करूंगी।' वृद्ध नागरिकों ने कहा—'कुत्रिकापण में यक्ष के समक्ष परीक्षा दो।' वह स्नान आदि से शुद्ध होकर बलिकर्म करके नागरिकों के साथ वहां पहुंची। वहां राजा आदि भी उपस्थित थे। इसी बीच वह सुदर्शन नामक जार पुरुष भी पागल का रूप बनाकर फटे-पुराने कपड़े पहनकर वहां आ गया। वह लोगों का आलिंगन करता हुआ उसके पास आया और पुत्रवधू का बलात् आलिंगन करने लगा। लोकपालों को संबोधित करके उसने यक्ष से कहा—'मेरे माता-पिता ने जिस व्यक्ति के साथ मेरा विवाह किया, उसको तथा इस ग्रहाविष्ट पुरुष को छोड़कर यदि मैंने मन से भी किसी अन्य पुरुष का चिन्तन नहीं किया है तो मैं यक्ष के नीचे से कुशलतापूर्वक निकल जाऊंगी।' उसकी बात सुनकर यक्ष किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कुछ

---

१. जीभा ११५१, ११५२, पिनि ७७ मटी प. ६५।

सोचने लगा। इतने में वह शीघ्रता से यक्ष की प्रतिमा के नीचे से निकल गयी। लोगों में उसकी जय-जयकार होने लगी। सभी स्थविर को धिक्कारने लगे। यक्ष ने सोचा—'इसने मुझे भी ठग लिया।'

सत्यवादी होने पर भी वृद्ध झूठा साबित हो गया। इस चिन्ता से स्थविर की निद्रा उड़ गई। उसको अंत:पुर की रानियों के द्वारपाल के रूप में नियुक्त कर दिया गया। रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने पर सभी रानियां निद्राधीन हो गईं लेकिन एक रानी को नींद नहीं आ रही थी। स्थविर ने सोचा अवश्य ही कोई कारण होना चाहिए अत: उसने कपट-निद्रा लेनी प्रारंभ कर दी। रानी हाथी की सूंड के सहारे महावत के पास चली गई। देरी से आने के कारण महावत ने रोषपूर्वक लोहे की सांकल से उसे ताड़ित किया। रानी ने कहा—'गुस्सा मत करो। अंत:पुर में एक ऐसा वृद्ध नियुक्त हुआ है, जिसे बहुत देरी से नींद आई।' प्रात:काल हाथी पर चढ़कर वह पुन: अंत:पुर में चली गई। वृद्ध ने सोचा—'जब उभयकुल विशुद्ध राजा की पत्नियां भी ऐसा विरुद्ध आचरण कर सकती हैं तो फिर मेरी पुत्रवधू ने जो किया, उसमें कोई आश्चर्य नहीं है।' ऐसा सोचकर वह चिंतामुक्त होकर गहरी नींद में चला गया। सूर्योदय होने पर भी वह नहीं उठा। राजा तक उसकी शिकायत पहुंची। राजा ने उसको बुलाया लेकिन वृद्ध बोला कि मुझे मत उठाओ। सातवें दिन उसकी नींद टूटी तब राजा ने पूछा—'क्या बात है?' तब उसने सारी बात राजा को बताई। राजा ने पूछा—'क्या तुम उस रानी को जानते हो?' वृद्ध ने कहा—'मैं उस रानी को नहीं पहचानता हूं।'

राजा ने मिट्टी का हाथी बनवाया। सब रानियों ने उस हाथी को लांघ दिया। एक रानी बोली—'मिट्टी के हाथी से मुझे भय लगता है।' शंका होने पर राजा ने उत्पल-नाल से उसको ताड़ित किया। वह मूर्च्छित होकर धरती पर गिर गई। उसकी पीठ पर लोहे की सांकल के प्रहार दिखाई दिए। राजा ने कहा—मदोन्मत्त हाथी पर चढ़ते हुए तुम्हें भय नहीं लगा, शृंखला से प्रहार करने पर भी तुम मूर्च्छित नहीं हुई लेकिन मेरे द्वारा उत्पल-नाल का प्रहार करने पर तुम मूर्च्छित हो गई। राजा ने जान लिया कि यह स्वैरिणी है। राजा ने उसी समय आदेश दिया कि रानी, महावत और हाथी—ये तीनों वध करने योग्य हैं। पर्वत पर ले जाकर इनका वध करना है। छिन्न टंक पर ले जाकर महावत ने हाथी का एक पैर ऊपर उठाया। लोगों ने राजा को निवेदन किया कि बेचारा हाथी तिर्यञ्च है, यह क्या जानता है अत: इसको मत मारो लेकिन राजा ने उनकी बात स्वीकृत नहीं की। आगे के दो पैरों को भी उसने कष्टपूर्वक उठाया। प्रार्थना करने पर भी राजा ने आदेश वापस नहीं लिया। तीन पैर ऊपर उठाने पर लोग चर्चा करने लगे कि राजा निर्दोष हाथी का वध करवा रहा है। उस समय कोप शान्त होने पर राजा ने कहा—'क्या तुम हाथी के पैरों को वापस धरती पर रखवाने में समर्थ हो?' महावत ने कहा—'यदि आप हम लोगों को अभयदान दो तो मैं हाथी को मूल स्थिति में ला सकता हूं।' राजा ने उनको अभयदान दे दिया। महावत ने अंकुश के माध्यम से हाथी को मूल स्थिति में लौटा दिया। राजा ने रानी के साथ महावत को देश-निकाला दे दिया।[1]

इस कथा का उपसंहार करते हुए पिण्डनिर्युक्ति के टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि छिन्न

१. जीभा ११८१, पिनि ८२/२ मटी प. ६८, धर्मोपदेशमाला पृ. ४६-५२।

टंक पर एक पैर उठाने पर हाथी थोड़े कष्ट से वापस उस पैर को नीचे रख सकता है। इसी प्रकार अतिक्रम दोष होने पर थोड़े विशुद्ध परिणामों से मुनि पुनः संयम में स्थित हो जाता है। आगे के दो पैर उठाने पर वह हाथी क्लेशपूर्वक अपने पैरों को पुनः मूल स्थिति में लाता है। इसी प्रकार साधु भी व्यतिक्रम दोष होने पर विशिष्ट शुभ अध्यवसाय से स्वयं को विशुद्ध कर सकता है। जैसे तीन पैर को ऊपर उठाकर पीछे एक पैर पर खड़ा हाथी अत्यन्त कष्टपूर्वक स्वयं को पूर्व स्थिति में लौटा सकता है, इसी प्रकार अतिचार दोष लगने पर विशिष्टतर शुभ अध्यवसाय से मुनि स्वयं को शुद्ध कर सकता है। जैसे वह हाथी चारों पैरों को आकाश में स्थित करके पुनः उसे लौटाने में समर्थ नहीं होता, वह नियमतः ही भूमि पर गिरकर विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार साधु भी अनाचार में स्थित रहकर नियम से संयम रूपी आत्मा का नाश कर लेता है। टीकाकार कहते हैं कि इस कथानक में हाथी ने चारों पैर ऊपर नहीं उठाए लेकिन दार्ष्टान्तिक में संभावना के आधार पर अनाचार की योजना की है।[१]

### ३६. आधाकर्म की अभोज्यता : वमन-दृष्टान्त

वक्रपुर नामक नगर में उग्रतेज नामक सैनिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम रुक्मिणी था। एक बार उग्रतेज का बड़ा भाई सौदास पास के गांव से अतिथि के रूप में आया। उग्रतेज भोजन के लिए मांस लाया और उसे पकाने के लिए रुक्मिणी को दे दिया। घर के कार्य में व्यस्त रहने के कारण वह मांस मार्जार खा गया। इधर सौदास और उग्रतेज की भोजन-वेला होने पर वह व्याकुल हो गई। इसी बीच किसी मृत कार्पटिक के कुत्ते ने मांस को खाकर वायु-संक्षोभ के कारण उसके घर के आंगन में वमन कर दिया। रुक्खिमणी ने सोचा—'यदि मैं किसी दुकान से मांस खरीदकर लाऊंगी तो बहुत देर लग जाएगी। पति और जेठ के भोजन का समय हो गया है अतः इस वमित मांस को अच्छी तरह से धोकर मसाले से उपस्कृत कर दूंगी।' उसने वैसा ही किया।

सौदास और उग्रतेज भोजन के लिए उपस्थित हुए। उसने उन दोनों को वह मांस परोसा। गंध विशेष से उग्रतेज ने जान लिया कि यह वान्त मांस है। उसने भृकुटि चढ़ाकर रुक्मिणी को मांस के संबंध में पूछा। क्रोधयुक्त चढ़ी हुई भृकुटि देखकर वह वृक्ष की शाखा की भांति कांपने लगी और यथार्थ स्थिति बता दी। उस मांस को फेंककर उसने दूसरा मांस पकाया, तब दोनों ने भोजन किया।[२]

---

१. इस कथा का अनुवाद 'धर्मोपदेशमाला' ग्रंथ से संक्षेप रूप में किया गया है क्योंकि टीकाकार ने 'नूपुरपण्डितायाः कथानकमतिप्रसिद्धत्वात् बृहत्वाच्च न लिख्यते किंतु धर्मोपदेशमालाविवरणादेरवगन्तव्यं' का उल्लेख किया है। वहां कथानक आगे भी चलता है लेकिन यहां इतना ही प्रासंगिक है अतः आगे के कथानक का अनुवाद नहीं किया गया है।

२. जीभा ११९१, पिनि ८६ मटी प. ७१, इस कथानक में मतान्तर भी मिलता है। टीकाकार मलयगिरि ने मतान्तर वाली कथा का संकेत भी किया है। उनके अनुसार रुक्मिणी के घर में किसी अतिसार रोग से पीड़ित दुष्प्रभ नामक कार्पटिक ने एकान्त स्थान की याचना की। उसने अतिसार रोग के कारण मांसखंडों का उत्सर्ग किया। मार्जार द्वारा मांस खाने पर पति और जेठ की भोजन-वेला उपस्थित होने पर तथा अन्य मांस प्राप्त न होने पर भयभीत होकर उसने अतिसार में त्यक्त मांसखण्डों को लेकर जल से धोकर उनको मसाले आदि से उपस्कृत करके पका दिया और भोजन-वेला आने पर उन दोनों को परोस दिया। उसी समय मृत सपत्नी के पुत्र गुणमित्र ने अपने पिता और पितृव्य का हाथ पकड़कर उन्हें खाने से रोकते हुए सारी बात बताई। उग्रतेज ने अपनी पत्नी की भर्त्सना की और उस मांस का परिहार कर दिया। (पिनिमटी प. ७१)

### ३७. आज्ञा की आराधना-विराधना : उद्यान द्वय दृष्टान्त

चन्द्रानना नामक नगरी में चन्द्रावतंसक राजा राज्य करता था। त्रिलोकरेखा आदि उसकी अनेक रानियां थीं। राजा के पास दो उद्यान थे—एक पूर्व दिशा में, जिसका नाम सूर्योदय था। दूसरा पश्चिम दिशा में, जिसका नाम चन्द्रोदय था। एक दिन बसन्त मास में राजा ने अंत:पुर के साथ क्रीड़ा करने की घोषणा करवाते हुए पटह फिरवाया—'प्रात:काल राजा सूर्योदय नामक उद्यान में अपने अंत:पुर के साथ यथेच्छ विहरण करेंगे अत: वहां कोई नागरिक न जाए।' सारे तृणहारक और काष्ठहारक भी चन्द्रोदय उद्यान में चले जाएं। पटह फिरवाने के पश्चात् राजा ने सूर्योदय उद्यान की रक्षा हेतु सैनिकों की नियुक्ति कर दी और आदेश दिया कि कोई भी व्यक्ति उस उद्यान में प्रवेश न करे।

रात्रि में राजा ने चिन्तन किया कि सूर्योदय उद्यान में जाते हुए प्रात:काल सूर्य सामने रहेगा और लौटते हुए मध्याह्न में भी सामने रहेगा। सम्मुख सूर्य की किरणें कष्टदायक होती हैं अत: मैं चन्द्रोदय उद्यान जाऊंगा। ऐसा सोचकर राजा ने वैसा ही किया। इधर पटह को सुनने के बाद भी कुछ दुश्चरित्र व्यक्तियों ने सोचा कि हमने कभी भी राजा के अंत:पुर को साक्षात् नहीं देखा है। प्रात: राजा सूर्योदय उद्यान में अंत:पुर के साथ आएगा और यथेच्छ विहरण करेगा। हम लोग पत्र बहुल वृक्ष की शाखा में इस प्रकार छिप जाएंगे कि कोई भी हमें देख न पाए। इस प्रकार हम राजा के अंत:पुर को देख पाएंगे। उन्होंने वैसा ही किया। उद्यान रक्षकों ने वृक्ष की शाखा के बीच छिपे हुए उन लोगों को देख लिया। उनको पकड़कर डंडे से पीटा और रज्जु आदि से बांध दिया। जो दूसरे तृणहारक थे, वे सब चन्द्रोदय उद्यान में गए। उन्होंने यथेच्छ क्रीड़ा करते हुए राजा के अंत:पुर की रानियों को देखा। उनको भी राजपुरुषों ने पकड़ लिया। उद्यान से बाहर नगर के अभिमुख जाते हुए राजा के सन्मुख उद्यान-पालकों ने दोनों प्रकार के व्यक्तियों को उपस्थित किया और सारा वृत्तान्त बताया। जिन्होंने आज्ञा का भंग किया, उनकी अंत:पुर दर्शन की इच्छा पूरी नहीं हुई फिर भी उनको समाप्त कर दिया गया तथा जो चन्द्रोदय उद्यान में गए थे, उन्होंने आज्ञा का पालन किया था अत: अंत:पुर देखने पर भी उनको मुक्त कर दिया गया।[१]

### ३८. द्रव्यपूति : गोबर-दृष्टान्त

समिल्ल नामक नगर के बाहर उद्यान में माणिभद्र यक्ष का यक्षायतन था। एक दिन उस नगर में शीतलक नामक अशिव उत्पन्न हो गया। तब कुछ लोगों ने सोचा कि यदि इस अशिव से हम बच जाएंगे तो एक वर्ष तक अष्टमी आदि पर्व-तिथियों में उद्यापनिका करेंगे। नगर के सभी लोग उस अशिव से निस्तीर्ण हो गए। उन लोगों के मन में निश्चय हो गया कि यह सब यक्ष का चमत्कार है। तब देवशर्मा नामक व्यक्ति को वैतनिक रूप से पुजारी के रूप में नियुक्त करते हुए लोगों ने कहा—'तुमको एक वर्ष तक अष्टमी आदि दिनों में प्रात:काल यक्ष-सभा को गोबर से लीपना है। उस स्वच्छ एवं पवित्र स्थान पर हम

---

१. जीभा ११९१, ११९२, पिनि ९१-९१/४ मटी प. ७६।

लोग आकर उद्यापनिका करेंगे।' देवशर्मा ने यह बात स्वीकार कर ली।

एक दिन उद्यापनिका के लिए सभा को लीपने हेतु वह सूर्योदय से पूर्व किसी कुटुम्बी के यहां गोबर लेने गया। वहां रात्रि में किसी कर्मचारी को मण्डक, वल्ल और सुरा का पान करने से अजीर्ण हो गया था। पश्चिम रात्रि में उसने गाय के बाड़े में दुर्गन्धयुक्त अजीर्ण मल का विसर्जन किया। उसके ऊपर किसी भैंस ने आकर गोबर कर दिया। ऊपर गोबर होने से वह दुर्गन्धयुक्त मल ढ़क गया अत: देवशर्मा को अंधेरे में ज्ञात नहीं हो सका। वह गोबर सहित मल को लेकर गया और उससे सभा को लीप दिया। उद्यापनिका करने वाले लोग अनेकविध भोजन-सामग्री लेकर वहां प्रविष्ट हुए। वहां उनको अतीव दुर्गन्ध आने लगी, उन्होंने देवशर्मा से पूछा कि यह अशुचिपूर्ण दुर्गन्ध कहां से आ रही है? उसने कहा—'मुझे ज्ञात नहीं है।' उन लोगों ने सभा के आंगन को ध्यान से देखा तो वहां वल्ल आदि के अवयव दिखाई दिए तथा मदिरा की गंध भी आने लगी। उन लोगों को ज्ञात हुआ कि गोबर के मध्य में पुरीष भी था। सभी लोगों ने भोजन को अशुचि मानकर छोड़ दिया। आंगन के लेप को समूल उखाड़कर दुबारा दूसरे गोबर से सभा का लेप करवाया तथा भोजन भी दूसरा पकाकर खाया।[1]

## ३९. अनिसृष्ट दोष : लड्डुक-दृष्टान्त

रत्नपुर नगर में माणिभद्र प्रमुख ३२ युवक साथी रहते थे। एक बार उन्होंने उद्यापन के लिए साधारण मोदक बनवाए और समूह रूप से उद्यापनिका में गए। वहां उन्होंने एक व्यक्ति को मोदक की रक्षा के लिए छोड़ दिया। शेष ३१ साथी नदी में स्नान करने हेतु चले गए। इसी बीच कोई लोलुप साधु वहां भिक्षार्थ उपस्थित हुआ। उसने मोदकों को देखा। लोलुपता के कारण उस साधु ने धर्म-लाभ देकर उस पुरुष से मोदकों की याचना की। उस व्यक्ति ने उत्तर दिया–'ये मोदक केवल मेरे अधीन नहीं हैं, अन्य ३१ साथियों की भी इसमें सहभागिता है अत: मैं अकेला इन्हें कैसे दे सकता हूं?' ऐसा कहने पर साधु बोला—'वे कहां गए हैं?' वह बोला—'वे सब नदी में स्नान करने हेतु गए हैं।' उसके ऐसा कहने पर साधु ने पुन: कहा—'क्या दूसरों के मोदकों से तुम पुण्य नहीं कर सकते? तुम मूढ़ हो जो मेरे द्वारा मांगने पर भी दूसरों के लड्डुओं को दान देकर पुण्य नहीं कमा रहे हो? यदि तुम ३२ मोदक मुझे देते हो तो भी तुम्हारे भाग में एक ही मोदक आता है। यदि 'अल्पवय और बहुदान' इस सिद्धान्त को सम्यक् हृदय से जानते हो तो मुझे सारे मोदक दे दो।' साधु के द्वारा ऐसा कहने पर उसने सारे मोदक साधु को दे दिए। लड्डुओं से पात्र भरने पर हर्ष से आप्लावित होकर वह साधु उस स्थान से जाने लगा।

इसी बीच साधु को माणिभद्र आदि साथी सम्मुख आते हुए मिल गए। उन्होंने साधु से पूछा—'भगवन्! आपको यहां किस वस्तु की प्राप्ति हुई?' साधु ने सोचा कि यदि ये मोदक के स्वामी हैं तो मोदक-प्राप्ति की बात सुनकर पुन: मुझसे मोदक ग्रहण कर लेंगे इसलिए 'मुझे कुछ भी प्राप्ति नहीं हुई'

---

१. जीभा १२०३, पिनि १०८/१, २ मटी प. ८३।

ऐसा कहूंगा। उसने वैसा ही कहा। माणिभद्र आदि साथियों को भार से आक्रांत पात्र को देखकर शंका हो गई। उन्होंने कहा—'हम आपका पात्र देखना चाहते हैं।' साधु ने पात्र नहीं दिखाया, तब उन्होंने बलपूर्वक साधु का पात्र देख लिया। तब कोपारुण नेत्र से उन्होंने मोदक रक्षक पुरुष से पूछा—'तुमने इस साधु को सारे मोदक कैसे दिए?' वह भय से कांपता हुआ बोला–'मैंने इनको मोदक नहीं दिए।' यह सुनकर माणिभद्र आदि सभी साथी साधु से बोले—'तुम चोर हो तथा साधु-वेश की विडम्बना करने वाले हो। तुम्हारा मोक्ष कहां है' ऐसा कहकर उन्होंने साधु का वस्त्र खींचा। फिर सारे पात्र, रजोहरण आदि ग्रहण करके उसको गृहस्थ बनाकर 'पच्छाकड़' बना दिया। वे सब साधु को राजकुल में ले गए और धर्माधिकारी को सारी बात बताई। उन्होंने साधु को सारी बात पूछी किन्तु लज्जा के कारण वह कुछ भी कहने में समर्थ नहीं हो सका। तब उन न्याय करने वाले अधिकारियों ने चिंतन किया—'यह निश्चित ही चोर है लेकिन यह साधु वेशधारी है अत: उसे जीवित छोड़कर देश निकाला दे दिया।'[१]

### ४०. दूती दोष : धनदत्त कथा

विस्तीर्ण ग्राम के पास गोकुल नामक गांव था। वहां धनदत्त नामक कौटुम्बिक था। उसकी पत्नी का नाम प्रियमति तथा पुत्री का नाम देवकी था। उसी गांव में सुंदर नामक युवक से उसका विवाह हुआ। उसके पुत्र का नाम बलिष्ठ और पुत्री का नाम रेवती था। पुत्री का विवाह गोकुल ग्राम में संगम के साथ हुआ। आयु कम होने पर प्रियमति कालगत हो गई। धनदत्त भी दीक्षा लेकर गुरु के साथ विहरण करने लगा। कालान्तर में ग्रामानुग्राम विहार करते हुए धनदत्त अपनी पुत्री देवकी के गांव में आया। उस समय उन दोनों गांवों में परस्पर वैर चल रहा था। विस्तीर्ण ग्रामवासियों ने गोकुल ग्राम के ऊपर हमला करने की सोची। धनदत्त मुनि गोकुल ग्राम में भिक्षा के लिए प्रस्थित हुआ, तब शय्यातरी देवकी ने कहा—'आप गोकुल ग्राम में जा रहे हैं, वहां अपनी दौहित्री रेवती को कहना कि तुम्हारी मां ने संदेश भेजा है कि यह गांव तुम्हारे गांव के ऊपर दस्यु-दल के साथ प्रच्छन्न रूप से हमला करने आएगा अत: अपने सभी आत्मीयों को एकान्त में सुरक्षित स्थान पर पहुंचा देना।' साधु ने सारी बात रेवती को कह दी। उसने अपने पति को सारी बात बताई। पति ने सारे गांव को यह सूचना दे दी। सम्पूर्ण गांव कवच आदि पहनकर युद्ध के लिए तैयार हो गया।

दूसरे दिन धाटी विस्तीर्ण गांव में पहुंच गई। उन दोनों में युद्ध प्रारंभ हो गया। सुंदर और बलिष्ठ दस्युदल के साथ गए। संगम गोकुल ग्राम में था। वे तीनों युद्ध में काल-कवलित हो गए। देवकी ने पति, पुत्र और जंवाई के मरण को सुनकर विलाप करना प्रारंभ कर दिया। लोग उसे समझाने के लिए आए। उन्होंने कहा—'यदि गोकुल ग्राम में धाटी आने की सूचना नहीं होती तो वे सन्नद्ध होकर युद्ध नहीं करते और न ही तुम्हारे पति आदि की मृत्यु होती। किस दुरात्मा ने गोकुल गांव में सूचना भेजी?' लोगों से इस प्रकार की

---

१. जीभा १२७६, पिनि १७९, १८० मटी प. ११३,११४, निभा ४५१७-१९ चू पृ. ४३७।

बात सुनकर क्रोधित होकर देवकी बोली—'जानकारी के अभाव में मैंने अपने पिता मुनि के साथ अपनी पुत्री को संदेश भेजा था।' सारे लोक में मुनि धनदत्त को धिक्कार मिलने लगी। प्रवचन की भी अवहेलना होने लगी।[१]

**४१. निमित्त दोष : ग्रामभोजक-दृष्टान्त**

एक गांव में अवसन्न नैमित्तिक साधु रहता था। उस गांव का नायक अपनी पत्नी को छोड़कर दिग्यात्रा पर गया हुआ था। उसकी पत्नी को उस नैमित्तिक ने अपने निमित्त ज्ञान से आकृष्ट कर लिया। दूरस्थ ग्रामनायक ने सोचा—'मैं प्रच्छन्न रूप से अकेला जाकर अपनी पत्नी की चेष्टाएं देखूंगा कि वह दु:शीला है अथवा सुशीला?' उस नैमित्तिक साधु से अपने पति के आगमन की बात जानकर उसने अपने परिजनों को सामने भेजा। ग्रामनायक ने परिजनों से पूछा—'तुम लोगों को मेरे आगमन की बात कैसे ज्ञात हुई?' उन्होंने कहा—'तुम्हारी पत्नी ने यह बात बताई है।' उसने मन में चिन्तन किया कि मेरी पत्नी ने मेरे आगमन की बात कैसे जानी?

साधु उस समय ग्रामभोजक के घर आ गया। उसने विश्वासपूर्वक पति के साथ हुए वार्तालाप, चेष्टा, स्वप्न तथा शरीर के मष, तिलक आदि के बारे में बताया। इसी बीच ग्रामभोजक अपने घर आ गया। उसने पति का यथोचित सत्कार किया। उसने पूछा—'तुमने मेरे आगमन की बात कैसे जानी?' वह बोली—'साधु के निमित्त-ज्ञान से मुझे जानकारी मिली।' भोजक ने कहा—'क्या उसकी और भी कोई विश्वासपूर्ण बात है?' तब उसने बताया कि आपके साथ जो भी वार्तालाप, चेष्टाएं आदि की हैं, जो मैंने स्वप्न आदि देखें हैं, मेरे गुह्य प्रदेश में जो तिलक है, वह भी इस नैमित्तिक साधु ने यथार्थ बता दिए हैं। भोजक ने ईर्ष्या और क्रोधवश उस साधु से पूछा—'इस घोड़ी के गर्भ में क्या है?' साधु ने बताया—'पंचपुंड्र वाला घोड़ी का बच्चा।' तब उसने सोचा—'यदि यह बात सत्य होगी तो मेरी भार्या को बताए गए मष, तिलक आदि का कथन भी सत्य होगा। अन्यथा अवश्य ही यह विरुद्ध कर्म करने वाला व्यभिचारी है अत: मारने योग्य है।' इस प्रकार चिन्तन करके उसने घोड़ी का पेट चीरा, उसमें से परिस्पंदन करता हुआ पंचपुंड्र किशोर निकला। उसको देखकर उसका क्रोध शांत हो गया। वह साधु से बोला—'यदि यह बात सत्य नहीं होती तो तुम भी इस दुनिया में नहीं रहते।'[२]

**४२. चिकित्सा दोष : सिंह-दृष्टान्त**

एक अटवी में एक व्याघ्र अंधा हो गया। अंधेपन के कारण उसे भक्ष्य मिलना दुर्लभ हो गया। एक वैद्य ने उसका अंधापन मिटा दिया। स्वस्थ होते ही व्याघ्र ने सबसे पहले उसी वैद्य का घात किया, फिर वह जंगल में अन्य पशुओं को भी मारने लगा।[३]

---

१. जीभा १३३५-३९, पिनि २०२,२०३ मटी प. १२७, निभा ४४०१,४४०२, चू पृ. ४१०।

२. जीभा १३४२-४७, पिनि २०५, पिभा ३३, ३४ मटी प. १२८, निभा २६९४-९६ चू. पृ. २०।

३. जीभा १३९२, पिनि २१५ मटी प. १३३।

**४३. क्रोधपिण्ड : क्षपक दृष्टान्त**

हस्तकल्प नगर में किसी ब्राह्मण के घर में मृतकभोज था। उस भोज में एक मासखमण की तपस्या वाला साधु पारणे के लिए भिक्षार्थ पहुंचा। उसने ब्राह्मणों को घेवर का दान देते हुए देखा। उस तपस्वी साधु को द्वारपाल ने रोक दिया। साधु कुपित होकर बोला—'आज नहीं दोगे तो कोई बात नहीं, अगले महीने तुम्हें मुझको देना होगा।' ऐसा कहते हुए वह घर से निकल गया। दैवयोग से उस घर का अन्य कोई व्यक्ति कुछ दिनों के बाद दिवंगत हो गया। उसके मृतकभोज वाले दिन वही साधु मासखमण के पारणे हेतु वहां पहुंचा। उस दिन भी द्वारपाल ने उसको रोक दिया। वह मुनि कुपित होकर पुनः बोला—'आज नहीं तो फिर कभी देना होगा।' मुनि की यह बात सुनकर स्थविर द्वारपाल ने चिन्तन किया कि पहले भी इस साधु ने दो बार इसी प्रकार श्राप दिया था। घर के दो व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो गए, इस बार तीसरा अवसर है। अब घर का कोई व्यक्ति न मरे अतः उसने गृहनायक को सारी बात बताई। गृहनायक ने आदरपूर्वक साधु से क्षमायाचना की तथा घेवर आदि वस्तुओं की भिक्षा दी। (यह क्रोधपिण्ड है)।[१]

**४४. मानपिण्ड : सेवई-दृष्टान्त**

कौशल जनपद के गिरिपुष्पित नगर में सिंह नामक आचार्य अपने शिष्य-परिवार के साथ आए। एक बार वहां सेवई बनाने का उत्सव आया। उस दिन सूत्र पौरुषी के बाद सब तरुण साधु एकत्रित हुए। उनका आपस में वार्तालाप होने लगा। उनमें से एक साधु बोला—'इतने साधुओं में कौन ऐसा है, जो प्रातःकाल ही सेवई लेकर आएगा।' गुणचन्द्र नामक क्षुल्लक बोला—'मैं लेकर आऊंगा।' साधुओं ने कहा—'यदि सेवई सब साधुओं के लिए पर्याप्त नहीं होगी अथवा घृत या गुड़ से रहित होगी तो उससे हमको कोई प्रयोजन नहीं है, तुम्हें घृत और गुड़ से युक्त पर्याप्त सेवई लानी होगी।' क्षुल्लक बोला—'जैसी तुम्हारी इच्छा होगी, वैसी ही सेवई मैं लेकर आऊंगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके वह नांदीपात्र को लेकर भिक्षार्थ गया। उसने किसी कौटुम्बिक के घर में प्रवेश किया। साधु ने वहां पर्याप्त सेवई देखी। वह प्रचुर घी और गुड़ से संयुक्त थी। साधु ने अनेक वचोविन्यास से सुलोचना नामक गृहिणी से सेवई की याचना की। गृहस्वामिनी ने साधु को भिक्षा देने के लिए सर्वथा प्रतिषेध करते हुए कहा—'मैं तुमको कुछ भी नहीं दूंगी।' तब क्रोधपूर्वक क्षुल्लक मुनि ने कहा—'मैं निश्चित रूप से घी और गुड़ से युक्त इस सेवई को ग्रहण करूंगा।' क्षुल्लक के वचनों को सुनकर सुलोचना भी क्रोधावेश में आकर बोली—'यदि तुम इस सेवई को किसी भी प्रकार प्राप्त करोगे तो मैं समझूंगी कि तुमने मेरे नासापुट में प्रस्रवण किया है।' तब क्षुल्लक ने सोचा—'मुझे अवश्य ही इस घर से सेवई प्राप्त करना है।' दृढ़ निश्चय करके वह घर से निकला और पार्श्व के किसी व्यक्ति से पूछा—'यह किसका घर है?' व्यक्ति

---

१. जीभा १३९५, पिनि २१८/१, मटी प. १३४, निभा ४४४२, चू पृ. ४१८।

ने बताया कि यह विष्णुमित्र का घर है। क्षुल्लक ने पुनः पूछा कि वह विष्णुमित्र इस समय कहां है? व्यक्ति ने उत्तर दिया-'वह अभी परिषद् के बीच है।'

क्षुल्लक ने परिषद् के बीच में जाकर पूछा—'तुम लोगों के बीच में विष्णुमित्र कौन है?' लोगों ने कहा—'विष्णुमित्र से आपको क्या प्रयोजन है।' साधु ने कहा—'मैं उससे कुछ याचना करूंगा।' विनोद करते हुए उन्होंने कहा—'यह बहुत कृपण है अतः आपको कुछ नहीं देगा। आपको जो मांगना है, वह हमसे मांगो।' तब विष्णुमित्र ने सोचा कि इतने लोगों के बीच मेरी अवहेलना न हो अतः उनके सामने बोला—'मैं ही विष्णुमित्र हूं, मुझसे कुछ भी मांगो।'

तब क्षुल्लक बोला—'यदि तुम छह महिलाप्रधान व्यक्तियों में से नहीं हो तो मैं याचना करूंगा।' तब परिषद् के लोगों ने पूछा—'वे छह महिलाप्रधान पुरुष कौन से हैं?' क्षुल्लक ने कहा कि उन छह पुरुषों के नाम इस प्रकार हैं—१. श्वेताङ्गुलि २. बकोड्डायक ३. किंकर ४. स्नायक ५. गृध्रइवरिङ्खी ६. हदज्ञ।[1] इस प्रकार क्षुल्लक द्वारा छहों व्यक्तियों का वर्णन सुनकर परिषद् के लोगों ने अट्टहास करते हुए कहा—'इसमें छहों पुरुषों के गुण हैं इसलिए इस महिलाप्रधान पुरुष से मांग मत करो।' विष्णुमित्र बोला—'मैं इन छह पुरुषों के समान नहीं हूं, तुम मांग करो।' उसके आग्रह पर क्षुल्लक बोला-'मुझे घृत और गुड़ संयुक्त पात्र भरकर सेवई दो।' विष्णुमित्र बोला—'मैं तुमको यथेच्छ सेवई दूंगा।' तब वह विष्णुमित्र क्षुल्लक को लेकर अपने घर की ओर गया। घर के द्वार पर पहुंचने पर क्षुल्लक ने कहा—'मैं पहले भी तुम्हारे घर आया था लेकिन तुम्हारी भार्या ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुमको कुछ भी नहीं दूंगी इसलिए तुमको जो उचित लगे, वह करो।' क्षुल्लक के ऐसा कहने पर विष्णुमित्र बोला—'यदि ऐसी बात है तो तुम कुछ समय के लिए घर के बाहर रुको, मैं स्वयं तुमको बुला लूंगा।'

विष्णुमित्र[2] घर में प्रविष्ट हुआ। उसने अपनी पत्नी से पूछा—'क्या सेवई पका ली?' उनको घी और गुड़ से युक्त कर दिया?' पत्नी ने कहा—'मैंने सारा कार्य पूर्ण कर दिया।' विष्णुमित्र ने गुड़ को देखकर कहा—'यह गुड़ थोड़ा है, इतना गुड़ पर्याप्त नहीं होगा अतः माले पर चढ़कर अधिक गुड़ लेकर आओ, जिससे मैं ब्राह्मणों को भोजन करवाऊंगा।' पति के वचन सुनकर वह निःश्रेणि के माध्यम से माले पर चढ़ी। चढ़ते ही विष्णुमित्र ने निःश्रेणि वहां से हटा दी। विष्णुमित्र ने क्षुल्लक को बुलाकर पात्र भरकर सेवई का दान दिया। उसके बाद उसने घी और गुड़ आदि देना प्रारंभ किया। इसी बीच गुड़ लेकर सुलोचना माले से उतरने के लिए तत्पर हुई लेकिन वहां निःश्रेणि को नहीं देखा। उसने आश्चर्यचकित होकर क्षुल्लक को घृत, गुड़ से युक्त सेवई देते हुए देखकर सोचा कि मैं इस क्षुल्लक से पराजित हो गई अतः उसने ऊपर खड़े-खड़े ही चिल्लाते हुए बार-बार कहा—'इस क्षुल्लक को दान मत दो।' क्षुल्लक ने भी उसकी ओर देखकर अपनी नाक पर अंगुलि रखकर यह प्रदर्शित किया कि मैंने तुम्हारे नासापुट में प्रस्रवण कर दिया है।

---

१. इन छह कथाओं के विस्तार हेतु देखें पिनि कथा सं. ३१-३६।

२. निचू भा. ३ (पृ. ४२०) में विष्णुमित्र के स्थान पर इंद्रदत्त नाम का उल्लेख मिलता है।

क्षुल्लक घृत और गुड़ से युक्त सेवई का पात्र लेकर अपने उपाश्रय में चला गया। (यह मानपिण्ड का उदाहरण है)।[१]

### ४५. मायापिण्ड : आषाढ़भूति कथानक

राजगृह नगरी में सिंहरथ नामक राजा राज्य करता था। उसी नगरी में विश्वकर्मा नामक नट की दो पुत्रियां थीं, वे अत्यन्त सुरूप एवं सुघड़ देह वाली थीं। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए धर्मरुचि आचार्य वहां आए। उनके एक अंत:वासी शिष्य का नाम आषाढ़भूति था। वह भिक्षार्थ घूमते हुए विश्वकर्मा नट के घर में प्रविष्ट हुआ। वहां उसने विशिष्ट मोदक प्राप्त किया। नट के गृह-द्वार से बाहर निकलने पर आषाढ़भूति मुनि ने सोचा—'यह मोदक तो आचार्य के लिए होगा अत: रूप-परिवर्तन करके अपने लिए भी एक मोदक प्राप्त करूंगा।' उसने आंख से काने मुनि का रूप बनाया और दूसरा मोदक प्राप्त किया। बाहर निकलकर पुन: चिन्तन किया—'यह उपाध्याय के लिए होगा' अत: पुन: कुब्ज का रूप बनाकर नट के घर में प्रवेश किया। तीसरा मोदक प्राप्त करके मुनि ने सोचा कि यह सिंघाड़े के मुनि के लिए होगा अत: इस बार कुष्ठी का रूप धारण करके घर में प्रवेश किया। मुनि को चौथा मोदक प्राप्त हो गया। माले के ऊपर बैठे विश्वकर्मा ने इतने रूपों का परिवर्तन करते हुए देखा। उसने सोचा कि यदि यह हमारे बीच रहे तो अच्छा रहेगा। इसको किस विधि से आकृष्ट करना चाहिए, यह सोचते हुए नट के मन में एक युक्ति उत्पन्न हुई। उसने सोचा पुत्रियों के द्वारा मुनि के मन को विचलित करके ही इसका मन संसार की ओर खींचा जा सकता है।

नट माले से उतरकर मुनि के पास गया और आदरपूर्वक पात्र भरकर मोदकों का दान दिया। नट ने कहा—'आपको प्रतिदिन हमारे घर भक्तपान ग्रहण करने का अनुग्रह करना है।' वह अपने उपाश्रय में चला गया। विश्वकर्मा ने अपने परिवार के समक्ष आषाढ़भूति की रूप-परिवर्तन विद्या के बारे में बताया तथा अपनी दोनों पुत्रियों से कहा कि तुमको स्नेहयुक्त दृष्टि से दान देते हुए मुनि को अपनी ओर आकृष्ट करना है। आषाढ़भूति प्रतिदिन भिक्षार्थ आने लगा। दोनों पुत्रियों ने वैसा ही किया। मुनि को अपनी ओर अनुरक्त देखकर एक बार एकान्त में उन्होंने मुनि से कहा—'हमारा मन आपके प्रति अत्यधिक आकृष्ट है अत: हमारे साथ विवाह करके भोगों का सेवन करो।'

यह सुनकर मुनि आषाढ़भूति का चारित्रावरणीय कर्म उदय में आ गया, जिससे गुरु का उपदेश रूपी विवेक हृदय से निकल गया। कुल और जाति का अभिमान समाप्त हो गया। मुनि ने दोनों नट-कन्याओं को कहा—'ऐसा ही होगा लेकिन पहले मैं गुरु-चरणों में मुनि-वेश छोड़कर आऊंगा।' आषाढ़भूति मुनि गुरु-चरणों में प्रणत हुआ और अपने अभिप्राय को प्रकट कर दिया। गुरु ने प्रेरणा देते हुए कहा—'वत्स! तुम जैसे विवेकी, शास्त्रज्ञ व्यक्ति के लिए उभयलोक में जुगुप्सनीय यह आचरण उचित नहीं है।

---

१. जीभा १३९५-९७, पिनि २१९/१-८, मटी प. १३४-३६, निभा ४४४६-५३, चू पृ. ४१९-२१।

दीर्घकाल तक शील का पालन करके अब विषयों में रमण मत करो। क्या समुद्र को बाहों से तैरने वाला व्यक्ति गोपद जितने स्थान में डूब सकता है?' आषाढ़भूति ने कहा—'आपका कथन सत्य है लेकिन प्रतिकूल कर्मों के उदय से, प्रतिपक्ष भावना रूप कवच के दुर्बल होने पर, कामदेव का आघात होने से तथा मृगनयनी रमणी की कटाक्ष से मेरा हृदय पूर्णरूपेण जर्जर हो गया है।' इस प्रकार कहकर उसने गुरु-चरणों में रजोहरण छोड़ दिया। 'मैं ऐसे निष्कारण उपकारी गुरु को पीठ कैसे दिखाऊं' यह सोचकर वह पैरों को पीछे करता रहा। 'पुनः किस प्रकार गुरु के चरण-कमलों को प्राप्त करूंगा' इस प्रकार विविध विकल्पों के साथ वसति से निकलकर वह विश्वकर्मा के भवन में आ गया।

नटकन्याओं ने आदरपूर्वक मुनि के शरीर को अनिमिष दृष्टि से देखा। उन्होंने अनुभव किया कि मुनि का रूप आश्चर्यजनक है। शरद चन्द्रमा के समान मनोहर इसका मुख मण्डल है। कमलदल की भांति दोनों आंखें हैं, नुकीली नाक तथा कुंद के फूलों की भांति श्वेत और स्निग्ध दंत-पंक्ति है। कपाट की भांति विशाल और मांसल वक्षस्थल है। सिंह की भांति कटिप्रदेश तथा कूर्म की भांति चरणयुगल हैं।

विश्वकर्मा ने आदरसहित मुनि को कहा—'अहोभाग! ये मेरी दोनों कन्याएं आपको समर्पित हैं। आप इन्हें स्वीकार करें।' नट ने दोनों कन्याओं के साथ आषाढ़भूति का विवाह कर दिया। विश्वकर्मा ने अपनी दोनों कन्याओं को कहा—'जो व्यक्ति मन की ऐसी स्थिति को प्राप्त करके भी गुरु-चरणों की स्मृति करता है, वह नियम से उत्तम प्रकृति वाला होता है अतः इसके चित्त को आकृष्ट करने के लिए तुम्हें सदा मद्यपान से रहित रहना है अन्यथा यह तुमसे विरक्त हो जाएगा।'

आषाढ़भूति सकल कलाओं के ज्ञान में कुशल तथा नाना प्रकार के विज्ञानातिशय से युक्त था अतः सभी नटों में अग्रणी हो गया। वह सर्वत्र प्रभूत धन तथा वस्त्र-आभरण आदि प्राप्त करता था। एक बार राजा ने नटों को बुलाया और आदेश दिया कि आज बिना महिलाओं का नाटक करना है। सभी नट अपनी युवतियों को घर पर छोड़कर राजकुल में गए। आषाढ़भूति की पत्नियों ने सोचा कि हमारा पति राजकुल में गया है अतः सारी रात वहीं बीत जाएगी। आज हम यथेच्छ मदिरा-पान करेंगी। उन्होंने वैसा ही किया तथा उन्मत्तता के कारण वस्त्र रहित होकर घर की दूसरी मंजिल में सो गईं।

इधर राजकुल में किसी दूसरे राष्ट्र का दूत आ गया अतः राजा का चित्त विक्षिप्त हो गया। 'यह नाटक का समय नहीं है', यह सोचकर राजा ने सारे नटों को वापस लौटा दिया। जब आषाढ़भूति ने दूसरी मंजिल में पहुंचकर अपनी दोनों पत्नियों को विगतवस्त्रा एवं बीभत्स रूप में देखा तो उसने चिन्तन किया—'अहो! मेरी कैसी मूढ़ता है? विवेक विकलता है, जो मैंने इस प्रकार की अशुचियुक्त तथा अधोगति की कारणभूत स्त्रियों के लिए मुक्तिपद के साधन संयम को छोड़ दिया। अभी भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ा है। मैं गुरु-चरणों में जाकर पुनः चारित्र ग्रहण करूंगा तथा पाप-पंक का प्रक्षालन करूंगा।' यह सोचकर आषाढ़भूति अपने घर से निकलने लगा। विश्वकर्मा ने उसको देख लिया। आषाढ़भूति के चेहरे के हाव-भाव से उसने जान लिया कि यह संसार से विरक्त हो गया। उसने अपनी दोनों पुत्रियों को उठाकर उपालम्भ देते हुए

कहा—'तुम्हारी इस प्रकार की उन्मत्त चेष्टाओं को देखकर सकल निधान का कारण तुम्हारा पति तुमसे विरक्त हो गया है। यदि तुम उसे लौटा सको तो प्रयत्न करो, अन्यथा जीवन चलाने के लिए धन की याचना करो।'

दोनों पत्नियां वस्त्र पहनकर आषाढ़भूति के पास दौड़ीं और पैरों में गिर पड़ीं। उन्होंने निवेदन करते हुए कहा—'स्वामिन्! हमारे एक अपराध को क्षमा करके आप पुनः घर लौट आओ। विरक्त होकर हमें इस प्रकार मझधार में मत छोड़ो।' उनके द्वारा ऐसा कहने पर भी उसका मन विचलित नहीं हुआ। पत्नियों ने कहा—'यदि आप गृहस्थ जीवन नहीं जीना चाहते हैं तो हमारे लिए जीवन चलाने जितने धन की व्यवस्था कर दो, जिससे आपकी कृपा से हम अपना शेष जीवन भलीभांति बिता सकें।' अनुकम्पावश आषाढ़भूति ने उनके इस निवेदन को स्वीकार कर लिया और पुनः घर आ गया।

आषाढ़भूति ने भरत चक्रवर्ती के चरित्र को प्रकट करने वाले 'राष्ट्रपाल' नामक नाटक की तैयारी की। विश्वकर्मा ने राजा सिंहरथ को निवेदन किया कि आषाढ़भूति ने 'राष्ट्रपाल' नामक नाटक की रचना की है। आप उसका आयोजन करवाएं। नाटक के मंचन हेतु उनको आभूषण पहने हुए ५०० राजपुत्र चाहिए। राजा ने ५०० राजपुत्रों को आज्ञा दे दी। आषाढ़भूति ने उनको सम्यक् प्रकार से प्रशिक्षित किया। नाटक प्रारंभ हुआ। आषाढ़भूति ने भरतचक्रवर्ती का चरित्र प्रस्तुत किया और राजपुत्रों ने भी यथायोग्य अभिनय किया।

किस प्रकार भरत ने षट्खण्ड पर अधिकार किया, चतुर्दश रत्न एवं नौ निधियों को प्राप्त किया, आदर्श गृह में स्थित होकर कैवल्य प्राप्त किया तथा ५०० राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की, नाटक में यह सब अभिनय प्रस्तुत किया गया। अंत में नाटक से संतुष्ट राजा ने तथा सभी लोगों ने यथाशक्ति हार, कुंडल आदि आभरण तथा प्रभूत मात्रा में वस्त्र आदि फेंके। सब लोगों को धर्मलाभ देकर आषाढ़भूति ५०० राजकुमारों के साथ राजकुल से बाहर जाने लगा। राजा ने उसको रोका। उसने उत्तर दिया—'क्या भरतचक्रवर्ती प्रव्रज्या लेकर वापिस संसार में लौटा था, वह नहीं लौटा तो मैं भी नहीं लौटूंगा।' सपरिवार आषाढ़भूति गुरु के समीप गया। वस्त्र-आभरण आदि सब अपनी दोनों पत्नियों को दे दिए और पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली। वही नाटक विश्वकर्मा ने कुसुमपुर नगर में भी प्रस्तुत किया। वहां भी ५०० क्षत्रिय प्रव्रजित हो गए। लोगों ने सोचा—इस प्रकार क्षत्रियों द्वारा प्रव्रज्या लेने पर यह पृथ्वी क्षत्रिय रहित हो जाएगी अतः उन्होंने नाटक को अग्नि में जला दिया।[1] (यह मायापिंड का उदाहरण है)।

### ४६. लोभपिण्ड : सिंहकेशरक मोदक-दृष्टान्त

चम्पा नामक नगरी में सुव्रत नामक साधु प्रवास कर रहा था। एक बार वहां मोदकोत्सव का आयोजन हुआ। उस दिन सुव्रत मुनि ने सोचा कि मुझे आज किसी भी प्रकार सिंहकेशरक मोदक प्राप्त करने हैं। लोगों के प्रतिषेध करने पर भी वह दो प्रहर तक घूमता रहा। मोदक की प्राप्ति न होने पर

---

१. जीभा १३९८-१४१०, पिनि २१९/९-१५, मटी प १३७-३९।

उसका चित्त विक्षिप्त हो गया। अब वह हर घर के द्वार में प्रवेश करके 'धर्मलाभ' के स्थान पर 'सिंहकेशरक मोदक' कहने लगा। पूरे दिन और रात्रि के दो प्रहर बीतने पर भी वह मोदक के लिए घूमता रहा। आधी रात्रि में उसने एक श्रावक के घर प्रवेश किया। 'धर्मलाभ' के स्थान पर उसने 'सिंहकेशरक' शब्द का उच्चारण किया। वह श्रावक बहुत गीतार्थ और दक्ष था। उसने सोचा—'निश्चय ही इस मुनि ने कहीं भी सिंहकेशरक मोदक प्राप्त नहीं किए इसलिए इसका चित्त विक्षिप्त हो गया है।' मुनि की चैतसिक स्थिरता हेतु श्रावक बर्तन भरकर सिंहकेशरक मोदक लेकर आया और निवेदन किया' मुने! इन मोदकों को आप ग्रहण करो।' मुनि सुव्रत ने उनको ग्रहण कर लिया। मोदक ग्रहण करते ही उसका चित्त स्वस्थ हो गया। श्रावक ने पूछा—'आज मैंने पूर्वार्द्ध का प्रत्याख्यान किया था, वह पूर्ण हुआ या नहीं?' मुनि सुव्रत ने काल-ज्ञान हेतु उपयोग लगाया। मुनि ने आकाश-मण्डल को तारागण से परिमण्डित देखा। उसको चैतसिक भ्रम का ज्ञान हो गया। मुनि ने पश्चात्ताप करना प्रारंभ कर दिया—'हा! मूढ़तावश मैंने गलत आचरण कर लिया। लोभ से अभिभूत मेरा जीवन व्यर्थ है।' श्रावक को संबोधित करते हुए मुनि ने कहा—'तुमने पूर्वार्द्ध प्रत्याख्यान की बात कहकर मुझे संसार में डूबने से बचा लिया। तुम्हारी प्रेरणा मेरे लिए संबोध देने वाली रही।' आत्मा की निंदा करते हुए उसने विधिपूर्वक मोदकों का परिष्ठापन किया तथा ध्यानानल से क्षणमात्र में घाति-कर्मों का नाश कर दिया। आत्मचिंतन से मुनि को कैवल्य की प्राप्ति हो गई।[1]

### ४७. विद्या-प्रयोग : भिक्षु-उपासक का कथानक

गंधसमृद्ध नगर में धनदेव नामक भिक्षु उपासक था। साधुओं के घर आने पर वह उनको भिक्षा में कुछ नहीं देता था। एक बार कुछ तरुण साधु एक साथ एकत्रित होकर वार्तालाप करने लगे। एक युवक साधु ने कहा—'यह धनदेव अत्यन्त कंजूस है, साधुओं को कुछ भी नहीं देता है। क्या कोई साधु ऐसा है, जो इससे घृत, गुड़ आदि का दान ले सके?' उनमें से एक साधु बोला—'यदि तुम लोगों की इच्छा है तो मुझे विद्यापिंड की आज्ञा दो, मैं उससे दान दिलवाऊंगा।' साधु उसके घर गया। घर को अभिमंत्रित करके वह साधुओं से बोला-'क्या दिलवाऊं?' साधुओं ने कहा-'घृत, गुड़ और वस्त्र आदि।' धनदेव ने प्रचुर मात्रा में साधुओं को घृत, गुड़ आदि दिया। उसके बाद क्षुल्लक ने विद्या प्रतिसंहृत कर ली। भिक्षु उपासक धनदेव के ऊपर से मंत्र का प्रभाव समाप्त हो गया। वह स्वभावस्थ हो गया। जब उसने घृत, गुड़ आदि को देखा तो उसे वे मात्रा में कम दिखाई दिए। उसने पूछा—'मेरे घी, गुड़ आदि की चोरी किसने की?' इस प्रकार कहते हुए उसने विलाप करना प्रारंभ कर दिया। तब परिजनों ने उसे समझाते हुए कहा—'तुमने स्वयं अपने हाथों

---

१. जीभा १४१४-१७, पिनि २२०/१,२ मटी प. १३९, निभा एवं उसकी चूर्णि में केवल क्रोधपिण्ड और मानपिण्ड से संबंधित कथाएं हैं। निशीथसूत्र में मायापिण्ड और लोभपिण्ड से संबंधित सूत्र का उल्लेख है लेकिन उसकी व्याख्या एवं कथा नहीं है। यह अन्वेषण का विषय है कि ऐसा क्यों हुआ? इस संदर्भ में यह संभावना की जा सकती है कि संपादित निशीथ भाष्य एवं चूर्णि में वह प्रसंग छूट गया हो अथवा ग्रंथकार ने उसे सरल समझकर छोड़ दिया हो।

से साधुओं को घी, गुड़ आदि का दान दिया है, फिर तुम इस प्रकार विलाप क्यों कर रहे हो?' उनकी बात सुनकर वह मौन हो गया।[1]

**४८. मंत्र-प्रयोग : मुरुण्ड राजा एवं पादलिप्तसूरि कथानक**

पाटलिपुत्र[2] नगर में मुरुण्ड नामक राजा राज्य करता था। वहां पादलिप्त आचार्य का प्रवास था। एक बार मुरुण्ड राजा के शिर में अतीव वेदना प्रादुर्भूत हो गई। विद्या, मंत्र आदि के द्वारा भी कोई उसे शान्त नहीं कर सका। राजा ने पादलिप्त आचार्य को बुलाया, उनका स्वागत करते हुए राजा ने अकारण होने वाली शिरोवेदना के बारे में बताया। लोगों को ज्ञात न हो इस प्रकार मंत्र का ध्यान करते हुए वस्त्र के मध्य में अपनी दाहिनी जंघा के ऊपर अपने दाहिने हाथ की प्रदेशिनी अंगुलि को जैसे-जैसे घुमाया, वैसे-वैसे राजा की शिरोवेदना दूर होने लगी। धीरे-धीरे पूरे शिर का दर्द दूर हो गया। मुरुण्ड राजा आचार्य पादलिप्त का अतीव भक्त बन गया। उसने आचार्य को विपुल भक्त-पान आदि का दान दिया।[3]

**४९. चूर्ण-प्रयोग : क्षुल्लकद्वय एवं चाणक्य कथानक**

कुसुमपुर[4] नगर में चन्द्रगुप्त नामक राजा राज्य करता था। उसके मंत्री का नाम चाणक्य था। वहां जंघाबल से हीन सुस्थित[5] नामक आचार्य प्रवास करते थे। एक बार वहां भयंकर दुर्भिक्ष हो गया। आचार्य ने सोचा—'समृद्ध नामक शिष्य को आचार्य पद पर स्थापित करके सकल गच्छ को सुभिक्ष वाले स्थान में भेज दूंगा।' आचार्य ने उसको एकान्त में योनिप्राभृत की वाचना देनी प्रारंभ की। किसी भी प्रकार दो क्षुल्लकों ने अदृश्य करने वाले अञ्जन बनाने की व्याख्या सुन ली। उस अञ्जन को आंखों में आंजने से व्यक्ति किसी को दिखाई नहीं देता।

योनिप्राभृत की व्याख्या में समर्थ होने के बाद आचार्य ने अपने शिष्य समृद्ध को आचार्यपद पर स्थापित कर दिया। आचार्य ने सकल गच्छ के साथ उसको देशान्तर में भेज दिया। आचार्य स्वयं एकाकी रूप से वहां रहने लगे। कुछ दिनों के बाद आचार्य के स्नेह से अभिभूत होकर वे दोनों क्षुल्लक आचार्य के पास आए। जो कुछ भी प्राप्त होता, आचार्य उसे क्षुल्लक भिक्षुओं को बांटकर आहार करते थे। वे स्वयं कम आहार लेते भिक्षुओं को अधिक देते थे। आहार की कमी से आचार्य का शरीर दुर्बल हो गया। तब क्षुल्लकद्वय ने सोचा आचार्य को ऊणोदरी हो रही है अतः हम पूर्वश्रुत अञ्जन का प्रयोग करके चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करेंगे। उन्होंने वैसा ही किया। आहार की कमी से चन्द्रगुप्त का शरीर

---

१. जीभा १४३९-४२, पिनि २२७/१,२ मटी प. १४१,१४२, निभा ४४५७,४४५८, चू पृ. ४२२।

२. पिनि की मलयगिरीया टीका में पाटलिपुत्र के स्थान पर प्रतिष्ठानपुर नाम का उल्लेख मिलता है।

३. जीभा १४४४, १४४५, पिनि २२८/१, मटी प. १४२, निभा ४४६०, चू पृ. ४२३।

४. निशीथ चूर्णि (भा. ३ पृ. ४२३) तथा पिण्डविशुद्धिप्रकरण में पाटलिपुत्र नाम का उल्लेख है। पाटलिपुत्र का पुराना नाम कुसुमपुर था।

५. पिण्डविशुद्धिप्रकरण प. ६७ में आचार्य का नाम संभूतविजय है।

कृश होने लगा। चाणक्य ने उनसे पूछा—'आपका शरीर दुर्बल क्यों दिखाई दे रहा है?' राजा चन्द्रगुप्त ने कहा—'परिपूर्ण आहार की प्राप्ति न होने से।' तब चाणक्य ने चिन्तन किया—'इतना आहार परोसने पर भी आहार की कमी कैसे हो सकती है? ऐसा लगता है कि निश्चित ही कोई अञ्जनसिद्ध व्यक्ति राजा के साथ भोजन करता है।' तब उसने अञ्जनसिद्ध को पकड़ने के लिए भोजनमण्डप में अत्यन्त सूक्ष्म इष्टकचूर्ण विकीर्ण कर दिया। चाणक्य ने चूर्ण पर मनुष्य के पदचिह्नों को अंकित देखा। चाणक्य को निश्चय हो गया कि दो अञ्जनसिद्ध व्यक्ति यहां आते हैं। चाणक्य ने द्वार को ढ़ककर भोजन-मण्डप में चारों ओर धूम कर दिया। धूम से बाधित नयनों से आंसू बहने के साथ अञ्जन भी साफ हो गया। अञ्जन का प्रभाव समाप्त होने पर दोनों क्षुल्लक प्रकट हो गए। चन्द्रगुप्त ने जुगुप्सा के साथ कहा—'अहो! इनके उच्छिष्ट भोजन करने से मैं इनके द्वारा दूषित कर दिया गया।' चाणक्य ने शासन तथा प्रवचन की अवहेलना न हो इसलिए एक समाधान खोजा। उसने राजा को कहा—'राजन्! तुम धन्य हो। इन बालब्रह्मचारी यतियों ने तुमको पवित्र कर दिया है लेकिन तुम्हारे उच्छिष्ट भोजन से ये अपवित्र हो गए हैं। चाणक्य ने क्षुल्लकद्वय को वंदना करके भेज दिया।

रात्रि में चाणक्य आचार्य के पास गया और आचार्य को उपालम्भ देते हुए कहा—'तुम्हारे दोनों क्षुल्लक प्रवचन की अप्रभावना कर रहे हैं।' तब आचार्य ने चाणक्य को उपालम्भ देते हुए कहा—'इसके लिए तुम ही अपराधी हो क्योंकि श्रावक होते हुए भी तुम क्षुल्लकों के जीवन-निर्वाह की चिन्ता नहीं करते हो। इस दुर्भिक्ष काल में साधु का जीवन भलीभांति कैसे चलता है, क्या तुमने इसके बारे में कभी सोचा?' 'भगवन्! आपका कथन सत्य है' ऐसा कहते हुए चाणक्य उनके पैरों में गिर पड़ा और क्षमायाचना की। इसके बाद चाणक्य ने सकल संघ की भिक्षा हेतु यथायोग्य चिन्ता की।[1]

## ५०. योग-प्रयोग : कुलपति एवं आर्य समित कथानक

अचलपुर[2] नामक नगर के पास कृष्णा और वेन्ना नामक दो नदियां थीं। दोनों नदियों के बीच ब्रह्म नामक द्वीप था। वहां पांच सौ तापस के साथ देवशर्मा नामक कुलपति निवास करता था। वह संक्रांति आदि पर्व दिनों में अपने तीर्थ की प्रभावना के लिए सब तापसों के साथ पाद-लेप करके कृष्णा नदी को पैरों से पार करके अचलपुर जाता था। लोग उसके इस अतिशय को देखकर विस्मित हो जाते तथा विशेष रूप से भोजन आदि से सत्कार करते थे। लोग साधुओं की निंदा करते हुए श्रावकों को कहते थे—'तुम लोगों के पास ऐसी शक्ति नहीं हो सकती।' श्रावकों ने यह बात वज्रस्वामी के मामा आचार्य समित को बताई। उन्होंने चिन्तन करके श्रावकों से कहा—'यह कुलपति मायापूर्वक पादलेप करके नदी पार करता है, तप-शक्ति के प्रभाव से नहीं। यदि गर्म जल से इसके पैर धो दिए जाएं तो वह नदी पार नहीं कर सकेगा।' तब श्रावकों ने उसकी माया को प्रकट करने के लिए सपरिवार कुलपति को भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजन-

---

१. जीभा १४५०-५५, पिनि २३० पिभा ३५-३७, मटी प. १४३, निभा ४४६३-६५, चू पृ. ४२३, ४२४।

२. निशीथ चूर्णि (भा. ३ पृ. ४२५) तथा जीभा १४६० में आभीर जनपद का उल्लेख मिलता है। ऐसा संभव लगता है कि आभीर जनपद में अचलपुर नामक नगर था।

वेला में कुलपति वहां पहुंचा। श्रावकों ने उसका पाद-प्रक्षालन करना प्रारंभ किया लेकिन पाद-लेप दूर होने के भय से उसने पैरों को आगे नहीं किया। तब श्रावकों ने कहा—'बिना पाद-प्रक्षालन किए आपको भोजन करवाने से हमको अविनय दोष लगेगा। विनयपूर्वक दिया गया दान अधिक फलदायी होता है।' श्रावकों ने बलपूर्वक पैर आगे करके उनको प्रक्षालित कर दिया। भोजन के बाद कुलपति अपने स्थान पर जाने के लिए तैयार हुआ। श्रावक भी सब लोगों को बुलाकर उनके पीछे-पीछे चलने लगे। कुलपति ने सपरिवार कृष्णा नदी को पार करने हेतु नदी में पैर रखा लेकिन पादलेप के अभाव में वह डूबने लगा। लोगों में उसकी निंदा होने लगी।

इसी बीच कुलपति को बोध देने के लिए आचार्य समित वहां आए। उन्होंने सब लोगों के सामने नदी से कहा—'हे कृष्णे! हम उस पार जाना चाहते हैं।' तब कृष्णा नदी के दोनों किनारे आपस में मिल गए। नदी की चौड़ाई उनके पैरों जितनी हो गई। आचार्य कदम रखकर नदी के उस पार चले गए। पीछे से नदी चौड़ी हो गई पुनः उसी प्रकार वे वापस आ गए। यह देखकर सपरिवार कुलपति एवं सभी लोग आश्चर्यचकित हो गए। कुलपति ने अपने पांच सौ तापसों के साथ आर्य समित के पास दीक्षा ग्रहण कर ली, आगे जाकर वह ब्रह्मशाखा के रूप में प्रसिद्ध हुई।[1]

### ५१. द्रव्य ग्रहणैषणा : वानरयूथ-दृष्टान्त

विशालशृंग नामक पर्वत था। उसके एक वनखण्ड में वानरों का समूह रमण करता था। उसी पर्वत पर दूसरा वनखण्ड भी सब प्रकार के पुष्प-फल आदि से समृद्ध था। उसके मध्यभाग में स्थित हद में एक शिशुमार रहता था। जो कोई मृग आदि पशु पानी पीने हेतु हद में प्रवेश करते, वह उन सबको खींचकर खा जाता था। एक बार पुष्प और फलों से रहित वनखण्ड को देखकर वानर यूथपति ने जीवन निर्वाह योग्य अन्य वनखण्ड की खोज हेतु वानरयुगल को भेजा। खोज करके वानरयुगल ने यूथाधिपति को निवेदन किया—'अमुक प्रदेश में एक वनखण्ड है, जो सब ऋतुओं में पुष्प-फल आदि से समृद्ध तथा हमारे जीवन-यापन के योग्य है।' यूथाधिपति अपने यूथ के साथ वहां गया। वह समस्त वनखण्ड को ध्यान से देखने लगा। यूथपति ने जल से परिपूर्ण हद को देखा। हद में प्रवेश करते हुए श्वापदों के पदचिह्न थे लेकिन वहां से वापस निकलते हुए श्वापदों के पदचिह्न नहीं थे। तब यूथ को बुलाकर वानर-यूथपति ने कहा—'कोई भी इस हद में प्रवेश करके पानी न पीए। तट पर स्थित नाले से ही पानी पीए, यह हद उपद्रव रहित नहीं है।' यहां मृग आदि के प्रवेश करते हुए के पदचिह्न दिखाई देते हैं लेकिन निकलते हुए के दिखाई नहीं देते। जिन वानरों ने उसके वचन का पालन किया, वे सुखपूर्वक विहार करते रहे। जिन्होंने यूथपति के वचनों का पालन नहीं किया, वे समाप्त हो गए।[2]

---

१. जीभा १४६०-६६, पिनि २३१/२-४, मटी प. १४४, निभा ४४७०-७२, चू पृ ४२५।
२. जीभा १४७४, पिनि २३६/१-३, मटी प. १४६।

### ५२. छर्दित दोष : मधु-बिन्दु-दृष्टान्त

वारत्तपुर[1] नामक नगर में अभयसेन नामक राजा था। उसके मंत्री का नाम वारत्रक था। एक बार एषणा समिति से धीरे-धीरे चलते हुए धर्मघोष नामक संयमी साधु भिक्षार्थ किसी घर में प्रविष्ट हुआ। मंत्री की पत्नी ने साधु को भिक्षा देने के लिए घृत शर्करा युक्त पायस के पात्र को उलटा। शर्करा मिश्रित एक घृत बिंदु भूमि पर गिर गया। तब मुक्ति-प्राप्ति में दत्तचित्त, सागर की भांति गंभीर, मेरु की भांति निष्प्रकम्प, वसुधा की भांति सर्वंसह, शंख की भांति राग आदि से निर्लेप, महासुभट की भांति कर्मविदारण में कटिबद्ध, भगवान् के द्वारा उपदिष्ट भिक्षा-ग्रहण की विधि में संलग्न मुनि धर्मघोष ने सोचा कि छर्दित दोष से दुष्ट आहार मेरे लिए कल्पनीय नहीं है अत: बिना भिक्षा लिए वे घर से बाहर निकल गए। मदोन्मत्त हाथी पर बैठे मंत्री वारत्रक ने मुनि को बाहर निकलते हुए देखा तो सोचा कि मुनि ने मेरे घर से भिक्षा क्यों नहीं ग्रहण की? मंत्री के चिन्तन करते-करते ही उस शर्करा युक्त घी के बिन्दु पर अनेक मक्खियां आ गईं। उनको खाने के लिए छिपकली आ गई। छिपकली को मारने के लिए शरट आ गया। शरट का भक्षण करने हेतु मार्जारी दौड़ी और उसके वध हेतु प्रघूर्णक कुत्ता दौड़ा। उसके वध हेतु भी कोई वसति का रहने वाला दूसरा कुत्ता दौड़ा। दोनों कुत्तों में लड़ाई होने लगी। अपने-अपने कुत्ते के पराभव से चिन्तित मन वाले उनके मालिकों में भी युद्ध छिड़ गया। यह सारा दृश्य अमात्य वारत्रक ने देखा और मन में चिन्तन किया— 'घृत आदि का बिन्दु मात्र भी भूमि पर गिरने से कलह हो गया इसीलिए हिंसा से डरने वाले मुनि ने घृतबिन्दु को भूमि पर देखकर भिक्षा ग्रहण नहीं की। अहो! भगवान् का धर्म बहुत सुदृष्ट है। सर्वज्ञ के अलावा कौन व्यक्ति ऐसे दोषरहित धर्म का उपदेश दे सकता है?' इस प्रकार चिन्तन करते हुए वह संसार से विमुख चित्त वाला हो गया। सिंह जैसे गिरिकन्दरा से निकलता है, वैसे ही अपने प्रासाद से बाहर निकलकर मंत्री वारत्रक ने धर्मघोष साधु के पास आकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। उस महात्मा ने शरीर से अनासक्त रहकर संयम-अनुष्ठान एवं स्वाध्याय से भावित अंत:करण से दीर्घकाल तक संयम-पर्याय का पालन किया फिर क्षपक श्रेणी में आरोहण कर घातिकर्मों का समूल नाश होने पर केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त किया और कालक्रम से सिद्धिगति को प्राप्त किया।[2]

### ५३. द्रव्य ग्रासैषणा : मत्स्य-दृष्टान्त

एक मच्छीमार मत्स्य को ग्रहण करने के लिए सरोवर के पास गया। सरोवर के निकट जाकर उसने एक मांसपेशी से युक्त जाल सरोवर के बीच में फेंका। उस सरोवर में दक्ष तथा परिणत बुद्धि वाला एक वृद्ध मत्स्य रहता था। कांटे में लगे मांस की सुगंध पाकर उसका भक्षण करने हेतु वह वृद्ध मत्स्य कांटे के पास गया और यत्नपूर्वक आस-पास का सारा मांस खा गया। फिर पूंछ से कांटे को दूर कर दिया। मच्छीमार ने सोचा कि मत्स्य जाल में फंस गया है अत: उसने कांटे को अपनी ओर खींचा। उसने मत्स्य

---

१. जीभा १६०३, पिनि ३०१, मटी प. १६९, १७०।

२. पिण्डविशुद्धिप्रकरण (प. ७६) में यह कथा विस्तृत रूप में दी गई है।

और मांस से रहित कांटे को देखा। मच्छीमार ने पुनः मांसपेशी लगाकर कांटे को सरोवर में फेंका। पुनः वह मत्स्य मांस खाकर पूंछ से कांटे को धकेलकर पलायन कर गया। इस प्रकार उसने तीन बार मांस खाया लेकिन मच्छीमार उसको पकड़ नहीं सका।

मांस समाप्त होने पर चिंता करते हुए मच्छीमार को मत्स्य ने कहा—'तुम इस प्रकार क्या चिन्तन कर रहे हो? तुम मेरी कथा सुनो, जिससे तुमको लज्जा का अनुभव होगा। मैं तीन बार बलाका के मुख में जाकर भी उससे मुक्त हो गया। एक बार मैं बलाका के द्वारा पकड़ा गया। उसने मुझे मुख में डालने के लिए ऊपर की ओर फेंका। मैंने सोचा कि यदि मैं सीधा इसके मुख में गिर जाऊंगा तो मेरे प्राणों की रक्षा संभव नहीं है। इसलिए इसके मुख में तिरछा गिरूंगा। ऐसा सोचकर मैंने फुर्ती से वैसा ही किया। मैं उसके मुख से बाहर निकल गया। पुनः दूसरी बार भी मैं उसके मुख में जाकर बाहर निकल गया। तीसरी बार मैं जल में गिरा अतः दूर चला गया। तीन बार मैं समुद्री तट पर भट्टी के रूप में जलती बालू में गिरा लेकिन शीघ्र ही लहरों के साथ ही वापस समुद्र में चला गया। इसी प्रकार मच्छीमार द्वारा बिछे जाल में इक्कीस बार फंसने पर भी जब तक मात्स्यिक ने जाल का संकोच किया, उससे पहले मैं जाल से निकल गया। एक बार मात्स्यिक ने हद के जल को बाहर निकालकर उसे खाली करके अनेक मत्स्यों के साथ मुझे पकड़ा। वह सभी मत्स्यों को एकत्र करके तीक्ष्ण लोहे की शलाका में उनको पिरो रहा था। तब मैं दक्षता से मात्स्यिक की दृष्टि बचाकर स्वयं ही उस लोहे के शलाका के मुख पर स्थित हो गया। जब वह मच्छीमार कर्दम लिप्त मत्स्यों को धोने के लिए सरोवर पर गया तब शीघ्र ही मैं जल में निमग्न हो गया। इस प्रकार मुझ शक्ति सम्पन्न को तुम कांटे से पकड़ना चाहते हो, यह तुम्हारी निर्लज्जता है।' इस कथा का निगमन करते हुए कथाकार कहते हैं कि एषणा के ४२ दोषों से बचने पर भी हे जीव! यदि तुम ग्रासैषणा के दोषों में लिप्त होते हो तो यह तुम्हारी निर्लज्जता है।[1]

### ५४. परिणामक आदि शिष्यों की परीक्षा

एक आचार्य ने शिष्यों की परीक्षा लेने की दृष्टि से उन्हें आदेश दिया कि मुझे आम की आवश्यकता है। उनमें जो परिणामक शिष्य था उसने आचार्य से पूछा–'भंते! मैं सचित्त आम लाऊं या अचित्त, नमक आदि से भावित लाऊं या अभावित? टुकड़े किए हुए लाऊं या बिना टुकड़े किए हुए, गुठली सहित लाऊं या गुठली रहित? तथा संख्या में कितने लेकर आऊं?' आचार्य ने कहा—"प्रयोजन होने पर तुम्हें आम के बारे में कहूंगा। अभी तो मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए ऐसा कहा था।"

शिष्यों में जो अपरिणामक शिष्य था वह बोला–'आचार्यप्रवर! क्या आपको पित्त का प्रकोप हो गया है, जो इस प्रकार का आदेश दे रहे हैं। आज मेरे सामने कह दिया लेकिन आगे कभी ऐसी बात मत कहना। दूसरा कोई व्यक्ति आपकी बात न सुन ले।

अतिपरिणामक शिष्य बोला—"मैं अभी आम लेकर आता हूं। अभी आम का मौसम् है फिर बीत

१. जीभा १६०६-०८, पिनि ३०२/२-४, मटी प. १७०, १७१।

जाएगा। हमारी भी आम खाने की इच्छा है लेकिन आपके भय से हम ऐसा नहीं कर सके। यदि आम कल्प्य है तो आपने इतना समय बीतने पर क्यों कहा? क्या आम के साथ दूसरे फल भी लेकर आ जाऊं?''

आचार्य ने अपरिणामक और अतिपरिणामक शिष्य को कहा—'तुम लोगों ने मेरे कथन के अभिप्राय को नहीं समझा। मैंने अपनी बात पूरी नहीं की, इससे पूर्व ही तुम लोग बोलने लगे। मैंने लवणयुक्त आम के टुकड़े मंगवाए थे, जो शाक रूप में पकाए हुए हों तथा परिणत हों। यदि मैं निष्पाव, कोद्रव आदि मंगवाता हूं तो उसका तात्पर्य भी सूखे और अचित्त से है। ईमली के बीज मंगवाने का तात्पर्य भी अचित्त बीजों से है, सचित्त से नहीं।'[1]

### ५५. प्रतिक्रमण : रसायन दृष्टान्त

एक राजा को राजकुमार से अत्यन्त स्नेह था। उसने सोचा—''मैं भविष्य के लिए एक ऐसे रसायन का निर्माण करवाऊंगा, जिससे मेरे पुत्र को कभी रोग न हो।'' राजा ने सारे वैद्यों को बुलवाया और कहा कि मेरे पुत्र की इस भांति चिकित्सा करो, जिससे वह नीरोग रहे। वैद्यों ने स्वीकृति दी। राजा ने पूछा—'तुम्हारी औषधि की क्या विशेषता है?' एक वैद्य बोला—'मेरी औषध की यह विशेषता है कि यदि रोग होगा तो वह उपशांत हो जायेगा, यदि रोग नहीं होगा तो वह जीवन का नाश कर देगा।' दूसरा वैद्य बोला—'मेरी औषधि रोग को उपशान्त करेगी, यदि रोग नही है तो किसी प्रकार का कोई अच्छा या बुरा असर नहीं होगा।' तीसरा वैद्य बोला—'यदि रोग होगा तो मेरी औषधि उसे उपशान्त कर देगी। यदि रोग नहीं होगा तो वह औषधि वर्ण, रूप, यौवन और लावण्य में परिणत हो जाएगी, उससे भविष्य में कोई रोग उत्पन्न नहीं होगा।' यह सुनकर राजा ने तीसरे वैद्य से चिकित्सा करवाई। प्रतिक्रमण तीसरे रसायन के समान है, जो दोष होने पर उसका छेदन कर देता है तथा दोष न होने पर भविष्य की सुरक्षा कर देता है।[2]

### ५६. पद्मावती की दीक्षा

चंपानगरी में दधिवाहन नामक राजा था। चेटक की पुत्री पद्मावती उसकी पत्नी थी। जब वह गर्भवती हुई तब उसके मन में दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं राजा के कपड़े पहनकर उद्यान, कानन आदि में विहरण करूं। दोहद पूरा न होने से उसका शरीर कृश होने लगा। राजा ने कृश-काय होने का कारण पूछा। रानी ने राजा को दोहद की बात बताई। यह सुनकर राजा और रानी जय नामक हाथी पर आरूढ़ हुए। राजा ने रानी के सिर पर छत्र धारण किया। वे दोनों उद्यान में गए। वर्षाऋतु होने के कारण मिट्टी की गंध से हाथी वन की ओर दौड़ने लगा। राजकीय लोग उस हाथी को रोकने में समर्थ नहीं हो सके। हाथी राजा और रानी दोनों को लेकर अटवी में प्रविष्ट हो गया। राजा ने एक वटवृक्ष को देखकर रानी से कहा—'जब हाथी इस वटवृक्ष के नीचे से गुजरे, तब तुम इस वटवृक्ष की शाखा को पकड़ लेना।' रानी पद्मावती ने राजा की बात सुनी पर वह वृक्ष की शाखा को पकड़ने में असमर्थ रही। राजा दक्ष था अतः उसने तुरन्त शाखा पकड़ ली।

---

१. जीभा १९५१-५८, बृभा ७९८-८०२ टी पृ. २५१, २५२।

२. जीभा २०५४-५७ बृभा ६४२८-३० टी पृ. १६९३, आवहाटी २ पृ. ५३।

अकेली रानी हाथी पर रह गई। राजा वृक्ष से नीचे उतरा और दु:खी मन से चंपा नगरी लौट आया। इधर हाथी रानी को निर्जन अटवी में ले गया। वहां हाथी को प्यास का अनुभव हुआ। उसने एक बड़ा तालाब देखा और उसमें उतरकर क्रीड़ा करने लगा। रानी भी धीरे-धीरे नीचे उतरी, तालाब से बाहर आई। वह अपने नगर की दिशा नहीं जानती थी।

'अहो! कर्मों की गति कितनी विचित्र है। मैं अकल्पित विपत्ति में फंस गई हूं। अब मैं क्या करूं? कहां जाऊं? मेरी क्या गति होगी?' ऐसा सोचते-सोचते वह रोने लगी। क्षण भर बाद उसने धैर्य धारण करके सोचा-'हिंसक एवं जंगली पशुओं से युक्त इस भीषण वन में कुछ भी हो सकता है अत: हर क्षण अप्रमत्त रहना चाहिए।' उसने अर्हत् आदि चार शरणों को स्वीकार किया। अनाचरणीय की आलोचना की और सकल जीव-राशि के साथ मानसिक रूप से क्षमायाचना की। उसने सागारिक भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया। वह नमस्कार महामंत्र का जाप करती हुई एक दिशा में प्रस्थित हुई। बहुत दूर जाने पर उसे एक तापस दिखाई पड़ा। तापस के पास जाकर उसने अभिवादन किया। तापस ने पूछा—'मां! आप कौन है? यहां निर्जन वन में कहां से आई हैं?' वह बोली—'मैं चेटक की पुत्री हूं। राजा दधिवाहन की पत्नी हूं। हाथी मुझे यहां तक ले आया।' वह तापस चेटक से परिचित था। उसने रानी को आश्वासन दिया कि तुम डरो मत। तापस ने भोजन के लिए उसे फल दिए और अटवी के पार पहुंचा दिया। तापस ने कहा—'यहां से आगे हल के द्वारा जोती हुई भूमि है अत: मैं आगे नहीं जा सकता। आगे दन्तपुर नगर है। वहां का राजा दन्तवक्र है।' वह अटवी से बाहर निकली और दंतपुर नगर में आर्याओं के पास प्रव्रजित हो गयी। पूछने पर भी उसने अपने गर्भ के बारे में कुछ नहीं बताया। कुछ समय पश्चात् महत्तरिका को गर्भ के बारे में ज्ञात हुआ। प्रसव होने पर उसने नाममुद्रिका के साथ बालक को कंबलरत्न से आवेष्टित कर श्मशान में छोड़ दिया। श्मशान में रहने वाले चांडाल ने उस बालक को उठा लिया और अपनी पत्नी को दे दिया। उसका नाम अवकीर्णक रख दिया।

आर्या पद्मावती ने उस चांडाल के साथ मैत्री स्थापित कर ली। अन्य साध्वियों ने उससे पूछा-'तुम्हारा गर्भ कहां है?' उसने कहा—'मृतक पुत्र पैदा हुआ था अत: उसे श्मशान में डाल दिया।' वह बालक बढ़ने लगा और बच्चों के साथ खेलने लगा। वह बच्चों से कहता—'मैं सब का राजा हूं अत: तुम सब मुझे 'कर' दो। एक बार उसे सूखी खाज हो गई। वह बालकों से कहता कि मेरे खाज करो। हाथ से खाज करने के कारण बच्चों ने उसका नाम करकंडु रख दिया। बालक करकंडु भी उस साध्वी के प्रति अनुरक्त हो गया। वह साध्वी भी भिक्षा में जो मोदक आदि अच्छी चीज मिलती, बालक को देती थी। बड़ा होने पर वह श्मशान की रक्षा करने लगा।[1]

### ५७. खुड्डगकुमार को वैराग्य

साकेत नगर में पुंडरीक राजा राज्य करता था। उसके युवराज का नाम कंडरीक था। युवराज की

१. जीभा २३६४, उशांटी प. ३००, ३०१।

पत्नी का नाम यशोभद्रा था। एक दिन उसे देखकर पुंडरीक उस पर आसक्त हो गया लेकिन वह उसे नहीं चाहती थी। राजा पुंडरीक ने युवराज कंडरीक को मार दिया। पति की मृत्यु के पश्चात् यशोभद्रा एक सार्थ के साथ वहां से पलायन कर गयी। अधुनोपपन्न गर्भवती रानी श्रावस्ती नगरी पहुंची। श्रावस्ती नगरी में अजितसेन आचार्य थे। वहां महत्तरिका का नाम कीर्तिमती था। वह उस महत्तरिका के पास वैसे ही प्रव्रजित हो गयी, जैसे रानी पद्मावती। कालान्तर में प्रसव के बाद भी उसने अपने पुत्र को नहीं छोड़ा। उस नवजात बालक का नाम खुड्डककुमार रखा गया। क्रमशः वह यौवन को प्राप्त हुआ। उसने सोचा कि मैं दीक्षा लेने में समर्थ नहीं हूं अतः उसने माता साध्वी से जाने की आज्ञा मांगी। उसने उसे अनेकविध समझाया पर वह नहीं माना। साध्वी ने कहा—'मेरे कहने से तुम बारह वर्ष तक और इंतजार करो। उसने माता साध्वी की बात स्वीकार कर ली।' बारह वर्ष पूर्ण होने पर उसने जाने की आज्ञा मांगी। साध्वी ने कहा—'मैं महत्तरिका साध्वी से पूछकर तुम्हें आज्ञा दूंगी।' उसने भी बारह वर्ष की अवधि मांगी। महत्तरिका की आज्ञा से वह बारह वर्ष तक वहां रहा फिर आचार्य की आज्ञा से बारह वर्ष रहा फिर उपाध्याय की इच्छा से बारह वर्ष तक रहा। इतने वर्ष बीतने पर भी वह प्रव्रजित होने के लिए तैयार नहीं हुआ। सबने उसे जाने की आज्ञा दे दी। जाते हुए साध्वी माता ने उसे शिक्षा देते हुए कहा—'तुम ऐसे-वैसे स्थान पर मत जाना। तुम्हारे बड़े पिता राजा पुंडरीक है।' यह तुम्हारे पिता के नाम की मुद्रिका तथा कंबलरत्न है, तुम इन्हें अपने साथ ले जाओ।''

वह साकेत नगर पहुंचा। वहां राजा की यानशाला में यह सोचकर ठहरा कि कल राजा से मिलूंगा। आभ्यन्तर परिषद् में उसने नाटक देखा। वह नर्तकी पूरी रात नाचने के बाद प्रभातकाल में निद्राधीन होने लगी। नर्तकी की मुखिया ने सोचा—'परिषद् संतुष्ट हो गयी है, उससे बहुत उपहार पाना है।' यदि यह प्रमाद करेगी तो हमारा तिरस्कार होगा। अन्यथा बहुत धन की प्राप्ति हो सकेगी। उसने गीत गाते हुए कहा—'पूरी रात्रि तुमने अच्छा गाया और अच्छा नृत्य किया, अब रात्रि के अंत में प्रमाद मत करो।'

इसी बीच उस खुड्डक ने अपना कम्बलरत्न नर्तकी की ओर फेंक दिया। युवराज यशोभद्र ने कुंडल, श्रीकान्ता सार्थवाही ने हार, जयसंधि मंत्री ने कंगन, कर्णपाल महावत ने अंकुश फेंक दिया। ये सब चीजें लाख मूल्य वाली थीं। राजा ने कहा—'नर्तकी से संतुष्ट होकर व्यक्ति जो कुछ भी दे, वह सब लिखा जाए। यदि ज्ञात रहेगा तो राजा उससे संतुष्ट होगा अन्यथा दंड मिलेगा।' सब व्यक्तियों के उपहार लिख लिए गए। प्रातः उन सब व्यक्तियों को बुलाया गया। राजा ने उनसे पूछा—'खुड्डककुमार! तुमने नर्तकी को रत्नकम्बल क्यों दिया?' उसने पितृमारक राजा के बारे में पूरी बात बताई। साथ ही यह कहा कि संयम-पालन करने में मैं स्वयं को समर्थ नहीं समझ रहा था अतः तुम्हारे पास राज्य की अभिलाषा से आया हूं। राजा पुंडरीक ने कहा—'मैं तुम्हें राज्य दूंगा।' खुड्डक ने कहा—'अब मेरे लिए राज्य व्यर्थ है क्योंकि अब स्वप्नान्त-जीवन का सान्ध्यकाल चल रहा है, कभी भी मर सकता हूं। राज्य लेने से मेरा पूर्वकृत संयम भी नष्ट हो जाएगा। युवराज ने बहुमूल्य कुंडल देने का कारण बताते हुए कहा—'मैं आपको मारना चाहता था क्योंकि मेरे मन में चिंतन था कि वृद्ध होने पर भी आप मुझे राज्य नहीं दे रहे हैं।' राजा ने अपने पुत्र को राज्य

देना चाहा लेकिन उसने इंकार कर दिया। सार्थवाह की पत्नी ने हार देने का कारण बताते हुए कहा—'मेरे पति को परदेश गए हुए बारह वर्ष हो गए। मैं किसी अन्य के साथ जाना चाहती थी।' मंत्री ने कंगन देने का कारण बताते हुए कहा कि मैं अन्य राजा के साथ मिलकर आपके साथ विद्रोह करना चाहता था। महावत ने कहा—"प्रत्यन्त राजा ने मुझे हाथी लाने को कहा अथवा राजा को मारने की बात कही।" उन सबकी बात सुनकर राजा ने वैसा करने को कहा लेकिन सबने अपनी अनिच्छा व्यक्त की। खुड्डककुमार वापिस जाकर प्रव्रजित हो गया और सभी ने अपना-अपना लोभ छोड़ दिया।[1]

**५८. हस्तालम्ब : वणिगद्वय कथा**

उज्जयिनी नगरी में अवसन्न आचार्य रहते थे, वे निमित्त शास्त्र के ज्ञाता थे। उनके दो वणिक् मित्र थे। वे आचार्य से पूछकर व्यापार करते थे कि अभी उपकरणों को खरीदें या बेचें? इस प्रकार व्यापार करते हुए वे ऐश्वर्य सम्पन्न हो गए। आचार्य का एक भानजा था, वह भोगों में आसक्त था। एक दिन आचार्य के पास आकर उसने कुछ मांग की। आचार्य ने क्षुल्लक शिष्य के साथ उसे व्यापारी मित्र के पास भेजा और कहलवाया कि इसे एक हजार रुपये दे दो। आचार्य के कथनानुसार उसने वहां जाकर रुपयों की मांग की। एक व्यापारी ने कहा—"क्या पक्षी रुपये पैदा करते हैं? मेरे पास इतने रुपए नहीं हैं। मैं तुमको केवल २० रुपए दूंगा।" उसने रुपये नहीं लिए और आचार्य के पास जाकर सारी स्थिति का निवेदन किया। तब आचार्य ने उसे दूसरे वणिक् के पास भेजा। उसने वहां जाकर भी आचार्य के कथनानुसार रुपयों की मांग की। व्यापारी ने टोकरी में बहुत सारी नौलियां दिखाईं और कहा—'इनमें तुमको जितने रुपयों की इच्छा है, उतने ग्रहण कर लो।'

दूसरे वर्ष दोनों व्यापारियों ने आचार्य से व्यापार के सम्बन्ध में पूछा कि इस वर्ष हम क्या खरीदें? आचार्य ने प्रथम वणिक् को कहा—'तुम्हारे घर में जितना धन है, उससे तुम कपास, घी, गुड़ आदि खरीदकर घर के अंदर रख लो।' दूसरा वणिक् जिसके पास धन कम था, उसे कहा—"तुम बहुत सा तृण, काष्ठ, धान्य आदि खरीदकर नगर के बाहर अग्नि से रहित स्थान पर छिपाकर रख दो।" उस वर्ष अनावृष्टि हुई अत: अग्नि का प्रकोप हो गया। अग्नि के कारण सारा नगर जल गया। प्रथम वणिक् की सारी कपास आदि वस्तुएं जलकर भस्म हो गईं। दूसरे वणिक् की सारी वस्तुएं सुरक्षित रह गईं। उसने तृण, काष्ठ, धान्य आदि अधिक कीमत पर बेच दिए। उसको लाखों रुपयों की कमाई हो गई। तब प्रथम वणिक् ने आकर आचार्य को कहा—'आपके निमित्त में इतना विसंवाद कैसे हुआ?' आचार्य ने प्रत्युत्तर दिया—'क्या शकुनि निमित्त पैदा करती है?' यह सुनकर व्यापारी को अपनी भूल का अहसास हुआ। उसने आचार्य से अपनी त्रुटि के लिए क्षमायाचना की। आचार्य की अनुकम्पा से वह पुन: ऐश्वर्य सम्पन्न हो गया।[2]

---

१. जीभा २३६४, आवचू २ पृ. १९१, १९२,हाटी २ पृ. १४१, १४२।

२. जीभा २३९६-२४०५, बृभा ५११४, टी पृ. १३६२, १३६३।

### ५९. सरसों की भाजी

एक साधु ने सरसों की सुसंभृत सब्जी प्राप्त की। उसको उस सब्जी में अत्यन्त आसक्ति थी। भिक्षा के बाद उसने आचार्य को वह सब्जी निवेदित की। आचार्य को निमंत्रण देने पर उन्होंने वह सारी सब्जी खा ली। यह देखकर मुनि को तीव्र द्वेष उत्पन्न हो गया। ज्ञात होने पर आचार्य ने क्षमायाचना की, मिथ्या दुष्कृत किया फिर भी उसका रोष शान्त नहीं हुआ। मुनि ने आचार्य से कहा—"मैं तुम्हारे दांतों को तोड़ूंगा।" गुरु ने सोचा कहीं असमाधिमरण से मेरी मौत न हो अतः अन्य योग्य शिष्य को आचार्य रूप में स्थापित करके अन्य गण में जाकर वहां भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया। आचार्य ने समाधिमरण प्राप्त कर लिया।

उस दुष्ट शिष्य ने अपने साथी मुनियों से गुरु के बारे में पूछा। उन लोगों ने इस संदर्भ में कुछ नहीं बताया। उसने दूसरे स्थान पर जाकर आचार्य के बारे में जानकारी प्राप्त की। साधुओं ने कहा—"आचार्य समाधिमरण में कालगत हो गए हैं।" शिष्य ने पूछा—"आचार्य के शरीर का कहां परिष्ठापन किया गया है?" आचार्य ने प्राणत्याग से पूर्व ही साधुओं से कह दिया था कि मेरे शरीर को जहां परिष्ठापित किया जाए, उस बारे में उस शिष्य को कुछ मत बताना। शिष्यों ने उसे कुछ नहीं बताया। अन्य स्रोत से उसने आचार्य के परिष्ठापित शरीर के बारे में जानकारी प्राप्त कर ली। वह उस स्थान पर पहुंचा, जहां आचार्य का शरीर परिष्ठापित किया गया था। उसने आचार्य के शरीर को बाहर निकाला। गोल पत्थर लेकर उसने आचार्य के दांतों को तोड़ते हुए कहा—"तुमने इन्हीं दांतों से सरसों की भाजी खाई थी।" इस प्रकार उसने अपने क्रोध को उपशांत किया।[१]

### ६०. मुखवस्त्रिका

एक साधु ने अत्यन्त उज्ज्वल मुखवस्त्रिका प्राप्त की। उसने जब गुरु को मुखवस्त्रिका दिखाई तो वह मुखवस्त्रिका गुरु ने ले ली। उसके मन में गुरु के प्रति तीव्र प्रद्वेष उत्पन्न हो गया। ज्ञात होने पर गुरु ने मुखवस्त्रिका उसे पुनः लौटाते हुए क्षमायाचना की। उसने मुखवस्त्रिका वापिस नहीं ली। उसके प्रद्वेष को जानकर गुरु ने अपने गण में ही भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया। रात्रि में एकान्त पाकर शिष्य ने गुरु के पास जाकर उनका गला दबा दिया। संमूढ होकर गुरु ने भी उस दुष्ट शिष्य का गला दबा दिया। गुरु और शिष्य दोनों कालगत हो गए।[२]

### ६१. उलूकाक्ष

एक साधु सूर्यास्त के समय भी कपड़े सी रहा था। आचार्य ने उससे कहा-"अरे उलूकाक्ष! तूं सूर्यास्त होने पर भी क्यों सी रहा है?" वह रुष्ट होकर बोला—"तुमने मुझे उलूकाक्ष कहा है अतः मैं तुम्हारी दोनों आंखें उखाड़ दूंगा।" आचार्य ने क्षमायाचना की लेकिन उसका कोप शान्त नहीं हुआ। यह जानकर

---

१. जीभा २४८३, २४८४, बृभा ४९८८, ४९८९ टी पृ. १३३३।
२. जीभा २४८५, २४८६, बृभा ४९९० टी पृ. १३३३, १३३४।

आचार्य ने किसी अन्य शिष्य को आचार्य स्थापित करके अन्य गण में अनशन स्वीकार कर लिया।[1] सरसों की भाजी की भांति कथानक का विस्तार समझना चाहिए।[2]

### ६२. शिखरिणी

एक साधु को उत्कृष्ट शिखरिणी-श्रीखण्ड की प्राप्ति हुई। उसने गुरु को शिखरिणी निवेदित की तथा खाने के लिए निमंत्रण भी दिया। गुरु ने सारी शिखरिणी का पान कर लिया। यह देखकर शिष्य के मन में प्रद्वेष उत्पन्न हो गया। शिष्य ने गुरु को मारने के लिए डंडा उठाया। आचार्य ने क्षमायाचना की लेकिन उसका रोष शान्त नहीं हुआ। गुरु ने अपने गण में ही भक्त प्रत्याख्यान अनशन स्वीकार करके समाधिमरण को प्राप्त किया। आचार्य के कालगत होने पर द्वेषवश उसने गुरु के शरीर को डंडे से खूब पीटा, तब उसका क्रोध शान्त हुआ।[3]

### ६३. उदायिमारक

उदायी राजा कोणिक का पुत्र था। उसने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् पाटलिपुत्र नगर को बसाया। जैनधर्म के प्रति उसकी दृढ़ आस्था थी। वह पर्व तिथियों में पौषध करके धर्म-चिन्तन में समय व्यतीत करता था। धार्मिक होने के साथ-साथ वह अत्यन्त पराक्रमी भी था। उसने अपने तेज से सभी राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। सभी राजा यही चिन्तन करते थे कि जब तक उदायी राजा जीवित है, हम स्वतंत्रता की सांस नहीं ले सकते।

एक बार किसी राजा ने कोई अपराध कर लिया। क्रोधित होकर उदायी ने उसका राज्य छीन लिया। राजा वहां से पलायन करके अन्यत्र कहीं जा रहा था लेकिन मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गई। उसका पुत्र घूमता हुआ उज्जयिनी नगरी में आ गया और राजा के पास रहने लगा। उज्जयिनी का राजा भी उदायी से नाराज था अतः दोनों ने मिलकर उदायी को मारने का षड्यन्त्र रचा। राजपुत्र उज्जयिनी से पाटलिपुत्र आया और उदायी का सेवक बनकर रहने लगा। उदायी को यह ज्ञात नहीं था कि यह उसके शत्रु राजा का पुत्र है। वह राजा को मारने के लिए अवसर की खोज करने लगा लेकिन उसे कोई छिद्र नहीं मिला। राजकुमार ने जैन मुनियों को उदायी के प्रासाद में बिना रोक-टोक के आते-जाते देखा। उसके मन में भी राजप्रासाद में जाने की इच्छा जागृत हुई। वह एक जैन आचार्य के पास दीक्षित हो गया। वह साधु-आचार का पूर्णतः पालन करने लगा। उसकी आचारनिष्ठा और सेवाभावना से आचार्य अत्यन्त प्रसन्न थे।

राजा उदायी प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को पौषध करते थे। उस समय आचार्य उनको धर्मकथा सुनाते थे। एक बार पौषध के दिन आचार्य सायंकाल उदायी के निवास-स्थान पर पहुंचे। वह प्रव्रजित राजपुत्र भी आचार्य के उपकरण लेकर उनके साथ गया। उदायी को मारने की इच्छा से उसने अपने पास तीखी कैंची छिपाकर रख ली। वह भी उदायी के समीप आचार्य के साथ बैठ गया। आचार्य

---

१. बृहत्कल्पभाष्य की टीका में कथानक में कुछ अंतर है। उलूकाक्ष शब्द का प्रयोग आचार्य ने नहीं अपितु किसी साधु ने किया था। उसने अपने गण में ही भक्तप्रत्याख्यान स्वीकार किया।

२. जीभा २४८७, २४८८, बृभा ४९९१ टी पृ. १३३४।

३. जीभा २४८९, बृभा ४९९२, ४९९३ टी पृ. १३३४।

धर्म-प्रवचन करके सो गए। महाराज उदायी भी थकने के कारण वहीं भूमि पर सो गए। वह मुनि जागता रहा। रात्रि के एकान्त में अवसर का लाभ उठाते हुए उसने कैंची राजा के गले पर फेंक दी। राजा का गला छिन्न हो गया और वहां से रक्त बहने लगा।

वह दुष्ट श्रमण वहां से बाहर चला गया। पहरेदारों ने भी उसे नहीं रोका। रक्त की धारा बहती हुई आचार्य के संस्तारक के पास पहुंच गई। आचार्य ने उठकर सारा दृश्य देखा, वे अवाक् रह गए। शिष्य को न देखकर उन्होंने जान लिया कि यह सारा कार्य उस कपटी श्रमण का ही होना चाहिए इसीलिए वह यहां से भाग गया है। आचार्य ने चिन्तन किया–'राजा की इस मृत्यु से जैन शासन कलंकित होगा और लोग कहेंगे कि जैन आचार्य ने अपने श्रावक राजा को मार दिया।' प्रवचन की अवहेलना न हो इसलिए अच्छा है मैं स्वयं का भी घात कर लूं। इससे लोग यह सोचेंगे कि राजा और आचार्य को किसी ने मार डाला। इससे शासन का अपयश नहीं होगा। आचार्य ने अंतिम अनशन स्वीकार करके उसी कैंची से अपना गला छेद डाला। प्रात: सारे नगर में यह बात फैल गई कि उस शिष्य ने राजा और आचार्य की हत्या कर दी। सैनिक उसकी तलाश में गए लेकिन वह नहीं मिला।

वह उदायीमारक श्रमण उज्जयिनी नगरी पहुंचा और वहां के राजा को सारा वृत्तान्त कहा। राजा ने कहा–'अरे दुष्ट!' इतने दिन तक श्रामण्य का पालन करने पर भी तेरी कपटता समाप्त नहीं हुई। तेरे जैसे दुष्ट को अपने पास रखने से क्या लाभ? राजा ने उसकी भर्त्सना की और देश निकाला दे दिया।[1]

**६४. आचार्य स्कन्दक और पालक**[2] (जीभा २४९९, २५००, कथा के विस्तार हेतु देखें कथा सं. ७)

**६५. स्त्यानर्द्धि निद्रा : पुद्गल दृष्टान्त**

एक कौटुम्बिक आहार के साथ पकाए हुए या तले हुए मांस को खाता था। एक बार तथारूप स्थविर साधु के पास धर्म सुनकर वह प्रव्रजित होकर ग्रामानुग्राम विहार करने लगा। एक गांव में उसने भैंसे को काटते हुए देखा। उसे देखकर उसकी मांस खाने की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो गई। उस तीव्र अभिलाषा के साथ ही उसने भिक्षा की। तीव्र अभिलाषा के साथ ही आहार किया तथा मांस खाने की तीव्र अभिलाषा के साथ ही वह विचारभूमि गया। उसी अभिलाषा से उसने अंतिम सूत्र-पौरुषी और प्रतिक्रमण किया। अंत में उसी अभिलाषा के साथ वह सो गया।

सोते ही उसके स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हो गया। वह नींद में उठा और महिषमंडल के बीच में पहुंच गया। एक महिष को मारकर उसका मांस खाकर शेष मांस को उपाश्रय के ऊपर डालकर वह पुन: सो गया। प्रात:काल उसने गुरु के समक्ष आलोचना करते हुए कहा कि मैंने ऐसा स्वप्न देखा। साधुओं ने दिशाओं का अवलोकन करते हुए उपाश्रय के ऊपर और बाहर मांस देखा। इससे उन्होंने जान लिया कि यह स्त्यानर्द्धि निद्रा का प्रभाव है। गुरु ने उसे लिंग पारांचित प्रायश्चित्त दे दिया।[3]

**६६. स्त्यानर्द्धि निद्रा : मोदक दृष्टान्त**

एक साधु ने भिक्षा करते हुए मोदक का भोजन देखा। उसने दीर्घकाल तक मोदक हेतु भ्रमण

---

१. जीभा २४९८, परि. पर्व सर्ग ६ पृ. ६४, ६५।

२. जीभा २५२९, निभा १३६ चू पृ. ५५, बृभा ५०१८ टी पृ. १३४०।

किया लेकिन उसे मोदक की प्राप्ति नहीं हुई। मोदक प्राप्त न होने से वह उन्हीं विचारों में सो गया। रात्रि में वह मोदक वाले घर में गया और कपाट को तोड़कर मोदक खाने लगा। शेष मोदकों को पात्र में लेकर वह उपाश्रय आ गया। प्रात:काल आवश्यक के समय उसने गुरु के समक्ष आलोचना करते हुए कहा कि मैंने इस प्रकार का स्वप्न देखा है। प्रात:काल मोदक से भरे पात्र को देखकर गुरु ने जान लिया कि यह स्त्यानर्द्धि निद्रा के प्रभाव से हुआ है। गुरु ने उसको लिंग पारांचित प्रायश्चित्त दिया।[1]

### ६७. स्त्यानर्द्धि निद्रा : कुम्भकार दृष्टान्त

एक बड़े गच्छ में कुम्भकार ने दीक्षा ग्रहण की। रात्रि में सोते हुए उसके अचानक स्त्यानर्द्धि निद्रा का उदय हो गया। पूर्व जीवन में मिट्टी के छेदन आदि का अभ्यास होने से उसने समीप सोए हुए साधुओं के सिर को छेदना प्रारम्भ कर दिया। कलेवर रूप सिरों को उसने एकान्त में डाल दिया। शेष साधु वहां से दूर चले गए। वह साधु पुन: सो गया। प्रात: उसने गुरु के समक्ष स्वप्न की आलोचना की। साधुओं के सिर और मृत कलेवरों को देखकर गुरु ने जान लिया कि यह स्त्यानर्द्धि निद्रा का प्रभाव है। गुरु ने उसे लिंग पारांचित प्रायश्चित्त प्रदान किया।[2]

### ६८. स्त्यानर्द्धि निद्रा : दंत-उन्मूलन दृष्टान्त

भिक्षार्थ घूमते हुए एक साधु को मदोन्मत्त हाथी ने सूंड में पकड़कर हवा में उछाल दिया। किसी प्रकार से पलायन करके वह वहां से भाग गया। वह साधु हाथी के द्वारा कृत पराभव को याद करके उस हाथी के प्रति द्वेष युक्त मन से सो गया। स्त्यानर्द्धि निद्रा के कारण नगर-द्वार को तोड़कर वह साधु हस्तिशाला में गया। हाथी को मारकर उसके दांत उखाड़कर उन्हें उपाश्रय के बाहर रखकर साधु पुन: सो गया। प्रात:काल गुरु को स्वप्न बताकर उसकी आलोचना की। साधुओं ने क्षेत्र-प्रतिलेखना के समय हाथी के दांतों को देखकर जान लिया कि स्त्यानर्द्धि निद्रा में यह सब हुआ है। गुरु ने उसे लिंग पारांचित प्रायश्चित्त प्रदान किया।[3]

### ६९. स्त्यानर्द्धि निद्रा : वटशाखा दृष्टान्त

एक साधु भिक्षा के लिए दूसरे गांव में गया। वहां दो गांवों के बीच एक बड़ा वटवृक्ष था। वह साधु गर्मी से तप्त था, भिक्षा से उसके पात्र भरे हुए थे। वह भूखा-प्यासा ईर्या में उपयुक्त होकर वेगपूर्वक चल रहा था। वटवृक्ष की शाखा से उसका सिर टकरा गया। इससे उसके मन में वटवृक्ष के प्रति प्रद्वेष पैदा हो गया। उन्हीं अध्यवसायों में वह सो गया। स्त्यानर्द्धि निद्रा में उठकर वह वटवृक्ष के पास गया और वटवृक्ष को उखाड़कर उसकी शाखा को उपाश्रय के बाहर फेंक दिया। प्रात:काल प्रतिक्रमण के बाद उसने गुरु के समक्ष अपने स्वप्न की आलोचना की। क्षेत्र-प्रतिलेखना के समय ज्ञात हुआ कि यह स्त्यानर्द्धि निद्रा का प्रभाव था। गुरु ने उसे लिंग पारांचित प्रायश्चित्त प्रदान किया।[4]

---

१. जीभा २५३०, निभा १३७ चू पृ. ५५, बृभा ५०१९ टी पृ. १३४०।
२. जीभा २५३१, निभा १३८ चू पृ. ५५, ५६, बृभा ५०२० टी पृ. १३४०।
३. जीभा २५३२, निभा १३९ चू पृ. ५६, बृभा ५०२१ टी पृ. १३४१।
४. जीभा २५३३, निभा १४० चू पृ. ५६, बृभा ५०२२ टी पृ. १३४१।

# तुलनात्मक संदर्भ

| | | |
|---|---|---|
| २१३२ | अइरुग्गयम्मि सूरे | बृ ६४६० |
| ५४ | अंगुलमावलियाणं | आवनि ३०,नंदी १८/३, विभा ६०८ |
| १२३२ | अंगुलिए चालेउं | पिनि १३३ |
| ३९ | अंतगतो वि य तिविधो | तु. नंदी ११ |
| ३६० | अंतो वा बाहिं वा | व्य ४२५५ |
| २४६९ | अक्कोसतज्जणादिसु | बृ ४९७८ |
| २१६३ | अग्गहो ततियादीया | पंक १३६७ |
| ३५६ | अग्गीतसगासम्मी | व्य ४२५१ |
| ११७१ | अघणघणचारिगगणे | पिनि ८०/४ |
| ३१६ | अचरित्तयाए तित्थे | नि ६६७९, पंक २३१३, व्य ४२१६ |
| ३६ | अच्चंतमणुवलद्धा | बृ ३३ |
| १५०७ | अच्चित्तमक्खितम्मी | पिनि २४५ |
| २५६६ | अच्छउ महाणुभावो | बृ ५०४५, व्य १२१८ |
| २३२८ | अज्ज अहं संदिट्ठो | बृ ५०८६ |
| २०७० | अज्जाण परिग्गहिताण | पंक २५६२ |
| ६२ | अज्झवसाठाणेहिं | तु. नंदी १९ |
| ५० | अज्झवसाणेहिं पसत्थ.... | तु. नंदी १८ |
| ३४८ | अट्ठम दसम दुवालस | व्य ४२४५ |
| २००२ | अट्ठविधरायपिंडं | नि २५०१, बृ ६३८५ |
| १६० | अट्ठविधा गणिसंपद | व्य ४०८० |
| २४२ | अट्ठहि अट्ठारसहि य | व्य ४१५७ |
| १११५ | अट्ठाएँ अणट्ठाए | पिनि ६५ |
| २४४ | अट्ठायारवमादी | व्य ४१५९ |
| २५८० | अट्ठारस छत्तीसा | बृ ५०५६ |
| २१३७ | अट्ठारससु पुण्णेसु | बृ ६४६५ |
| २१०७ | अट्ठारसेव पुरिसे | बृ ६४४३ |
| १५०-५३ | अट्ठारसेहिं ठाणेहिं | व्य ४०७०-७३ |
| २१५७ | अट्ठारसेहिं पुण्णेहिं | बृ ६४८० |
| २१५५ | अट्ठारसेहिं मासेहिं | तु. बृ ६४७८ |
| ३८९ | अणपुच्छाएँ गणस्सा | व्य ४२८२ |
| २९८ | अणमप्पेण कालेणं | व्य ४२०० |
| १६६ | अणियतचारी अणियत... | व्य ४०८६ |
| १२८० | अणिसट्ठमणुण्णातं | तु. पिनि १८४ |
| २१५१ | अणुपरिहारिगा चेव | बृ ६४७५ |
| ५१० | अणुपुव्विविहारीणं | व्य ४३९० |
| ५२५ | अणुलोमा पडिलोमा | नि ३९५०, व्य ४४०३ |
| २४६७ | अण्णं व एवमादी | तु. बृ ४९७७ |
| १३६ | अण्णतरपमादेणं | नि ९६, व्य ४०५८ |
| २००७ | अण्णत्थ एरिसं दुल्लभं | नि २५०६, बृ ६३९० |
| ३४६ | अण्णा दोण्णि समाओ | व्य ४२४३ |
| २०१० | अण्णे वि अत्थि दोसा | बृ ६३९३ |
| २०९२ | अण्णोण्णस्स सगासे | पंक २५८४ |
| १९५५ | अतिपरिणामो भणती | तु. बृ ८०० |
| १६२७ | अतिबहुयं अतिबहुसो | पिनि ३१२/२ |
| २०५३ | अतियारस्स तु असती | बृ ६४२७ |
| १२१३ | अत्तट्ठिय आदाणे | पिनि ११३/४ |
| २१२६ | अत्तणो आउगं सेसं | बृ ६४५६ |
| २६४ | अत्थं पडुच्च सुत्तं | व्य ४१६९ |
| २४१९ | अत्थादाणे ततिओ | बृ ५१२८ |
| २०२९ | अदुवा चियत्तकिच्चे | पंक १३४५, बृ ६४११ |

| | | |
|---|---|---|
| २२६ | अद्दिट्ठं दिट्ठं खलु | व्य ४१४३ |
| १६३८ | अद्धमसणस्स सव्वं.... | पिनि ३१३/२, व्य ३७०१ |
| १४२८ | अद्धिति दिट्ठीपण्हय | नि १०४३, पिनि २२२/२ |
| ५८३ | अध सो गतो उ तहियं | व्य ४४५६ |
| ५६७ | अपरक्कमो मि जातो | व्य ४४३९ |
| ५७० | अपरक्कमो य सीसं | व्य ४४४३ |
| २३६४ | अपरिग्गह णारी पुण | बृ ५०९९ |
| ३९२ | अपरिच्छणम्मि गुरुगा | व्य ४२८५ |
| ५९७ | अपरिच्छितुमायवए | नि ४७१ |
| १८१ | अपरीणामगमादी | व्य ४१०० |
| २०४७ | अप्पच्छित्ते य पच्छित्तं | निभा २८६४, पंक १३५६, बृ ६४२२ |
| १७७१ | अप्पडिलेहितदूसे | नि ४००१, प्रसा ६७७ |
| १२३५ | अप्पत्तम्मी ठवितं | पिनि १३५ |
| ७७३ | अप्पा मूलगुणेसुं | व्य २३८, ६३१६ |
| २५७७ | अब्भत्थितो सयं वा | बृ ५०५४, व्य १२२८ |
| २१६९ | अब्भिंतरअतिसेसो | पंक १४४७ |
| २४७२ | अब्भुज्जतं विहारं | बृ ४९८१ |
| ११९० | अब्भोज्जे गमणादी | पिनि ८४/१ |
| ५०७ | अभिघातो वा विज्जू | व्य ४३८८ |
| २५६७ | अभिधाणहेतुकुसलो | बृ ५०४६, व्य १२१९ |
| २५६३ | अभिसेगं तो पेसे | बृ ५०४३ |
| २०६४ | अममत्त-अपरिकम्मो | पंक २५५६ |
| ६७९ | अमुगो अमुगत्थकतो | व्य ४५३४ |
| ९८२ | अरह पूयाएँ धातू | तु. आवनि ५८३/३ |
| २००९ | अलभंता य वियारं | बृ ६३९२ |
| ६६५ | अल्लीणा णाणादिसु | व्य ४५१३ |
| १३० | अवराहं वियाणंति | व्य ४०५४ |
| २५३१ | अवरो वि फरुसमुंडो | नि १३८, बृ ५०२० |
| २५३२ | अवरो विवाडितो मत्त.... | नि १३९, बृ ५०२१ |
| २४८९ | अवरो वि सिहरिणीए | तु. पंक ४५७, तु. बृ ४९९२ |
| ४७० | अवसेसा अणगारा | नि ३९१७, प्रकी १२९०, व्य ४३५४ |
| ८८३ | अवस्सगमणं दिसासु | नि २९९, ८८३, बृ ६०६७ |
| १३७७ | अवि णाम होज्ज सुलभो | नि ४४२६, पिनि २१०/४ |
| २०१८ | अवि य हु पुरिसपणीतो | बृ ६४०१ |
| १७८ | अव्वत्तं अफुडत्तं | व्य ४०९७ |
| २१७० | अव्वावण्णसरीरा | पंक १४४८ |
| ३९१ | असंथरं अजोग्गो वा | नि ३८५१, व्य ४२८४ |
| २००१ | असणादीया चतुरो | नि २५००, बृ ६३८४ |
| २५५८ | असहू सुत्तं दातुं | बृ ५०४० |
| ३८६ | असिवादीहि वहंता | तु. नि ३८४७, व्य ४२७९ |
| १९९१ | असिवे ओमोदरिए | बृ ६३७४ |
| २३९३ | असिवे पुरोवरोधे | बृ ५११२ |
| १३९२ | अस्संजमजोगाणं | नि ४४३७, पिनि २१५ |
| १२२८ | अस्सुद्दिता भणंती | पिभा २७ |

२०४ अहगुरु जेणं पव्वा..... व्य ४१२२
३९६ अह पुण विरूवरूवे व्य ४२८८
८९९ अहमेगकुलं गच्छं नि ३१५, बृ ६०८६
२०६६ अहलंदियाण गच्छे पंक २५५८, प्रसा ६१५
१५२५ अहव ण सचित्तमीसो पिनि २५१/१
१७६ अहवा अफरुसवयणो तु. व्य ४०९६
२४१८ अहवा अभिक्खसेवी बृ ५१२७
६६८ अहवा जेणऽण्णइया व्य ४५१५
४२० अहवा तिगसालंबेण नि ३८७१, व्य ४३०७
२१७३ अहवाऽऽभिणिबोहीयं पंक १४५१
११९ अहवा-वि कायमणिणो व्य ४०४४
१०९० अहवा वि लड्डुगादी पिनि ५७
३६२ अहवावि सव्वरीए व्य ४२५७
३८३ अहवा वि सो व्व परतो नि ३८४४, व्य ४२७६
१३४ अहवा सहसऽण्णाणा व्य ४०५६
९६ अह सव्वदव्वपरिणाम.... आवनि ७४, नंदी ३३/१
९ आगमतो ववहारो व्य ४०२९
१९७१ आचेलक्कुद्देसिय पंक १२७१, बृ ६३६४
१९७५ आचेलक्कुद्देसिय बृ ६३६२
१९८३ आचेलक्को धम्मो बृ ६३६९
११८३ आणं सव्वजिणाणं पिनि ८३/१
२३४४ आणादऽणंतसंसारि..... बृ ५०७९
१६६४ आतंके उवसग्गे उ २६/३४, ओभा २९२, ठाणं ६/४२, पिनि ३२०, प्रकी ७८८, प्रसा ७३८, मूला ४८०
१०८ आदिगरा धम्माणं व्य ४०३४
१७५ आदेज्ज मधुरवयणो व्य ४०९५
२१२८ आपुच्छिऊण अरहंते बृ ६४५७
३५० आयंबिल उसिणोदेण व्य ४२४६
५१३ आयप्परपरिकम्मं नि ३९३७, व्य ४३९२
१९९३ आयरिए अभिसेगे पंक १२९७, बृ ६३७७
१६५ आयरिओ य बहुस्सुत व्य ४०८५
४०८ आयरियपादमूलं नि ३८५९, व्य ४२९५
१४२७ आयवयं च परवयं नि १०४२, पिनि २२२/१
२०७९ आयारपकप्पम्मी पंक २५७१
२४६ आयार विणयगुण कप्प.... नि ३८६५, पंक १३१०, मूला ३८७, व्य ४३०१
१६३ आयारसंपदाए व्य ४०८३
१६१ आयार-सुत-सरीरे प्रसा ५४२, व्य ४०८१
२१४ आयारे विणयो खलु व्य ४१३२
२१३ आयारे सुत विणए व्य ४१३१
१७१ आरोह-परीणाहो व्य ४०९१
१७२ आरोहो दिग्घत्तं व्य ४०९२
८६९ आलत्ते वाहित्ते तु. नि ८६३
२४४२ आलावण पडिपुच्छण नि २८८१, बृ ५१३७, ५५९८, व्य ५५०
१२७ आलोइय-पडिकंते व्य ४०५२
२७४ आलोयण पडिकमणे व्य ४१८०
२८२ आलोयण पडिकमणे व्य ४१८५

| | | |
|---|---|---|
| २४३ | आलोयणागुणेहिं | व्य ४१५८ |
| २८९ | आलोयणा विवेगे य | व्य ४१९२ |
| २८४ | आलोयणा विवेगो वा | व्य ४१८७ |
| १९९० | आसज्ज खेत्तकप्पं | बृ ६३७१ |
| २५३९ | आसयपोसयसेवी | बृ ५०२६ |
| २५५४ | आसायणा जहण्णो | बृ ५०३२ |
| १३१५ | आसूयमादिएहिं | पिनि १९४/१ |
| २५६० | आहरति भत्तपाणं | बृ ५०३८, व्य १२१३ |
| ११९३ | आहाकम्मं भुंजति | पिनि ९२ |
| ११२० | आहाकम्मपरिणतो | पिनि ६७/१ |
| १०९८ | आहाकम्मियणामा | पिनि ६० |
| ३७२ | आहाकम्मिय पाणग | नि ३८३५, व्य ४२६७ |
| १२९५ | आहाकम्मुद्देसिय | पिनि १९० |
| १०९५ | आहाकम्मुद्देसिय | नि ३२५०, पिनि ५८, बृ ४२७५ |
| ११३७ | आहाकम्मेण अहे | पिनि ७१ |
| २१०८ | आहार-उवधि-सेज्जा | बृ ६४४४ |
| १६५४ | आहारेंति तवस्सी | पिनि ३१६ |
| ४५० | आहारे ताव छिंदाहि | नि ३८९८, व्य ४३३४ |
| ४२९ | इंदियपडिसंचारो | नि ३८७८, व्य ४३१६ |
| २५४८ | इंदियपमाददोसा | बृ ५०२८ |
| ४०६ | इंदियाणि कसाए य | नि ३८५८, व्य ४२९४ |
| १४०९ | इक्खागवंस भरहो | तु. पिनि २१९/१४ |
| ८८० | इच्छा-मिच्छा-तहक्कारो | आवनि ४३६/१ |
| २४७१ | इड्ढि-रस-सातगुरुगा | बृ ४९८० |
| ३१० | इय अणिवारितदोसा | व्य ४२११ |
| २५५ | इय भणिते चोदेती | व्य ४१६३ |
| १२० | इय मासाण बहूण वि | व्य ४०४५ |
| २०५७ | इय सइ दोसं छिंदति | बृ ६४३० |
| १६६० | इरियं च ण सोहेती | तु. पिनि ३१८/२ |
| ६०६ | इरियं ण सोहइस्सं | नि ४८८ |
| २००३ | ईसर-तलवर-माडंबि... | नि २५०२, बृ ६३८६ |
| २००४ | ईसर भोइयमादी | नि २५०३, बृ ६३८७ |
| ३५४ | उक्कोसिगा तु एसा | व्य ४२४९ |
| २३२६ | उक्कोसो सणिजोगो | बृ ५०७२ |
| १५६६ | उक्खेवे णिक्खेवे | तु. पिनि २६४ |
| १२९७ | उग्गमकोडी अवयव | पिनि १९१ |
| १४७२ | उग्गमदोस गिहीतो | तु. पिनि २३४ |
| १९० | उग्गहितस्स तु ईहा | व्य ४१०९ |
| २३७५ | उग्गिण्णम्मि य गुरुगो | बृ ५१०४ |
| ४२८ | उज्जाणरुक्खमूले | नि ३८७९, व्य ४३१५ |
| ८९ | उज्जुमती विउलमती | व्य ४०३३ |
| २४५६ | उट्ठेज्ज णिसीएज्जा | नि २८८५ |
| २०८१ | उडुबद्धिगेसु अट्ठसु | पंक २५७३ |
| ६१३ | उदय-ऽग्गि-चोर-सावय | नि ४९२ |
| २०७४ | उदुवासकालऽतीते | पंक २५६६ |
| **२२** | **उद्देस समुद्देसे** | **व्य ११४** |
| १२०० | उद्देसिगम्मि लहुगो | नि २०२२ |
| ११९८ | उद्देसियं समुद्देसियं | तु. नि २०१९, तु. पिनि ९७ |
| ६५५ | उद्धारणा विहारण | व्य ४५०३ |
| ५२३ | उप्पण्णे उवसग्गे | नि ३९४५, व्य ४३९८ |
| ४८१ | उप्फिडितुं सो कणगो | व्य ४३६५ |

| | | |
|---|---|---|
| २५३३ | उब्भामग वडसालेण | नि १४०, बृ ५०२२ |
| २५५७ | उभयं पि दाऊण स पाडिपुच्छं | बृ ५०३९, व्य १२१४ |
| २०४९ | उम्मग्गदेसए मग्ग.... | पंक १३५८, बृ ६४२४ |
| ३३६ | उवगरणगणणिमित्तं | व्य ४२३४ |
| ४९२ | उवगरण-सरीरम्मि य | नि ३९३३, व्य ४३७५ |
| ४८४ | उवगरणेहि विहूणो | व्य ४३६८ |
| २५१५ | उवसंतो वि समाणो | बृ ५०१३ |
| ४३५ | उव्वत्त दार संथार | नि ३८८४, व्य ४३२१ |
| १६०३ | उसिणस्स छड्डुणे देंतओ | पिनि ३०१ |
| २०६३ | उस्सग्गेण य भणितो | पंक २५५५ |
| २०४८ | उस्सुत्तं ववहरेंतो | पंक १३५७, बृ ६४२३ |
| ३७५ | एक्कं व दो व तिण्णि व | नि ३८३८, व्य ४२७० |
| ३६७ | एक्कं व दो व तिण्णि व | नि ३८३१, व्य ४२६२ |
| ३०५ | एक्कासण पुरिमड्ढ | व्य ४२०६ |
| ३२६ | एक्केक्कं तं दुविधं | व्य ४२२६ |
| १५६३ | एक्केक्के चउभंगो | पिनि २६३/२ |
| २१३५ | एगं कप्पट्ठियं कुज्जा | बृ ६४६३ |
| ५४१ | एगंतणिज्जरा से | नि ३९५२, ३९६३, व्य ४४०५, ४४१६ |
| ११३१ | एगट्ठ एगवंजण | पिनि ७०/१ |
| ३७८ | एगम्मि उ णिज्जवगे | तु. नि ३८४१, तु. व्य ४२७३ |
| २२१ | एगल्लविहारादी | व्य ४१३९ |
| २१५ | एगल्लविहारे या | व्य ४१३३ |
| २०६८ | एगवसहीएँ पणगं | पंक २५६०, प्रसा ६१७ |
| ६८३ | एगिंदिऽणंतवज्जे | व्य ४५३८ |
| ११८४ | एगेण कतमकज्जं | पिनि ८३/२ |
| २१७९ | एगो तित्थगराणं | पंक १४८४ |
| १६४० | एगो दवस्स भागो | पिनि ३१३/५ |
| ३८७ | एगो संथारगतो | तु. नि ३८४८, तु. व्य ४२८० |
| २१०१ | एतं ठितम्मि मेरं | बृ ६४३७ |
| ५५७ | एतं पादोवगमं | नि ३९७६, व्य ४४२९ |
| २५४ | एताऽऽगमववहारी | व्य ४१६२ |
| ३७३ | एते अण्णे य तहिं | नि ३८३६, व्य ४२६८ |
| ३६५ | एते अण्णे य बहू | नि ३८२९, व्य ४२६० |
| २०२४ | एते चेव य ठाणा | बृ ६४०७ |
| १३८२ | एतेण मज्झ भावो | नि ४४२८, पिनि २११ |
| १३९ | एतेसिं ठाणाणं | व्य ४०६१ |
| २०५९ | एतेसिं पंचण्ह वि | पंक २५५१ |
| १५७५ | एतेसि दायगाणं | पिनि २७१ |
| ६६१ | एतेसु धीरपुरिसा | व्य ४५०९ |
| २०७७ | एतेहिं दोसेहिं | पंक २५६९ |
| १९२ | एत्तो उ पओगमती | व्य ४१११ |
| ३५५ | एत्तो एगतरेणं | व्य ४२५० |
| १६२४ | एत्तो किणावि हीणं | पिनि ३११ |
| २५१७ | एत्थं पुण अधिगारो | बृ ५०१५ |

| | | |
|---|---|---|
| १६४१ | एत्थ तु ततियचतुत्था | पिनि ३१३/६ |
| ६८६ | एमादीओ एसो | तु. व्य ४५४१ |
| ४१९ | एमेव दंसणम्मि वि | नि ३८७०, व्य ४३०६ |
| २३४३ | एमेव य इत्थीए | तु. बृ ५०८० |
| २०३६ | एमेव य किंचि पदं | बृ ६४१६ |
| २७३ | एमेव य पारोक्खी | व्य ४१७९ |
| २५५२ | एयगुणसंपउत्तो | बृ ५०३१ |
| ६१५ | एयण्णतरागाढे | नि ४९३, व्य ४४६६ |
| ४२३ | एवं आलोएंतो | नि ३८७४, व्य ४३१० |
| ४३७ | एवं खलु उक्कोसा | नि ३८८६, व्य ४३२३ |
| ६५३ | एवं गंतूण तहिं | व्य ४५०१ |
| ६९५ | एवं जहोवदिट्ठस्स | व्य ४५५० |
| २०९३ | एवं णिव्वाघाते | पंक २५८५ |
| ६४४ | एवं ता उग्घाते | व्य ४४९३ |
| १४७१ | एवं तु गविट्ठस्सा | पिनि २३३ |
| २६३ | एवं तु चोइयम्मी | व्य ४१७२ |
| ३१२ | एवं तु भणंतेणं | व्य ४२१३ |
| ६३० | एवं तु मुसावाओ | व्य ४४८२ |
| २३४६ | एवं तु सो अवहितो | तु. नि २७०७, तु. बृ ५०८१ |
| ४९६ | एवं तू णातम्मी | व्य ४३७९ |
| ६३१ | एवं दप्पपदम्मी | तु. व्य ४४८३ |
| १९८१ | एवं दुग्गतपहिया | बृ ६३६८ |
| ३११ | एवं धरती सोही | व्य ४२१२ |
| ५८२ | एवं परिच्छिऊणं | व्य ४४५५ |
| ४७५ | एवं पादोवगमं | नि ३९२२, प्रकी १२९५, व्य ४३५९ |
| ११४२ | एवं लिंगेणं पी | तु. पिनि ७३/२० |
| ३०७ | एवं सदयं दिज्जति | व्य ४२०८ |
| २१५६ | एवं समाणिए कप्पे | बृ ६४७९ |
| ३७० | एवमसंविग्गे वी | व्य ४२६५ |
| ५७७ | एवाऽऽणध बीयाइं | व्य ४४५० |
| ४८७ | एवाऽऽहारेण विणा | व्य ४३७१ |
| २४४० | एस तवं पडिवज्जति | नि २८८०, व्य ५४९ |
| १६२ | एसा अट्ठविधा खलु | व्य ४०८२ |
| २०६ | एसा खलु बत्तीसा | व्य ४१२४ |
| ५५९ | एसागमववहारो | व्य ४४३० |
| ६५४ | एसाऽऽणाववहारो | व्य ४५०२ |
| ५६५ | एसो सुतववहारो | व्य ४४३७ |
| २४६४ | ओभामितो ण कुव्वति | व्य १२०८ |
| ११०१ | ओरालग्गहणेणं | पिभा १६ |
| ११०० | ओरालसरीराणं | पिनि ६२ |
| २५५६ | ओलोयणं गवेसण.... | बृ ५०३६, व्य १२११ |
| ८९२ | ओसण्णे दट्ठूणं | नि ३०८, बृ ६०७६ |
| ६९० | ओसण्णे बहुदोसे | व्य ४५४५ |
| ७३ | ओही भवपच्चइओ | नंदी २२/१ |
| २३८ | कंखा उ भत्त-पाणे | व्य ४१५४ |
| ३८२ | कंचणपुर गुरुसण्णा | नि ३८४६, व्य ४२७८ |
| १२३० | कंतामि भणति पेलुं | तु. पिभा २६ |
| ११५४ | कक्कडिग अंबगा वा | पिनि ७८ |
| २२११ | कज्जाऽकज्ज जताऽजत | नि ६६५४, व्य १७१, ६१४ |
| १३१६ | कणग-रययादियाणं | पिनि १९४/२ |
| ८९८ | कतरिं दिसिं गमिस्ससि | नि ३१४, बृ ६०८५ |

१३६० कत्तरिपयोयणट्ठा नि ४४१६, पिनि २०७/४
२४३९ कप्पट्ठितो अहं ते नि २८७९, व्य ५४८
५६३ कप्पस्स य णिज्जुत्तिं व्य ४४३४
५६४ कप्पस्स य णिज्जुत्तिं व्य ४४३५
४५४-५७ कम्ममसंखेज्जभवं नि ३९०२-०५, व्य ४३३८-४१
५९९ करण-भएसु तु संका नि ४७३
३९८ कलमोयणो य पयसा नि ३८५४, व्य ४२८९
३०४ कल्लाणगमावण्णे व्य ४२०५
१४५ कहेहि सव्वं जो वुत्तो व्य ४०६६
२३८० कामं परपरितावो बृ ५१०८
११२६ कामं सयं न कुव्वति पिनि ६७/५
११०२ काय-वइ-मणा तिण्णि उ पिभा १७
२४७० काया वया य ते च्चिय बृ १३०३, ४९७९
४६२ कायोवचितो बलवं नि ३९१०, व्य ४३४६
२२१० कारणमकारणं वा नि ६६५३, व्य १७०, ६१३
४४० काल-सभावाणुमतो नि ३८८८, व्य ४३२६
५८ काले चतुण्ह वुड्ढी आवनि ३४, नंदी १८/७, विभा ६१७
१००० काले विणए बहुमाणे दशनि १५८, नि ८, पंचा १५/२३, प्रसा २६७, भआ ११२, मूला २६९, व्य ६३
३३४ किं कारणऽवक्कमणं नि ३८२०, व्य ४२३२
४४२ किं च तं णोवभुत्तं मे नि ३८९०, व्य ४३२८
२०९१ किंचि अहिज्जेज्जाही पंक २५८३
१९५४ किं ते पित्तपलावो बृ ७९९
४६६ किं पुण अणगारसहाय··· नि ३९१३, व्य ४३५०
५८६ किं पुण आलोएती? व्य ४४५९
६९७ किं पुण गुणोवदेसो व्य ४५५२
३५८ किं पुण तं चउरंगं व्य ४२५३
५७६ किं पुण पंचिंदीणं? व्य ४४४९
८८६ किं वच्चसि वासंते नि ३०२, बृ ६०७०
५७२ किं वा मारेतव्वो व्य ४४४५
१४७९ किण्णु हु खद्धा भिक्खा पिनि २४०/१
२४४५ कितिकम्मं च पडिच्छति नि २८८४, व्य ५५३
२०१५ कितिकम्मं पि य दुविधं पंक १३३८, बृ ६३९८
१३७३ किमणेसु दुब्बलेसु य नि ४४२४, पिनि २१०/२
११३ किह आगमववहारी व्य ४०३८
३५९ किह णासेति अगीतो व्य ४२५४
१२४१ कीतकडं पि य दुविधं तु.नि ४४७५, तु.पिनि १३९
३६३ कुज्जा कुलादिपत्थारं व्य ४२५८
३८० कूवति अदिज्जमाणे नि ३८४३, व्य ४२७५
१९९८ केरिसगो तू राया बृ ६३८१
१३७८ केलासभवणा एते नि ४४२७, पिनि २१०/५
२११५ केवतियकालसंजोगो बृ ६४४९

| | | |
|---|---|---|
| २०३५ | केवलगहणं कसिणं | बृ ६४१५ |
| १४ | केसिंचि इंदियाइं | बृ २६, तु. विभा ९१ |
| ४७६ | कोई परीसहेहिं | नि ३९२३, व्य ४३६० |
| ४९४ | को गीताण उवाओ | नि ३९३५, व्य ४३७७ |
| ११४८ | कोद्दवरालगगामे | पिनि ७६ |
| ६९६ | को वित्थरेण वोत्तूण | व्य ४५५१ |
| १३४७ | कोवो वलवागब्भं | पिभा ३४ |
| ५५० | कोसल्लगेगवीसति···· | व्य ४४१३ |
| ११८८ | खद्धे णिद्धे य रुया | पिनि ८३/५ |
| ८९४ | खाणुगमादी मूलं | नि ३१०, तु. बृ ६०७८ |
| ६८९ | खार हडि हड्डमाला | व्य ४५४४ |
| १८६ | खिप्प बहु बहुविहं वा | व्य ४१०५ |
| १३२२ | खीरे य मज्जणे मंडणे | तु. पिनि १९७ |
| २३५९ | खुड्डं व खुड्डियं वा | बृ ५०९५ |
| ८९१ | खुड्डग जणणी उ मुया | नि ३०७, बृ ६०७५ |
| २०१ | खेत्त असति अगहित्ता | व्य ४११९ |
| १९५ | खेत्तं मालवमादी | व्य ४११४ |
| १७७० | गंडी कच्छवि मुट्ठी | नि ४०००, बृ ३८२२ |
| ४२५ | गंधव्व-नट्ट-जड्डऽस्स | नि ३८७५, व्य ४३१२ |
| २१६० | गच्छम्मि य णिम्माया | पंक १३६४, बृ ६४८३ |
| ८९७ | गच्छसि ण ताव गच्छं | नि ३१३, बृ ६०८४ |
| २०६७ | गच्छे पडिबद्धाणं | पंक २५५९, प्रसा ६१६ |
| ३३२ | गणणिसिरणम्मि उ विही | नि ३८१९, व्य ४२३१ |
| ३२९ | गणणिसिरणा परगणे | नि ३८१४, व्य ४२२८ |
| २४७३ | गणहर एव महिड्ढी | बृ ४९८२ |
| २१२९ | गणोवहिपमाणाइं | बृ ६४५८ |
| २१५२ | गतेहिं छहिं मासेहिं | तु. बृ ६४७६ |
| २१५३ | गतेहिं छहिं मासेहिं | बृ ६४७७ |
| २०५२ | गमणागमणविहारे | पंचा १७/३३, बृ ६४२६ |
| १८ | **गमणागमणविहारे** | **व्य ११०** |
| १३३५ | गामाण दोण्ह वेरं | पिनि २०२ |
| २३५७ | गिण्हणे गुरुगा छम्मास | बृ २५००, ५०९३ |
| २३५४ | गिहवासे वि वरागा | बृ ५०९० |
| ३६८ | गीतत्थदुल्लभं खलु | नि ३८३२, व्य ४२६३ |
| ४७७ | गीतत्थमगीतत्थं | नि ३९२४, व्य ४३६१ |
| १४३४ | गुणसंथवेण पच्छा | नि १०४८, पिनि २२६ |
| १४३२ | गुणसंथवेण पुव्वं | नि १०४६, पिनि २२५ |
| १८४२ | गुरुगं च अट्ठमं खलु | बृ ६०४३, व्य १०६९, ११२१ |
| १८३८ | गुरुगो गुरुगतरागो | बृ ६०३९, व्य १०६५ |
| २३४० | गुरुगो चतुलहु चतुगुरु | नि २७०४, बृ ५०७७ |
| १८४० | गुरुगो य होति मासो | बृ ६०४१, ६२३७, व्य १०६७, १११९ |
| २४९३ | गुरुभत्तिमं जो य मणाणुकूलो | बृ ५००० |
| ११२४ | गुरुराह जो पमत्तो | तु. पिनि ६७/३ |

| | | |
|---|---|---|
| २४९५ | गुरुसंसट्ठुव्वरितं | बृ ५००२ |
| १२६७ | घरकोइलसंचारा | पिनि १६३/७ |
| १६०९ | घासेसणा तु भावे | पिनि ३०३ |
| १७० | घोसा उदत्तमादी | व्य ४०९० |
| ५५१ | चउकण्णम्मि रहस्से | नि ३९६१, व्य ४४१४ |
| ३०६ | चउ-तिग-दुगकल्लाणा | व्य ४२०७ |
| ११७४ | चउरो अतिक्कम वतिक्कमे | तु. पिनि ८२ |
| ६३४ | चउवीसऽट्ठारसगा | व्य ४४८६ |
| ७६७ | चक्के थूभे पडिमा | तु. ओनि ११९ |
| ३४३ | चत्तारि विचित्ताइं | तु. नि ३८२४, तु. व्य ४२४० |
| १४५५ | चाणक्क पुच्छ इट्टाल... | नि ४४६५, पिभा ३७ |
| २०९७ | चातुम्मासुक्कोसे | पंक १३६२, बृ ६४३३ |
| ४२६ | चारग-कोट्टग-कल्लाल | नि ३८७६, व्य ४३१३ |
| २०१२ | चारियचोराभिमरा | नि २५११, बृ ६३९५ |
| ३४२ | चिट्ठतु जहण्ण मज्झा | व्य ४२३९ |
| २३० | चुतधम्म णट्ठधम्मो | व्य ४१४७ |
| ११७ | चोदगपुच्छा पच्चक्ख··· | तु. व्य ४०४२ |
| २५६ | चोद्दसपुव्वधराणं | व्य ४१६५ |
| १४८४ | छउमत्थो सुतणाणी | पिनि २३९ |
| १५७२ | छक्कायवग्गहत्था | पिनि २६८ |
| १८४३ | छट्ठं च चउत्थं वा | बृ ६०४४, ६२४०, व्य १०७०, ११२२ |
| २२०६ | छट्ठऽट्ठमादिएहिं | नि ६६५२, व्य १६२, ६०७ |
| २०४४ | छण्हं जीवनिकायाणं | पंक १३५३, बृ ६४२० |
| २०४३ | छण्हं जीवनिकायाणं | पंक १३५४, बृ ६४१९ |
| ४११ | छत्तीसगुणसमण्णा···· | तु. प्रकी २८९५, तु. नि ३८६२, तु. व्य ४२९८ |
| २०७-१० | छत्तीसाए तु ठाणेहिं | व्य ४१२५-२८ |
| २४१ | छत्तीसेताणि ठाणाणि | व्य ४१५६ |
| ८९३ | छल्लहुगा उ नियत्ते | नि ३०९, बृ ६०७७ |
| १६५७ | छहिं कारणेहिं साहू | पिनि ३१७ |
| ११६८ | छायं पि विवज्जेंती | पिनि ८०/१ |
| ६४९ | छिंदंतु व तं भाणं | व्य ४४९७ |
| २८७ | छेदोवट्ठावणिए | व्य ४१९० |
| १४७, १४८ | जइ आगमो य आलोयणा | व्य ४०६८, ४०६९ |
| २३२ | जं इह-परलोगे या | व्य ४१४९ |
| ९७९ | जंघद्धा संघट्टो | तु. ओभा ३४ |
| २५७ | जं जत्तिएण सुज्झति | व्य ४१६६ |
| २०३ | जं जम्मि होति काले | व्य ४१२१ |
| ११८ | जं जह मोल्लं रयणं | व्य ४०४३ |
| ६८७ | जं जीतं सावज्जं | व्य ४५४३ |
| ६९४ | जं जीतं सोधिकरं | व्य ४५४९ |
| ६९२, ६९३ | जं जीतमसोहिकरं | व्य ४५४७, ४५४८ |
| २०४६ | जं जो तु समावण्णो | बृ ६४२१ |
| ५३० | जंतेहिं करकएहि व | नि ३९६६, प्रकी १२३१, व्य ४४१९ |
| ३१३ | जं पि य हु एक्कवीसं | व्य ४२१४ |
| १५२६ | जं पुण अचित्तदव्वं | पिनि २५१/२ |
| ५९४ | जं सेवितं तु बितियं | नि ४६८ |

२०२१ जड्डुत्तणेण हंदी बृ ६४०४
६६६ जतणाजुतो पयत्तव व्य ४५१४
२०५५ जति दोसे होअगतं बृ ६४२८
११४५ जत्थ तु ततिओ भंगो पिनि ७३/२२
१५६४ जत्थ तु थोवे थोवं पिनि २६३/३
२५१३ जत्थुप्पज्जति दोसो बृ ५०११
२९१ जदि अत्थि ण दीसंती व्य ४१९४
१४० जदि आगमो य आलोयणा व्य ४०६२
१८२ जदि छुब्भती विणस्सति व्य ४१०१
४६५ जदि ताव सावयाकुल नि ३९१२, तु. प्रकी १०२०, व्य ४३४९
१४८८ जदि संका दोसकरी पिनि २४०/४
६५८ जम्हा संपहारेउं व्य ४५०६
११४ जह केवली वियाणति व्य ४०३९
४० जह कोई तु मणुस्सो तु. नंदी १२
११३२ जह खीरं खीरं चिय पिनि ७०/२
१४४५ जह जह पदेसिणिं जाणुगम्मि नि ४४६०, पिनि २२८/१
५४० जह णाम असी कोसी नि ३९४६, प्रकी १२८१, व्य ४३९९
९५१ जह तिक्खउदगवेगे नि ५७६, ६३०५, बृ ४९२९, व्य २२३
५३७ जह ते गोट्ठट्ठाणे नि ३९७३, व्य ४४२६
११९२ जह ते दंसणकंखी पिनि ९१/४
१२३४ जह पुत्तविवाहदिणो पिनि १३४
२२९ जह भायरं व पितरं व्य ४१४६
२७२ जह रूवादिविसेसा व्य ४१७८
५३६ जहऽवंतीसुकुमालो नि ३९७२, व्य ४४२५
४८३ जह वाऽऽउंटियपादे व्य ४३६७
५३८ जह सा बत्तीसघडा नि ३९७५, व्य ४४२८, प्रकी १२३०
४०९ जह सुकुसलो वि वेज्जो तु. ओनि ७९५, नि ३८६०, व्य ४२९६
५३५ जह से वंसिपदेसी नि ३९७१, प्रकी १२२९, व्य ४४२४
५३३ जह सो चिलातपुत्तो तु. नि ३९६९, व्य ४४२२
१२६४ जहेव कुंभादिसु पुव्वलित्ते तु. पिनि १६३/६
१११६ जाणंतमजाणंतो पिभा २२
२५६५ जाणंता माहप्पं बृ ५०४४, व्य १२१७
४१० जाणंतेण वि एवं ओनि ७९६, नि ३८६१, व्य ४२९७
१९३ जाणति पयोगभिसजो व्य ४११२
८७ जाणति पिहुज्जणो वि हु बृ ३६
२००५ जा णिंति ऽइंति ता अच्छतो नि २५०४, बृ ६३८८
१३५० जाती कुल गण कम्मे पिनि २०६, नि ४४११
५९३ जा पुण णिक्कारणओ नि ४६७
२५९ जा य ऊणाहिए वुत्ता व्य ४१६८
२५७० जारिसगा सक्कादीण बृ ५०४९, व्य १२२२
५२ जावइया तिसमयाहार···· आवनि २८, नंदी १८/१, विभा ५८८
११९९ जा तिगमुद्देसो नि २०२०, पिनि ९८
२४४३ जा संघाडो ताव तु नि २८८२, बृ ५५९९, व्य ५५१
५५२ जाहे पराइया सा नि ३९६२, व्य ४४१५

| | | |
|---|---|---|
| २११ | जा होती बत्तीसा | व्य ४१२९ |
| २०७२ | जिणकप्पियऽहालंदी | पंक २५६४ |
| २०५८ | जिणथेरअहालंदे | पंक २५५० |
| ४६७ | जिणवयणमप्पमेयं | नि ३९१४, प्रकी १०२२, व्य ४३५१ |
| १५८८ | जीवत्तम्मि अविगते | पिनि २९३ |
| ११ | जीवो अक्खो तं पति | बृ २५ |
| ११४९ | जुज्जति गणस्स खेत्तं | पिनि ७६/१ |
| १९८० | जुण्णेहिं खंडिएहि य | बृ ६३६७ |
| १३८ | जूतादि होंति वसणं | व्य ४०६० |
| १२३ | जेणं जीवा-ऽजीवा | तु. व्य ४०४८ |
| ४२२ | जे मे जाणंति जिणा | नि ३८७३, प्रकी ८६९, व्य ४३०९ |
| १४५७ | जे विज्ज-मंतदोसा | नि ४४६६, पिनि २३१ |
| २५१६ | जेसु विहरंति ताओ | बृ ५०१४ |
| ६७८ | जो आगमे य सुत्ते | व्य ४५३३ |
| २५६१ | जो उ उवेहं कुज्जा | नि ३०८४, बृ १९८३, ५०३७, व्य १०७५,१२१२ |
| २४० | जो एतेसु ण वट्टति | व्य ४१५५ |
| २१०४ | जो कप्पठितीमेतं | बृ ६४४० |
| ४५२ | जो जत्थ होति कुसलो | नि ३९००, व्य ४३३६ |
| ११८५ | जो जहवायं ण कुणति | पिनि ८३/३ |
| ४३४ | जो जारिसगो कालो | नि ३८८५, व्य ४३२२ |
| २९७ | जो तु धरेज्ज अवड्ढं | व्य ४१९९ |
| २९५ | जो तू असंतविभवो | व्य ४१९७ |
| १९४३ | जो दव्वखेत्तकतकाल.... | बृ ७९३ |
| १९४७, १९४८ | जो दव्वखेत्तकतकाल... | बृ ७९४, ७९५ |
| ६६४ | जो धारितो सुतत्थो | व्य ४५१२ |
| ५७५ | जो पुण परिणामो खलु | व्य ४४४८ |
| २९६ | जो पुण सहती कालं | व्य ४१९८ |
| ६४ | जोयणसयं सहस्सं | तु. नंदी २० |
| २५०३ | जो वि सपक्खो राया····· | बृ ४९९४ |
| ५६१ | जो सुतमहिज्जति बहुं | व्य ४४३२ |
| ५६२ | जो सुतमहिज्जति बहुं | व्य ४४३३ |
| २१०६ | ठवणाकप्पो दुविधो | बृ ६४४२ |
| ४२४ | ठाणं पुण केरिसगं | व्य ४३११ |
| ५१४ | ठाण-णिसीय-तुयट्टण | नि ३९३८, व्य ४३९३ |
| ३३० | ठाण वसही पसत्थे | नि ३८१५, व्य ४२२९ |
| ६१७ | ठावेत्तु दप्प-कप्पे | व्य ४४६७ |
| २१०५ | ठितमठितम्मि दसविधे | नि २१४९, ५९३२, बृ ६४४१ |
| ८६५ | डहरो अकुलीणो त्ति य | नि २७६०, बृ ७७२ |
| २१३६ | ण तेसिं जायते विग्घं | बृ ६४६४ |
| ४९३ | ण पगासेज्ज लहुत्तं | नि ३९३४, व्य ४३७६ |
| १२८९ | णव चेवऽट्ठारसगं | पिनि १९२/७ |
| ४३९ | णवविगति-सत्तओदण | तु. नि ३८८७, व्य ४३२५ |
| ३१७ | ण विणा तित्थं णियंठेहिं | व्य ४२१७ |
| १८९ | ण वि विस्सरति धुवत्तं | व्य ४१०८ |

| | | |
|---|---|---|
| १४६ | ण संभरति जो दोसे | व्य ४०६७ |
| ४०१ | ण हु ते दव्वसंलेहं | नि ३८५५, व्य ४२९१ |
| २३६९ | णाऊण य वोच्छेदं | तु. बृ ५१०२ |
| ४१७ | णाणणिमित्तं अद्धाण···· | नि ३८६८, व्य ४३०४ |
| ४१६ | णाणे वितहपरूवण | तु. नि ३८६७, तु. व्य ४३०३ |
| १११ | णातं आगमितं ति य | व्य ४०३६ |
| ४७९ | णातं संगामदुगं | व्य ४३६३ |
| १९५७ | णाभिप्पायं गिण्हसि | बृ ८०१ |
| ११३९ | णामं ठवणा दविए | पिनि ७३ |
| १३१४ | णामं ठवणा दविए | पिनि १९४ |
| ३५७ | णासेति अगीतत्थो | नि ३८२६, पंक २३८९, व्य ४२५२ |
| ३७१ | णासेति असंविग्गो | नि ३८३४, व्य ४२६६ |
| २२९४ | णिच्छयनयस्स चरणा.... | पंचा ११/४५ |
| १८४ | णिज्जवगो अत्थस्सा | व्य ४१०३ |
| ५६० | णिज्जूढं चोद्दसपुव्विएण | व्य ४४३१ |
| २५७२ | णिज्जूढो मि णरीसर! | बृ ५०५१, व्य १२२४ |
| ८८५ | णिण्हवणे णिण्हवणे | नि ३०१, बृ ६०६९ |
| ३०९ | णिब्भत्थणाइ बितियाय | व्य ४२१० |
| ४९१ | णिव्वाघातेणेवं | तु. नि ३९३२, व्य ४३७४ |
| १०३७ | णिस्संकित णिक्कंखित | उ २८/३१, दशनि १५७, नि २३, पंचा १५/२४, प्रज्ञा १/१०१/१४, मूला २०१ |
| २२५ | णिस्सेसमपरिसेसं | व्य ४१४२ |
| २३६३ | णीएहिं तु अविदिण्णं | बृ ५०९८ |
| १०४१ | णेगविधा इड्ढीओ | नि २६ |
| २०२८ | तओ पारंचिया वुत्ता | पंक १३४४, बृ ६४१० |
| ६८० | तं चेवऽणुकज्जंतो | व्य ४५३५ |
| ३१९ | तं णो वच्चति तित्थं | व्य ४२१९ |
| ४७४ | तं तारिसगं रतणं | नि ३९२१, प्रकी १२९४, व्य ४३५८ |
| १५८६ | तं पि य सुक्खे सुक्खं | पिनि २९१/१ |
| ३२८ | तं पुण अणुगंतव्वं | व्य ४२२७ |
| १२४ | तं पुण केण कतं तू | व्य ४०४९ |
| ५८८ | तं पुण होज्जाऽऽसेवित | व्य ४४६१ |
| २५६९ | तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं | बृ ५०४८, व्य १२२१ |
| ७४ | तं मणपज्जवणाणं | नंदी २३ |
| ८६ | तं मणपज्जवणाणं | बृ ३५ |
| ४४१ | तण्हाछेदम्मि कते | तु. नि ३८८९, तु. व्य ४३२७ |
| २१५८ | ततिय-चउत्था कप्पा | बृ ६४८१ |
| १३१० | ततियम्मि करं छोडुं | पिनि १९२/४ |
| १६४ | तत्तो य वुड्ढसीले | व्य ४०८४ |
| ३४७ | तत्थेक्कं छम्मासं | व्य ४२४४ |
| १७३ | तपु लज्जाए धातू | व्य ४०९३ |
| ११७२ | तम्हा ण एस दोसो | पिनि ८०/५ |
| ३६६ | तम्हा पंच व छ स्सत्त | तु. नि ३८३०, तु. व्य ४२६१ |
| ३७४ | तम्हा पंच व छ स्सत्त | तु. नि ३८३७, तु. व्य ४२६९ |
| ३९३ | तम्हा परिच्छणा खलु | तुं. व्य ४२८६ |

| | | |
|---|---|---|
| ५७४ | तव-णियम-णाणरुक्खं | व्य ४४४७ |
| १६६९ | तवहेतु चतुत्थादी | पिनि ३२०/२ |
| ५२१ | तसपाण-बीयरहिते | नि ३९४३, व्य ४३९६ |
| ३७९ | तस्सट्ठगतोभासण | नि ३८४२, व्य ४२७४ |
| ६७३ | तस्स तु उद्धरिऊणं | व्य ४५१९ |
| २३१ | तस्स त्ती तस्सेव उ | व्य ४१४८ |
| ४३८ | तस्स य चरिमाहारो | व्य ४३२४ |
| ४६० | तह वि असंथर कोयव | व्य ४३४४ |
| ४५९ | तह वि असंथरमाणे | व्य ४३४३ |
| ९५२ | तह समणसुविहिताणं | नि ५७७, ६३०६, बृ ४९३०, व्य २२४ |
| २४४१ | ताहे य परिहरिज्जति | बृ ५५९७ |
| १९९७ | तिक्खुत्तो सक्खेत्ते | नि ११७४, पंक १३००, बृ ६३८० |
| २०१४ | तिक्खुत्तो सक्खेत्ते | बृ ३५५५, ६३९७ |
| ५०३ | तिण्णि तु वारा किरिया | व्य ४३८५ |
| १९९४ | तित्थंगरपडिकुट्ठो | नि ११५९, पंक १२९८, प्रसा ८०६, बृ ३५४०, ६३७८ |
| २३०४ | तित्थकरं संघ सुतं | बृ ४९७५, ५०६० |
| २४७७ | तित्थगरपढमसीसं | बृ ४९८४ |
| ५८५ | तिविधं अतीतकाले | व्य ४४५८ |
| ४४४ | तिविधं तु वोसिरिहीइ | नि ३८९१, व्य ४३२९ |
| १२७४ | तिविधं पुण अच्छेज्जं | पिनि १७२ |
| २०७५ | तीसं पदाऽवराहे | पंक २५६७ |
| १८४१ | तीसा य पण्णवीसा | बृ ६०४२, व्य १०६८, ११२० |
| २०१७ | तुच्छत्तणेण गव्वो | बृ ६४०० |
| २४१७ | तुल्लम्मि वि अवराधे | बृ ५१२६ |
| ८७० | तुसिणीए हुंकारे | नि ८६६, बृ ६१०५ |
| ३६९ | तेण य गीतत्थेणं | नि ३८३३, व्य ४२६४ |
| ३७७ | तेण य संविग्गेणं | नि ३८४०, व्य ४२७२ |
| १८० | तेणेव गुणेणं तू | व्य ४०९९ |
| २०८८ | ते पुण जहा तु एक्काए | पंक २५८० |
| २०८६ | ते पुण मंडलियाए | पंक २५७८ |
| २०५ | तेसिं अब्भुट्ठाणं | व्य ४१२३ |
| १११४ | तेसिं गुरूण उदएण | पिनि ६४/३ |
| ५०५ | तो णाउ वित्तिछेदं | व्य ४३८७ |
| २०६२ | थेराण अत्थि खेत्तं | पंक २५५४ |
| २०९८ | थेराण सत्तरी खलु | बृ ६४३४ |
| १५६७ | थोवे थोवं छूढं | पिनि २६४/१ |
| ६३३ | दंसण अणुम्मुयंतो | व्य ४४८५ |
| ६०१ | दंसण-णाण-चरित्ते | नि ४८४, व्य ४४६४ |
| १०९२ | दंसणणाणप्पभवं | पिनि ५७/५ |
| ५७१ | दट्ठु महल्लमहीरुह | व्य ४४४४ |
| ४८६ | दत्तेणं णावाए | व्य ४३७० |
| ५८९ | दप्प-अकप्प-णिरालंब | नि ४६३, व्य ४४६२ |
| ४४९ | दवियपरीमाणं ता | नि ३८९७, व्य ४३३३ |
| २१६४ | दव्वं अभिग्गहा पुण | पंक १३६८ |
| १११७ | दव्वायहम्ममेतं | पिनि ६६ |
| १३१ | दव्वेहि पज्जवेहि य | व्य ४०५५ |
| ८८९ | दस एतस्स य मज्झ य | नि ३०५, बृ ६०७३ |

| | | |
|---|---|---|
| १९७६ | दसठाणठितो कप्पो | तु. पंक १२७०, तु. बृ ६३६३ |
| २७६ | दस ता अणुसज्जंती | तु. नि ६६८०, तु. व्य ४१८१ |
| १३८३ | दाणं ण होति अफलं | नि ४४३०, पिनि २१३ |
| १२६३ | दाण-कय-विक्कयादी | पिनि १६३/५ |
| ४८२ | दिट्ठंतस्सोवणओ | व्य ४३६६ |
| २०२३ | दुक्खेहिं भच्छियाणं | बृ ६४०६ |
| २३७ | दुट्ठो कसाय-विसया... | व्य ४१५३ |
| १४९१ | दुविधं च मक्खितं खलु | तु. पिनि २४२ |
| ५८४ | दुविधं तु दप्प-कप्पे | व्य ४४५७ |
| १५३६ | दुविध विराधण उसिणे | तु. पिनि २५४ |
| २१६५ | दुविधा अतिसेसा वि य | पंक १४४५ |
| १९७७ | दुविधा होंति अचेला | बृ ६३६५ |
| १९९६ | दुविधे गेलण्णम्मी | नि २५३२, पंक १२९९, १३०५, बृ ६३७९, ६३९६ |
| २०८० | दुविधे विहारकाले | पंक २५७२ |
| २४८१ | दुविधो य होति दुट्ठो | नि ३६८१, पंक ४५१, बृ ४९८६ |
| २०७३ | दुविहो उ मासकप्पो | पंक २५६५, तु. बृ ६४३१ |
| २१७२ | दुविहो तेसऽतिसेसो | पंक १४५० |
| १४२१ | दुविहो य संथवो खलु | नि १०४०, पिनि २२१ |
| २६० | देंता वि ण दीसंती | व्य ४१७० |
| ५२४ | देव-णर दुगतिगऽस्सा | नि ३९४९, व्य ४४०२ |
| ४५३ | देहविओगो खिप्पं | नि ३९०१, व्य ४३३७ |
| १४७३ | दोण्णि वि समणसमुत्था | पिनि २३५ |
| २०५६ | दोसं हंतूण गुणं | बृ ६४२९ |
| १६५२ | दोसग्गी वि जलंतो | पिनि ३१४/३ |
| २३४ | दोसा कसायमादी | व्य ४१५० |
| २०९९ | दोसासति मज्झिमगा | बृ ६४३५ |
| १९५० | दोसु तु परिणमति मती | बृ ७९७ |
| २७९ | दोसु तु वोच्छिण्णेसू | व्य ४१८२ |
| २८० | दोसु तु वोच्छिण्णेसू | व्य ४१८३ |
| ५४९ | दो सोत-णेत्तमादिग | व्य ४४१२ |
| २५७३ | धम्मकहा आउट्टाण | बृ ५०५२, व्य १२२५ |
| २२८ | धम्मसहावो सम्मद्दंसण | व्य ४१४५ |
| १३१९ | धाती दूती णिमित्तें | पंचा १३/१८, पंव ७५४, पिनि १९५, प्रसा ५६७ |
| ६५९ | धारणववहारेसो | व्य ४५०७ |
| ६७४ | धारणववहारो खलु | व्य ४५२० |
| १३२१ | धारयति धीयते वा | निभा ४३७६, पिनि १९८ |
| ४६४ | धीरपुरिसपण्णत्ते | नि ३९११, प्रकी १०२३, व्य ४३४८ |
| ६८१ | धीरपुरिसपण्णत्तो | व्य ४५३६ |
| १६५९ | नत्थि छुहाएँ सरिसिया | ओभा २९०, पंव ३६६, पिनि ३१८/१ |
| २०६० | नत्थि तु खेत्तं जिणकप्पि··· | पंक २५५२ |
| १४६१ | नदिकण्ह वेण्णदीवे | नि ४४७०, पिनि २३१/२ |
| २१६१ | नवपुव्वि जहण्णेणं | पंक १३६५ |
| ५४८ | नवयंगसोतबोहिय | तु. नि ३९५९, तु. व्य ४४११ |
| १४१ | नाणमादीणि अत्ताणि | व्य ४०६३ |

५९२ नाणादीपरिवुड्ढी नि ४६६
१२२ नालीधमएण जिणा व्य ४०४७
१३६६ निग्गंथ सक्क तावस नि ४४२०, पिनि २०९
१११८ निच्छयणयस्स चरणा···· पिनि ६६/१
२५५१ निज्जूहितस्स असुभो बृ ५०३०
१३४१ नियमा तिकालविसयम्मि निभा ४४०५, पिनि २०४
२९४ निरवेक्खो तिण्णि चयती व्य ४१९६
६०५ नेहादि तवं काहं नि ४८७
२३ नोइंदियपच्चक्खो व्य ४०३१
९० पंकसलिले पसादो बृ ३७
२०१९ पंचज्जामो धम्मो पंक १३४०, बृ ६४०२
२८१ पंच णियंठा भणिता व्य ४१८४
२६०२ पंचमहव्वयभेदो नि ६२०९, बृ ७७०
२१२५ पंचविधे ववहारे बृ ६४५५
८ पंचविधो ववहारो व्य ४०२८
५२९ पंचसता जंतेणं उनि ११४, नि ३९६५, व्य ४४१८
६८५ पंचिंदि घट्ट तावण व्य ४५४०
२८५ पंचेव संजता खलु तु. व्य ४१८८
१६२५ पकामं च निकामं च पिनि ३१२
२१८ पक्खे य पोसधेसुं व्य ४१२६
११० पच्चक्खागमसरिसो व्य ४०३५
१२१ पच्चक्खी पच्चक्खं व्य ४०४६
१० पच्चक्खो वि य दुविधो व्य ४०३०
५७८ पच्चाह गुरू ते तू व्य ४४५१
१४३० पच्छासंथवदोसा नि १०४४, पिनि २२३
२०९६ पज्जोसवणाकप्पो पंक १३६१, बृ ६४३२
२१७५ पडिगहधारि जहण्णो तु. पंक १४५३
५३२ पडिणीययाएँ कोई नि ३९६८, प्रकी १२३२, व्य ४४२१
५३१ पडिणीययाएँ कोई नि ३९६७, व्य ४४२०
२१४४ पडिपुच्छं वायणं चेव बृ ६४७१
१४४७ पडिमंतथंभणादी नि ४४६१, पिनि २२९
१९८४ पडिमाएँ पाउया वा बृ ६३७०
१४६६ पडिलाभित वच्चंता नि ४४७२, पिनि २३१/४
२२० पडिलेहण-पप्फोडण व्य ४१३८
४६१ पडिलेहण संथारं नि ३९०८, व्य ४३४५
४३२ पडिलोमाणुलोमा वा नि ३८८२, व्य ४३१९
२१२३ पडिवज्जंति जिणिंदस्स बृ ६४५३
३८ पडिवाति अपडिवाती तु. नंदी १०
१४४३ पडिविज्जथंभणादी नि ४४५९, पिनि २२८
२३०७ पडिसेवणअणवट्ठो बृ ५०६२
११२८ पडिसेवण पडिसुणणा पिनि ६९
२४७९ पडिसेवणपारंची तु. बृ ४९८५
११२९ पडिसेवणाएँ तेणा पिनि ६८/६
४२१ पडिसेवणातियारा नि ३८७२, व्य ४३०८
१४३ पडिसेवणातियारे व्य ४०६५
१४४ पडिसेवणातियारे व्य ४०६५/५

| | | |
|---|---|---|
| ४१८ | पडिसेवति विगतीओ | नि ३८६९, व्य ४३०५ |
| २५६८ | पडिहाररूवी! भण रायरूवी | बृ ५०४७, व्य १२२० |
| २००० | पढमगभंगे वज्जो | नि २४९९, बृ ६३८३ |
| ४२७ | पढम-बितिएसु कप्पे | नि ३८७७, व्य ४३१४ |
| ५५६ | पढमम्मि य संघयणे | नि ३९४८, प्रकी १२८३, व्य ४४०१ |
| १७४ | पढमादीसंघयणो | व्य ४०९४ |
| ११५ | पणगं मासविवड्ढी | व्य ४०४० |
| २०७६ | पण्णरसुग्गमदोसा | पंक २५६८ |
| २६८ | पण्णवगस्स तु सपदं | व्य ४१७५ |
| १९६८ | पतिट्ठा ठवणा ठवणी | बृ ६३५६ |
| ११४४ | पत्तेयबुद्ध णिण्हग | पिनि ७३/२१ |
| ५८१ | पदमक्खरमुद्देसं | व्य ४४५४ |
| २१४१ | पमाण कप्पट्ठितो तत्थ | बृ ६४६९ |
| ८८२ | पयला उल्ले मरुगे | नि २९८, ८८२, बृ ६०६६ |
| ८८४ | पयलासि किं दिवा ण पय···· | नि ३००, बृ ६०६८ |
| ११२१ | परकम्ममत्तकम्मी... | पिनि ६७/२ |
| ११५६ | परपक्खो तु गिहत्थो | पिनि ८१ |
| ११६९ | परपच्चइया छाया | पिनि ८०/२ |
| २३५१ | परधम्मिया वि दुविधा | बृ ५०८८ |
| १८७ | परवाइण सिस्सेण व | व्य ४१०६ |
| १२६२ | परस्स तं देति सए व गेहे | पिनि १६३/४ |
| १९४९ | परिणमति जहत्थेणं | बृ ७९६ |
| ५७९ | परिणामगो हु तत्थ वि | व्य ४४५२ |
| १९४२ | परिणामा ऽपरिणामा | तु. बृ ७९२ |
| १५५ | परिणिट्ठित परिण्णात | व्य ४०७५ |
| १८३ | परिणिव्वविया वाए | व्य ४१०२ |
| १०९६ | परियट्टिए अभिहडे | नि ३२५१, पिनि ५९, बृ ४२७६ |
| २११२ | परिहारकप्पं वोच्छामि | बृ ६४४७ |
| २८८ | परिहारविसुद्धीए | व्य ४१९१ |
| २०६९ | परिहारविसुद्धीणं | पंक २५६१ |
| २१५० | परिहारिगा वि छम्मासे | बृ ६४७४ |
| २१८७ | पलंबाउ जाव ठिती | बृ ६४८७ |
| १७७२ | पल्हवि कोयवि पावार | नि ४००२, प्रसा ६७८ |
| ६६० | पवयणजसंसि पुरिसे | व्य ४५०८ |
| ४१४ | पव्वज्जादी आलोयणा | नि ३८६६, व्य ४३०२ |
| ३२३ | पव्वज्जादी काउं | नि ३८१२, व्य ४२२३ |
| ५१२ | पव्वज्जादी काउं | व्य ४३९१ |
| ५१६ | पव्वज्जादी काउं | नि ३९४० |
| १३७५ | पाएण देति लोगो | नि ४४२५, पिनि २१०/३ |
| ४३० | पाणगजोग्गाहारे | नि ३८८०, व्य ४३१७ |
| ३९० | पाणगादीणि जोग्गाणि | नि ३८५०, व्य ४२८३ |
| २१७१ | पाणिपडिग्गहिता तू | पंक १४४९ |
| ३२१ | पादोवगमे इंगिणि | व्य ४२२१ |
| ३२२ | पादोवगमे इंगिणि | व्य ४२२२ |
| ६५६ | पाबल्लेण उवेच्च उ | व्य ४५०४ |
| ३१५ | पायच्छित्ते असंतम्मि | नि ६६७८, पंक २३१२, व्य ४२१५ |
| १२३९ | पायोकरणं दुविधं | तु. पिनि १३७ |
| २५८ | पारगमपारगं वा | व्य ४१६७ |

| | | |
|---|---|---|
| ११२ | पारोक्खं ववहारं | व्य ४०३७ |
| ५ | पावं छिंदति जम्हा | व्य ३५, पंचा १६/३ |
| २५१० | पावाणं पावतरो | बृ ५००९ |
| ४२ | पासगतंऽतगतो ऊ | तु. नंदी १४ |
| २१०२, २१०३ | पासत्थसंकिलिट्ठं | बृ ६४३८, ६४३९ |
| ४३३ | पासत्थोसण्णकुसील... | नि ३८८३, व्य ४३२० |
| २७१ | पासादस्सायणे मण···· | तु. व्य ४१७६ |
| ४४५ | पासित्तु ताणि कोई | नि ३८९२, व्य ४३३० |
| १५३४ | पासोलित्त कडाहे | पिनि २५३ |
| १२३७ | पाहुडिभत्तं भुंजति | पिनि १३६ |
| २४६६ | पाहुडियं उवजीवति | बृ ४९७६ |
| १५७४ | पाहुडियं च ठवेंती | पिनि २७० |
| २४९७ | पाहुणगट्ठा व तगं | बृ ५००४ |
| २०६१ | पिंडो तु अलेवकडो | पंक २५५३ |
| २५२९ | पिसितासि पुव्वमहिसं | नि १३६, बृ ५०१८ |
| २४८४ | पुच्छंतमणक्खाते | नि ३६८४, पंक ४५४, बृ ४९८९ |
| ५२६ | पुढवि-दग-अगणि-मारुय | नि ३९५१, व्य ४४०४ |
| ३४५ | पुणरवि चउरण्णा तू | व्य ४२४२ |
| १९९५ | पुरपच्छिमवज्जेहिं | नि ११६०, प्रसा ८०७, बृ ३५४१ |
| २०२० | पुरिमाण दुव्विसोज्झो | तु. उ २३/२७, पंक १३४१, पंचा १७/४२, बृ ६४०३ |
| १९४ | पुरिसं उवासगादी | व्य ४११३ |
| ६६३ | पुरिसस्स उ अवराहं | व्य ४५११ |
| १३५ | पुव्वं अपासिऊणं | नि ९७, व्य ४०५७ |
| २०९० | पुव्वट्ठिताण खेत्ते | पंक २५८२ |
| २०२५ | पुव्वतरं सामइयं | बृ ६४०८ |
| २४०९ | पुव्वब्भासा भासेज्ज | बृ ५११९ |
| ५४४ | पुव्वभवियपेमेणं | नि ३९५४, व्य ४४०७ |
| ५४५ | पुव्वभवियपेमेणं | नि ३९५५, व्य ४४०८ |
| ५२२ | पुव्वभवियवेरेणं | नि ३९४४, व्य ४३९७ |
| २११६ | पुव्वसतसहस्साइं | तु. बृ ६४५० |
| ५५५ | पुव्वाऽवर-दाहिण-उत्तरेहि | नि ३९४७, प्रकी १२८२, व्य ४४०० |
| १३२० | पुव्विं पच्छासंथव | पंव ७५५, पंचा १३/१९, पिनि १९६, प्रसा ५६८ |
| १९९ | पूए अहागुरुं पि य | तु. व्य ४११७ |
| १२०३ | पूतीकम्मं दुविधं | नि ८०४, पिनि १०७ |
| २५२७ | पोग्गल मोदग फरुसग | नि १३५, बृ ५०१७, तु. विभा २३५ |
| १११३ | बंधति अहेभवाउं | पिनि ६४/२ |
| २९० | बकुस-पडिसेवगा खलु | व्य ४१९३ |
| २८३ | बगुस-पडिसेवगाणं | व्य ४१८६ |
| १६२२ | बत्तीसं किर कवला | पिनि ३१०, प्रसा ८६६ |
| ५४६ | बत्तीसलक्खणधरो | नि ३९५७, व्य ४४०९ |
| २१२ | बत्तीस वण्णित च्चिय | व्य ४१३० |

| | | |
|---|---|---|
| १६२६ | बत्तीसाउ परेणं | पिनि ३१२/१ |
| १५६-५९ | बत्तीसाए तु ठाणेहिं | व्य ४०७६-७९ |
| ५९५ | बल-वण्ण-रूवहेतुं | नि ४६९ |
| ८२३ | बहुं सुणेति कण्णेहिं | दश ८/२० |
| १९८ | बहुजणजोग्गं पेहे | व्य ४११६ |
| १९१ | बहु बहुविह पोराणं | व्य ४११० |
| १८८ | बहुविहऽणेगपगारं | व्य ४१०७ |
| १६८ | बहुसुत जुगप्पहाणो | व्य ४०८८ |
| १६७ | बहुसुत परिजितसुत्ते | व्य ४०८७ |
| ६७७ | बहुसो बहुस्सुतेहिं | व्य ४५४२ |
| १६०८ | बायालीसेसणसंकडम्मि | ओनि ५४५, पिनि ३०२/५, पंव ३५४ |
| १५६९ | बाले वुड्ढे मत्ते | पिनि २६५ |
| ५३९ | बावीस आणुपुव्वी | नि ३९७४, व्य ४४२७ |
| २१६६ | बाहिरओं सरीरस्सा | पंक १४४६ |
| ६३२ | बितियं कज्जं कप्पो | व्य ४४८४ |
| २३४५ | बितियपदं वोच्छेदे | बृ ५०८३ |
| ६५२ | बितियस्स य कज्जस्सा | व्य ४५०० |
| ६२७ | बितियस्स य कज्जस्सा | व्य ४४७५ |
| ५९८ | बितियिपदे जो तु परं | नि ४७२ |
| १४८० | बीएण गहित संकित | तु. पिनि २४०/२ |
| ५७३ | बेति गुरू अह तं तू | व्य ४४४६ |
| १३३९ | बेति जणो केणेयं | तु. पिनि २०३ |
| १३८८ | बेति व एरिस दुक्खं | नि ४४३५, पिनि २१४/२ |
| २३८६ | बोहिभयसावगादिसु | बृ ५१११ |
| ४०४ | भंडी बइल्लए काए | नि ३८५७, व्य ४२९३ |
| १५७१ | भज्जेंती य दलेंती | पिनि २६७ |
| ८९५ | भणइ य दिट्ठ णियट्टे | नि ३११, बृ ६०८० |
| १४८९ | भण्णति संकितभावो | तु. पिनि २४१ |
| २०६५ | भत्तं लेवकडं वा | पंक २५५७ |
| २३३९ | भत्ते पण्णवण णिगूहणा | नि २७०३, बृ ५०७६ |
| **१९** | **भत्ते पाणे सयणा....** | **व्य १११** |
| ५६ | भरहम्मि अद्धमासो | आवनि ३२, नंदी १८/५, विभा ६१० |
| २११३ | भरहेरवयवासेसु | बृ ६४४८ |
| १३०६ | भावे अरत्तदुट्ठो | तु. पिनि १९२ |
| १३१७ | भावे पसत्थ इतरा | पिनि १९४/३ |
| ३२५ | भिक्ख-वियारसमत्थो | व्य ४२२५ |
| १३२७ | भिक्खादी वच्चंते | नि ४३९९, पिनि २०१/१ |
| २१०० | भिण्णं पि मासकप्पं | बृ ६४३६ |
| १४५३ | भिक्खे परिहायंते | तु. नि ४४६४, तु. पिभा ३६ |
| १३७ | भीतो पलायमाणो | व्य ४०५९ |
| २६९ | भुंजति चक्की भोगे | तु. व्य ४१७७ |
| १३६८ | भुंजंति चित्तकम्मट्ठित | नि ४४२१, पिनि २०९/१ |
| ८८७ | भुंजसु पच्चक्खाणं | नि ३०३, बृ ६०७१ |
| ४३१ | भुत्तभोगी पुरा जो तु | नि ३८८१, व्य ४३१८ |
| १२३६ | मंगलहेतुं पुण्णट्ठ.... | पिनि १३५/१ |
| ४१ | मग्गतों अंतगतो ऊ | तु. नंदी १३ |
| ५४७ | मज्जण-गंधं पुप्फो... | तु. नि ३९५८, तु. व्य ४४१० |

| | | |
|---|---|---|
| ४४ | मज्झगतंऽतगतस्स य | तु. नंदी १६ |
| ८८ | मणपज्जवणाणं पुण | आवनि ७३, नंदी २५/१, विभा ८१० |
| १८५ | मतिसंपद चउभेदा | व्य ४१०४ |
| १५५८ | मत्तेण जेण दाहिति | तु. पिनि २६२ |
| १३६५ | मयमातिवच्छगं पिव | तु. नि ४४१९, तु. पिनि २०८/१ |
| २३९४ | मरणभएणऽभिभूते | बृ ५११३ |
| ३६१ | मरिऊण अट्टझाणो | व्य ४२५६ |
| २६०४ | मरेज्ज सह विज्जाए | नि ६२३० |
| ४८० | महसिलकंटे तहियं | व्य ४३६४ |
| १२३१ | मा ताव झंख पुत्तय! | पिनि १३२ |
| १८०३ | मासो लहुगो गुरुगो | नि ३२७९, व्य ६२१ |
| ८९६ | मासो लहुगो गुरुगो | नि ३१२, बृ ६०८१ |
| १३६९ | मिच्छत्तथिरीकरणं | नि ४४२२, पिनि २१० |
| २०२२ | मिच्छत्तभावियाणं | बृ ६४०५ |
| ५२८ | मुणिसुव्वयंतवासी | उनि ११३, नि ३९६४, व्य ४४१७ |
| १९९९ | मुदिते मुद्धऽभिसित्ते | नि २४९८, पंक १३०१, बृ ६३८२ |
| ५३४ | मोगल्लसेलसिहरे | नि ३९७०, व्य ४४२३ |
| २१८५ | मोत्तुं जिणकप्पठितिं | बृ ६४८६ |
| २५३० | मोदगभत्तमलद्धुं | नि १३७, बृ ५०१९ |
| ४०३ | रण्णा कोंकणगाऽमच्चा | नि ३८५६, व्य ४२९२ |
| २१७४ | रयहरणं मुहपोत्ती | तु. पंक १४५२ |
| २१७७ | रयहरणं मुहपोत्ती | पंक १४४४ |
| १६१८ | रसहेतुं पडिकुट्ठो | पिनि ३०९ |
| ६६२ | रहिते नाम असंते | व्य ४५१० |
| १६४८ | रागग्गीय पजलितो | पिनि ३१४/२ |
| ११६ | राग-द्दोसविवड्ढिं | व्य ४०४१ |
| १६५३ | रागेण सइंगालं | तु. पिनि ३१५ |
| १३९८ | रायगिहे धम्मरुई | पिनि २१९/९ |
| १४०५ | रायगिहे य कयाई | पिनि २१९/१२ |
| २३५ | रुट्ठस्स कोधविणयण | व्य ४१५१ |
| ५०२ | लद्धो व विसेणं तू | व्य ४३८४ |
| १४१३ | लब्भंतं पि ण गिण्हति | पिनि २२० |
| २३२२ | लहुगा अणुग्गहम्मी | बृ ५०७० |
| १८३९ | लहुसो लहुसतरागो | बृ ६०४०, ६२३६, व्य १०६६, १११८ |
| ४८५ | लावए पवए जोहे | नि ३९२७, व्य ४३६९ |
| २३६० | लिंगपविट्ठाणेवं | बृ ५०९६ |
| २५०८ | लिंगेण लिंगिणीए | नि १६९० |
| २५०९ | लिंगेण लिंगिणीए | बृ ५००८ |
| ३५३ | लुक्खत्ता मुहजंतं | व्य ४२४८ |
| १२९९ | लेवालेवे त्ति जं वुत्तं | पिभा २९ |
| १३७१ | लोगाणुग्गहकारिसु | नि ४४२३, पिनि २१०/१ |
| २००६ | लोभे एसणघातो | नि २५०५, २५२३, बृ ६३८९ |
| २१६२ | वइरोसभसंघतणा | पंक १३६६ |
| ८८८ | वच्चसि? णाहं वच्चे | नि ३०४, बृ ६०७२ |
| ९०० | वच्चह एगं दव्वं | नि ३१६, बृ ६०८७ |

४५१ वट्टंति अपरितंता नि ३८९९, व्य ४३३५
८९० वट्टति तु समुद्देसो नि ३०६, बृ ६०७४
११७० वट्टति हायति छाया पिनि ८०/३
११८७ वट्टेति तप्पसंगं पिनि ८३/४
६७५ वत्तणुवत्तपवत्तो व्य ४५२१
६७६ वत्तो णामं एक्कसि व्य ४५२२
१९६ वत्थुं पुण परवादी व्य ४११५
५८७ वयछक्कं कायछक्कं व्य ४४६०
१५४ वयछक्ककायछक्कं व्य ४०७४
२४६२ वरणेवत्थं एगे व्य १२०७
४९५ वसभो वा ठाविज्जति व्य ४३७८
२५१४ वसहि-णिवेसण-वाडग बृ ५०१२
४९९ वाघाति आणुपुव्वी व्य ४३८१
१४०६ वाघातेण पविट्ठो तु. पिनि २१९/१३
२५७४ वादपरायणकुवितो व्य १२२६
१७९ वायणभेदा चतुरो व्य ४०९८
५९० वायाम-वग्गणादी नि ४६४
५०० वाल-ऽच्छभल्ल-विसगत व्य ४३८२
५०१ वालेण गोणसाइण व्य ४३८३
२०८२ वासउदुअहालंदे तु. पंक २५७४
२०७८ वासावासपमाणं पंक २५७०
२०८३ वासासु चउम्मासो पंक २५७५
२०२ वासासु विसेसेणं व्य ४१२०
२०० वासे बहुजणजोग्गं व्य ४११८
१०३४ विगति अणट्ठा भुंजति नि १५९५
४४८ विगतीकताणुबंधे नि ३८९६, व्य ४३३२
६८४ विगलिंदऽणंतघट्टण व्य ४५३९
१५३० विज्झाउत्ति ण दीसति तु. पिनि २५२/१
१५२९ विज्झातमुम्मुरिंगाल···· पिनि २५२
२३७८ विणयग्गाहण खुड्डे बृ ५१०७
२२७ विण्णाणाभावम्मि वि व्य ४१४४
१४३५ विमलीकत णे चक्खू नि १०४९, पिनि २२६/१
१६५८ वेदण वेयावच्चे उ २६/३२, ओनि ५८०, ठाणं ६/४१, पंक ८९१, पंव ३६५, प्रकी ७८५, पिनि ३१८, प्रसा ७३७, तु. मूला ४७९
६७२ वेयावच्चकरो वा व्य ४५१८
६५७ सं एगीभावम्मी व्य ४५०५
२०८५ संकमणऽण्णोण्णस्सा पंक २५७७
२००८ संका चारिग चोरे बृ ६३९१
१४७६ संकित मक्खित णिक्खित्त पंव ७६२, पंचा १३/२६, पिनि २३७, प्रसा ५६८, तु. मूला ४६२
२५३ संखाईया ठाणा व्य ४१६१
२६ संखातीताओ खलु आवनि २३
५७ संखेज्जम्मि तु काले आवनि ३३, नंदी १८/६, विभा ६१५
१२९३ संखेवेण दुहा ऊ पिनि १९२/६
३०० संघतण धितीहीणा व्य ४२०२
५१५ संघयण-धितीजुत्तो नि ३९३९, व्य ४३९४
६०२ संघस्साऽऽयरियस्स य नि ४८५, व्य ४४६५
१९९२ संघस्सोह-विभागे पंक १२९६, बृ ६३७६
२४४४ संघाडगो तु जाव उ नि २८८३, व्य ५५२

| | | |
|---|---|---|
| २५७५ | संघो ण लभति कज्जं | बृ ५०५३, व्य १२२७ |
| २१८२ | संजमकरणुज्जोया | बृ ६४८५ |
| ११०६ | संजमठाणाणं कंडगाण | पिनि ६४ |
| ३३९ | संजमठाणाणं कंडगाण | नि ३८२३, व्य ४२३७ |
| २१६ | संजममायरति सयं | व्य ४१३४ |
| १६१० | संजोइय अतिबहुयं | पिनि ३०३/१ |
| २९९ | संतविभवेहि तुल्ला | व्य ४२०१ |
| २९३ | संतविभवो तु जाहे | व्य ४१९५ |
| ४५८ | संथारों उत्तिमट्ठे | व्य ४३४२ |
| ४६३ | संथारों तस्स मउगो | व्य ४३४७ |
| ३४१ | संलेहणा उ तिविधा | तु. व्य ४२३८ |
| ३४४ | संवच्छराणि चउरो | व्य ४२४१ |
| ३७६ | संविग्गदुल्लभं खलु | नि ३८३९, व्य ४२७१ |
| ६९१ | संविग्गे पियधम्मे | व्य ४५४६ |
| २३८५ | संविग्गो मद्दवितो | पंक १२४१, बृ ५११० |
| १५०८ | संसज्जिमेहिं वज्जं | पिनि २४५/१ |
| १५७३ | संसत्तेण तु दव्वेण | पिनि २६९ |
| १०३९ | संसयकरणं संका | तु. नि २४ |
| ५९१ | संसारखडुपडितो | नि ४६५ |
| २५११ | संसारमणवयग्गं | बृ ५०१० |
| १३९० | संसोधण संसमणं | नि ४४३६, पिनि २१४/३ |
| १६९ | सगणामं व परिजितं | व्य ४०८९ |
| ३३५ | सगणे आणाहाणी | व्य ४२३३ |
| १२५९ | सच्चित्तपुढविलित्तं | पिनि १६३/१ |
| १४१७ | सट्ठऽड्ढरत्त केसर... | पिनि २२०/२ |
| ५०४ | सण्णीणं रुद्धाइं | व्य ४३८६ |
| २५०४ | सण्णी व असण्णी वा | बृ ४९९५ |
| २४९४ | सति लाभम्मि व गेण्हति | बृ ५००१ |
| २१७८ | सत्त य पडिग्गहम्मी | पंक १४८३ |
| २१३३ | सत्तावीसं जहण्णेणं | बृ ६४६१ |
| २०५१ | सपडिक्कमणो धम्मो | आवनि ८३६, पंक १३५९, पंचा १७/३२, प्रकी ३९८९, प्रसा ६५४, बृ ६४२५ |
| २६७ | सपदपरूवण अणुसज्जणा | व्य ४१७४ |
| ३२४ | सपरक्कमे य अपरक्कमे | आनि २८२, व्य ४२२४ |
| ५६६ | समणस्स उत्तिमट्ठे | व्य ४४३८ |
| ५१९ | सम-विसमम्मि व पडितो | तु. नि ३९४१ |
| १३५४ | सम्ममसम्मा किरिया | नि ४४१४, पिनि २०७/२ |
| ३८४ | सयं चेव चिरावासो | नि ३८४५, व्य ४२७७ |
| २१३४ | सयग्गसो य उक्कोसा | बृ ६४६२ |
| २१०९ | सरिकप्पे सरिछंदे | नि २१४७, पंक १५१०, बृ ६४४५ |
| २११० | सरिकप्पे सरिछंदे | नि २१४८, पंक १५०९, बृ ६४४६ |
| ४८९ | सरीरमुज्झितं जेण | नि ३९३०, व्य ४३७२ |
| १२७१ | सव्वं पि य तं दुविधं | पिनि १६५ |
| २६५ | सव्वं पि य पच्छित्तं | व्य ४१७३ |
| ४४६ | सव्वं भोच्चा कोई | नि ३८९४ |
| ४४७ | सव्वं भोच्चा कोई | नि ३८९५, व्य ४३३१ |
| ३१८ | सव्वण्णूहिँ परूविय | व्य ४२१८ |

| | | |
|---|---|---|
| ५३ | सव्वबहुअगणिजीवा | आवनि २९, नंदी १८/२, विभा ५९८ |
| २१९ | सव्वम्मि बारसविधे | व्य ४१३७ |
| ४७२ | सव्वसुहप्पभवाओ | नि ३९१९, प्रकी १२९२, व्य ४३५६ |
| ४७१ | सव्वाओ अज्जाओ | नि ३९१८, प्रकी १२९१, व्य ४३५५ |
| ४६९ | सव्वाहिं वि लद्धीहिं | नि ३९१६, प्रकी १२८९, व्य ४३५३ |
| २०१६ | सव्वाहिं संजतीहिं | पंक १३३९, बृ ६३९९ |
| २१२४ | सव्वे चरित्तमंता य | बृ ६४५४ |
| ४६८ | सव्वे सव्वद्धाए | नि ३९१५, प्रकी १२८८, व्य ४३५२ |
| २०२६ | सा जेसि तुवट्टवणा | बृ ६४०९ |
| १२२४ | सा पाहुडिया दुविधा | पिनि १३१ |
| १९६९ | सामाइए य छेदे | बृ ६३५७ |
| ७१४ | सामाइयमादीयं | आवनि ८७ |
| २८६ | सामाइसंजताणं | व्य ४१८९ |
| ३३१ | सारेऊण य कवयं | नि ३८१६, व्य ४२३० |
| ११७७ | साली-घत-गुल-गोरस | नि २६६२, पंक १२८५, बृ ५३४१, पिनि ८२/१ |
| ११४७ | सालीमादी अगडे | पिनि ७५ |
| २२२१ | सावेक्खो त्ति व काउं | नि ६६५७, व्य १६७ |
| ३०३ | सावेक्खो पवयणम्मि | व्य ४२०४ |
| २४८२ | सासवणाले मुहणंतगे | बृ ४९८७ |
| २४८३ | सासवणाले लद्धुं | नि ३६८३, तु. पंक ४५३, बृ ४९८८ |
| २०८४ | साहारणा तु एते | पंक २५७६ |
| १३९६ | साहूण समुल्लावो | तु. नि ४४४६, तु. पिनि २१९/१ |
| १४८५ | साहू सुतोवउत्तो | पिनि २३९/१ |
| १२०८ | सिज्झंतस्सुवगारं | पिनि ११३ |
| ३३७ | सिणेहो पेलवी होती | नि ३८२१, व्य ४२३५ |
| २३८१ | सिप्पंणेउणियट्ठा | बृ ५१०९ |
| २३६ | सीतघरम्मि व डाहं | व्य ४१५२ |
| १६३९ | सीतो उसिणो साहारणो | तु. पिनि ३१३/३ |
| १९७९ | सीसावेढियपोत्तिं | बृ ६३६६ |
| १२९८ | सुक्केण वि जं छिक्कं | पिभा २८ |
| १५६२ | सुक्के सुक्कं पढमं | पिनि २६३/१ |
| १३०९ | सुक्खे सुक्खं पडितं | पिनि १९२/३ |
| ३२० | सुण जह णिज्जवगऽत्थी | व्य ४२२० |
| २२३ | सुत्तं अत्थं च तहा | व्य ४१४० |
| १४२ | सुत्तं अत्थे उभयं | व्य ४०६४ |
| २२४ | सुत्तं गाहेति उज्जुत्तो | व्य ४१४१ |
| २०८९ | सुत्तत्थतदुभयविसार.... | पंक २५८१ |
| १४८६ | सुत्तस्स अप्पमाणे | पिनि २४० |
| ४९० | सुद्धं एसितु ठावेंति | नि ३९३१, व्य ४३७३ |
| ५९ | सुहुमो य होति कालो | आवनि ३५, नंदी १८/८, विभा ६२१ |
| १४५९ | सूभग-दोभग्गकरा | नि ४४६९, पिनि २३१/१ |
| ६५ | से किं अप्पडिवातिं | तु. नंदी २१ |
| ४३ | से किं मज्झगतो? तं | तु. नंदी १५ |
| १९७४ | सेज्जातरपिंडे या | पंक १२७३, बृ ६३६१ |

| | | |
|---|---|---|
| ४७३ | सेलेसि सिद्ध विग्गह | तु. नि ३९२०, तु. प्रकी १२९३, तु. व्य ४३५७ |
| ५९६ | सेवंतो तु अकिच्चं | नि ४७० |
| २०७१ | सेसं जह थेराणं | पंक २५६३ |
| २४९६ | सेसाणं संसट्ठं | बृ ५००३ |
| १५०० | सेसेहि तु काएहिं | तु. पिनि २४३/३ |
| २३१० | सेहो त्ति अगीतत्थो | बृ ५०६५ |
| १४३३ | सो एसो जस्स गुणा | नि १०४७, पिनि २२५/१ |
| ६८२ | सो जह कालादीणं | व्य ४५३७ |
| ६६९ | सो तम्मि चेव दव्वे | व्य ४५१६, |
| ६७० | सो तम्मि चेव दव्वे | व्य ४५१७ |
| २०८७ | सो तु परंपरएणं | पंक २५७९ |
| ६३६ | सोतूण तस्स पडिसेवणं | व्य ४४८७ |
| ३६४ | सो दिट्ठो य विगिंचिंतों | व्य ४२५९ |
| ३२ | सो पुण ओही दुविधो | तु. नंदी ७ |
| १०८८ | सोलस उग्गमदोसा | पिनि ३२२ |
| १४८७ | सोलस उग्गमदोसा | पिनि २३८/२ |
| १३१३ | सोलस उग्गमदोसे | पिनि १९३ |
| २४३६ | सो वंदति सेहादि वि | बृ ५१३५ |
| ६३८ | सो ववहारविहिण्णू | व्य ४४८९ |
| ५६९ | सो वि अपरक्कमगतो | तु. व्य ४४४२ |
| ५८० | सो वि गुरूहिं भणितो | व्य ४४५३ |
| २१७ | सो सत्तरसो पुढवा... | व्य ४१३५ |
| २६१ | सोहीए य अभावे | व्य ४१७१ |
| ४७८ | हंदि दु परीसहचमू | नि ३९२५, व्य ४३६२ |
| १५७० | हत्थंदु-णिगलबद्धे | पिनि २६६ |
| ५५ | हत्थम्मि मुहुत्तंतो | आवनि ३१, नंदी १८/४, विभा ६०९ |
| २३७३ | हत्थाताले हत्थालंबे | बृ ५१०३ |
| २३७६ | हत्थेण व पादेण व | बृ ५१०५ |
| ३८८ | हवेज्ज जदि वाघातो | नि ३८४९, व्य ४२८१ |
| १६३२ | हिताहारा मिताहारा | ओनि ५७८, पिनि ३१३ |
| ११०३ | हिययम्मि समाहेउं | पिभा १८ |
| १३५३ | होमादिऽवितहकरणे | नि ४४१३, पिनि २०७/१ |

# परिभाषाएं

**अंगार**—• णिज्जाला हिलिहलया, इंगाला ते भवे मुणेतव्वा। (गा. १५३१)

**अकृतयोगी**—• अकडजोगिणो अपरिकम्मवियसरीरा। (जीचू पृ. २४)

**अतिपरिणामक**—• जो दव्वखेत्तकतकालभावओ जं जहा जिणक्खातं।
तल्लेसुस्सुत्तमती, अतिपरिणामं वियाणाहि॥ (गा. १९४८)

• अइपरिणामगा जे अववायमेवायरन्ति तम्मि चेव सज्जन्ति, न उस्सग्गे। (जीचू पृ. २३)

**अध:कर्म** • तेसिं गुरूण उदएण, अप्पगं दुग्गतीएँ पवडंतं।
ण चएति विधारेउं, अहकम्मं भण्णते तम्हा॥ (गा. १११४)

• संजमठाणाणं कंडगाण लेस्साठितीविसेसाणं। भावं अहे करेती, तम्हा तु भाव अहेकम्मं॥ (गा. ११०६)

**अर्धापक्रान्ति**—तत्रार्धस्यासमप्रविभागरूपस्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्य-अपक्रमणमवस्थानम्। शेषस्य बुद्ध्यादिपदसङ्घातरूपस्यैकदेशस्योर्ध्वगमनं यस्यां रचनायां सा समयपरिभाषयार्धापक्रान्तिरुच्यते। (जीचूवि पृ. ५३)

**अध्यवतर**—अहिगं तु तंदुलादी, छुब्भति अज्झोयरो उ। (गा. १२८४)

**अध्वानानीत**—अद्धोयणा परेणं, आणित णीतं व असण-पाणादी। एयऽद्धाणातीतं.....। (गा. ९६४)

**अननुगामी अवधि**—ण वि जाणति अण्णत्था, संखमसंखे उ जोयणे जो उ।
ओही तु अणणुगामी, समासतो एसमक्खातो॥ (गा. ४९)

**अननुतापी**—बितियपदे जो तु परं, तावेत्ता णाणुतप्पती पच्छा। सो होति अणणुतावी....। (गा. ५९८)

**अनवस्थाप्य**—तद्दोसोवरतस्स उ, महव्वयारुवण कीरती तस्स। अणवट्ठप्पो एसो....॥ (गा. ७२८)

• जम्मि पडिसेविए उवट्ठावणा अजोगो, कंचि कालं न वएसु ठाविज्जइ ; जाव पइविसिट्ठतवो न चिण्णो, पच्छा य चिण्णतवो तद्दोसोवरओ वएसु ठाविज्जइ ; एयं अणवट्ठप्पारिहं। (जीचू पृ. ६)

**अनाभोग**—• अण्णतरपमादेणं, असंपउत्तस्स णोवउत्तस्स।
इरियादिसु भूतत्थे, अवट्टतो एतदण्णाणं॥ (गा. १३६)

**अनिश्रितवचन**—णिस्सितो कोहादीहिं, रागद्दोसेहि वावि जं वयति। होति अणिस्सितवयणो...। (गा. १७७)

**अनुवासकल्प**—• वासावासपमाणं, आयारउदुप्पमाणितं कप्पं।
एतं अणुम्मुयंतो, जाणसु अणुवासकप्पो तु॥ (गा. २०७८)

**अन्यतरक**—अन्नतरगो नाम जो एक्कं सक्केइ काउं, तवं वेयावच्चं वा, न पुण दो वि सक्केइ। (जीचू पृ. २३)

**अपरिणत**—जीवत्तम्मि अविगते, अपरिणतं। (गा. १५८८)

**अपरिणामक**—• अपरिणामगा पुण जे उस्सग्गमेव सद्दहन्ति आयरन्ति य; अववायं पुण न सद्दहन्ति नायरन्ति य। (जीचू पृ. २३)

• जो दव्वखेत्तकतकालभावओ जं जहा जिणक्खातं।
तं तह असद्दहंतं, अप्परिणामं वियाणाहि॥ (गा. १९४७)

**अपात्र**—• अपत्तो अजोगो। तिंतिणिचवलचित्त णाणंगणियाइ-णेगदोस-संजुत्तो। (जीचू पृ. १२)
• गणाद् गणान्तरं संक्रमणशीलो वाऽपात्रम्। (जीचूवि पृ. ४४)

**अप्रशस्त प्रतिसेवना**—बलवर्णाद्यर्थं प्रासुकभोज्यपि जं पडिसेवइ, सा अप्रशस्तपडिसेवणा॥ (जीचूवि पृ. ३४)

**अप्राप्त**—कमेण अहिज्जंतो न ताव पावइ तं सुत्तं अत्थं वा परियाओ वा न पूरइ सो अपत्तो। (जीचू पृ. १२)

**अवयानी**—ओयाणी पुण अणुसोयगामिणी। (जीचू पृ. ११)

**अश्लोकभय**—असिलोगो त्ति इ अयसो, जइ एव करिस्स होहिती अयसो। असिलोगभयं एतं....। (गा. ९२७)

**आकार**-आकार: स्थूलधीसंवेद्य: प्रस्थानादिभावसूचको दिगवलोकनादि:। (जीचूवि पृ. ३८)

**आकुट्टिका**—आउट्टिया नाम जं उवेच्च पाणाइवायं करेइ। (जीचू पृ. २५)

**आचेलक्य**-अविद्यमानं चेलं वस्त्रं यस्यासावचेलकस्तद्भाव आचेलक्यम्। (जीचूवि पृ. ५३)

**आजीवन ( भिक्षा का एक दोष )**—जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पानां कथनादिना आजीवनम्। (जीचूवि पृ. ४६)

**आज्ञाव्यवहार**—केनापि शिष्येण निजातिचारालोचकेन आलोचनाचार्य: सन्निहितोऽप्राप्त:, दूरे त्वसौ तिष्ठति। तत: केनचित्कारणेन स्वयं तावत्तत्र गन्तुं न शक्नोति। अगीतार्थस्तु कश्चित्तत्र गन्ता विद्यते। तस्य हस्ते आगमभाषया गूढानि अपराधपदानि लिखित्वा यदा शिष्यं प्रस्थापयति: ; गुरुरपि तथैव गूढपदै: प्रायश्चित्तं लिखित्वा प्रेषयति तदासौ आज्ञालक्षणस्तृतीयो व्यवहार:। (जीचूवि पृ. ३३)

**आत्मकर्म**—जो परकम्मं अत्तीकरेति तं अत्तकम्मं तु। (गा. १११९)
• आहाकम्मपरिणतो, फासुगमवि संकिलिट्ठपरिणामो।
आइयमाणो बज्झति, तं जाणसु अत्तकम्मं तु॥ (गा. ११२०)

**आत्मतर**—आततरो-चउत्थादी, जं दिज्जति तं तु नित्थरति। (गा. १९६४)

**आत्मतरक**—दृढोऽपि वैयावृत्त्ये तप एव करोति, न वैयावृत्यम् इत्यात्मतरक:। (जीचूवि पृ. ५३)

**आधाकर्म**—• ओरालसरीराणं, उद्दवणऽतिवायणं तु जस्सट्ठा।
मणमाहित्ता कुव्वति, आहाकम्मं तगं बेंति॥ (गा. ११००)
• हियय्म्मि समाहेउं, एगमणेगे व गाहगे जो तु।
वहणं करेति दाता, कायाण तमाहकम्मं तु॥ (गा. ११०३)

**आलोचनार्ह**—जं पावं आलोइयमेत्तेणं चेव सुज्झइ, एयं आलोयणारिहं। (जीचू पृ. ६)

**आवश्यकी ( सामाचारी )**—अवश्यकर्तव्यैर्योगैर्निष्पन्ना आवश्यकी वसतेर्निर्गच्छद्भिर्या क्रियते। (जीचूवि पृ. ४१)

**आशंकित**—कयमकयं वा जत्थ परिच्छेयं काउं न तरइ तमासंकियं। (जीचू पृ. १०)

**आशातना**—आयो नाणाइतियं, तस्स साडणा अवणयणं विणासो आसायणा भण्णइ। (जीचू पृ. ८)

**इङ्गित**—इङ्गितं निपुणमतिगम्यं प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचकमीषद्भ्रूशिरः कम्पादि। (जीचूवि पृ. ३८)

**इच्छाकार ( सामाचारी )**—इच्छया बलाभियोगमन्तरेण करणं इच्छाकारः। (जीचूवि पृ. ४१)

**ईर्ष्या**–परसम्पदामसहनमीर्ष्या। (जीचूवि पृ. ३८)

**उद्यानी**–उज्जाणी पडिसोत्तगामिणी। (जीचू पृ. ११)

**उन्मिश्र ( भिक्षा का एक दोष )**—उत्प्राबल्येन मिश्रितं दाडिमगुलिकादिना, पुष्पादिना वा सह यन्मिलितं तदुन्मिश्रं भण्यते। (जीचूवि पृ. ४८)

**उपकरण**—सिज्झंतस्सुवगारं, सिद्धस्स करेति वावि जं दव्वं। तं उवगरणं भण्णति। (गा. १२०८)

**उपधान**—उवहाणं होति तवो, आयंबिलमादिओ सो य। (गा. १००४)

**उपधान अतिचार**—जो तं ण कुणति साहू, अहवा वि ण सद्दहेयमुवहाणं। सो उवहाणऽतियारो। (गा. १००५)

**उपबृंहण**—पसत्था साहूसु नाण-दंसण-तव-संजम-खमण-वेयावच्चाइसु अब्भुज्जयस्स उच्छाहवड्ढणं उववूहणं। (जीचू पृ. १३)

**कर्म औद्देशिक**—अग्गितवियाइ पुण कम्मं गुलं विग्घारेऊण मोयए बंधिज्जा—इति कर्मौद्देशिकं। (जीचूवि पृ. ४५)

**कल्पप्रतिसेवना**—कप्पपडिसेवणा नाम कारणे गीयत्थो कडजोगी उवउत्तो जयणाए पडिसेवेज्जा। (जीचू पृ. २५)

**कांक्षा**–कंखा अण्णोण्णदंसणग्गाहो। (गा. १०३९)

**कालातिचार**—• जो तु करेति अकाले, सज्झायं कुणति वा असज्झाए।
सज्झाए वा ण कुणति, कालतियारो भवे एस॥ (गा. १००१)

**कालातीत ( भिक्षा का एक दोष )**—• पढमाएँ पोरिसीए, पडिगाहेत्ताण असण-पाणादी।
जो ततियमइक्कामे, कालातीतं इमं होति॥ (गा. ९६३)

**केवलज्ञान**—• अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमव्वाबाहं, एगविहं केवलं नाणं॥ (गा. ९६)

**कोतवी**—कोयवि—रूतपूरितः पटः पुरओट्टीति यदुच्यते। (जीचूवि पृ. ५१)

**कृतयोगी**—• कडजोगी गीयत्थो भण्णइ। (जीचू पृ. १०)
• कडजोगिणो चउत्थछट्ठट्ठमाईहिं विविहतवोवहाणेहिं जोगवियसरीरा। (जीचू पृ. २४)

**क्षम**—जं इह-परलोगे या, हितं सुहं तं खमं मुणेतव्वं। (गा. २३२)

**गणधर**—गणहरो तित्थगराणन्तरसीसो। (जीचू पृ. २८)

**गीतार्थ**—छेदसुतादी सुत्तत्थाहिज्जितो तु गीतत्थो। (गा. ९६१)

**ग्रहभिन्न**—ग्रहभिन्नं यन्मध्ये ग्रहो विभिद्य निर्गच्छति। (जीचूवि पृ. ५६)

**चलचित्त**—सम्यक्त्वादिषु योऽस्थिरः स चलचित्तः। (जीचूवि पृ. ३२)

**चूर्णपिण्ड ( भिक्षा का दोष )**—• एवं वसिकरणादिसु, चुण्णेसु वसीकरेत्तु जो तु परं।
उप्पाएती पिंडं, सो होती चुण्णपिंडो तु॥ (गा. १४५६)

**छिन्नमडम्ब**—अड्ढाइयजोयणभ्यन्तरे जत्थ वसिमं अन्नं नत्थि तं छिन्नमडम्बं। (जीचूवि पृ. ५४)

**छेदार्ह ( प्रायश्चित्त का भेद )**—छेयारिहं-जम्मि य पडिसेविए संदूसियपुव्वपरियायदेसावछेयणं कीरइ। (जीचू पृ. ६)

**जीतव्यवहार**—• सुत्ताओ पुण हीणं समं अइरित्तं वा जीयदाणमिति। (जीचू पृ. ४)

• वत्तणुवत्तपवत्तो, बहुसो आसेवितो महाणेणं। एसो तु जीतकप्पो....। (गा. ६७५)

• जीतव्यवहारस्तु येष्वपराधेषु पूर्वमहर्षयो बहुना तपःप्रकारेण शुद्धिं कृतवन्तस्तेष्वपराधेषु साम्प्रतं द्रव्यक्षेत्रकालभावान् विचिन्त्य संहननादीनां च हानिमासाद्य समुचितेन केनचित्तपः प्रकारेण यां गीतार्थाः शुद्धिं निर्दिशन्ति तत्समयपरिभाषया जीतमित्युच्यते। (जीचूवि पृ. ३८)

**जीव**—सव्व-कालभुवओग-लक्खणत्तणओ जीवो। (जीचू पृ. २)

**तथाकार**—तथाकरणं तथाकारः, स च सूत्रप्रश्नगोचरो यथा भवद्भिरुक्तं तथेदमित्येवंरूपः। (जीचूवि पृ. ४१)

**तदुभय ( प्रायश्चित्त का भेद )**—• जं पाव सेवितूणं, गुरुणो विगडिज्जती उ सम्मं तु।
गुरुसंदिट्ठ पडिक्कम, तदुभयमेतं मुणेतव्वं॥ (गा. ७२१)

**तपोऽर्ह ( प्रायश्चित्त का भेद )**—णिव्वीतियमादीओ, छम्मासंतो उ जत्थ दिज्जति तु। एय तवारिह भणितं। (गा. ७२४)

**तरमाणक**—तरमाणगा—जे जं तवोकम्मं आढवेति तं नित्थरंति। (जीचूवि पृ. ५९)

**तलवर**—तलवरपट्टेण तलवरो होति। (गा. २००४)

**तिंतिणिक**—तिंतिणिओ स्तोकोक्तेऽपि यत्किञ्चनभाषी। (जीचूवि पृ. ४४)

**तिर्यक्गामिनी ( नौका )**—तिरिच्छगामिणी णदिं छिन्दन्ती गच्छइ। (जीचू पृ. ११)

**त्यक्तकृत्य**—• चत्तं जेण दरिसणं, चारित्तं वावि सो तु णातव्वो। चत्तकिच्चो....॥ (गा. २२९५)

• जं अववायेण निसेवियं गिलाणाइकारणे असंथरे वा, पुणो ते चेव हट्ठसमत्थो वि होउ निसेवंतो चियत्तकिच्चो भवइ। (जीचूवि पृ. ३४)

**श्रुतव्यवहार**—जे पुण सुयववहारी ते सुयमणुवत्तमाणा इंगिआगार-वत्त-णेत्त-वयण-विगाराइएहिं भाव-मुवलक्खिऊण तिक्खुत्तो अइयारं आलोयावेऊण ; तं जहा-सुओवएसेण पलिउंचियमपलिउंचियं वा आलोयणाकाले जं जहा आलोएज्जा तं तहा सुओवएसेण ववहरन्तीति, एस सुयववहारो। (जीचू पृ. ४)

**श्रुतोपसम्पत्**—श्रुतग्रहणायान्याचार्यमुपसम्पद्यमानस्य श्रुतोपसम्पत्। (जीचूवि पृ. ४१)

**शृङ्गनादित**—उत्तमं कार्यं बहुजनसाध्यं शृङ्गनादितकार्यमुच्यते। (जीचूवि पृ. ५५)

**दंत**—• दंतो जो उवरतो तु पावेहिं।
• अहवा दंतो इंदियदमेण नोइंदिएणं च।

**दर्प प्रतिसेवना**—दप्पो नाम धावणडेवणवग्गणाइओ कंदप्पो वा दप्पो। (जीचू पृ. २५)

**दुश्चिन्तित**—संजमविराहणाजायं कुच्छियं चिन्तियं दुच्चिन्तियं। (जीचू पृ. १०)

**धारणाकुसल**—• एरिसगा जे पुरिसा, अत्थधरा ते भवंति जोग्गा उ।
धारणववहारण्णू, ववहरिउं धारणाकुसला॥ (गा. ६६७)

**धारणाव्यवहार**—• वेयावच्चगरस्स गच्छोवग्गहकारिणो फड्डगपइणो वा संविग्गस्स देसदरिसणसहायस्स वा बहुसो पडितप्पियस्स अवसेससुयाणुओगस्स उचियपायच्छित्तट्ठाणदाणधारणं धारणाववहारो भन्नइ। (जीचू पृ. ४)

• संविग्गेण गीयत्थेणायरिएणं दव्व-खेत्त-काल-भाव-पुरिस-पडिसेवणासु अवलोएऊण जम्मि जं अवराहे दिन्नं पच्छित्तं तं पासिऊण अन्नो वि तेसु चेव दव्वाइएसु तारिसावराहे तं चेव पच्छित्तं देइ; एस धारणाववहारो। (जीचू पृ. ४)

**धृति**—धृतिश्चेतसोऽवष्टम्भः। (जीचूवि पृ. ५३)

**नालिका**—सिरसो उवरि चउरङ्गुलदीहा नालिया। (जीचूवि पृ. ५०)

**निमित्त**—अतीताद्यर्थसूचकं निमित्तं। (जीचूवि पृ. ४६)

**निरनुतापी**—निरणुतावी—जो अकिच्चं काऊण नाणुतप्पइ; जहा मए दुट्ठु कयं। (जीचू पृ. ३)

**निरपेक्ष**—निरवेक्खो अणुवसन्तवेरो जो। (जीचू पृ. २७)

**निवेशन**—निवेसनं एकनिष्क्रमणप्रवेशानि द्व्यादीनि गृहाणि। (जीचूवि पृ. ५८)

**निह्नवन ( ज्ञान का एक अतिचार )**—• णिण्हवणं अवलवणं, अमुगसगासे अहं णऽहिज्जामि।
अण्णं जुगप्पहाणं, आयरियं सो उ उद्दिसंति॥ (गा. १००६)

**नैषिधिकी**—निषेधेन निर्वृत्ता नैषिधिकी, वसतौ प्रविशद्भिर्या विधीयते। (जीचूवि पृ. ४१)

**परतर**—• परतरस्तपस्यपि शक्तः परं न करोति, किन्तु वैयावृत्यमेव विधत्ते। (जीचूवि पृ. ५३)
• वेयावच्चकरो तू, गच्छस्स उवग्गहम्मि वट्टति तु। एसो तु होति परतरो....। (गा. १९६५)

**परिणामक**—• जहा भणियं सद्दहन्ता आयरन्ता य परिणामगा भन्नंति। (जीचू पृ. २३)
• जो दव्वखेत्तकतकालभावओ जं जहा जिणक्खातं।
तं तह सद्दहमाणं, जाणसु परिणामगं साधुं॥ (गा. १९४३)
• उस्सग्गे उस्सग्गं, अववाए अववायं, जहा भणियं सद्दहंता आयरंता य परिणामगा भण्णन्ति। (जीचूवि पृ. ५२)
• परिणमति जहत्थेणं, मती तु परिणामगस्स कज्जेसु। (गा. १९४९)

**पाटक**—पाटको ग्रामादेर्व्यवच्छिन्नः सन्निवेशः। (जीचूवि पृ. ५८)

**पाणिपतद्ग्रही**—• वग्गुलिपक्खसरिसगं, पाणितलं तेसि धीरपुरिसाणं।
माएज्ज घडसहस्सं, धारेज्ज व सो तु सागरा सव्वे।
जो एरिसलद्धीए, सो पाणिपडिग्गही होति॥ (गा. २१६७, २१६८)

**पाराञ्चित**—पारं तीरं तपसा अपराधस्य अंचति गच्छति ततो दीक्ष्यते यः स पाराञ्ची। (जीचूवि पृ. ३९)
जम्मि पडिसेविए लिंगखेत्तकालविसिट्ठाणं, तं पारञ्चियारिहं। (जीचू पृ. ६)

**प्रकटकरण ( भिक्षा का दोष )**—आहारसेज्जाइयं साहुणो भुंजिस्संति, रंधिउं अन्नो सव्वमेवाहारं बहिं नीणेइ साहुअट्ठाए, एयं पागडकरणं। (जीचूवि पृ. ४५)

**प्रकाशकरण**—रयणप्पईवजोईवायायणकुड्डुछेड्डाइएहिं उज्जोयकरणं साहुअट्ठाए एयं पगासकरणं। (जीचूवि पृ. ४५)

**प्रणीत**—जं पुण गलंतणेहं, पणीतमिति तं बुहा बेंति। (गा. १६२६)

**प्रतिक्रमणार्ह**—• मिच्छादुक्कडमेत्तेण, चेव जं सुज्झती तु पावं तु।
ण य विगडिज्जति गुरुणो, पडिकमणरिहं हवति एयं॥ (गा. ७१९)

**प्रतिपृच्छा**—• प्रतिपृच्छा सा च प्राग्नियुक्तेनापि कार्यकरणकाले कार्या। (जीचूवि पृ. ४१)
• पुव्वनिसिद्धेन होइ पडिपुच्छा।

**प्रदुष्टचित्त**—कोहादी व अतीव तु, पदुट्ठचित्तो मुणेतव्वो। (गा. २३०६)

**प्रमाणदोष**—• पकामं च निकामं च, जो पणियं भत्त-पाणमाहारे।
अतिबहुयं अतिबहुसो, पमाणदोसो मुणेतव्वो॥ (गा. १६२५)

**प्रमाद ( प्रतिसेवना )**—पमाओ नाम जं राओ दिया वा अप्पडिलेहंतो अपमज्जयंतो य पाणाइवायाइयमावज्जइ। (जीचू पृ. २५)

**प्रवयण**—जीवादिपयत्था वा, उवदंसिज्जंति जत्थ संपुण्णा। सो उवदेसो पवयण....। (गा. ३)

**बकुश**—• बउसं सबलं कब्बुरमेगट्ठं तमिह जस्स चारित्तं।
अइयारपंकभावा, सो बउसो होइ नायव्वो॥ (जीचूवि पृ. ४३)

**बकुशत्व**—बाउसत्तं सरीरसुस्सूसापरायणत्तं। (जीचू पृ. ९)

**भाव अपरिणत**—यत्र द्वयोः साध्वोर्भिक्षार्थं गतयोरेकस्य मनसि तदशुद्धं परिणतम्, अन्यस्य तदेव शुद्धं मनसि परिणतं, तदपि भावापरिणतम्। (जीचूवि पृ. ४८)

**भाषासमित**—अहव य भासति कज्जे, णिरवज्जमकारणे ण भासति य।
विकह-विसोत्तियपरिवज्जितो जती भासणासमितो॥ (गा. ८२४)

**मध्यगत अवधि**—• जह पुरिसो कोइ चुडुलिमादीणि काउं सिरम्मि गच्छति, मज्झगतो एस ओही तु॥ (गा. ४३)

**मनःपर्यवज्ञान**—• तं मणपज्जवणाणं, जेण विजाणाति सण्णिजीवाणं।
दट्ठुं मणिज्जमाणे, मणदव्वे माणसं भावं॥ (गा. ८६)

• मणपज्जवणाणं पुण, जणमणपरिचिंतितत्थपागडणं।
माणुसखेत्तणिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवतो॥ (गा. ८८)

**मालापहृत**—मालं सीककप्रासादोपरितलादिकमभिप्रेतम्। तस्मादाहृतं करग्राह्यं यदन्नादि दात्री ददाति तन्मालापहृतम्। (जीचूवि पृ. ४६)

**मिथ्याकार ( सामाचारी )**—संयमयोगवितथाचरणे विदितजिनवचनसारः साधवस्तत्क्रियाया वैतथ्यप्रदर्शनाय मिथ्याकारं कुर्वते मिथ्याक्रिया। (जीचूवि पृ. ४१)

**मुर्मुर**—छारुम्मीसा पिंगल, अगणिकणा मुम्मुरो होति। (गा. १५३०)

**मूलार्ह**—जम्मि पडिसेवितम्मी, सव्वं छेत्तूण पुव्वपरियागं पुणरवि महव्वयाइं, आरोविज्जंति मूलरिहे॥ (गा. ७२६)

**राजा**—अभिसित्तो व परेहिं, सयं व भरहो जहा राया। (गा. १९९९)

**राहुहत**—• राहुणा मुखेनाक्रान्तं पुच्छेन वा तद्राहुहतम्। (जीचूवि पृ. ५६)
• यस्मिन् नक्षत्रे ग्रहणमासीत्तद्यावद् रविणा न युक्तं तावत्तद्राहुहतम्। (जीचूवि पृ. ५६)

**लायातरण**—• लाया नाम वीहिया, भुज्जिया भट्टे ताण तंदुलेसु पेया कज्जइ, तं लायातरणं भन्नइ। (जीचूवि पृ. ३४)

**लिप्तदोष**—संसक्तेन दध्यादिना करमात्रकखरण्टकेनाशनादिग्रहणे लिप्तदोषः। (जीचूवि पृ. ४८)

**लैंगिक ज्ञान**—जं इंदिएहिं नज्जति, तं नाणं लिंगियं होति। (गा. १६)

**लोभपिण्ड**—लोभेण जो उ एसति, सो होती लोभपिंडो तु। (गा. १६७८)

**वर्धमान अवधि**—अज्झवसाणेहिं पसत्थएहि सुहवद्धमाणचारित्ते। उवरुवरिं सुज्झंते, समंततो वड्ढते ओही॥ (गा. ५०)

**वनीपक**—वनीपकत्वं पिंडट्ठा समणा तिहि-माहण-किविण-सुणगाइ-भत्ताणं अप्पाणं तब्भत्तं दंसइ जो सो वणीमगो त्ति। (जीचूवि पृ. ४६)

**विचिकित्सा**—वितिगिच्छा अप्पणो उ, सोग्गति होज्जा ण वावि त्ति। (गा. १०३९)

**विनय**—विणओ अब्भुट्ठाणासणदाणञ्जलिपग्गहवन्दणाईओ। (जीचू पृ. ९)

**विनय ( ज्ञान का एक अतिचार )**—• जच्चादिमदुम्मत्तो, थद्धो विणयं ण कुव्वति गुरूणं।
हीलयति व जो तु गुरुं, विणयइयारो भवे एस॥ (गा. १००२)

**विनय उपसम्पदा**—विनयकरणार्थमुपसम्पद्यते यत्र गच्छान्तरे सा (विनयोपसम्पत्)। (जीचूवि पृ. ४१)

**विनिर्जरा**—पुव्वज्जितस्स खवणं, विणिज्जरा सा उ णातव्वा। (गा. ७०८)

**विलम्बित**—सूर्यास्तगमनकाले यन्नक्षत्रमुदयमुपयाति तद्विलम्बितम्। (जीचूवि पृ. ५६)

**विवेकार्ह ( प्रायश्चित्त का भेद )**—• जं किंचि दव्व गहितं, अहियमकप्पं व अहव ऊणं तु।
विहिणा तु विगिंचंते, पच्छित्त विवेगअरिहेदं॥ (गा. ७२२)

**विहार**—विहारो सज्झायनिमित्तं जं अन्नत्थगमणं। (जीचू पृ. ११)

**व्यञ्जनभेद**—सुत्तं मत्तऽक्खरबिन्दूहिं ऊणमइरित्तं वा करेइ, सक्कयं वा करेइ, अन्नाभिहाणेण वा भणइ, एस वञ्जणभेओ। (जीचू पृ. १२)

**व्युत्सर्ग**—जं कायचेट्ठमेत्तेण, णिरोहेणं तु सुज्झती पावं।
जह दुस्सिमिणादीयं, पच्छित्तेयं वियोसग्गं॥ (गा. ७२३)

**वृद्धशील**—अणियतचारी अणियतवित्ती अगिहो य होति जो अणिसो।
णिहुयसभाव अचंचल, णातव्वो वुड्ढसीलो त्ति॥ (गा. १६६)

**शिल्प**—अहवा जं सिक्खिज्जति, आयरिउवदेसतो तगं सिप्पं। (गा. १३५९)

**शैक्ष**—सेहो जो अभिणवो सिक्खं गाहिज्जइ। (जीचू पृ. २६)

**शोक**—अनिष्टानां द्रव्याणां संयोगेन शोकः। इष्टानां वियोगेन। (जीचूवि पृ. ४३)

**संक्लिष्टकर्म**—अङ्गादानं-मेहनं तस्य परिमर्दनेन शुक्रपुद्गलनिर्घातनं निष्काशनं इत्येतत्संक्लिष्टकर्मोच्यते। (जीचूवि पृ. ५१)

**संवर**—मिच्छादंसणाविरइकसायपमायजोगनिरोहो संवरो। (जीचू पृ. ५)

**संवरण**—संवरणं नवस्स कम्मस्स अणायाणं। (जीचू पृ. ५)

**संहृत**—संहृतम्-येन मात्रकेण दात्री दास्यति साधोरशनादिकं-तत्र पृथिव्यादिकं तुषादिकं वा यत्स्यात्तदन्यत्र सचित्ते अचित्ते वा क्षिप्त्वा तेन रिक्तीकृतेन यदि साधोर्ददाति तत्संहृतमशनाद्युच्यते। (जीचूवि पृ. ४८)

**सग्रहण**—सूर्ययुक्तादनन्तरनक्षत्रं सग्रहणम्। (जीचूवि पृ. ५६)

**सत्कार**—आसणमादीहि होति सक्कारो। (गा. ८७४)

**समिति**—गमणकिरिया हु समिती। (गा. ८०४)

**सम्मान**—सम्माणो उवहीए, जोग्गं जं जस्स तं कुज्जा। (गा. ८७४)

**सहसाकरण**—• पुव्वं अपासिऊणं, छूढे पादम्मि जं पुणो पासे।
ण य तरति णियत्तेउं, पादं सहसाकरणमेतं॥ (गा. १३५)

**साही—गली**—साही ग्रामगृहाणामेकपाटी। (जीचूवि पृ. ५८)

**सुखदुःखउपसम्पत्**—सुखं वा दुःखं वा समं सोढव्यमिति सुखदुःखोपसम्पत्। (जीचूवि पृ. ४१)

**सुप्रणिहित**—• जो एतेसु ण वट्टति, कोधे दोसे तहेव कंखाए।
सो होति सुप्पणिहितो, सोभणपरिणामजुत्तो वा॥ (गा. २४०)

**हस्ताताल**—हत्थातालो जट्ठिमुट्ठिलउडोपलपहाराईहिं मरणभयणिरवेक्खो अप्पणो परस्स य पहरइ। (जीचू पृ. २७)

**हस्तालम्ब**—हत्थालम्बो असिवपुररोहउवसमणत्थमभिचारगाइ करेइ। (जीचू पृ. २७)

# एकार्थक

**अग्ग** — प्रधान, प्रमुख। अग्ग पहाण त्ति एगट्ठा। (गा. २५१९)

**आय** — लाभ। आयो लाभो संपत्ती य एगट्ठा। (जीचू पृ. २८)

• आओ लाभो त्ति आगमो यावि। (गा. ८६३)

**आहाकम्म** — आधाकर्म, भोजन का एक दोष।

तत्थ इमे णामा खलु, आहाकम्मस्स होंति चत्तारि।
आह-अहेकम्मे या, अहयम्मे अत्तकम्मे य॥ (गा. १०९९)

**गूहण** — माया, छिपाना। गूहण गोवण णूमण, पलियंचणमेव एगट्ठं। (गा. १७७६)

**घात** — विनाश। घात विणासो य एगट्ठा। (गा. २३४)

**जीय** — आचरणीय। जीयं ति वा करणिज्जं ति वा आयरणिज्जं ति वा एगट्ठं। (जीचू पृ. ४)

**जोग** — योग, वीर्य।

जोगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सत्ती सामत्थं ति य, जोगस्स हवंति पज्जाया॥ (जीचू पृ. ६)

**झोसण** — छोड़ना। झोसण खवणा मुंचण एगट्ठा। (गा. २२७८)

**णात** — ज्ञात। णातं आगमितं ति य एगट्ठं। (गा. १११)

**णासयते** — ध्वंस करना। णासयते धंसते व त्ति (एगट्ठं)। (गा. २३७)

**णिक्खित्त** — स्थापित। णिक्खित्तं ठवितं ति य एगट्ठं। (गा. १५१२)

**णियत** — नियत, निश्चित। णियतं व णिच्छितं वा (एगट्ठा)। (गा. २३४)

**दीपित** — प्रकाशित। दीवित पभासिउ त्ति य, पगासितो चेव एगट्ठा। (गा. २४८)

**दुद्ध** — दूध। दुद्ध पयो वालु खीरं च। (गा. ११३२)

**धम्म** — धर्म, स्वभाव। धम्म सहावो सम्मद्दंसण। (गा. २२८)

**धारणववहार** — धारणा व्यवहार।

उद्धारणा विहारण, संधारण संपहारणा चेव।
धारणववहारस्स उ, नामा एगट्ठिता एते॥ (गा. ६५५)

**पणमन** — प्रणाम। पणमणं पणामो पूया इति एगट्ठियं। (जीचू पृ. २)

**पतिट्ठा** — अवस्था, व्यवस्था।

पतिट्ठा ठवणा ठवणी, ववत्था संठिती ठिती।
अवत्थाणं अवत्था य, एगट्ठा चिट्ठणा ति य॥ (गा. १९६८)

**परक्कम** — पराक्रम। परक्कमं बलं विरियं। (गा. २१२६)

**परम** — प्रधान। परम पहाणं ति होति एगट्ठं। (गा. ७०६)

**पह** — हेतु, कारण। पहो हेतू कारणं ति एते उ एगट्ठा। (गा. ७१०)

• पहो मग्गो हेऊ। (जीचू पृ. ५)

**पावारग** — बड़ा कम्बल। पावारगो बृहत्कम्बल : परियच्छिर्वा। (जीचूवि पृ. ५१)

**पुन्न** — पुण्य, कल्याण। पुन्नं कल्लाणमुत्तमं। (जीचूवि पृ. ४४)

**बउस** — चितकबरा। बउसं सबलं कब्बुरमेगट्ठं। (जीचूवि पृ. ४३)

**मिथ्या** — असत्य। मिथ्यावितथानृतमिति पर्याय:। (जीचूवि पृ. ४१)

**मिथ्याकरण** — (सामाचारी)। मिथ्याकरणं मिथ्याकार: मिथ्याक्रियेत्यर्थ:। (जीचूवि पृ. ४१)

**लिंग** — चिह्न। लिंगं चिंध निमित्तं, कारणमेगट्ठियाइं एताइं। (गा. १७)

**वण्णणा** — वर्णन, प्ररूपणा। वण्णणा परूवण त्ति एगट्ठा। (जीचू पृ. ३०)

**ववहार** — शोधि, प्रायश्चित्त। ववहारो आरोवण, सोधी पच्छित्तमेयमेगट्ठं। (गा. १८४४)

**विणिज्जरा** — शोधन। विणिज्जरा सोहणमिति एगट्ठं। (जीचू पृ. ५)

**विनय** — विनाश। विणयो विणासणं ति य (एगट्ठं)। (गा. २४७)

**विरिय** — पराक्रम। विरियं सामत्थं वा, परक्कमो चेव होंति एगट्ठा। (गा. १७७६)

**वोच्छं** — कहूंगा। वोच्छं वक्खामि त्ती। (गा. ४)

**वोरमण** — व्यपरमण, विराधन। वोरमणं उद्दवण विराहणेगट्ठं। (गा. १७८०)

**संखेव** — संक्षेप। संखेव समासो त्ति व, ओहो त्ति व होंति एगट्ठा। (गा. ६)

**संथुणण** — स्तुति। संथुणण संथवो तू, थुणणा वंदणगमेगट्ठं। (गा. १४२०)

**संवर** — संवरण। संवर घट्टण पिहणं एगट्ठं। (गा. ७०७)

**संवरण** — संवरण, ढकना। संवरणं संवरं ढक्कणं पिहाणं ति एगट्ठा। (जीचूवि पृ. ५)

**सायण** — विनाश। सायण धंसो विणासो त्ति। (गा. ८६३)

**साहरण** — फेंकना। साहरणं उक्किरणं, विरेयणं चेव एगट्ठं। (गा. १५५७)

# निरुक्त

**अक्ख**—अक्ष।

• असु वावण धाऊओ, अक्खो जीवो उ भण्णते णियमा।
जं वावयए भावे, णाणेणं तेण अक्खो त्ति॥ (गा. १२)

• अस भोयणम्मि अहवा, सव्वद्दव्वाणि भोगमेतस्स।
आगच्छंती जम्हा, पालेति य तेण अक्खो त्ति॥ (गा. १३)

**अज्झोयर**—अध्यवतर (भिक्षा का दोष)। अहियं उदरं अज्झोयरो तु। (गा. १२८३)

**अत्त**—आप्त। नाणमादीणि अत्ताणि, जेण अत्तो उ सो भवे। (गा. १४१)

**अप्राप्तश्रुत**—जिसने श्रुत का अध्ययन नहीं किया। येन नाधीतं श्रुतं सोऽप्राप्तश्रुतः। (जीचूवि पृ. ३२)

**अरहंत**—अर्हत्। अरह पूयाएँ धातू, पूयामरिहं ति तेण अरहंता। (गा. ९८२)

• अरहं ति वंदण-णमंसणं च तम्हा तु अरहंता।

**अरिहंत**—अर्हत्।

कोधादी उ अरी ऊ, अहव रयं कम्म होति अट्ठविधं।
अरिणो व रयं हंता, तम्हा उ हवंति अरिहंता॥ (गा. ९८३)

**आगम**—आगम। आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अतीन्द्रियाः पदार्था अनेनेत्यागम उच्यते। (जीचूवि पृ. ३३)

**आज्ञा**—आज्ञा। आज्ञायत आदिश्यत इत्याज्ञा। (जीचूवि पृ. ३३)

**आसण**—आसन। आस उवेसण धातू, उवविसणं आसणं होति। (गा. ९८१)

**आसायणा**—आशातना। आतस्स साडणं ती, यकारलोवम्मि होति आसयणा। (गा. ८६४)

• आयाय सातयाणा, आयस्स उ साडणा जा उ। (गा. ८६२)

**उच्चार**—मल। उच्चरति काइयं तू, जम्हा तेणं तु होति उच्चारो। (गा. ९८७)

• उच्चरती तेण होति उच्चारो। (गा. ८१५)

**उद्धार**—धारणा व्यवहार। पाबल्लेण उवेच्च उ, उद्धितपदधारणा व उद्धारो। (गा. ६५६)

**कोडि**—कोटि। कोडिज्जंते जम्हा, बहवो दोसा उ सहियए गच्छं।
कोडि त्ति तेण भण्णति.....। (गा. १२८७)

**खुइत**—खु त्ति कतं तं सुइतं, छीयं वा होति इह उ खुइतं तु। (गा. ९०७)

**खेल**—श्लेष्म। खे ललणाओ खेलो। (गा. ८१६)

**गुत्ति**—गुप्ति। गुपु रक्खणम्मि गुत्ती। (गा. ७८४)

**गुरु**—गुरु। गिणाति सत्थमिति गुरू। (जीचू पृ. ८)

**जीतकप्प**—जीतकल्प। जीतस्स तस्स कप्पो, एत्थं जो जीतकप्पो सो। (गा. २५९१)

**जीव**—जीव। अहवा जीवति जीविस्सई य जीवं ति होति जिओ। (गा. ७०४)

• जीवेइ वा तिविहे वि काले तेण जीयं। (जीचू पृ. ४)

**जोग**—योग। जं जीवे जुंजयती, पेरयती वा ततो जोगा (गा. ७३२)

**णिक्खेव**—निक्षेप। अहिउक्खेवो तु णिक्खेवो। (गा. ८०९)

**त्यक्तकृत्य**—त्यक्तकृत्य। त्यक्तं कृत्यं करणीयं येन स त्यक्तकृत्यः। (जीचूवि पृ. ३४)

**दुच्चिंतित**—दुश्चिन्तित।

दु त्ति दुगुंछा धातू, संजमउवरोधि कुच्छितं होति।
तं मणसा जदि चिंतित, दुच्चिंतित एव णातव्वं॥ (गा. ९४५)

**धाती**—धात्री, धाय। धारयति धीयते वा, धयंति वा तमिति तेण धाती तु। (गा. १३२१)

**निव्वाणंग**—निर्वाणाङ्ग। नेव्वाणं गमयतीति निव्वाणंगं। (जीचू पृ. १)

**पच्चक्ख**—प्रत्यक्ष। जीवो अक्खो तं पति, जं वट्टति तं तु होति पच्चक्खं। (गा. ११)

**पर्युषण**—पर्युषण। परि-सर्वथा वसनमेकत्रनिवासः स निरुक्तविधिना पर्युषणम्। (जीचूवि पृ. ५३)

**परिहार**—परिहार, छोड़ना। परिहरणं परिहारो। (गा. २४३१)

**पवयण**—प्रवचन। पवत्तयतीई नाणादी पवयणं तेणं। (गा. २)

• पगय-वयणं ति वा पहाण-वयणं ति वा पसत्थ-वयणं ति वा-पवयणं। (जीचू पृ. २)

• पवुच्चंति तेण जीवादयो पयत्था इति पवयणं। (जीचू पृ. २)

**पायच्छित्त**—प्रायश्चित्त। पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं ति भण्णते तेणं। (गा. ५)

• पाएण वावि चित्तं सोहइ अइयार-मल-मइलियं तेण पायच्छित्तं। (जीचू पृ. २)

**पारंचिय**—प्रायश्चित्त का भेद। अंचु गती-पूजणयो पारंचति गच्छती तु पारं तु। (गा. ७२९)

**पारोक्ख**—परोक्ष। परतो पुण अक्खस्सा, वट्टंतं होति पारोक्खं। (गा. ११)

**पासवण**—प्रस्रवण, मूत्र। पायं सवती जम्हा, तम्हा तू होति पासवणं। (गा. ९८७)

• पस्सवति त्ति य तेणं पासवणं। (गा. ८१५)

**प्रगत**—प्राप्त। प्रकर्षेण गतं स्थितं जीवादिवस्तुवाचकतयेति प्रगतम्। (जीचूवि पृ. ३१)

**प्रलीन**—जिसके क्रोध आदि नष्ट हो गए हों। पइ पइ लीणा उ होंति पल्लीणा।

• कोधादी वा पलयं, जेसिं गता ते पलीणा तु। (गा. ६६५)

**प्रवचन**—प्रवचन। वक्तीति प्रवदतीति वा प्रवचनम्।

• प्रतिष्ठावचनं वा प्रवचनम्। (जीचूवि पृ. ३२)

**वंजण**—व्यञ्जन। वंजिज्जति जेण अत्थो वंजणमिति। (गा. १०१०)

**वनीपक**—याचक वणि जायणम्मि धातू तु। वणिमग पायप्पाणं, वणिमो त्ती भण्णते तम्हा॥ (गा. १३६२)

• वर्नी लब्धार्थरूपां पाति पालयतीति वनीपः स एव वनीपकः। (जीचूवि पृ. ४६)

**विणिज्जरण**—विशेष निर्जरा।

विसेसेण निज्जरणं विणिज्जरणं। (जीचू पृ. ५)

**विणिद्दिट्ठ**—विनिर्दिष्ट। णिद्दिट्ठ विसेसितं विणिद्दिट्ठं। (गा. १८११)

• विसेसेण निद्दिट्ठं विणिद्दिट्ठं। (जीचू पृ. २१)

**विधार**—धारणाव्यवहार। विविहेहि पगारेहिं धारेतऽत्थं विधारो तु। (गा. ६५६)

**शय्यातर**—शय्यातर। सय्यया वसत्या तरति संसारसागरमिति शय्यातरः। (जीचूवि पृ. ५३)

**संका**—शंका। संसयकरणं संका। (गा. १०३९)

**संजम**—संयम।

सं एगीभावम्मी, जम उवरम एगिभावउवरमणं।
सम्म जमो वा संजम, मण-वइ-कायाण जमणं तु॥ (गा. ११०७)

**संधारणा**—धारणाव्यवहार।

सं एगीभावम्मी, धी धरणे ताणि एक्क भावेणं।
धारेतऽत्थपदाणि तु, तम्हा संधारणा होति॥ (गा. ६५७)

**संपधारणा**—धारणाव्यवहार।

जम्हा संपहारेउं, ववहारं पजुंजती।
तम्हा कारणा तेण, णातव्वा संपधारणा॥ (गा. ६५८)

**समिति**—सम्ममयति त्ति समिती। (गा. ८०४)

**सिद्धार्थ**—सिद्धा अनादिप्रवाहतया नित्याः प्रसिद्धा अर्था जीवादयो यत्र श्रुते तत् सिद्धार्थम्।
सिद्धा निष्पन्ना अर्थाः प्रयोजनानि यस्य ज्ञानावाप्तौ सत्यां स सिद्धार्थः। (जीचूवि पृ. ३१)

**सुविहित**—सोभणविही तु जेसिं, सोभणविहिता व सुविहिता ते तु। (गा. २५९५)

• सोहणं विहियं जेसिं नाणाइयं ते सुविहिया। (जीचूवि पृ. ३०)

# उपमा और दृष्टान्त

- धूमेण अग्गिं व्व। (गा. १७)
- पणुल्लयंतो व्व जह पुरिसो। (गा. ४०)
- जाणति पिहुज्जणो वि हु, फुडमागारेहि माणसं भावं। एसुवमा तस्स भवे.....। (गा. ८७)
- पंकसलिले पसादो, जह होति कमेण तह इमो जीवो। (गा. ९०)
- चंदमुहीव तु सो वि हु, आगमववहारवं होति। (गा. ११०)
- जं जह मोल्लं रयणं, तं जाणति रयणवाणिओ णिउणो। (गा. ११८)
- णातमिणं तत्थ धमएणं। (गा. १२१)
- जह आममट्टियघडे, अंबेव ण छुब्भती खीरं। (गा. १८१)
- जाहगदिट्ठंतेणं। (गा. १८३)
- जाणति पयोगभिसंजो, वाही जेणाऽऽतुरस्स छिज्जति ऊ। (गा. १९३)
- सीतघरम्मि व डाहं। (गा. २३६)
- वंजुलरुक्खो व जह व उरगविसं। (गा. २३६)
- घुणक्खरसमो तु पारोक्खी। (गा. २५८)
- जह धणिओ सावेक्खो, निरवेक्खो चेव होति दुविधो तु। (गा. २९२)
- तिलहारगदिट्ठंतो। (गा. ३०८)
- जह दीव-तेल्ल-वत्ती, खओ समं तह सरीरायुं। (गा. ३५०)
- जह सुकुसलो वि वेज्जो, अण्णस्स कहेति अप्पणो वाधी। (गा. ४०९)
- जह वाऽऽउंटियपादे, पादं काऊण हत्थिणो पुरिसो। (गा. ४८३)
- उवगरणेहि विहूणो, जह वा पुरिसो ण साहते कज्जं। (गा. ४८४)
- लावए पवए जोहे, संगामे पत्थिए इय। आतुरे सिक्खगे चेव, दिट्ठंत समाहिकामेते॥ (गा. ४८५)
- सम-विसमम्मि व पडितो, अच्छति जह पादवो व णिक्कंपो। (गा. ५१९)
- वायादीहिं तरुस्स व। (गा. ५२०)
- जह चालणि व्व कतो। (गा. ५३३)
- जह णाम असी कोसी, अण्णा कोसी असी वि खलु अण्णो। (गा. ५४०)
- जह ण वि कंपति मेरू। (गा. ५५५)

- संसारखड्डपडितो, णाणादवलंबितुं समुत्तरति। (गा. ५९१)
- होति विसोहण सोहण, जह तू वत्थस्स तोयमादीहिं। (गा. ७०५)
- अमयमिव मण्णमाणो। (गा. ८४०)
- चंदणमिव मण्णंतो। (गा. ८४४)
- जह तिक्खउदगवेगे, विसमम्मि व विज्जलम्मि वच्चंतो। (गा. ९५१)
- जह विसमइयं तु मारगं होति। (गा. ११२२)
- जह अण्णत्थ पउत्ते, कूडे जो पडति सो बज्झे। (गा. ११२३)
- चित्तकम्मट्ठित व्व। (गा. १३६८)
- जह इंगाला जलिता, डहंति जं तत्थ इंधणं पडितं। (गा. १६४६)
- धूमायंतं तहा छगणं। (गा. १६४९)
- जह वावि चित्तकम्मं, धूमेणोरत्तयं ण सोभति उ। (गा. १६५०)
- उदही विव अक्खोभा। (गा. २१६९)
- सूरो इव तेयसा जुत्ता। (गा. २१६९)
- सिप्पंणेउणियट्ठा, घाते वि सहंति लोइगा गुरुणो। ते इहलोगफलाणं, महुरविवागेस उवमा तु॥ (गा. २३८१)
- कंडुव्व कच्छुल्लो। (गा. २४०९)
- कुवितपियबंधवो विय। (गा. २४५६)
- परोवदेसुज्जता जहा मंखा। (गा. २४७१)
- आयरिया जह दिया चेव। (गा. २४७१)
- जह उदगम्मि घते वा। (गा. २५२८)
- जह ताव छेज्ज णिहसे, अविकोवि सुवण्णगं मुणेतव्वं। (गा. २६००)
- आमे घडे णिहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेति। (गा. २६०३)

# सूक्त-सुभाषित

सूक्ति का शाब्दिक अर्थ है—सुष्ठु-कथन। जिस उक्ति में अनुभूति और अभिव्यक्ति का चमत्कार होता है, वह सूक्ति कहलाती है। जो भीतरी चेतना के परिवर्तन के लिए स्पंदन पैदा कर देते हैं, वे सुभाषित कहलाते हैं। सूक्ति में जीवनभर का अनुभव थोड़े से शब्दों में उड़ेल दिया जाता है। इससे भाषा-शैली में गतिशीलता और सौष्ठव आ जाता है।

जीतकल्पभाष्य में प्रयुक्त सूक्तियां और सुभाषित केवल उपदेशात्मक ही नहीं, बल्कि जीवनस्पर्शी और प्रेरणास्पद भी हैं।

निर्युक्तिभाष्य साहित्य का अध्यनन करने से प्रतीत होता है कि भाष्यकार ने कहीं भी प्रयत्न नहीं किया बल्कि सहज रूप से विषय का निरूपण करते हुए वे गाथाएं या चरण सूक्त रूप में अवतरित हो गए। यहां जीतकल्पभाष्य एवं उसकी चूर्णि के सूक्ति एवं सुभाषित संकलित हैं—

- अविदू सोहि ण जाणति। १५५
- अतियारपंकपंकंकितो य आया विसोहिओ होति। आलोइए य आया॥ २४९
- अतियारगुरुभरेणं, अक्कंतालोइए लहू होति। २५१
- पायच्छित्ते असंतम्मि, चरित्तं पि ण चिट्ठए।
  चरित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे णो सचरित्तया॥ ३१५
- अचरित्तयाए तित्थे, णेव्वाणं पि ण गच्छती।
  णिव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा णिरत्थिगा॥ ३१६
- ण विणा तित्थं णियंठेहिं। ३१७
- ण हु उड्ढगमणकज्जे, हेट्ठिल्लपदं पसंसंति। ३४०
- णासेति अगीतत्थो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं।
  नट्ठम्मि य चतुरंगे, ण हु सुलभं होति चतुरंगं॥ ३५७
- किं पुण तं चउरंगं, जं णट्ठं दुल्लभं पुणो होति?
  माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तह संजमे विरियं॥ ३५८
- णासेति असंविग्गो, चउरंगं सव्वलोगसारंगं।
  नट्ठम्मि य चउरंगे, ण हु सुलभं होति चउरंगं॥ ३७१
- कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
  अण्णयरम्मि वि जोगे, सज्झायम्मी विसेसेणं॥ ४५४

• कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो
अण्णयरम्मि वि जोगे, काउस्सग्गे विसेसेणं॥ ४५५
• कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अण्णयरम्मि वि जोगे, वेयावच्चे विसेसेणं॥ ४५६
• कम्ममसंखेज्जभवं, खवेति अणुसमयमेव आउत्तो।
अण्णयरम्मि वि जोगे, विसेसतो उत्तिमट्ठम्मि॥ ४५७
• परलोइए ण सक्का, साहेउं अप्पणो अट्ठं? ४६६
• जिणवयणमप्पमेयं। णिउणं कण्णाहुतिं सुणेंताणं॥ ४६७
• आहाराओ रतणं, ण विज्जते उत्तमं अण्णं। ४७२
• सरीरमुज्झितं जेण, को संगो तस्स भोयणे? ४८९
• जह णाम असी कोसी, अण्णा कोसी असी वि खलु अण्णो।
इय मे अण्णो देहो, अण्णो जीवो त्ति मण्णंति॥ ५४०
• बल-वण्ण-रूवहेतुं, फासुगभोई वि होति अपसत्थो।
किं पुण जो अविसुद्धं, णिसेवते वण्णमादट्ठा?॥ ५९५
• संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो। जीसू २
• सामाइयमादीयं, सुतणाणं बिंदुसारपज्जंतं।
तस्स वि सारो चरणं, चरणस्स वि होति णेव्वाणं॥ ७१४
• णेव्वाणस्स अणंतर, चरणं चरणा अणंतरं णाणं।
णाणविसुद्धीए पुण, चारित्तविसुद्धया होति॥ ७१५
• चारित्तविसुद्धीए, णेव्वाणफलं तु पावती अचिरा। ७१६
• समितिविसुद्धिणिमित्तं, अवस्स आलोयणं कुज्जा। ७६०
• बहुं सुणेति कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छति।
ण य दिट्ठं सुतं सव्वं, भिक्खु अक्खाउमरहति॥ ८२३
• मरणमिति महब्भयं। ९२६
• चरणविणासे अमोक्खो तु। १०११
• मोक्खाभावातो पुण, पयत्तदिक्खा निरत्थिगा होति। १०१२
• बहुदोसे माणुस्से, मा सीद। १०४६

• दाणं ण होति अफलं। १३८३

• विणएण बहुफलयं। १४६५

• सुत्तस्स अप्पमाणे, चरणाभावो ततो य मोक्खस्स।
मोक्खाभावाओ चिय, पयत्तदिक्खा णिरत्था उ॥ १४८६

• को कल्लाणं नेच्छति? १५९७

• जावतियं भोत्तव्वं, साहूहिं जावणट्ठाए। १६२१

• हिताहारा मिताहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
ण ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा॥ १६३२

• जह इंगाला जलिता, डहंति जं तत्थ इंधणं पडितं।
इह चिय रागिंगाला, डहंति चरणिंधणं णियमा॥ १६४६

• रागग्गीय पजलितो, भुंजंतो फासुगं पि आहारं।
णिद्दड्ढिंगालणिभं, करेति चरणिंधणं खिप्पं॥[१] १६४८

• दोसग्गी वि जलंतो, अप्पत्तियधूमधूमियं चरणं।
अंगारमेत्तसरिसं, जा ण भवति णिड्ढहति ताव॥ १६५२

• नत्थि छुहाएँ सरिसिया वियणा। १६५९

• धम्मावस्सगजोगा, जेण ण हायंति तं कुज्जा। १६७३

• पुरिसुत्तरिओ धम्मो, सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि। २०१६

• उस्सुत्तं ववहरेंतो, कम्मं बंधति चिक्कणं।
संसारं च पवड्ढेति, मोहणिज्जं च कुव्वती॥ २०४८

• उम्मग्गदेसए मग्गदूसए मग्गविप्पडीवाए।
परं मोहेण रंजेंतो, महामोहं पकुव्वती॥ २०४९

• गुरुसेवा तु पहाणा। २२७६

• अप्पेण बहुं इच्छति, विसुद्धमालंबणो समणो। २३८८

• इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेति। २६०३

• मरेज्ज सह विज्जाए, काले णं आगते विदू।
अपत्तं तु ण वाएज्जा, पत्तं च ण विमाणए॥ २६०४

# दो शब्दों का अर्थभेद

भाष्यकार और चूर्णिकार ने प्रसंगवश दो शब्दों में होने वाले अर्थभेद को प्रकट किया है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में शोध करने वाले विद्यार्थियों के लिए यह परिशिष्ट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा।

**जीव और प्राण**

- जीव त्ति पाणधरणे, पाणा पुण आउमादि णिद्दिट्ठा।
  अहवा जीवति जीविस्सई य जीवं ति होति जिओ॥ (गा. ७०४)

**भक्ति और बहुमान**

- भत्ती होतुवयारो, बहुमाणो गोरवसिणेहो। (गा. १००३)
- भत्ती उवयारमेत्तं, बहुमाणो ओरसो। (जीचू पृ. १२)

**कर्म और शिल्प**

- जंतुप्पीलणमादि तु, कम्मं तुण्णादियं सिप्पं। (गा. १३५८)

**वत्त और अणुवत्त**

- वत्तो णामं एक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो बितियवारे। (गा. ६७६)

**विद्या और मंत्र**

- विज्जा-मंतविसेसो, विज्जित्थी पुरिस होति मंतो तु।
  अहव ससाहण विज्जा, मंतो पुण पढितसिद्धो तु[1]॥ (गा. १४३८)

**मुदित और राजा**

- मुदितो जो होति जोणिसुद्धो तु।
  अभिसित्तो व परेहिं, सयं व भरहो जहा राया॥ (गा. १९९९)

**शयन और आसन**

- सयणं जत्थ सुप्पइ, आसणं जत्थ निविसिज्जइ। (जीचू पृ. ११)

**अवम ( दुष्काल ) और दुर्भिक्ष**

- ओमं परिपूर्णे यत्र भक्तादि न लभ्यते।
- दुर्भिक्षं यत्र सर्वथा न लभ्यते। (जीचूवि पृ. ५४)

---

१. यत्र मंत्रे देवता स्त्री सा विद्या, अम्बाकुष्माण्ड्यादि। यत्र तु देवता पुरुषः स मंत्र, यथा विद्याराजः, हरिणेगमेषिरित्यादि। (आवहाटी १ पृ. २७४)

# आयुर्वेद एवं चिकित्सा

**सीतघरम्मि व डाहं, वंजुलरुक्खो व जह व उरगविसं।** २३६

शीतगृह दाह का अपनयन करता है और वंजुल वृक्ष सर्प के विष को दूर कर देता है।

**तेल्लस्स उ गंडूसं.....गल्लधरणं तु, लुक्खत्ता मुहजंतं, मा हु खुभेज्ज त्ति तेण धारेति।** ३५२,३५३

तेल का कुल्ला गले को ठीक करता है। रूक्षता से मुखयंत्र क्षुभित न हो इसलिए मुख में तैल धारण किया जाता है।

**मेहादव्वे व एसती पियति।** ४१८

मेधा बढ़ाने के लिए मेध्य द्रव्यों का पान किया जाता है।

**संबद्ध हत्थ-पादादओ व वाएण होज्जाहि।** ५०७

अत्यधिक वायु से हाथ पैर जकड़ जाते हैं अर्थात् लकवा हो जाता है।

**वाइय-पित्तिय-सिंभिय, अहवा वी होज्ज सण्णिवाएणं। एतेहि अणप्पवसो।** ९३८

वात, पित्त, श्लेष्म और सन्निपात आदि कारणों से व्यक्ति परवश हो जाता है।

**खद्धे णिद्धे य रुया।** ११८८

अत्यधिक स्निग्ध भोजन करने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

**संसोधण संसमणं, णिदाणपरिवज्जणं च जं जत्थ।**
**आगंतुधातुखोभे, व आमए कुणति किरियं तु॥** १३९०

आगंतुक और धातुक्षोभज रोग उत्पन्न होने पर विविध क्रियाएं की जाती हैं-१. पेट का शोधन २. पित्त का शमन और फिर रोग का परिहार।

**बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणितो।**
**पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला॥**
**चउवीस पंडगस्सा, ते ण गहित जेण पुरिस-इत्थीणं।**
**पव्वज्ज ण पंडस्स उ, तम्हा ते ण गहिता एत्थं॥** १६२२, १६२३

पुरुषों के लिए बत्तीस कवल तथा स्त्रियों के लिए २८ कवल आहार कुक्षिपूरक माना जाता है। नपुंसक का आहार चौबीस कवल प्रमाण होता है।

**अतिबहुयं अतिबहुसो, अतिप्पमाणेण भोयणं भुत्तं।**
**हादेज्ज व वामेज्ज व, मारेज्ज व तं अजीरंतं॥** १६२७

अतिबहुक, अतिबहुशः तथा अतिप्रमाण में किया हुआ भोजन अतिसार पैदा कर देता है, उससे वमन हो सकता है। वह आहार जीर्ण न होने पर व्यक्ति को मार भी सकता है।

**हितमहितं होति दुहा, इह परलोगे य होति चउभंगो।**
**इहलोग हितं ण परे, किंचि परे णेय इहलोगे॥**

**किंचि हितमुभयलोगे, णोभयलोगे चतुत्थओ भंगो।**
**पढमगभंगो तहियं, जे दव्वा होंति अविरुद्धा॥**

**जह खीर-दहि-गुलादी, अणेसणिज्जा व रत्तदुट्ठे वा।**
**भुंजंते होति हितं, इहइं ण पुणाइँ परलोगे॥**

**अमणुण्णेसणसुद्धं, परलोगहितं ण होति इहलोगे।**
**पत्थं एसणसुद्धं, उभयहितं होति णातव्वं॥**

**अहितोभयलोगम्मी, अपत्थदव्वं अणेसणिज्जं च।**
**अहवा वि रत्तदुट्ठो, भुंजति एत्तो मितं वोच्छं॥** १६३३-३७

आहार दो प्रकार का होता है–हितकर और अहितकर। इहलोक में हितकर तथा परलोक में हितकर की चतुर्भंगी इस प्रकार है–

- इहलोक में हितकर, परलोक में नहीं।
- परलोक में हितकर, इहलोक में नहीं।
- न परलोक में हितकर, न इहलोक में।
- इहलोक में हितकर, परलोक में भी हितकर।

प्रथम भंग में जो अविरोधी द्रव्य होते हैं, वे ग्राह्य हैं, जैसे खीर, दधि, गुड़ आदि। इनको अनेषणीय ग्रहण करके राग और द्वेष से भोग करना इहलोक में हितकर है लेकिन परलोक के लिए हितकर नहीं है। शुद्ध एषणा से प्राप्त अमनोज्ञ आहार परलोक के लिए हितकर है, इस लोक के लिए नहीं। पथ्य और एषणा से शुद्ध आहार को दोनों लोकों के लिए हितकर जानना चाहिए। अपथ्य और अनेषणीय आहार दोनों लोकों के लिए अहितकर है अथवा राग और द्वेष से आहार करना दोनों लोकों के लिए अहितकर है।

**अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे।**
**वायुपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणगं कुज्जा॥** १६३८

उदर के छह भाग करके आधे उदर अर्थात् तीन भागों को व्यंजन सहित आहार के लिए; दो

भाग पानी के लिए तथा छठा भाग वायु-संचरण के लिए खाली रखना चाहिए।

**एगो दवस्स भागो, अवट्ठितो भोयणस्स दो भागा।**
**वड्ढंति व हायंति व, दो दो भागा तु एक्केक्के॥** १६४०
**एत्थ तु ततियचतुत्था, दोण्णि वि अणवट्ठिता भवे भागा।**
**पंचम छट्ठो पढमो, बितिओ य अवट्ठिता भागा॥** १६४१

पानी का एक भाग तथा भोजन के दो भाग अवस्थित हैं, ये घटते-बढ़ते नहीं हैं। एक-एक में शेष दो-दो भाग बढ़ते-घटते हैं, जैसे-अतिशीतकाल में भोजन के दो भाग बढ़ जाते हैं तथा अतिउष्णकाल में पानी के दो भाग बढ़ जाते हैं। अतिउष्णकाल में भोजन के दो भाग कम हो जाते हैं तथा अतिशीतकाल में पानी के दो भाग कम हो जाते हैं। यहां तीसरा और चौथा-ये दोनों भाग अनवस्थित अर्थात् अस्थिर हैं। पांचवां, छठा, पहला और दूसरा-ये अवस्थित भाग हैं।

**आतंको जरमादी, तम्मुप्पण्णे ण भुंजे...।**
**सहसुप्पइया वाही, वारेज्जा अट्ठमादीहिं॥** १६६५

ज्वर आदि आतंक उत्पन्न होने पर आहार नहीं करना चाहिए। सहसा उत्पन्न व्याधि का तेले आदि की तपस्या से निवारण करना चाहिए।

**लुक्खं तु णेहरहितं, जं खेत्तं वातपित्तलं वावि।**
**सीतं बलियं भण्णति, अहव अणूवं भवे सीतं॥** १८२२

रूक्ष का अर्थ है-स्नेहरहित, वह क्षेत्र, वात और पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है। शीत क्षेत्र बलप्रद होता है अथवा सजल क्षेत्र शीतल होता है।

**अहवा वि रोगियस्सा, ओसह चाडूहि दिज्जते पुव्वं।**
**पच्छा ताडेतुं पी, देहहितट्ठाए दिज्जति से॥** २३८२

रोगी को पहले मधुर वचनों से औषध दी जाती है, बाद में देहहित के लिए ताड़न आदि के द्वारा भी औषधि दी जाती है।

**मा अन्नेण दोसीणाइणा रोगो हवेज्जा। पारणगे आमलगसर्करादयो वा दीयन्ते।** जीचूवि पृ. ३४

बासी अन्न से रोग न हो इसलिए पारणे में आंवला और मिश्री दी जाती है।

# देशी शब्द

जिन शब्दों का कोई प्रकृति-प्रत्यय नहीं होता, जो व्युत्पत्तिजन्य नहीं होते तथा जो किसी परम्परा या प्रान्तीय भाषा से आए हों, वे देशज शब्द कहलाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने देशीनाम माला में देशी शब्दों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—

जे लक्खणे ण सिद्धाऽपसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
न य गहणलक्खणा सत्तिसंभवा ते इह निबद्धा॥[1]

वैयाकरण त्रिविक्रम का कहना है कि आर्ष और देश्य शब्द विभिन्न भाषाओं के रूढ़ प्रयोग हैं अत: इनके लिए व्याकरण की आवश्यकता नहीं होती। अनुयोगद्वार में वर्णित नैपातिक शब्दों को देशी शब्दों के अन्तर्गत माना जा सकता है। आगम एवं उनके व्याख्या ग्रन्थों में १८ प्रकार की देशी भाषाओं का उल्लेख मिलता है।[2] वे १८ भाषाएं कौनसी थीं, इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। भिन्न-भिन्न प्रान्त के व्यक्ति दीक्षित होने के कारण आचार्य शिष्यों का कोश-ज्ञान एवं शब्द-ज्ञान समृद्ध करने के लिए विभिन्न प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग करते थे। निर्युक्ति साहित्य में अनेक प्रान्तीय देशी शब्दों का प्रयोग हुआ है।

संख्यावाची शब्द जैसे–पणपण्ण, पण्णास, बायालीस आदि को भी कुछ आचार्य देशी मानते हैं। इस संग्रह में हमने संख्यावाची शब्दों का संग्रह नहीं किया है। अनुकरणवाची शब्दों एवं आदेश प्राप्त धातुओं के बारे में विद्वानों में मतभेद है पर हमने इनको देशी शब्दों के रूप में स्वीकृत किया है। अनेक शब्द जो संस्कृत कोश में भी मिलते हैं लेकिन उनको यदि देशीनाम माला में देशी माना है तो उनका इस संकलन में संग्रह किया है। जैन विश्वभारती, लाडनूं से प्रकाशित 'देशीशब्दकोष' में दस हजार से अधिक देशी शब्दों का चयन किया गया है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| **अइर**—अतिरोहित। | गा. १५५३ | **अम्मया**—मां | गा. ७९३ |
| **अंधेल्लय**—अंधा। | गा. १५६९ | **अम्मो**—मां। | गा. १२२६ |
| **अंबिलि**—इमली | गा. ५७८ | **आड**—जबरदस्ती, बलपूर्वक। | गा. ८५८ |
| **अचियत्त**—अप्रीति। | गा. १५६६ | **आसीआवण**—अपहरण करना। | गा. २३३८ |
| **अड्ढाइय**—ढ़ाई। | गा. ८१ | **आसूय**—मनौती से प्राप्त। | गा. १३१५ |
| **अणिदा**—ज्ञान शून्य। | गा. १११५ | **इट्ठगा**—सेवई। | गा. १३९६ |
| **अप्पाहणि**—संदेश। | गा. १३२७ | **इट्ठाल**—ईंट। | गा. १४५५ |

१. देशी १/३।
२. राजटी पृ. ३४१।

**इद्ध**—चित्त-इद्धं चितं भण्णति। गा. २५२८
**उक्कुड**—वनस्पति का कूटा हुआ चूर्ण। गा. १४९४
**उक्कुट्ठि**—ऊंचे स्वर से आवाज करना। गा. १७२४
**उक्खलि**—स्थाली। गा. १२०९
**उक्खलिया**—स्थाली। गा. १२०५
**उक्खलीय**—स्थाली। गा. १२१०
**उड्डाह**—तिरस्कार। गा. १४६९
**उड्डोय**—डकार, ऊर्ध्व वायु। गा. ९०८
**उत्थाण**—अतिसार रोग। गा. १४७२
**उदउल्ल**—आर्द्र। गा. १७०५
**उप्पर**—ऊपर। गा. १४६२
**उल्लिंचति**—खाली करना। गा. १३१०
**उव्वरित**—अधिक, बचा हुआ। गा. ९७१
**उस्सक्क**—आगे करना। गा. १२२४
**उस्सण्ण**—प्रायः। गा. २३९६
**ओलइय**—संलग्न, लटका हुआ। गा. ५३८
**ओल्ल**—आर्द्र। जीचू पृ. ९
**ओसक्कण**—पीछे करना। गा. १२२४
**ओसण्ण**—प्रायः। गा. ८९२
**अंदु**—शृंखला, बेडी। गा. १५७०
**कक्कडिग**—ककड़ी। गा. ११५४
**कट्टर**—कढ़ी में डाला हुआ घी का बड़ा। गा.१६१२
**कढिया**—कढी, खाद्य पदार्थ-विशेष। गा. ३९४
**कप्पट्ठ**—बालक। गा. ९१९
**कप्पट्ठग**—बालक। गा. ९२०
**कमढग**—पिठर, स्थाली। जीचू पृ. १८
**करडुग**—मृतक-भोज। गा. १३९५
**कलम**—उत्तम चावल। गा.३९८
**कल्लाल**—मदिरा बेचने वाला। गा. ४२६
**काइय**—मूत्र, प्रस्रवण। गा. ८५६
**काइयाड**—मूत्र से बाधित होना। गा. ८५८
**कामगद्दभ**—काम में अति प्रवृत्त। गा. १३६८
**कुक्कुस**—धान्य आदि का छिलका। गा. १४९४
**कुसण**—दही और चावल से बना हुआ करम्बा, खाद्य-विशेष। गा. १५९४
**कुहावणा**—बहुरूपिये की वृत्ति से अर्थार्जन करना। गा. १७२३
**केया**—रज्जू। गा. १०१६
**कोट्टग**—बढई। गा. ४२६
**कोट्टिय**—दुर्ग। गा. १२७०
**कोणग**—कोना। गा. ५०७
**कोयव**—रूई से भरे हुए कपड़े का बना हुआ प्रावरण-विशेष, रजाई। गा. ४६०
**कोयवि**—रूई से भरा कपड़ा। गा. १७७२
**खउरल्लिय**—कलुषित, लिप्त। गा. ७०५
**खंत**—पिता। गा. १३३६
**खंतिया**—मां। गा. १३२६
**खडुहा**—आघात, ठोला। गा. २३७८
**खड्ड**—खड्डा, गर्त। गा. ५९१
**खद्ध**—शीघ्र, प्रचुर। गा. १४१३, ११८८
**खरंट**—डांटना, उपालम्भ देना। गा. १४०७
**खल्लग**—एक प्रकार का जूता। गा. १७७४
**खुइय**—खांसी। गा. ९०६
**खुड्ड**—छोटा साधु, लघु शिष्य। गा. १७५२
**खुड्डग**—लघु शिष्य। गा. १७५३
**खुड्डिया**—छोटी साध्वी। गा. २३६१

**खुम्पक**—वृष्टि को रोकने के लिए बनाया गया एक तृणमय उपकरण। जीचूवि पृ. ५०
**खेड्डु**—क्रीड़ा। गा. १७२३
**गड्डु**—गर्त। गा. ८१९
**गिल्ल**—गीली, आर्द्र। गा. १०८४
**गुलगुलेंत**—हाथी का चिंघाड़ना। गा. ८०१
**गोज्ज**—गायक। गा. ६१४
**गोट्ठी**—मित्र।
**गोण**—बैल। गा. १३७७
**घडा**—गोष्ठी, मंडली।
**घरकोइल**—छिपकली। गा. १२६७
**घुक्किय**—अपमानजनक शब्द। गा. ८३८
**घुसुल**—दही मथना, विलोड़न करना। गा. १५७०
**चंगेरी**—तृण निर्मित टोकरी। गा. २३९९
**चडकर**—बहाना, आरोप। गा. ८७०
**चाउल**—चावल। गा. ११६५
**चिंचा**—इमली। जीचू पृ. १६
**चिक्खल्ल**—कीचड़। गा. १२१०
**चिलिमिलि**—पर्दा। गा. ३८८
**चुडुल**—उल्का, जलती हुई लकड़ी। गा. ४२
**चुडुलि**—अलात, जलती हुई लकड़ी। गा. ४०
**चुल्ल**—चूल्हा। गा. १२०५
**चुल्लि**—चूल्हा। गा. १५३३
**चेड**—बालक। गा. १२२६
**चोलपट्ट**—जैन मुनि का कटिवस्त्र। गा. १७२९
**चोल्ल**—भोजन। गा. १२७९
**छड्डय**—आच्छादित। गा. २४०३
**छगण**—गोबर, कंडा। गा. १२०३
**छाद**—भूखा-छादो वेयावच्चं ण तरति काउं। गा. १६५९
**छिक्क**—स्पृष्ट। गा. ११७०
**छिच्छिक्कार**—कुत्तों के पीछे की जाने वाली छी छी की आवाज। गा. १३७७
**छिवाड़ी**—पतले पन्नों वाली ऊंची पुस्तक। गा. १७७०
**छेलिय**—नाक से छींकने की आवाज। गा. १७२५
**छोडित**—राई से बघारा हुआ शाक आदि। गा. ११६६
**जड्डु**—हाथी। गा. १२८०
**जल्ल**—मैल। गा. १०४०
**जीण**—अश्व की पीठ पर बिछाया जाने वाला चर्ममय आसन-विराली नवओ जीणो त्ति भन्नइ। जीचूवि पृ. ५१
**जुंगित**—जाति, कर्म या शरीर से हीन। गा. १३७२
**झंख**—बार बार कहना। गा. १२३१
**झंपणा**—आच्छादन। गा. २३३९
**झामण**—जलाना। गा. २३२५
**झामित**—दग्ध। गा. २३२३
**झोसण**—छोड़ना। गा. २२७८
**टाल**—गुठली सहित। गा. १९५२
**डंडिग**—राजा। गा. ४९६, २०५४
**डगल**—पत्थर। गा. ९०२
**डहर**—छोटा। गा. ८६५
**डाग**—पत्ती वाला शाक। गा. १२१३
**डिलय**—शाखा—डिलयम्मि ओलइया। गा. ५३८
**डेवण**—कूदना-फांदना। गा. १७२२

**डोंब**—महावत। गा. १२८२
**डोंबिल**—डोम, चाण्डाल। गा. ४२५
**डोय**—चम्मच। गा. १२०९
**डोयी**—बड़ा चम्मच। गा. १२११
**ढंक**—काक, कौआ। गा. २४६९
**ढक्किय**—ढका हुआ। गा. ११५२
**ढड्ढर**—तेज आवाज। गा. ८०६
**णउलय**—नौली। गा. २३९९
**णंतिक्क**—बुनकर, जुलाहा। गा. ४२५
**णग्गय**—नग्न। गा. १९७९
**णलिय**—घर, गृह। गा. ४०४
**णवतय**—ऊन का बना हुआ आस्तरण विशेष। गा. १७७२
**णवय**—ऊन का बना हुआ आस्तरण विशेष। गा. ४६०
**णिदा**—जानते हुए प्राणवध करना। गा. १११५
**णिद्धंधस**—निर्दय, अकृत्यसेवी। गा. ११८७
**णूमण**—गोपन, छिपाना-गूहण गोवण णूमण पलियंचणमेव एगट्ठं। गा. १७७६
**तच्चण्णिय**—बौद्ध भिक्षु। गा. १३६७
**तलवर**—कोतवाल। गा. २००३
**तलिगा**—जूता। जीचू पृ. १८
**तिंतिण**—चिड़चिड़े स्वभाव वाला। गा. २५९७
**तिंतिणिअ**—चिड़चिड़े स्वभाव वाला। गा. १०२६
**दद्दर**—कुतुप आदि का मुखबंध रूप ढक्कन। गा. १७०३
**दाइय**—दर्शित। गा. २४८४
**दाविय**—दिखाया हुआ। गा. ८८४
**दुसुंठ**—उद्धत, अविनीत। जीचूवि पृ. ५२
**दे**—अपशब्द-सूचक अव्यय। गा. ८३८
**देवड**—चर्मकार। गा. ४२५
**देसिं**—बासी। गा. १५१०
**दोद्धिअ**—चर्मकूप, मशक। गा. ४०३
**धणिय**—अत्यधिक। गा. ११०५
**नहरणी**—नख-कर्तनी। जीचू पृ. १७
**नियंसणी**—साध्वियों का वस्त्र विशेष। जीचू पृ. १८
**पंगुरण**—प्रावरण। गा. १९९०
**पच्चोणी**—सम्मुख आना। गा. १३४४
**पच्छिय**—पात्र विशेष। गा. १५५१
**पणग**—काई, अनंत काय विशेष। गा. ५२
**पत्थार**—विनाश। गा. ३६३
**पप्पडिग**—खाद्य वस्तु-विशेष। गा. १५३७
**पल्हवि**—एक प्रकार का वस्त्र, जो हाथी की पीठ पर बिछाया जाता है। गा. १७७२
**पाहेण**—मोदक आदि मिठाई। गा. १२३४
**पूरी**—हाथी की पीठ पर बिछाया जाने वाला वस्त्र—पूरी-पल्हवी हस्त्यास्तरणम्। जीचूवि पृ. ५१
**पेलु**—पूनी, रूई की पहल। गा. १२२७
**पेल्लण**—पीड़ा। गा. १२६७
**पेल्लिय**—पशु, पक्षी का बच्चा। गा. ५३६
**पोक्कड**—पकाना। गा. १३३२
**पोट्ट**—पेट। गा. ६८९
**पोट्टल**—पोटली। गा. ५७७
**पोत्ति**—वस्त्र। गा. १९७९

**फड्डग**—अंश। गा. १२१०

**फड्डावती**—गण के अवान्तर विभाग का नायक। गा. ७८१

**फरुस**—कुम्भकार। गा. २५३१

**बाहाडा**—प्रचुर, अत्यधिक। गा. ८५७

**भोइग**—पति। गा. १३४२

**भोइणी**—भार्या। गा. १३४२

**भोइय**—ग्राम का नायक। गा. २००४

**मइल**—मैला। गा. १६५०

**मंडुक्कलि**—मेंढकी। गा. ८००

**मग्गत**—पीछे। गा. ४१

**मल्लग**—पात्र। गा. ९०२

**महल्ल**—बड़ा। गा. १५६६

**महिलिया**—महिला, स्त्री। गा. १६२२

**मालग**—घर का ऊपरी भाग, मंजिल। गा. १२७०

**मुदित**—योनि-शुद्ध राजा—'मुदिओ जो होति जोणिसुद्धो तु।' गा. १९९९

**मुहणंत**—मुखवस्त्र। गा. ६८२

**मुहमंगलि**—चापलूसी। गा. १३५६

**मूइंग**—चींटी। गा. १२६३

**मूडक**—लकड़ी और मूंज का बना हुआ बैठने का साधन। जीचूवि पृ. ४६

**मूतिंगलिया**—चींटी। गा. २१

**मूरग**—भञ्जक, तोड़ने वाला। गा. ८

**मोय**—प्रस्रवण। गा. १०४०

**रुंचंत**—रूई से कपास को अलग करने की क्रिया। गा. १५७१

**रुक्ख**—वृक्ष। गा. ४८०

**रुवई**—रूई। जीचूवि पृ. ५५

**रेल्लय**—पानी का प्रवाह। जीचूवि पृ. ४४

**रोट्ट**—तंडुल पिष्ट, चावल आदि का आटा। जीचू पृ. १६

**रोर**—दरिद्र, सामान्य। गा. १६५१

**लइअ**—पहना हुआ। गा. २४८५

**लंबण**—कवल। गा. १६१३

**लागतरण**—भूने हुए चावलों से बनाया गया पेय विशेष। गा. ६०५

**लाढय**—निर्दोष आहार से जीवन यापन करना। गा. १७७९

**लाण**—नाक का मैल। गा. ८१६

**लुक्क**—मुण्डित। गा. १२३७

**वइया**—लघु गोकुल। गा. ५१८

**वट्ट**[1]—जादू का खेल, इंद्रजाल। गा. १७२३

**वडग**—बड़ा। गा. १६१४

**वत्त**—एक बार—वत्त णामं एक्कसि। गा. ६७६

**वद्धणिया**—झाड़ू गा. १५५१

**वब्भ**—जूता विशेष। जीचू पृ. १८

**वरंडा**—भींत, दीर्घ काष्ठ। जीचूवि पृ. ५१

**वलवा**—घोड़ी। गा. १३४७

**वाइंगण**—बैंगण। गा. १६१४

**वाडि**—बाड़, वृति। गा. १७२२

**वालुंक**—पक्वान्न विशेष। गा. १६१४

---

१. एकस्मिन् हस्ते गोलकद्वयमेकस्मिन् गोलकत्रयं, दर्शयित्वा पुनरिन्द्रजालप्रयोगेन केचिद् व्यत्ययेन गोलकान्यत्र दर्शयन्तीन्द्रजालिकास्तद् वट्टखिड्डमुच्यते (आवटि प. ५३)।

**वालु**—दूध—दुद्ध पयो वालु खीरं च। गा. ११३२
**विज्जल**—पंकिल मार्ग। गा. ९५१
**वियर**—नदी आदि जलाशय सूख जाने पर पानी निकालने हेतु उसमें किया गया गर्त। गा. ५३७
**विरल्लिय**—फैला हुआ। गा. २३६१
**विराली**—वस्त्र विशेष। विराली—नवओ जीणो त्ति भन्नइ। जीचूवि पृ. ५१
**विरोलंती**—मथती हुई, विलोड़न करती हुई। जीचू पृ. १६
**विलुक्क**—लुंचित। गा. १२३७
**वोलीण**—अतिक्रान्त। गा. १५२९
**वोहत्तिय**—गृहीत। गा. २०८४
**संकर**—मार्ग। गा. ५३७
**संखडी**—विवाह आदि के उपलक्ष्य में दिया जाने वाला भोज, मिठाई। गा. ८८२, ८९०,१२३४
**संगार**—संकेत। गा. १७२५
**संघाडी**—उत्तरीय, वस्त्र विशेष। जीचू पृ. १८
**संघिय**—दुर्गन्ध युक्त। गा. १२१०
**सञ्झिल्लग**—भाई। गा. १५९०
**सतिर**—तिरोहित। गा. १५५०
**सथली**—देहली। गा. २३६६
**समुद्देस**—भोज, सूर्यमंडल। गा. ८८२
**साह**—कथन करना। गा. ३६२
**साही**—गली, मुहल्ला। जीसू ९८
**सामत्थ**—पर्यालोचन। गा. १३३५
**सालणग**—कढ़ी के समान एक प्रकार का खाद्य। गा. १६१४
*साला*—*शाखा।* *गा. २५२७*
**सिति**—सीढी, निःश्रेणी। गा. ३२९
**सेंटा**—नाक छींकने का शब्द। गा. १७२५
**सेंटिय**—नाक छींकने का शब्द। जीचू पृ. १७
**सेह**—शैक्ष, लघु शिष्य। गा. २१०७
**हडि**—बंधन-विशेष। गा. ६८९
**हड्डु**—हड्डी। गा. ६८९
**हादण**—अतिसार। गा. १६२९
**हिलिहलय**—प्रज्वलित। गा. १५३१
**हेट्ठिल्ल**—अधस्तन, नीचे का। गा. ११४२

# विशेषनामानुक्रम


| | | |
|---|---|---|
| अंगुल | (माप) | ५४ |
| अंगुलि | (अवयव) | ३९९ |
| अंतराय | (कर्म) | ७३५ |
| अंधेल्लय | (रोगी) | १५६९ |
| अंब | (फल) | १८१ |
| अंबग | (फल) | ११५४ |
| अंबिलि | (वनस्पति) | १९५९ |
| अच्छ | (तिर्यञ्च) | ५०० |
| अच्छवी | (तिर्यञ्च) | २३६ |
| अच्छि | (अवयव) | २४८७ |
| अजा | (तिर्यञ्च) | ११३३, १७७३ |
| अट्ठावय | (खेल) | १७२३ |
| अभत्तट्ठ | (तप) | १८३५ |
| अय | (धातु) | १३९२ |
| अया | (तिर्यञ्च) | १७७३ |
| अरहण्णग | (साधु) | ८१८, ८१९ |
| अरिस | (रोग) | २१७७ |
| असाढभूति | (मुनि) | १३९८ |
| असि | (शस्त्र) | ५४० |
| अस्स | (अवयव) | ५२४ |
| अहालंदि | (विशिष्ट साधु) | २२५८ |
| आदंस | (गृह) | १४०९ |
| आभीरग | (देश) | १४६० |
| आयंबिल | (तप) | ३०४ |
| आयरक्ख | (देव) | २५०० |
| आयाम | (तप) | ३४३ |
| आयार | (ग्रंथ) | जीचू पृ. १ |
| आयारपकप्प | (ग्रंथ) | २०७९ |
| आलिंगिणि | (वस्त्र) | १७७१ |
| आवलिया | (काल) | ५४ |
| आवस्सग | (ग्रंथ) | ६० |
| आस | (तिर्यञ्च) | ८२१ |
| आसय | (अवयव) | २५३९ |
| इंगिणि | (अनशन) | ३२१ |
| इक्खाग | (वंश) | १४०९ |
| §^»æ— | (सेवई) | १३९७ |
| उक्कुट्ठ | (खाद्य विशेष) | १४९४ |
| उज्जाणी | (नाव) | ९७८ |
| उज्जेणी | (नगर) | २३९६ |
| उडुप | (वाहन) | ९८० |
| उत्तरकुरु | (क्षेत्र) | ५४४ |
| उत्तरज्झयण | (ग्रंथ) | जीचू पृ. १ |
| उदायि | (राजर्षि) | २४९८ |
| उलुग | (तिर्यञ्च) | २४८२ |
| उवहाणग | (वस्त्र) | १७७१ |
| उस्सप्पिणि | (काल) | २९ |
| ऊसास | (मरण) | ५०० |
| एक्कासण | (तप) | ३०५ |
| एगराइगा | (प्रतिमा) | १७५१ |
| एगल्लविहार | (प्रतिमा) | २२१ |

| | | |
|---|---|---|
| एगासण | (तप) | ६८५ |
| एरवय | (क्षेत्र) | ४३४, २११३ |
| एलग | (तिर्यञ्च) | १७७३ |
| ओट्ठ | (अवयव) | ५०१ |
| ओदण | (खाद्य विशेष) | १५८५ |
| ओयाणी | (नाव) | ९७८ |
| ओसप्पिणि | (काल) | २९ |
| ओहजुत्ति | (ग्रंथ) | ९५८ |
| कंचणपुर | (नगर) | ३८१, ३८२ |
| कंजिय | (खाद्य) | ३४६, ४०३, १३०१, १८२१ |
| कंडु | (रोग) | २४०९ |
| कंबल | (वस्त्र) | २००१ |
| कक्कडिग | (फल) | ११५४ |
| कक्कोलग | (वृक्ष विशेष) | जीसू ५४ |
| कच्छव | (तिर्यञ्च) | १५५३ |
| कच्छवि | (पुस्तक) | १७७० |
| कच्छुल्ल | (रोगी) | २४०९ |
| कट्टर | (खाद्य) | १६१२ |
| कड | (उपकरण) | ११३३ |
| कडग | (आभूषण) | १४०८ |
| कडाह | (गृह-उपकरण) | १५३४ |
| कडिपट्ट | (साधु-उपकरण) | २१७७ |
| कढिय | (खाद्य) | ३९४ |
| कणग | (धातु) | १३१६ |
| कणग | (शस्त्र) | ४८० |
| कण्ण | (अवयव) | ५०१ |
| कण्हा | (नदी) | १४६१ |
| कत्ती | (उपानत्) | १७७४ |
| कप्प | (ग्रंथ) | २६५, ३३२, ४२७, ५६१, ५६२, ५६४, १७३१, १७९९, १९४५, २१५९, २६०७, २६०८ |
| कप्पनिज्जुत्ति | (ग्रंथ) | ५६३ |
| कप्पास | (वनस्पति) | २४०१ |
| कप्पियाकप्पिय | (ग्रंथ) | जीचू पृ. १ |
| कर | (अवयव) | १३७२ |
| करकय | (शस्त्र) | ५३० |
| करिसावण | (मुद्रा) | २९७ |
| कलम | (खाद्य) | १८२० |
| कलमोयण | (खाद्य) | ३९८ |
| कल्लाणग | (प्रायश्चित्त) | ३०४ |
| काग | (तिर्यञ्च) | ९०३ |
| कागिणी | (मुद्रा) | ११९ |
| काण | (रोगी) | १३९९ |
| कालासवेसिअ | (मुनि) | ५३४ |
| कालिय | (अनुयोग) | २३६९ |
| कास | (रोग) | जीसू १० |
| कीडी | (तिर्यञ्च) | १५०९ |
| कुंथु | (तिर्यञ्च) | २०२ |
| कुंभ | (उपकरण) | १२६४ |
| कुंभकारकड | (नगर) | ५२८ |
| कुट्ठि | (रोगी) | १३७२ |
| कुणी | (रोगी) | १३९९ |

| | | |
|---|---|---|
| कुम्म | (तिर्यञ्च) | जीचू पृ. ६ |
| कुसण | (खाद्य) | १५८५, १५९४ |
| कुसील | (निर्ग्रन्थ) | २८१ |
| कुसुमपुर | (नगर) | १४०७, १४५० |
| कूणिय | (राजा) | ४८० |
| कूर | (खाद्य) | १६१२ |
| केलास | (पर्वत) | १३७८ |
| केसर | (मोदक) | १४१७ |
| कोइल | (तिर्यञ्च) | १७२५ |
| कोंकण | (देश) | ४०३ |
| कोंकणग | (व्यक्ति) | ४०२, ४०३ |
| कोणिग | (राजा) | ४८१ |
| कोद्दव | (धान्य) | ११४८, १७७० |
| कोयव | (वस्त्र) | ४६० |
| कोयवि | (वस्त्र) | १७७२ |
| कोसग | (उपानत्, जूता) | १७७४ |
| कोसल | (देश) | १३९५ |
| कोसलग | (व्यक्ति) | ५००,५०३ |
| खंदग | (आचार्य) | ५२८, २४९९ |
| खमण | (तप) | १८६२ |
| खय | (रोग) | ५०२ |
| खल्लग | (उपानत्, जूता) | १७७४ |
| खादिम | (आहार) | ७४० |
| खीर | (खाद्य) | १८१ |
| खीरासव | (लब्धि) | १७६ |
| खुज्ज | (रोगी) | १३९९ |
| खुड्डगसीहतव | (तप) | २५५० |
| खुय | (रोग) | जीसू १० |
| खुरप्प | (शस्त्र) | ४८१ |
| गंडी | (पुस्तक) | १७७० |
| गंडुवहाण | (वस्त्र विशेष) | १७७१ |
| गद्दभ | (तिर्यञ्च) | १०१९ |
| गद्धपट्ठ | (मरण) | ५०९ |
| गय | (तिर्यञ्च) | ८०१ |
| गरुल | (तिर्यञ्च) | १९८७ |
| गलय | (अवयव) | २४८५ |
| गल्ल | (अवयव) | ३५२ |
| गाउग | (माप) | ५५ |
| गावी | (तिर्यञ्च) | २१४३ |
| गिम्ह | (ऋतु) | १८२६ |
| गिरिफुल्लि | (ग्राम) | १३९५ |
| गिरिफुल्लित | (ग्राम) | १३९४ |
| गुड | (खाद्य) | १६१२ |
| गुल | (खाद्य) | १०८४ |
| गो | (तिर्यञ्च) | ११३३, १७७३ |
| गोच्छग | (साधु-उपकरण) | ९०३, १७२८ |
| गोण | (तिर्यञ्च) | ९०४, १३७७ |
| गोणस | (तिर्यञ्च) | ५०१ |
| गोयम | (व्यक्ति) | ८२६ |
| गोरस | (खाद्य) | ११७७ |
| घड | (उपकरण) | ११३३ |
| घत | (खाद्य) | ५३२ |
| घरकोइल | (तिर्यञ्च) | १२६७ |
| घुण | (तिर्यञ्च) | २५८ |

| | | |
|---|---|---|
| चंउरंग | (खेल, चौरस) | १७२३ |
| चंद-उदय | (उद्यान) | ११९१ |
| चंदगुत्त | (राजा) | १४५४ |
| चंदण | (वृक्ष) | ८४४ |
| चंपा | (नगरी) | १३९४, १४१४ |
| चक्खु | (अवयव) | ८१८ |
| चण | (धान्य) | १८२० |
| चणक | (धान्य) | जीचू पृ. २१ |
| चरग | (परिव्राजक) | २३९, १०४२ |
| चाउल | (धान्य) | १२९७ |
| चाणक्क | (मंत्री) | ५३१, १४५५ |
| चालणि | (उपकरण) | ५३३ |
| चिंचा | (वनस्पति) | जीचू पृ. १६ |
| चिलातपुत्त | (साधु) | ५३३ |
| चुल्लकप्प | (ग्रंथ) | जीचू पृ. १ |
| चुल्लि | (गृह-उपकरण) | १५३३ |
| चेडग | (राजा) | ४७९ |
| चोलपट्ट | (साधु-उपकरण) | १७२९ |
| छिवाडी | (पुस्तक) | १७७० |
| छुरिय | (शस्त्र) | ७९४ |
| छेदसुत्त | (ग्रंथ) | १८२ |
| जंघा | (अवयव) | ९७९ |
| जंबु | (द्वीप) | ५६ |
| जड्डु | (तिर्यञ्च) | ४२५ |
| जम्बु | (आचार्य) | जीचू पृ. १ |
| जर | (रोग) | १६६५ |
| जरित | (रोगी) | १७०७ |
| जाणसाला | (स्थान) | ७८७ |
| जाणुग | (अवयव) | १४४५ |
| जातीफल | (वनस्पति) | १७६५ |
| जाहग | (तिर्यञ्च) | १८३ |
| जिणकप्पि | (विशिष्ट साधु) | २२५३ |
| जिणदास | (व्यक्ति) | ७८६, ७८७ |
| जीतकप्प | (ग्रंथ) | २५९० |
| जूत | (व्यसन) | १७२३ |
| जोणिपाहुड | (ग्रंथ) | जीचू पृ. २८ |
| जोतिस | (विद्या) | २४७० |
| जोतिसिय | (देव) | ७८ |
| जोयण | (माप) | ६३ |
| डंडगि | (राजा) | ५२८ |
| ढंक | (तिर्यञ्च) | २४६९ |
| णंदिग्गाम | (ग्राम) | ८२६ |
| णत्ता | (परिजन) | १४२७ |
| णमोक्कार | (मंत्र) | ३ |
| णलिय | (घर) | ४०४ |
| णवकार | (मंत्र) | ६५२ |
| णवणीत | (खाद्य) | १५२८ |
| णवतय | (वस्त्र) | १७७२ |
| णवय | (वस्त्र) | ४६० |
| णह | (अवयव) | २१७६ |
| णाभि | (अवयव) | ९७९ |
| णाव | (वाहन) | ९७८ |
| णावा | (वाहन) | १५२८ |
| णासिगा | (अवयव) | ५०१ |

| | | |
|---|---|---|
| णिज्जुत्ति | (ग्रंथ) | ५६४ |
| णिप्फाव | (धान्य) | १५९५, १९५८ |
| णिव्विगति | (तप) | ३०५ |
| णिव्विगतिय | (तप) | ६ |
| णिसीह | (ग्रंथ) | १७९९, १८००, २६०७, जीचू पृ. १ |
| णिसेज्जा | (साधु-उपकरण) | २०१ |
| णेत्त | (अवयव) | ५४९ |
| तक्क | (खाद्य) | १२९९ |
| तच्चण्णिय | (बौद्ध भिक्षु) | १३६७ |
| तरच्छ | (तिर्यञ्च) | २०१२ |
| तलिगा | (उपानत्, जूता) | १७७४ |
| तिगडु | (औषध) | ११५४ |
| तित्तिर | (तिर्यञ्च) | जीचू पृ. १७ |
| तिमि | (तिर्यञ्च) | ५५१ |
| तिरिच्छगामि | (नाव) | ९७८ |
| तुरंग | (तिर्यञ्च) | १३१५ |
| तूली | (वस्त्र) | १७७१ |
| तेल्ल | (खाद्य) | ३५२, १०८४, १२६२ |
| थंभणि | (विद्या) | ६१३ |
| थण | (अवयव) | १४२८ |
| दंत | (अवयव) | २४८४ |
| दंसणावरण | (कर्म) | ७३५ |
| दक्खा | (फल) | ११५४ |
| दति | (गृह-उपकरण) | १५३७ |
| दत्त | (शस्त्र) | ४८६ |
| दसकालिय | (ग्रंथ) | जीचू पृ. १ |
| दसाकप्प | (ग्रंथ) | जीचू पृ. १ |
| दहि | (खाद्य) | १५८८, १६१२ |
| दाडिम | (फल) | ११५४ |
| दाढिगाली | (वस्त्र) | १७७२ |
| दुद्ध | (खाद्य) | १५८८ |
| दुप्पसभ | (आचार्य) | २६७, २७६ |
| देवकुरु | (क्षेत्र) | ५४४ |
| दोद्धिय | (खाद्य) | ४०३ |
| धणू | (माप) | ६३ |
| धम्मरुई | (आचार्य) | १३९८ |
| धम्मरुई | (साधु) | ८५५ |
| धूता | (परिजन) | १४२७ |
| नंदिवद्धण | (आचार्य) | ८३१ |
| नंदिसेण | (साधु) | ८३४ |
| नाणावरण | (कर्म) | ७३५ |
| नायसुत | (तीर्थंकर) | २८५ |
| निप्फाव | (धान्य) | जीचू पृ. २१ |
| पउमा | (रानी) | २३६४ |
| पंडित | (मरण) | ५०९ |
| पकप्प | (ग्रंथ) | २६५ |
| पगलित | (रोगी) | १५६९ |
| पच्चक्खाण | (ग्रंथ) | २६५ |
| पच्छिय | (गृह-उपकरण) | १५५३ |
| पट्ठ | (अवयव) | ४८० |
| पडलय | (साधु-उपकरण) | १७२९ |
| पडिग्गह | (साधु-उपकरण) | १७३० |

| | | |
|---|---|---|
| पणग | (प्रायश्चित्त) | ६ |
| पत्तट्ठवण | (साधु-उपकरण) | ९०३ |
| पत्ताबंध | (साधु-उपकरण) | १७२९ |
| पदेसिणी | (अंगुलि) | १४४५ |
| पप्पडिग | (खाद्य) | १५३७ |
| पभव | (आचार्य) | जीचू पृ. १ |
| पय | (खाद्य) | ३९४ |
| पलंडु | (वनस्पति) | जीचू पृ. १९ |
| पलंब | (फल) | ६१३, १७८१, २१८७ |
| पलिय | (काल) | ८२ |
| पलियंक | (गृह-उपकरण) | १५४ |
| पल्लंक | (गृह-उपकरण) | ७८८ |
| पल्हवि | (वस्त्र) | १७७२ |
| पाउंछण | (साधु-उपकरण) | ७४१ |
| पाउंछणग | (साधु-उपकरण) | २००१ |
| पाउया | (उपानत्, जूता) | १५६९ |
| पाओवगमण | (अनशन) | ३५५ |
| पागत | (भाषा) | १००८ |
| पाडलिपुत्त | (नगर) | १४४४ |
| पाणि | (अवयव) | २१६६ |
| पाद | (अवयव) | ७८९ |
| पादोवगम | (अनशन) | ४७५ |
| पायकेसरि | (साधु-उपकरण) | ९०३ |
| पालक्क | (पुरोहित) | ५२८, २४९९ |
| पालित्तय | (आचार्य) | १४४४, १४४५ |
| पावार | (वस्त्र) | १७७२ |
| पावारग | (वस्त्र) | ४६० |
| पिट्ठ | (खाद्य) | २३६१ |
| पिवीलिया | (तिर्यञ्च) | ५३३, ८५७, १५०८ |
| पिहड | (उपकरण) | १५२७ |
| पुय | (अवयव) | ९०९ |
| पुरंदरजसा | (रानी) | ५२८ |
| पुरिमड्ढ | (तप) | ३०५ |
| पुलाग | (निर्ग्रन्थ) | २८१ |
| पुव्वगत | (ग्रंथ) | २३६९ |
| पूगप्फल | (वनस्पति) | १७६५ |
| पूव | (खाद्य) | १५३८ |
| पूवलि | (खाद्य) | १६८० |
| पूवित | (खाद्य विशेष) | १५३८ |
| पोसय | (अवयव) | २५३९ |
| फलग | (साधु-उपकरण) | ४५८ |
| बइल्ल | (तिर्यञ्च) | ४०४ |
| बगुस | (निर्ग्रन्थ) | २८१ |
| बहेड | (औषध) | १०८३ |
| बहेडग | (औषध) | जीचू पृ. १४ |
| बाह | (अवयव) | ९७९ |
| बिंदुसार | (ग्रंथ) | १, ७१४ |
| बीयपुर | (फल) | ११५४ |
| बीही | (धान्य) | १७७० |
| भंडी | (वाहन) | ४०४ |
| भत्त | (आहार) | ७४० |
| भत्तपरिण्ण | (अनशन) | ३५६ |

| | | |
|---|---|---|
| भद्दबाहु | (आचार्य) | ५६०, २५८८ |
| भरत | (राजा) | ११७५ |
| भरह | (चक्रवर्ती) | १४०८, १४०९ |
| भरह | (क्षेत्र) | ४३४, १९९९ |
| भल्ल | (तिर्यञ्च) | ५०० |
| मंडुक्कलि | (तिर्यञ्च) | ८०० |
| मंच | (गृह-उपकरण) | ७८९ |
| मंचग | (उपकरण) | ७८८ |
| मगर | (तिर्यञ्च) | ५५१ |
| मगह | (जनपद) | ८२६ |
| मच्छ | (तिर्यञ्च) | १६०६ |
| मच्छि | (तिर्यञ्च) | १५०८ |
| मच्छिय | (तिर्यञ्च) | १६०६ |
| मत्तग | (साधु-उपकरण) | १७२९ |
| मधु | (खाद्य) | १६०३ |
| मयूर | (तिर्यञ्च) | १७२५ |
| मसूरग | (वस्त्र) | १७७१ |
| महसिल | (संग्राम) | ४७९, ४८० |
| महाकप्प | (ग्रंथ) | जीचू.पृ. १ |
| महाविदेह | (क्षेत्र) | २१०० |
| महिस | (तिर्यञ्च) | ११३३, १७७३, २५२९ |
| मालव | (देश) | १९५, ९३३ |
| मिग | (तिर्यञ्च) | १७७३ |
| मुट्ठी | (पुस्तक) | १७७० |
| मुणिसुव्वय | (तीर्थंकर) | ५२८, २५०० |
| मुरुंड | (राजा) | १४४४, १४४५ |
| मुहणंत | (साधु-उपकरण) | ६८२ |
| मुहणंतग | (साधु-उपकरण) | २४८२ |
| मुहपुत्तिय | (साधु-उपकरण) | ७३३ |
| मूइंगलिय | (तिर्यञ्च) | २१ |
| मेरु | (पर्वत) | ४६८, ५५५ |
| मोगल्ल | (पर्वत) | ५३४ |
| मोदक | (खाद्य) | १३९८ |
| मोदग | (खाद्य) | ३९४ |
| मोहणिय | (कर्म) | ९३९ |
| रक्खितज्ज | (आचार्य) | ६१२ |
| रज्जु | (मरण) | ५०९ |
| रट्ठपाल | (नाटक) | १४०७ |
| रतणपुढवी | (नरक) | ७६ |
| रतणावलि | (तप) | २१६४ |
| रयय | (धातु) | १३१६ |
| रयहरण | (साधु-उपरकण) | १७२९ |
| रह | (वाहन) | ११३३ |
| रहमुसल | (संग्राम) | ४७९ |
| रायगिह | (नगर) | १३९४, १३९८, १४०५ |
| रालग | (धान्य) | ११४८, १७७० |
| राहु | (ग्रह) | ९६८ |
| लड्डुग | (खाद्य) | १०९० |
| लवंग | (तम्बोल) | १७६५ |
| लसुण | (वनस्पति) | १५०४ |
| लागतरण | (खाद्य-विशेष) | ६०५ |
| लोट्ट | (खाद्य) | १५५० |

| | | |
|---|---|---|
| लोण | (खाद्य) | १२६२ |
| वइर | (आचार्य) | ६१०, ६१२, १४६३ |
| वइर | (रत्न) | ११९ |
| वइरोसभ | (संहनन) | २१६६ |
| वंजुल | (वृक्ष) | २३६ |
| वंतीसुकुमाल | (मुनि) | ५३६ |
| वग्गुलि | (तिर्यञ्च) | २१६७ |
| वग्घ | (तिर्यञ्च) | १३९२, २०१२ |
| वच्छग | (तिर्यञ्च) | १३६५ |
| वज्ज | (रत्न) | २५४९ |
| वज्झ | (उपानत्) | १७७४ |
| वट्ट | (खेल) | १७२३ |
| वडग | (खाद्य) | १६१४ |
| वत्थि | (गृह-उपकरण) | १५३७ |
| वद्धणिया | (गृह-उपकरण) | १५५१ |
| वलवा | (तिर्यञ्च) | १३४७ |
| वल्ल | (धान्य) | १८२० |
| ववहार | (ग्रंथ) | २६५, ५६१, ५६२, ५६४, १७९९, २६०७, जीचू पृ. १ |
| ववहारनिज्जुत्ति | (ग्रंथ) | ५६३ |
| वसुदेव | (व्यक्ति) | ८२५, ८२६ |
| वाइंगण | (वनस्पति) | १६१४ |
| वाघातिम | (मरण) | ५०८ |
| वाणर | (तिर्यञ्च) | १४७४ |
| वारण | (तिर्यञ्च) | २०१२ |
| वारुणि | (महिला) | ८२७ |
| वाल | (तिर्यञ्च) | ५०० |
| वालुंक | (खाद्य) | १६१४ |
| वासा | (ऋतु) | १८२६ |
| विग | (तिर्यञ्च) | जीचू पृ. २८ |
| विण्हु | (साधु) | ६०५ |
| विवाह | (ग्रंथ) | ११०५ |
| विसूइगा | (रोग) | ५००, ५०२ |
| वेण्ण | (द्वीप) | १४६१ |
| संथार | (साधु-उपकरण) | ७४१ |
| संपुडग | (पुस्तक) | १७७० |
| सक्कय | (भाषा) | १००८ |
| सगड | (वाहन) | ११३३ |
| सत्तुग | (खाद्य) | १६१९ |
| सप्प | (तिर्यञ्च) | ८५२ |
| समित | (आचार्य) | १४६३, १४६६ |
| सर | (शस्त्र) | ४७९ |
| सराव | (गृह-उपकरण) | १५५२ |
| सव्वराइ | (प्रतिमा) | ७८७ |
| ससा | (परिजन) | १४२७ |
| साण | (तिर्यञ्च) | ९०४ |
| सादिम | (आहार) | ७४० |
| सामाइय | (ग्रंथ) | १, ७१४ |
| सारस | (तिर्यञ्च) | जीचू पृ. १७ |
| सालणग | (खाद्य) | १६१४ |
| सालि | (धान्य) | ११४९, १६१२, १७७० |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| सासवणाल | (वनस्पति) | २४८२ | सेज्जा | (उपकरण) | ७४१ |
| सिणाय | (निर्ग्रन्थ) | २८१ | सेडंगुलि | (व्यक्ति) | १३९७ |
| सियाल | (तिर्यञ्च) | ५३४, २४६९ | सेणिय | (राजा) | ३१२ |
| सिवा | (तिर्यञ्च) | ५३६ | सोत | (अवयव) | ५४९ |
| सिसिर | (ऋतु) | १८८२ | हंस | (तिर्यञ्च) | १७६७ |
| सिहरिणी | (खाद्य) | २४८२ | हत्थ | (अवयव) | २५८७ |
| सीस | (अवयव) | १४४५ | हत्थ | (माप) | ६३ |
| सीहेसर | (मोदक) | १४१४ | हत्थप्प | (नगर) | १३९४ |
| सुंठी | (औषध) | ११४७ | हत्थि | (तिर्यञ्च) | ८०१, ९३३, २५३२ |
| सुग | (तिर्यञ्च) | जीचू पृ. १७ | | | |
| सुवण्णग | (धातु) | २६०० | हरड | (औषध) | जीचू पृ. १४ |
| सूयगड | (ग्रंथ) | जीचू पृ. १ | हिम | (ऋतु) | १८२६ |
| सूरउदय | (उद्यान) | ११९१ | | | |

# विषयानुक्रम


अंगार दोष १६४३-४८
अक्ष १२, १३
अगीतार्थ ३५७
अज्ञान १३६
अतिपरिणामक १९४८, १९५५, १९५६
अदत्तादान ९०२
अध्यवतर (भिक्षा-दोष) १२८३-८५
अध्वानातीत दोष ९६४
अनवस्थाप्य २३०३-२४१९
अनात्मवश ९३७-३९
अनाभोग ९१६
अनिसृष्ट (भिक्षा-दोष) १२७५-८२
अपरिणत दोष १५८७-९३
अपरिणामक १९४७-१९५४
अपात्र १२२५-२७, २६०३-०५
अभिहृत (भिक्षा-दोष) १२४९-५५
अवधिज्ञान २४-७३
असंविग्न ३७१-७४
अर्हत् ९८२, ९८३
आगमव्यवहार १०९-१४२
आगमव्यवहारी १०८, १४३-४८
आचेलक्य १९७६-९१
आच्छेद्य (भिक्षा-दोष) १२७४
आजीवनापिण्ड (भिक्षा-दोष) १३५०-६१
आज्ञाव्यवहार ५६६-६५३
आधाकर्म (भिक्षा-दोष) १०९८-११९५
आपत्ति ९३५, ९३६
आप्त १४१
आलोचना १२७-१३४, २४६-५१, ४०८-२३, ६२४-८२, ७१८, ७३१-३८, ७५८-६२
आशातना ८६१-७२, २४६५-७८
आहार ४७२, ४७३
इंगिनीमरण ५१२-१५
इंद्रियप्रत्यक्ष २०-२२
उत्पादना दोष १३१३-२०
उद्गम दोष १०८८-९७
उद्भिन्न (भिक्षा-दोष) १२५६-६८
उन्मिश्र (भिक्षा-दोष) १५८२-८६
उपधि १७२७-३१
औद्देशिक (भिक्षा-दोष) ११९५-१२०२, १९९२, १९९३
कल्प ५६१, ५६२
कल्पस्थिति १९६९-७५
कायोत्सर्ग ४५५
कारणदोष १६५५-७०
*कालातीत दोष* ९६३
कृतिकर्म २०१५-१८
केवलज्ञान ९०-१०७
कोटि १२८६-१३०३
क्रीतकृत १२४१-४४
क्रोधपिण्ड १३९५
गणि-संपदा १६०-२०५
गीतार्थ ९६१

गुप्ति ७८४-८०२
ग्रहणैषणा १४७१-७६
ग्रासैषणा १६०५-१०
चतुर्दशपूर्व २५६
चतुरंग ३५८
चिकित्सापिण्ड (भिक्षा-दोष) १३८४-९३
चूर्णपिण्ड (भिक्षा-दोष) १४४९-५७
छर्दित (भिक्षा-दोष) १६००-०४
छेदार्ह प्रायश्चित्त २२८२-८९
जिनकल्प २१५९-८०
जीतकल्प २५९०-९६, २६०१, २६०६
जीतव्यवहार ६७५-९४
जीव ७०४
ज्ञानाचार १०००-२१
तदुभयार्ह प्रायश्चित्त ७२०, ७२१, ९३३-४४, ९४९-५४
तप प्रायश्चित्त १६७५-१७२६, १७३२-१९३६, १८१४-१९३८, २२१७-६४
दर्शनाचार १०३७-६२
दायक दोष १५६९-८१
दुश्चिन्तित ९४५
दूतीपिण्ड (भिक्षा-दोष) १३२५-४०
धात्रीपिण्ड (भिक्षा-दोष) १३२१-२४
धारणाव्यवहार ६५४-७४
धूमदोष १६४९-५४
निक्षिप्त (भिक्षा-दोष) १५१२-४५
निर्गमन ७६४-६८
निर्ग्रन्थ २८१
निमित्तपिण्ड (भिक्षा-दोष) १३४१-४९
निर्यापक ३२०, ३२१, ३७८-८०, ४३३-३७, ४५१-५३, ४६१
नोइंद्रियप्रत्यक्ष २३
पंचयाम-चतुर्याम २०१९-२४
पर्युषणाकल्प २०९६-२१११
परिग्रह ९०३, ९०४
परिणामक १९४३-४६, १९५२, १९५३
परिवर्तित (भिक्षा दोष) १२४७, १२४८
परिहारविशुद्धिकल्प २११२-५८
पाराञ्चित २४७९-२५८७
पारिहारिक २४३०-६४
पिण्ड ९५५-५७
पिहित (भिक्षा-दोष) १५४६-५६
पुरुषज्येष्ठ २०२५-५०
पुरुष-प्रकार १९४०-४२, १९६०-६७
पूतीकर्म १२०३-१५
प्रतिक्रमणार्ह ७१९, ९१३-१८, २०५१-५७
प्रतिसेवना ५८४-६१६, २२६५
प्रत्यक्ष १०, ११
प्रद्विष्ट चित्त २३०६
प्रमाणदोष १६२१-४२
प्रवचन १-३
प्रादुष्करण (भिक्षा-दोष) १२३८-४०
प्रामित्य (भिक्षा-दोष) १२४५, १२४६
प्राभृतिका (भिक्षा-दोष) १२२४-३७
प्रायश्चित्त ५, ६, २६५-९०, ३०४-३०९, ३१४-१७, ७१८-३०, २२७३-७५, २२७८-८१

प्रायोपगमन ४६९,४७४, ४७५, ५१६-५७
बालमरण ४९९-५०१
भक्तपरिज्ञा ३२२
भय ९२१-२६
मंडली १०२८-३०
मंत्रपिण्ड (भिक्षा-दोष) १४४४-४७
मन:पर्यवज्ञान ७४-८९
महसिल (युद्ध) ४७९-८१
मानपिण्ड (भिक्षा-दोष) १३९६, १३९७
मायापिण्ड (भिक्षा-दोष) १३९८-१४११
मालापहृत (भिक्षा-दोष) १२६९-७३
मासकल्प २०५८-९५
मिश्रजात (भिक्षा-दोष) १२१६-१८
मूलकर्म (भिक्षा-दोष) १४६८-७०
मूलार्ह प्रायश्चित्त २२९०-२३०२
मृषावाद ८८२-९०१
म्रक्षित (भिक्षा-दोष) १४९०-१५११
योगपिण्ड (भिक्षा-दोष) १४५८-६७
रथमुशल (युद्ध) ४७९-८१
राजपिण्ड (भिक्षा-दोष) १९९८-२०१४
लिप्त (भिक्षा-दोष) १५९४-९९
लोभपिण्ड (भिक्षा-दोष) १४१२-१७
लैंगिकइंद्रियज्ञान १४-१९
वनीपकपिण्ड (भिक्षा-दोष) १३६२-८३
विद्यापिण्ड (भिक्षा-दोष) १४३७-४३
विनय-प्रतिपत्ति २१२-३९
विनय-भंग ८७२-७९
विवेकार्ह प्रायश्चित्त ९६३-७१
वैयावृत्य ४५६
व्यवहार ७-१७९, ५६०-६२, ६९५-७०२
व्यवहारी १४९-५९, २०६-१०, २४१-४५, २५२-५९, २९२-३०३, ३०७-११
व्युत्सर्गार्ह ९७२-९७
शंकित (भिक्षा-दोष) १४७७-८९
शय्यातरपिण्ड १९९४-९७
शिष्य-परीक्षा ५७१-८०
संभ्रम ९३३
संयोजना दोष १६११-२०
संलेखना ३४१-५५, ३९९-४०६
संवर-निर्जरा ७०७-१२
संस्तवपिण्ड (भिक्षा-दोष) १४२१-३६
संहृत (भिक्षा-दोष) १५५७-६८
समिति ८०३-६०
सहसाकरण १३५, ९१७
साधर्मिक ११३९, ११४०
सामाचारी ८७९-८१
सुप्रणिहित २४०
सुविहित २५९५
सूत्र और अर्थ २६४
स्खलना ९१३, ९१४
स्थविरकल्प २१८१-९४
स्थापना (भिक्षा-दोष) १२१९-२३
स्वाध्याय ४५४
श्रुतव्यवहार ५५९-६५

# पाद-टिप्पण विषयानुक्रम

(यह परिशिष्ट शोध विद्यार्थियों की सुविधा के लिए दिया जा रहा है। इसके आधार पर अनवाद में दिए गए पाद-टिप्पणों के संदर्भ स्थलों को जाना जा सकेगा। इस परिशिष्ट में जिस गाथा के जिस शब्द पर टिप्पण है, उसका संकेत दिया गया है। इसमें जहां गहरे रंग में संख्या हैं, वे जीतकल्पसूत्र की गाथा संख्याएं हैं।)


| विषय | गाथाङ्क | विषय | गाथाङ्क |
|---|---|---|---|
| अंतगत आनुगामिक अवधि | ३८ | अभिषेक (उपाध्याय) | १९९३ |
| अकल्प | १५४, ५८७ | अभोज्य | ११९१ |
| अकल्पस्थित | ७१ | अभ्याहृत दोष | १२४९, १२५३ |
| अकाल स्वाध्याय | १००१ | अभ्युद्यत विहार | २३४८ |
| अगीतार्थ | १९४० | अमूढ़दृष्टि | १०४१ |
| अतिपरिणामक | ६९ | अवधिज्ञान | ३५, ३६ |
| अदत्त | ९०२ | अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र | ५२ |
| अनागाढ़ योग | १०३१ | अवधिज्ञान का परिमाण | ५८ |
| अनानुगामिक | ४६, ४९ | अवधिज्ञान की प्रकृतियां | २९, ३१ |
| अनियतवृत्ति (आचार-संपदा) | १६६ | अवधिज्ञान के भेद | ३७ |
| अनिसृष्ट और अपरिणत | १५९१ | अवधिज्ञानी | ३६, ६८ |
| अनिसृष्ट दोष | १२८१ | अवधिज्ञानी का ज्ञेय | ७२ |
| अनुग्रहविशारद | ६६० | अव्यक्त | २५ |
| अनुपारिहारिक | २४३९ | अस्थित कल्प | १९७५ |
| अन्यधार्मिक स्तैन्य | २३५९ | अर्हत् | ९८२ |
| अन्योन्य संक्रमण | २०८९ | आगमव्यवहार | ६९८ |
| अपक्रमण | ३३४ | आगाढ़ योग | १०३१ |
| अपद्रावण | ११०० | आचार-संपदा | १६४ |
| अपराध पद | २०७५ | आचेलक्य | १९७६ |
| अपरिगृहीता | २३६४ | आजीवना दोष | १३५७ |
| अपरिणामक | ६९ | आज्ञापरिणामक | ५७० |
| अपात्र | २६०४ | आत्मतरक | १९६४ |
| अप्रतिपाती अवधि | ६५, ६९ | आधाकर्म | १११३, ११२४, ११५८ |
| अप्राप्त | १०२५ | आनुगामिक अवधि | ३७, ४० |
| अभिचारक | ६१० | आप्रच्छना सामाचारी | ८८० |

| विषय | गाथाङ्क |
|---|---|
| आराधक | १२९ |
| आलोचना | १३१, २४२ |
| आलोचना के प्रकार | ७७३ |
| आलोचना के स्थान | ७३४ |
| आलोचनार्ह | २४२ |
| आवलिका | २०८६ |
| आवश्यकी सामाचारी | ८८० |
| आशातना | ८६३, ८६७ |
| आहार्य योग | १४५९ |
| इच्छाकार सामाचारी | ८८० |
| इन्द्रिय प्रत्यक्ष | १० |
| ईश्वर | २००४ |
| उत्सर्ग समिति | ८५४ |
| उद्गम | १०८९ |
| उद्घात मास | ६४४ |
| उद्देश | ११९७ |
| उपधान तप | १००४, १००५ |
| उपधि | १७२७ |
| उपबृंहण | १०४२ |
| उपसम्पदा के प्रकार | ७७९ |
| उपसम्पदा सामाचारी | ८८१ |
| उपस्थापना | २४६४ |
| ऋजुजड़ | २०२१ |
| ऋजुप्राज्ञ | २०२४ |
| ऋजुमति मनः पर्यव | ७४ |
| एषणा | २१६३ |
| ओघ उपधि | ९५८, १७३० |
| औद्देशिक | ११९७ |
| औपग्रहिक उपधि | ९५८, १७३१ |
| कंडक | ११०६ |
| कपाटोद्भिन्न | १२५६ |

| विषय | गाथाङ्क |
|---|---|
| कर्म | ११९७ |
| कर्म और शिल्प | १३५९ |
| कल्प | २५९२ |
| कल्पत्रय | ११९० |
| कल्पत्रिक | २१७४ |
| कल्पप्रतिसेवना | ५८४, ६०१, ७५ |
| कल्पस्थित | २१३५, २४३९ |
| कल्पस्थिति | १९६९ |
| कवल-प्रमाण | १६२२ |
| कालधर | ३२६ |
| कालप्रतिलेखना | ८७५ |
| कालातीत | ९६३ |
| कुल, गण और संघ | ७५१ |
| कृत | ११९७ |
| कृत और निष्ठित | ११६४ |
| कृतयोगी | ९६० |
| कृष्ण | ६४६ |
| केवलज्ञान | ९१, ९६ |
| केवलज्ञान-केवलदर्शन की उत्पत्ति | ९२ |
| कोटिसहित तप | ३४३ |
| कोशक (जूता) | १७७४ |
| क्षायोपशमिक अवधि | २६, ३२ |
| क्षेत्रावग्रह | २०८४ |
| खल्लक (जूता) | १७७४ |
| गंधर्वशाला | ४२५ |
| गुप्ति | ७८४ |
| गृद्धपृष्ठमरण | ५०० |
| गृहनिषद्या | ५८७ |
| गृहि-भाजन | ५८७ |
| गोचर निषद्या | १५४ |
| चक्रशाला | ४२५ |

| विषय | गाथाङ्क |
|---|---|
| चन्द्रकवेध्यक | ४८८ |
| चारित्र-शुद्धि | ३१५ |
| छंदना सामाचारी | ८८० |
| छेद प्रायश्चित्त | ६४९, ६५०, ८२ |
| जाहक | १८३ |
| जिनकल्पिक | २१७३ |
| जिनकल्पिक की उपधि | २१७५ |
| जीतव्यवहार | ७०१ |
| ज्ञान अतिचार | १००९, १०१०, १०१५, १०१९ |
| ज्ञान-दर्शन चारित्र और तीर्थ | ३१३, ३१४ |
| तथाकार सामाचारी | ८८० |
| तदुभय प्रायश्चित्त | ९४४ |
| तपगर्वित | ८० |
| तरमाणक | १९६७ |
| तलवर | २००४ |
| तिर्यग्गामिनी नौका | ९७८ |
| त्रिकटुक | ११५४ |
| त्रिगुण योग | ५९७ |
| त्रिपातन | ११०२ |
| दर्प प्रतिसेवना | ५८४ |
| दर्शन प्रतिसेवना | ६०३ |
| दायक दोष | १५७०, १५७४, १५७५, १५७८ |
| दूष्य-पंचक | १७७२ |
| देवकुल-दर्शन | १३५८ |
| द्रव्य-उत्पादना | १३१५ |
| द्विवेदक | २५३९ |
| धारणा | १९१ |
| धारणा व्यवहार | ६५५ |
| नक्षत्र | ६३९ |
| नदी-संतार | ९७९ |
| निक्षिप्त दोष | १५२१, १५३४ |
| निर्ग्रन्थ | २८४ |
| नित्यवासी | २६०२ |
| निमंत्रणा सामाचारी | ८८० |
| निवेशन | २५१४, ९८ |
| निर्वाण | ३ |
| निर्विगय | १४९२ |
| निष्कारण निर्गमन | ७६६, ७६७ |
| निर्हारिम-अनिर्हारिम | ५१७ |
| नैषेधिकी सामाचारी | ८८० |
| नोइंद्रिय प्रत्यक्ष | १० |
| पंचक-यतना | ६११ |
| पंचक-हानि | ४१८ |
| पर्यंक निषद्या | ५८७ |
| परमावधि | ६६ |
| परमावधि का उत्कृष्ट क्षेत्र | ५३ |
| परस्पर संक्रमण | २०८५ |
| परिकर्म | ४१७ |
| परिणमन | १०३ |
| परिणामक | ६९ |
| परिषद् | १९४ |
| परिहार तप | २४२९, २४३२, २४३४, २४३७, २४३८, २४४२, २४५२, २४५७ |
| परिहारविशुद्ध चारित्र | २१२३ |
| परोक्ष | ११ |
| पारांचित प्रायश्चित्त | ७२९, २५५५ |
| पार्श्वत: अंतगत अवधि | ४२ |
| पार्श्वस्थ | ८१ |
| पिहितोद्भिन्न | १२५६ |
| पुरत: अंतगत अवधि | ३९ |

| विषय | गाथाङ्क |
|---|---|
| पुष्पावकीर्ण उपाश्रय | २०८८ |
| पुस्तक-पंचक | १७७० |
| पूतिकर्म | १२०३,१२११, १२१२ |
| पृष्ठत: अंतगत अवधि | ३९ |
| प्रतिक्रमण | ४ |
| प्रतिपाती (अवधि) | ६४ |
| प्रतिप्रच्छना सामाचारी | ८८० |
| प्रतिमा | ५१ |
| प्रतिलेखना के दोष | ८११ |
| प्रतिसंसाधन | ८७४ |
| प्रतिसेवना | ७४, ५८८, ६३५ |
| प्रत्यक्ष | ११, १४ |
| प्रत्यक्ष और परोक्ष | ९ |
| प्रभावना | १०५१ |
| प्रमाद प्रतिसेवना | ७४ |
| प्रयोगमति संपदा | १९२ |
| प्रवचन | १ |
| प्रवचन-प्रभावना | ६०५ |
| प्रशस्त अध्यवसाय | ५० |
| प्रस्थापना | ९७५ |
| प्राभृतिका | २४६६ |
| प्रायश्चित्त | ५, २७४, ३०६, २२०१ |
| प्रायोपगमन | ३२२, ५२३ |
| बकुशत्व | १२ |
| बहुश्रुत | २५९९ |
| ब्रह्मशाखा | १४६६ |
| भक्तपरिज्ञा | ३२३ |
| भक्तप्रत्याख्याता | ४७७, ४९२ |
| भक्ति और बहुमान | १००३ |
| भय | ९२१ |
| भवप्रत्ययिक अवधि | ३२ |
| भावलिंग | ८९ |
| भिन्नमास | १८०२ |
| भूतार्थ क्रिया | १३६ |
| मंडल | १३५७ |
| मंडली | २०८६ |
| मंडली-विधि | २०८७ |
| मडम्ब | ९३६ |
| मतिज्ञान के भेद | १८५-१८९ |
| मध्यगत अवधि | ३८, ४३ |
| मन:पर्यवज्ञान | ८४, ८६ |
| मन:पर्यवज्ञानी | ८७, ८८ |
| महाशिलाकंटक | ४७९ |
| माडम्बिक | २००४ |
| मासकल्प | २०६० |
| मितआहार | १६३२ |
| मिथ्याकार सामाचारी | ८८० |
| मिश्रजात | १२१६ |
| मिश्रजात और अध्यवपूरक | १२८३ |
| मुदित और मूर्धाभिषिक्त | २००० |
| मूलकर्म | १४६६, १४६८ |
| मृषावाद | ८८१, ८८३ |
| यंत्रशाला | ४२५ |
| यथालंदिक | २०६६ |
| रजोहरण | २१७४ |
| रथमुशल | ४७९ |
| राज-प्रद्वेष | २५७४ |
| राजरूपी | २५७० |
| लागतरण | ६०५ |
| लौकिक हस्ततात | २३७५ |
| वक्रजड़ | २०२-२ |
| वचन-सम्पदा | १७५ |

| विषय | गाथाङ्क |
|---|---|
| वर्धमान अवधि | ५०, ५१, ५७ |
| वाचना-सम्पदा | १७९, १८३ |
| वाटक | २३१२, ९८ |
| वात्सल्य | १०४९ |
| विचिकित्सा | १०४० |
| विनय | ८७२, २३७८ |
| विनय-अतिचार | १००२ |
| विनय-आचार | १००२ |
| विनय-प्रतिपत्ति | २१२ |
| विपुलमति मन:पर्यव | ७४ |
| विभूषा | ५८७ |
| विमिश्रभाव | २०२४ |
| विशोधि | ५ |
| विहारभूमि | ६ |
| वृद्धवास | २१८४ |
| वृद्धशील (आचार-संपदा) | १६६ |
| वैहायस मरण | ५०० |
| व्यञ्जन और अर्थ | ११३३-३५ |
| व्याघात मरण | ३२६ |
| व्यायाम | ५९० |
| श्रुतसम्पदा | १६७ |
| श्रेष्ठी | २००४ |
| षट्कर्म | १३७१ |
| षट्स्थानपतित | २५३ |
| शंका | १०३९ |
| शरीर-सम्पदा | १७१, १७३, १७४ |
| शुक्ल | ६३९, ६४० |
| शोक | १२ |
| संक्लिश्यमान चित्त | ६२ |
| संखडी | ८९० |
| संग्रह-परिज्ञासंपदा | १९८ |
| संभोग | २१०५ |
| संयमश्रेणी | १११०, १११९ |
| संयोजना दोष | १६१९ |
| संलेखना | ३४१, ३४३ |
| संवर | ७०७ |
| संसृष्ट दोष | १५९८ |
| संहरण दोष | १५८३ |
| सदृश कल्पी | २११० |
| समिति | ८०३ |
| समुद्देश | ८९० |
| साधर्मिक स्तैन्य | २३१३, २३१४, २३४५ |
| साधार्मिक | ११३९, ११४० |
| सापेक्ष निरपेक्ष प्रायश्चित्त | २२०२ |
| सामाचारी | ८८० |
| साही | २५१४ |
| सुखशील | २६०२ |
| सुश्रुतबहुश्रुत | ६६० |
| स्तेनाच्छेद्य | १२७४ |
| स्त्यानर्द्धि निद्रा | २५२८ |
| स्थण्डिल भूमि | ८५४ |
| स्थविर | २२५८ |
| स्थापना कुल | १७७५ |
| स्थापना दोष | १२२०-२३ |
| स्नान | १५४, ५८७ |
| स्वस्थान | २१०४, २२७१ |
| स्थितकल्प-अस्थितकल्प | १९७२ |
| हस्तालम्ब | २३९४ |
| हितकर आहार | १६३२ |
| हित वाचना | २२४ |
| हित-शुभ..... | २३२ |
| हीयमान अवधि | ६१ |

# वर्गीकृत विशेषनामानुक्रम


**आचार्य**

खंदग (स्कन्दक) ५२८, २४९९, २५००
दुप्पसभ (दु:प्रसभ) २६७, २७६
नंदिवद्धण (नंदिवर्धन) ८३१
पालित्तय (पादलिप्त) १४४४, १४४५
भद्दबाहु (भद्रबाहु) ५६०, २५८८
रक्खितज्ज (रक्षितार्थ) ६१२
वइर (वज्र) ६१०, ६१२, १४६३
समित (समित) १४६३, १४६६

**उद्यान**

चंदोदय (चन्द्रोदय) ११९१
सूरउदय (सूर्योदय) ११९१

**औषध**

तिगडु (त्रिकटु) ११५४
बहेड (बिभीतक) १०८३
सुंठी (सूंठ) ११४७

**खाद्य**

इट्टगा (सेवई) १३९७
कंजिय (काञ्जिक) ३४६, ४०३
कट्टर (कढ़ी में डाला घी का बड़ा) १६१२
कढिया (कढ़ी) ३९४
कलम (श्रेष्ठ चावल) १८२०
कलमोयण (कलमोदन) ३९८
केसर (केशरिया मोदक) १४१७
खीर (खीर) १८१
गुड (गुड़) १६१२
घत (घृत) ५३२, १०८४, १६१२
णवणीत (नवनीत) १५२८
तक्क (तक्र) १२९९
दही (दधि) १५८८, १६१२
दुद्ध (दुग्ध) १५८८
दोद्धिय ४०३
पप्पडिग (तिलपपड़ी) १५३७
पय (दूध) ३९४
पूव (मालपूआ) १५३८
पूवलि (मालपूआ) १६८०
पूवित (मालपूआ) १५३८
मोदक (मोदक) १३९८, २५२७
लड्डुग (लड्डू) १०९०
लागतरण (चावल की पेया) ६०५
लोट्ट (कच्चा चावल) १५५०
लोण (लवण) १२६२
वडग (बड़ा) १६१४
वालुंक (पक्वान्न विशेष) १६१४
सत्तुग (सत्तू) १६१९
सालणग (खाद्य विशेष) १६१४
सिहरिणी (श्रीखण्ड) २४८२
सीहेसर (सिंहकेशर मोदक) १४१४

**खेल, चौपड़**

अट्ठावय (अष्टापद) १७२३

चउरंग (चौरस) १७२३
वट्ट (इंद्रजाल का खेल) १७२३

**ग्रंथ**

आयार (आचाराङ्ग) **चू पृ. १**
आयारपकप्प (निशीथ) २०७९
आवस्सग (आवश्यक) ६०
उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन) **चू पृ. १**
ओहजुत्ति (ओघनिर्युक्ति) ९५८
कप्प (बृहत्कल्प) ३३२, ४२७, ५६१, ५६२, १७३१, १७९९, १९४५, २६०७, २६०८
कप्पनिज्जुत्ति (बृहत्कल्पनिर्युक्ति) ५६३, ५६४
कप्पियाकप्पिय (कल्पिकाकल्पिक) **चू पृ. १**
चुल्लकप्प (क्षुल्लकल्प) **चू पृ. १**
जीतकप्प (जीतकल्प) २५९०
जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) **चू पृ. २८**
णिसिह (निशीथ) १८००
णिसीह (निशीथ) १७९९, २६०७, **चू पृ. १**
दसकालिय (दशवैकालिक) **चू पृ. १**
दसा (दशाश्रुतस्कन्ध) **चू पृ. १**
पुव्वगत (पूर्वगत) २३६९
बिंदुसार (बिंदुसार) १, ७१४
महाकप्प (महाकल्प) **चू पृ. १**
ववहार (व्यवहार) ५६१, ५६२, १७९९, २६०७, **चू पृ. १**
ववहारनिज्जुत्ति (व्यवहारनिर्युक्ति) ५६३, ५६४
विवाह (व्याख्याप्रज्ञप्ति) ११०५
सामाइय (सामायिक) १, ७१४
सूयगड (सूत्रकृतांग) **चू पृ. १**

**तिर्यञ्च**

अच्छ (ऋक्ष) ५००
अजा (बकरी) ११३३, १७७३
आस (अश्व) ८२१
उलुग (उलूक) २४८२
एलग (एडक) १७७३
कच्छव (कच्छप) १५५३
काग (काक) ९०४
कीडी (कीटिका) १५०९
कुंथु (कुन्थु) २०२
कुम्म (कूर्म) **चू पृ. ६**
कोइल (कोकिल) १७२५
गद्दभ (गर्दभ) १०१९
गय (गज) ८०१
गरुल (गरुड़) १९८७
गावी (गाय) २१४३
गो (गाय) ११३३, १७७३
गोण (वृषभ, बैल) ९०४, १३७७
गोणस (गोनस) ५०१
घरकोइल (गृहकोकिल, छिपकली) १२६७
घुण (घुण) २५८
जड्ड (हाथी) ४२५
जाहग (जाहक) १८३
ढंक (कौआ) २४६९
तरच्छ (तरक्ष) २०१२
तित्तिर (तित्तिर) **चू पृ. १७**

तिमि (मत्स्य) ५५१
तुरंग (तुरङ्ग) १३१५
पिपीलिया (पिपीलिका) ५३३
बइल्ल (बैल) ४०४
भल्ल (भालू) ५००
मंडुक्कलि (मेंढकी) ८००
मगर (मकर) ५५१
मच्छ (मत्स्य) १६०६
मच्छि (मक्षि) १५०८
मच्छिया (मक्षिका) १६०६
मयूर (मयूर) १७२५
महिस (महिष) ११३३, १७७३, २५२९
मिग (मृग) १७७३
मूइंगलिया (चींटी) २१
वग्गुलि (बगुली) २१६७
वग्घ (व्याघ्र) १३९२, २०१२
वच्छग (वत्सक, बछड़ा) १३६५
वलवा (वलवा, घोड़ी) १३४७
वाणर (वानर) १४७४
वारण (वारण) २०१२
वाल (व्याल) ५००
विग (वृक) **चू पृ. २८**
सप्प (सर्प) ८५२
साण (श्वान) ९०४
सारस (सारस) **चू पृ. १७**
सियाल (शृगाल) ५३४, २४६९
सिवा (शिवा) ५३६
सुग (शुक) **चू पृ. १७**
हंस (हंस) १७६७
हत्थि (हस्ति) ८०१, ९३३

**तीर्थंकर और गणधर**

गोयम (गौतम गणधर) ८२६
नायसुत (ज्ञातसुत) २८५
मुणिसुव्वय (मुनिसुव्रत) ५२८, २५००

**देश ( ग्राम, नगर, देश तथा क्षेत्र )**

आभीरग (आभीरक) १४६०
उज्जेणी (उज्जयिनी) २३९६
उत्तरकुरु (उत्तरकुरु) ५४४
एरवत (ऐरवत) ४३४, २११३
कंचणपुर (कञ्चनपुर) ३८१, ३८२
कुंभकारकड (कुम्भकारकट) ५२८
कुसुमपुर (कुसुमपुर) १४०७, १४५०
कोंकण (कोङ्कण) ४०३
कोसल (कौशल) ५०३, १३९५
गिरिफुल्लित (गिरिपुष्पित) १३९४
चंपा (चम्पा) १३९४, १४१४
णंदिग्गाम (नंदिग्राम) ८२६
देवकुरु (देवकुरु) ५४४
पाडलिपुत्त (पाटलिपुत्र) १४४४
भरह (भरत) ४३४, १९९९
मगह (मगध) ८२६
महाविदेह (महाविदेह) २१००
मालव (मालव) १९५, ९३३
रायगिह (राजगृह) १३९४, १४०५

हत्थप्प (हत्थप्प?) १३९४
**धातु**
अय (अयस्) १३९२
कणग (कनक) १३१६
रयय (रजत) १३१६
सुवण्णग (स्वर्ण) २६००
**धान्य**
कोद्दव (कोद्रव) ११४८, १७७०
चण (चणक) १८२०
चाउल (चावल) १२९७
णिप्फाव (निष्पाव) १५९५, १९५८
बीही (ब्रीहि) १७७०
रालग (रालक) ११४८, १७७०
वल्ल (वल्ल) १८२०
सालि (शालि) ११४९, १६१२, १७७०
**नदी**
कण्हा (कृष्णा) १४६१
वेण्णा (वेन्या) १४६१
**पर्वत**
केलास (कैलाश) १३७८
मेरु (मेरु) ४६८, ५५५
मोगल्ल (मौद्गल्य) ५३४
**पुरोहित**
पालक्क (पालक) ५२८, २४९९
**प्रतिमा**
एगराइगा (एकरात्रिकी) १७५१
सव्वराइ (सर्वरात्रिकी) ७८७
**भाषा**
पागत (प्राकृत) १००८
सक्कय (संस्कृत) १००८
**मंत्री**
चाणक्क (चाणक्य) ५३१, १४५५
**माप**
अंगुल (अङ्गुल) ५४
गाउय (गव्यूत) ५५
जोयण (योजन) ६३
धणु (धनुष्) ६३
हत्थ (हस्त) ६३
**मुद्रा**
करिसावण (कार्षापण) २९७
कागिणी (काकिनी) ११९
**राजा**
उदायि (उद्रायण) २४९८
कूणिय (कूणिक) ४८०
कोणिग (कूणिक) ४८१
चंदगुत्त (चन्द्रगुप्त) १४५४
चेडग (चेटक) ४७९
डंडगि (दंडकी) ५२८
भरत (भरत) ११७५
भरह (भरत) १४०८, १४०९
मुरुंड (मुरुण्ड) १४४४, १४४५
सेणिय (श्रेणिक) ३१२
**रानी**
पउमा (पद्मावती) २३६४

पुरंदरजसा(पुरंदरयशा) ५२८
**रोग एवं रोगी**
अंधेल्लय (अंध) १५६९
अरिस (अर्श, मस्सा) २१७७
कंडु (कण्डु, खुजली) २४०९
कच्छुल्ल (कच्छुल्ल, खुजली) २४०९
काण (काण) १३९९
कास (काश) १०
कुट्ठि (कुष्ठी) १३७२
कुणि (कुणि) १३९९
खय (क्षय) ५०२
खुज्ज (कुब्ज) १३९९
खुय (क्षुत) १०
जर (ज्वर) १६६५
जरित (ज्वरित) १७०७
पगलित (प्रगलित, कोढ़ी) १५६९
विसूइगा (विसूचिका) ५००, ५०२
**वनस्पति जगत्**
अंब (आम्र) १८१,
कक्कडिगा (कर्कटिका, ककड़ी) ११५४
कक्कोलग (कर्कोलक) ५४
कप्पास (कर्पास) २४०१
चंदण (चंदन) ८४४
जातीफल (जातीफल) १७६५
दक्खा (द्राक्षा) ११५४
दाडिम (दाड़िम) ११५४
पलंडु (पलण्डु) १७६६
पलंब (प्रलम्ब) ६१३, १७८१, २१८७
पूगप्फल (पूगफल) १७६५
बीयपुर (बीजपूर) ११५४
लवंग (लवङ्ग) १७६५
लसुण (ल्हसुन) १५०४
वंजुल (वञ्जुल) २३६
वाइंगण (बैंगण) १६१४
सासवणाल (सर्षपनाल) २४८२
**वाहन**
उज्जाणी (उद्यानी, नौका) ९७८
उडुप (उडुप) ९८०
ओयाणी (अवयानी, नौका) ९७८
णावा (नाव) ९७८, १५२८
तिरिच्छगामी (तिर्यक्गामिनी नौका) ९७८
भंडी (गाड़ी) ४०४
रह (रथ) ११३३
सगड (शकट) ११३३
**शस्त्र**
असि (असि) ५४०
कणग (कनक) ४८०
करकय (करक्रच) ५३०
खुरप्प (क्षुरप्र) ४८१
छुरिया (क्षुरिका) ७९४
दत्त (दात्र) ४८६
सर (शर) ४७९
**संग्राम**
महसिल (महाशिला कंटक) ४७९, ४८०

| | | | |
|---|---|---|---|
| रहमुसल (रथमुशल) | ४७९ | चोलपट्ट (चोलपट्ट) | १७२९ |
| **साधु** | | पडलय (पटलक) | १७२९ |
| अरहण्णग (अर्हन्नक) | ८१८, ८१९ | पडिग्गह (पतद्ग्रह) | १७३० |
| असाढभूती (आषाढ़भूति) | १३९८ | पत्तट्ठवण (पात्रस्थापन) | ९०३ |
| कालासवेसिअ (कालासवैशिक) | ५३४ | पत्ताबंध (पात्रबन्ध) | १७२९ |
| चिलातपुत्त (साधु) | ५३३ | पाउंछण (पात्रप्रोञ्छन) | ७४१ |
| धम्मरुई (धर्मरुचि) | ८५५, १३९८ | पायकेसरि(पात्रकेशरी) | ९०३ |
| नंदिसेण (नंदिषेण) | ८३४ | फलग (फलक) | ४५८ |
| विण्हु (विष्णु) | ६०५ | मत्तग (मात्रक) | १७२९ |
| **साधु-उपकरण** | | मुहणंत (मुखानन्तक) | ६८२, ९०३ |
| कडिपट्ट (कटिपट्ट) | २१७७ | मुहपुत्तिया(मुखवस्त्रिका) | ७३३ |
| गोच्छग (गोच्छक) | ९०३, १७२८ | रयहरण (रजोहरण) | १७२९ |

# जीतकल्प सूत्र से सम्बन्धित भाष्यगाथाओं का क्रम

| जीसू | भाष्यगाथा | जीसू | भाष्यगाथा | जीसू | भाष्यगाथा | जीसू | भाष्यगाथा |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १. | १-७०६ | २५. | १०२४-२७ | ४९. | १७४४, १७४५ | ७२. | २१९५-९७ |
| २. | ७०७-१३ | २६. | १०२८-३० | ५०. | १७४६-४९ | ७३. | २१९८-२२६४ |
| ३. | ७१४-१७ | २७. | १०३१-५३ | ५१. | १७५०-५४ | ७४. | २२६५-६८ |
| ४. | ७१८-३० | २८. | १०५४-५८ | ५२. | १७५५-५८ | ७५. | २२६९-७० |
| ५. | ७३१-३९ | २९. | १०५९-६२ | ५३. | १७५९-६२ | ७६. | २२७१, २२७२ |
| ६. | ७४०-५७ | ३०. | १०६३-६८ | ५४. | १७६३-६७ | ७७. | २२७३-७५ |
| ७. | ७५८-६३ | ३१. | १०६९, १०७० | ५५. | १७६८-७४ | ७८. | २२७६, २२७७ |
| ८. | ७६४-८३ | ३२. | १०७१-७४ | ५६. | १७७५-७९ | ७९. | २२७८-८१ |
| ९. | ७८४-९०५ | ३३. | १०७५-८२ | ५७. | १७८०-८३ | ८०-८२. | २२८२-८९ |
| १०. | ९०६-१२ | ३४. | १०८३-८६ | ५८. | १७८४-८९ | ८३. | २२९०, २२९१ |
| ११. | ९१३-१८ | ३५. | १०८७-१६७९ | ५९. | १७९०-९६ | ८४. | २२९२-९६ |
| १२. | ९१९-३२ | ३६. | १६८०-८३ | ६०. | १७९७-१८०१ | ८५. | २२९७-२३०० |
| १३. | ९३३-४४ | ३७. | १६८४-९१ | ६१. | १८०२-०६ | ८६. | २३०१-०५ |
| १४. | ९४५-४८ | ३८. | १६९२-९५ | ६२. | १८०७-९ | ८७. | २३०६-२४१९ |
| १५. | ९४९-५४ | ३९. | १६९६-९९ | ६३. | १८१०-१३ | ८८. | २४२०-२३ |
| १६. | ९५५-६२ | ४०. | १७००-०२ | ६४. | १८१४-१७ | ८९-९३. | २४२४-६४ |
| १७. | ९६३-७१ | ४१. | १७०३-०८ | ६५. | १८१८-२१ | ९४. | २४६५-७८ |
| १८. | ९७२-८० | ४२. | १७०९-१२ | ६६. | १८२२-२५ | ९५. | २४७९-२५२७ |
| १९. | ९८१-८८ | ४३. | १७१३-१८ | ६७. | १८२६-१९३५ | ९६. | २५२८-४१ |
| २०. | ९८९, ९९० | ४४. | १७१९-२१ | ६८. | १९३६-३९ | ९७-१००. | २५४२-५५ |
| २१. | ९९१-९४ | ४५. | १७२२-२६ | ६९. | १९४०-५९ | १०१. | २५५६-८७ |
| २२. | ९९५-९७ | ४६. | १७२७-३५ | ७०. | १९६०-६६ | १०२. | २५८८, २५८९ |
| २३. | ९९८-१०२१ | ४७. | १७३६-४१ | ७१. | १९६७-२१९४ | १०३. | २५९०-२६०८ |
| २४. | १०२२, १०२३ | ४८. | १७४२, १७४३ | | | | |

# प्रयुक्त ग्रंथ सूची

## मूलग्रंथ सूची


अंगुत्तरनिकाय—सं. भिक्खु जगदीश कस्सपो, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार।

अनगारधर्मामृत—सं. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् १९७७।

अनुयोगद्वार—वाप्र. गणाधिपति तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, सन् १९९६।

अनुयोगद्वारचूर्णि—जिनदासगणि, श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८।

अष्टपाहुड—आचार्य कुंदकुंद, सं. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, श्री कुंदकुंद कहान दिगम्बर जैन तीर्थ, जयपुर, सन् १९९४।

आचारचूला—(अंगसुत्ताणि भा. १) वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), वि. सं. २०३१।

आचारांग—(अंगसुत्ताणि भा. १) वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), वि. सं. २०३१।

आचारांग चूर्णि—जिनदासगणि, श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९४१।

आचारांग निर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्र सं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्र सं. सन् १९९९।

आवश्यक चूर्णि भा. १—आचार्य जिनदास, श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९२८।

आवश्यक चूर्णि भा. २—आचार्य जिनदास, श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९२९।

आवश्यकनिर्युक्ति भा. १—सं. डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.), सन् २००१।

आवश्यक निर्युक्ति भा. २—प्रकाशनाधीन, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)।

आवश्यक मलयगिरि टीका भा. १, २—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार एवं आगमोदय समिति, मुम्बई, सन् १९२८।

आवश्यक सूत्र—(नवसुत्ताणि-५) वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८७।

आवश्यक हारिभद्रीया टीका भा. १, २—आचार्य हरिभद्र, भैरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वि. सं. २०३८।

उत्तराध्ययन—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, सन् १९९३।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)—आचार्य भद्रबाहु, वाप्र. आचार्य तुलसी, प्र सं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् १९९९।

उत्तराध्ययन शांत्याचार्य टीका—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुम्बई, सन् १९७३।

उपासकदशा (अंगसुत्ताणि भा. ३)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९७४

ओघनिर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु, श्री आगमोदय समिति, महेसाणा, सन् १९१९।

ओघनिर्युक्ति टीका—द्रोणाचार्य, श्री आगमोदय समिति, महेसाणा, सन् १९१९।

ओघनिर्युक्ति भाष्य—श्री आगमोदय समिति, महेसाणा, सन् १९१९।

कल्पसूत्र (नवसुत्ताणि-५)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८७।

कषाय पाहुड—श्रीगुणधर आचार्य, भा. दि. जैनसंघ ग्रंथमाला चौरासी, मथुरा, वि. सं. २०००।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वामिकुमार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, तृ सं. सन् १९९०।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका—स्वामिकुमार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, तृ सं. सन् १९९०।

कौटिलीय अर्थशास्त्र—सं. वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, च. सं. सन् २०००।

गणधरवाद—सं. पण्डित दलसुखभाई मालवणिया, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, सन् १९८२

गोम्मटसार कर्मकाण्ड—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र सं. १९८१।

गोम्मटसार जीवकाण्ड—नेमिचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, जैन पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ, सन् १९२७।

गौतमधर्मसूत्राणि—व्या., डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी-१, प्र सं. सन् १९६६।

छेदपिण्ड—सं.माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, वि. सं. १९७८।

छेदशास्त्र—सं.माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, वि. सं. १९७८।

जीतकल्पचूर्णि—सं. मुनि जिनविजय, जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद, वि. सं. १९८३।

जीतकल्पचूर्णि विषमपद व्याख्या—सं. मुनि जिनविजय, जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद, वि. सं. १९८२।

ज्ञाताधर्मकथा-वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् २००३।

तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी टीका भा. १—सिद्धसेनगणि, सं. हीरालाल जैन, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, प्र सं. १९८२।

तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी टीका भा. २—सिद्धसेनगणि, सं. हीरालाल जैन, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, प्र सं. १९८६।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक भा. १, २—श्री अकलंक देव, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, सन् १९८९, १९९०।

तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बरीय तथा—

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र —उमास्वाति, श्री परमश्रुतप्रभावक जैनमंडल, मुम्बई, सन् १९३२।

तिलोय पण्णत्ति —श्री यतिवृषभाचार्य, सं. हीरालाल जैन, आदिनाथ उपाध्याय, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् १९५१।

दशवैकालिक —आ. शय्यंभव, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), द्वि सं. १९६४।

दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि—सं. मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद, प्र सं. सन् १९७३।

दशवैकालिक जिनदासचूर्णि—जिनदासगणि, श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९३३।

दशवैकालिक निर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक) —आचार्य भद्रबाहु, वाप्र. आचार्य तुलसी, प्र सं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), प्र सं. सन् १९९९।

दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका—आचार्य हरिभद्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत।

दशाश्रुतस्कन्ध (नवसुत्ताणि) —वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), प्र सं. सन् १९८७।

दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि—आ. जिनदास, श्री मणिविजयजीगणि ग्रंथमाला, भावनगर, प्र सं. वि. सं. २०११।

दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक) —वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं प्र सं. सन् १९९९।

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—आचार्य यशोविजय, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका, वि. सं. २०६०।

धवला—वीरसेनाचार्य, सेठ शीतलराय लक्ष्मीचन्द्र अमरावती, सन् १९४२।

नंदी—देवर्धिगणि, वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.), प्र सं. सन् १९९७।

नंदी चूर्णि—जिनदासगणि, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, बनारस, प्र सं. सन् १९६६।

नंदी मलयगिरीया टीका—आगमोदय समिति, सूरत प्र सं. १९१७।

नंदी हारिभद्रीया टीका —सं. मुनि पुण्यविजय, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, बनारस, प्र सं. १९६६।

नियमसार—आचार्य कुंदकुंद, सं. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, श्री सत्साहित्य प्रकाशक, नवम सं. सन् १९६०

निर्युक्ति पंचक—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), प्र सं. सन् १९९९।

निरयावलिका—(उवंगसुत्ताणि-४) खण्ड-२, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८८।

निशीथसूत्र (नवसुत्ताणि) —वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), प्र सं. सन् १९८७।

निशीथ चूर्णि भा. १-४—सं. उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९८२।

निशीथ भाष्य भा. १-४—सं. मुनि कन्हैयालाल, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९८२।

निसीहज्झयणं—सं. मुनि नथमल, जैन श्वे. तेरापंथ महासभा, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता, प्र सं. सन् १९६७।

न्यायदर्शनम्—सं. श्री नारायण मिश्रा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, सन् १९७०।

पइण्णयसुत्ताइं—सं. मुनि पुण्यविजयजी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्र सं. सन् १९८४।

पंचकल्पभाष्य—सं. लाभसागरगणि, आगमोद्धारक ग्रंथमाला, वि.सं. २०२८।

पंचकल्पभाष्य चूर्णि—अप्रकाशित।

पंचवस्तु—आ. हरिभद्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, प्र सं. सन् १९२७।

पंचाशक प्रकरण—आ. हरिभद्र, सं. डॉ. दीनानाथ शर्मा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्र सं. सन् १९९७।

पज्जोसवणा कप्पो (नवसुत्ताणि)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्र सं. सन् १९८७।

परिशिष्ट पर्व—आचार्य हेमचन्द्र, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. १९६८।

पाराशरस्मृति—सं. श्री मन्नालाल 'अभिमन्यु', चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, द्वि सं. सन् १९९८।

पिण्डनिर्युक्ति—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्र सं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्र सं. सन् २००८

पिण्डनिर्युक्ति अवचूरि—श्री देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, मुम्बई, सन् १९५८।

पिण्डनिर्युक्ति भाष्य—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्र सं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्र सं. सन् २००८

पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरि टीका—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, मुम्बई, सन् १९१८।

पिण्डविशुद्धिप्रकरण—श्री जिनवल्लभसूरि, ज्ञानभण्डार शीतलवाड़ी उपाश्रय, सूरत, वि.सं. २०११।

प्रज्ञापना (उवंगसुत्ताणि ४) खण्ड-२—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८९।

प्रवचनसार—आचार्य कुंदकुंद, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, च. सं. १९८४।

प्रवचनसारोद्धार—आ. नेमिचन्द्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९२६।

प्रवचनसारोद्धारटीका—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९२६।

बृहत्कल्प चूर्णि—अप्रकाशित।

बृहत्कल्पभाष्य भा. १-६—सं. मुनि पुण्यविजय, मुनि चतुरविजय, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् २००२।

बृहत्कल्पभाष्य टीका भा. १-६—सं. मुनि पुण्यविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् २००२।
भगवती (अंगसुत्ताणि-२)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), वि.सं. २०४९।
भगवती आराधना भा. १, २—शिवार्य, सं. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् १९७८।
भगवती आराधना विजयोदया टीका—जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर, सन् १९७८।
भगवती टीका—आचार्य अभयदेवसूरि, आगमोदय समिति, मुम्बई, सन् १९१८।
भगवती भाष्य भा. १—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.), सन् १९९४।
भगवती भाष्य भा. २—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् २०००।
भगवती भाष्य भा. ३—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् २००५।
भगवती भाष्य भा. ४—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् २००७।
भविष्यत्पुराण—सं. नागशरणसिंह, नाग पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
भावपाहुड (अष्टपाहुड)—सं. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, श्री कुंदकुंद कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, सन् १९९४।
मज्झिमनिकाय—सं. भिक्खु जे कश्यप, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार, सन् १९५८।
मनुस्मृति—सं. गोपालशास्त्री नेने, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वि सं. सन् १९७०।
मनुस्मृति मिताक्षरा टीका
मनोनुशासनम्—आचार्य तुलसी, व्या. युवाचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, सन् १९८६।
मरणविभक्ति—(पइण्णयसुत्ताइं) सं. मुनि पुण्यविजयजी, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई, सन् १९८४।
मूलाचार भा. १, २—आचार्य वट्टकेर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, द्वि सं. सन् १९९२।
मूलाचार टीका—सं. पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, द्वि सं. सन् १९९२।
मोक्षपाहुड (अष्टपाहुड़)—सं. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, कुंदकुंद कहान दिगम्बर जैन तीर्थ, जयपुर, सन् १९९४।
याज्ञवल्क्यस्मृति—सं. नारायण मिश्र, डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि. सं. २०६०।
राजप्रश्नीय (उवंगसुत्ताणि खण्ड १)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् १९८९।
राजप्रश्नीय टीका—गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, वि.सं. १९९४।
विनयपिटक महावग्गपालि—विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी सन् १९९८।

विशेषणवती—

विशेषावश्यकभाष्य—आ. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, वि. सं. २०३९।

विशेषावश्यकभाष्य मलधारी हेमचन्द्र टीका—आ. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, वि. सं. २०३९।

विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञ टीका—आ. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, सं. दलसुखभाई मालवणिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, सन् १९६८।

व्यवहारभाष्य—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं सन् १९९६।

व्यवहारभाष्य मलयगिरि टीका—सं. मुनि माणेक वकील त्रिकमलाल अगरचन्द, सन् १९२८।

व्यवहार सूत्र (नवसुत्ताणि)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८७।

शुक्रनीति—शुक्राचार्य, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, च सं. वि. सं. २०५६।

षट्खण्डागम धवला टीका-१—सं. हीरालाल जैन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् २०००।

षट्खण्डागम धवला टीका-८—सं. हीरालाल, जैन साहित्य उद्धारक फंड, अमरोठी, सन् १९४७।

षट्खण्डागम धवला पुस्तक-१३—सं. हीरालाल जैन, जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, प्र सं. सन् १९५५।

षट्प्राभृत श्रुतसागरीय टीका—

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र—आ. उमास्वाति, सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, सन् १९३२।

समवाओ—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् १९८४।

समवायांग टीका—सं. आ. सागरानंद, मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिकल ट्रस्ट, दिल्ली, सन् १९८५।

सर्वार्थसिद्धि—सं. पंडित फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वि सं. सन् १९७१।

सामाचारी शतक—समयसुंदरगणि, जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वि. सं. १९९६।

सूयगडो—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् २००६।

स्थानांग (ठाणं)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), प्र सं. सन् १९७६।

स्थानांग टीका—आ. अभयदेव, सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, द्वि सं. १९३७।

**सहायक ग्रंथ सूची**

अपराध एवं दण्ड—डॉ. प्रतिभा त्रिपाठी, राका प्रकाशन, प्र सं. सन् १९९१।

आगम युग का जैन दर्शन—पं. दलसुखभाई मालवणिया, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, सन् १९९०।

जैन आगम : इतिहास एवं संस्कृति—रेखा चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, सन् २०००।

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज—डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६५।

जैन आचार मीमांसा—साध्वी पीयूषप्रभा, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्र सं. सन् २००५।

जैन धर्म—पं. कैलाशन्द्र, भारतीय दिगम्बर जैन संघ मथुरा, प्र सं. सन् १९६६।

जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय—डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ बनारस, प्र सं. १९९६।

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—साध्वी संघमित्रा, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्र सं. सन् २००६।

जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भा. १, २—प्रो. सागरमल जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, सन् १९८२।

जैन संस्कृत महाकाव्यों में भारतीय समाज-डॉ. मोहनचंद्र, इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, सन् १९८९।

जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, हेमचन्द्र मोदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, मुम्बई, सन् १९४२।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १—पण्डित बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५, सन् १९६६।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. २—डॉ. मोहनलाल मेहता, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, द्वि सं. सन् १९८९।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ३—डॉ. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, द्वि सं. सन् १९८९।

ज्ञान मीमांसा—डॉ. साध्वी श्रुतयशा, जैन विश्व भारती प्रकाशन, प्र सं. सन् १९९९।

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. मुनि नथमल, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, सन् १९६७।

दर्शन और चिन्तन—पण्डित सुखलालजी, श्री दलसुखभाई मालवणिया, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, प्र सं. सन् १९५७

पाराशर स्मृति : एक अध्ययन—जाह्नवी शेखरराय, रामानन्द विद्या भवन, दिल्ली, प्र सं. सन् १९९५।

प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन—डॉ. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, प्र सं. सन् १९६५।

प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन—डॉ. कमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् १९८८

मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन—डॉ. फूलचन्द प्रेमी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्र सं. १९८७।

याज्ञवल्क्य स्मृति का समीक्षात्मक अध्ययन—डॉ. श्रीमती ऊषा गुप्ता, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्र सं. सन् १९९८।

सागर जैन विद्या भारती भा. १—प्रो. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, सन् १९९४।

**कोश-साहित्य**

अभिधानचिन्तामणि कोश—आ. हेमचन्द्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, द्वि सं. १९९६।

अभिधान राजेन्द्र कोश—श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि, अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद, द्वि सं. १९८६।

अमरकोश—पं. अमरसिंह, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, सन् १९६८।

आगम शब्दकोश—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, सन् १९८०।

एकार्थक कोश—सं. मुनि दुलहराज, समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् २००३।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा. १-४—सं. क्षु. जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् १९८५।

देशीनाममाला—सं. आर. पिशेल, मुम्बई संस्कृत सिरीज १७, द्वि सं. १९३८।

देशी शब्द कोश—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, सं. मुनि दुलहराज, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् १९८८।

निरुक्तकोश—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, सं. सा. सिद्धप्रज्ञा, सा. निर्वाणश्री, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.) प्र सं. १९८४।

पाइयसद्दमहण्णवो—पं. हरगोविन्ददास सेठ, प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी, सन् १९६३।

बृहद्हिन्दी कोश—कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, पंचम सं. १९८४।

भिक्षु आगम शब्द कोश भा. १—मुनि दुलहराज, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् १९९६।

भिक्षु आगम शब्द कोश भा. २—मुनि दुलहराज, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), सन् २००५।

संस्कृत हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, सन् २००१।

A History of Indian literature—Maurice winternitz, vol II, Motilal Banarsidas, Delhi, Sec Ad.1993।

A History of the Canonical literature of jain's—Hiralal Rasikadas Kapadia।

Jain Monastic Juris Pridence—Jaina Cultural Research Society, Banaras Sec Ad.1960।

The Doctrine of the Jainas—Walther schubring. Motilal Banarsidas Publishers, Delhi, Year 2000।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण महान् श्रुतधर आचार्य थे। उन्होंने कुछ कालजयी कृतियों की रचना की, जिसमें विशेषावश्यक भाष्य का नाम प्रमुख रूप से आता है। आचार्य तुलसी ने 'व्यवहार बोध' में उसकी प्रशस्ति में इस गाथा की रचना की है –

**आगम का वह कौन सा, सुविशद व्याख्या ग्रंथ।**
**क्षमाश्रमण जिनभद्र का, जो न बना रोमन्थ।।**

जीतकल्प और उसका स्वोपज्ञ भाष्य उनकी कालजयी रचना है। इसमें बहुश्रुत आचार्य ने दस प्रायश्चित्त एवं उनके अपराध-स्थानों का वर्णन किया है। प्रसंगवश गणि-सम्पदा, संलेखना, अनशन, समिति-गुप्ति, छह कल्पस्थिति, स्थितकल्प, अस्थित कल्प आदि का वर्णन किया है। ग्रंथकार ने पांच व्यवहारों का वर्णन किया है लेकिन उनका मुख्य उद्देश्य जीतव्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्त निर्धारित करना था। इस ग्रंथ रत्न का अध्ययन करने से विद्वत् समाज जैन साधु की आचार-परम्परा के साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन भी कर सकेगा।

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज०)